भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि

डॉ० रामदेव त्रिपाठी, एम्० ए० (संस्कृत-हिन्दी), डी० लिट्०
व्याकरण-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न
(बिहार-शिक्षा-सेवा)

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि

डॉ॰ रामदेव त्रिपाठी, एम्॰ ए॰ (संस्कृत-हिन्दी), डी॰ लिट्॰
व्याकरण-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न
(बिहार-शिक्षा-सेवा)

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना–८००००४

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

प्रथम संस्करण, २००००
विक्रमाब्द २०३४; शकाब्द १८९९; खृीष्टाब्द १९७७

मूल्य : रु० २१.००

मुद्रक :
ज्ञानपीठ प्राइवेट लि० तथा
वाल्मीकि प्रेस
पटना–८००००४

समर्पण

माता पिता गुरुरपि त्रय एवैकोऽपि योऽभवन्मह्यम् ।
शब्दब्रह्मणि दीक्षां प्रापं यस्मान्नमस्तस्मै ॥

दिवंगत पूज्य पिताजी

के

सतत स्मृत चरणों में

सभक्ति निवेदित

वक्तव्य

हमारे लिए यह हर्ष का विषय है कि परिषद् द्वारा प्रकाशित **'भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि'** नामक ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। हमारी प्रकाशन-परम्परा में यह विपुलकाय ग्रन्थ भी अपने महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय के कारण सर्वथा उपादेय और संग्राह्य है।

इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० श्रीरामदेव त्रिपाठी संस्कृत के कई विषयों के आचार्य और एम्० ए० (द्वय) हैं। डॉ० त्रिपाठी संस्कृत के व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि के गम्भीर विद्वान् तो हैं ही, आधुनिक शिक्षा-पद्धति से एम्० ए० (द्वय) करने पर भाषाविज्ञान की ओर इनकी रुचि बढ़ी और अपने अध्ययन, अनुशीलन एवं मनन से प्राप्त गम्भीर उपलब्धि को इन्होंने इस ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि यह ग्रन्थ पटना विश्वविद्यालय के डी० लिट्० का शोध-प्रबन्ध है, तथापि भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि जैसे अछूते विषय का तलस्पर्शी उपस्थापन श्रीत्रिपाठी जैसे अधीती विद्वान् के लिए ही सम्भव हो सकता है। आज का भाषाविज्ञान एक नया शास्त्र बन गया है, किन्तु इस नये शास्त्र की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने में संस्कृत-भाषा का अध्ययन ही प्रथम माध्यम बना है। जब विलियम जोन्स, विल्सन, वेबर और मैक्समूलर जैसे पाश्चात्त्य विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया और ग्रीक तथा लैटिन भाषा से इस भाषा का पूरा सादृश्य सामने आया, तभी तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव पड़ी। आज सभी भाषाशास्त्री महर्षि पाणिनि और यास्क को आदिम भाषाविज्ञान का प्रवर्त्तक मानते हैं और उनकी सूक्ष्मेक्षिका की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। डॉ० त्रिपाठी ने पाणिनीय व्याकरण और यास्क का सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन-मनन करके उन्हें आज के भाषाविज्ञान से जोड़ा है। यह विषय जितना गहन है, उतना ही विस्तृत भी; फिर भी, पारगामी विद्वान् लेखक ने अपने अध्यवसाय एवं प्रतिभा से इस विषय को हस्तामलकवत् हमारे सामने उपस्थित किया है। भाषाविज्ञान के तलस्पर्शी अध्येतृवृन्द एवं अनुसन्धित्सुजन इस एक ही ग्रन्थ से अपरिमित सामग्री तथा पूर्ण दिशा-निर्देश प्राप्त करेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

यद्यपि इस ग्रन्थ को इससे पहले ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था, तथापि अनेक अपरिहार्य कारणों से आज से पहले इसका प्रकाशन सम्भव न हो सका, इसका हमें दुःख है। अस्तु, विषय की गहनता और प्राचीन उद्धरणों की बहुलता के कारण मुद्रण में यत्र-तत्र अशुद्धियों का होना सम्भव है। अभिज्ञ पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।

आशा है, विद्वद्गण इस ग्रन्थ को अपनाकर परिषद् की गौरव-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखेंगे और आगे के लिए हमारा उत्साह-बर्धन करते रहेंगे।

श्रावणकृष्ण १०, सं० २०३४ वि०
९ अगस्त, १९७७ ई०

हंसकुमार तिवारी
निदेशक

प्रस्तुति

ज्ञानस्य बीजमिव विश्वसृजं चतुर्मुखं, प्रच्छायदं तरुमिव त्रिदृशं च संश्रितः ।
ताप त्रयार्दितजगच्छरणं त्रिविक्रमं, प्रीतिप्रदं फलमहो मधु चिन्तयाम्यहम् ॥
नभः श्रोत्र खनेत्राब्दे प्रारब्धो वैक्रमे गुरौ ।
माघशुक्ल चतुर्दश्यां ग्रन्थोऽयं लेखितुं मया ॥

सन् १९४७ ई० में मैं पटना विश्वविद्यालय तथा पटना महाविद्यालय में संस्कृत की एम्० ए० कक्षा में प्रविष्ट हुआ। उसके पूर्व ही मैं व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, न्यायशास्त्री तथा साहित्यरत्न उत्तीर्ण हो चुका था। फलतः जब श्रद्धेय डॉ० सुभद्र झा तथा डॉ० ईश्वरदत्त से भाषाविज्ञान पढ़ना आरम्भ किया तब मेरे लिए व्याकरण के एक नये अध्याय का पृष्ठ खुल गया। उस समय तक पाणिनीय व्याकरण मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय हो चुका था, अतः मैं परिचय-क्षण से ही भाषाविज्ञान का उत्तरोत्तर प्रेमी बनता चला गया; साथ ही जैसा कि स्वाभाविक था, इस शाखा पर मेरी रुचि के अनुकूल अधिकाधिक भारतीयता तथा पाणिनीयता की दृष्टि भी बढ़ती चली गई। मेरे लिए यह विषय साहित्य से भी अधिक सरस एवं रोचक हो गया।

सन् १९४९ ई० में एम्० ए० करने के बाद जब मुझे पटना विश्वविद्यालय से रिसर्च-स्कॉलरशिप मिला, तब मैंने भाषाविज्ञान में ही काम करने का निश्चय किया, और पाणिनीय व्याकरण को ही अपना विषय चुना। सौभाग्य से डॉ० सुभद्र झा का पथप्रदर्शन भी मुझे मिल गया। मेरे कुछ ही महीनों के कार्य से डॉ० झा बहुत ही आह्लादित हुए थे, पर यह शोध शीघ्र ही अवरुद्ध भी हो गया। डॉ० झा उत्तरप्रदेश के शिक्षा-विभाग में चले गये और मैं एक लम्बी अवधि के लिए अस्वस्थ हो गया, **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'**।

सन् १९५४ ई० में मैं लंगटसिंह कॉलेज में संस्कृत का प्राध्यापक नियुक्त हुआ, पर शीघ्र ही नेतरहाट आवासीय विद्यालय की राजकीय शिक्षा-सेवा में चला आया। इस प्रकार सन् १९६० ई० तक मैं विश्वविद्यालयीय शोधोपयोगी वातावरण से दूर रहा, किन्तु मेरी शोध-तृष्णा बुझी नहीं। फलतः सन् १९६० ई० से मैंने भाषावैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत, विशेषतः वैदिक वाङ्मय का, वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं का अध्ययन आरम्भ कर दिया। उनमें इतने भाषावैज्ञानिक तथ्य मिलने लगे कि मैं उत्साह से भर गया। तुलना के लिए मैं समानान्तर रूप से हिन्दी तथा अँगरेजी के भी भाषाविज्ञान के कुछ ग्रन्थों का अवलोकन करता रहा। संस्कृत-व्याकरण-ग्रन्थ तो आधार-भूमि ही बने रहे। अपने अग्रणी, सुहृद् तथा सखा प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा जी की ही कृपा से मैं इस विशेष अध्ययन के लिए अनेक समृद्ध पुस्तकालयों से मनोवाञ्छित पुस्तकें पा सका।

मानसिक-बौद्धिक तैयारी तथा आवश्यक तथ्यों-उद्धरणों के संकलन के अनन्तर मैंने सन् १९६३ ई० में लेखनी उठाई। भारतीय भाषाविज्ञान का विकास वैदिक काल से आधुनिक काल तक दिखलाने के लिए मुझे प्राकृत, अपभ्रंश तथा पुरानी और नई आर्य-भाषाओं का भी अध्ययन करना पड़ा, विशेषतः हिन्दी का। अतः नान्तरीयक होने से मैंने सन् १९६४ ई० में हिन्दी में भी एम० ए० कर लिया। चूँकि भारतीय भाषाविज्ञान संस्कृत तथा हिन्दी दोनों से सम्बद्ध विषय था, इसलिए मैंने दोनों के निष्णात विद्वान् अनेक-भाषाविद् प्रो० देवेन्दनाथ शर्मा जी के ही निर्देशन में काम किया। उनकी प्रेरणा से मैंने रूसी भाषा का भी थोड़ा परिचय प्राप्त किया। सन् १९६७ ई० में मुझे इस प्रबन्ध पर बिहार विश्वविद्यालय से डॉक्टर ऑफ लिटरेचर की उपाधि प्राप्त हुई। वस्तुतः यह ग्रन्थ डी० लिट० के लिए लिखा प्रबन्ध ही है।

मैं अपने कार्य से अतिप्रसन्न था, सम्भवतः मेरे सन्तोष और हर्ष में अभिमान का भी अंश था। प्रो० शर्मा के अतिरिक्त मेरे दो अन्य परीक्षक थे—डॉ० उदयनारायण तिवारी तथा डॉ० कुँअर चन्द्रप्रकाश सिंह। तीनों ने मेरे कार्य की बहुत प्रशंसा की। विद्यावयोवृद्ध डॉ० तिवारी ने मुझे बार-बार आगे बढ़ने को प्रोत्साहित किया। इससे मैं अपनी कृति को प्रकाश में लाने के लिए उत्सुक हो गया। परन्तु वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश शब्दों से भरे इस तकनीकी ग्रन्थ का मुद्रण बहुत कठिन कार्य था। साथ ही इसके पाठकों की विरलता की आशंका से इसका प्रकाशन आर्थिक दृष्टि से भी लाभप्रद प्रतीत नहीं होता था। अतः प्रयास करने पर भी मैं बहुत दिनों तक इसके प्रकाशन की व्यवस्था नहीं कर सका। अन्त में प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा तथा श्रीजयदेव मिश्र, तत्कालीन निदेशक, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना की कृपा से परिषद् ने १४ अप्रैल, १९७० ई० को यह भार अपने ऊपर ले लिया। परिषद् के अनेक पूर्व प्रकाशनों की उत्तमता से सुपरिचित होने के कारण मैं इस दिशा में आश्वस्त हो गया। मेरी दृष्टि से इस ग्रन्थ को परिषद् से ही प्रकाशित दूसरे ग्रन्थ, **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** का एक आवश्यक पूरक बनना चाहिए, परन्तु 'आत्मन्यप्रत्ययं चेतः'। अतः सुहृत् समालोचकों के प्रोत्साहक मन्तव्य ही इसके लिए प्रमाण होंगे।

इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे अपने दिवंगत पिता पं० गणेशदत्त त्रिपाठी तथा अग्रज पं० वेदप्रकाश त्रिपाठी से बहुत सहायता मिली है, परन्तु उनसे तो मुझे सारा व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान ही उपलब्ध हुआ है, अतः इस ग्रन्थ के साथ उनकी पावन स्मृति सदा जुड़ी रहेगी। उपर्युक्त तथा अन्य भी जिन गुरुजनों से मैंने ज्ञानार्जन किया है, उनके वात्सल्य के आगे मैं नतमस्तक हूँ।

प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा छात्र-जीवन से ही मेरे प्रेरणादायक आदर्श तथा अकारण सहायक रहे हैं। उनके ही निर्देशन से तो यह ग्रन्थ लिखा गया है। धन्यवाद-मात्र ज्ञापित कर मैं उनसे उऋण नहीं हो सकता।

'परिषद्' के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ कि उसने कागज की उत्तरोत्तर वर्धमान दुर्लभता तथा महार्घता के दिनों में भी अङ्गीकृत प्रकाशन का परिपालन किया। इसके लिए मैं परिषद् के वर्त्तमान निदेशक श्रीहंसकुमार तिवारी, प्रकाशन-पदाधिकारी आचार्य श्रुतिदेव शास्त्री, श्रीरञ्जन सूरिदेव, श्रीरामकिशोर ठाकुर तथा अन्य सभी सहयोगियों का आभारी हूँ, जिन्होंने बड़े मनोयोग से इस ग्रन्थ के मुद्रण, प्रकाशन तथा प्रूफ-संशोधन में अपना सहयोग प्रदान किया है। ग्रन्थ के मुद्रण-क्रम में जो अशुद्धियाँ रह गई हैं, उनके सुधार के लिए मैंने एक शुद्धि-पत्र दे दिया है। आशा है, सुविज्ञ पाठकों को इससे भूल-सुधार में सहायता मिलेगी।

—रामदेव त्रिपाठी

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

पृष्ठ

१. वेद और भाषा ३
२. विज्ञान का अर्थ ३
३. भाषाविज्ञान की प्राचीनता ४
४. ऐतिहासिक तुलनात्मक दृष्टियाँ, भारतीय भाषाशास्त्र में भी वर्त्तमान ६
५. आधुनिक भाषावैज्ञानिक नियमों से पाणिनि-सूत्रों की तुलना ९
६. भाषा का अध्ययन—विज्ञान भी, दर्शन भी १०

द्वितीय अध्याय

भाषावैज्ञानिक ऊहापोह

१. वेद और भाषाविज्ञान—भारत में भाषाविज्ञान का महत्त्व १२
२. भाषाविज्ञान का विशाल क्षेत्र १७
३. भाषा की उत्पत्ति पर भारतीय भाषावैज्ञानिक मुनियों की सम्मति १८
४. संहिताओं में वाणी के विभिन्न पक्षों का विवेचन २५
५. वाणी के विश्लेषण का महत्त्व २६
६. वाणी का विश्लेषण २६
७. निरुक्तियाँ ३३
८. वर्णों का उल्लेख ३४
९. संहिता-परवर्त्ती काल ३४
१०. ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् ४२
११. आरण्यक ५१
१२. संहिता ५५
१३. उपनिषद् ५८

तृतीय अध्याय

ध्वनि-विज्ञान

१. शिक्षा और प्रातिशाख्य ६१
२. शिक्षा और प्रातिशाख्य का परस्पर सम्बन्ध ६१
३. दयानन्दीय वर्णोच्चारण-शिक्षा ९९
४. याज्ञवल्क्य-शिक्षा १०७

पृष्ठ

५. प्रातिशाख्य ११८
(क) ऋक्प्रातिशाख्य ११८
(ख) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १७५
(ग) शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य २०७
(घ) साम-प्रातिशाख्य २२०
(ङ) चतुरध्यायिका २२५

चतुर्थ अध्याय

ध्वनिविज्ञान

१. पाणिनि और ध्वनिविज्ञान २४५
२. अथर्व-प्रातिशाख्य २४८
३. भारतीय परम्परा से ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया २७१
४. आधुनिक दृष्टि से ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया २८६
५. भारतीय परम्परा से उसकी तुलना २९०
६. एलेन द्वारा संस्कृत-ध्वनियों का विश्लेषण २९५
७. डेनियल जोन्स के अनुसार अँगरेजी ध्वनियों की तालिका एवं वर्गीकरण ३१४
८. ध्वनिगुण ३०१
९. अँगरेजी ध्वनियाँ ३१४
१०. रूसी ध्वनियाँ ३१७
११. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का विश्लेषण ३१७
१२. पालि तथा प्राकृत ध्वनि-समूह ३२०
१३. नरवणे का विश्लेषण ३२१
१४. वर्ण-विकार ३३२

द्वितीय खण्ड

पंचम अध्याय

निरुक्त-विज्ञान

१. निरुक्त-विज्ञान ३५७
यास्क का निरुक्त ३६१
२. पाणिनि और निरुक्त-विज्ञान ४०३
३. निरुक्त की नई सरल प्रक्रिया ४०६
४. प्रकृति के विभिन्न रूप ४०९

पृष्ठ

५. प्रत्ययों का विवेचन ४४६
६. कुछ प्रत्ययाभास ४६३

षष्ठ अध्याय

पद-विज्ञान ४६९

१. सुबन्त ४७०
२. तिङन्त ४७६
३. प्रत्ययों का नग्न रूप ४८२
४. प्रकृति-प्रत्यय का एकार्थी भाव ४८८

सप्तम अध्याय

वाक्य-विज्ञान ४८९

१. वृत्ति ४८९
२. समास ४९५
३. एकशेष ५०३
४. द्विरुक्ति ५०४
५. कारक और विभक्ति ५०४
६. वाच्य-परिवर्त्तन ५२२
७. पद-व्यवस्था ५२८
८. लकारार्थ प्रक्रिया ५३१
९. हिन्दी-अँगरेजी काल-व्यवस्था से तुलना ५३८
१०. अपूर्ण क्रियाएँ ५५१
११. क्रिया का सामानाधिकरण्य ५६०
१२. एकवचन की जगह बहुवचन ५६४
१३. वाक्य में पदों का क्रम ५६५
१४. प्लुति ५६७

अष्टम अध्याय

अर्थ-विज्ञान ५६९

१. शब्द और अर्थ का अभिधेय स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध ५७०
२. स्फोट ५७४
३. प्रतिभा ५७९
४. ध्वनि-तत्त्व या ध्वनि-जाति ५८१
५. पतंजलि का अर्थविचार ५८३

		पृष्ठ
६. स्फोट और शब्द का स्वरूप	....	५८५
७. वर्ण, पद तथा वाक्य की तात्त्विकता	....	५८८
८. पदार्थ, प्रातिपदिकार्थ, धात्वर्थ और प्रत्ययार्थ	....	५९६
९. शब्द के उच्चारण से अर्थ की उपस्थिति कैसे होती है	....	५९९
१० संकेत-ग्रह के स्रोत	....	६०३
११. शब्द-शक्ति तथा शब्द और अर्थ के विभिन्न प्रकार	....	६०५
१२. अर्थोपस्थिति का नियमन	....	६०६
१३. लक्षणा	....	६०८
१४. व्यंजना	....	६१२
१५. तात्पर्य	....	६१५
१६. वाक्यार्थ और व्यपेक्षा	....	६१७
१७. एकार्थी भाव तथा अजहत्स्वार्था वृत्ति का क्षेत्र क्रमशः महत्तर	....	६१९
१८. शाब्दबोध	....	६२३
१९. अर्थविज्ञान—एक दर्शन ही	....	६२८
उपसंहार	....	६३०
सहायक ग्रन्थ-सूची	....	६३३
शुद्धिपत्र		

भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि

भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि

प्रथम अध्याय

भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि

वेद और भाषा :

भारत सदा से ज्ञान का भाण्डार रहा है। यद्यपि ज्ञेय सृष्टि की भाँति ज्ञान का भी विकासचक्र प्रतिक्षण चल ही रहा है, तथापि दोनों के ही बीज प्रारम्भ से ही भारत में वर्त्तमान रहे हैं। इस देश में ज्ञान का इतना मान रहा है कि यहाँ प्रथम पुस्तक का नाम ही वेद, अर्थात् ज्ञान रख दिया गया है। यह ज्ञान ही भारतीयों का चरम उपास्य है। उनकी कामना है : **तमसो मा ज्योतिर्गमय।**[1] वैदिक वाङ्मय एक विशाल ज्ञानसागर है, जिसकी गम्भीरता तथा विस्तार अनन्त है। चार संहिताएँ, उनकी सहस्रों शाखाएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, उपवेद, अंग, उपांग मिलकर असंख्य पुस्तकें हो जाती हैं, यद्यपि आज इसका अधिकांश लुप्त हो चुका है।

वेद के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, शेष सभी सूक्ष्म या स्थूल वस्तुएँ उसी के अंग हैं : **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।**[2] वह ब्रह्म एक है, अखण्ड है, फिर भी व्यवहार के लिए, उसकी तीन उपाधियों, सत्, चित् तथा आनन्द की कल्पना की गई है। इनमें सत् और चित्, रूप और नाम या बिन्दु और नाद के बोधक हैं। निगम-दर्शनों में नाम और रूप की तथा आगम-दर्शनों में नाद और बिन्दु की विस्तृत चर्चा है। यही तत्त्व है। नाम की महिमा तुलसी आदि स्मार्त्तों ने और नाद की कबीर आदि तान्त्रिकों ने बार-बार गाई है। यह नाम या नाद ही वाक्-तत्त्व है तथा रूप या बिन्दु ही अर्थ-तत्त्व। उन्हें ही वाणी या भाषा कहते हैं। सार्थक ध्वनि ही भाषा है।

विज्ञान का अर्थ :

उपर्युक्त ब्रह्मरूप वाक् या भाषा का विशिष्ट ज्ञान ही भाषाविज्ञान है। भारत में विज्ञान शब्द का प्रयोग भी बहुत पुराना है। वेदान्त के बारह महावाक्यों में एक **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**[3] भी है, जिसमें आनन्द तथा विज्ञान को ब्रह्मस्वरूप माना गया है। **विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते**[4] से विज्ञान को ही ज्येष्ठ ब्रह्म माना गया है। **विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति, यजुर्वेदं, सामवेदमाथर्वणं, विज्ञानमुपास्स्व**[5] बताता है कि विज्ञान द्वारा ही ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद का ज्ञान होता है, अतः विज्ञान की

---

१. बृहदारण्यक, १।३।२८।
२. ऋग, १।१६४।४६।
३. बृ० उ०, ३।९।३४।
४. तै० उ०, २।५।
५. छा० उ०, ७।७।१।

उपासना करनी चाहिए। गीता में भी **ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम्**[1] में ज्ञान का अर्थ स्थूल वस्तुओं का स्थूल रूप से ज्ञान, जिसे अविद्या या अपरा विद्या कहते थे और विज्ञान[2] का अर्थ सूक्ष्म वस्तुओं का सूक्ष्मता से ज्ञान, जिसे विद्या या परा विद्या कहते थे, ही है। इस श्लोक में ज्ञान तथा विज्ञान के बाद आस्तिकता की चर्चा है, पहले स्थूल पदार्थों का ज्ञान, फिर सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान और तब आस्तिकता यही क्रम ठीक बैठता है। किन्तु, तिलक ने ज्ञान का अर्थ आध्यात्मिक ज्ञान (Spiritual Knowledge) और विज्ञान का अर्थ भौतिक ज्ञान (Empirical Knowledge) किया है, जो ठीक विपरीत लगता है। विज्ञान का अर्थ परा विद्या-रूप विशेष ज्ञान ही उपयुक्त है। भर्तृहरि ने भी इसे परा विद्या तथा पवित्रतम ज्ञान कहा है : **तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम्**[3]; **पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते**।[4] इस प्रकार, भाषाविज्ञान का अर्थ है भाषा का विशेष ज्ञान, अर्थात् विशेष अध्ययन और यह वैदिक विज्ञान का मुख्यतम अंग है : **प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः**,[5] उसे ही व्याकरण भी कहते हैं। इसकी परम्परा भारत में ऋग्वेदकाल से ही चली आ रही है और पाणिनि इस क्षेत्र में अनुपम हैं।

भाषाविज्ञान की प्राचीनता :

ओटो जेस्पर्सन ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज'[6] में लिखा है कि आजकल भाषाविज्ञान में ऐतिहासिक दृष्टि पर अधिक बल दिया जा रहा है। एनसाइक्लोपेडिया ब्रिटानिका[7] का कहना है कि आजकल भाषाविज्ञान से जो अर्थ लिया जा रहा है, जिसमें अधिक बल सम्बद्ध भाषाओं से तुलना तथा भाषा की बनावट के ऐतिहासिक विकास पर दिया जा रहा है, उसके अनुसार भाषाविज्ञान का जन्म उन्नीसवीं सदी से पहले नहीं हुआ था। इन वाक्यों में दो शब्दखण्ड ध्यान देने योग्य हैं : (क) आजकल भाषाविज्ञान में ऐतिहासिक

---

१. गीता, १८।४२।

२. रामचरितमानस में भी विज्ञान का अर्थ आध्यात्मिक ज्ञान ही है।—उत्तरकाण्ड, दो० ११६, चौ० १ आदि; ११६।१; ११६।८ आदि। अष्टावक्रगीता में भी यही स्थिति है : "मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः। एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु।"

३. वाक्यपदीय—१।१५।

४. वाक्य० १।१४।

५. वाक्य० १।११।

६. Otto Jesperson : Language, Prefaee—"The distinctive feature of the science of language *as conceived now a days* is its historical character, a language or a word is no longer taken as something given once for all."

७. "It is not till the beginning of the 19th century that we see the rise of philology *as it is now understood* with the chief stress laid on comparison of related languages and the historical development of their structure."—Encyclopaedia Britannica—'Philology.'

दृष्टि पर बल दिया जा रहा है, अर्थात् भाषाविज्ञान पहले भी था, जिसमें ऐतिहासिक दृष्टि पर बल नहीं था तथा (ख) तुलना और ऐतिहासिक दृष्टि पर अधिक बल दिया जा रहा है, अर्थात् ये दो भाषाविज्ञान के स्वरूपनिष्पादक नहीं, विशेषताधायक गुण हैं। जेस्पर्सन[१] ने तो स्पष्ट ही संकेत कर दिया है कि भाषाविज्ञान का अस्तित्व पहले से भी था, ऐतिहासिक दृष्टि ने केवल उसमें बहुत बड़ा परिवर्त्तन कर दिया, साथ ही यह परिवर्त्तन इस क्षेत्र में जितना हुआ, उतना ही दूसरे क्षेत्रों में भी हुआ।

भाषाविज्ञान की ही एक महत्त्वपूर्ण शाखा है निरुक्ति-विज्ञान ('इटिमोलॉजी')। चेम्बर्स डिक्शनरी में इसका अर्थ लिखा है : 'वह विज्ञान, जो शब्दों का उद्भव और इतिहास बताता है।'[२] इस निरुक्ति-विज्ञान का सर्वप्रथम ज्ञात ग्रन्थ हमारा यास्क-रचित निरुक्त ही है, और ये यास्क पाणिनि से भी पूर्ववर्त्ती हैं। बल्कि निरुक्ति का आरम्भ भी ऋग्वेद से ही हो गया है। भाषाविज्ञान की एक दूसरी शाखा ध्वनिविज्ञान (फोनिटिक्स) की विज्ञानता में तो किसी आधुनिकतम भाषावैज्ञानिक को भी कोई विचिकित्सा नहीं है, बल्कि यही क्लिष्टतम शाखा मानी जाती है। किन्तु, इसमें भी प्रातिशाख्यों और शिक्षा-ग्रन्थों ने अनुपम सूक्ष्म दृष्टि दिखाई है।[३] विशेषतः आधुनिक यन्त्रों के अभाव में उनका विश्लेषण आश्चर्यप्रद लगता है। उक्त एनसाइक्लोपेडिया[४] ने निश्छल रूप से स्वीकार किया है कि इन दोनों विज्ञानों में भारत शेष सारी दुनिया से बहुत आगे बढ़ा हुआ था और पाणिनि का व्याकरण तो सर्वोत्तम प्राप्त ग्रन्थ है।

---

१. "It was reserved for the 19th century to apply the notion of history to other things than wars and the vicissitudes, dynastries and thus to discover the idea of development or evolution as pervading the whole universe. *This brought about a vast change in the science of language as in other sciences.*"

—Language, Chapter 11-1.

"The science of language began tentatively and approximately when the minds of men first turned to problems like these. How is it that people do not speak everywhere the same language, how were words first created, what is the relation between a name and the thing it stands for."—Language : Beginning sentences.

२. "The Science that treats of the origin and history of words."

३. "The link between the ancient Indian and the modern western schools of linguistics is considerably closer in phonetics than in grammar."—W. S. Allen

४. "The Chinese and Assyrians did not penetrate so deeply into the understanding and analysis of their own language as did the early Indians whose grammatical investigations have had a far-reaching influence on European philology... . We find in India painstaking

इस प्रकार, संस्कृत-वैयाकरणों की सामान्य भाषाविज्ञान, ध्वनिविज्ञान तथा निरुक्ति-विज्ञान इन तीनों क्षेत्रों में बड़ी महत्त्वपूर्ण देन है। एनसाइक्लोपेडिया ने भारतीय भाषाविज्ञान का बहुत बड़ा प्रभाव भाषाविज्ञान-शास्त्र पर माना है। श्री डब्ल्यू० एस० एलेन ने भी स्वीकार किया है कि 'संस्कृत के ध्वनिविज्ञान से ही पश्चिमीय भाषाविज्ञानियों ने अपने यहाँ ध्वनिविज्ञान के बहुत-से पारिभाषिक शब्द तथा विभाग-निर्धारण लिये हैं[1]' इस ध्वनिविज्ञान में अपनी शिक्षा तथा प्रत्याहार-सूत्र आदि से तथा निरुक्ति-विज्ञान में अपनी अष्टाध्यायी से इतना महत्त्वपूर्ण योगदान देनेवाले पाणिनि वास्तव में महान् भाषावैज्ञानिक थे।

ऐतिहासिक तुलनात्मक दृष्टियाँ हर अध्ययन में उपयोगी, भारतीय भाषाशास्त्र में भी वर्त्तमान :

पीछे बताया जा चुका है कि ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टियों का होना न तो भाषाविज्ञान का स्वरूपप्रत्यायक लक्षण है, और न यह इसकी एकाधिकृत सम्पत्ति है।

---

investigations into phonetics with a minute description of each sound and its formation, further precise accounts of the changes of sounds in the inflection and formation of words. What was studied was not only the role of sounds in isolated words, but also the modification which sounds underwent when words were pronounced in connected speech (Sandhi), each word was analysed into its elements, root affixes to form stems and inflexional endings, and statistics were given of the occurrence of each of these elements. In this way the earliest contributions were given to the building up of an etymological science. Among the Indian grammarians Panini ranks first, his work has been called the most complete grammar existing for any language dead or living."..

—Encyclopaedia Britannica, 'Philology'

१. (a) "Our phonetic categories and terminology owe more than is perhaps generally realized to the influence of Sanskrit Phoneticians."—Phonetics in Ancient India, Page 3.

(b) "For no language of the past have we a record comparable to Panini's record of his *mother tongue* nor is it likely that any language spoken today will be so perfectly recorded."

—Language : Bloomfield, V. 270.

(c) "Without the Indian grammarians and Phoneticians whom he introduced and recommended to us it is difficult to imagine our nineteenth century school of Phonetics."

—J. R. Firth about Sir William Jones (Allen, Page 3).

ये दोनों दृष्टियाँ हर अध्ययन में, यहाँतक कि कला और शिल्प में भी उपादेय हैं, अपनाई जा रही हैं। और, दो ही क्यों ? ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक आदि और भी दृष्टियाँ तो हो सकती हैं। पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टियाँ अपनाई ही हैं, यदि किसी को यह नहीं दिखाई पड़ रहा है, तो पाणिनि का क्या दोष ? नैष स्थाणोरपराधोयदेनमन्धो न पश्यति। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में एक ओर पुरानी वैदिक वाणी 'छन्दस्' को तथा दूसरी ओर तत्कालप्रचलित शिष्टवाणी 'भाषा' को रखकर पद-पद में अन्तर बताया है। केवल 'बहुलं छन्दसि'[1] सूत्र ही ११-१२ बार पढ़ा है। इसके अतिरिक्त 'दीर्घजिह्वी च छन्दसि'[2], 'कद्रू कमण्डल्वोश्छन्दसि'[3], 'नित्यं संज्ञाछन्दसोः'[4] आदि के द्वारा वैदिकवाणी का तथा 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्',[5] 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः[6], "पूर्वं तु भाषायाम्"[7] आदि के द्वारा तात्कालिक वाणी का अन्तर दिखाना ऐतिहासिक तुलना ही तो है। साथ ही, 'उदीचामिञ्'[8], 'उदीचां वृद्धादगोत्रात्'[9], 'आरगुदीचाम्'[10], 'मातरपितरावुदीचाम्'[11] आदि से उत्तरवर्त्ती भाषा तथा 'प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्'[12], 'वृद्धात् प्राचाम्',[13] 'रोपधेतोः प्राचाम्'[14], 'प्राचां कटादेः'[15],: 'प्राचामुपादेरडज्वुचौच'[16] आदि के द्वारा पूर्ववर्त्ती भाषा का अन्तर दिखाकर भौगोलिक तुलना भी की है। और, काश्यप, गार्ग्य, शाकल्य, शाकटायन आदि दस आचार्यों का मत देकर भी क्षेत्रीय अन्तर ही दिखाया है। पतंजलि ने भी अपने महाभाग्य का आरम्भ तुलना से ही किया है। 'अथ शब्दानुशासनम्'[17], 'केषां शब्दानां, लौकिकानां वैदिकानां च' से प्राचीन वैदिक तथा तात्कालिक भाषा की तुलना की है। 'शवतिर्गतिकर्मा 'कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्याः भाषन्ते शव इति, हम्मतिः सुराष्ट्रेषु,

---

१. २।४।४६; २।४।७३; २।४।७६; ३।२।८८; ५।२।१२२; ६।१।३४; ७।१।८; ७।१।१०; ७।१।१०३; ७।३।६७; ७।४।७८; ६।४।७५।
२. ४।१।५९।
३. ४।१।७१।
४. ४।१।२९।
५. ४।१।६२।
६. ४।३।१४३।
७. ८।२।९८।
८. ४।१।१५३।
९. ४।१।१५७।
१०. ४।१।१३०।
११. ६।३।३२।
१२. ४।१।१६०।
१३. ४।२।१२०।
१४. ४।२।१२३।
१५. ४।२।१३९।
१६. ५।३।८०।
१७. महाभाष्य, पस्पशाह्निक का आरम्भ।

रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गामिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते, दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।'[1] (कम्बोज देश में शव का अर्थ होता है गमन, पर आर्य लोग इसका प्रयोग लाश अर्थ में करते हैं; सौराष्ट्र में गमन अर्थ में हम्म का प्रयोग होता है, पूर्वमध्य प्रदेश में रंह् का, पर आर्यलोग गम् का प्रयोग करते हैं; पूरब में हँसुआ अर्थ में दाति शब्द का प्रयोग होता है; उत्तर में दात्र का) आदि से क्षेत्रीय अन्तर तथा 'एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः सन्ति, तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयो बहवोऽपभ्रंशाः'[2] (एक गौ शब्द के ही गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश हैं) आदि से आधारभूत तत्सम शब्द तथा उनके अपभ्रंश-स्वरूप तद्भव शब्दों का ही अन्तर तो दिखाया है ?

वाणी के अध्ययन का, भाषाविज्ञान का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। एक भाषा के शब्दों की दूसरी सम्बद्ध भाषा अथवा अपने ही पूर्वकालिक रूप के समानार्थक समानाकृतिक शब्दों से तुलना-मात्र ही भाषाविज्ञान नहीं। एक ही भाषा के विभिन्नकालीन रूपों की तरह भिन्नदेशीय रूपों की भी परस्पर तुलना भाषाविज्ञान ही है। वस्तुतः, वर्त्तमान युग में यूरोप में भाषाविज्ञान का उदय संस्कृत की लैटिन, ग्रीक, जर्मन आदि भाषाओं से तुलना करने के कारण ही हुआ, इसीलिए भाषाविज्ञान में तुलना-तत्त्व की इतनी प्रमुखता हो गई, अन्यथा रसायन, भौतिक आदि किसी भी विज्ञान की तरह भाषाविज्ञान भी अपने विषय से सम्बद्ध हर तत्त्व का विश्लेषण करता है, कारण-कार्यभाव दिखाकर सभी प्रश्नों के तर्कसंगत उत्तर देता है। विज्ञान में मुख्य वस्तु कार्य-कारणभाव है, विश्लेषण है। तुलना नहीं भी मिल सकती है, या कहीं शब्दतः नहीं वर्णित रहने पर भी अर्थतः कथित-प्राय हो सकती है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में यही स्थिति है। पतंजलि ने स्पष्ट कर दिया है कि "शब्दानुशासनमिदानीं कर्त्तव्यम्। तत् कथं कर्त्तव्यम्। किं शब्दोपदेशः कर्त्तव्यः, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेशः ? अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात् किं पुनरत्र ज्यायः ? लघुत्वाच्छब्दोपदेशः...किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्त्तव्यः ?...अनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ? किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्त्यम् येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्"[3]—अर्थात्, शब्द तथा अपशब्द दोनों साथ-साथ कहने की आवश्यकता नहीं, किसी एक को बता देना पर्याप्त है, दूसरे का स्वयं आक्षेप हो जायगा। इसमें भी शब्दों की चर्चा ही अधिक अच्छी है, इसी में संक्षेप है; क्योंकि एक-एक शब्द के अनेक अपशब्द हैं, साथ ही अनिष्ट-कीर्त्तन से अच्छा है इष्ट-कीर्त्तन। और इष्ट शब्दों का भी प्रत्येक का शब्दतः पाठ सम्भव नहीं, अतः सामान्य-विशेष नियम बनाकर संक्षेप में इनका ज्ञान कराना ही उचित है, सम्भव है।

---

१. महाभाष्य (वही)।
२. वही।
३. वही।

आधुनिक भाषावैज्ञानिक नियमों से पाणिनि-सूत्रों की तुलना :

आधुनिक भाषावैज्ञानिक नियमों की तरह ही पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि—इन तीनों मुनियों के नियम हैं। ग्रिम ने वर्ण-परिवर्त्तन के लिए एक नियम बनाया। उसमें बहुत-से अपवाद निकल आये, जिनका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। अतः, उस नियम में ग्रासमान तथा वर्नर ने उपनियम बनाकर संशोधन किये। ठीक इसी भाँति पाणिनि ने भी कुछ नियम बनाये। उनमें कुछ परिवर्त्तन-परिवर्द्धन कात्यायन तथा पतंजलि ने किये। पाणिनि ने स्वयं भी अपने नियमों के अपवाद बताये हैं। उन्होंने वर्ण-परिवर्त्तन का एक नियम बनाया—होढः[1], अर्थात् यदि पद की समाप्ति हो अथवा बाद में वर्गीय प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण अथवा ऊष्मवर्ण हों, तो ह् का ढ हो जाता है; जैसे लिह् का लिड्, लीढ आदि। पर, इसका अपवाद भी जानकर कह दिया—दादेर्धातोर्घः[2], अर्थात् यदि धातु का प्रथम वर्ण द हो, तो उपर्युक्त स्थिति में ह् का द् नहीं घ् होता है, जैसे दुह् का धुग्, दुग्ध आदि। नागेश का तो कहना है कि महर्षि पाणिनि ने जो नियम बनाये हैं, वे पूर्ण हैं : सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं, यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके[3], अर्थात् वार्त्तिक तथा इष्टि-व्याख्यान आदि द्वारा जितनी बातें अष्टाध्यायी की पूर्त्ति के लिए कही गई हैं, वे सब पाणिनि-सूत्रों से ही गतार्थ हैं। पतंजलि भी कहते हैं : यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत[4]। सूत्रविरुद्ध कोई भी उक्ति प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। पर, यह पाणिनि की प्रशंसा-मात्र है, जिसमें यह स्वीकार किया गया है कि पाणिनि असाधारण वैयाकरण थे, जिनकी दृष्टि अतीत ही नहीं, सुदूर भविष्य तक भी पहुँची थी। अन्यथा, कात्यायन तथा पतंजलि का परिवर्त्तन-परिवर्द्धन वस्तुतः पाणिनि के बाद संस्कृत भाषा में हुए विकास का अथवा पाणिनि से परित्यक्त अंशों का संग्रह ही है। एलेन ने स्वीकार किया है कि पाणिनि का व्याकरण एक भाषावैज्ञानिक का व्याकरण[5] है, और वैज्ञानिक वैयाकरण भी भाषा-सम्बन्धी तथ्यों के प्रति बहुत-कुछ वही दृष्टिकोण रखता है, जो प्राकृतिक वैज्ञानिक प्रकृति के तथ्यों के प्रति रखता है।

यास्क ने निरुक्ति-विज्ञान को भी व्याकरण की ही एक शाखा माना है[6] : तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्। इसी भाँति ध्वनिविज्ञान, अर्थात् शिक्षा, प्रातिशाख्य आदि और छन्दोविज्ञान आदि भी व्याकरण की ही शाखाएँ हैं। आज भी व्याकरण की किसी-किसी पुस्तक में छन्दोविचार दिया रहता है। व्याकरण का शब्दार्थ है—विश्लेषण, और यह शब्द भाषा के विश्लेषण के लिए रूढ है। अतः, भाषा के किसी भी अंश का विश्लेषण व्याकरण ही है।

---

१. महाभाष्य, ८।२।३१।
२. ,, ८।२।३२।
३. महाभाष्य, १।१।१ 'अथ व्याकरणम् इत्यस्य कः पदार्थः' के भाष्य की उद्योत टीका।
४. महाभाष्य, १।१।१ 'अथ व्याकरणमित्यस्य कः पदार्थः' का उपसंहार।
५. His work is a linguist's and not a language teacher's grammar.
६. अ० १, पा० १।

भाषा का अध्ययन—विज्ञान भी दर्शन भी :

जेस्पर्सन ने तो एक जगह भाषाविज्ञान की जगह 'भाषादर्शन' शब्द का प्रयोग किया है : "मैं अपनी पुस्तक में अपने समस्त भाषादर्शन को पूरी तरह अँटा सकने में असमर्थ रहा हूँ।"[१] उसी तरह दूसरी जगह उन्होंने व्याकरण को व्याकरणविज्ञान भी कहा है।[२] इस तरह दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि व्याकरण को जेस्पर्सन दर्शन भी मानते हैं और विज्ञान भी, और दूसरी यह कि प्राचीन काल में ग्रीस तथा रोम में हुए भाषा के अध्ययन को भी वे विज्ञान ही मानते हैं। जेस्पर्सन ने स्पष्ट कहा भी है कि भारतीय वैयाकरण ही भाषावैज्ञानिक निरीक्षण तथा वर्गीकरण में सबसे प्रथम[३] अधिकारी व्यक्ति थे, ग्रीस और रोम में इसका लेशमात्र था।[४]

वास्तव में व्याकरण शब्द का अर्थ ही है—विश्लेषण, अतः वैज्ञानिक विश्लेषण से हीन अध्ययन को व्याकरण कहना ही ठीक नहीं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारत में विज्ञान और परा विद्या समानार्थक शब्द हैं। सभी उपनिषदें परा विद्या हैं; क्योंकि उनमें ब्रह्म का सूक्ष्म विश्लेषण है। उसी प्रकार उपनिषदों से उद्भूत सभी दर्शन भी परा विद्या की ही शाखाएँ हैं। व्याकरण भी ब्रह्म के एक मुख्य अंश वाक् का ही विश्लेषण है, अतः माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' में उसे भी एक स्थान प्राप्त है, इसका नाम पाणिनि-दर्शन है। इसी प्रकार आज के रसायन-विज्ञान का मूल 'सर्वदर्शन-संग्रह' के रसेश्वर-दर्शन में ढूँढ़ा जा सकता है तथा पदार्थ-विज्ञान का मूल न्याय, वैशेषिक और सांख्य दर्शनों में। इस तरह, प्राचीन भारतीयों ने इन सब विषयों का सूक्ष्म अध्ययन दर्शनों में किया है। इसीलिए जेस्पर्सन भी भाषाविज्ञान को भाषादर्शन कहते हैं।

---

१. "I have not been able to compress into this volume the whole of my philosophy of speech."—Preface

२. "In Europe grammatical science was slowly and laboriously developed in Greece and later in Rome."

—Chapter 1, Page 20

३. "Science presupposes careful observation and systematic classification of facts and of that in the old Greek writers on language we find very little. The earliest masters in linguistic observations and classification were the old Indian Grammarians."

—'Language', Chapter 1, Page 20

४. "There are in existence over a thousand different Sanskrit grammars, all inspired directly or indirectly by Panini's model. Besides such a concourse the thousand manuscripts of Prisciaon's Latin grammar, the pride of our western tradition, are but a drop in the grammatical ocean. According to Burnell there were no less than sixtyeight of these Pre-Paninian grammars."

—'Phonetics in Ancient India' : W. S. Allen

अतः, स्पष्ट है कि भारत में व्याकरण नाम से अभिहित वेदांग का जो विशाल सागर है, वह भाषादर्शन या भाषाविज्ञान ही है। बाबूराम सक्सेना निरुक्त का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "अर्थविज्ञान के विषय के अध्ययन का यह सर्वप्रथम प्रयास है। यास्क मुनि के समय तक भाषाविज्ञान-सम्बन्धी अन्वेषण इस देश में काफी आगे बढ़ चुका था, इसका इसी बात से यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि यास्क ने बहुतेरे (आग्रायण, ऐतिहासिक, नैरुक्त, वैयाकरण आदि) पक्षों और गार्ग्य, गालव, शाकटायन, शाकल्य आदि पूर्ववर्त्ती या समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है और उनके मत को उद्धृत किया है।"[1] "यास्क के बाद और पाणिनि के पूर्व बहुत-से वैयाकरण रहे होंगे...... पाणिनि के समय तक बहुतेरे व्याकरणकार **पदविज्ञान** को आगे बढ़ा चुके थे। इनमें से 'आपिशलि' और 'काशकृत्स्न' दो का उल्लेख मिलता है। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों में इन्द्र का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है"।[2]......"भाषाविज्ञान के लिए पाणिनि की छाप अमिट है। माहेश्वर सूत्रों में ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण **ध्वनिविज्ञान** के तत्त्वज्ञान का उत्तम उदाहरण है। प्रति शब्द किसी-न-किसी धातु से सम्बद्ध है। इस मत की पुष्कल पुष्टि पाणिनि ने न केवल अष्टाध्यायी के सूत्रों से, बल्कि उणादिसूत्रों से भी की है। पर, सबसे महत्त्व का काम वैदिक (छन्दस्) और लौकिक संस्कृत का तुलनात्मक विवेचन है। यूरोप में जो काम ईसवी सन् की उन्नीसवीं शती में किया गया, वही इस देश में ईसापूर्व छठी-सातवीं शती में पाणिनि मुनि कर चुके थे। इस प्रकार, पाणिनि ने **ध्वनिविज्ञान, अर्थविज्ञान** और **तुलनात्मक व्याकरण** के अध्ययन को बहुत आगे बढ़ाया।.........तुलनात्मक व्याकरण के आदि गुरु पाणिनि थे।[3]"

इस प्रकार स्पष्ट है कि भाषाविज्ञान की परम्परा भारत में पाणिनि से भी बहुत पुरानी है, शतियों पुरानी और पाणिनि आज भी सभी भाषावैज्ञानिकों के उपजीव्य हैं—मूर्द्धन्य हैं। पाणिनि की कृति में वह अधकचरापन नहीं, जो आरम्भिक कृतियों में मिलता है, वह परिपक्व विश्लेषण है, जो सैकड़ो वर्षों तथा पीढ़ियों के अनवरत तप और साधना से ही प्राप्य हो सकता है। पाणिनि के पहले किसी ग्रन्थ में (प्रातिशाख्य, निरुक्त आदि) वैदिक भाषा का विवेचन है, किसी में लौकिक भाषा का (पाणिनि पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों, आपिशलि आदि के ग्रन्थों में)। पाणिनि ने छन्दस् तथा भाषा (वैदिक-लौकिक) का तुलनात्मक अध्ययन किया। पाणिनि-परवर्त्ती हेमचन्द्र आदि ने संस्कृत के साथ प्राकृतों का, वररुचि आदि ने शौरसेनी-महाराष्ट्री के साथ मागधी, पैशाची आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया और यह परम्परा चलती रही।

●

१. सामान्य भाषाविज्ञान—बीसवाँ अध्याय : भाषा-विज्ञान का इतिहास।
२. वही।
३. वही।

द्वितीय अध्याय

वेद और भाषाविज्ञान

भारत में भाषाविज्ञान का महत्त्व :

ब्रह्म की तीन उपाधियों, सत्, चित् और आनन्द को हम क्रमशः बाह्यजगत्, शब्दजगत् तथा अन्तर्जगत् या ज्ञेयजगत्, ज्ञानजगत् तथा ज्ञातृजगत् या रूपजगत्, नामजगत् तथा मानसजगत् कह सकते हैं। इनका वृत्त सदा गतिशील रहकर परस्पर संक्रान्त होता रहता है। बाह्य या स्थूल जगत् शब्द या ज्ञानजगत् के माध्यम से आन्तर या मानसजगत् में प्रविष्ट होता है तथा आन्तर जगत् शब्दजगत् द्वारा बाह्यजगत् में प्रकट होता है।[1] पानी की तरंगों की भाँति प्राणियों की चेष्टाएँ इन तीनों धरातलों तक आती-जाती रहती हैं। भारत में बाह्य या कर्मजगत् की व्याख्या के लिए ब्राह्मण, पुराण, रामायण, महाभारत, कल्प, स्मृति आदि; शब्दजगत् की व्याख्या के लिए शिक्षा, प्रातिशाख्य, निरुक्त, व्याकरण, छन्दःशास्त्र आदि तथा आन्तर जगत् की व्याख्या के लिए उपनिषद्, दर्शन आदि रचे गये। ये ही तीन क्रमशः कर्म, ज्ञान तथा उपासना या भक्ति के क्षेत्र हैं। आज की भाषा में हम इन्हें क्रमशः पदार्थ-विज्ञान, शब्दविज्ञान तथा मनोविज्ञान या आत्मविज्ञान कह सकते हैं। जिस प्रकार इस्पात तथा बेदाग इस्पात (स्टेनलेस स्टील) का मूल भी खानों से निकला कच्चा लोहा (आयरन-ओर) ही है, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से कर्म, ज्ञान तथा उपासना और आधिभौतिक दृष्टि से पदार्थ-विज्ञान, भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान का मूल स्रोत भी वेद ही है।

ब्रह्म में त्रिविध उपाधियोंतथा पार्श्वों का विभाग भी काल्पनिक है, व्यावहारिक है। वास्तव में, शब्दब्रह्म शेष दो उपाधियों के साथ अव्यपवृक्त है—एक है। अतः, ऊपर गिनाई गई पुस्तकों में, जिनमें विशेषतः कर्म और उपासना-जगत् की व्याख्या है, शब्दब्रह्म का भी विश्लेषण मिलता है। संक्षेप में वैदिक साहित्य की शाखा-प्रशाखा की किसी भी पुस्तक में न्यूनाधिक तीनों क्षेत्रों, उपाधियों का वर्णन है। ब्राह्मणों में उपनिषद्-भाग मिला है, उपनिषदों में ब्राह्मण-भाग। यहाँ तक कि षड्दर्शनों में भी सांख्य-वैशेषिक में स्थूल जगत् की, न्याय-मीमांसा में शब्द या ज्ञानजगत् की तथा योग-वेदान्त में आन्तर जगत् की व्याख्या अधिक हुई है। वास्तव में भारत के चिन्तकों ने शब्दब्रह्म का विचार प्रत्येक पुस्तक में कुछ-न-कुछ किया है। है भी यह ठीक; क्योंकि मन, वचन और कर्म की त्रिपथगा में मध्य धारा भाषा ही है। इस धारा का क्षेत्र भी औरों से अधिक विस्तृत है। यदि सत् को अन्नमय कोष का रूप मानें और आनन्द को आनन्दमय कोष का, तो चित् प्राणमय,

---

१. 'यद्धि मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति, तत्कर्मणा करोति'।— तै० ब्रा० २।५।१।५ की व्याख्या में सायण से उद्धृत।

मनोमय, विज्ञानमय—तीनों कोषों को अपने में समेट रहा है। अर्थात्, शब्दब्रह्म का स्थूल रूप तो नाद है, पर सूक्ष्म रूप तीन-तीन हैं—प्राणन, मनन तथा प्रज्ञान। वैदिक साहित्य में वाक् को कहीं प्राण कहा है, कहीं मन, कहीं बुद्धि। शिक्षा में इन तीनों के स्तरों का क्रम रखा गया है : 'आत्मा पहले बुद्धि से परामर्श करती है, फिर मन को आज्ञा देती है। मन प्राण-वायु को प्रेरित कर ध्वनि पैदा कराता है।'[1] इस प्रकार, इस मध्य धारा में भी तीन तीन स्तर हैं—प्राण, मन और बुद्धि। ये तीनों अन्तर्धाराएँ हैं, सतह है ध्वनि, शब्द। चित् का, अर्थात् प्राण, मन, बुद्धि का, ही स्थूल[2] रूप है शब्द, और शब्द का सूक्ष्म रूप चित् है। जिसने इस विस्तृत मँझधार पर विजय पा ली, उसे दोनों तटों से क्या चिन्ता और भय ? यदि शब्दब्रह्म का साक्षात्कार हो गया, तो बाह्यजगत्-रूप स्थूल तथा आन्तर जगत्-रूप सूक्ष्म ब्रह्म दोनों का साक्षात्कार हो ही जायगा। पतंजलि का **एकः शब्द : सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति**[3] का यही संकेत है। 'शब्द' शब्दजगत् का, 'स्वर्ग' सूक्ष्म (आनन्दात्मक) जगत् का तथा लोक स्थूल जगत् का प्रतीक है। जिसका शब्द पर अधिकार होगा, उसका स्वर्ग और लोक दोनों पर अधिकार हो जायगा। सन्त तुलसी ने भी भंग्यन्तर से यही बात कही है : **'राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरीं द्वार, तुलसी भीतर बाहेरहुँ जो चाहसि उजियार।'**[4] शब्दजगत् देहली है, सूक्ष्मजगत् आँगन या घर तथा स्थूल-जगत् द्वार। यदि देहली पर दीप रख दिया जाय, तो घर और द्वार दोनों प्रकाशित हो उठेंगे। 'ब्रह्मबिन्दूपनिषद्' ने बाह्य जगत् को स्वयंसिद्ध मानकर इस देहली-दीप से केवल घर के ही प्रकाशित होने की बात कही है : **द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च तत् शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।**[5] अर्थात्, परा विद्या की दो शाखाएँ हैं। जो प्रथम शाखावाले शब्दब्रह्म में निष्णात हो जाता है, वही दूसरी शाखा ब्रह्म की प्राप्ति करता है। एक दृष्टि से विचार करने पर यह अन्तर्जगत् तथा शब्दजगत् दोनों मिलकर एक सूक्ष्मजगत् ही सिद्ध होते हैं। देहली भी तो घर का ही एक भाग है, द्वार का नहीं। अन्तर्जगत् शब्द-जगत् का ही भीतरी या सूक्ष्म पार्श्व है, और शब्दजगत् अन्तर्जगत् का ही बाहरी या स्थूल पार्श्व। ये दोनों मिलकर वाक्-तत्त्व कहलाते हैं। इसीलिए, वेद शब्द, जो वस्तुतः ज्ञान का बोधक है, शब्दात्मक मन्त्रों की राशि का भी बोधक होता है। स्थूल जगत् ही अर्थतत्त्व है। इस प्रकार, सच्चिदानन्द ही वागर्थमय युग्म बनकर अर्द्धनारीश्वर हो जाता है, जो सदा सम्पृक्त ही रहता है। कालिदास के **वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये, जगतः**

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति सप्रेरयति मारुतम् ॥
—मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। —पाणिनि-शिक्षा ६।

२. अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्त्तते ॥—वाक्यपदीय १।११२।

३. महाभाष्य का पस्पशाह्निक।

४. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा २१।

५. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, १७ तथा महाभारत, शान्तिपर्व २००।२ और मैत्र्यु० ६।२२।

पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ[1] और तुलसी के गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न, बन्दौं सीता राम पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न[2] का यही आशय है। कालिदास और तुलसीदास दोनों ही मनीषी सूक्ष्म और स्थूलजगत् दोनों को समान एवं महत्त्वपूर्ण मानते हैं। हमारे लिए दोनों ही उपास्य हैं; क्योंकि हमें अभ्युदय भी चाहिए, निःश्रेयस् भी। पर, शब्दाद्वैतवादी भाषाविज्ञानी भर्तृहरि वाग्ब्रह्म को मुख्य तथा अर्थ-तत्त्व को उसपर आश्रित बताते हैं :

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः[3]

तथा

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः छन्दोभ्य एव प्रथमं विश्वमेतद् व्यवर्त्तत ।[4]

अर्थात्, सृष्टि का विकास शब्दब्रह्म के बीज से ही हुआ है।[5]

भारत में भाषाविज्ञान का जन्म ऋग्वेदकाल में ही हो गया था। ऋग्वेद में अनेक सूक्त तथा मन्त्र भाषा-विषयक हैं। उसी वैदिककाल से ही प्रत्येक ऋषि ने मुख्य रूप से या प्रसंगवश वाक्तत्त्व पर अपने कुछ विचार अवश्य प्रकट किये हैं। प्रायः हर संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् में इसकी चर्चा या संकेत है। छह वेदांगों में शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण और छन्द—इन चार में तो शब्दब्रह्म का ही वर्णन है; किन्तु कल्पसूत्रों में भी इसपर यत्र-तत्र सामग्री बिखरी पड़ी है। पश्चाद्वर्त्ती अनुक्रमणी-ग्रन्थों, परिशिष्टों, बृहद्देवता, पुराण आदि में भी वाणी का प्रसंगागत विश्लेषण मिलता है। इन सबमें प्रातिशाख्यों की विश्लेषण-पद्धति निराली है। तबसे आजतक भारतीयों ने वाग्-ब्रह्म का श्रवण, मनन और निदिध्यासन नहीं छोड़ा है। दर्शनों में शब्दखण्ड एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप में प्रतिष्ठित है। रामायण, महाभारत, पुराण और स्मृतिग्रन्थों में स्थान-स्थान पर वाग्-ब्रह्म के किसी-न-किसी अंश की व्याख्या मिल जाती है; निरुक्तियाँ तो इन सबमें मिलती हैं।

आज भी हम देखते हैं कि वाणी का अध्ययन कितना आवश्यक है। वक्ता चाहे कितना भी महान् हो, वक्तव्य चाहे कितना भी महत्त्वपूर्ण हो, यदि भाषा अशुद्ध हो गई, तो श्रोताओं पर उसका अभिलषित प्रभाव नहीं पड़ पाता। पतंजलि ने कहा है कि असुर लोग अशुद्ध भाषा के ही कारण पराजित हुए थे : तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परा बभूवुः।[6] भारत में अशुद्ध कर्म ही नहीं, अशुद्ध वाणी तथा अशुद्ध चिन्तन भी अपराध माना जाता है। बेचारा वृत्र भी अशुद्ध उच्चारण के कारण ही मारा गया :

---

१. रघुवंश : मंगलाचरण।
२. रामचरितमानस : बालकाण्ड, दोहा १८।
३. वाक्यपदीय, १।१।
४. वाक्यपदीय, १।१२०।
५. बाइबिल में भी कहानी आई है कि भगवान् ने कहा कि 'समुद्र हो जाय' और समुद्र उत्पन्न हो गया।
६. महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥[१]

ताण्ड्य महाब्राह्मण[२] में भी ऐसी ही कथा आई है कि देवों की असुरों पर विजय वाणी की निपुणता के ही कारण हुई थी। कारण यह है कि वाणी का प्रभाव मन पर तथा कर्म पर भी पड़ता है। आधुनिक विश्व इसी कारण मित्रों की प्राप्ति और वृद्धि के लिए वार्त्तालाप का महत्त्व स्वीकार कर रहा है[३] तथा युद्ध में विजय के लिए प्रचार (प्रोपेगैण्डा) का। कहते हैं, द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर की आरम्भिक विजयों का भी यही गुर था। इसीलिए, भारत में वाग्विभव ब्राह्मणों के लिए छहों अंगों के साथ वेद का अध्ययन निष्कारण धर्म मान लिया गया था : ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः, षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च[४]। इन छहो अंगों में व्याकरण सर्वप्रधान था : प्रधानं च[५] षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् प्रथमं छन्दसामङ्गम्[६] प्राहुर्व्याकरणं बुधाः। शिक्षाओं की भी यही घोषणा है : मुखं व्याकरणं प्रोक्तम्[७]। इसीलिए, पतंजलि कहते हैं कि पहले वेदारम्भ-संस्कार के बाद ब्राह्मण व्याकरण ही पढ़ते थे : पुराकल्प एतदासीत्, संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते।[८] वस्तुतः, अपशब्द-प्रयोग एक वाचिक रोग ही माना जाता था, जिसकी चिकित्सा के लिए भाषाशास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत किया गया। तभी तो भर्तृहरि ने व्याकरण को वाङ्मलानां चिकित्सितम्[९] कहा है। शारीरिक दोषों के लिए चिकित्साविज्ञान, वाचिक दोषों के लिए भाषाविज्ञान तथा मानसिक दोषों के लिए उपनिषद्, दर्शन और मनोविज्ञान का प्रवर्त्तन हुआ। वाच, काज तथा मन निश्छल'[१०], रखने के लिए ही शरीर, मन तथा वाणी को निर्मल[११] करने के निमित्त स्वयं पतंजलि ने भी क्रमशः चरक, महाभाष्य तथा योगसूत्र लिखे :

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

---

१. वही।
२. अध्याय १, खण्ड १३।
३. 'हॉव टु विन फ्रेण्ड्स्' आदि पुस्तकें एतदर्थ ही लिखी जा रही हैं।
४. महाभाष्य, पस्पशाह्निक।
५. वही।
६. वाक्य०, १।११।
७. पाणिनीय शिक्षा, ४२।
८. महाभाष्य, पस्पशाह्निक।
९. वाक्यपदीय, १।१४।
१०. नरसी मेहता का भजन है—'वाच काज मन निश्चल राखे धन-धन जननी तेणी रे।' (वैष्णव जण तो तेणे०, महात्मा गांधी का प्रिय भजन—)।
११. कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
चिकित्सा लक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः॥—वा० प०, १।१४६।

पाणिनि ने इनमें मुख्य को, देहली को ही पकड़ा। यदि शब्द पर अधिकार है, तो सबपर अधिकार होगा। वही ज्ञान की शलाका है। अतः, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के लक्ष्य के लिए उन्होंने सबको शब्दज्ञ बनाना आवश्यक समझा :

येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः॥[1]

रामायणकाल में भी भाषाविज्ञान का कितना सम्मान था, यह इसी से पता चलता है कि हनुमान् से प्रथम साक्षात्कार में राम उनकी भाषणपटुता से ही मुग्ध हुए थे : 'नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् बहुव्याहरताऽनेन न किञ्चिदपभाषितम्।[2] हनुमान अपनी भाषा के कारण ही सुग्रीव के दूत-कार्य में सफल हुए थे, और राम ने भी यही देख उन्हें अपना भी दूत बनाकर सीता के पास भेजा था। इसीलिए, पतंजलि ने भी महाभाष्य के आरम्भ में शब्दानुशासन के महत्त्व पर प्रचुर प्रकाश डाला है। वास्तव में, मानव-जाति के विकास का कारण भी उसकी भाषा का विकास ही है। ज्यों-ज्यों भाषा का अध्ययन किया जाता है, त्यों-त्यों भाषा की क्षमता बढ़ती है, भाव-प्रकाशन की क्षमता बढ़ती है, जैसे पदार्थ-विज्ञान के अध्ययन से पदार्थों के उत्पादन की क्षमता बढ़ती है। एक मानव के सारे चिन्तन, सारे ज्ञान, सारे आविष्कार को वाणी ही दूसरे मानव, दूसरे देश और दूसरे काल तक पहुँचाती है। अतः मानव-जाति की प्रगति में वाणी का महत्त्वपूर्ण योग है। और, भाव-प्रकाशन ही क्यों? आत्मचिन्तन भी भाषा के अभाव में दूर तक नहीं जा सकता। मानव-मस्तिष्क को निःसन्देह वाणी की सान ही तेज करती रहती है। दण्डी की उक्ति सही है कि वाणी के अभाव में सारा संसार अज्ञानान्धकार में डूबा रहता :

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥[3]

छान्दोग्य उपनिषद् ने भी ठीक ही कहा है कि यद् वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्नसत्यं नानृतं, न साधु ना साधु, वागेवैतत् सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्व।[4]

अर्थात् यदि वाणी नहीं रहती, तो धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत, साधु-असाधु का ज्ञान नहीं होता, अतः वाणी की ही उपासना करनी चाहिए। छान्दोग्य ने इस विश्लेषण को और भी आगे बढ़ाकर कहा है कि पुरुष का सारभूत पुरुषार्थ है—वाणी, वाणी का सार है; ऋचा, ऋचा का सार है; साम तथा साम का सार उद्गीथ है। अतः, ओम् इस एकाक्षर उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए : पुरुषस्य वाग् रसः, वाच ऋग् रसः, ऋचः साम रसः,

१. पाणिनीय शिक्षा, ५८।
२. वाल्मीकीय रामायण, कि० का०, ३।३०।
३. काव्यादर्श।
४. छान्दोग्य उप०, ७।१।२।

साम्न उद्‌गीथो रसः, ओमित्येकाक्षरमुद्‌गीथमुपासीत।[1] इसीलिए, बृहदारण्यक उपनिषद् भी कहती है कि वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म[2]—वाक् ही स्वयं परमब्रह्म है। और भी, कई ब्राह्मण तथा उपनिषद्-ग्रन्थों में वाक् को ब्रह्म कहा गया है, बल्कि ऋग्वेद की एक ऋचा में भी वाक् को इस भुवन का जनक तथा सर्वमय माना गया है : वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे, वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।[3] इसलिए, वाक् या भाषा ही ब्रह्म है, अक्षर है, ओम् है। यह प्रणव है, नित्य नवीन है, यह कभी पुराना नहीं होता। अध्ययन के लिए इसमें सदा नये-नये पार्श्व आते ही रहते हैं। तभी तो भारतीय इसे सरस्वती कहकर सर्वदेव-पूजनीय मानते हैं या 'ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर् देवैः सदा वन्दिता' और इसकी पूजा करते हैं।

भाषाविज्ञान का विशाल क्षेत्र :

पाश्चात्य भाषाविज्ञानी भाषाविज्ञान के अन्दर केवल ध्वनि तथा अर्थ का ही अध्ययन करते हैं (बल्कि क्रमशः अर्थविज्ञान भी इसकी सीमा से बाहर जा रहा है) और इनकी भी केवल शवपरीक्षा ही इस अध्ययन का क्षेत्र मानते हैं। 'सुन्दर' तथा 'शिव'-पक्ष को वे कला तथा आचारशास्त्र कहकर विज्ञान के क्षेत्र से अलग रखते हैं, पर भाषा-विज्ञान को अति संकुचित क्षेत्र से निकालकर उसके पूर्ण रूप की प्रतिष्ठा करने का प्रयास अबतक नहीं किया गया है, अतः यह आवश्यक है।

●

१. छान्दोग्य, १।२।
२. बृहदारण्यक, ४।१।
३. वाक्यपदीय, १।१२१ : हेलाराज की टीका में उद्धृत।

भाषा की उत्पत्ति

भाषा की उत्पत्ति पर भारतीय भाषावैज्ञानिक मुनियों की सम्मति :

भाषा के अध्ययन में सबसे पहला और शायद सबसे पेचीदा यह सवाल भी उठता है कि मानव-भाषा की, अर्थात् विश्लेषण-योग्य सार्थक, नियत, वर्णात्मक ध्वनियों की सर्वप्रथम उत्पत्ति कब, कहाँ और कैसे हुई। कहते हैं, भाषाविज्ञानियों ने अपना मस्तिष्क सबसे अधिक इसी में लड़ाया है, फिर भी सबसे कम प्रकाश इसी अंश पर पड़ा है—परिश्रम सर्वाधिक किया गया है, और फल सर्वाल्प मिला है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अब भाषावैज्ञानिक इस प्रश्न को अपने अध्ययन का विषय ही नहीं मानते, इसे स्वयं सिद्धवत् मानकर आगे बढ़ जाते हैं।

भारतीय वाङ्मय में भी भाषा की उत्पत्ति के स्रोतों की थोड़ी-बहुत चर्चा यत्र-तत्र मिलती है। ऋग्वेद में **वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डुका अवादिषुः**[1] कहकर अचेतन बादल तथा चेतन मेढक की वाणी (वाचम्) या ध्वनि का वर्णन किया गया है। यास्क ने **दुन्दुभिः इति शब्दानुकरणम्** (निरुक्त, ६।१२) **काक इति शब्दानुकृतिः, तदिदं शकुनिषु-बहुलम्**[2] कहकर स्पष्ट ही भाषा में अचेतनों तथा चेतनों की बोली का योगदान स्वीकार किया है। पाणिनि ने **व्यक्तवाचां समुच्चारणे**[3] से मनुष्यों की व्यक्त वाणी का वर्णन किया है, **अनुकरणं चानितिपरम्**[4] से खाट्कृत, हुंकृत आदि शब्द चेतन वाणी के अनुकरण में और **अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्**[5] तथा **लोहितादि ड्भ्यः क्यष्**[6] की सहायता से खटखटायते, पटपटायते, कटकटायते, टकटकायते, फर्फरायते आदि सैकड़ों प्रयोग अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण में बताये हैं। **अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ**[7] से भी पटिति, झटिति आदि प्रयोग अव्यक्त ध्वनि के ही अनुकरण में सिद्ध होते हैं। भाषा के अध्ययन के लिए शिशुओं की भाषा को भारतीय मनीषी भी उपयोगी मानते थे, अतः इसका भी यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण के **सारस्वतं शंसति, तस्मात् कुमारं जातं जघन्या वागाविशति**[8] तथा ऐतरेय आरण्यक के **एतां वाचं प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरदेकाक्षरद्व्यक्षरां ततेति तातेति, तथैवेतत् कुमारः प्रथमवादी वाचं व्याहरत्येकाक्षरद्व्यक्षरां ततेति तातेति**[9] में भी यही वर्णन है कि पहले बालक रोने के अतिरिक्त कोई शब्द नहीं करता, मूक बना रहता है, यद्यपि उसमें मध्यमा वाक्, अर्थात् चिन्तन अवश्य ही बना रहता होगा। क्रमशः उसे अन्तिम वाणी वैखरी प्राप्त

---

१. ऋग्० ७।१०३।१। २. निरुक्त, ३।१८। ३. अष्टा० १।३।४८। ४. अष्टा० १।४।६२।
५. अष्टा० ५।४।५७। ६. वही, ३।१।१३। ७. वही, ६।१।९८। ८. ऐ० ब्रा० ११।३।
९. ऐ० आ० १।३।३ तथा १।३।७।

होती है, उसमें भी वह एक-दो अक्षरों (सिलेबल)-वाले शब्द ही बोलता है—माँ, बाबा, दादा आदि ।

परन्तु, भाषा की मुख्यतः दैवी उत्पत्ति ही असली समाधान है। तब एक बात अवश्य है कि ईश्वर ने प्रारम्भ में ही पूर्ण विकसित भाषा बनाकर हाथ-पैर की तरह मानव को नहीं दे दी (सच तो यह है कि ये हाथ-पैर भी एक बार में ही इस प्रकार बनकर नहीं मिले थे, स्वयं ये भी लम्बी विकास-परम्परा के परिणाम हैं)। जिस प्रकार मानव की अन्य प्राणियों से विलक्षण बुद्धिमत्ता का निमित्त कारण ईश्वर है, उसी भाँति इसकी अधिक समर्थ भाषा का भी मूल प्रेरक ईश्वर ही है। क्योंकि, संसार की सारी क्रियाओं-वस्तुओं का अदृष्ट आदि कारण ईश्वर के सिवा हम किसी को नहीं समझ सकते। परन्तु, वास्तव में भाषा की उत्पत्ति तथा क्रमिक विकास का साक्षात् कारण मानव की स्वयं की अपनी निरन्तर संघर्षशील चेष्टा है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। आज के भाषाविज्ञानविद् केवल मानव की वाणी और वह भी केवल श्रव्य वैखरी वाणी को ही अपने अध्ययन-अनुसन्धान का विषय बनाते हैं। किन्तु, भारतीय चिन्तकों ने एक ओर मानवीय वाणी के सूक्ष्म चिन्तनात्मक अश्रव्य रूप (मध्यमा) का और दूसरी ओर अमानव प्राणियों की वाणी का भी अध्ययन किया है। जब से मानव-जाति है, मानव का मस्तिष्क है, मन है, तब से ही उसकी भाषा भी है। विना भाषा के चिन्तन या मस्तिष्क की हम कल्पना नहीं कर सकते, चाहे वह भाषा कितनी भी अविकसित क्यों न हो। एक ही वस्तु के दो पार्श्व हैं, बाहरी पार्श्व भाषा और वाणी, भीतरी पार्श्व चिन्तन, मन या बुद्धि, यह पहले बताया जा चुका है; क्योंकि ब्रह्म के चित् अंश के ही ये दोनों रूप हैं। इसीलिए **वागिति मनः**[1] **'वाक् च मनश्च देवानां मिथुनम्**[2], **वाग्वै मतिः, वाचोहीदं सर्वं मुनते**[3] आदि के द्वारा ऋषियों ने मन, बुद्धि तथा वाणी की एकता बताई है। भर्तृहरि ने भी **अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्, व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्त्तते**[4] तथा **न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते, अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते**[5] कहकर ज्ञान और शब्द को एक रूप माना है तथा यह प्रमाणित किया है कि शब्द के अभाव में कोई चिन्तन, कोई ज्ञान नहीं हो सकता। मानव-प्राणी के विकास के बाद सहस्रों वर्षों तक उसका अन्तर विभिन्न मनोवेगों को व्यक्त तथा आत्मसात् करने के लिए छटपटाया होगा और इस प्रसव-पीडा के बाद ही व्यक्त वाणी का जन्म हुआ होगा। इस प्रकार, आधुनिक वाणी के विकास के अध्ययन के लिए हमें आदिम मानव के मस्तिष्क की प्रक्रिया से आरम्भ करना होगा।

भारतीय मनीषियों के विश्लेषण के अनुसार मानव-वाणी के चार स्तर होते हैं। इसका सूक्ष्मतम अस्पष्ट रूप मूलचक्र के पास से उठता है, फिर वह नाभि के पास आकर

१. जै० उ० ४।२२।११। २. ऐ० ब्रा० ५।२३। ३. शतपथ, ८।१।२।७। ४. वाक्य० १।११३।
५. वाक्य० १।११७।

अर्धस्पष्ट या सूक्ष्मतर रहता है। वहाँ से ऊपर उठकर वह हृदयप्रदेश में पहुँचता है, जहाँ वह और भी स्पष्ट हो जाता है तथा सूक्ष्मतर से कुछ स्थूल बनता है। उसके बाद प्राणवायु के संसर्ग से वह स्थूलतर हो कण्ठप्रदेश में पहुँचकर पूर्णस्पष्ट तथा स्थूल बन जाता है। मानव-वाणी के ये चार रूप क्रमशः सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म, स्थूल अथवा सूक्ष्म, स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम कहे जा सकते हैं। इन्हें ही क्रमशः परा पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी[1], कहते हैं। यही बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि वाणी के सर्वप्रथम दो रूप हैं : ध्वन्यात्मक तथा चिन्तनात्मक। ध्वन्यात्मक अर्थात् बोलना, चिन्तनात्मक अर्थात् सोचना। चिन्तनात्मक वाक्-रूप मन के दो स्तर हैं : चेतन (कंशस) या उपरला स्तर तथा अचेतन (अनकंशस) या निचला स्तर। चेतन और अचेतन की एक मध्यवर्त्ती स्थिति भी है, जिसे अर्द्धचेतन (सब-कंशस) या मँझला स्तर मानते हैं। चिन्तनात्मक वाणी के ये तीन स्तर चेतन, अर्द्धचेतन तथा अचेतन ही क्रमशः मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा हैं। वाणी को चिन्तनात्मक तीन स्तरों में क्रमशः निचले से उपरले स्तर तक आने में, फिर चिन्तनात्मक से ध्वन्यात्मक तक आने में कुछ समय लगता है। हम जब भी जो बोलते हैं, हमारी वाणी ध्वन्यात्मक होने के पहले चिन्तनात्मक के तीनों स्तरों से गुजरती है। शिशु की वाणी भी इसी तरह पहले काफी दिनों तक चिन्तनात्मक स्तरों में ही नीचे से ऊपर बढ़ती है, उसका प्राणवायु से सम्बन्ध होकर वैखरी रूप नहीं होने पाता। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद ही ऐसा हो पाता है। इसी भाँति मानव-जाति की शैशवावस्था में उसकी वाणी भी चिन्तनात्मक तीनों स्तरों में सदियों विकसित हुई होगी, तब जाकर वह वैखरी में आई होगी। यह वाणी के आभ्यन्तर विकास की कहानी रही होगी।

वाणी के बाह्य विकास की कथा तो और भी लम्बी है। डॉ॰ सिद्धेश्वर वर्मा ने लिखा है[2] कि ऋग्वेद में भाषा के तीन रूपों की चर्चा है : १. अस्पष्ट (इनार्टिक्युलेट स्पीच), २. अर्द्धस्पष्ट (प्रिमिटिव आर्टिक्युलेट स्पीच) तथा ३. सुस्पष्ट (लैंग्वेज़ प्रॉपर)। शतपथ ने तो मानव-वाणी के विकास की चार सीढ़ियाँ बताई हैं : १. सरीसृपों की वाणी, २. पक्षियों की वाणी, ३. पशुओं की वाणी, ४. मानवों की वाणी :

> तदेतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत् मनुष्या वदन्ति,
> अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत् पशवो वदन्ति,
> अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद् वयांसि वदन्ति,
> अथैतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रसरीसृपं वदति।[3]

---

१. "परा वाङ् मूलचक्रस्था, पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया, वैखरी कण्ठदेशगा॥" —परमलघुमञ्जूषा का स्फोट-विचार।

२. 'क्रिटिकल् स्टडीज इन द फोनेटिक ऑब्जरवेशन ऑव इण्डियन ग्रामेरियन' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ।

३. शतपथ, ४।१।३।१६।

भारत में जंगमों में ही नहीं, स्थावरों में भी प्राणवत्ता बहुत पुराने जमाने से स्वीकार की गई है। जहाँ-जहाँ प्राणवत्ता है, वहाँ-वहाँ चैतन्य है, और जहाँ-जहाँ चैतन्य है, वहाँ-वहाँ वाक् भी है। सत् चित् आनन्दमय जगत् का कण-कण चित्, अर्थात् चैतन्यमय है और चिन्तन का ही बाह्य रूप है वाक्, यह कहा जा चुका है। **यावद् वै ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्,**[1] अर्थात् ब्रह्म के समान ही वाक् भी व्यापक है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक मानव की बुद्धि को ही प्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञानवाली—इण्टेलिजेन्स) कहते हैं। पशु-पक्षियों की जन्मजात समझ को वे 'इंस्टिंक्ट'-मात्र मानते हैं। किन्तु, वैदिक वाङ्मय में प्रज्ञा का वास सर्वत्र माना जाता है :

यत्किञ्चेदं प्राणिजङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं,

प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म[2]।

अर्थात्, स्थावर, जंगम, उड़नेवाले सभी प्रकार के प्राणियों में प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। **वाग् एव आयतनम्, आकाशः प्रतिष्ठा, प्रज्ञेत्येनदुपासीत**[3] भी यही बता रहा है कि आकाश-मात्र में चिन्तननादात्मक प्रज्ञावागुभयस्वरूप वाणी की व्यापकता है। **या वनस्पतिषु वाक् तामेव तज्जयन्ति**[4] प्रमाणित कर रहा है कि वनस्पतियों की भी एक भाषा है। वैदिक काल में मुनियों को पेड़-पौधों में चैतन्य की तथा वाणी की स्थिति का निश्चय था, वे वनस्पतियों की वाणी भी समझने की चेष्टा करते थे। **वाचं पर्जन्य-जिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः**[5] वाली ऋचा में लगता है कि अचेतन पर्जन्य तथा अर्द्धचेतन मण्डूकों में वाद-प्रतियोगिता छिड़ी हुई है। अचेतन तथा अर्द्धचेतन की वाणियों का कैसा मनोरम काव्यमय वर्णन है! योगदर्शन का कहना है कि यदि शब्द, अर्थ तथा प्रतीति इन तीनों का इतरेतराध्यास रोककर उनके प्रविभाग का संयम कर लिया जाय, तो समस्त भूतों की वाणी का ज्ञान हो जाय :

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करः, तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।[6]

ऐसे कई व्यक्तियों का वर्णन भी भारतीय वाङ्मय में मिलता है। रामायण में वर्णन आया है कि केकयी के पिता पक्षियों की भाषा समझते थे। महाभारत के अश्वमेधपर्व, अ० ६० में एक नेवले ने एक कुरुक्षेत्र-निवासी उञ्छवृत्ति के दान की महिमा लोगों को सुनाई है। कालिदास ने रघुवंश के द्वितीय सर्ग में सिंह, गाय तथा दिलीप की वार्त्ता कराई है, तुलसी ने काकभुशुण्डी तथा गरुड में बात कराई है, पर ये सब तो कवियों की बातें हैं। भारतीय वैज्ञानिक श्रीजगदीशचन्द्र बोस ने आधुनिक विज्ञान की सहायता से पेड़ों में जीव की सत्ता प्रमाणित कर दी है। कहते हैं, वे पेड़ों से बातें भी करते थे। आजकल भी कई वैज्ञानिक चिंपैंजी, बन्दर आदि पशुओं की भाषा की छानबीन में लगे हैं। तोते को पढ़ानेवाला साधारण व्यक्ति भी जानता है कि वह किस भाँति लोगों के नाम पुकारता है। सारांश यह कि भाषा केवल मानव की निजी सम्पत्ति नहीं, सभी भूतों

---

१. ऐ० आ०, १।३।८। २. ऐ० आ०, २।६।१। ३. बृहदार०, ४।१।२। ४. ताण्ड्यमहाब्राह्मण, ५।६।१८। ५. ऋग्वेद, ७।१०३।१। ६. विभूतिपाद सू०, १७।

का स्वत्व है। हाँ, चैतन्य ही की भाँति उसके बाह्य रूप वाक् का भी सर्वाधिक विकास मानव में ही हुआ है। इस प्रकार, विभिन्न भूतों में क्रमशः अचेतन, अर्द्धचेतन तथा चेतन जीवों की अव्यक्त, अर्द्धव्यक्त तथा व्यक्त वाणी का क्रमिक विकास हुआ होगा। यह वाणी के बाह्य विकास की दिशा है।

वाणी के आभ्यन्तर विकास के दो पार्श्व हैं। प्रथम है शिशु, मूक, उन्मत्त तथा अज्ञ की वाणी। वयस्क, स्वस्थ, तीव्रबुद्धि की वाणी में चिन्तन तथा वाक् का सम्भवतम सम अनुपात रहता है, साथ ही दोनों पर पृथक्-पृथक अधिकार रहता है। वह बिना कुछ बोले भी स्पष्ट चिन्तन कर सकता है, तदर्थ भावन-रूप जप और अभ्यास या स्मरण कर सकता है तथा कुछ दूसरी बात सोचता हुआ भी कोई दूसरी बात बोल सकता है। एक साथ कई बातें सुन, सोच और बोल सकता है, जिसकी सीमा शतावधानी तक पहुँच जाती है। मन्दबुद्धि ऐसा नहीं कर सकता। प्रकृति से मन्दबुद्धि अथवा भावाविष्ट व्यक्ति जो सोचता है, वह वैखरी में भी परिणत हो जाता है, वह अकेले में अपने-आप बोलकर ही सोचता है; क्योंकि मध्यमा तक आने पर वह वाणी को वहाँ रोक नहीं सकता। और, वह जो बोलता है, उसे सोचना ही पड़ता है। उससे भी बुरी स्थिति है उन्मत्त की। अज्ञ की वाणी उसके चिन्तन का भार ढोने में असमर्थ रहती है। पर, उन्मत्त की वाणी और चिन्तन का सम्बन्ध भी नहीं रहता; वाणी कहीं, चिन्तन कहीं और क्रिया कहीं रहती है। इस प्रकार की वाणी को ही आसुरी या राक्षसी वाणी कहते हैं: **यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्,**[1] ; **मनसा वा इषिता वाग् वदति, यां ह्यन्यमना वाचं वदति असुर्या वै सा वाग-देवजुष्टा**[2]। दैवी वाणी वह है, जिसमें मन का पूरा योग हो। मूक में चिन्तन तो रहता है, पर वाक् की क्षमता विकसित नहीं होती। शिशु में वाक् की शक्ति बीजावस्था में सुप्त रहती है। पीछे बालक की भाषा की चर्चा की जा चुकी है।[3] इस प्रकार, वयस्क, स्वस्थ, तीव्रबुद्धि की वाणी के रूप में विकसित होने के पहले वाक् को इन सब दशाओं से गुजरना पड़ा है।

आभ्यन्तर विकास का एक दूसरा पार्श्व भी है। वाणी को पूर्ण विकास के पहले जिस प्रकार मानव-जाति के विकास को प्रत्येक सोपान से क्रमशः विकसित होना पड़ता है, उसी प्रकार किसी भी वयस्क स्वस्थ मानव की वाणी में भी वाक् क्रमशः अव्यक्त, ईषद्व्यक्त तथा अर्द्धव्यक्त अथवा परा, पश्यन्ती और मध्यमा रूपों में मूलचक्र, नाभि तथा हृदयप्रदेश में सोपानक्रम से विकसित होते हुए भी पूर्ण व्यक्त वैखरी-रूप ध्वनि में परिणत होती है। इस तरह, स्वस्थ वयस्क मानव के रसना-रंगमंच पर वैखरी रूप में प्रकट होने-वाली वाणी ही वाक् का पूर्ण सज्जीकृत अभिनेत्री-रूप है, शेष तीनों अवस्थाएँ वाक् के

१. ऐ० ब्रा०, ६।७।

२. वही, ६।५।

३. 'सारस्वतं शंसति तस्मात् कुमारं जातं जघन्या वागाविशति'—ऐ० ब्रा०, ११।३ तथा 'तथैवैतत् कुमारः प्रथमवादी वाचं व्याहरत्येकाक्षरद्व्यक्षराम्,', ऐ० आ०, १।३।३ और १।३।७।

लिए नेपथ्यगृह-मात्र हैं, जिसके विविध प्रकोष्ठों, गर्भगृहों में वह विविध रूप सज्जा-मात्र करती है। इन तीनों विकासों को हम क्रमशः प्राणिजगत् से मानव-जाति के विकास में मानव-वाणी का विकास, प्रत्येक मानव के निजी जीवन में अपनी वाणी का विकास तथा प्रत्येक मानव के प्रतिक्षण की वाणी का विकास कह सकते हैं। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने अबतक केवल रंगमंच की वाणी का ही अध्ययन किया है। इधर क्रमशः नेपथ्यगृह के एक-एक प्रकोष्ठ का अध्ययन शुरू किया गया है। जनपद, देहातियों, शिशुओं, अविकसित जातियों की अविकसित (म्लेच्छ) भाषा का अध्ययन बड़े चाव से किया जा रहा है। पशु-पक्षियों की भाषा के अध्ययन की ओर भी लोगों का ध्यान जा रहा है। विचारात्मक वाणी का अध्ययन मनोविज्ञान के जिम्मे कर दिया गया है। यह सब अब हो रहा है। परन्तु, भारतीय वाङ्मय में तो संहिताकाल से ही इन सबके बीज यत्र-तत्र बिखरे मिलने लगते हैं, यह ऊपर दिखाया जा चुका है।

इस प्रकार, मानव-वाणी विभिन्न दिशाओं से क्रमशः विकसित होती लम्बी शृंखलाओं को पार करके आज की पूर्णता तक पहुँची है। पर, ऐसा नहीं कि ईश्वर और प्रकृति उसके लिए भाषा-भवन का निर्माण कर रहे थे और जीव चुपचाप खड़ा देख रहा था। ईश्वर और प्रकृति तो मानव की सारी उपलब्धियों के उत्स हैं, परन्तु साक्षात् कारण मानव की अपनी चेष्टा ही होता है। हम देखते हैं कि किसी भी परिवार का वृद्धतम व्यक्ति ही परिवार के सभी सदस्यों को शनैः-शनैः भाषा-संकेत का ग्रहण कराता है। पिता बालक को अंगुली से दिखाकर कहता है 'आकाश' और शिशु उसकी ध्वनि सुनकर तथा मुखाकृति देखकर और अंगुलिनिर्देश समझकर तोते की भाँति यह उच्चारण सीख लेता है और संकेतग्रह पकड़ लेता है। इस प्रकार, बालक माँ, मामा, बाबा, दादा आदि शब्दों का उच्चारण तथा अर्थ सीखता हुआ व्यवहार[1] की सहायता से सहस्रों शब्द सीख लेता है। इसी प्रकार, अँगरेज-बालक पिता के मुँह से सुनकर 'स्काई' की ध्वनि तथा अर्थ ग्रहण करता है। ईरानी-अफगानी लड़का 'आसमान' शब्द सीखता है। जब परिवार में बाहर से कोई स्त्री पत्नी बनकर आती है, तब मैके से वह अपने माता-पिता के शब्द लाती है। फिर, पति-पत्नी का एक उभयसाधारण शब्दकोष बन जाता है, जिसे बच्चे ग्रहण करते हैं। यह एक परिवार की अपनी भाषा होती है। ऐसे परिवारों का एक ग्राम तैयार होता है। इस ग्राम में ग्रामणी के परिवार की तथा दो-चार और अगुओं के परिवारों की भाषा का अधिक प्रभाव होता है, वही शेष परिवारों की भाषा का नमूना बनती है, पर उन परिवारों की भाषाओं के शब्द भी इसमें मिलते हैं। इस प्रकार, विभिन्न परिवारों के स्रोतों से भाषा की नदी तैयार होती है। ग्रामों की भाषा जनपदों को पूरित करती है। अन्ततः, इन जनपदों के प्रतिभाशाली, प्रभावशाली जन और जनपति की भाषा ही देश या राष्ट्र की भाषा का दिशा-निर्धारण करती है। आज की हिन्दी खुसरो, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, भारतेन्दु, द्विवेदीजी, प्रेमचन्द, गुप्तजी, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, शुक्लजी आदि का ही निर्माण है। आधुनिक हिन्दी के जनक ये ही हैं।

---

१. देखिए 'सामान्य भाषाविज्ञान' का अध्याय ५ : 'भाषा का विकास'।

ठीक इसी प्रकार आरम्भ में सर्वप्रमुख देव-परिवार से भाषा की सृष्टि हुई। असुर, यक्ष, गन्धर्व आदि परिवारों ने उसका अनुसरण किया। फिर, तो प्राकृत जन भी, सब प्रकार के अशिक्षित लोग भी वह भाषा बोलने लगे : देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।[1] भाषा का विश्लेषण, नियमन केवल देवलोग ही करते थे : देवा वै ऽवाचं ऽव्यभजन्त।[2] वैसे पितामह ब्रह्मा को ही भाषा के स्थिरीकरण (स्टैण्डर्डाइजेशन) का प्रथम श्रेय प्राप्त है। सृष्टि के आरम्भ में समस्त परिवारों में वृद्धतम सदस्य ब्रह्मा ही सभी विद्याओं की भाँति उनके माध्यम भाषा के भी जन्मदाता हैं। इसीलिए, अमरकोष में वाणी का प्रथम पर्याय ब्राह्मी[3] ही है। भाषा का प्राचीनतम प्राप्त रूप वैदिक संहिताएँ हैं और वे साक्षात् ब्रह्मा की रचनाएँ मानी जाती हैं : अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस, इतिहासः, पुराणम्।[4] फिर, यह ब्राह्मी वाणी देवपुत्रों की परम्परा से ब्राह्मण-ऋषि-मुनियों द्वारा जनसाधारण में प्रचलित हुई ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्य, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।[5] ब्रह्मा ने यह वाणी पहले अपने पुत्र अंगिरा को फिर पौत्र बृहस्पति को सिखाई। अंगिरा ने इन्द्र को इसकी शिक्षा दी :

इमांधियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन।[6]

किन्तु, शीघ्र ही देव-परिवार में बृहस्पति भाषा के सर्वश्रेष्ठ विज्ञ स्वीकृत किये गये, बल्कि आंगिरस से ये बृहस्पति कहलाये ही, इसीलिए कि इनका बृहती पर, वैखरी से लेकर परा तक की वाणी पर, पूरा अधिकार हो गया :

वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः,
वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः।[7]

बहुत-सी वस्तुओं का नामकरण बृहस्पति ने ही किया, और वह सर्वमान्य हुआ : बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।[8] अतः, इन्द्र ने अंगिरा से शिक्षा प्राप्त करने के बाद उनके पुत्र बृहस्पति की भी शिष्यता ग्रहण की बृहस्पतिरिन्द्राय, दिव्यं वर्षसहस्रं शब्दपारायणं प्रोवाच।[9] इस प्रकार, बृहस्पति ने बड़े परिश्रम से बहुत दिनों तक इन्द्र को पढ़ाया। वाणी पर अनुपम अधिकार पाने के कारण ही आंगिरस 'बृहस्पति' तथा 'वाचस्पति' कहलाये और देवराज इन्द्र को पढ़ाने के कारण 'गुरु'। किन्तु, पराक्रम से देवराज के सर्वोच्च पद पा जाने के कारण 'किंग्स इंग्लिश' की भाँति देवभाषा संस्कृत इन्द्र की भाषा, ऐन्द्री कहलाई, और देवभाषा का अन्तिम विश्लेषण और व्याकरण उन्हीं का मान्य समझा गया : वाग् वै पराच्य ऽव्याकृताऽवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं

१. ऋग्वेद, ८।१००।११। २. ताण्ड्य महा०, ५।७।१। ३. शब्दादिवर्ग, १। ४. बृहदारण्यक ११।४।१०। ५. ऋक्तन्त्रव्याकरण। ६. ऋग्वेद, १०।६७।१। ७. बृहदारण्यक, १।३ का २० तथा २१। ८. ऋग०, १०।७१।१। ९. महाभाष्य पस्पशाह्निक।

व्याकुर्विति तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्[1], यदैन्द्रं पदं तेन वाचं कल्पयन्ति वाग्ध्येवैन्द्री[2], वाग्ध्यैन्द्री[3] आदि कथनों का यही अभिप्राय है। वाणी की बहुविधता के कारण उत्पन्न दुर्बोध्यता और अराजकता को नियन्त्रित करने के लिए अन्त में देव-परिवार को इन्द्र के राजशासन की शरण लेनी पड़ी होगी। बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज ने तो साक्षात् इन्द्र से ही शिक्षा ली : इन्द्रो भरद्वाजाय प्रोवाच।[4] देवों के बाद मानवों में भरद्वाज ही सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ भाषावेत्ता हुए : भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमः।[5] इन्द्र के व्याकरण की परम्परा तो काफी दिनों तक चली, जिसे ऐन्द्र शाखा कहते हैं, पर भरद्वाज का भी भाषा-विज्ञान में अधिकार सर्वसम्मानित था। पाणिनि ने ऋतो भारद्वाजस्य[6] कहकर उन्हीं का मत उद्धृत किया है। ब्रह्मा के पुत्रों में वसिष्ठ भी भाषा-पारंगत हुए, परिनिष्ठित संस्कृत के निर्माण में इनका भी बड़ा हाथ था। इन्होंने अपने पुत्रों को भाषापारंगत बनाया। फिर, क्रमशः सभी ब्राह्मणों ने भाषा की शिक्षा प्राप्त कर उसके विकास में अपना महत्त्वपूर्ण हाथ बँटाया। वसिष्ठासः पितृवत् वाचमक्रत[7], ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत[8] आदि से संस्कृत-भाषा के विभिन्न देवों तथा ऋषियों-ब्राह्मणों द्वारा सर्जन और परिष्कार की कहानी ही बताई गई है! जैसे महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली में से व्रज, अवधी, भोजपुरी आदि बोलियों का मिश्रण हटाकर उसे एक मानक रूप दिया, आजकल डॉ० रघुवीर ने बहुत-से प्रचलित अँगरेजी-फारसी शब्दों को हटाकर समानार्थक संस्कृत-शब्दों का निर्माण किया है, उसी भाँति संस्कृत का निर्माण, परिष्कार, विकास इन्द्र के नेतृत्व में किया गया, और बहुत-से विद्वानों ने इसमें सहयोग दिया। जैसे चलनी से चालकर खाद्य-अंश से अखाद्य को पृथक् कर देते हैं, उसी भाँति विवेक और विश्लेषण से अनुपयुक्त शब्दों को भाषा से पृथक् किया गया। इसी का वर्णन सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत[9] से किया गया है।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय इतने अन्धविश्वासी नहीं थे कि भाषा की साक्षात् सृष्टि ईश्वर से मानें। दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त वे मानते थे, पर उनका अभिप्राय इतना ही था कि ईश्वर ही मानव को भाषाप्राप्ति का मूल निमित्त है, प्रेरक है। अन्यथा, देवभाषा संस्कृत का परिष्कार, मानक रूपनिर्माण आदि सुरज्येष्ठ ब्रह्मा, सुरगुरु बृहस्पति तथा सुरराज इन्द्र के नेतृत्व में समस्त देव-परिवार तथा ऋषियों-ब्राह्मणों के समाज ने किया।

संहिताओं में वाणी के विभिन्न पक्षों का विवेचन :

भारतीय मनीषियों ने भाषा का अध्ययन-विश्लेषण प्रागैतिहासिक अतीत से, ऋग्वेदकाल से ही आरम्भ कर दिया था। यद्यपि वेदों का साक्षात् प्रतिपाद्य ब्रह्म है, पर वाक् भी ब्रह्म का ही एक महत्त्वपूर्ण रूप है; अतः प्रसंगवश उसका भी यत्र-तत्र विवेचन है,

---

१. तै० सं०, ७।४।७। २. तै० सं०, ७।४।७। ३. ऐ० ब्रा०, २।२६। ४. ऐ० आ०, २।२।४। ५. ऐ० आ०, १।२।२। ६. अष्टा०, ७।२।६३। ७. ऋग्वेद, १०।६६।१४। ८. ऋग्वेद, ७।१०३।८। ९. ऋग्वेद, १०।७१।२।

कहीं किसी पार्श्व का कहीं किसी का। पीछे भी भाषा के महत्त्व तथा उत्पत्ति का वर्णन करते समय संहिताओं से उद्धरण दिये जा चुके हैं। अब यहाँ कुछ ऐसे मन्त्र उद्धृत किये जायेंगे, जिनमें वाणी के आभ्यन्तर अथवा बाह्य स्तरों का विश्लेषण-विवेचन किया गया है।

वाणी के विश्लेषण का महत्त्व :

१. उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्ये उशती सुवासाः ॥[1]

इसमें वाणी के विश्लेषण, विवेचन और अध्ययन की महिमा बताई गई है। कोई अज्ञ इसे देख-सुनकर भी नहीं देख-सुन पाता, अर्थात् रात-दिन व्यवहार करके भी इसका परिचय नहीं पाता, और किसी के आगे यह कामपीडिता पत्नी की भाँति सर्वथा आत्मसमर्पण कर देती है, अर्थात् कोई-कोई भाषाविज्ञ वाणी का सर्वस्व पा लेता है, जान लेता है। आम का पेड़ कृषक के लिए एक रूप में महत्त्वपूर्ण है, व्यापारी के लिए दूसरे रूप में, साहित्यिक के लिए तीसरे रूप में, कर्मकाण्डी के लिए चौथे रूप में और वैज्ञानिक के लिए पाँचवें रूप में। यही हाल शब्दों का है। सामान्य जनों के लिए यह भावप्रकाशन का साधनमात्र है। साहित्यिक रात्रिरेवं व्यरंसीत् और रात्रिरेव व्यरंसीत् में अनुस्वार-मात्र के स्वारस्य पर ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जाते हैं। भाषावैज्ञानिक के लिए एक-एक शब्द एक फॉसिल है, कहानी है, ग्रन्थ है। आज यदि पृथ्वीराज का एक सिक्का मिल जाय, तो सोनार उसका खरा सोना देख मचल उठेगा, किन्तु ऐतिहासिक? कितना भाग्यवान् है वह, जिसे वाणी आत्मसमर्पण कर देती है, अपना रहस्य प्रकट कर देती है! वह सुख सहृदय-संवेद्य है।

वाणी का विश्लेषण :

२. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥[2]

देवों का अनीक (सेना) वाणी है; क्योंकि वाणी के द्वारा ही उन्होंने असुरों को परास्त किया था, यह कथा ताण्ड्यमहाब्राह्मण में आई है, पीछे इसकी चर्चा की जा चुकी है। पिछली ऋचाओं में वाणी की शक्तिस्वरूपता भी बताई जा चुकी है। यह सेना? रूप-वाणी विचित्र है, विविध रूप है। यह वाणी मूलचक्रस्थ परा है। यह ऊपर की ओर उठी। फिर, यह क्रमशः मित्र (सूर्य), वरुण तथा अग्नि का चक्षु, अर्थात् प्रकाशक बनी। तत्पश्चात् उसने दिव्, अन्तरिक्ष और पृथिवी तीनों को व्याप्त कर लिया। यह सूर्य ही चराचर की आत्मा है। यहाँ द्युस्थानीय मित्र से पश्यन्ती का, अन्तरिक्षस्थानीय वरुण से मध्यमा का तथा पृथिवीस्थानीय अग्नि से वैखरी का संकेत है। इससे मिलते-जुलते मन्त्र

१. ऋग्०, १०।७१।४।
२. ऋग्वेद, मं० १ सू० ११५, मन्त्र १।

मैत्रायणी तथा काठक-संहिताओं में भी मिलते हैं। निरुक्तकार यास्क ने इसी अर्थ का एक ब्राह्मण भी उद्धृत किया है : सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा, व्यभवत् एष्वेव लोकेषु त्रीणि, पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे। यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु।[1] बल्कि इसमें दो बातें और बढ़ गईं। एक तो यह कि पश्यन्ती को दिव् और आदित्य के साथ बृहत् रूप साम में, मध्यमा को अन्तरिक्ष और वायु के साथ वामदेव्य रूप साम में तथा वैखरी को पृथिवी और अग्नि के साथ रथन्तर रूप साम में बताया गया तथा दूसरा यह कि वाक् के चौथे रूप (विभव) को पशुओं में बताया गया। क्या वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती की ही भाँति रथन्तर, वामदेव्य तथा बृहत् में क्रमशः सूक्ष्मता है? और, वाणी का चौथा रूप पशुओं में है, इसका क्या मतलब? क्या यह कहना चाहते हैं कि परा वाणी के विकास की दो शाखाएँ हैं, एक व्यक्त दूसरा अव्यक्त। व्यक्त में तीन स्तर हैं—पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी और अव्यक्त में एक ही स्तर है, यह मानवेतर प्राणियों की वाणी है। इस ब्राह्मण में एक और नई बात है, पश्यन्ती के स्थान दिव् में आदित्य के साथ स्तनयित्नु, अर्थात् विद्युत् को भी रख दिया है।

पं० रामाज्ञा पाण्डेय ने इन चार वाणियों की तालिका अपनी व्याकरणदर्शन[2] की भूमिका में निम्नांकित प्रकार से दी है :

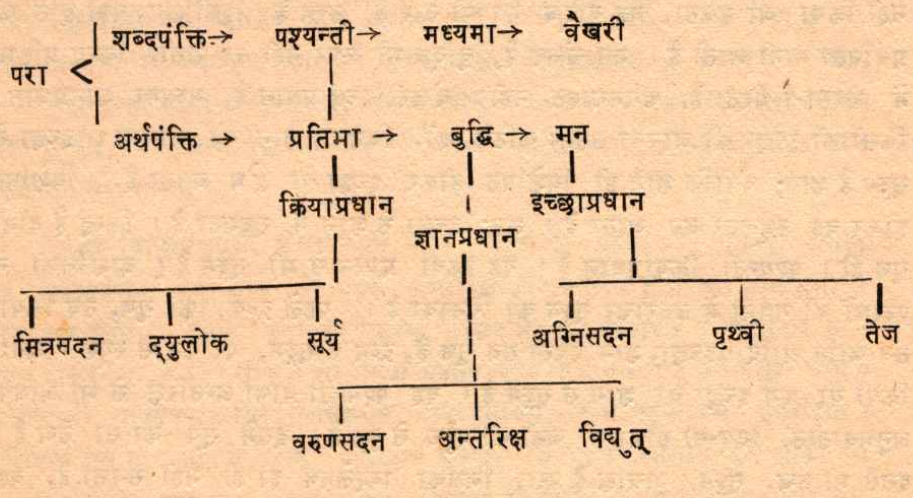

इसीलिए, वैदिक साहित्य में वाणी को कहीं अग्निजन्य, कहीं वायु या प्राण से उत्पन्न तथा कहीं विद्युत् या इन्द्र से प्रादुर्भूत माना गया है। मनुस्मृति में तीनों वेदों को अग्नि, वायु, रवि की ही रचना माना है : अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्, दुदोह यज्ञ-

१. मै० सं० १।११।५; निरुक्त, १३।९।
२. व्याकरणदर्शन, भूमिका, आरम्भ की तालिका।

सिद्ध्यर्थम् ऋग्यजुः सामलक्षणम्।[1] पाण्डेयजी ने वरुणसदन अन्तरिक्ष में विद्युत की चर्चा
की, वायु की नहीं; किन्तु मनुस्मृति तथा ब्राह्मण ने मध्यस्थान (अन्तरिक्ष) में वायु की
चर्चा की, वरुण की नहीं। फिर, इस ब्राह्मण ने स्तनयित्नु (विद्युत) को द्युस्थान में
रखा और पाण्डेयजी ने अन्तरिक्ष में। वास्तव में, विद्युत या स्तनयित्नु-रूप इन्द्र अन्तरिक्ष-
स्थानीय ही हैं, द्युस्थानीय नहीं। इस प्रकार, अन्तरिक्ष में इन्द्र, वरुण, वायु तीनों
स्थित हैं।

वाणी का यह आभ्यन्तर विश्लेषण और उसपर आधृत तालिका गम्भीर मनन
का विषय है। स्थूल ध्वन्यात्मक वैखरी वाणी पृथ्वी-सी ठोस साकार प्रत्यक्ष है, उसमें
अग्नि का-सा तेज है, वह मन से प्रेरित होती है और मन में वास करती है, वह किसी-
न-किसी इच्छा से आविर्भूत होती है। इससे सूक्ष्म है मध्यमा वाणी। इसमें मन की नहीं,
बुद्धि की प्रधानता रहती है। यह किसी इच्छा से नहीं, ज्ञान से संचालित होती है। यह
पृथ्वी-सी ठोस नहीं, अन्तरिक्ष-सी सूक्ष्म है। इसमें वायु-सी कोमलता, समुद्र-सी तरलता,
गम्भीरता तथा व्यापकता और इन्द्र या विद्युत-सी शक्तिपूर्ण तेजस्विता रहती है। इससे
भी सूक्ष्मतर है पश्यन्ती। इसमें प्रतिभा की प्रधानता है। प्रतिभा मन और बुद्धि दोनों से
सूक्ष्म है। मन तो द्रव्य है, बुद्धि गुण है, मन से ज्यादा सूक्ष्म। किन्तु प्रतिभा (Intuition)
बुद्धि से भी सूक्ष्म है। बुद्धि का विश्लेषण किया जा सकता है, प्रतिभा का विश्लेषण
नहीं किया जा सकता, वह बुद्धि का भी सार है, तत्त्व है। इसीलिए, यहाँ धृति की
प्रधानता मानी जाती है। मन चंचल है, बुद्धि भी स्थिर नहीं रह पाती, किन्तु प्रतिभा
में धीरता-स्थिरता है, डगमगाहट नहीं। वैखरी इच्छाप्रधान है, मध्यमा ज्ञानप्रधान।
किसी की इच्छा को जानना उतना कठिन नहीं, जितना ज्ञान को जानना। इच्छा से
सूक्ष्म है ज्ञान; क्योंकि ज्ञान ही विशेषित होकर इच्छा या द्वेष बनता है,[2] विशेषित
होकर वह स्थूलतर बन जाता है। अतः, इच्छा से ज्ञान में सूक्ष्मता है। किन्तु हैं दोनों
गुण ही। पश्यन्ती क्रियाप्रधान है। यह क्रिया प्रयत्न से भी सूक्ष्म है। दार्शनिकों ने
पदार्थों की गणना में उत्तरोत्तर सूक्ष्म को गिनाया है।[3] पहले द्रव्य, फिर गुण, तब क्रिया,
तब जाति आदि। इच्छा, ज्ञान प्रयत्न सब गुण हैं, द्रव्य से सूक्ष्म, पर कर्म से स्थूल। अतः,
क्रिया या कर्म इच्छा या ज्ञान से सूक्ष्म है। यह पश्यन्ती-वाणी अन्तरिक्ष से भी अधिक
अनुभवातीत, दिव्-सी सामान्य जनों की पहुँच से दूर है। इसमें सूर्य का-सा तेज है।
इससे भी उच्च, सूक्ष्म, अग्राह्य है परा, जिसका विश्लेषण हो ही नहीं सकता है, वह
अनिर्वचनीय है, अविश्लेषणीय है। वह साक्षात् ब्रह्म है। वैखरी का ज्ञान आपामर
सबको होता है। इसे सभी सुनते हैं, समझते हैं, बोलते हैं। मध्यमा वाणी चिन्तना-
त्मक है, इसे सुन तो कोई सकता ही नहीं, समझ सकना भी दुष्कर है। और, इसका प्रयोग

१. मनुस्मृति, १।२३ तथा ऐ० ब्रा० २५।७ में यह वर्णित है।
२. सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।—तर्कसंग्रह, गुणलक्षणप्रकरणम्।
३. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः।—तर्कसंग्रह, उद्देशप्रकरणम।

भी बहुत सरल नहीं है। पश्यन्ती वाणी को हम कदापि ग्रहण नहीं कर पाते, यह सम्प्रज्ञात समाधि योगियों के ही प्रत्यक्ष का विषय है। और, साक्षात् ब्रह्म-रूप परा तो असम्प्रज्ञात समाधि का विषय है, जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिकुटी असम्पृक्त होकर एक हो जाती है, पृथक्त्वावभास मिट जाता है।

एतरेय ब्राह्मण ने **पुरस्तादायतना वाक्, उपरिवदादायतना वाक्; मध्यायतना वा इयं वाक्**[1] से क्रमशः वैखरी-पश्यन्ती-मध्यमा-वाणियों के त्रिविध स्थानों की ही चर्चा की है। **वागिति पृथिवी, वागित्यन्तरिक्षम्, वागिति द्यौः**[2] इसी तथ्य को स्पष्टतर कर रहा है। परारूप वाग् ब्रह्म का ही वर्णन **वाग् वै विराट्**[3], **वागेव सरस्वती**[4] **वाग् वै सरस्वती**[5] आदि ब्राह्मण कर रहे हैं। द्यु स्थानीय मित्र-रूप पश्यन्ती का ही स्वरूप **या सा वागसौ स आदित्यः**[6], **वागिति द्यौः**[7] आदि वाक्य दिखा रहे हैं। उपरिनिर्दिष्ट अन्तरिक्षस्थानीय मध्यमा वाणी के विविध पार्श्वों की व्याख्या के लिए ही यथानिर्दिष्ट मन्त्र हैं: **वाग् वै वायुः**[8], **वाग् वै समुद्रः न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः क्षीयते**[9], **वाग् वा इन्द्रः**[10], **वाग् वै मतिः**[11], **वाग् वै मतिः, वाचा हीदं सर्वं मनुते**[12], **वाग् वै धीः**[13], **वाग् वै धियावसुः** आदि। इसी भाँति पृथिवीस्थानीय अग्निरूप वैखरी का ही विवेचन **वागिति पृथिवी**[14], **वागेवाग्निः**[15], **वागिति मनः**[16] आदि कर रहे हैं। अग्निस्वरूप वैखरी तो वागिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय द्वारा स्वप्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष दोनों का; ऐन्द्रिय बाह्य प्रत्यक्ष का विषय है ही, परन्तु विद्युत् या इन्द्र-रूप मध्यमा भी चिन्तनसाधन होने से स्वप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष का विषय है। अतः, लोक-व्यवहार इन्हीं दोनों से चलता है, परा-पश्यन्ती व्यवहार साधक नहीं है। **एतद्ध वा इन्द्राग्न्योः प्रियं धाम, यद् वागिति**'[17] वाणी को इन्द्र और अग्नि का प्रिय धाम इसीलिए बताया गया है।

३. **इदं विष्णुर्विचक्रमे, त्रेधा निदधे पदम्, समूढमस्य पांसुरे।**[18] विष्णु, अर्थात् व्यापक शब्दब्रह्मरूप, परा वाणी ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तीनों को तीन डगों से आक्रान्त कर लिया। इसकी व्याख्या ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार है: **'इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्च असुरैर्युयुधाते।**[19] **तान् ह स्म जित्वा ऊचतुऽकल्पामहै इति। ते ह तथेत्यसुरा ऊचुः। सोऽब्रवीदिन्द्रो यावदेवायं विष्णुस्त्रिविक्रमते तावदस्माकम्, अथ युष्माकम् इतरदिति। स इमाँल्लोकान् विचक्रमेऽथो वेदान्, अथोवाचं तदाहुः किं तत् सहस्रमिति, इमे लोका इमे वेदा, अथो वागिति ब्रूयात्।** विष्णु ने एक डग से इन लोकों को, एक से सब वेदों को,

१. ऐ० ब्रा०, ३०।२। २. जै० उ० ४।२२।११। ३. शतपथ, ३।५।१।३४। ४. ऐ० ब्रा० ८।६। ५. तै० ब्रा० १।३।४। ६. शत० १०।५।१।४। ७. जै० उ० ४।२२।११। ८. तैत्ति० १।८।८१ तथा ताण्ड्य १८।८।७। ९. ऐत० ५।१६ (ताण्ड्य ७।७९ भी)। १०. कौषी० २।७। ११. यजुर्वेद, १३।५८। १२. शत० ८।१।२।७। १३. ऐ० आ० १।१।४। १४. जै० उ० ४।२२।११। १५. शतपथ, ३।२।२।१३। १६. जै० उ० ४।२२।११। १७. ऐ० ब्रा० ६।७। १८. ऋग्वेद, मं० १ सू० २२ मन्त्र १७। १९. ऐ० ब्रा० २८।७।

तथा एक से वाणी को आक्रान्त किया। इनमें एक-एक की अपरिमित शाखाएँ हैं, अतः इन्हें सहस्र कहते हैं। यहाँ लोक से कर्मभूमि क्रियाप्रधान प्रतिभा, वेद से ज्ञानप्रधान मध्यमा तथा वाच् से इच्छाप्रधान वैखरी ही अभिप्रेत हैं। देवों को इन तीनों क्षेत्रों से असुरता को निकालने में सफलता प्राप्त हुई। ये कर्म, ज्ञान, इच्छा ही कामायनी के त्रिबिन्दु हैं, त्रिलोक हैं। ये ही गीता के कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के लक्ष्य हैं। इन तीनों बिन्दुओं का परा-रूप वाग् ब्रह्म में एकमय हो जाना ही चरम साध्य है। सांख्य की भाषा में परा विकृतिरहित मूल प्रकृति है, पश्यन्ती महत् तत्त्व है, मध्यमा अहं तत्त्व है तथा वैखरी मन-सहित ग्यारह इन्द्रियाँ हैं।

४. शिवास्त एका अशिवास्त एकाः, सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानाः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्, तासामेकाविपपातानुघोषम् ॥[1]

वाणी के एक दृष्टि से दो भेद हैं, शिव तथा अशिव। दूसरी दृष्टि से चार भेद हैं। इनमें तीन तो अन्तर में ही रखी रहती हैं, पर एक घोष के साथ गिरती है (आवाज के साथ बाहर आती है)। यहाँ वाणी के चार रूपों से स्पष्ट ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी अभिलषित मालूम होती है। प्रथम तीन अन्तर में छिपी रहती है, वैखरी ध्वनि के साथ बाहर आती है।

५. यद् वाग् वदन्त्यविचेतनानि, राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि, क्वस्विदस्याः परमं जगाम ॥[2]

देवों की राष्ट्रभाषा जो मन्द्र स्वरवाली वाणी है, उसे सुनकर, सीखकर विशेष चैतन्य-रहित सामान्य प्राकृत पामर लोग भी बोल लेते हैं। वह चार प्रकार के शक्तिप्रद दुग्ध देती है (वाग्रूप धेनु), इनमें जो परम दुग्ध है, वह कहाँ जाता है? चार प्रकार हैं: परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। परम दुग्ध 'परा' कहाँ जाती है, कहाँ रहती है— यह ऋषि की जिज्ञासा है।

६. चत्वारि वाक्परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहात्रीणि निहितानेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।[3]

वाक् नाम से प्रसिद्ध चार प्रकार के पद होते हैं, इन्हें मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। तीन गुहा में रखे हुए हैं; ये निःस्पन्द हैं। मनुष्य केवल चौथी वाणी बोलते हैं। निरुक्त[4] में यह शंका उठाई गई है कि ये चार प्रकार के पद कौन-से हैं। वहाँ बताया गया है कि ये आर्षपद्धति के अनुसार, ओम् यह प्रणव तथा भूः भुवः स्वः ये तीन महाव्याहृतियाँ हैं, वैयाकरणों के अनुसार, नाम आख्यात, उपसर्ग तथा निपात हैं; नैरुक्तों के अनुसार ऋक्, यजुष्, सामन् तथा व्यावहारिक (अथर्वण्?) हैं; कुछ विचारकों के अनुसार ये सरीसृपों, विहगों, पशुओं तथा मानवों की भाषा है, शतपथब्राह्मण[5] में भी इन उपर्युक्त चारों प्राणियों की भाषा का वर्णन है, यह पीछे बता आये हैं। पतंजलि[6] ने महाभाष्य में चार प्रकार के पद ये नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही माने हैं। कैयट ने भी इसका ही

१. अथर्ववेद, ७।४३।१। २. ऋग्वेद, मं० ८, सू० १००, ऋ० १०। ३. वही, १।१६४।४५।
४. निरुक्त, १३।९। ५. शतपथ, ४।१।३।१६। ६. महाभाष्य पस्पशाह्निक।

समर्थन किया है। उत्तरार्द्ध का अर्थ कैयट के अनुसार यह है कि इन चारों में भी एक-एक का चतुर्थ भाग ही अवैयाकरण मनुष्य बोलते हैं : चतुर्णां पदजातानामेकैकस्य चतुर्थं भागं मनुष्या अवैयाकरणा वदन्ति। नागेश ने पतंजलि के चत्वारि पदजातानि की व्याख्या की है : परापश्यन्तिमध्यमावैखर्यः नामादीनि च। अर्थात्, विनिगमनाविरह से नागेश चार वाक्-परिमित पदों से दोनों चतुष्कों का ग्रहण करते हैं : परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तथा नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन दोनों चतुष्कों को मनीषी ही जानते हैं। उत्तरार्द्ध का अर्थ नागेश करते हैं कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा ये तीन गुहा में निहित हैं, चौथी वाणी वैखरी ही मनुष्य बोलते हैं अथवा नामादिचतुष्टय के एक-एक के चार भागों (परा आदि) में से तीन गुहा में निहित हैं, केवल चौथा भाग ही मनुष्य बोलते हैं। भर्तृहरि[1] ने यहाँ वाणी के चार भागों से परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी का ही ग्रहण किया है। सायण[2] तथा गौडपाद ने भी इस मन्त्र में वाणी के चार भाग—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ही माने हैं। सम्भवतः, नागेश ने पस्पशाह्निक में अपने उद्योत में पतंजलि तथा भर्तृहरि दोनों का संग्रह ही किया है। ऋग्वेदकाल में ही पदों का यह नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात-रूप चतुर्विध विभाजन प्रमाणित कर रहा है कि उस समय भी वाक्य का विभाजन सूक्ष्मता से किया जाने लगा था, इन्द्र के द्वारा सम्भवतः वाणी का प्रथम व्याकरण (विश्लेषण) यहीं हुआ होगा। इस विश्लेषण के पीछे भी अध्ययन की लम्बी परम्परा रही होगी।

७. चत्वारि शृङ्गाः त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥[3]

इसका अर्थ करते हुए पतंजलि ने बताया है कि वाणी के चार सींग हैं, चार पद-समूह—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात; तीन पाद हैं तीन काल—भूत, भविष्यत्, वर्तमान; दो सिर हैं नित्य और कार्य-रूप दो शब्द-स्वरूप; सात हाथ हैं सात विभक्तियाँ; यह तीन स्थानों में बँधा है—उरस्, कण्ठ तथा शिरस् में।

क्षितीशचन्द्र चटर्जी ने इन दोनों मन्त्रों को पतंजलि-कृत अर्थ नहीं माना है।[4] चत्वारि शृङ्गाः मन्त्र को तो चटर्जी महोदय वाणी-विषयक मानते ही नहीं, वे इसे सोमपरक मानते हैं। इसमें वे मैकडोनल साहब का उद्धरण देते हैं कि 'यह मन्त्र सोम को सम्बोधित किया गया है।'[5] किन्तु तथ्य यह है कि सम्बोधन की तो बात दूर रही, इस ऋचा में सोम की चर्चा भी नहीं है, बल्कि इस पूरे सूक्त में भी कहीं सोम की चर्चा नहीं है। इस सूक्त के देवता के विषय में लिखा है कि वह 'या तो अग्नि है, या सूर्य, या अप्, या घृत।'[6] फिर भी, पता नहीं किस तर्क से चटर्जी महोदय सारी भारतीय

१. वा० प० १।१४३। २. तै० ब्रा० २।८।८। ३. ऋग्वेद, ४।५८।३।
४. 'टेक्निकल टर्म्स ऑव संस्कृत ग्रामर' की भूमिका।
५. The hymn is addressed to *soma*, वही।
६. ऋग्वेद, मं० ४, सू० ५८वाँ, मन्त्र ३।

परम्परा पर आधृत पतंजलि-कृत अर्थ का खण्डन करते हैं और मैकडोनल साहब का समर्थन करते हैं। **चत्वारि वाक् परिमिता···** मन्त्र में भी वे पदचतुष्टय की परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी-रूप व्याख्या को यह कहकर अग्राह्य ठहराते हैं कि "यह बहुत बाद का विचार है, अतः स्वीकृत नहीं करना चाहिए।"[1] यह तो उलटी बात हुई। भाषाशास्त्रों में तो **यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** का आदर्श चलता है। अतः सायण, गौडपाद, भर्तृहरि, कैयट, नागेश इन सभी विद्वानों के अनुसार यहाँ परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी-रूप चतुर्विध वाणी ग्राह्य होनी चाहिए। क्षितीशचन्द्र के अनुसार यहाँ वाणी के चार रूपों से शतपथोक्त मानव, पशु, पक्षी तथा सरीसृप की वाणियों का संकेत है। किन्तु, यदि यहाँ इनकी वाणियों का संकेत है, तो पूर्वार्ध उत्तरार्ध की संगति कैसे बैठेगी? यदि यह मान भी लें कि मनीषी ब्राह्मण सरीसृप, पक्षी तथा पशु की वाणी भी समझ लेते हैं, तो उन्हें गुहा में निहित और स्पन्दनशून्य बताना ठीक नहीं लगता। बल्कि नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात का भी प्रसंग यहाँ नहीं बैठता, दोनों अर्धालियों का पृथक्-पृथक् अन्वय करना पड़ता है; क्योंकि इन चारों को तो सभी विद्वान् पहचानते हैं और इनमें कोई भी गुहा में निहित या स्पन्दनशून्य नहीं। अतः, यहाँ उपक्रम-उपसंहार-बल से परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी-रूप अर्थ ही लेना चाहिए। क्योंकि, इनमें तीन सचमुच ही गुहा में छिपे हैं, निःस्पन्द हैं। चौथी वैखरी ही सामान्य मनुष्य के व्यवहार की वस्तु है। चारों वाणियों को जानना तो मनीषी (युक्त–युञ्जान योगी) ब्राह्मणों के लिए ही साध्य है। पिछले पृष्ठों में अथर्ववेद से उद्धृत मन्त्र भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है : **तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका विपपातानुघोषम्**[2], अर्थात् तीन वाणियाँ अन्दर रखी हैं, उनमें से एक (चौथी) घोष (गर्जन, ध्वनि) के साथ गिरती है (बाहर आती है)। यह अर्थ वाणी के आभ्यन्तर चार रूपों (परा आदि) के साथ ही अधिक संगत होता है। शतपथ में इनकी चर्चा भले ही न हो, पर ऐतरेय ब्राह्मण में इनका संकेत है : **तम् मध्यमया वाचा शंसति, आत्मानमेव तत् संस्कुरुते**[3], अर्थात् 'इसे मध्यमा वाणी से कहता है, अतः आत्मा को परिष्कृत करता है।' मध्यमा-वाणी हृदयस्थचिन्तनरूप विचारात्मक तीसरी वाणी ही है : हृदिस्था **मध्यमा ज्ञेया**। स्तोतृय मन्त्र का उच्चारण यदि तदर्थ चिन्तन सहचरित उपांशु हो, तो आत्मा का परिष्कार होता है, उपांशु-जप की महिमा बहुशः वर्णित है। शतपथ में स्वतन्त्र रूप से जंगमों की वाणी का विश्लेषण है। यदि वैयाकरणों के अनुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात भी इसका अर्थ लें, तो ऋग्वेदकाल में ही पदों का इस प्रकार का चार भागों में विभाजन ही कौन-सी कम उपलब्धि है? यास्क के सहस्रों वर्ष पहले भारत में शब्द-विभाजन हो चुका था। और, कम-से-कम **चत्वारि श्रृङ्गाः** मन्त्र में तो यह अर्थ निर्बाध ले सकते हैं। पतंजलि ने अर्थ लिया भी है। उनका अर्थ अप्रामाणिक मानकर

१. 'टेक्निकल टर्म्स ऑव संस्कृत ग्रामर' की भूमिका।
२. अथर्व, कां० ७, सू० ४३, मं० १।
३. ऐ० ब्रा० १२।१३।

मेकडोनल साहब के अनुसार इसे सोमविषयक घोषित करना भारतीय मनीषा और परम्परा की घोर उपेक्षा है। इस पूरी ऋचा का अर्थ पदविज्ञान में कितनी स्पष्टता से लग रहा है—चार प्रकार के शब्द, तीन काल, सात विभक्तियाँ ?

ऋग्वेद में कई पूरे सूक्त ही वाणी के वर्णन में लिखे गये हैं, जिनमें सरस्वती, ज्ञान, इडा, भारती, मही, वाक्, बृहस्पति आदि के विषय में कुछ तथ्य कहकर वाणी के ही किसी-न-किसी पार्श्व की व्याख्या की गई। इनमें सरस्वतीसूक्त[1], बृहस्पतिसूक्त[2], ज्ञानसूक्त[3] तथा वागाम्भृणीसूक्त[4] विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें जिज्ञासु अनुसन्धित्सुओं को भाषाविज्ञान के अनेक रोचक तथ्य बीजावस्था में प्राप्त हो सकते हैं। आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय के प्रो० सेस (Sayce) ने 'साइंस ऑव लैंग्वेज़' में वागाम्भृणी सूक्त की ओर भाषावैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि "इन मन्त्रों में वाक्तत्त्व के विषय में जो वक्तव्य हैं, वे बहुत ही गम्भीर, विचारपूर्ण, भाषाविज्ञान की दृष्टि से सत्य तथा दूरदर्शितापूर्ण हैं। इस सूक्त का ऋषि वागाम्भृणी तथा देवता वाक् है। जिस प्रकार गीता में कृष्ण ने अपना विश्वरूप-दर्शन कराया है, लगता है, वाणी भी ठीक उसी भाँति अपना विश्वरूप-दर्शन करा रही है। इसमें वागद्वैतवाद का अच्छा प्रतिपादन है।" किन्तु, भारत को अधिक श्रेय नहीं देने के पूर्वाग्रह के कारण प्रो० सेस ने यह भी कहा है कि भाषा की समस्याओं के समाधान का सर्वप्रथम प्रयास भारत में नहीं, बेबिलोन में हुआ।

यह बात नहीं कि वेदों में स्थूल वाणी का वर्णन ही नहीं है। पिछले कुछ मन्त्रों में शब्दविभाग, सात विभक्तियाँ, तीन काल आदि की चर्चा की जा चुकी है, जो स्पष्ट ही पदविज्ञान का विषय है। नामों में विभक्तिविचार तथा आख्यातों में कालविचार मुख्य है। इनके अतिरिक्त वेदों में निरुक्तियाँ भी खूब हैं, जो शब्दविज्ञान का मुख्यतम अंग हैं। पर वह, परोक्ष मार्ग से, प्रत्यक्ष नहीं।

निरुक्तियाँ :

युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वीकार किया है कि निम्नांकित मन्त्रखण्ड किसी-न-किसी व्युत्पत्ति या निरुक्ति का ही निर्देश ध्वनित कर रहे हैं :

१. **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**[5] (यज्ञ की निरुक्ति 'यज्' धातु से)
२. **ये सहांसि सहसा सहन्ते**[6] (सहस् की निरुक्ति 'सह्' धातु से)
३. **पूर्वीरश्नन्तावश्विना**[7] (अश्विन् की निरुक्ति 'अश्' धातु से)
४. **स्तोतृभ्यो मंहते मघम्**[8] (मघ की निरुक्ति 'मह्' धातु से)
५. **धान्यमसि धिनुहि देवान्**[9] (धान्य की 'धिन्व्' से)
६. **केतपूः केतं नः पुनातु**[10] (केतपूः की 'केत + पू' से)

---

१. मं० ६, सू० ६१। २. मं० १०, सू० ६७। ३. मं० १०, सू० ७१। ४. मं० १०, सू० १२५।
५. ऋग्० १।१६४।५०। ६. वही ६।६६।९। ७. वही ८।५।३१। ८. वही १।११।३।
९. यजुर्वेद, १।२०। १०. वही, ११।७।

७. येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा[१] (पवित्र की 'पू' से)

८. तीर्थैस्तरन्ति[२] (तीर्थ की 'तृ' से)

६. यददः सम्प्रमती रहावनदता ह ते तस्मा दा नद्यो नाम स्थ[३] (नदी की 'नद्' से)

१०. तदाप्नोदिन्द्रो वो यती स्तस्मादापो अनुष्ठज[४] (अप् की 'आप्' से)

इन सभी मन्त्रों का उद्देश्य व्युत्पत्ति देना नहीं है, किन्तु साभिप्राय उक्ति से व्युत्पत्ति की व्यंजना हो जाती है। जैसे, 'आप धान्य हैं', अतः देवों को तृप्त कीजिए, अर्थात् आपका नाम धान्य इसीलिए पड़ा है कि धिन्व् धातु का अर्थ है प्रीणन, आप लोगों को तृप्त करते हैं, तो देवों को भी तृप्त कीजिए। आश्चर्य है कि प्रायः सभी निरुक्तियाँ भाषावैज्ञानिक हैं।

वर्णों का उल्लेख :

अनुसन्धान-प्रेमी संहिताओं में पदविज्ञान के अतिरिक्त ध्वनि या वर्णविज्ञान के भी बीज पाते हैं। पण्डित रामाज्ञा पाण्डेयजी उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिः सप्त धामन्याघन्या बिभर्त्ति, विद्वान् पदस्य गुह्यानवोचत् युगाय विप्र उपराय शिक्षन्।[५] इस ऋचा में वरुण के द्वारा अघ्न्या रूप वाणी के पद के इक्कीस (तीन बार सात) स्थानों में विभाजन की चर्चा मानते हैं। अर्थात्, वाक्य का विभाजन तो चार प्रकार के पदों, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात में हो ही चुका था। इन पदों का भी विभाजन इक्कीस वर्णों में कर लिया गया था। ये इक्कीस वर्ण उनके अनुसार निम्नांकित थे :

विसर्ग। ह य व र ल। क च ट त प। ग ज ड द ब। अ इ उ ऋ लृ।

इस प्रकार संहिताओं में वर्णविज्ञान का भी संकेत अन्वेषणीय है।

संहिता-परवर्त्ती काल :

संहिताओं के निर्माण के सैकड़ों वर्ष बाद दो समस्याएँ उठीं। ये पवित्र मन्त्र अनधिकारियों के हाथ नहीं पड़ने पायें, ऐसा सोच-समझकर ऋषि-मुनियों ने इन्हें लिपिबद्ध नहीं करने का निर्णय किया। साथ ही, कागज और छापाखाना के अभाव में इस विशाल वाङ्मय को लिपिबद्ध करना भी प्रयाससाध्य था। अतः, मौखिक परम्परा से ही इनका अध्ययन-अध्यापन चलता रहा। इसमें एक बड़ा भारी डर था कि जितने मुँह, उतनी बातें न हो जायँ। मौखिक परम्परा भी काफी विस्तृत थी; क्योंकि बेदों के अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र विशाल था। इसमें मानवसुलभ विस्मृति से, रुचिभेद से और क्षेत्रीय भाषाभेद से उच्चारणभेद तथा पाठभेद होना सम्भव था। बाद में चलकर शाखा-भेद तो हुआ ही। सम्भव था कि ज्ञानपूर्वक भी मन्त्रों में कुछ मिश्रण किये जाते। अतः, सभी मन्त्रों के प्रत्यक्षर शुद्ध आकारों की रक्षा के लिए पदपाठ, क्रमपाठ, घनपाठ आदि

१. सामवेद उत्त० ५।२।८।५। २. अथर्ववेद १८।४।७। ३. वही ३।१३।१। ४. वही ३।१३।२। ५. ऋग० मं० ७, सू० ८७, मन्त्र ४।

विभिन्न पाठों की सृष्टि हुई। अन्यथा, रामायण, महाभारत, स्मृति, पुराण आदि की तरह प्रक्षेप तथा पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, रामचरितमानस आदि की तरह पाठभेद अवश्य हो जाता।

दूसरी समस्या यह थी कि संहिता-निर्माण के सैकड़ों वर्ष बाद जनभाषा वैदिक भाषा से बहुत आगे बढ़ गई; अतः अशिक्षित जनता के लिए इस साहित्यिक भाषा का अर्थ समझना कठिन हो गया। लोग यह खूब समझते थे कि केवल शब्द-पारायण से लाभ नहीं, यदि अर्थ का बोध नहीं हुआ :

प्रदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्केन्धो न तज्ज्वलयति कर्हिचित्॥[1]

जैसे लकड़ी कितनी भी सूखी हो, जबतक आग में नहीं डाली जायगी, तबतक नहीं जलेगी, प्रकाश नहीं होगा, उसी भाँति शब्द कितने भी सुन्दर हों, पवित्र हों, महान् हों, जबतक अर्थ का ज्ञान नहीं होता, प्रकाश नहीं होगा, कोई लाभ नहीं होगा।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥[2]

जो वेदों को पढ़कर याद कर भी अर्थ नहीं समझता, वह ठूँठ पेड़-जैसा निकम्मा है, केवल बोझ ढो रहा है। जो अर्थ जान लेता है, वही सब कल्याण पाता है, उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं, वह स्वर्ग पाता है। अर्थज्ञान के महत्त्व को प्रकट करनेवाले और कई मन्त्र हैं। **उत त्वः पश्यन्**[3] की व्याख्या पहले की जा चुकी है। बात यह है कि अर्थ समझने का तात्पर्य था तदनुकूल आचरण करना। अर्थ वाणी का पुष्प तथा कर्म उसका फल समझा जाता था; क्योंकि वाक् का पूर्व रूप मन तथा उत्तर रूप कर्म माना गया था : **मनसो रेतो वाक्, वाचो रेतः कर्मः।**[4] अर्थबोध और तदनुकूल कर्म से हीन वाणी वन्ध्या समझी जाती थी : **वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।**[5] इसलिए, अर्थ बताने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई। ब्राह्मणों में एक-एक मन्त्र देकर उसकी व्याख्या की गई है, उसका विनियोग बताया गया है। इस प्रकार, वैदिक मन्त्रों के पदविच्छेद, सन्धिविच्छेद कर पदपाठ आदि लिखे गये और व्याख्या कर ब्राह्मणग्रन्थ लिखे गये। दोनों एक दूसरे के सहायक बने। व्याखया से पदपाठ को सहायता मिली, पदपाठ से व्याख्या को और इन दोनों से भाषाविज्ञान, भाषा का आलोचन बहुत विकसित हुआ।

जब अर्थ का विश्लेषण करने के लिए तथा पाठभेद रोकने के लिए वाक्यों का पदों में विभाजन किया गया, तब पदपाठ की नींव पड़ी। इसमें भाषाविज्ञान की आवश्यकता थी। वाक्य में सन्धि तथा समास आदि वृत्तियों से अनेक पद एक साथ जुड़े रहते हैं। साथ ही, जब इन्हें अलग-अलग रखा जायगा, तब स्वर और मात्रा में भी अन्तर आयगा। अतः, जो शब्दशास्त्रज्ञ नहीं होगा, वह पदपाठ कर ही नहीं सकता। निदान,

---

१. महाभाष्य पस्पशाह्निक। २. वही। ३. वही। ४. ऐ० आ० २।१।३। ५. ऋग्०, १०।७१।५।

धीरे-धीरे सन्धि समास का विचार शुरू हुआ। सन्धि का विचार करने में एक सीढ़ी और नीचे उतरना पड़ेगा। समास तो केवल अनेक पदों के बीच होता है, पर सन्धि तो दो वर्णों में ही होती है, चाहे वे दो पदों के हों या एक ही पद के। अतः, पदों का खण्ड भी वर्णों में करना पड़ा। इधर ब्राह्मणों को अर्थ बताने के लिए प्रत्येक पद में प्रकृति तथा प्रत्यय का विश्लेषण करना पड़ा। इस प्रकार, क्रमशः मन्त्रों का वाक्यों में, वाक्यों का पदों में, पदों का प्रकृति-प्रत्ययों में तथा उनका भी वर्णों में विश्लेषण होने लगा। अर्थज्ञान के लिए ही क्रमशः ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों की रचनाएँ हुईं। भाषा के इन विभिन्न रूपों पर इतना अधिक विचार हुआ कि अब भाषाविज्ञान वेद की एक स्वतन्त्र महान् शाखा ही बन गया, जिसका उद्देश्य हुआ वैदिक वाणी का विश्लेषण। स्वयं भाषाविज्ञान में भी इतनी उर्वरता बढ़ी कि इसकी कई प्रशाखाएँ बन गईं। छह वेदांगों में पाँच तो भाषाविज्ञान के लिए ही बनाने पड़े, वर्णों के अध्ययन के लिए शिक्षा, पदों के अध्ययन के लिए निरुक्त तथा वाक्यों के अध्ययन के लिए व्याकरण बना। छन्द के अध्ययन के लिए छन्द तथा वाणी के कार्यान्वयन के अध्ययन के लिए कल्प।

मन्त्रों के अर्थ-विश्लेषण के लिए और उनमें मिश्रण रोकने के लिए पदपाठ की नींव पड़ी। शीघ्र ही यह एक स्वतन्त्र शाखा बन गई, जिसमें पदपाठ, घनपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, मालापाठ आदि अनेक प्रशाखाएँ निकल आईं। इनमें शाकल्य का पदपाठ सर्वाधिक प्रख्यात है। इनका संहितापाठ भी उपलब्ध है, अतः इस पदपाठ का और भी अधिक महत्त्व है। इस पदपाठ में समास, सन्धि, स्वर आदि का खूब विश्लेषण हुआ। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

१. अग्निमीडे पुरोहितं, यज्ञस्य देवमृत्विजम्, होतारं रत्नधातमम्।[1] अग्निम्। ईडे। पुरः ऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्। होतारम्। रत्नधातमम्।
२. अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति।[2] अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिऽभिः। ईड्यः। नूतनैः। उत। सः। देवान्। आ। इह। वक्षति।
३. वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्।[3] वायो इति। आ। याहि। दर्शत। इमे। सोमाः। अरंकृताः। तेषां। पाहि। श्रुधि। हवम्।
४. वाय उक्थेभिर्जरन्ते, त्वामच्छा जरितारः, सुतसोमा अहर्विदः।[4] वायो इति। उक्थेभिः। जरन्ते। त्वाम्। अच्छ। जरितारः सुतऽसोमा। अहः ऽविदः।
५. वायो तव प्रपृञ्चती, धेना जिगाति दाशुषे, उरूची सोमपीतये।[5] वायो इति। तव प्रपृञ्चती। धेना। जिगाति। दाशुषे। उरूची सोमऽपीतये।

यदि इन पदपाठों तथा इनके संहितापाठों की हम परस्पर तुलना करें, तो इन परिणामों पर पहुँचेंगे :

१. संहिता में सन्धि है, पदपाठ में सन्धि हट जाती है, अर्थात् संहितापाठ में एक वर्ण में दूसरे पार्श्ववर्त्ती वर्ण के साहचर्य के कारण कुछ परिवर्त्तन हो जाता है, पदपाठ में सभी मूलवर्ण अविकृत रहते हैं। जैसे :

---

१. ऋग्वेद, १।१।१। २. वही, १।१।२। ३. वही, १।२।१। ४. वही, १।२।२। ५. वही, १।२।३।

(क) वायवायाहि[1] = वायो + आयाहि, दर्शतेमे[2] = दर्शत + इमे, सोमा अरंकृताः[3] = सोमाः + अरंकृताः, वाय[4] उक्थेभिः = वायो + उक्थेभिः, उक्थेभिर्जरन्ते[5] = उक्थेभिः + जरन्ते, पुरोहितम्[6] = पुरः + हितम्, स[7] देवान् = सः + देवान्, एह[8] = आ + इह, देवा[9] एह = देवान् + एह।

(ख) संहिता में एक और प्रकार की सन्धि है, जो पदपाठ में हट जायेगी; जैसे श्रुधीहवम्[10] = श्रुधि + हवम्, अच्छाजरितारः[11] = अच्छ + जरितारः।

२. जहाँ समास का विच्छेद किया गया है, अर्थात् दो शब्दों के योग से बने एक शब्द का विश्लेषण किया गया है, वहाँ शिरोरेखा एक ही रखी गई है, केवल दोनों के बीच अवग्रह कर दिया गया है, जैसे सुतसोमा = सुतऽसोमा, प्रपृञ्चती = प्रऽपृञ्चती, सोमपीतये = सोमऽपीतये, रत्नधातमम् = रत्नऽधातमम्, अरंकृताः = अरंऽकृताः। जहाँ समास नहीं, केवल सन्धि है, वहाँ दोनों शब्दों को सर्वथा पृथक् कर दिया गया है। जैसे—दर्शतेमे = दर्शत + इमे; अच्छाजरितारः = अच्छ + जरितारः। अर्थात्, केवल समास के लिए अवग्रह तथा केवल सन्धि के लिए पृथक्करण दिखाया गया है। जहाँ दोनों हैं, वहाँ एक ही शिरोरेखा में दोनों शब्दों को रखकर अवग्रह दिखाकर मूल वर्ण (अविकृत) बताये गये हैं। जैसे अहर्विदः = अहः ऽविदः, पुरोहितम् = पुरःऽहितम्।

३. संहिता में जो उदात्त आदि स्वर हैं, उनसे पदपाठ के स्वर में कुछ अन्तर पड़ता है, जैसे पदपाठ में 'अग्निम्' 'ईडे' में ईडे सर्वानुदात्त[12] है, किन्तु संहिता-पाठ में अग्नि शब्द के उदात्त इकार के बाद आने के कारण 'ईडे' शब्द का अनुदात्त ई स्वरित में परिणत[13] हो गया।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि पदपाठकाल में ध्वनिविज्ञान का अध्ययन काफी आगे बढ़ चुका था। पदों का वर्णों में विश्लेषण तो हो ही चुका था, यह बात भी मालूम की जा चुकी थी कि वर्णों का उच्चारण और रूप अन्यवर्णनिरपेक्ष, स्वतन्त्र तथा स्थिर नहीं

१. एचोऽयवायावः। पाणिनिसूत्र, ६।१।७८।
२. आद्गुणः, पा० सू० ६।१।८७।
३. भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि, लोपः शाकल्यस्य, पा० सू० ८।३।१७ तथा १९।
४. एचोऽयवायावः, लोपः शाकल्यस्य, पा० सू० ६।१।७८ तथा ८।३।१९।
५. खरवसानयोर्विसर्जनीयः, पा० सू० ८।३।१५।
६. हवशि च, पा० सू० ६।१।११४।
७. एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि, पा० सू० ६।१।१३२।
८. आद्गुणः, ६।१।८७।
९. दीर्घादटि समानपादे, ८।३।९।
१०. अन्येषामपि दृश्यते, पा० सू० ६।३।१३७।
११. निपातस्य च, ६।३।१३६।
१२. तिङ्ङतिङः, पा० सू० ८।१।२८।
१३. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, पा० सू० ८।४।६६।

रहता। एक दूसरे की संहिता, अर्थात् अत्यन्त सन्निकर्ष से वर्णों में सन्धि, अर्थात् विकार हो जाता है, जिससे उसका रूप बदल जाता है। साथ ही, उदात्तादि स्वरों में भी परिवर्त्तन हो जाता है। एक ही वायु शब्द के वायो, वायव्, वाय—ये तीन रूप मिलते हैं, एक ही ईडे शब्द एक जगह सर्वानुदात्त है, दूसरी जगह स्वरितादि अनुदात्तान्त। यह भेद सन्धिकृत है। इसी तरह समस्त शब्दों का भी विश्लेषण कर लिया गया था कि ये वास्तव में अनेक शब्दों के योग से बने हैं; जैसे 'सुतसोमाः' में कोई सन्धि नहीं रहने पर भी पदपाठ में 'सुतऽसोमाः' ऐसा अवग्रह दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया गया कि इसमें दो शब्द मिले हुए हैं, सुत और सोम। इस भाँति पदपाठ ने वाक्यों का पदों में तथा पदों का भी वर्णों में विश्लेषण कर वाक्यविज्ञान, पदविज्ञान और वर्णविज्ञान का पथ प्रशस्त कर दिया। उधर अर्थविज्ञान तथा निरुक्तिविज्ञान के मार्ग ब्राह्मणग्रन्थ तैयार ही कर रहे थे। किन्तु, अभी पदपाठ का ही कुछ और विवेचन कर लेना ठीक होगा। पदपाठ में निम्नांकित बातों पर भी ध्यान डालना आवश्यक है :

संहितापाठ में **वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः** लिखा रहने पर भी वास्तव में उच्चारण **वायवा याहि दर्शत, इमे सोमा अरंकृताः** ऐसा ही किया जाता होगा; क्योंकि गायत्री के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर (सिलेबुल) होने ही चाहिए। सन्धि करने पर दूसरे चरण में सात ही अक्षर बच रहते हैं, ऐसा छन्दोभंग कविता में क्यों किया जाता होगा ? यहाँपर व्यावहारिक प्रकृतिभाव करके सन्धि छोड़ देते होंगे। बाद में ऐसी सन्धि छोड़ने की अनुमति भी शिष्ट समाज में मिल गई।[1] इसी भाँति **अग्निः पूर्वेभिरृषिभिरीड्यो नूतनैरुत** लिखने पर भी पढ़ते होंगे **अग्निः पूर्वेभिरृषिभि, रीडियो नूतनैरुत**। इस भाँति, अर्थात् **ईड्य** को ईडिय कहते होंगे।[2] तभी दूसरे चरण में आठ अक्षर पूरे होंगे, अन्यथा एक अक्षर कम पड़ जायगा। यद्यपि बाद में छन्दोविचार में चरण में एक अक्षर की कमी को स्वीकृत कर उसे निचृद् गायत्री नाम दिया गया है। किन्तु, आरम्भ में छन्द की रक्षा के लिए अवश्य ही उपर्युक्त रीति अपनाते होंगे :

इससे ये परिणाम निकलते हैं—

१. बोलने और लिखने का थोड़ा अन्तर प्रागैतिहासिक काल से ही आता है। लिखने में एक रूप स्थिर कर लिया गया, या स्थिर हो गया; क्योंकि यह अधिक व्यापक था। पर, उसका उच्चारण उतना स्थिर नहीं हो पाया, वह थोड़ा आगे-पीछे हटता रहा (बाद में इसी कारण यमों तथा ज्ञ, ष के उच्चारण में शाखाभेद से अन्तर आ गया, यद्यपि लिखित रूप वही बना रहा)।

२. विशेषतः कविता में गेयता तथा मात्रा का विचार होने से उच्चारण को कुछ विकृत करना पड़ता होगा।

३. अतः, पदपाठ-काल में ही छन्दोविज्ञान का सूत्रपात हो गया।

---

१. 'संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥'

२. देखें, 'पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्', अ० ३, सू० २।

४. जैसे दो अक्षर कभी सन्निकर्ष से मिलकर एक अक्षर में सिमट जाते हैं, (दर्शत + इमे = दर्शतेमे में अ तथा इ दोनों सिमटकर एक 'ए' बन गये), उसी भाँति एक अक्षर भी कभी विप्रकर्ष से फैलकर दो अक्षरों में परिणत हो जाता है (जैसे ईड्य का ईडिय में)। यह विप्रकर्ष या स्वरागम-सिद्धान्त वैदिक भाषा में था। परिनिष्ठित साहित्यिक संस्कृत में इसे मान्यता नहीं मिली। हाँ, वैयाकरण, नैयायिक, सौवर, सौवश्व आदि प्रयोगों में यह जीवित-मात्र रहा। व्याकरण के वियाकरण, न्याय के नियाय स्वर के सुवर तथा स्वश्व के सुवश्व रूपों से ही वृद्धि द्वारा ये सब प्रयोग बनाये गये हैं, यद्यपि पाणिनि ने इन रूपों को मान्यता नहीं देने के कारण दूसरा उपाय अपनाया है, य् के पहले ऐ तथा व् के पहले औ का आगम माना है।[१] साहित्यिक संस्कृत में मान्यता नहीं मिलने पर भी उच्चारण-सौकर्य के कारण लोकभाषा में इसका प्रचार बढ़ता गया। बोलियों की संयुक्त को वियुक्त या सन्निकृष्ट को विप्रकृष्ट करने की मुख-सुखार्थक प्रवृत्ति को आखिर प्राकृत वैयाकरणों ने मान्यता दी। वस्तुतः, लिखित भाषा संश्लेषप्रधान तथा उच्चरित विश्लेषप्रधान थी। इस विश्लेष का ही एक रूप विप्रकर्ष था। इसके अनुसार संयुक्त वर्णों में प्रायः तो समीकरण ही हो जाता था; जैसे कर्म — कम्म—काम,[२] भक्त— भत्त— भात;[३] पर कहीं बीच में अ, इ या उ का आगम भी हो जाता था, जैसे करम, धरम, भगत आदि। प्राकृत में चौर्य का चोरिय (र्य-रिय) माधुर्य का महुरिय, स्थैर्य का थेरिय[४] आदि विकार हो जाते थे। इसी प्रकार, क्लिष्ट का किलिठ,[५] श्री का सिरी[६] आदि रूपान्तर होते थे। त्यक्त्वा का तियक्त्वा, त्यक्त से तियक्त[७] रूप भी मिलते हैं। यह प्रवृत्ति क्रमशः अपभ्रंश तथा प्राचीन हिन्दी आदि में बढ़ती ही गई। 'तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊँ', 'सुमिरि अवधपति परम सनेही', 'करहु राज परिहरहु-गलानी' आदि मूर्च्छित, स्मर, स्नेही, ग्लानि आदि में विप्रकर्ष से ही बने हैं। सूर्य का सूरज, पूर्व का पूरब, धैर्य का धीरज, धान्य से धनिया आदि ऐसे ही बने हैं।

५. छन्द की रक्षा के लिए किसी पद को विकृत ढंग से पढ़ने की अनुमति केवल मौखिक ही नहीं, कुछ जगहों में लिखित रूप में भी थी, मात्रापूर्ति के लिए ही 'श्रुधि' को 'श्रुधी', 'अच्छ' को 'अच्छा', 'ऋतवृधौ' को 'ऋतावृधौ'[८] और 'सचस्व' को 'सच स्वा'[९] किया गया। छन्द के अनुरोध से पदों को विकृत करने की प्रवृत्ति बाद के सब कवियों में

---

१. न वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्, ७।३।३।
२. सर्वत्र लवराम् (पाली-प्राकृत-व्याकरणम्, पं० मथुराप्रसाद दीक्षित), १।३।
३. उपरिलोपः क ग ड त द प श ष साम्। —वही, १।८।
४. चौर्यसमेषुरियः। —वही, २।२०।
५. क्लिष्टश्लिष्टरत्नक्रियाशाङ्र्गेषु तत्स्वरवत् पूर्वस्य, १।२६।
६. इत् ह्री श्री क्लीत० १।२७।
७. प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण, पृ० ४००।
८. ऋग्वेद, १।२।८। ९. ऋग्वेद १।१।९।

भी पाई जाती है। तुलसीदास ने भी 'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू, पिता समेत लीन्ह निज नामू' तथा इतिहासा, भगवाना, रघुवीरा जैसे प्रयोग किये हैं।

६. **उरूची, घृताची, ऋत्विजम्**[१] आदि में भी समास है, पर पदपाठ में इनकी जगह उरुऽअची, घृतऽअची, ऋतुऽयजम् आदि नहीं पढ़ा। क्यों? इसीलिए कि अरंकृताः, सुतसोमाः, अहर्विदः, सोमपीतये आदि में समास होने पर भी दोनों पदों की पृथक् सत्ता स्पष्ट है, पर इन शब्दों में दोनों खण्ड घुल-मिल गये हैं। किन्तु, घुले-मिले तो एह (आ + इह), और एमसि (आ + इमसि) के भी दोनों पद हैं, पर यहाँ पदपाठ में तोड़कर ही दोनों पदों को लिखा गया है। क्या इसलिए कि यहाँ समास नहीं है? पर समास के साथ भी सन्धि रहने पर **सूपायनः**[२] का, पदपाठ 'सुऽउपायनः', **अक्षितोतिः**[३] का 'अक्षितऽअतिः' ऐसा विच्छेद किया गया है। किन्तु, यहाँ भी 'सुऽउपऽअयनः', 'अऽक्षितऽअतिः' ऐसा नहीं लिखा है, अर्थात् एक **खण्ड** को तो तोड़ा है, दूसरे को मिश्रित ही रहने दिया है। और, **इन्द्रवायु**[४] के पदपाठ में 'इन्द्रऽवायु' ऐसा अवग्रह **क्यों** नहीं किया? क्या सम्बोधनपद में इति का ही प्रयोग रखा है, अवग्रह नहीं? तब **द्रवत्पाणी**[५] इति 'द्रवत्ऽपाणी', **रुद्रवर्त्तनी**[६] इति 'रुद्रऽवर्त्तनी' में क्यों इति भी दी, अवग्रह भी? और **पितेव**[७] को 'पिताऽइव', **सुदुघामिव**[८] 'सुदुघाम्ऽइव', **उस्राइव**[९] को 'उस्राःऽइव' लिखा? क्या कात्यायन के **इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च** का पता उसी समय शाकल्य को मिल गया था? तो, पणिनि **ने** इसकी चर्चा **क्यों** नहीं की? और **दिवे दिवे**[१०] को 'दिवेऽदिवे', **द्यविद्यवि**[११] को 'द्यविऽद्यवि', **अग्निमग्निम्** को 'अग्निमऽअग्निम्'[१२] क्यों लिखा? पाणिनि ने तो **नित्यवीप्सयोः** से किये द्वित्व को समासवत् नहीं माना, प्रकार, प्रभृति अर्थों में किये द्वित्व को ही कर्मधारयवत् कहा है। और **ऋषिभिः** को 'ऋषिऽभिः', **सखिभ्यः**[१३] को 'सखिऽभ्यः', **प्रयोभिः**[१४] को 'प्रयःऽभिः', **पुरुतमम्**[१५] 'पुरुऽतमम्', **गर्भत्वम्**[१६] को 'गर्भऽत्वम्' भी लिखा है। क्या पाणिनि के **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** वाले नियम का **भी** उस समय तक अनुसन्धान हो चुका था? या, यह पदपाठ ही बहुत बाद की वस्तु है? फिर **पूर्वेभिः, देवेभिः**[१७], **उक्तेभिः, वाजेभिः**[१८], **अश्वीभिः**[१९], **ऊमाभिः**[२०] आदि में अवग्रह क्यों नहीं दिखाया? फिर **रत्नधातमम्, सोमपातमः**[२१] में यह अवग्रह तम के पहले नहीं दिखाकर **रत्नधा, सोमपा** इन समस्त शब्दों के बीच में दिखाया और **चित्रश्रवस्तमः**[२२], **आरुजतनुभिः**[२३], **सोमपर्वभिः**[२४] आदि में अवग्रह समस्त शब्दों के बीच नहीं दिखाकर भिः और तम प्रत्ययों के पहले दिखाया और **मित्रावरुणौ**[२५] **इन्द्रवायू**[२६]

---

१. ऋग्वेद १।२।७। २. ऋग्वेद १।१।६। ३. ऋग्वेद १।५।६। ४. ऋग्० १।२।४।
५. ऋग्० १।३।१। ६. ऋग्० १।३।३। ७. ऋग्० १।१।६। ८. ऋग्० १।४।१।
९. ऋग्० १।३।८। १०. ऋग्० १।१।३। ११. ऋग्० १।४।१। १२. ऋग्० १।१२।२।
१३. ऋग्० १।४।४। १४. ऋग्० १।२।४। १५. ऋग्० १।५।२। १६. ऋग्० १।६।४।
१७. ऋग्० १।१।५। १८. ऋग्० १।३।१०। १९. ऋग्० १।३।४। २०. ऋग्० १।७।४।
२१. ऋग्० १।८।७। २२. ऋग्० १।१।५। २३. ऋग्० १।६।५। २४. ऋग्० १।९।१।
२५. ऋग्० १।२।८। २६. ऋग्० १।२।४।

का पदपाठ में मित्रऽवरुणौ, इन्द्रऽवायू क्यों नहीं किया ? क्या ये गौरीशंकर की भाँति युग्म अर्धशरीर बनकर एक हो चुके हैं ? तब द्विवचन कैसे अवशिष्ट है ? वस्तुतः, पदपाठ का अध्ययन अलग से एक स्वतन्त्र ही विषय है, जो बड़ा रोचक है। इसमें बहुत-से भाषा-वैज्ञानिक तथ्य भी छिपे हो सकते हैं, जिनके अध्ययन से वैदिक भाषा के नये पक्षों पर प्रकाश पड़ सकता है।

और जो कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि पदपाठ-काल में विद्वानों को समस्त शब्दों में विभिन्न पदों (सुतऽसोमाः, सोमऽपीतये, अहःऽविदः) का, पदों में प्रकृति और प्रत्यय (गर्भऽत्वम्, पुरुऽतमम्, ऋषिऽभिः, सखिऽभ्यः) का क्रिया में धातु और उपसर्ग (आऽयाहि, प्रऽपृञ्चती) का तथा सर्वत्र सन्धिनियमों (एह = आ + इह, वायवायाहि = वायो + आयाहि, पुरोहितम् = पुरःऽहितम्, प्रयोभि प्रयःऽभिः) का ज्ञान पूर्णतः प्राप्त था।

ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्

उधर पदपाठ में मन्त्रों के वाक्यों तथा समस्तपदों का पदखण्डों में, पदों का प्रकृति प्रत्ययों में, तथा सन्धि से विकृत वर्णों का मूल वर्णों में विश्लेषण कर वाणी के बाह्य पक्ष का अध्ययन चल रहा था, इधर वेदमन्त्रों के अर्थ, विनियोग आदि बताने के लिए ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-ग्रन्थों की रचना चलती रही। इन तीनों स्तरों में उत्तरोत्तर वेदप्रतिपाद्य ब्रह्म का सूक्ष्मतर विश्लेषण होता गया, और इसी क्रम से ब्रह्मरूप वाणी का भी अधिकाधिक विवेचन हुआ। यद्यपि इन सबमें अर्थविज्ञान की ही प्रमुखता रही, पर प्रसंगवश वाणी के शरीर का विवेचन, इसके विविध पार्श्वों का आलोचन, भाषा की महिमा का गान, सूक्ष्म वाणी का विश्लेषण आदि कई शाखाओं पर प्रसंगागत चर्चा मिलती है। अभी भाषा की एक-एक शाखा का विस्तृत अध्ययन नहीं आरम्भ हुआ था, अभी तो वागब्रह्म का नहीं, परब्रह्म का ही प्रतिपादन मुख्य था, वाक् की चर्चा आनुषंगिक थी।

ब्राह्मणग्रन्थों में कुछ ऐसे मन्त्रों की व्याख्या की गई है, जिनमें वाग्ब्रह्म के किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण अंश का प्रतिपादन साक्षात् या नान्तरीयक प्रकार से किया गया है। कुछ ऐसे मन्त्र उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :

१. वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता, स नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी॥ (तै० ब्रा० २।८।८)।

देहधारियों का सारा कार्यनिर्वाह वाणी से ही होता है, चाहे वे देव हों, या गन्धर्व, या मनुष्य या पशु। इन सबों का उपजीव्य वाक् ही है। बल्कि, समस्त ब्रह्माण्ड ही वाक् में ओतप्रोत है।

२. इसी तथ्य का समर्थन ऐतरेय आरण्यक का 'वाक् तन्तिर्नामानि दामानि वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्'[1] भी कर रहा है। समस्त वस्तुएँ वाक् और नाम से बँधी हुई हैं, तभी तो उन्हें पदार्थ कहते हैं।

३. इमां धियं शिक्षमाणस्य देव, क्रतुं दक्षं वरुण संशिशाधि।
ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम॥[2]

इस ऋचा की व्याख्या ऐतरेय ब्राह्मण ने इस प्रकार की है : इमां धियं शिक्षमाणस्य देव इति वारुण्या परिदधाति वरुणदेवत्यो वा एष तावद्, यावदुपनद्धो यावत् परिश्रितानि प्रपद्यते स्वया एव एनं तद् देवतया स्वेनच्छन्दसा समर्धयति। शिक्षमाणस्य देवेति, शिक्षते वा एष यो यजते। क्रतुं दक्षं वरुण संशिशाधि इति वीर्यं प्रज्ञानं वरुण

१. ऐ० आ० २।१।६।
२. ऋग० ८।४२।३ तथा ऐ० ब्रा० ३।२।

संशिशाधि तद्ध्येव दाह । ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम इति । यज्ञो वै सुतर्मानौः, कृष्णाजिनं वै सुतर्मानौः, वाग् वै सुतर्मानौः, वाचमेवतदारुह्य तया स्वर्गं लोकमभि सन्तरति । इस ब्राह्मण की व्याख्या सायणाचार्य ने इस प्रकार की है : इयम् ऋग् वरुणदेवताका, तया परिदधाति । अनुवचनं समापयेदित्यर्थः । वारुण्या समापने कारणमाह 'वरुणादेवत्यो वा' इत्यादि । यावत् काल सोम उपनद्धो वस्त्रादिना बद्धः स्याद् यावच्च परिश्रितानि प्राचीन वंशादिस्थानानि प्रतिपद्यते तावदेष सोमो वरुणदेवताको बन्धनस्य वरुण-पाशाधीनत्वात्, आवरणस्यापि वरुणाधीनत्वात् । तत् तथा सति वारुण्या परिदधानो होता स्वयैव सोमसम्बन्धिन्या एव देवतया स्वेन सम्बन्धिना छन्दसा तमेन सोमं समृद्धं करोति । अस्या ऋचस्त्रिष्टुप् छन्दः । सा च त्रिष्टुप् सोममादर्तुं द्यु लोके गत्वा दक्षिणां तपश्चाहृतवती । तथा च शाखान्तरे श्रूयते सा दक्षिणाभिश्च तपसा चागच्छत् इति । तस्मादिदं छन्दः सोमस्यः स्वकीयम् । प्रथमपादे शिक्षमाणस्येति पदं व्याचष्टे, शिक्षमाणस्य देवेति । पुनः पुनरभ्यासः शिक्षा, यजनशीलस्य सोस्ति । द्वितीयपादमनूद्य व्याचष्टे, क्रतुं दक्षमिति । द्वितीयार्द्धमनूद्य व्याचष्टे ययाति विश्वा इति । यत्र यज्ञस्य वा कृष्णाजिनस्य वा प्रस्तावः तत्र तत्परत्वेन सुतर्मशब्दो व्याख्येयः । इहतु मन्त्ररूपा वाग्' विवक्षिता । तत्तेन मन्त्रपाठे वागूरूपामेव नाव-मारुह्य तया नावा स्वर्गमभिलक्ष्य सम्यक् स्वर्गं तरति इति ।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सोम जब खरीदकर लाया जाता है, तब उसकी शक्ति, महिमा लुप्त होने लगती है (अतः, अच्छा तो यही है कि सोम स्वयं बना लें; इस भाँति उसकी ताजगी बनी रहती है । खरीदकर लाने में वह बासी हो जाता है) । इसलिए, उसकी रक्षा के हेतु मन्त्र पढ़े जाते हैं । एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात नहीं पूरे आठ मन्त्रों के पढ़ने से उसकी शक्ति की रक्षा हो पाती है । बल्कि, इसीलिए इस संख्या का नाम ही अष्ट पड़ गया, क्योंकि अश्नुवते एभिः इति अष्ट, अर्थात् जिस संख्या से प्राप्त करें (नष्ट होती हुई महिमा — अश् + क्त) । यहाँ ग्रन्थकार ने विभिन्न संहिताओं, मण्डलों और सूक्तों के आठ मन्त्र इकट्ठे किये हैं और इन्हें सोमप्रवहण के अंगभूत मन्त्र माना है । यह उद्धृत मन्त्र इन्हीं में से अन्यतम है । इस पृष्ठभूमि में इस ऋचा की व्याख्या में सायण के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण का निम्नांकित कथन है :

१. इस ऋचा का देवता वरुण है । खरीदकर लाया जाता हुआ सोम जबतक बँधा तथा ढका रहता है, तबतक वरुण ही इसका देवता होगा; क्योंकि बन्धन और आवरण दोनों वरुण के ही अधीन हैं ।

२. इसीलिए यह ऋचा त्रिष्टुप् छन्द में गाई गई है, सोम का अपना छन्द त्रिष्टुप् ही है ।

३. इसमें प्रथमपाद में कहा है शिक्षमाणस्य, अर्थात् जो सोमयाग करता है, वह इसकी शिक्षा लेता है (शिक्ष् + आन्) ।

४. द्वितीय पाद में क्रतु का अर्थ है वीर्य और दक्ष का अर्थ है प्रज्ञान ।

५. तृतीय-चतुर्थ चरणों में सुतर्मानौ का अभिप्राय है यज्ञ, अथवा कृष्णमृगचर्म, अथवा वाणी। वाणी पर ही आरूढ होकर यजमान उसके द्वारा तैरकर स्वर्ग को पहुँच जाता है। सुतर्मा की व्युत्पत्ति है **सुष्ठु तरति यया।**

इस प्रकार, यहाँ ऋग्वेद के एक मन्त्र का विनियोग भी बताया और उसका अर्थ भी स्पष्ट कर दिया। साथ ही, तीन शब्दों की निरुक्ति भी कर दी, अष्ट = अश् + क्त; शिक्षमाण = शिक्ष् + आन; तथा सुतर्मा = सु + तृ + मन्। इनमें प्रकृतियों का निर्देशन अभिधा से ही कर दिया, प्रत्ययों का आक्षेप हो गया।

इस आधार पर सायण ने इसका अर्थ यों किया है—हे वरुण देव, **इमां धियं यज्ञानुष्ठानविषयां बुद्धिं शिक्षमाणस्य अभ्यस्यतो यजमानस्य क्रतुं यज्ञविषयं वीर्यं, दक्षं यज्ञविषयप्रज्ञानं संशिशाधि, सम्यग् उपदिश, यया वाग्रूपया नावा विश्वा दुरितानि सर्वाणि पापान्यतितरेम, तादृशीं सुतर्माणं सुष्ठुतरण हेतुं वाग्रूपां नावम् अधिरुहेम, आधिक्येन आरोहणं कुर्म इति।** अर्थात्, हे वरुणदेव, इस यज्ञानुष्ठानविषयक बुद्धि का पुनः-पुनः अभ्यास करनेवाले यजमान को यज्ञविषयक शक्ति और कौशल का उपदेश दो। हमलोग सुखपूर्वक पार करने के साधन वाणी-रूप नाव पर आरूढ हों, जिससे सब पापों को पार कर जायें।

जैसे एक ही कविता को साहित्यशास्त्रियों ने किसी रस, अलंकार, गुण या नायक-नायिका-भेद के उदाहरण में, छन्दःशास्त्रियों ने किसी छन्द के उदाहरण में, वैयाकरणों ने किसी व्याकरणनियम के उदाहरण में उद्धृत किया है, उसी प्रकार प्रत्येक वेदमन्त्र के कई पार्श्व हैं, दृष्टिभेद से कई व्याख्याएँ हैं। इन्द्र बहुरूप हैं : **इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते,** अतः ऐन्द्री वाणी के भी बहुत-से रूप हैं। सामान्यतः कहते हैं कि वेदमन्त्रों की यज्ञ (कर्म)-परक व्याख्या ब्राह्मण, उपासनापरक व्याख्या आरण्यक तथा ज्ञानपरक व्याख्या उपनिषदें हैं। अतः, ऐतरेय ब्राह्मण में भी इस मन्त्र की सोमप्रवहणपरक व्याख्या की गई, यद्यपि इसमें वाणी का भी थोड़ा विश्लेषण हो गया। पर, मनन करने से इस मन्त्र में एक गम्भीरतर तथ्य का आभास मिल रहा है। पीछे बताया जा चुका है कि वाणी के चार स्तर हैं :

१. परा—पूर्ण शब्दब्रह्म, निरुपाधि।
२. पश्यन्ती—प्रतिभा, क्रियाप्रधान, द्युलोक, मित्रसदन, सूर्य।
३. मध्यमा—बुद्धि, ज्ञानप्रधान, अन्तरिक्ष, वरुणसदन, विद्युत्।
४. वैखरी —मन, इच्छाप्रधान, पृथ्वी, अग्निसदन, तेज।

इसलिए, इस मन्त्र का तात्पर्य यह है—वैखरी-वाणी पर तो मेरा अधिकार है, मैं जो चाहूँगा, जब चाहूँगा, वही और तभी बोलूँगा, अन्यथा दोनों होठ बन्द कर लूँगा। क्योंकि, वैखरी पर मन का, इच्छा का शासन है, मेरी इच्छा के विरुद्ध वह जा ही नहीं सकती। किन्तु मध्यमा वाणी पर? भीतर-ही-भीतर चल रहे विचारों, चिन्तनों पर? वहाँ तो मेरा कोई वश नहीं। मेरी गति वैखरी तक, पृथ्वी तक, अग्नि तक ही सीमित है। वह अग्नि मैं जब चाहूँ, तब प्रज्वलित कर दूँ, बुझा दूँ। परन्तु मध्यमा वाणी, चिन्तन-जगत्, अन्तरिक्ष-

क्षेत्र, वरुणसदन में तो मन का नहीं, बुद्धि का राज है। वहाँ की विद्युत् कब चमक उठेगी और कब लुप्त हो जायगी, यह मेरे मन के वश की बात नहीं। और, जब ज्ञानप्रधान बुद्धि-क्षेत्र पर ही अधिकार नहीं, तो क्रियाप्रधान प्रतिभाप्रदेश तो मेरी पहुँच से सर्वथा बाहर है। अतः, बुद्धि-क्षेत्र अन्तरिक्ष-रूप वरुणसदन के अधीश वरुण से प्रार्थना है कि मैं तो सदा उपांशु-जप, भगवत्स्मरण आदि के द्वारा इस यज्ञानुष्ठान-विषयक बुद्धि का, विश्वकल्याण, चिन्तन का शिक्षण करता ही हूँ; किन्तु आप भी मेरे ज्ञान (दक्ष - दक्षता - ज्ञान)-जगत् तथा कर्मजगत् (क्रतु - वीर्य - कर्म), अर्थात् मध्यमा तथा पश्यन्ती-प्रदेशों पर शासन करें; इनमें अपवाणी (कुविचार) नहीं घुसने दें; तभी हम सब इस वाणी के सभी क्षेत्रों को पवित्र कर पापसागर में डूबने से अपनेको बचा सकते हैं। अन्यथा, केवल वैखरी पर अधिकार करने से काम नहीं चलेगा; बुद्धि में दुर्विचार पैदा होंगे और वे ही कार्य-रूप में परिणत होंगे। वैखरी पर मैं भले ही प्रतिबन्ध लगा लूँ। इससे कुछ पापों से तो मुक्ति मिल जायगी; कटुवचन का, असत्य का, कलह का परित्याग हो जायगा; लेकिन समस्त पापों से छुटकारा नहीं मिल सकता; क्योंकि अधिकांश पापों की जड़ वाणी में नहीं, बुद्धि में है।

इस ऋचा का यही अभिप्राय है। यह जो धी, अर्थात् मध्यमा वाणी-स्वरूप बुद्धि है, वही सभी पापों से तारनेवाली दृढ नौका है, उसपर अधिकार चाहिए। और, पापसागर से तारने के लिए जो नौका होगी, उसपर अधिकार सागरपति वरुण का होना स्वाभाविक है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में उद्धृत निम्नांकित मन्त्र में भी वाणी को संसार-सागर के लिए नौकारूप ही माना गया है :

वाचं देवीं मनोनेत्रां विराजमुग्रां जैत्रीमुत्तमामेह मह्याम्।
तामादित्या नावमिवारुहामानुमतां पथिभिः पारयन्तीं स्वाहा॥ (४।१३)

चेतन-क्षेत्र वैखरी पर हम नियन्त्रण करने में सफलता पा सकते हैं, पर अर्ध-चेतन-क्षेत्र मध्यमा पर हमारा वश नहीं चलता और अचेतन-क्षेत्र पश्यन्ती, जो हमारे कार्यजगत् का बीजरूप है, तो हमारी पहुँच से ही परे है। यदि हम अर्द्धचेतन-क्षेत्र पर तथा उसके बाद अचेतन-क्षेत्र पर अधिकार कर पाते, तो हम सभी पापों से बच सकते। यही उपाय कर देवों ने भी असुरत्व पर विजय पाई थी। इस प्रकार, यह आभास मिल जाता है कि वाणी-विषयक प्रत्येक मन्त्र का अर्थ कितनी दूर तक पहुँचा हुआ है। मनन की शक्ति जितनी बढ़ती जायगी, मन्त्रों का अर्थ तरंगवृत्त की भाँति उतना ही विस्तृत होता जायगा। यही तो वाग्ब्रह्म की विशेषता है। तभी तो पतंजलि ने कहा है कि यदि एक शब्द भी ठीक से जान जायें, तो स्वर्ग तथा मर्त्य दोनों लोकों में सब कामनाएँ प्राप्त हो जायँ; क्योंकि उस एक का ही सम्यक् ज्ञान क्रमशः समष्टि के ज्ञान तक पहुँचा देगा : **एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।** ठीक जैसे एक अणु के सम्यग् ज्ञान से ही सारी सृष्टि का ज्ञान हो जाय।

वेदार्थ-विश्लेषण के लिए ब्राह्मणों को यत्र-तत्र निरुक्तियों का भी सहारा लेना पड़ा है, अतः अर्थविज्ञान की भाँति ही उनमें निरुक्तिविज्ञान के भी प्रचुर तथ्य भरे पड़े हैं, आगे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

१. आञ्जन्ति एतेन इति आज्यम् (ऐ० ब्रा० १-३), अर्थात् आ + अञ्ज् + क्यप्— आज्य ।
२. न्यङ् रोहति — न्यग्रोह— न्यग्रोध (ऐ० ब्रा० ३५।४) ।
३. विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्रः (ऐ० ब्रा० २६।५) ।
४. देवा वा इमं मह्यम् अरासतेति स ह देवरातो वैश्वामित्र असा (ऐ० ब्रा० २३।५), अर्थात् देवैः रातः—देवरातः ।
५. तज्जाया—जाया भवति यदस्यां जायते पुनः (ऐ० ब्रा० ३३।१) ।
६. विराजति इति विराट् (ऐ० ब्रा० १।६) ।

ये सभी निरुक्तियाँ ऐतिहासिक और वैज्ञानिक हैं, यह स्पष्ट है। इनमें शायद ही किसी का कोई मतभेद हो। आरण्यकों में भी ठीक इसी प्रकार अर्थ-विश्लेषण के प्रसंग से पद-पद में निरुक्तियाँ आती हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

१. अशीर्यत इति शरीरम् (ऐ० आ० २।१।४) ।
२. एभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽर्चते इति ऋक् (ऐ० आ० २।२।२) ।
३. मधुच्छन्दति इति मधुच्छन्दाः (ऐ० आ० १।१।३) ।
४. देवानां वामः वामदेवः (ऐ० आ० २।२।१) ।
५. गृत्सः (प्राणः) चासौ मदः (अपानः) गृत्समदः (ऐ० आ० २।२।१) ।
६. प्रजा वै वाजस्ता एष बिभर्त्ति भरद्वाजः (ऐ० आ० २।२।२) ।

इन सब उदाहरणों में समास तथा प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना की यथार्थता देखकर आश्चर्यमिश्रित हर्ष होता है। आज की तरह ही हजारों वर्ष पहले भी भारतीय प्रत्येक शब्द के पीछे छिपे इतिहास को ढूँढने का प्रयास करते थे, और अधिक स्थलों में सही निरुक्तियाँ ढूँढ़ लेते थे। भाषा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण कर लेते थे। कुछ स्थलों की निरुक्तियाँ सन्दिग्ध भी हैं, जैसे :

१. आहूत्यो वै नाम एता यद् आहुतय एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति, तद् आहुतीनाम् आहुतित्वम् (ऐ० ब्रा० १।३)। यहाँ आ + हु + ति से ही आहुति बनाना अधिक उपयुक्त होगा, आ + ह्वे + ति से नहीं।

२. छादयति येन तत् छदः (ऐ० आ० २।१।६)। यहाँ छद् से नहीं छदि से छन्द बनाना अधिक उचित लगता है। सम्भव है, ऐसे स्थलों में समानार्थक धातुओं का ही प्रयोग किया गया है। ऋक् भी अर्च् से नहीं, ऋच् धातु से ही बनाना ठीक होगा।

कुछ स्थलों की निरुक्तियाँ भ्रान्त भी लगती हैं। जैसे :

१. **उत्थापयति इति उक्थम्** (ऐ० आ० २।१।४) । वस्तुतः उत्+स्था से नहीं, बल्कि वच् धातु से उक्थ बनाना उचित है। यद्यपि तवर्ग का विकार कवर्ग भी होता है; जैसे पद्-पग, किन्तु उत्थ से उक्थ बना नहीं लगता, अवश्य वच् से उक्थ सिद्ध हुआ है।

२. **अत्रायत इति अत्रिः** (ऐ० आ० २।२।१)। यह अत्रि शब्द अवश्य अत् या अद् धातु से त्रि प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है, अडागम का अ यहाँ कैसे प्राप्त हो सकता है ?

३. **मादुष—मानुष** (ऐ० ब्रा० १३।१०) । जैसे वानर से बन्दर बनता है, उस प्रकार मादुष से मानुष नहीं बना है, बल्कि मन् धातु से मनुष् तथा मनुष् से मानुष बनता है।

४. **स इरामयो यदिरामयस्तस्माद्धिरण्मयः** (ऐ० आ० २।१।३)। यह हिरण्मय शब्द इरामय का विकृत रूप नहीं, बल्कि हिरण्यमय का विकार है। यद्यपि स्वरों में ह् का आगम खूब होता है, बिहारी बोलियों में उन को हुन, तथा इन को हिन, खड़ी बोली में भी ओठ को होठ कहते हैं, पर यहाँ यह प्रक्रिया नहीं है।

कुछ निरुक्तियाँ तो उपहासास्पद-सी असम्भव लगती हैं। जैसे :

१. **हृ इत्येकमक्षरम् अभिहरन्ति अस्मै, द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै, यमित्येकमक्षरम् एति स्वर्गं लोकम्** (शतपथब्राह्मण)। अर्थात्, हृदय—हृ+दा+इ।

२. **इदम् अदर्शम्—इदं द्रम्—इन्द्रम्** (ऐ० आ० २।४।३) अर्थात्, इन्द्रम्—इदम्+दृश् ?

किन्तु, ऐसी अनेक भ्रान्त निरुक्तियाँ यास्क और पाणिनि के ग्रन्थों में भी मिलती हैं। यास्क ने 'सत्य' शब्द दो धातुओं के योग से बनाया है अस्+इ। पाणिनि ने भी मानुष शब्द मनुष् से नहीं बनाकर मनु[1] से बनाया है। पाणिनि के समय में वपुष्, जनुष, धनुष् की तरह मनुष् का स्वतन्त्र प्रयोग लुप्त हो गया था, अतः उन्हें यह व्युत्पत्ति नहीं सूझी। पाणिनि के बहुत बाद कात्यायन की भी यही स्थिति थी, प्रमाद उनसे भी हुआ। 'वार्धुषिक' शब्द उन्होंने 'वृधुष्' शब्द से नहीं वृद्धि[2], शब्द से बनाया; क्योंकि वृधुष् का स्वतन्त्र प्रयोग उस समय प्राप्त नहीं था, यद्यपि उष् प्रत्यय करने पर किसी भी धातु से ऐसे शब्द बनाये जा सकते हैं। किन्तु, भ्रम और प्रमाद से मुक्त होना तो मानव के वश की बात नहीं है। यही क्या कम है कि संहिता-ब्राह्मणकाल में भी भारतीय विद्वान् निरुक्तिविज्ञान से पूर्णतः परिचित थे, इसका महत्त्व समझते थे तथा अस्सी प्रतिशत शब्दों की सही व्युत्पत्ति ढूँढ़ ली थी।

डॉ० मनमोहन गौतम का यह कहना[3] ठीक नहीं कि ऐतरेय ब्राह्मण में अपाप शब्द की व्युत्पत्ति जो अ+पाप—पापरहित की गई है, वह अशुद्ध है; वस्तुतः इसकी व्युत्पत्ति है अप + अप – जलमय। पता नहीं गौतमजी को ऐसी ऊटपटाँग बात कैसे सूझ

१. मनोर्जातावञ्यतौषुक्च, ४। । ६१।
२. वृद्धेर्वृधुषि भावो वक्तव्यः सूत्र ४।४।३० पर पठित वार्त्तिक।
३. भाषाविज्ञान का इतिहास, पृ० २।

गई ? अवश्य ही यह किसी अभारतीय विद्वान् की कुदृष्टि है। एक तो शब्द 'अप्' है; 'अप' नहीं, अतः द्विरुक्ति से 'अपाप' नहीं, 'अबप' शब्द निष्पन्न होगा। दूसरे, जलमय अर्थ में जल जल या अप् अप्-जैसा प्रयोग संस्कृत-भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं है।

अस्तु; थोड़ा ही ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि आज भी निरुक्तिविज्ञान इस दावे से बहुत दूर है कि उसमें कोई त्रुटि या प्रमाद नहीं रह गया है। हिन्दी-शब्दकोषों में गलत निरुक्तियाँ सरलता से ही मिल जाती हैं। तब एक बात अवश्य है। आज यदि किसी शब्द की व्युत्पत्ति नहीं सूझती, तो उसे छोड़ देना ही ठीक माना जाता है, उसके निर्वचन का अटकल लगाना ठीक नहीं समझा जाता। परन्तु, पहले ऐतिहासिक निरुक्ति नहीं सूझने पर भी कुछ-न-कुछ निरुक्ति अवश्य ढूँढ़ ली जाती थी। शब्द को अनिरुक्त नहीं छोड़ा जाता था। मान्यता थी कि **अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेव न निर्ब्रूयात्, न संस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति, यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।**[1] उदाहरणार्थ, शृंग की व्युत्पत्ति नहीं सूझने पर इतने अनुमान[2] लगाये गये हैं : **शृंङ्ग श्रयतेर्वा शृणातेर्वा, शरणायोद्गतमिति वा, शिरसो निर्गतमिति वा।**

किन्तु, यह बात नहीं थी कि शुद्ध निरुक्ति नहीं सूझने पर अयथार्थ निरुक्ति को ही लोग मान्यता दे दें। वह एक कामचलाऊ स्वीकृति होती थी। ऐतिहासिक वास्तविक निरुक्ति की तलाश चलती रहती थी। ऐ० ब्रा० २६।५ में तथा ऐ० आ० १।२।२ में विश्वामित्र शब्द में षष्ठीतत्पुरुष माना गया था : **विश्वस्य ह वै मित्रम्**। फिर सम्भव है, लोगों को खटका हो कि तब तो समस्त शब्द पुंलिंग नहीं, नपुंसक हो जायगा। अतः, ऐ० आ० २।२।२ में इसे बहुव्रीहि मान लिया गया—**यदस्येदं विश्वं मित्रमासीत्, यदिदं किं च, तस्माद् विश्वामित्रः।**

और, आज भी मान्यता तो यह है कि जिस शब्द की व्युत्पत्ति नहीं सूझे, उसकी बलपूर्वक खींचातानी से निरुक्ति नहीं करनी चाहिए; किन्तु व्यवहार में ऐसा खूब किया जाता है, या होता है। कारण यह है कि व्युत्पत्ति नहीं सूझती। यह सूझना भी तो कठिन है : **न बुद्ध्यते इत्यपि बुद्धिसाध्यम्**। साथ ही, लेखक को यह स्वीकार करना भी अपनी अज्ञता का ढोल पीटने-सा लगता है। कामताप्रसाद गुरु ने चमचा की व्युत्पत्ति[3] दी है चम शब्द से चा प्रत्यय, जैसे देगचा। उनके मत में यहाँ फारसी तद्धित-प्रत्यय चा जुड़ा है। मेरे एक यूरोपीय मित्र को भ्रम था कि चमचा विदेशी संस्कृति के साथ भारत में आया है; क्योंकि आजकल भारतीय परिवारों में भोजन में चम्मच का व्यवहार नहीं होता, सभी हाथ से भोजन करते हैं। किन्तु 'चमचा' के विषय में ऐसी धारणा और यह निरुक्ति जो सम्भवतः उसी पर आधारित है, दोनों घोर भ्रम हैं। ऋग्वेदकाल से ही भारत में 'चमचा' का व्यवहार होता आ रहा है। इसे 'चमस' कहते थे। देवता चमस से ही अपना पुरोडाश, हवि आदि ग्रहण करते थे। आज भी यदि कोई यज्ञ होता है, तो आहुति आदि

१. निरुक्त, २।१। २. निरुक्त, २।७। ३. वही पृ० ४६६।

के लिए, काठ का ही सही, चमस अवश्य तैयार किया जाता है। भारतीय आर्यों से ही यह चीन आदि में गया प्रतीत होता है। वहाँ सम्भवतः आज भी लोग काठ के चमचे से भोजन करते हैं। इस चमस शब्द का ही विकृत रूप है चमचा। स् का च् हो जाता है। (जैसे लालसा से लालच शब्द बन जाता है) और खड़ी बोली की विशिष्ट वस्तु है आकारान्तता, जैसे घटः से घड़ा, कलशः से कलसा, नकुलः से नेवला आदि। इसी प्रकार, हिन्दी का खिचड़ी शब्द 'कृसरी' का अपभ्रंश है, परन्तु आधुनिक संस्कृत-पण्डितों ने खिचड़ी का संस्कृत 'खिच्चरिका' लिखना आरम्भ किया है। मराठी में रामस्य का रामच्या हो जाता है। स् से च् की तरह च् से भी स् होता है। संस्कृत के अपशोच (अपशोक) का फारसी में अफसोस हो जाता है। अज्ञान के कारण ही बहुत-से संस्कृत के तद्भव शब्द विदेशी माने जाने लगे हैं। डॉ० हेमचन्द्र जोशी की मान्यता है कि 'विधवा' एक वैदिक विध् धातु से बना है, जिसका अर्थ है अलग होना। यही धातु लैटिन में विद् और अँगरेजी में डिवाइड (द्विविध) हो गया है। अतः, विधवा का अर्थ वि+धव अर्थात् पतिविहीन नहीं, बल्कि विध्+अव अर्थात् अलग हो जानेवाली (पति से) है; क्योंकि वेद में कहीं पति अर्थ में धव शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता है।' यह तर्काभास है। अलग होने के अर्थ में विध् धातु धातुपाठ में किसी गण में प्राप्त नहीं। तुदादिगण में पठित विध् धातु का अर्थ है, विधान, विध् विधाने। और, एकमात्र यही विध् धातु धातुपाठ में प्राप्त है। इसका ही प्रयोग वेद में भी मिलता है: कस्मै देवाय हविषा विधेम। पृथगर्थक विध् धातु का वेद में कहीं प्रयोग नहीं मिलता। संस्कृत का वेधस् (ब्रह्मा) शब्द भी सम्भवतः इसी धातु से बना है। अतः, अलग होने के अर्थ में एक विध् धातु है, इसका कोई प्रमाण नहीं। लैटिन का विद और अँगरेजी का डिवाइड बहुत सम्भव है भिद् धातु का अपभ्रंश हो, जिसका अर्थ है द्वैधीकरण, दो टुकड़ों में बाँट देना। यदि विध् का अर्थ वियुक्त होना होता, तो विरहिणी को भी विधवा कहते होते। और, पत्नी से वियुक्त पुरुष को विधव कहते। उसके लिए एक दूसरा शब्द विधुर (वि+धुर) क्यों बनाते? जोशीजी के मत से विधुर भी विध् धातु से ही निष्पन्न होगा, पर सधवा प्रयोग क्या अशुद्ध माना जायगा? और अमरकोषकार द्वारा धवः प्रियः पतिर्भर्त्ता (मनुष्यवर्ग, ३५) पति का पर्याय धव शब्द देना क्या गलत है? भारतीय परम्परा क्या अविश्वसनीय है? इसी प्रकार, उन्होंने हिन्दी के डोल शब्द को फारसी दुल् धातु से बताया है, संस्कृत में प्राप्त दुल् धातु से नहीं, जिससे दोल, दोला, दोलन, दोलिका आदि शब्द बने हैं। संस्कृत के दुल् धातु के ही दो तद्भव रूप हिन्दी में झूलना तथा डोलना[1] क्रियाएँ हैं, एक में तवर्ग तालव्य हो गया है, दूसरे में मूर्धन्य, झूलना से झूला, झोला, झोरा आदि तथा डोलना से डोल, डोली, डोला आदि शब्द बने हैं।

१. पिशेल के 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' में पृ० ३३१ अनु० २१४ में बताया गया है कि सभी प्राकृत वैयाकरण डोला तथा डोल शब्द संस्कृत दुल् धातु से ही बनाते हैं। डॉ० वर्मा ने भी दोलिका शब्द से ही डोली की निष्पत्ति मानी है (पृ० १६५, हिन्दी ड् का विकास)।

ब्राह्मणकाल में अर्थविज्ञान और पदविज्ञान की भाँति ध्वनिविज्ञान पर भी स्वतन्त्र रूप से विचार शुरू हो गया था। एक अवसर पर **आपो रेवतीः क्षयथ** में ओ के उच्चारण में इतनी निपुणता प्राप्त करनी पड़ती थी और उसका इतना स्पष्ट विवरण मिलता है कि आश्चर्य होता है। जैसे आजकल भी गाने में **'इस देश को हे दीनबन्धो आप फिर अपनाइए ए ए ए ए ए ए ए'** यहाँ अन्तिम ए को खींचकर ८ इकाइयों तक पहुँचाया गया है (इस पद में हे के ए, दीनबन्धो के ओ तथा अपनाइए के आ को भी अनेक इकाइयों तक खींचा जाता है) या 'बिनु पग चलय सुनय बिनु का आ आ आ आ आ आ आ ना आ आ आ आ आ आ' में एक आ को ८, दूसरे को ७ तक, उसी भाँति आपो के ओ को खींच-कर १६ इकाइयों[1] तक बढ़ाया जाता था, इस क्रिया को न्यूंखन कहते थे। इसका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार मिलता है : **तद् यत् चतुर्थम् अहः न्यूङ्खयन्ति एतदेव तद् अक्षरम् अभ्यायच्छन्ति, एतद्वर्धयन्ति, एतद् प्रविभावयिषन्ति चतुर्थस्य अह्न उद्यत्यै।**[1] यहाँ न्यूंखन शब्द की व्याख्या में तीन शब्द कहे गये हैं, ओ को **अभ्यायच्छन्ति** अर्थात् खूब फैलाकर लम्बा कर देते हैं, **वर्द्धयन्ति** अर्थात् बढ़ा देते हैं और **प्रविभावयिषन्ति**, अर्थात् इसे अति विशाल करना चाहते हैं। सायण ने इसकी व्याख्या में कहा है कि इस ओ को त्रिमात्रिक और उदात्त रूप में तीन बार उच्चारण करे, अर्थात् औ ३ औ ३ औ ३ ऐसा। फिर, इनमें से प्रथम और द्वितीय ओकार पर (बाद ?) अपरिमित अथवा प्रायः ५ एकमात्रिक अर्ध ओकार का उच्चारण करे। ये सभी या पाँचों एकमात्रिक ओ अनुदात्त होंगे। दूसरे तथा तीसरे औ ३ के बीच उसी भाँति ५ ओ रहेंगे। तीसरे त्रिमात्रिक ओकार पर तीन अनुदात्त अर्द्ध ओकार का उच्चारण करे, इनमें पहला अनुदात्ततर होगा। इस प्रकार, इसका ऐसा रूप होगा : ओ$_{३}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$ ओ$_{३}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$ ओ$_{३}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$ ओ$_{१}$, अर्थात् पहला प्लुत उदात्त ओ, फिर पाँच ह्रस्व अनुदात्त ओ, तब सातवाँ प्लुत उदात्त ओ, फिर पाँच ह्रस्व अनुदात्त ओ तब तेरहवाँ प्लुत उदात्त ओ और चौदहवाँ ह्रस्व अनुदात्ततर ओ तथा पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ ह्रस्व अनुदात्त ओ। इस प्रक्रिया से उस समय के अतिविकसित स्वरविज्ञान तथा उच्चारण-कला का आभास मिलता है। इसके लिए पारिभाषिक शब्द था न्यूंखन। भोजपुरी में इसी ढंग की क्रिया को रेघाना कहते हैं। इसमें स्वर को तरंग की भाँति फैलाया जाता है। आलाप की आत्मा यह न्यूंखन ही है। न्यूंखन संगीत में बड़ा उपयोगी है। यह मन्त्र इस न्यूंखन के साथ ही आश्वलायन श्रौतसूत्र अ० १, खं० ११ में भी मिलता है। वहीं इस न्यूंखन के अतिरिक्त एक और प्रक्रिया की चर्चा है, जिसे निनर्द कहते हैं। इसमें कोई स्वर चार इकाइयों तक फैलाया जाता है, पहली इकाई उदात्त प्लुत, दूसरी अनुदात्त प्लुत, तीसरी अनुदात्ततर अथवा स्वरित प्लुत और चौथी फिर उदात्त प्लुत। जैसे विवो$_{३}$मदो ओ$_{३}$ ओ$_{३}$ ओ$_{३}$। निनर्द में चार इकाइयों में ही बारह मात्राएँ लग

---

१. २१।३, नितराम् अत्यन्तविषमप्रकारेणोच्चारणं न्यूङ्खः। 'आपो रेवती क्षयथा अत्र ओइत्यस्य षोडशधा उच्चारणं भवति।'

जाती हैं, जब कि न्यूंखन में सोलह इकाइयों में कुल बाईस मात्राएँ रहती हैं। उत्तरषट्क के अध्याय दो में भी निनर्द का वर्णन है।

इस प्रकार, ब्राह्मणग्रन्थों में भाषाविज्ञान का काफी विस्तृत प्रारम्भिक रूप उपलब्ध है। इस दृष्टि से सभी ब्राह्मणग्रन्थों का अध्ययन बड़ा लाभप्रद होगा। गोपथब्राह्मण में तो एक स्थान पर बहुत-से ऐसे शब्दविज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों की चर्चा है, जो बाद में भी मान्य बनी रही : ओंकारं पृच्छामः, को धातुः किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्ग, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः, उपसर्गो, निपातः, किं वै व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कति मात्रः, कति वर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थान नादानुप्रदानानुकरणम्—७। लगता है ये सभी शब्द पाणिनि ने इससे लिये हैं या इसने पाणिनि से। यदि गोपथ ब्राह्मणपाणिनिपश्चाद्वर्त्ती हो, तो भी इतना तो स्पष्ट है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी भाषाविज्ञान में रुचि थी। पहले भी शतपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय तीनों से काफी उद्धरण देकर यह प्रमाणित किया जा चुका है।

आरण्यक :

ब्राह्मणग्रन्थों के बाद आरण्यकों तक आते-आते शब्दविज्ञान की ओर लोगों की रुचि यथेष्ट बढ़ गई। पदों का वर्णों में विश्लेषण तो संहिताकाल से आरम्भ होकर पदपाठ और ब्राह्मणकाल तक प्रायः पूर्ण हो चुका था। अब वर्णों की जाति का निर्धारण तथा परस्पर तुलना का भी आरम्भ हो गया। ऐतरेय आरण्यक २, अध्याय २, खण्ड ४ में लिखा है यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरं, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राणः, अर्थात् भाषा का (यहाँ के प्रसंग में बृहतीसहस्र का) पार्थिव स्थूल शरीर रूप है व्यंजनवर्ण, समुदाय, आत्मा है, घोषवर्णसमूह, तथा प्राण है ऊष्मवर्णसंघात। यहाँ एक शंका होती है। क्या स्वरों की गणना यहाँ छोड़ दी गई है? डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का कहना है कि यहाँ व्यंजनों की शरीर से इसलिए तुलना की गई है कि व्यंजन आपाततः न्यूनतर प्रत्यक्ष विषय होते हैं, पर भाषा की आत्मा से श्वास का बहिष्कार आरम्भिक अज्ञानताजन्य है, या सम्भव है, भूल से इसकी चर्चा छूट गई हो, क्योंकि प्रातिशाख्यों ने श्वास और घोष दोनों को ध्वनिसाधनों में गिनाया है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ व्यंजन का अर्थ है स्पर्श और घोष का अर्थ है स्वर (अन्तस्थ भी जिन्हें अर्धस्वर माना जाता है)। स्वरों में घोष इतना अधिक है कि पहले

---

१. 'The comparison of the consonants to the body was apparently due to their inferior perceptibility, but the exclusion of breath from the soul of speech may appear to be primitive, unless it was an error of omission, as the Pratishakhyas include both breath and voice in the sound material.' —Critical Studies in the Phonetic Observation of Indian Grammarians, Page 3.

घोष से स्वर का ही बोध होता हो, ऐसा बहुत सम्भव है। यहाँ वर्णों की तीन श्रेणियाँ बनाई गई हैं—व्यंजन, घोष तथा ऊष्म। इसलिए, घोष से स्पष्ट ही व्यंजन और ऊष्म से भिन्न स्वर वर्णों का बोध होता है। व्यंजन के अतिरिक्त ऊष्म की चर्चा से यह भी संकेत मिलता है कि व्यंजन का अर्थ केवल स्पर्शवर्ण था, अतः अन्तःस्थ का स्वर में ही अन्तर्भाव अनुमित होता है। बाद में देखा गया कि कुछ घोष तो वर्गीय तृतीय, चतुर्थ, पंचम अक्षरों में भी है, अतः यह नाम छोड़कर इन्हें स्वर कहा जाने लगा (यद्यपि घोष नाम की अतिव्याप्ति की तरह, स्वर नाम में भी अतिव्याप्ति है, उदात्तादि भी स्वर ही कहलाते हैं)। इसीलिए ऐतरेय आरण्यक के आर० ३, अध्याय २, खं० ५ में लिखा है : **पृथिव्या रूपं स्पर्शा, अन्तरिक्षस्योष्माण:, दिव: स्वरा:; अग्ने रूपं स्पर्शा, वायोरूष्माण, आदित्यस्य स्वरा:; ऋग्वेदस्य रूपं स्पर्शा, यजुर्वेदस्योष्माणो, सामवेदस्य स्वर:; चक्षुषोरूपं स्पर्शा:, श्रोत्रस्योष्माणो; मनस: स्वरा:; प्राणस्य रूपं स्पर्शा, अपानस्योष्माणो, व्यानस्य स्वरा:।** अर्थात्, वर्णों के पूर्वोक्त त्रिविध-विभाग व्यंजन, घोष और ऊष्म की जगह यहाँ स्पष्ट ही स्पर्श, ऊष्म तथा स्वर कहे गये। अन्तस्थों में अर्धस्वरता रहने से इनका अन्तर्भाव स्वरों में होता था। सर्वप्रथम 'लघुमाण्डूकेय' ने यह सुझाव रखा कि अन्तःस्थों को स्वर से भिन्न अलग एक श्रेणी में रखना चाहिए, यह चर्चा ऐ० आ० ३, अ० २, खं० १ में इस प्रकार की आई है : **तस्यैतस्यात्मन: प्राण: ऊष्मरूपम्, अस्थीनि स्पर्शरूपम् मज्जान: स्वररूपं, मासं लोहितमित्ये-तदन्यच्चतुर्थमन्तस्थारूपमिति ह स्माह ह्रस्वो माण्डूकेय:।**

इन तीनों अनुच्छेदों की संगति मिलाने से यही बात ठीक जँचती है कि पहले व्यंजन से केवल पाँच वर्गों का ही बोध होता था और घोष से स्वरों का। श ष स ह न व्यंजन माने जाते थे न स्वर, इन्हें ऊष्म कहा जाता था। य र ल व भी घोष ही कहलाते थे। फिर देखा गया कि घोषता तो पाँचों वर्गों के तीसरे, चौथे, पाँचवे अक्षरों में भी है, भले ही वह स्वरों से बहुत कम हो। इसी भाँति व्यंजनता तो ऊष्मों में भी है, भले ही वह स्पर्शों से कम हो। अतः व्यंजन, घोष, ऊष्म की जगह स्पर्श, ऊष्म, स्वर—ये तीन विभाग किये गये। फिर 'ह्रस्व माण्डूकेय' ऋषि ने कहा कि य र ल व पूर्णतः स्वर नहीं, अतः स्वर के अन्दर इनका अन्तर्भाव नहीं करना चाहिए; इनकी अलग ही एक चौथी श्रेणी माननी चाहिए; इनका नाम अन्तःस्थ रखा जाय। इस प्रकार, वर्णों के विश्लेषण तथा जातिनिर्धारण में तीन सोपान हुए, इनकी तालिका ऐसी होगी—

१. व्यंजन	घोष	ऊष्म
२. स्पर्श	स्वर	ऊष्म
३. स्पर्श	स्वर — अन्तस्थ	ऊष्म

डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का यह कथन कि व्यंजनों में सर्वाल्प प्रत्यक्षगम्यता है, ठीक नहीं जँचता। व्यंजन ही तो सबसे स्थूल प्रत्यक्षविषय हैं, इन्हें सब देखते-सुनते हैं। स्वरवर्ण तो व्यंजनों के साथ रहने पर विभिन्न मात्राओं में परिणत होकर सूक्ष्म बन जाते हैं। यदि किसी अत्यल्पशिक्षित साक्षर से पूछा जाय कि 'कवच' शब्द में कितने वर्ण हैं, तो वह झट से कहेगा तीन, क्, व् और च्, अ को तो वह देखता ही नहीं। वास्तव में हर देश की वर्ण-माला में व्यंजनों का ही बाहुल्य है, विविधता है, भाषा में इसका ही अधिक महत्त्व है। रोमन-वर्णमाला में स्वर केवल ५; पर व्यंजन २१ हैं, अरबी में स्वर कुल २, व्यंजन २६ हैं। नागरी में भी ३३ व्यंजनों की तुलना में १४-१५ स्वर या बारहखड़ी कम ही हैं। इसलिए, अधिक स्पष्टता से दृष्टिगोचर होने के कारण पहले व्यंजनों की गणना की तथा उन्हें स्थूल शरीर-तुल्य बनाया। इनमें न्यून दृष्टिगोचरता (इन्फिरियर पर्सेप्टिबिलिटी) नहीं, अधिक दृष्टिगोचरता (सुपिरियर पर्सेप्टिबिलिटी) है। इसीलिए याज्ञवल्क्यशिक्षा में कहा गया है कि **मणिवद् व्यञ्जनं विद्यात्, सूत्रवच्च स्वरं विदुः**, अर्थात् स्वररूपी अदृश्य सूत्र में मणि की तरह चमचमाते व्यंजन पिरोये रहते हैं। अतः, उपर्युक्त आरण्यक में (ऐ० आ० अ० २ खं० ४) पहले व्यंजनों की चर्चा की गई है, फिर दूसरे सिरे पर जाकर स्वरों (घोषों) का नाम लिया गया है, जो वर्णमाला में न्यूनतम दृष्टिगोचर होते हैं। वर्णमाला में, वर्ण-विन्यास में इनका स्थान गौण है। उर्दू में 'छप' लिखेंगे, आप इसे चाहे 'छिप' पढ़ें या 'छुप'; जेर ज़बर को वर्णमाला में स्थान ही नहीं मिला है। नागरी ने इन्हें वर्णमाला में तो जगह दी है, पर वर्णविन्यास में इनका स्थान गौण है। अकेले रहने पर ही ये अकड़कर सामने आते हैं—इ, उ आदि रूपों में (इधर-उधर आदि शब्दों में)। व्यंजनों के साथ रहने पर न तो इन्हें स्वतन्त्र व्यक्तित्व मिलता है, न स्थान। 'किस', 'कुछ' आदि शब्दों में इ सिकुड़ कर ि बन जाता है और उ ु हो जाता है। इस भाँति ये नीचे ऊपर, आगे, पीछे सिमटकर खड़े रहते हैं, छिपे-से।

परन्तु विना स्वरों के व्यंजनों का काम एक क्षण भी नहीं चलता, व्यंजनों के अवलम्ब स्वर ही हैं। व्यंजनों और स्वरों का नाता वही है, जो मजदूरों और मालिकों का। कारखानों में हर जगह मजदूर ही काम पर दिखाई पड़ते हैं, मालिक कहीं ऑफिस में बैठा पूरे कारखाने को नियन्त्रित करता रहता है, वही मजदूरों का अवलम्ब है। इसीलिए, स्वरों को आत्मा कहा गया है। आत्मा भी दृष्टिगोचर नहीं, उसके लिए शरीर को अतिरिक्त स्थान की आवश्यकता नहीं है। वह अति सूक्ष्म है।

इन व्यंजनों (स्पर्शों) तथा स्वरों के बीच हैं ऊष्म। अतः, इन्हें आत्मा से स्थूल तथा शरीर से सूक्ष्म प्राण की भाँति बताया और ऊष्मों का सरताज विसर्ग भी स्वर और व्यंजन—दोनों का दास बनकर रहा। किसी भी शब्द में नेतृत्व तो यह कर ही नहीं सकता, सर्वप्रथम तो यह उच्चरित हो ही नहीं सकता, सदा किसी-न-किसी स्वर के बाद ही आता है। साथ ही, आगे स्वर हो तब भी यह नहीं ठहर सकता और यदि आगे व्यंजन हो तो इसे अपनेको तदनुकूल ही परिवर्त्तित करना पड़ता है। विसर्ग के बाद यदि

जिह्वामूलीय व्यंजन हो, तो इसे भी जिह्वामूलीय ऊष्म बनना पड़ता है, उपध्मानीय हो तो उपध्मानीय ऊष्म, तालव्य हो तो तालव्य ऊष्म, मूर्धन्य हो तो मूर्धन्य ऊष्म, और दन्त्य हो तो दन्त्य ऊष्म; जैसे अन्तः + करण—अन्त ॅ करण, अन्तः + पूत—अन्त ॅ पूत, अन्तः + चर—अन्तश्चर, अन्तः + टङ्कार = अन्तष्टङ्कार, अन्तः + तल = अन्तस्तल आदि। आगे किसी भी घोष वर्ण के आने पर विसर्ग को भी घोष ही बन जाना पड़ जाता है जैसे अन्तः + गत—अन्तर्गत, या अन्तः + इत अन्तरित। अर्थात्, इसे आगे चलनेवाले स्वामी के जैसा ही बनकर रहना पड़ता है। हाँ, यदि आगे कोई नहीं आये, तब इसे स्वतन्त्र सत्ता भी मिलती है, जैसे पुनः, अतः आदि में।

डॉ० वर्मा का यह कहना भी ठीक नहीं कि प्राण का आत्मा से (भाषा की) पृथक्करण अज्ञता का परिचायक है। इस में अज्ञता नहीं, विज्ञता है, प्राण तो आत्मा से स्पष्ट ही भिन्न है।

ऊपर बताई गई बातों को ध्यान में रखकर ही स्पर्शों को पृथिवी, अग्नि, चक्षु, ऋग्वेद या प्राण का; ऊष्मों को अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद, श्रोत्र या अपान का तथा स्वरों को द्युलोक, आदित्य, सामवेद, मन या व्यान का रूप माना है। दृष्टि वही है—क्रमशः स्थूल, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम। व्यंजन शब्द का अर्थ पतंजलि ने किया है—**व्यज्यते ऽनेन स्वरः**। इस प्रकार स्वर व्यंग्य हैं, उनके व्यंजक ये व्यंजन ही हैं। व्यंजनों के अभाव में स्वर स्पष्ट नहीं होते। जब स्वर से पृथक् अन्तःस्थों का विवेक हो गया तब देवभाषा में वर्णों की चार श्रेणियाँ प्रतिष्ठापित हुई—स्वर-अन्तस्थ-ऊष्म-व्यंजन, और यह श्रेणी-विभाजन आज तक स्वीकृत है।

इन सबमें भारतीय भाषाविज्ञानियों ने स्वरों को ही मुख्य तथा मूल ध्वनि (बेसिक साउण्ड) माना है, यह ठीक ही है। इसका विस्तृत प्रतिपादन वर्णविज्ञानवाले प्रकरण में किया जायेगा।

छान्दोग्य उपनिषद् का वाक्य है : **सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तश्च वक्तव्याः।**[1] इस से स्पष्ट है कि पहले घोष केवल स्वर ही माने जाते थे। फिर, इसी उपनिषद् में दूसरी जगह एक वाक्य है : **सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः, सर्वे ऊष्माणः प्रजापतेरात्मनः, सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मनः।** यहाँ स्पष्ट ही वर्णों का तीन श्रेणियों में विभाजन है : स्वर, ऊष्म तथा स्पर्श। ठीक यही विभाजन, ऐतरेय आरण्यक के तीसरे आरण्यक के दूसरे अध्याय के पाँचवें खण्ड में भी है, जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। इस उपनिषद्-वाक्य की भी संगति जब ऐतरेय आरण्यक के **यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरं यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राणः** (२।२।४) से बिठाई जाती है, तब यह अनुमान पुष्ट हो जाता है कि प्रथम विश्लेषण में लोगों ने घोष नाम स्वरों को दिया, व्यंजन स्पर्शों को तथा ऊष्म शकारादि को। क्षितीशचन्द्र चटर्जी ने भी माना है कि ऐतरेय आरण्यक के इस वाक्य को देखने से

१. २।२२।३।५।

ज्ञात होता है कि 'स्वरों का प्रथम नाम घोष ही था और स्पर्शों का व्यंजन'', किन्तु इस प्रसंग में उनसे एक भूल हो गई है। वे आगे लिखते हैं कि इसी प्रकार शकारादि की तरह यकारादि चार भी (अन्तस्थ भी) पहले ऊष्म ही कहे जाते थे। अर्थात्, आज के ऊष्म तथा अन्तस्थ दोनों ही पहले केवल एक श्रेणी में रखे तथा ऊष्म नाम से पुकारे जाते थे। वास्तव में, इस अनुमान के लिए इनके पास कोई ठोस आधार नहीं। ऐतरेय आरण्यक में दो स्थानों पर तथा छान्दोग्य उपनिषद् में एक जगह वर्णों के श्रेणी-विभाजन के समय अन्तस्थों का नाम नहीं आया। इसमें यह परिणाम निकाल लेना कि पहले अन्तस्थों की गिनती ऊष्मों में ही होती थी, असंगत है। इतनी भद्दी भूल इतनी सूक्ष्म विश्लेषण करने-वाले वे प्राचीन आचार्य कैसे कर सकते थे? ऊष्मों में अन्तस्थता मानी जा सकती थी, पर अन्तःस्थों में ऊष्मता का सन्देह करने का तो कोई आधार ही नहीं है। उपर्युक्त सभी सन्दर्भों में अन्तस्थों का अन्तर्भाव स्वरों में अभिप्रेत है, ऊष्मों में कदापि नहीं। इसीलिए ऐतरेय आरण्य, के अध्याय २ खण्ड १ के अनुसार जब 'माण्डूकेय ऋषिक' ने अन्तस्थों को स्वर से पृथक् श्रेणी में रखा, तब स्वर के अनुपद पश्चात् ही उन्हें स्थान दिया, क्योंकि स्वरों से ही उन्हें पृथक् किया गया था। अन्यथा, उपर्युक्त अनुच्छेद में ऊष्म के बाद ही अन्तस्थ को रखा जाता।

इस चतुर्विध विभागों में व्यंजन नाम छूट गया था—स्पर्श, स्वर, अन्तस्थ, ऊष्म; ये ही चार नाम थे। अतः, लोगों को अभी खटक रहा था कि, क्या व्यंजनत्व-विभाजन का साधन नहीं हो सकता? और क्रमशः अन्वेषण से मनीषियों ने यह तथ्य पा ही लिया कि वास्तव में पूरे वर्णसमाम्नाय को केवल दो ही श्रेणियों में निःसन्देह बाँटा जा सकता है—व्यंजन और स्वर। अर्थात्, स्वर से भिन्न स्पर्श, अन्तस्थ, तथा ऊष्म, जो तीन श्रेणियाँ हैं वे तीनों वस्तुतः एक ही श्रेणी व्यंजन की तीन उपश्रेणियाँ मात्र हैं। अतः अन्त, में ये ही दो विभाग निश्कर्ष रूप में स्वीकृत हुए—**व्यञ्जनैरेव रात्रीराप्नुवन्ति, स्वरैरहानि।**[2]' व्यंजन और स्वर रात और दिन की भाँति स्पष्ट पृथक् हैं (और ऊष्म तथा अन्तस्थ दोनों सन्ध्याएँ हैं?)। वर्णों के श्रेणी-विभाजन के लिए अपनाई गई उपर्युक्त सारी उपमाओं का स्वारस्य ढूँढ़ना सम्भवतः भाषाविज्ञान के लिए उपयोगी होगा।

संहिता :

ऐतरेय आरण्यक में वर्णों के विचार के अतिरिक्त वर्णों के सन्धि-रूप विकार के आधार संहिता, वर्णों के अत्यन्त सान्निध्य, का भी सूक्ष्म विचार है। इसके तृतीय आरण्यक के प्रथम अध्याय का पाँचवाँ खण्ड केवल संहिता का ही विवेचन है। यहाँ संहिता की व्याख्या में तीन मत दिये गये है :

---

१. "Ghosh was the earlier name of vowels, Vyanjana for the mutes and Ushman for the semi-vowels, the sibilants and the aspirate h."
—Technical terms of Sanskrit Grammar, page 184.

२. ऐ० आ०, आ० २ अ० २ खण्ड ४।

१. **पूर्वम् अक्षरं पूर्वरूपम्, उत्तरम् उत्तर रूपम् योऽवकाशः पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण सा संहिता**, अर्थात् पूर्व वर्ण तथा उत्तर वर्ण के बीच जो अवकाश है, उसे ही संहिता कहते हैं।

२. 'माण्डूकेय ऋषि' ने इसमें कुछ संशोधन प्रस्तुत किया : **पूर्वमेवाक्षरं पूर्वरूपम्, उत्तरम् उत्तररूपम्, मोऽवकाशः पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण, येन सन्धिं विवर्त्तयति, येन स्वराऽस्वरं विजानाति, येन मात्राऽमात्रां विभजते, सा संहिता।** अर्थात्, पूर्व और उत्तर वर्णों का केवल अवकाश-मात्र संहिता नहीं है, बल्कि वह अवकाश-संहिता है, जिससे सन्धि सम्पादित होती है, जैसे—पुरः+हितम् = पुरोहितम्; और जिससे स्वर तथा अस्वर का विवेक होता है, जैसे 'अग्निमीले' में उत्तरपद में पदकाल की भाँति सर्वानुदात्त नहीं रहता, अपितु स्वरित और प्रचय स्वर हो जाते हैं। फिर, जिससे मात्रा और अमात्रा का विभाग होता है; जैसे **तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः** में पदकाल में 'व' के बाद ह्रस्व अकार रहता है, पर संहिताकाल में वह मात्रा नहीं रहती है, एकार मात्रा हो जाती है। साथ ही, पदकाल में इस चरण में ९ अक्षर रहते हैं, संहिताकाल में ८ ही होते हैं। इस प्रकार यहाँ वर्णपरिमाण में अन्तर आ जाता है। इन विशेषणों से विशिष्ट अवकाश को ही संहिता कहना चाहिए। देवम्+ऋत्विजम् के बीच, रत्न+धा+तमम् के बीच संहिता नहीं है, यद्यपि वर्णसान्निध्य यहाँ भी है।

३. इसमें 'माण्डूकेय' के एक पुत्र ने कुछ और संशोधन प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा : **अक्षरे खल्विमे अविकर्षन्ननेकीकुर्वन् यथावर्णमाह। तथासौ मात्रा पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण सन्धिविज्ञपनी साम तद् भवति, सामैवाहं संहितां मन्ये इति।** अर्थात्, पूर्व और उत्तर वर्णों को न तो सर्वथा पृथक् कर, न सर्वथा एक बनाकर उच्चारण है, बल्कि यथावर्ण उच्चारण होता है। अर्थात्, **तवेत्तत्०** में पूर्वपद (तव) के अन्तिम वर्ण अकार और उत्तरपद (इत्) के प्रथम वर्ण इकार का संहिताकाल में न तो अत्यन्त विश्लिष्ट पृथक् उच्चारण होगा, न किसी एक का दूसरे में सर्वथा विलयन, बल्कि दोनों स्थितियों से भिन्न यथावर्ण एकार उच्चारण होगा (ए में पहले अ का तब इ का योग है)। ऐसी दशा में इन दोनों वर्णों के बीच शास्त्रीय सन्धि का ज्ञान करानेवाली जो एक विशिष्ट उच्चारण-स्वरूप मात्रा है, वह साम है। यह साम, अर्थात् अति शीघ्रता और अतिविलम्ब के अभाव से जो समता आती है, वह ही मेरी दृष्टि में संहिता है।

माण्डूकेय-परिवार ने भाषाविज्ञान में काफी काम किया था, ऐसा प्रतीत होता है। संहिता के विश्लेषण में माण्डूकेय-परिवार का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है। क्या यहाँ माण्डूकेय के जिस पुत्र ने संहिता की नवीनतम व्याख्या की है, उसी ने अन्तस्थों का स्वरों से पृथक्करण कर वर्णों की चार श्रेणियाँ बनाईं? उसे वहाँ ह्रस्व माण्डूकेय कहा गया है। तब तो निःसन्देह वह भाषाविज्ञान का महान् आचार्य था। संहिता की एक और व्याख्या ऐतरेय आरण्यक के तीसरे आरण्यक के प्रथम अध्याय में ही मिलती है।

४. पृथिवी पूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपं वायुः संहितेति माण्डूकेयः, आकाशः संहितेति माक्षव्यः, वाक् पूर्वरूपं मन उत्तररूपं प्राणः संहिता; तद् यत्र एतद् अधीते वा भाषते वा वाचि तदा प्राणो भवति, वाक् तदा प्राणं रेळिह अथ यत्र तूष्णीं वा भवति स्वपिति वा प्राणे तदा वाग् भवति, प्राणस्तदा वाचं रेळिह (रेढि), तावन्योन्यं रीळहः। इसमें तीन खण्ड हैं—

(क) पृथिवी पूर्वरूप है, दिव् उत्तर रूप है और वायु इनमें संहिता है। यह माण्डूकेय का विचार है, जिनका संहिता के विषय में ऊपर भी एक वक्तव्य उद्धृत किया जा चुका है।

(ख) माक्षव्य ऋषि का मत है कि पृथिवी और दिव् के बीच वायु नहीं, आकाश-संहिता है।

पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि वैखरी वाणी का सम्बन्ध पृथ्वी तथा तेज से है और पश्यन्ती का द्युलोक और सूर्य से तथा मध्यमा का अन्तरिक्ष और वायु से। माक्षव्य के अनुसार जिस प्रकार पृथ्वी और द्यौ के बीच अन्तरिक्ष या आकाश स्थित है और वही इन दोनों को परस्पर जोड़ता है, ठीक उसी प्रकार वैखरी नाद और पश्यन्ती नाद के बीच मध्यमा नाद स्थित है, जो इन दोनों को जोड़ता है। पृथ्वी का अन्त, लक्ष्य द्यौ ही है। द्यावापृथिवी में द्यु ही पितर है, पोषक है, पृथिवी पोषिता है, यही इस युग्म का रहस्य है और इन दोनों का योजक है—अन्तरिक्ष या आकाश। वही दोनों का सम्बन्धसूत्र है—ग्रन्थिबन्धन है। ठीक इसी भाँति पश्यन्ती और वैखरी में पश्यन्ती ही पोषक है, वैखरी पोषिता है, और इन दोनों का सम्बन्धसूत्र मध्यमा है। यह माक्षव्य का संकेत है।

माण्डूकेय का कहना है कि पृथिवी ठोस पदार्थ है और द्यु निराकार। ऐसी स्थिति में इन दोनों के बीच अन्तरिक्ष या आकाश जैसी पूर्णतः निराकार वस्तु कैसे संहिता होगी। इनके बीच संहिता तो ऐसी होनी चाहिए, जो साकारता-निराकारता के मध्य सोपान जैसी वस्तु हो और ऐसी वस्तु आकाश नहीं, आकाशस्थित वायु है। अतः, द्यु और पृथिवी के बीच सन्धिसूत्र या सम्पर्क की स्थापना वायु करती है। वैखरी और पश्यन्ती के बीच आनेवाली मध्यमा भी ऐसी ही है, जो पश्यन्ती की भाँति पूर्णतः अबोध्य भी नहीं, वैखरी की भाँति पूर्णतः बोध्य भी नहीं, दोनों के बीच की है। माक्षव्य का विचार है कि पृथिवी को द्यु तक पहुँचानेवाली कड़ी वही हो सकती है, जो पृथिवी से कम और द्यु से अधिक सदृश हो, समीप हो। अस्तु; दोनों के कहने में कुछ स्वारस्य है, परन्तु संहिता की मध्यवर्त्ती स्थिति की रक्षा के लिए माण्डूकेय का मत ही अधिक उपयुक्त है।

(ग) तीसरे खण्ड में वैखरी वाणी का ही विश्लेषण है। पिछले पृष्ठों में दिखाया जा चुका है कि शब्दपंक्ति में वैखरी का जो स्थान है, वही अर्थपंक्ति में मन का; क्योंकि यह वाणी इच्छाप्रधान है। इस वाङ्मनस रूप युग्म में भी वाक् पोषिता है और मन उसका पोषक। वाक् का लक्ष्य है चिन्तन तक पहुँचना और इसमें सन्धिसूत्र जोड़ने-

वाला प्राण है। जब मनुष्य बोलता रहता है, तब वाणी में प्राण निमग्न हो जाता है, अर्थात् वाणी प्राण को निगल लेती है और इस प्रकार वाङ्मनस का व्यवधान मिट जाता है और जब मनुष्य मौन धारण करता है, तब प्राण में ही वाक् निमग्न हो जाती है। इस प्रकार, वाङ्मनस का व्यवधान मिट जाता है। यह बड़ा ही अच्छा विश्लेषण है।

ऐसा प्रतीत होता है कि संहिता का विश्लेषण यहाँ आध्यात्मिक या रहस्यात्मक सूक्ष्मता तक पहुँच गया है। सम्भव है; क्योंकि शब्दब्रह्म में निष्णात बनाकर परम ब्रह्म की प्राप्ति ही तो भाषाविज्ञान का भी लक्ष्य रखा गया है। क्या वाक् का प्राण में तथा प्राण का वायु में विलयन क्रमशः पररूप और पूर्वरूप का ही संकेत नहीं है? आखिर प्र + एषण = प्रेषण में पूर्ववर्ण का उत्तरवर्ण में तथा हरे + अव = हरेऽव में उत्तरवर्ण का पूर्व-वर्ण में सर्वथा विलयन ही तो है!

फिर, क्या ईश्वर उत्तररूप, जीव पूर्वरूप तथा प्रकृति संहिता है? द्यौ, पृथिवी तथा वायु का क्रमशः यही संकेत है? जीव कभी प्रकृति में लीन होकर कभी प्रकृति को अपने में लीन कर ईश्वर से व्यवधान बनाये रखता है? पूर्वरूप पररूप की यही आध्यात्मिक ध्वनि है?

उपनिषद् :

उपनिषदों में यद्यपि सारा ध्यान ब्रह्म की व्याख्या में ही केन्द्रित रखा गया है, ब्राह्मण-आरण्यक की भाँति इधर-उधर की प्रासंगिक बातें (डाइवर्शन) कम ही है, तथापि भाषा के किसी-न-किसी पक्ष पर यत्र-तत्र बिखरे विचार इसमें भी खूब मिलते हैं। पिछले पृष्ठों में कई जगह छान्दोग्य, बृहदारण्यक, जैमिनीय, ब्रह्मबिन्दु आदि उपनिषदों से अनेक उद्धरण दिये जा चुके हैं।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के प्रपाठक ७, ८ तथा ९ का नाम तैत्तिरीयो-पनिषद् है। इनमें सप्तम प्रपाठक, जिसे तैत्तिरीयोपनिषद् की 'शीक्षावल्ली' कहते हैं, सांहिती उपनिषद् कही जाती है। यह पूरी वल्ली ही भाषाविज्ञान की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके तीसरे अनुवाक में संहिता की जो विस्तृत व्याख्या है, वह ऐतरेय आरण्यक में पीछे दिखाये गये संहिता-बिचार से भी अधिक परिपक्व और गम्भीर है। यहाँ संहिता की निम्नलिखित ५ व्याख्याएँ मिलती हैं :

१. पृथिवी पूर्वरूप, द्यौ उत्तररूप, आकाश सन्धि तथा वायु सन्धान है। यह अधिलोक संहिता है।

२. अग्नि पूर्वरूप, आदित्य उत्तररूप, जल सन्धि तथा विद्युत् सन्धान है। यह अधिज्यौतिष संहिता कहलाती है।

३. आचार्य पूर्वरूप, छात्र उत्तररूप, विद्या सन्धि तथा प्रवचन (अध्यापन) सन्धान है। यह अधिविद्य संहिता है।

४. माता पूर्वरूप, पिता उत्तररूप, प्रजा सन्धि तथा प्रजनन सन्धान है। यह अधिप्रज संहिता है।

५. निचला हनु पूर्वरूप, उपरला हनु उत्तररूप, वाक् सन्धि तथा जिह्वा सन्धान है। यह अध्यात्म संहिता है। ये पाँच महासंहिताएँ उक्त आरण्यक में मानी गई हैं।

इनमें प्रथम महासंहिता का वर्णन ऐतरेय आरण्यक में भी आया है, परन्तु दोनों में कुछ अन्तर है। ऐतरेय आरण्यक में संहिता के लिए तीन ही वस्तुओं की स्थिति आवश्यक मानी गई है, पूर्वरूप, उत्तररूप तथा सन्धि। इस संहिता-स्वरूप के व्याख्याता दो ऋषियों में इसी कारण मतभेद हो गया है। माण्डूकेय और माक्षव्य दोनों ही ऋषि पृथिवी को पूर्वरूप तथा द्यौ को उत्तररूप मानते हैं, परन्तु इन दोनों के बीच सन्धि माण्डूकेय वायु को मानते हैं, माक्षव्य आकाश को। तैत्तिरीयोपनिषद् ने संहिता में एक वस्तु और जोड़कर संहिता की व्याख्या भी पूर्ण कर दी है, और यह विवाद भी मिटा दिया है। इसके अनुसार पृथिवी और द्यौ के बीच आकाश सन्धि तथा वायु सन्धान है। यहाँ सम्भवतः सन्धि का अर्थ है—मध्यभाग और सन्धान का अर्थ है—दोनों में परस्पर सम्बन्ध करनेवाला। पाँचवीं संहिता ध्वनिविज्ञान में बहुत उपयोगी है। दोनों हनुओं तथा जिह्वा का ध्वनियों-वर्णों के उच्चारण में कितना महत्त्व है, यह लोगों ने आँक लिया था। बाद में भी ये वर्णोच्चारण में करण माने गये हैं। संहिता की यह पंचविध व्याख्या ऐतरेय आरण्यक के चिन्तन का विकास ही प्रतीत होती है। इसका महत्त्व अनुसन्धातव्य है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की 'शीक्षावल्ली' का द्वितीय अनुवाक तो शिक्षा-वेदांग का मूल ही प्रतीत होता है, यद्यपि वह अतिसंक्षिप्त है : **शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः**, इतना ही। इनमें अकारादि वर्ण हैं, उदात्तादि स्वर हैं, ह्रस्वादि मात्राएँ हैं। बल का अर्थ है— शब्दोच्चारण में प्राण का प्रयत्न-रूप (महाप्राणता-अल्पप्राणता), साम का अर्थ है वर्णों का मध्यमावृत्ति से उच्चारण-रूप समता तथा सन्तान का अर्थ है संहिता। यह शंकराचार्य की व्याख्या है। शिक्षा-वेदांग की सारी बातें इनपर ही केन्द्रित हैं। आश्चर्य है कि शिक्षावल्ली में इनमें से केवल संहिता की ही व्याख्या है, वह भी रहस्यवादी ढंग की। शेष किसी अंश की चर्चा तक भी पूरी वल्ली में नहीं है, यद्यपि इसका नाम है—शिक्षावल्ली। अवश्य ही यह शिक्षा का श्रीगणेश है, 'शिक्षा' का 'शीक्षा' भ्रमजनित अथवा वैदिककालीन लोकभाषा के प्रभाव से हो सकता है।

इस प्रकार, वैदिक साहित्य के चारों स्तरों—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में भाषाविज्ञान के बहुत-से तत्त्व बिखरे पड़े हैं। इनका पिछले पृष्ठों में दिग्दर्शन-मात्र कराया गया है। यदि सभी संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों का मन्थन किया जाय, तो इनमें भाषाविज्ञानोपयोगी अनन्त रत्न मिलेंगे। इसी प्रकार, अनुक्रमणी, बृहद्देवता आदि में भी उपयोगी अंश प्राप्त हो सकते हैं।

इस अवसर पर जब हम यह सोचने का प्रयास करते हैं कि भारत में भाषाविज्ञान का इस प्रकार आंशिक रूप से अध्ययन-विवेचन कब से आरम्भ हुआ, तब वेदों के रचना-काल के विषय में विभिन्न आचार्यों का मत आश्चर्य में डाल देता है। मैक्समूलर के अनुसार १२००, विण्टरनित्ज़ के अनुसार २५००, जेकोबी के अनुसार ४५०० बी० सी० में वेद वर्त्तमान थे। भारतीय विद्वान् तो इसे और भी पहले ले जाते हैं। भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा कितनी पुरानी है!

●

तृतीय अध्याय

ध्वनि-विज्ञान

शिक्षा और प्रातिशाख्य :

भाषाविज्ञान का इतना सर्वतोमुख प्रतिपादन तो वैदिक साहित्य के केवल उन ग्रन्थों में पाया जाता है, जिनका मूल उद्देश्य भाषा की नहीं, ब्रह्म की व्याख्या है। वैदिक साहित्य तो इस विज्ञान का (जैसे और भी अनेक विज्ञानों का) उत्स-मात्र है। संहिता-काल तक भाषा के अध्ययन की केवल भूमि तैयार की गई है। भाषा का साक्षात् विवेचन तो वेदांगकाल से आरम्भ हुआ है। वेदों की व्याख्या के लिए जो छह अंग बनाये गये, उनमें चार केवल वाक् के स्वरूप के विवेचन के लिए ही हैं—शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण और छन्द। इसीसे प्रतीत होता है कि भारत में ब्रह्म का मुख्यतम अंग या पक्ष वाक् ही मानी जाती थी। शिक्षा में वर्ण-ध्वनियों का, निरुक्त में पदों का, व्याकरण में वाक्यों का और छन्द में मात्राओं तथा स्वरों का विवेचन है। इन अंगों में प्रातिशाख्यों की चर्चा नहीं है, किन्तु प्रातिशाख्यों में एकमात्र भाषा का ही विश्लेषण है। वैसे तो बृहद्देवता, अनुक्रमणी आदि ग्रन्थों में भी शब्दविज्ञान की बातें भरी पड़ी हैं, पर प्रातिशाख्यों की बात ही कुछ और है। वे शत-प्रतिशत ध्वनिविज्ञान के ग्रन्थ हैं। वास्तव में, प्रातिशाख्य शिक्षा के ही अंगभूत हैं, अन्तर्गत हैं।

शिक्षा और प्रातिशाख्य का परस्पर सम्बन्ध :

'पाणिनीय शिक्षा की भूमिका' में श्रीमनमोहन घोष ने कहा है कि शिक्षा-वेदांग प्रायः १००० से ६०० ई० पूर्व तक लिखे गये तथा प्रातिशाख्य, जिसे वे 'सेकण्डरी शिक्षा' कहते हैं, ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक में लिखे गये। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने आरम्भिक शिक्षाशास्त्रों का काल ८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक तथा प्रातिशाख्यों का काल ५०० ई० पू० से १५० ई० पू० तक माना है।[1] भाषाविज्ञानियों का मत है कि सामान्य ध्वनिविज्ञान (जेनरल फोनेटिक्स) शिक्षा का लक्ष्य है और प्रातिशाख्य का प्रतिपाद्य प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान (ऐप्लायड फोनेटिक्स) है। शिक्षा ने सभी प्राप्त ध्वनियों का विश्लेषण किया, प्रातिशाख्य ने यह बताया कि किस शाखा में (वेदों की ११३० शाखाओं की चर्चा मिलती है), किस विशेष ध्वनि के उच्चारण आदि में क्या अन्तर पड़ता है। किसी शाखा ने किसी एक ध्वनि को मान्यता नहीं दी है और किसी ने किसी दूसरी को। इस हिसाब से प्रातिशाख्य ग्रन्थ अधिक होने चाहिए थे। परन्तु, डॉ० वर्मा ने जहाँ

---

१. द्र० 'क्रिटिकल स्टडीज इन दि फोनेटिकल आबजरवेशन्स ऑव इण्डियन ग्रामैरियन्स'।

६५ तक स्वयं शिक्षा-ग्रन्थ अपनी आँखों देखे हैं, वहाँ प्रातिशाख्य प्रायः ६-७ ही मिलते हैं। क्या इसका यह अर्थ लगाया जाय कि प्रातिशाख्यों का किसी समय विशाल वाङ्मय था, जो आज काल-कवलित हो चुका है, प्राप्त प्रातिशाख्य तो केवल उसके छीजन हैं। वस्तुतः, प्राप्त प्रातिशाख्यों में शाखाभेद दृष्टिगत नहीं होता। किन्तु, इस नाम का अभिप्राय तो यही है। प्रत्येक शाखा में व्यवहृत-स्वीकृत ध्वनियों का जिसमें विश्लेषण हो, उसे ही तो प्रातिशाख्य कहेंगे! तो क्या प्रातिशाख्यों के अधिक भाग के नष्ट हो जाने पर, बहुत-सी शाखाओं का प्रतिनिधित्व समाप्त हो जाने से इस वाङ्मय का नये सिरे से सम्पादन हुआ, जिसमें शाखागत विभिन्नताएँ छोड़ दी गईं, अथवा विभिन्न शाखाओं का नामग्रहण नहीं किया गया तथा केवल मुख्य शाखाओं की मान्यताएँ दे दी गईं? परन्तु, प्राचीन नाम 'प्रातिशाख्य' की स्मृति अवश्य रखी गई? हो सकता है।

अब तो अधिक आचार्यों की मान्यता यही है कि अधिकांश शिक्षाग्रन्थ प्रातिशाख्यों के बाद लिखे गये और कुछ ही शिक्षाग्रन्थ प्रातिशाख्यों के पहले लिखे गये, जिन्हें प्रातिशाख्यों ने आधार बनाया। साथ ही, जिस वेदांग-शिक्षा को प्रातिशाख्यों ने आधार बनाया, वह अब प्राप्त भी नहीं। इस समय प्राप्त सभी शिक्षाग्रन्थ प्रातिशाख्यों से नवीन हैं। सम्भव है, पाणिनि-शिक्षा ही वेदांग-शिक्षा हो, किन्तु इसका वर्त्तमान रूप सर्वथा परिवर्त्तित-परिवर्द्धित है। कुछ लोग इसे पाणिनि के अनुज पिंगल की रचना मानते हैं। उनके अनुसार पाणिनि के व्याकरण के 'खिल' की भाँति उनके भाई पिंगल ने एक शिक्षा-ग्रन्थ तथा एक छन्दोग्रन्थ (पिंगलच्छन्दःसूत्र) की रचना की।

पाणिनि-शिक्षा का सर्वोत्तम संस्करण डॉ० मनमोहन घोष का ही माना जाता है। उन्होंने पाणिनीय शिक्षा के छह रूप बताये हैं:

१. संस्कृत मूल १८ श्लोकवाला;
२. अग्निपुराणान्तर्गत २१ श्लोकवाला;
३. पंजिकाभाष्य-सहित, २३ श्लोकवाला;
४. शिक्षाप्रकाश व्याख्या-सहित ३२ श्लोकवाला;
५. यजुःशाखीय ३५ श्लोकवाला तथा
६. ऋक्शाखीय ६० श्लोकवाला।

स्वामी दयानन्द ने वेदांगप्रकाश, भाग १ के रूप में 'पाणिनीयशिक्षा' का एक भिन्न ही संस्करण निकाला है—'वर्णोच्चारणशिक्षा।' यह श्लोकबद्ध नहीं, सूत्रबद्ध है। इसमें ८६ सूत्र हैं, जिनमें दो-चार श्लोक भी हैं। डॉ० रघुवीर ने भी एक 'पाणिनिशिक्षा'[1] निकाली है।

शिक्षाग्रन्थों में पाणिनीय शिक्षा ही प्रामाणिकतम तथा प्राचीनतम है, शेष बहुत बाद की हैं। पीछे दिखाये तैत्तिरीय आरण्यक[2] के सप्तम प्रपाठक, द्वितीय अनुवाक की

१. 'डिसकवरी ऑव दि लौस्ट फोनेटिक सूत्राज़ ऑव पाणिनि'।
२. अथवा तैत्तिरीय उपनिषद् की 'शीक्षावल्ली'।

पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि आरण्यक-काल से ही ध्वनि-विज्ञान पर विस्तार से विचार होने लगा था। साथ ही, ध्वनि-विज्ञान के इतने पक्षों पर विचार होना प्रमाणित करता है कि प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीयों ने ध्वनियों का पूर्ण विश्लेषण कर दिया था। डॉ० वर्मा[1] ने लिखा है कि उन्होंने ६५ शिक्षाग्रन्थ स्वयं देखे हैं, यद्यपि उन्होंने उनके नाम नहीं गिनाये हैं। 'पाणिन्यादिशिक्षासंग्रह' में केवल ३२ शिक्षाओं का संकलन है।

प्रातिशाख्यों में भी प्रायः वे ही विषय हैं, जो शिक्षा में, यह पहले कहा जा चुका है। श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' में शिक्षाग्रन्थों की चर्चा नहीं की है। उन्होंने व्याकरणशास्त्र के तीन विभाग किये हैं—१. छान्दस मात्र, २. लौकिक मात्र तथा ३. लौकिक-वैदिक उभयविध। छान्दस व्याकरणों के उन्होंने निम्नलिखित नाम दिये हैं :

१. ऋक्-प्रातिशाख्य – शौनक-कृत।
२. वाजसनेय (शुक्लयजुः) प्रातिशाख्य—कात्यायन-कृत।
३. तैत्तिरीय (कृष्णयजुः) प्रातिशाख्य।
४. मैत्रायणीय (कृष्णयजुर्वेदीय) प्रातिशाख्य।
५. अथर्व-प्रातिशाख्य।
६. साम-प्रातिशाख्य (पुष्पसूत्र या फुल्लसूत्र)—वररुचिकृत।

इनके अतिरिक्त दो प्रातिशाख्य अप्राप्य हैं, इनके नामों की चर्चा मिलती है :

१. आश्वलायन प्रातिशाख्य।
२. चारायण प्रातिशाख्य।

प्रातिशाख्य-सदृश ही वैदिक स्वरादि बतानेवाले निम्नलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं :

१. ऋक्तन्त्र—शाकटायन या औदव्रजि-प्रणीत।
२. लघु ऋक्तन्त्र।
३. अथर्व चतुरध्यायी—शौनक-प्रणीत।
४. प्रतिज्ञासूत्र—कात्यायन-कृत।
५. भाषिक सूत्र—कात्यायन-कृत।
६. सामतन्त्र औदव्रजि गार्ग्य-कृत (छन्दोविचार)।
७. अक्षरतन्त्र—आपिशलि-कृत (छन्दोविचार)।

बहुत सम्भव है, जिस प्रकार बहुत-सी शाखाएँ लुप्त हो गई हैं, उसी प्रकार बहुत-से प्रातिशाख्य भी लुप्त हो गये हों।

ऋक्-प्रातिशाख्य-सूत्रों पर आधृत एक 'उपलेख' नाम का संक्षिप्त ग्रन्थ भी प्राप्त है, जो ऋक्-प्रातिशाख्य का ही परिशिष्ट है। इसी प्रकार बहुत-सी 'अनुक्रमणी',

---

१. 'क्रिटिकल स्टडीज़', पृ० ४-५।

'सूत्र', 'परिशिष्ट', 'पद्धति', 'व्यूह' आदि छोटी-छोटी रचनाएँ हैं, जिनमें छन्द, देवता आदि के अतिरिक्त भाषाविज्ञान की भी सामग्री प्राप्त होती है। अभी तक इन सबका प्रकाशन भी दुर्लभ है, अध्ययन-समीक्षा तो दूर की बात रही। इनमें शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन की अनुक्रमणी बहुत प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ मानी जाती है। प्रातिशाख्यों में भी आजकल तो ऋक्-प्रातिशाख्य को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीनतम मानते हैं, किन्तु पं० सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार 'साम-प्रातिशाख्य' या 'पुष्पसूत्र' ही प्राचीनतम प्रातिशाख्य है; दर्शनों में प्राचीनतम मीमांसादर्शन में भी इसके उद्धरण मिलते हैं। निःसन्देह इस विस्तृत वाङ्मय का अधिकांश लुप्त है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने उपलब्ध प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में उद्धृत ५७ आचार्यों का नामोल्लेख किया है। इनमें से १० का परिचय उन्होंने विस्तार से दिया है। उनके नाम ये हैं: इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, वैयाघ्रपद्य, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनकि, गौतम और व्याडि। मीमांसकजी कहते हैं[1]: 'ऋक्-प्रातिशाख्य निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है, अन्य प्रातिशाख्यों के विषय में हम अभी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते।'

छह वेदांगों में गणना शिक्षा की ही की गई है[2], प्रातिशाख्यों की नहीं। इनमें भी जो शिक्षा सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक मानी जाती है, वह है पाणिनीय शिक्षा। डॉ० वर्मा आदि के अनुसार प्रत्येक प्रातिशाख्य किसी-न-किसी अपने से पूर्ववर्ती सामान्य शिक्षाग्रन्थ की शाखानुसारिणी व्याख्या है, परन्तु मीमांसकजी के अनुसार पाणिनि-शिक्षा से भी प्राचीन है—ऋक्-प्रातिशाख्य। ऐसी स्थिति में प्रतीत होता है कि बहुत-से प्राचीन शिक्षाग्रन्थों के भी मौलिक रूप लुप्त हैं। अतः, एलेन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रातिशाख्य[3]-ग्रन्थ भले ही तैत्तिरीय आरण्यक में चर्चित प्राचीन शिक्षाग्रन्थों पर आधृत हों, पर वर्त्तमान सभी शिक्षागन्थ वर्त्तमान प्रातिशाख्यों के बाद की रचनाएँ हैं।

---

१. व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ५२।

२. "Whilst it is likely that the Pratishakhyas are based on an early Siksa (such as that referred to in the Taittiriya Aranyaka) our extant texts of the latter appear to be of later date than the former."

३. "Whilst it is likely that the Pratishakhyas are based on an early Siksa (Such as that referred to in the Taittiriya Aranyaka) our extant texts of the latter appear to be of later date, than the former. The most important of them the so called Panini Siksa is sometimes claimed as the original Siksa and in consequence put back to a very early date. But this, as also its attribution to Panini, is highly doubtful."

—Allen, Page 5.

एलेन के अनुसार तो 'वर्त्तमान तथाकथित पाणिनि-शिक्षा न तो सबसे प्राचीन है, न पाणिनि-रचित'। इस ग्रन्थ के उपक्रम में **अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा**[1] (अब मैं पाणिनि के मत के अनुसार शिक्षा का प्रवचन कर रहा हूँ) की उक्ति तथा उपसंहार में **येनाक्षरसमाम्नायम्**[2] इस श्लोकत्रय से पाणिनि की प्रशस्तिगाथा भी यही प्रमाणित कर रही है कि यह प्राप्त शिक्षा पाणिनिकृत मूल ग्रन्थ नहीं है।

अस्तु; प्राप्त मुख्य शिक्षा तथा प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में कौन मौलिक कृति है, कौन मौलिक कृति पर आधृत पीछे की रचना; कौन पूर्ववर्त्ती है, कौन उत्तरवर्त्ती; किस का क्या रचनाकाल है आदि विवादास्पद विषयों की समीक्षा में न जाकर यहाँ केवल दोनों वाङ्मयों में से कुछ मुख्य तथा प्रसिद्ध ग्रन्थों का अध्ययन प्रस्तुत कर यह देखने का प्रयास किया जायगा कि इन दोनों शाखाओं में कहाँतक ध्वनि का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। वास्तव में, दोनों ध्वनि-विज्ञान के ही ग्रन्थ हैं, प्रातिशाख्य-शिक्षा के ही विशद विवेचन-स्वरूप हैं। शिक्षा का प्रारम्भिक नाम सम्भवतः वर्णोच्चारणशिक्षा या वर्णशिक्षा था। आजकल भी नामार्धग्रहण[3] से जिस प्रकार पूरे नाम का ग्रहण हो जाता है, देवदत्त की जगह 'देव' या 'दत्त' मात्र कहने से देवदत्त का बोध हो जाता है, उसी भाँति वर्णशिक्षा के लिए शिक्षा नाम लाघवात् चल पड़ा होगा। साथ ही, यह भी बात है कि शिक्षा का प्रथम सोपान वर्णशिक्षा ही है। ऋक्-प्रातिशाख्य को भी वर्णशिक्षा नाम से पुकारा गया है; **निन्दन्त्य-कृत्स्नेति च वर्णशिक्षाम्**।[4] अतः, शिक्षा के अन्तर्गत ही प्रातिशाख्यों का अन्तर्भाव सर्वस्वीकृत है।

सायण ने अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका में कहा है कि **वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा**, अर्थात् जिस में वर्ण, स्वर आदि उच्चारणप्रकारों का उपदेश हो, उसे शिक्षा कहते हैं। यह परिभाषा दोनों में लागू है। वैसे आज भी भाषण या वाचन में शुद्ध उच्चारण का महत्त्व कम नहीं है; परन्तु वैदिक अध्ययन में इसका और ही महत्त्व था। **मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह, स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्**।[5] यदि मन्त्र में किसी वर्ण या स्वर का गलत उच्चारण होता है, तो विवक्षित अर्थ की प्रतीति तो नहीं ही होती, वह वाणी वज्र होकर यजमान को ही मार देती है, जैसे वृत्र के लिए जपे गये **इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व** मन्त्र में अन्तोदात्त की जगह पूर्वपदप्रकृतिस्वर कहने से वृत्र के द्वारा इन्द्र के वध की जगह, इन्द्र के ही द्वारा वृत्र का वध पूर्ण हुआ। यहाँ इन्द्रशत्रु शब्द में स्वर की अशुद्धि से जैसे गलत अर्थ निकला, वैसे ही यदि कोई आज भी 'इन्द्रसुत' की जगह 'इन्द्रसूत' उच्चारण करे, तो गलत अर्थ

१. पाणिनीय शिक्षा, श्लोक १।
२. वही, श्लोक ५७, ५८, ५९।
३. अजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः।—अष्टाध्यायी, ५।३।८३।
४. ऋक् प्राति० १४।६८।
५. पस्पशाह्निक तथा पाणिनिशिक्षा, ५२।

की प्रतीति होगी ही। **यो वा इमां पदशः स्वरशः अक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति**[1] से भी स्वर और अक्षर के शुद्ध उच्चारण पर ही बल दिया गया है। वेदांगों में शिक्षा को ही प्रथम स्थान देना भी यही प्रमाणित करता है कि शुद्ध उच्चारण की आवश्यकता, सर्वप्रथम और सर्वप्रधान मानी जाती थी। शुद्ध उच्चारण के बाद अर्थज्ञान के लिए व्याकरण तथा निरुक्त का तथा वाणी में माधुर्य के ज्ञान के लिए छन्दःशास्त्र का प्रणयन हुआ। छहों अंगों में भाषाविज्ञान के इन चारों अंगों का यही क्रम भी रखा गया है।

भाषाविज्ञान में जैसे आजकल सबसे अधिक ध्यान ध्वनि-विज्ञान पर दिया जा रहा है, वैसा भारत में भी पहले होता था। ध्वनि-विज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों का, शिक्षा, प्रातिशाख्य का संस्कृत में विशाल वाङ्मय है। 'सर्वसम्मत शिक्षा' की इस उक्ति से कि **शिक्षा च प्रातिशाख्यं च विरुध्येते परस्परम्, शिक्षैव दुर्बलेत्याहुः सिंहस्येव मृगी यथा**, अर्थात् "यदि शिक्षा और प्रातिशाख्य में विरोध पड़े, तो शिक्षा ही दुर्बल पड़ती है, जैसे सिंह के सामने मृगी।" एलेन सम्भवतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रातिशाख्य ही शिक्षा से अधिक प्राचीन है।[2] परन्तु, भाषाविज्ञान के सिद्धान्त **यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्** से तो यही प्रतीत होता है कि शिक्षा की व्याख्या ही प्रातिशाख्य है। जिस प्रकार पाणिनि से अधिक प्रामाणिकता कात्यायन और पतंजलि की है; क्योंकि इनके समय में भाषा का पहले से अधिक विकास, परिवर्त्तन और अध्ययन का अवसर था, उसी प्रकार शिक्षा से अधिक विवरण प्रातिशाख्यों में मिलता है। बल्कि, तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त वातावरण शिक्षा से कहीं अत्यधिक प्रातिशाख्यों को प्राप्त था। कई वर्णों के उच्चारण में विभिन्न प्रातिशाख्यों के विभिन्न मत हैं, जो अवश्य ही देश-कालभेद से उच्चारण की भिन्नता का संकेत कर रहे हैं। एलेन[3] स्वीकार करते हैं कि "सब ग्रन्थकारों के विवरण एक ही नहीं हैं। हमलोग एक ग्रन्थ में बताये गये उच्चारण से दूसरे में निर्धारित उच्चारण में बहुत अन्तर पाते हैं। और हम यह अनुमान कर सकते हैं कि ये अन्तर बहुत-से

---

१. पस्पशाह्निक।

२. पृ० ५।

३. "...nor are the accounts of the various authors identical; we find considerable divergence of pronunciation as between one treatise and the next, and we may surmise that these disagreements in many cases reflect actual dialectal features corresponding to the location of the several Shakhas or vedic schools. In such matters there is a singular lack of religious dogmatism and the author refers to each other's opinions in a commendably objective manner. Certain pronunciations, however are recognised as faulty and lists of such faults are hardly less interesting than the details of the approved pronunciation". (R. K. Pratishakhya, 14).

उदाहरणों में उन विभिन्न क्षेत्रों के उच्चारण-भेद को प्रकट कर रहे हैं, जिनमें वेदों की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ था। इस प्रकार के उच्चारण-भेद के वर्णन में धार्मिक कट्टरता छू तक नहीं गई है, यह आश्चर्य है। एक ग्रन्थकर्त्ता दूसरे के सिद्धान्त की प्रशंसनीय निष्पक्षता से चर्चा करता है। हाँ, कुछ उच्चारण अवश्य ही दूषित घोषित किये गये हैं, और इनकी तालिका भी निर्धारित उच्चारण से कम रोचक नहीं है।"

विचित्रता तो यह है कि ध्वनि का यह सारा अध्ययन वैदिक ज्ञान की रक्षा के लिए, धार्मिक दृष्टि से किया जा रहा था, परन्तु इसमें इतनी वैज्ञानिकता है कि एलेन को आश्चर्य होता है, वे समझते हैं कि ये ग्रन्थकार अपने मूल उद्देश्य से भटक गये।[१] बात यह है कि एलेन इस भारतीय परम्परा से अपरिचित होने के कारण यह नहीं समझ सके कि भारत के लिए भाषाविज्ञान या कोई भी विज्ञान ब्रह्मविज्ञान का ही एक अंग है। साथ ही, उस प्रागैतिहासिक काल में भी ध्वनिविज्ञान के इन ग्रन्थों में इतना सूक्ष्म विचार किया गया कि एलेन साहब कह उठते हैं[२] : "सामान्यतः हम यह कह सकते हैं कि स्वीट ने भाषाविज्ञान को वहाँ से पकड़ा है, जहाँ भारतीय भाषाविज्ञानियों ने इसे पहुँचा छोड़ा था, यद्यपि कुछ बातों में स्वीट भी उनसे शिक्षा ग्रहण करते। और, आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के हाल में किये गये अध्ययन से यह प्रमाणित हो चुका है कि बहुत-सी प्राचीन पद्धतियों का उपयोग आज भी भाषा के अध्ययन में लाभदायक है। प्रतीत होता है कि ये प्राचीन भाषाविज्ञानी मध्ययुग या उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल के लोगों से नहीं, बीसवीं सदी के लोगों से बातें कर रहे हैं और उनके बहुत-से वक्तव्य, जो उनके व्याख्याताओं या ह्विटनी या मैक्समूलर की समझ में भी नहीं आये थे, आज के ध्वनिवैज्ञानिकों

१. "Authors of our treatises were clearly phoneticians rather than priests and scientific curiosity completed with keen audition and an effective methodology, led to descriptions which must surely have transeended their original terms of reference."

२. "In general we may say that Henry Sweet takes over where the Indian treatises leave off—those in some matters even Sweet could have learnt from them; and a recent study of a modern Indo-Aryan languages has successfully shown that many of the ancient descriptive technique can still be employed to advantage. These early phoneticians speak in fact to the twentieth century rather than to the middle ages or even the mid-nineteenth century and many a statement which the commentators and even Whitnay or Max Mular have failed to comprehend makes immediate sense to the phoneticians today. The one outstanding exception to the general medioerity of the Indian commentators is Uvata whose interpretations of the R. P. and V. P. reveal an enlightened and enlightening approach to a variety of phonetic topics."

की समझ में अविलम्ब आ जाते हैं। इन प्राचीन भारतीय भाषावैज्ञानिकों का कोई व्याख्याता उन-सा प्रतिभाशाली सूक्ष्मदर्शी नहीं हो सका, एकमात्र अपवाद उवट हैं, जिनकी ऋक्-प्रातिशाख्य या वाजसनेय-प्रातिशाख्य की व्याख्या बुद्धिमत्तापूर्ण तथा अनेक ध्वनिविज्ञान-सम्बन्धी प्रश्नों पर प्रकाश डालनेवाली है।"

एलेन[1] यह भी स्वीकार करते हैं कि "ध्वनिविज्ञान पर ही लिखे इन ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी विभिन्न व्याकरण-ग्रन्थों में ध्वनिविज्ञान के प्रचुर तथ्य मिलते हैं, विशेषतः पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतंजलि के महाभाष्य में। यह स्पष्ट है कि भारत में व्याकरणलेखकों ने ध्वनिविज्ञान के आचार्यों की पुस्तकों से बहुत लाभ उठाया है, यह सुविधा यूरोप में नहीं प्राप्त हो सकी। पतंजलि[2] ने तो स्पष्ट ही स्वीकार भी किया है कि किसी भी भाषा की ध्वनियों का पर्याप्त अध्ययन हो जाने के बाद ही उसके व्याकरण का अध्ययन होता है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् जैसे प्राचीन और भिन्न उद्देश्य से लिखे गये ग्रन्थों में भी हम विभिन्न ध्वनि-सम्बन्धी उपकरणों की चर्चा पाते हैं, जैसे करण, स्थान (गोपथब्राह्मण, १।२।४ : स्थानानुप्रदानकरणम्), स्पर्श, ऊष्म, अन्तस्थ, स्वर और

---

१. "Apart from these specifically phonetic works numerous statements on phonetic matters are to be found in the grammatical works more especially in Panini's Astadhyayi and Patanjali's Mahabhashya and it is evident that in India unlike Europe grammatical writers availed themselves of the best professional phonetic advice. Patanjali (Mbh i. ii. 1 on Pan. i. ii. 32 Kielhorn i. 208) makes the important point that the study of grammar presupposes adequate phonetic education. In such ancient and non-technical works as the Brahmanas, Aranyakas and Upanishads we find a familiarity with various phonetic catagories e. g. articulator, place of articulation (e. g. Gopata Brahmna 1.24 Sthananupradanakaranam) stop, fricative, semi-vowel, vowel and voice (Aitereya Aranyaka, 3.2.1 and Chandogya Upanishad 2. 12. 3 to 5, Sparsha, Usma, Antastha, Swara, Ghosavat) in its technical connotation and in the Sukla yajurveda there appear in an anatomical list various features which belong to structure of articulatory and not of general physiological analysis e. g. teeth rims, alveoli and parts of the tongue of which the top is appropriately associated with Saraswati the Goddess of speech."

२. "व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या। योसौ छन्दः शास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते।"—पाणिनिसूत्र १।२।३, 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' का भाष्य। उद्योत ने 'छन्दः शास्त्रेषु' का अर्थ किया है 'प्रातिशाख्यशिक्षादिषु।' अर्थात्, प्रातिशाख्य-शिक्षा आदि ध्वनिविज्ञान पढ़कर ही व्याकरण पढ़ा जाता है।

घोष (ऐ० आ० ३।२।१ तथा छा० उ० २।१२।३ से ५ में स्पर्श, ऊष्म, अन्तस्थ, स्वर, घोषवत्) की; और इनका सही अर्थ भी समझ लिया गया है। शुक्लयजुर्वेद में भी विभिन्न अंगों की सूची में एक जगह सामान्य शरीरावयवों की नामतालिका की जगह वर्णों के उच्चारण-स्थान का विश्लेषण पाया जाता है; जैसे सृक्किणी, वर्त्स, जिह्वा के विभिन्न भाग, जिह्वा की नोक, जिसे उपयुक्त ही सरस्वती माना गया है।"

इन सब वैदिक ग्रन्थों के अलावा भी और अनेक ग्रन्थ ध्वनिविज्ञान पर प्राप्त होते हैं। इस क्षेत्र में अभी बहुत अनुसन्धान की आवश्यकता है। डॉ० मनमोहन घोष ने अपनी पाणिनिशिक्षा के साथ चन्द्रगोमिन् नामक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य के ४८ वर्णसूत्रों का भी संकलन किया है।

अस्तु; सूचीकटाहन्याय से पहले शिक्षाग्रन्थों का अध्ययन प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा, सम्भवतः कालकृत पौर्वापर्य तथा सुविधा की दृष्टि से भी। इसके बाद मुख्य प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का विवेचन करना लाभप्रद होगा। वैसे भी शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य[1], शिक्षा वेदों की नाक है, अर्थात् भाषाविज्ञान की नाक। इसके प्राथम्य में किसे विचिकित्सा हो सकती है?

१. पाणिनीयशिक्षा, ४२।

शिक्षा

इस समय जितने भी शिक्षाग्रन्थ देखे-सुने जाते हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्व पाणिनीय शिक्षा का स्वीकार किया गया है। इसके भी ७-८ रूप प्राप्त हैं। इसका वर्त्तमान प्राप्त रूप अवश्य ही पाणिनि-कृत नहीं है; क्योंकि इसके आरम्भिक प्रथम श्लोक[1] में 'पाणिनि मत के अनुसार मैं शिक्षा का प्रवचन करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की गई है और अन्त में श्लोक ५७, ५८, ५९ में पाणिनि की प्रशस्ति है।[2] परन्तु, यह किसी प्राचीन शिक्षा पर आधृत अवश्य है। वेदांगों में आजतक इसे ही गिना जा रहा है। सभी शिक्षाओं में ध्वनि का सर्वाधिक विस्तृत सर्वतोमुख विश्लेषण भी इसमें है। अस्तु; अब इसके प्रतिपाद्य[3] का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

आरम्भ[4] में यह बताया गया है कि शब्द और अर्थ दोनों ही लोक-प्रसिद्ध हैं, उनका कोई नया अनुसन्धान नहीं करना है। फिर भी, अशिक्षित लोग वाणी का ठीक उच्चारण नहीं कर पाते, अतः उच्चारण-विधि को फिर से पृथक् शास्त्र-रूप में स्पष्ट करना पड़ता है। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में प्रयुक्त कुल वर्णों की संख्या ६३ या ६४ है। यही शंकर[5] का मत है। ब्रह्मा ने आदि में इतने ही वर्ण रचे थे। वास्तव में, शिक्षा में आदिगुरु शंकर[6] ही हैं, जिन्होंने अपने १४ सूत्रों के द्वारा सर्वप्रथम पाणिनि को इन ध्वनियों का रहस्य बताया। फिर, पाणिनि ने उसके आधार पर यह शिक्षा बनाई, और शेष सारी शिक्षाएँ इसके आधार पर बनीं।

---

१. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।
शास्त्रानुपूर्व्यं तद् विद्याद् यथोक्तं लोकवेदयोः ॥१॥

२. येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥५७॥
येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥५८॥
अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः ॥५९॥

३. यहाँ भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस से सं० २००५ में, प्रथम संस्करण में प्रकाशित (अज्ञातकर्तृक) पंजिका तथा गुरुप्रसाद-कृत अभिनवराजलक्ष्मी और भाषाटीका-युक्त पाणिनीय शिक्षा को आधार रखा गया है।

४. प्रसिद्धमपि शब्दार्थमविज्ञातमबुद्धिभिः।
पुनर्व्यक्तीकरिष्यामि वाच उच्चारणे विधिम् ॥२॥

५. त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥३॥

६. शङ्करः शाङ्करीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः ॥५६॥

वर्णों की संख्या :

वे वर्ण इस प्रकार हैं : १. स्वर २१, अर्थात् अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३, लृ, ए, ए३, ओ, ओ३, ए, ऐ३, ओ, औ३। अर्थात्, अ, इ, उ, ऋ प्रत्येक के तीन-तीन भेद, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत; लृकार का केवल एक भेद प्लुत; ए, ओ, ऐ, औ के केवल दो-दो भेद ह्रस्व तथा दीर्घ (१२ + १ + ८ = २१)। वर्णरत्नदीपिका[४] में भी इसका समर्थन है। लृकार का दीर्घ भेद अधिकांश भाषावैज्ञानिक नहीं मानते, पर प्लुतभेद भी कुछ लोग अस्वीकार करते हैं। अतः, उसका सर्वसम्मत एक ही भेद यहाँ रखा गया। यद्यपि 'ए' तथा 'ओ' के ह्रस्वरूप किसी-किसी शाखा में (जैसे सात्यमुग्रि तथा राणायनीय) तथा उनपर आधृत किसी-किसी भारतीय आधुनिक भाषा में प्राप्त हैं, पर इन्हें कभी मानक (स्टैण्डर्ड) उच्चारण नहीं माना गया। पतंजलि[१] ने स्पष्ट ही कह दिया है कि **नैव लोके न च वेदेऽर्धं एकारोऽर्धं ओकारो वास्ति।** **सुजाते अश्वसूनृते** में 'अश्व' का 'एश्व', तथा **अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्** में 'अद्रि' का 'ओद्रि' उच्चारण ठीक नहीं माना गया। इसे 'पार्षद कृति', अर्थात् देश-विशेष, शाखा-विशेष का विकृत उच्चारण-मात्र समझा गया। जैसे, बंगाली लोग 'अरविन्द' को 'ओरोविन्दो' कहते हैं। औदव्रजि[२] आचार्य ने भी ये ही २१ स्वर माने हैं। लृ के दीर्घप्लुत भेद तथा ए, ओ के ह्रस्व भेद नहीं माने हैं।

२. स्पर्शवर्ण—२५, अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के पाँच-पाँच वर्ण (५ × ५ = २५)।

३. यादि—८, अर्थात् य र ल व ये चार अन्तस्थ और श ष स ह ये चार ऊष्म।

४. यम—४। ये चार यम कौन हैं, इसमें बड़ा वैमत्य है। यहाँ के पंजिकाभाष्य में 'औदव्रजि' का एक उद्धरण है : **अनन्त्याऽन्त्यसंयोगे मध्ये यमो पूर्वगुणः।**

'नारदीय शिक्षा' में भी इसीका समर्थन है : **अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वो ह्यन्त्यश्च परतो यदि। तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः।** 'भट्टोजिदीक्षित' ने भी 'सिद्धान्तकौमुदी' में प्रत्याहारसूत्रों के बाद वर्णमाला बनाने के क्रम में यम की उपर्युक्त व्याख्या ही की है : **वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्येषु प्रसिद्धः।** अर्थात्, जहाँ पहले स्पर्शों के पाँचों वर्णों में आदिम चार वर्णों में से कोई एक तथा पीछे कोई पाँचवाँ वर्ण आ जाय, वहाँ उन दोनों के संयोग के बीच एक पूर्ववर्त्ती वर्ण के गुण-वाला तीसरा वर्ण बीच में उच्चरित होता है। परन्तु, इन तीनों के मत में कठिनाई यह है

---

१. ॠपर्यन्ताः स्वरास्त्रेधा लृकारो ह्रस्व एव च।
सन्ध्यक्षराण्यह्रस्वानि ते चैवमेकविंशतिः॥

२. महाभाष्य १।१।१ 'एओङ्' की व्याख्या।

३. ह्रस्वादिभेदैश्चत्वारः प्रथमा द्वादश स्मृताः।
लृकारो ह्रस्व एवैचोऽष्टौ स्वरा एकविंशतिः॥

—पाणिनीय शिक्षा, पंजिकाभाष्य।

कि ऐसी स्थिति में यम चार कैसे, बीस होंगे, अर्थात् पाँचों वर्गों के प्रथम चार वर्णों के अनुरूप (५ × ४ = २०)। भट्टोजिदीक्षित ने केवल चार उदाहरण दिये हैं—**पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति**। यहाँ दो शंकाएँ उठती हैं। एक तो यह कि प्रथम तीन उदाहरणों में तो क्रमशः क्, ख्, ग् का द्वित्व **अनचि च**[1] के नियम से सुलभ हैं; पर घ्घ्नन्ति में घ् का द्वित्व हुआ कैसे ? दूसरे, यह कि दीक्षित ने केवल क्, ख्, ग्, घ्, के ही क्यों उदाहरण दिये ? 'सिद्धान्तकौमुदी' जैसे विस्तृत ग्रन्थ में स्थान की अल्पता का बहाना ढूँढ़ना ठीक नहीं है, और यदि इसे मार्गप्रदर्शन-मात्र भी मानें, तो सन्देहनिवारण के लिए दीक्षित को क् ख् ग् घ् रूप यम के उदाहरण देने के बदले क् च् ट् त् प् का एक-एक उदाहरण अवश्य देना चाहिए था। साथ ही, दीक्षित ने **खयां यमाः** कारिका की व्याख्या में यमों की संख्या नहीं दी। न बीस कहा, न चार। बहुत सम्भव है कि दीक्षित ने इस विवादास्पद विषय को जान-बूझकर टाल दिया है। परन्तु, पाणिनीय शिक्षा में तो यमों की संख्या दे दी गई है : **चत्वारश्च**[2] **यमाः स्मृताः**। इस चतुर्विधता की दो व्याख्याएँ मिलती हैं। गुरुप्रसादजी ने अपनी 'अभिनवराजलक्ष्मी' में कहा है : **श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्क्न्यौ, आत्क्मा इत्यादौ वेदे तकारात् परस्यापि यमस्य तकाररूपस्यापाठात् ककाररूपस्यैव चोपलम्भाच्चत्वार एव कवर्गीयाः क ख गादयो यमाः, अतएव कुं खुं गुं घुं इति चत्वारो यमा इति न्यासकृद्भिश्चत्वार एव यमा दर्शिताः**। दीक्षित के **तत्सदृशा एव** प्रतीक पर टिप्पणी करते हुए महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त ने लिखा है : **कवर्गीया एव न त्वन्यवर्गीयाः अतएव श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्क्न्यौ इत्यत्र तकारनकारयोर्मध्ये 'सूर्यं आत्क्मा' इत्यत्र तकारमकारयोर्मध्येऽपि ककार एव दृश्यते। 'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः' इत्युक्तसंख्योपपादनावसरे चत्वारश्च यमाः स्मृताः इति चतुः संख्या चोपपद्यते**। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनिशिक्षाकार, न्यासकार पं० शिवदत्तजी, गुरुप्रसादजी आदि विद्वान् 'आत्मा' शब्द में त् म् के संयोग में तथा 'पत्नी' में त् न् के संयोग में बीच में क् रूप यम का ही आगम मानते हैं, अर्थात् क्, च्, ट्, त्, प् में से किसी के भी बाद यदि कोई पंचम वर्ण आयगा, तो मध्य में क् रूप यम् का ही आगम होगा। क् में इनसे सादृश्य यही है कि ये सब स्पर्श हैं, विवारश्वास अघोष अल्पप्राण हैं। इसी प्रकार, किसी भी द्वितीय वर्ण के बाद कोई पंचम वर्ण आयगा, तो बीच में ख् रूप यम ही होगा। इसी भाँति यम केवल चार ही हैं, कँ, खँ, गँ, घँ या कुं खुं गुं घुं। आगे किसी भी पंचम वर्ण के रहने पर पूर्ववर्त्ती किसी भी वर्गीय प्रथम वर्ण के बाद कुं, द्वितीय वर्ण के बाद खुं, तृतीय वर्ण के बाद गुं तथा चतुर्थ वर्ण के बाद घुं ही आयगा। दूसरे लोग वेदशाखा में 'पत्क्नी' नहीं 'पत्त्नी' तथा 'आत्क्मा' नहीं 'आत्त्मा' में 'क' रूप नहीं 'त' रूप यम का ही पाठ मानते हैं। उनके मत में यमों की संख्या बीस होनी चाहिए। परन्तु, क च ट त प रूप यम को प्रथम, ख छ ठ थ फ रूप को द्वितीय, ग ज ड द ब रूप को तृतीय तथा घ झ ढ ध भ रूप को चतुर्थ यम

१. अष्टाध्यायी, ८।४।४७।
२. श्लोक ४।

जाति मानकर, इनके प्रतीक रूप में कुं, खुं, गुं, घुं ये चार यम कहे जाते हैं; प्रथम यम जाति, द्वितीय यम जाति, तृतीय यम जाति और चतुर्थ यम जाति।

यहाँ एक और भी विवाद है। कुछ लोग इस यम को वर्णागम मानते हैं, अर्थात् 'पलिक्नी' में न् के संयोग के कारण पहले क् के बाद एक दूसरा क् भी बीच में उच्चरित होता है, ऐसा मानते हैं। इनके मत में ही यह विवाद है कि पत्नी में बीच में क् का श्रवण होगा या त् का। पूर्ववर्त्ती सभी विद्वान् इस यम को वर्णागम माननेवाले ही हैं। पर, कुछ लोग इसे वर्णागम नहीं, वर्णापत्ति मानते हैं, अर्थात् उनके अनुसार 'पलिक्नी' में न् के संयोग से पहले क् के बाद एक दूसरा अनुनासिक क् का आगम नहीं होता है, बल्कि यही क् न् के संयोग से थोड़ा अनुनासिक हो जाता है। ये अपने मत में ऋक्-प्रातिशाख्य का स्पर्शा-यमान् अननुनासिकाःस्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु[1] यह सूत्र प्रमाणस्वरूप उद्धृत करते हैं। इनके अनुसार प्रथम तो यमों को भिन्न वर्ण ही नहीं मानना चाहिए; क्योंकि यम-धर्म आनुनासिक्य वर्णधर्म-मात्र है। जैसे, अनुनासिक अकार आदि को पृथक् नहीं गिना गया, वैसे ही अनुनासिक ककार आदि को सामान्य ककार से पृथक् क्यों मानेंगे? यम का अर्थ है जुड़वाँ। 'पलिक्क्नी' में क् जुड़वाँ हो जाता है, अतः उसे यम कहते हैं।, यदि 'पलिक्नी' में क् का द्वित्व नहीं होकर केवल आनुनासिक्य हो, तो उसे जुड़वाँ कहने की क्या संगति है?

स्वामी दयानन्द अपनी पणिनीय शिक्षा में इन तीनों में से किसी भी मत को मानने को तैयार नहीं है। उनके मत से उपर्युक्त कोई भी यम ककारादि स्पर्श वर्ण जाति में ही गतार्थ हो जायगा, वर्णमाला में उसे पृथक् स्थान कैसे और क्यों मिलेगा? अतः, उनके मत से पाणिनिशिक्षा के चार यम ये हैं: ꣳ (ह्रस्व ग्वुं), ꣴ (दीर्घ ग्वुं), ँ (अनुनासिक चिह्न) और ळ। किन्तु, इसमें भी यह आपत्ति रह ही गई कि इन्हें यम कहने कि क्या संगति है? साथ ही, और भी कठिनाइयाँ हैं। जैसा कि अभी कहा गया, अनुनासिक कोई वर्ण नहीं, वर्णधर्म-मात्र है, जो सभी स्वरों तथा और भी वर्गों का धर्म हो सकता है। इन यमों को दयानन्दीय शिक्षा में भी अनुनासिक बताया गया है, पर ळ 'में' अनुनासिकता का सर्वथा अभाव है। अतः, कहना कठिन है कि ये चार यम कौन हैं, जिन्हें वर्णमाला में स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हैं।

५. अनुस्वार १ (ं)
६. विसर्ग १ (:)
७. जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय २ (ᳵ, ᳶ)
८. दुःस्पृष्ट १।

यह दुःस्पृष्ट क्या है, इसमें भी सन्देह है। गुरुप्रसादजी ने अपनी टीका में कहा है कि यह ळकार है। इसे दुःस्पृष्ट इसलिए कहते हैं कि इसके उच्चारण में कठोरतापूर्वक

---

१. ६।२९।

जिह्वा और तालु का संघर्ष होता है। कहीं द्विःस्पृष्ट' ऐसा पाठ है। 'ळ' के उच्चारण
में जिह्वा के अग्र तथा अन्त में दो बार स्पर्श का अनुभव होता है। 'वर्णरत्नदीपिका' में भी
कहा गया है कि द्विःस्पृष्टो न भवेत्तदा। ऋक्-प्रतिशाख्य में भी कहा गया है कि
जिह्वामूलं तालु चाचार्य आह, स्थानं ढुकारस्य तु वेदमित्रः, द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य
सम्पद्यते स डकारो ळकारः। ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा सम्प्रयुक्तः।
इळा साळ्हा चात्र निदर्शनानि, वीड्वङ्ग इत्येतदवग्रहेण।[1] अर्थात्, वेदमित्र आचार्य के
मत से जब 'ड' दो स्वरों के बीच में आता है, तब उसका रूप ळ हो जाता है, जैसे 'इळा'।
यही 'ळ' जब सोष्म बनता है, तब इसका ळ्ह रूप हो जाता है, जैसे सळ्हा। यहाँ शंका
यह है कि द्विःस्पृष्ट या दुःस्पृष्ट वर्ण एक नहीं, दो हो जाते हैं ळ तथा ळ्ह, फिर इसे एक
क्यों गिना? 'वर्णरत्नदीपिका' ने तो स्पष्ट ही ड ढ दोनों की द्विःस्पृष्टता की चर्चा की?
ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोडाश की जगह पुरोळाश,[2] षोडशी की जगह षोळशी[3], इडा की
जगह इळा[4] तथा व्यूढ की जगह व्यूह्ळ[5] प्रयुक्त है। इसी भाँति ऐतरेय आरण्यक[6] में भी
लेढि की जगह रेह्ळि और लीढः की जगह रीह्ळः प्रयोग मिलते हैं। ढ के स्थान में ळ
कहीं नहीं मिलता। यहाँ इतनी बातें सामने आती हैं :

१. दो स्वरों के बीच में आने पर ड का ही ळ नहीं होता, ढ का भी ह्ळ होता है, अतः द्विःस्पृष्ट एक नहीं, दो हैं।

२. उपर्युक्त ब्राह्मण तथा आरण्यक से उद्धृत उदाहरणों में दो स्वरों के बीच में आने पर ढ के स्थान में ळ्ह होना चाहिए था, पर लिखा मिलता है ह्ळ, क्या यह लेखक या मुद्रणालय का प्रमाद है?

३. ह्ळ या ळ्ह का ग्रहण ळ से नहीं हो सकता, ये दोनों भिन्न जाति के हैं, जैसे ड और ढ। अतः, द्विःस्पृष्ट दो गिनने चाहिए।

४. यदि ढ से ळ्ह को गतार्थ करें, तो ड से ळ को क्यों नहीं गतार्थ करेंगे? फिर, द्विःस्पृष्ट की गणना ही व्यर्थ है।

५. तब एकमात्र यही उपाय है कि द्विःस्पृष्टत्व जाति मानकर इन दोनों को एक समझें, पर यह ठीक नहीं।

वास्तव में, ळ और ळ्ह स्पष्ट ही पृथक् दो वर्ण हैं। ळ की समता ड से ळ्ह की ढ से है। इस ळ तथा ळ्ह का ही परिवर्त्तित-विकसित रूप हिन्दी की क्रमशः ड़ तथा ढ़

---

१. पटल १, सूत्र ५१ तथा ५२।
२. १६।५।
३. १६।१।
४. १४।२।
५. ७।८।
६. आरण्यक ३, अध्याय १।

ध्वनियाँ हैं। आज की हिन्दी में कोई घोड़ा की जगह घोढ़ा तथा मढ़ा की जगह मड़ा नहीं लिखता। पड़ा और पढ़ा तथा गड़ा और गढ़ा में कितना अन्तर है।

इस प्रकार, पाणिनिशिक्षा के मत से ६३ वर्ण हुए (२१ + २५ + ८ + ४ + १ + १ + १ + १ + १ = ६३)। कोई ऌ का ह्रस्व के अतिरिक्त एक प्लुत भेद भी मानता है। ऐसी स्थिति में वर्णों की संख्या ६४ हो जाती है :

> **स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।**
> **यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ, चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥ ४ ॥**
> **अनुस्वारो, विसर्गश्च, ᳵक ᳶपौ चापि पराश्रितौ।**
> **दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च ॥ ५ ॥**

ऌकार का प्लुत भेद मानने और न माननेवालों के मतभेद की झाँकी महाभाष्य में 'ॠऌक्' सूत्र की व्याख्या में मिल जाती है। ऌ एक ही शब्द में प्राप्त होता है, क्लृप्त में। यहाँ जब **गुरोरनृतो०**[1] से प्लुत करना चाहेंगे, तब 'अनृतः' यह प्रतिषेध लग जायगा; क्योंकि ऋ के ग्रहण से **ऋऌवर्णयोः मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्** के नियम से 'ऌ' का भी ग्रहण होगा। **दूराद्धूते च**[2] से यह ऌ प्लुत हो ही नहीं सकता; क्योंकि यह कभी वाक्य के अन्त में नहीं पड़ सकता। ऋ वाक्य के अन्त में भी आ सकता है; जैसे **स्वास्थ्यं प्रयच्छ धातृ** आदि जगहों में। अतः, ऌ की प्लुतता सम्भव नहीं है। दूसरे लोगों का कहना है कि **गुरोरनृतो०** से प्लुतता का निषेध केवल ऋ में ही लगेगा, ऌ में नहीं। भाष्य में आया है कि इस सूत्र में 'अनृतः' की जगह 'अरवतः पढ़ देंगे, अतः र वाले गुरु ऋ का ही निषेध होगा, ऌ में र नहीं है, इसलिए उसका निषेध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में क्लृप्तशिख में ऌ प्लुत हो जायगा। 'औदव्रजि' ने प्लुत ऌ को स्वीकार किया है, पर दुःस्पृष्ट को नहीं माना है; बल्कि अनुस्वार के ह्रस्व और दीर्घ दो भेद मानकर ६४ वर्ण गिनाये हैं :

> **ह्रस्वादिभेदैश्चत्वारः प्रथमा द्वादश स्मृताः।**
> **ऌकारो ह्रस्व एवैचोऽष्टौ स्वरा एकविंशतिः॥**
> **पञ्चविंशतिरष्टाब्धिः स्पर्शाः स्युर्यादयो यमाः।**
> **अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵक ᳶपौ प्लुतऌकारकः॥**
> **त्रिषष्टिरेवं वर्णाः स्युर्ह्रस्वदीर्घादिभेदतः।**
> **अनुस्वारद्वयाद् वर्णाः चतुःषष्टिरितीरिताः॥** **(पंचिकाभाष्य)**

वर्णों की उत्पत्ति :

> **आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।**
> **मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥६॥**
> **मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।**
> **प्रातः सघनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥७॥**

---

१. अष्टाध्यायी, ८।२।८६।

२. वही, ८।२।८४।

कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥८॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा मतः ॥९॥

अर्थात्, आत्मा बुद्धि के द्वारा (प्रतिपाद्य) अर्थों को संकलित कर उन्हें कहने की इच्छा से मन को नियुक्त करती है। तब मन (इच्छा से युक्त होकर) जठराग्नि को उद्बुद्ध करता है। वह उद्बुद्ध अग्नि को प्रेरित करती है, वह वायु हृदय (फेफड़े) में विचरण करती हुई मन्द्र ध्वनि उत्पन्न करती है। इस गम्भीर धीमी ध्वनि से ही गायत्री छन्द तथा प्रातः कालीन सोमयाग के सभी मन्त्र पढ़े जाते हैं। वही वायु जब हृदय-प्रदेश में भ्रमण कर ऊपर उठती है, तब कण्ठ-प्रदेश में पहुँचकर मध्यम ध्वनि पैदा करती है, जो मन्द्र से कुछ ऊँची होती है तथा तार स्वर से कुछ नीची। इसी ध्वनि से त्रिष्टुभ् छन्द के तथा मध्याह्नकालीन सोमयाग के सभी मन्त्र पढ़े जाते हैं। इसके बाद वह वायु कण्ठ-प्रदेश से भी ऊपर जाकर शिरोभाग में भ्रमण करती हुई तार, अर्थात् उच्चतम ध्वनि पैदा करती है। इस ध्वनि से ही जगती छन्द के तथा सायंकालीन सोमयाग के सभी मन्त्र उच्चरित होते हैं। अब यह वायु मूर्धा से ऊपर नहीं बढ़ पाती ; क्योंकि वहाँ कोई रन्ध्र नहीं। इसलिए, मूर्धा से टकराकर यह फिर लौटकर मुखरन्ध्र से बाहर आती है। मुख-विवर में ही विभिन्न प्रक्रियाओं के योग से यह वायु वर्णों के रूप में परिणत होती है, जिन्हें हम पाँच प्रकार से बाँट सकते हैं।

उपर्युक्त चार कारिकाओं में ये बातें बताई गई हैं : १. वर्णात्मक ध्वनि या नाद की उत्पत्ति मनुष्य क्यों, किस भाँति करता है। इसकी संक्षिप्त चर्चा पहले की जा चुकी है। वाणी के इतने उपादान इन कारिकाओं में दिखाये गये हैं : आत्मा-बुद्धि-अर्थ-मन-इच्छा-अग्नि-वायु-नाद। अर्थात्, आत्मा बुद्धि से परामर्श कर अर्थ को कहने के लिए मन को इच्छा से युक्त कर प्रेरित करती है। मन अग्नि (कायाग्नि) को उद्बुद्ध करता है। अग्नि वायु को उद्बुद्ध करती है। यह वायु क्रमशः उरस्, कण्ठ तथा शिरस् तक जाकर वहाँ-वहाँ ध्वनि (गूँज) पैदा करती हुई लौटकर मुखप्रदेश में वर्णरूप नाद पैदा करती है। इसीलिए, वाक् को कहीं ब्रह्म[1] या विराट्[2] (आत्मा), कहीं बुद्धि[3], कहीं अर्थ[4], कहीं मन[5], कहीं अग्नि[6] और कहीं वायु[7] कहा गया है। यह पिछले पृष्ठों में कई उद्धरणों से

१. वाग् वै ब्रह्म, १।३।२० तथा बृहदा० २१।
२. वाग् वै विराट्।—शतपथ, ३।५।१।३४।
३. 'वाग् वै मतिः'।—यजुर्वेद, १३।५८, 'वाग् वै धीः'।—ऐ० आ १।१।४।
४. 'एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ'।—वाक्यप्रदीप, २।३१ तथा 'गौरिति शब्दः गौरित्यर्थः, गौरिति ज्ञानम्'।—योगसूत्र, ३।१७ पर व्यासभाष्य।
५. वागिति मनः।—जै० उ० ४।२२।११।
६. वागेवाग्निः।—शतपथ, ३।२।२।१३।
७. वाग् वै वायुः।—तै० सं०, १।८।७१; ता० म० ब्रा०, १८।८।७।

दिखाया जा चुका है। इस प्रकार वर्णों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति की प्रक्रिया बड़ी लम्बी है और उसके सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए इतने रूप हैं। फिर भी, इनकी अभिव्यक्ति इतनी शीघ्रता से होती है कि वक्ता के भीतर इतनी प्रक्रियाएँ होती हैं, इसका भान स्वयं वक्ता को नहीं होता, श्रोता को क्या होगा। ठीक उसी प्रकार जैसे कमल के सौ पत्तों को यदि सूई के एक अघात से वेध किया जाय, तो लगेगा, एक ही साथ सब छिद रहे हैं; पर ऐसा नहीं, उनमें पौर्वापर्य[१] रहता है। बुद्धि[२] ही पूर्वोक्त प्रक्रियाओं से क्रमशः विकसित होती हुई वाणी में परिणत होती है, यह भी कारिकाओं से स्पष्ट है।

२. जिस प्रकार वाणी के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर विभाग करने पर अनेक सोपान या रूप मिलते हैं, उसी प्रकार उन-उन रूपों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न स्थान भी हैं। परा वाणी मूलचक्र में, पश्यन्ती नाभि में तथा मध्यमा हृदय में और वैखरी कण्ठदेश में रहती है। यहाँ मूलचक्र से हृदयप्रदेश तक के स्थान की चर्चा नहीं है, पर इनमें होनेवाले आत्मा, बुद्धि और मन के व्यापार का वर्णन कर इन्हीं का संकेत किया है। तत्पश्चात् मध्यमा से वैखरी वाणी की अभिव्यक्ति का यहाँ विशदतर वर्णन है। वायु उरस् से कण्ठ, कण्ठ से शिरस् और शिरस् से मुखविवर में आती है। यहाँ आकर वह वायु वर्णाकार में परिणत हो जाती है। इस प्रकार, वर्णात्मक ध्वनि की अभिव्यक्ति में सहायक मूलचक्र, नाभि, हृदय, कण्ठ, शिरस् तथा मुखविवर इतने स्थान हैं, इनमें वाणी क्रमशः सूक्ष्म से स्थूलतर होती जाती है।

आधुनिक भाषावैज्ञानिक[३] फुफ्फुस की गन्दगी को लेकर बाहर निकलती हुई साँस की विकृति से ही वर्णात्मक ध्वनि की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार फेफड़े से जब प्रश्वास बाहर निकलने लगता है, तब स्वरयन्त्र आदि स्थलों में विभिन्न प्रक्रियाएँ होती हैं, जिनसे वर्णों की उत्पत्ति होती है। इसके पहले मूलचक्र या नाभि में कोई प्रक्रिया नहीं होती। साथ ही, वर्णजनक वायु की उत्पत्ति जठराग्नि से नहीं होती। फुफ्फुस-यन्त्र की शक्ति के कारण श्वास-नली द्वारा बाहर से हम ऑक्सीजन ग्रहण करते तथा भीतर से नाइट्रोजन फेंकते हैं। यह हवा बाहर से भीतर जाती है, फिर भीतर से बाहर लौटती है। इसकी उत्पत्ति भीतर नहीं होती। यह वैज्ञानिक सत्य है। ऐसी स्थिति में शंका होती है कि तब क्या उपर्युक्त कारिकाओं द्वारा वर्णित ध्वनि की उत्पत्ति-पद्धति पौराणिक कल्पना-मात्र है?

यहाँ सम्भवतः यह तथ्य है। यह ठीक है कि जब हम प्रश्वास श्वास-नली द्वारा बाहर फेंकते हैं, तब स्वरयन्त्र में कुछ प्रक्रियाओं द्वारा उस वायु में ध्वन्यात्मकता आती है और वह ध्वन्यात्मक वायु ही मुखविवर में आकर वर्णात्मक बनती है। पर, जब हम

१. यही उत्पलपत्रशतभेदनन्याय कहलाता है।

२. अर्थेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्त्तते॥—वा० प० १।११३।

३. दे० 'सामान्य भाषाविज्ञान' तथा 'भाषाविज्ञान' का ध्वनिविचार-प्रकरण।

मौन रखते हैं, तब हमारी प्रश्वास-वायु से ये नाद या वर्ण क्यों नहीं पैदा होते ? और वह वायु कैसे कभी घोष कभी अघोष, कभी उभयप्राण वर्णों में परिणत होती है। इसका नियामक कौन है ? इस अंश को आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने अस्पष्ट छोड़ दिया है। फेफड़े से मुखविवर तक के मार्ग में कहाँ क्या प्रक्रिया होती है, जिससे प्रश्वास-वायु वर्णों में परिणत होती है, इसके ध्वनियन्त्र का तो ये विस्तार से वर्णन करते हैं, पर यह ध्वनियन्त्र स्वयं नहीं बोलता रहता है। यह तो उपकरण-मात्र है, वक्ता कोई और है। शिक्षा ने इस बाह्य प्रक्रिया से अधिक आभ्यन्तर प्रक्रिया पर ध्यान दिया है। इतना तो आधुनिक भाषावैज्ञानिक भी कह देते हैं कि वक्ता की इच्छा के अनुसार यह ध्वनियन्त्र काम करता है, ऐसा माने विना गुजारा ही नहीं। परन्तु, वक्ता की इच्छा के साथ इस स्वरयन्त्र का अथवा प्रश्वास-वायु का सम्बन्ध होता कैसे है ?

भारतीय मनीषियों का यह विश्लेषण है। आत्मा इस शरीर का राजा है। जब उसे कुछ कहने की इच्छा होती है, तब वह अपने मन्त्री बुद्धि से परामर्श करता है कि इस अर्थ या विषय को किस प्रकार कहा जाय। बुद्धि से विचार करने के बाद निर्णय कर वह अपने सेनापति मन को अपनी इच्छा के कार्यान्वयन की आज्ञा देता है। मन किस प्रकार जठराग्नि को प्रेरित कर सूक्ष्म वाणी के उपादानभूत वायु की सृष्टि करता है, किस प्रकार वह वायु मूलचक्र में परा वाक् रूप में उत्पन्न होती है, इसका वर्णन तन्त्रग्रन्थों में पाया जाता है, जो इस ग्रन्थ का विवेच्य नहीं। जब वह वाणी परा से पश्यन्ती रूप में तथा पश्यन्ती से भी मध्यमा-रूप स्थूल वाणी में परिणत होती है, तब इसका क्षेत्र बनती है।

स्वर-विभाग :

यह तो वर्णात्मक ध्वनि की उत्पत्ति की कहानी हुई। उसमें मन्द्र, मध्य और तार इन तीन विभागों का क्या महत्त्व है ? क्या प्रातःकाल पूर्ण विश्राम के बाद मन और मस्तिष्क इतने जाग्रत् रहते हैं कि उस समय यदि मध्यमा वाणी के सदृश हृदयप्रदेश में ही उपांशु जप की तरह मन्द्र स्वर से भी मन्त्रपाठ किया जाय, तो अर्थबोध हो जाता है ? विशेषतः गायत्री (छन्द) के लिए यही काल और स्वर उपयुक्त है ? फिर, मध्याह्न में कर्म-संकुलता के कारण मस्तिष्क यह धीमी वाणी नहीं सुन पाता, अतः कुछ ऊँचे स्वर से मन्त्रपाठ करना चाहिए, कण्ठ में गूँजते हुए स्वर से ? फिर, शाम को थककर मस्तिष्क इतना अलस हो जाता है कि उसे सुनाने के लिए चिल्लाना पड़ता है, ब्रह्मरन्ध्र तक गुँजा देना पड़ता है ? शिक्षा ने इस ६३ या ६४ प्रकार की वर्णध्वनि को फिर पाँच[1] प्रकार से बाँटा है : १. स्वर, २. काल, ३. स्थान, ४. प्रयत्न तथा ५. अनुप्रदान की दृष्टियों से।

---

१. स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः ।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तं निबोधत ॥१०॥

१. स्वर : इसके तीन[1] भेद दिखाये गये हैं : उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। यहाँ इन तीनों की व्याख्या नहीं की गई है। उदात्त उच्च स्वर, अनुदात्त नीच स्वर तथा स्वरित सम स्वर था। इनका विश्लेषण प्रातिशाख्यों में खूब किया गया है, कुछ अवान्तर भेद भी दिखाये गये हैं। यहाँ शिक्षा में इन तीन स्वरों के अतिरिक्त एक प्रकार के और स्वर दिखाये गये हैं, जिनकी संख्या सात[2] है। ये दोनों प्रकार संगीतात्मक ही थे। वेदों में तो त्रिविध स्वरों की ही योजना होती थी, किन्तु सामवेद में सात स्वर लगते थे—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इनमें उत्तरोत्तर तारतर होते थे। इनमें से निषाद और गान्धार उदात्त से, ऋषभ और धैवत अनुदात्त से तथा षड्ज, मध्यम और पंचम ये स्वरित से विकसित हुए थे।

२. काल[3] : काल की दृष्टि से तीन विभाग हैं : ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत। जिसके उच्चारण में एक मात्रा लगे, वह ह्रस्व, जिसमें दो मात्राएँ लगे, वह दीर्घ तथा जिसमें तीन लगे, वह प्लुत कहा जाता है।

ये दोनों विभाग, अर्थात् स्वर के आधार पर तथा काल के आधार पर विभाजन केवल स्वरों[4] में सम्भव है। इस श्लोक में स्वर के लिए अच् शब्द का प्रयोग है, जो पाणिनि का प्रत्याहार है।

३. स्थान : वर्णों के ८ स्थान[5] होते हैं, जहाँ से उनका उच्चारण होता है : (क) उरस्, (ख) कण्ठ, (ग) शिरस्, (घ) जिह्वामूल, (ङ) दन्त, (च) नासिका, (छ) ओष्ठ तथा (ज) तालु।

(क) यदि[6] ह् पंचम वर्णों से अथवा अन्तस्थ वर्णों से युक्त रहता है, तो उसका स्थान उरस् होता है, वह उरस्य होता है, शेष स्थितियों में कण्ठ्य। जैसे अपराह्ण, अपह्नव, ब्राह्मण, बाह्य, ह्लादिनी, आह्लाद, आह्वान आदि में ह् उरस्य है, और हरि, हम आदि में कण्ठ्य। अवर्ण तथा (पूर्वोक्तशेष) हकार का कण्ठस्थान होता है।

(ख) इ वर्ण[7], चवर्ग य तथा श का तालुस्थान है, ये तालव्य हैं।

(ग) उवर्ण तथा पवर्ग का ओष्ठस्थान है, ये ओष्ठ्य हैं।

---

१. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः ॥ (११ का पूर्वार्ध)

२. उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥ १२ ॥

३. ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि ॥ (११ उत्तरार्ध)

४. श्लोक ११ देखिए।

५. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ १३ ॥

६. हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम् ।
उरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥ १६ ॥

७. कण्ठ्यावहाविचुयशाः तालव्या ओष्ठजावुपू ।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ॥ १७ ॥

(घ) ऋवर्ण, टवर्ग, र तथा ष का मूर्धास्थान है, ये मूर्धन्य हैं।
(ङ) लृवर्ण, तवर्ग, ल तथा स का दन्त है, ये दन्त्य हैं।
(च) कवर्ग[1] का जिह्वामूलस्थान है, यह जिह्वामूलीय है।
(छ) व का दन्त तथा ओष्ठस्थान है, यह दन्त्योष्ठ्य है।
(ज) ए और ऐ का कण्ठ तथा तालुस्थान है, ये कण्ठतालव्य हैं।
(झ) ओ तथा औ का कण्ठ तथा ओष्ठस्थान है, ये कण्ठोष्ठ्य हैं।
(ञ) अनुस्वार[2] तथा यम वर्णों का नासिकास्थान होता है।
(ट) सभी अयोगवाह अपने आश्रय के स्थानवाले होते हैं, अर्थात् ये जिन वर्णों के आश्रित रहते हैं, उन वर्णों के स्थान से ही इनका भी उच्चारण होता है। व्यासभाष्य ने बताया है कि औदव्रजि आचार्य के अनुसार विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार तथा हुँ यह अनुनासिक ये पाँच अयोगवाह हैं, परन्तु शिक्षा में अनुस्वार की गणना पृथक् की गई है।

इनमें व, ए, ऐ, ओ तथा औ इन पाँचों के दो-दो स्थान बताये गये हैं, शेष वर्णों का एक।

अनुस्वार और यमों के साथ पंचम वर्णों ङ ञ ण न म का भी नासिकास्थान कहना चाहिए था। इन पाँचों के भी दो-दो स्थान हैं। इनके एक-एक स्थान की तो चर्चा कर दी है, पर इन सबके उच्चारण में नासिका के योग की बात नहीं कही।

अयोगवाहों को आश्रयस्थानभागी बताया, यह भी ठीक नहीं लगता। इनमें प्रायः प्रत्येक का भिन्न और स्वतन्त्र स्थान है। ऐसा नहीं कि बालकः पचति, मुनिः पचति, साधुः पचति में विसर्ग का क्रमशः कण्ठ, तालु तथा ओष्ठस्थान है।

पाणिनीय शिक्षा का श्लोक १६ अस्पष्ट है :

अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य ह्येकारौकारयोर्भवेत्।
ऐकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम्॥

इसके अर्थ में कई मत हो जाते हैं। इतना तो ऊपर बताया जा चुका है कि ए ऐ तथा ओ औ ये द्विस्थानीय हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ए तथा ऐ में अ और इ के अंश एवं ओ और औ में अ तथा उ के अंश मिले हैं। किन्तु, इन चारों में किस वर्ण का कितना अंश मिला है, यहीं मतभेद है। इसमें चार मत सम्भव हैं :

क. इन चारों में पहली आधी मात्रा अ की, दूसरी डेढ़ मात्रा इ या उ की है, अर्थात् ½ अ + १½ इ = ए तथा ऐ; और ½ अ + १½ उ = ओ तथा औ हैं।

---

१. जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
ए ऐ तु कण्ठतालव्यौ ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ॥ १८॥

२. अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमुच्यते।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः॥ २२॥

ख. चारों में पहली एक मात्रा अ की तथा दूसरी एक मात्रा इ या उ की है; अर्थात् १ अ + १ इ = ए या ऐ, और १ अ + १ उ = ओ या औ है।

ग. ए में १ अ + १ इ है, ओ में १ आ + १ उ, ऐ में ½ अ + १½ इ तथा औ में ½ अ + १½ उ।

घ. ए में ½ अ + १½ इ, ओ में ½ अ + १½ उ, ऐ में १ अ + १ इ और औ में १ अ + १ उ।

प्रथम-द्वितीय मतों में ए ऐ तथा ओ औ में परस्पर अन्तर यह है कि ए और ओ का अ संवृत और ऐ तथा औ का विवृत है। अथवा ए तथा ओ का अ विवृत और ऐ तथा औ का विवृततर है : **तेभ्योऽपि विवृतावेङौ, ताभ्यामैचौ तथैव च।** यह अगले श्लोक २१ में स्पष्ट कर दिया है।

इन चारों मतों में से द्वितीय का ही पाणिनीयशिक्षा के टीकाकार गुरुप्रसादजी ने समर्थन किया है। याज्ञवल्क्यशिक्षा में इसके सम्बन्ध में ऐसी मान्यता है : **आद्या मात्रा तु कण्ठ्यस्य, एकारौकारयोर्भवेत्। तालव्यस्य तथोष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमम्**, अर्थात् 'ए' में पहली मात्रा कण्ठ्य (अ) की, दूसरी तालव्य (इ) की, और 'ओ' में पहली मात्रा कण्ठ्य (अ) की और दूसरी ओष्ठ्य (उ) की है। सारांश यह कि द्विमात्रिक ए में एक मात्रा पहले अ की, फिर एक मात्रा इ की है। इसी भाँति ओ में भी पहले एक मात्रा अ की, फिर एक मात्रा उ की है, यही याज्ञवल्क्यशिक्षा की सम्मति है। गुरुप्रसादजी के अनुसार चूँकि ए ओ में संवृत अ का विवृत इ या उ से मिट्टी-पानी-सा ऐसा मिश्रण हो गया है कि एक को दूसरे से अलग ही नहीं किया जा सकता, अतः यह कहना पड़ रहा है। ऐ औ में भी ठीक इसी प्रकार पहले एक मात्रा अ की, फिर दूसरी एक मात्रा क्रमशः इ उ की है। परन्तु, वहाँ दोनों के विवृत होने से इस प्रकार का सन्देह नहीं उठता कि किसकी कितनी मात्रा है, स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इसमें उन्होंने **एच् इग्घ्रस्वादेशे** का भाष्य भी प्रमाण दिया है।

एच् इग्घ्रस्वादेशे में यह शंका की गई है कि यह सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता है। इसपर उत्तर में वार्त्तिक है : **एच इग्वचनं सवर्णाकारनिवृत्त्यर्थम्।** इसकी व्याख्या भाष्यकार ने की है कि ए[1] तथा ओ के ह्रस्वरूप उपलब्ध हैं, अतः द्विमात्रिक ए ओ के स्थान में एकमात्रिक ह्रस्व ए ओ की प्राप्ति थी। और, ऐ औ में एक मात्रा अवर्ण की है, दूसरी मात्रा इवर्ण तथा उवर्ण की। अतः, इन दोनों का जब ह्रस्व किया जाता, तब बारी-बारी से कभी अ होता, कभी इ। ए, ओ, ऐ, औ चारों के स्थान में जब ह्रस्व होता हो, तब इ उ ही हो, इसलिए **एच् इग्घ्रस्वादेशे** यह नियम है। इस भाष्य पर कैयट ने यह

१. "एच इग् भवतीत्युच्यते. सवर्णनिवृत्त्यर्थमकारनिवृत्त्यर्थं च। सवर्णनिवृत्त्यर्थं तावत्—एङो ह्रस्वादेशशासनेषु अर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वा मा भूदिति। अकारनिवृत्त्यर्थं च—इमावैचौ समाहारवर्णौ मात्राऽवर्णस्य, मात्रेवर्णोवर्णयोः। तयोर्ह्रस्वशासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात् कदाचिदिवर्णोवर्णौ। मा कदाचिदवर्णं भूदित्येवमर्थमिदमुच्यते।"—सूत्र, १।१।४७।

शंका उठाई है कि ए ओ के ही स्थान में ह्रस्व ए ओ की आपत्ति की बात क्यों कही गई, ऐ औ के भी स्थान में ह्रस्व ए औ की शंका क्यों नहीं की गई है। और, इसका उत्तर उन्होंने यह[1] दिया है कि चूँकि ए तथा ओ में अ वर्ण प्रश्लिष्ट अर्थात्, अपृथक्-करणीय[2] रूप से घुलमिल गया है, इसलिए घुले-मिले अकारवाले ह्रस्व एकमात्रिक ए तथा ओ द्विमात्रिक ए ओ के ही स्थान में हो सकते हैं, ऐ औ में तो अ और इ का प्रश्लेष नहीं, समाहार-मात्र है, पहली मात्रा स्पष्ट अ की तथा दूसरी इ उ की है। 'नागेश'[3] ने उद्योत में कैयट का आशय यह बताया है कि सदृशतमत्व में केवल कण्ठतालव्यत्व ही नहीं, प्रश्लिष्टावर्णत्व भी लिया जायगा, इसलिए ह्रस्व ए ओ की प्रसक्ति केवल ए ओ में ही होगी, विश्लिष्टावर्ण ऐ औ में नहीं। अतः, इन दोनों में प्रमाणाभाव (विनिगमनाविरह) से कभी ह्रस्व अ तथा कभी ह्रस्व इ उ की प्रसक्ति होगी। यहाँ ए तथा ऐ में केवल अ की प्रश्लिष्टता तथा समाहार या विश्लिष्टता-मात्र की चर्चा है। यदि इन दोनों में अ की मात्रा का भी अन्तर होता, तो उसकी चर्चा अवश्य होती। **एओङ् ऐऔच्** के भाष्य में भी प्रायः यही बात कही गई है। अतः, गुरुप्रसादजी के मत से यह भाष्य ही इसमें प्रमाण है कि इन चारों सन्ध्यक्षरों में अ की एक मात्रा ही मिली है। इस आधार पर उनकी दृष्टि से इस श्लोक का यह पाठ प्रामाणिक है। शुद्ध पाठ होगा : **आद्या मात्रा तु कण्ठ्यस्य ह्येकारौकारयोर्भवेत्। इकारोकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम्॥** यहाँ पाणिनि ने ए ओ का ही विश्लेषण किया है, इसलिए कि ऐ औ में यह स्थिति इतनी स्पष्ट है कि कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। शैया स्पष्ट ही शइया की तरह उच्चरित होता है। पतंजलि, कैयट और नागेश सभी इस मत के ही पोषक हैं।

किन्तु, कात्यायन का मत भिन्न है, मिश्रण के तृतीय सिद्धान्त से मिलता-सा। वे **ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्** कहते हैं, जिसकी व्याख्या भाष्य ने की है : **भूयसी मात्रेवर्णोवर्णयोः, अल्पीयस्य वर्णस्य**। अर्थात्, ऐ औ में अधिक मात्रा इकार उकार की है, कम मात्रा अकार की। ए तथा ओ को वे क्रमशः इ और उ के तुल्यस्थानीय मानते हैं : **सिद्धमेङः सस्थानत्वात्**। इसकी व्याख्या भाष्य करता है : **एङः सस्थानत्वाद् इकारोकारौ भविष्यतः**, अर्थात् इ तथा ए का एक ही स्थान है, इसी भाँति उ तथा ओ का भी। प्रदीप ने इसे स्पष्ट कर दिया है : **एकारस्य तालव्यस्य तालव्य इकार, ओकारस्यौष्ठ्यस्योकार ओष्ठ्यो भविष्यतीत्यर्थः**, अर्थात् तालव्य एकार के स्थान में तालव्य इकार होगा, और ओष्ठ्य ओकार के स्थान में ओष्ठ्य उकार होगा। परन्तु, कात्यायन स्वयं यह स्पष्ट नहीं करते कि ए तथा औ में अ का कितना अंश मिला है। यदि यह कहें कि इनमें भी अ की मात्रा

१. एङः प्रश्लिष्टावर्णत्वात् प्रश्लिष्टावर्णावर्धेकारौकारौ प्राप्नुतो नतु विश्लिष्टावर्णयोरैचोरिति भावः। (एच् इग्घ्रस्वादेशे, १।५।४७ का भाष्य)

२. यद्यपि एओङ ऐऔच् के भाष्य में चारों में दोनों खण्डों का व्यपवर्ग माना गया है : 'क्व च व्यपवर्गः, सन्ध्यक्षरेषु'।

३. प्रश्लिष्टावर्णत्वादिनाप्यान्तरतम्यं गृह्यते इति भावः। (वही)

कम है, तब ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् का तर्क असंगत हो जाता है; क्योंकि ऐसा मानने पर उत्तरभूयस्त्व केवल ऐच् में नहीं, पूरे एच् (चारों सन्ध्यक्षरों में) में हो जाता है। यदि यह कहें कि ए ओ में अ और इ दोनों की मात्राएँ बराबर ही हैं, एक-एक, तब ये दोनों वर्ण इ और उ के समानस्थानीय कैसे हो सकेंगे? इ केवल तालव्य है, ऐ कण्ठतालव्य होगा, उ केवल ओष्ठ्य है, औ कण्ठौष्ठ्य होगा। यदि यह मानें कि ए ओ में अ का मिश्रण नहीं है, ये क्रमशः इ उ के ही द्विमात्रिक गुण रूप हैं और इन्हीं की भाँति शुद्ध तालव्य तथा ओष्ठ्य हैं, तो ये सन्ध्यक्षर कैसे माने जायेंगे? और, स्पष्ट ही देखते हैं कि देव + इन्द्र = देवेन्द्र में अ और इ मिलकर ए बनते हैं। पाणिनि के सूत्र **एचोप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ** से तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि एच् मात्र में ए, ऐ, ओ, औ चारों में, पूर्वार्ध अ तथा उत्तरार्ध इ उ है। तभी तो अग्निभूते के स्थान में अग्निभूत ३ इ, गृहे के स्थान में गृह ३ इ, पटो के स्थान में पट ३ उ हो जाते हैं, अर्थात् ए ओ में प्रश्लिष्ट अ इ वियुक्त हो जाते हैं तथा अ भाग का प्लुत होता है। इससे आगे के सूत्र से तो इस वियुक्त इ उ का यणादेश भी होता है। इससे आगे के सूत्र ने तो इस वियुक्त इ उ का यणादेश भी कर दिया है : **तयोर्य्वावचि संहितायाम्**, अर्थात् **अग्ने + आशा = अग्न इ आशा = अग्नयाशा, पटो + उदकम्, पट उ + उदकम् = पटवुदकम्**। इससे पूर्णतः स्पष्ट है कि पाणिनि के मत में ए ओ में भी आ का प्रश्लेष है, कात्यायन किस आधार पर इसका अपलाप कर सकते हैं?

पाणिनिशिक्षा में तो पाठभेद भी है, और यह भी सन्दिग्ध है कि यह शत-प्रतिशत मौलिक पाणिनिकृत शिक्षा पर आधृत है या कहीं अन्तर भी रखता है। परन्तु, पाणिनि के सूत्र **आद्गुणः** और **वृद्धिरेचि** यह प्रमाणित करते हैं कि ए, ओ, ऐ, औ चारों में अ का योग अवश्य है। अ + इ = ए, जैसे सुरेन्द्र; आ + इ = ए जैसे महेन्द्र; अ + ई = ए, जैसे सुरेश; और आ + ई = ए, जैसे महेश बनते हैं। इसी प्रकार, अ + ए = ऐ जैसे एकैक, पुत्रैषणा; आ + ए = ऐ, जैसे प्रज्ञैषणा; अ + ऐ = ऐ, जैसे धनैश्वर्य, आ + ऐ = ऐ, जैसे महैश्वर्य आदि बनते हैं। बल्कि, इन्हीं उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऐ औ में अ की मात्रा ए ओ की अपेक्षा अधिक ही है। क्योंकि, अ + इ, अ + ई, आ + इ तथा आ + ई से तो ए ही बनता है, जिससे अ की मात्रा अवश्यम्भावी है, फिर इसमें और भी अ की मात्रा जोड़ी जाती है : अ + ए, आ + ए, अ + ऐ, आ + ऐ तब जाकर ऐ निष्पन्न होता है। इसी प्रकार, अ + उ, अ + ऊ, आ + उ, आ + ऊ से तो ओ ही बनता है (सूर्योदय आदि), फिर इसमें और भी अ की मात्रा जोड़ी जाती है, अ + ओ, आ + ओ, अ + औ, आ + औ तब औ बनता है (परम + ओषधि = परमौषधि, महा + ओषधि = महौषधि); इसी भाँति 'एचोयवायावः' से ऐ औ के स्थान में आय्, आव्, पर ए ओ के स्थान में अय् अव् होते हैं। किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि ए ओ की तुलना में ऐ औ में अ की मात्रा अधिक रहने पर भी इ, उ की अपेक्षा कम ही है। अर्थात्, ए ओ में अ का प्रभुत्व अत्यल्प है, ऐ औ में उससे ज्यादा है, और चारों में अ का प्रभुत्व इ उ के प्रभुत्व

से कम ही है, चाहे उसकी मात्रा जितनी भी रहे। यदि यह पाणिनि का आशय मान लें, तो, कात्यायन और पतंजलि के भी मतों का उसके साथ समन्वय हो सकता है। अर्थात्, ऐ औ में अवर्ण का अंश ए ओ की अपेक्षा अधिक है, अतः कदाचित् वहाँ ह्रस्वविधान में इ, उ और कभी अ भी हो सकता है, पर ए ओ में अवर्ण का अंश इतना अल्प है कि वहाँ ह्रस्व-विधान में अवर्ण होने की कभी आशंका ही नहीं है, यह कात्यायन और पतंजलि का भाव है। परन्तु, तीनों मुनियों के मत से इन चारों सन्ध्यक्षरों में अ की सत्ता गौण है, इ उ की ही मुख्यता है, उसमें कोई बाधक तर्क नहीं दीखता। पाणिनि का **एच् इग्घ्रस्वादेशे** भी इसी सिद्धान्त का अनुवादक है, चारों के स्थान में ह्रस्व करने पर इ उ ही होंगे, अ होगा ही नहीं; क्योंकि उसकी सत्ता, इनमें गौण है। तभी लौकिक आधुनिक भाषाओं में भी फेंकना से फिकना की तरह तैरना से तिरना, बैठना से बिठाना आदि में ऐ का भी इ ही होता है। बल्कि, सच बात तो यह है कि स्वयं इ, उ में भी अ का स्वल्पतम अंश मिश्रित है, यह आगे विस्तार से बताया जायगा। इस प्रकार, सन्ध्यक्षरों में मिश्रण का प्रथम सिद्धान्त ही ठीक प्रतीत होता है।

जो ए ओ में अ + इ तथा अ + उ का और ऐ औ में आ + इ तथा आ + उ का मिश्रण मानते हैं, उनके अनुसार तो चौथा सिद्धान्त सही समझा जायगा।

इस श्लोक का तयोर्विवृतसंवृतम् भाग भी भ्रामक है। यहाँ यदि **संवृत-विवृतम्** ऐसा पाठ रहता, तो संगत होता। ए ओ में पूर्व भाग अ संवृत तथा परभाग इ उ विवृत हैं, अथवा ए ओ में पूर्वभाग अ संवृत है, किन्तु ऐ औ में पूर्वभाग अ विवृत है।

अस्तु; किसी भी भाँति हो, सभी वर्णों का उच्चारण केवल आठ स्थानों से होगा, इसे शिक्षा ने दिखा दिया है।

यहाँ एक प्रक्रमभंग है। स्थान-निर्देश के प्रसंग में यह चर्चा भी कर दी गई है कि **ओभावश्च विवृत्तिश्च, शषसा, रेफ एव च। जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥१४॥** अर्थात्, ऊष्म (विसर्गरूप) की अष्टविध गति होती है, विसर्ग के स्थान में आठ विकार होते हैं :

क. ओ भाव[1]—जैसे मनः + हरः = मनोहरः।

ख. विवृति[2]—जैसे वैदिक यः + ईशे = य ईशे, लौकिक रामः + इह = राम इह (सन्ध्यभाव)।

ग. श्[3]—जैसे, हरिः + शेते = हरिश्शेते, निः + चलः = निश्चलः।

घ. ष्[4]—जैसे, रामः + षष्ठः = रामष्षष्ठः, निः + षट्पदः = निष्षट्पदः।

---

१. हशि च, ६।१।११४।
२. भो भगो अघो अपूर्वस्ययोशि तथा लोपः शाकम् यस्य, ८३।१७ तथा १९।
३. विसर्जनीयस्य सः तथा स्तोः श्चुनाश्चुः, ८।४।४०।
४. विसर्जनीयस्य सः तथा ष्टुनाष्टुः, ८।४।४१।

ङ. स[1]—जैसे, रामः + त्राता = रामस्त्राता, कः + कः = कस्कः ।

च. रेफ[2]—जैसे, अहः + पति = अहर्पतिः, धूः + पतिः = धूर्पतिः (निः + गतः = निर्गतः आदि भी) ।

छ. जिह्वामूलीय[3]—अन्तः + करणम् = अन्तᳵकरणम् ।

ज. उपध्मानीय[4]—पयः + पानम् = पयᳶपानम् ।

वस्तुतः, यह प्रक्रमभंग-मात्र नहीं, कुछ असंगत-सा भी है। पाणिनीय व्याकरण में ओभाव, विवृति तथा रेफ ये तीन विसर्ग के स्थान में नहीं किये जाते। मनस्+हर = मनर्+हर = मनउ+हर = मनोहर इस प्रक्रिया में ओ विसर्ग रूप ऊष्म की गति नहीं है। यहाँ विसर्ग की तो प्रसक्ति भी नहीं है। उसी भाँति रामस् + इह = रामर् + इह = रामय् + इह में विसर्ग का कोई प्रसंग नहीं। धूर्पतिः भी धूः + पतिः से बना, यह बात नहीं; धूर् के बाद पति शब्द आने पर विसर्ग होना चाहिए था, जो नहीं हो सका, रोक दिया गया। यद्यपि किसी व्याकरण में ऐसी भी प्रक्रिया है, विसर्ग के स्थान में ही रेफ् किया जाता है। परन्तु, पाणिनीयशिक्षा को तो पाणिनीय व्याकरण का अनुसरण करना चाहिए। गुरुप्रसादजी ने यह कहकर निर्वाह करना चाहा है कि 'ये आदेश भले ही विसर्ग के स्थान में न हों, पर ओकारादिभाव को प्राप्त वस्तुतः विसर्ग ही है यह।' किन्तु, यह पाणिनि-समर्थित दृष्टि नहीं हुई। इससे तो यही अच्छा था कि यहाँ ऊष्म का अर्थ विसर्ग नहीं करके ऊष्ममात्र किया जाता। अर्थात्, ऊष्म-मात्र की ये ही गतियाँ सम्भव हैं। ऐसी स्थिति में ओभाव, विवृति तथा रेफादेश ये तीनों स् के उदाहरणरूप में रहते। मनोहरः, अतएव, निर्गतः आदि में ओ, विवृति तथा रेफ का मूल स् ही है। स् के स्थान में ये आठों विकार होते हैं। इसके बाद का श्लोक[5] तो और भी छिछला है। इसमें बताया गया है कि ओभाव दो तरह का होता है। जहाँ उत्तर खण्ड उवर्ण रहता है, वहाँ ओभाव का कारण पूर्वखण्ड की स्वरान्तता (अकारान्तता) है, जैसे **इषे त्वा ऊर्जे त्वा = इषे त्वोर्जेत्वा** आदि। इससे भिन्न जो ओ प्राप्त होता है, वह ऊष्म का होता है।

आभ्यन्तर प्रयत्न :

इसका श्लोक २० भी अस्पष्ट है : **संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्। घोषा वा संवृताः सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः ॥** अर्थात्, मात्रिक संवृत होते हैं और द्विमात्रिक विवृत; अथवा यह कहना चाहिए कि सभी घोष संवृत होते हैं और अघोष विवृत। इस उक्ति में दो दोष हैं :

---

१. विसर्जनीयस्य सः, ८।३।३४।
२. 'अरुरादीनां पत्यादिषु वा रेफः।' (वार्त्तिक, सू० ८।२।७० पर)
३. 'कुप्वोःᳵकᳶपौ च।' (८।३।३७)।
४. वही।
५. यद्योभावप्रसन्धानमुकारादिपरं पदम्।
स्वरान्तं तादृशं विद्याद् यदन्यद् व्यक्तमूष्मणः ॥ १५ ॥

१. सभी मात्रिक संवृत नहीं, केवल मात्रिक अ ही संवृत माना जाता है। शेष सभी स्वर चाहे वे मात्रिक हों या द्विमात्रिक, विवृत हैं और द्विमात्रिक ही क्यों, सभी त्रिमात्रिक भी विवृत ही हैं।

२. अथवा सभी घोष संवृत हैं और अघोष विवृत। क्या मतलब ? घोष अघोष तो बाह्य प्रयत्न हैं, और संवृत आभ्यन्तर प्रयत्न। घोष बाह्य प्रयत्नवाले ग घ ङ आदि हश् प्रत्याहार के वर्णों का संवृत आभ्यन्तर प्रयत्न है और अघोष बाह्य प्रयत्नवाले क, ख आदि खय् प्रत्याहार के वर्णों का विवृत आभ्यन्तर प्रयत्न है, यह अर्थ तो उपहासास्पद रूप से असम्भव है। यदि यह कहें कि पूर्वार्ध में आभ्यन्तर प्रयत्न की चर्चा है और उत्तरार्ध में बाह्य प्रयत्न की, तो **घोषा वा संवृताः सर्वे** यहाँ 'वा' कहना असंगत लगता है। यद्यपि बाह्य प्रयत्न-निरूपण में यह अर्थ बिलकुल सही है कि जिनका घोष प्रयत्न है, उनका संवार भी है तथा जिनका अघोष है, उनका विवार भी। तो क्या इस श्लोक में आभ्यन्तर प्रयत्न के विवृत, संवृत और बाह्य प्रयत्न के विवार में भ्रम हो गया है ? आश्चर्य है कि गुरुप्रसादजी ने भी इसपर कोई आपत्ति नहीं की है। वे पूर्ण समर्थन के साथ इस श्लोक की व्याख्या कर देते हैं कि अकारादि मात्रिक संवृत हैं और आकारादि द्विमात्रिक विवृत, तथा घोष प्रयत्नवाले ग ज ड द ब, घ झ ढ ध भ, ङ ञ ण न म और य र ल व ह ये बीस संवृत हैं और अघोष प्रयत्नवाले क च ट त प, ख छ ठ थ फ और श ष स ये तेरह वर्ण विवृत हैं। इस श्लोक के पूर्वार्ध-उत्तरार्ध दोनों असंगत लगते हैं, उसी भाँति यह व्याख्या भी असंगत लगती है। क्या गुरुप्रसादजी भी श्लोक के पूर्वार्ध की भाँति मात्रिक इ, उ, ऋ को संवृत मानते हैं ? पर, इसमें उन्होंने प्रमाणस्वरूप जो याज्ञवल्क्यशिक्षा का उदाहरण दिया है, उसमें तो अकारादि नहीं, अकार कहा है : **अकारः संवृतो ज्ञेयः इतरे विवृताः स्वराः**। अर्थात्, याज्ञवल्क्यशिक्षा के अनुसार केवल अ संवृत है, शेष सभी स्वर विवृत हैं, बल्कि याज्ञवल्क्यशिक्षा ने अकारमात्र को संवृत कह दिया है, चाहे वह एकमात्रिक हो या द्विमात्रिक या त्रिमात्रिक। और, पाणिनीयशिक्षा के अनुसार सभी मात्रिक (ह्रस्व) वर्ण संवृत हैं। दोनों में साम्य ही क्या है कि याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रमाण-रूप में उद्धृत की गई है। गुरुप्रसादजी इस श्लोक के उत्तरार्ध में बाह्य प्रयत्न-निरूपण मान रहे हों, ऐसी बात नहीं। वे स्पष्ट लिखते हैं कि **एवमकारादीनां करणं निरूप्य हलामपि तदाह**, अर्थात् अकारादि स्वरों का करण (अभ्यन्तर प्रयत्न) बताकर, अब व्यंजनों का भी वह (करण) कहते हैं। यहाँ श्लोक १० की प्रतिज्ञा के अनुसार करण का अर्थ अनुप्रदानभिन्न प्रयत्न, अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न ही है। **याज्ञवल्क्यशिक्षा** में भी यह प्रसंग ऐसा ही भ्रामक है। **चतुर्विधं करणम्, स्पृष्टमस्पृष्टं संवृतं विवृतं चेति। संवृता घोषा विवृता अघोषाः। विशंतिर्घोषास्ते गजडदबा, घझढधभा, ङञणनमा, यरलवाश्चेति। त्रयोदश घोषास्ते कचटतपा :, खछठथफा :, शषसाश्चेति।** गुरुप्रसादजी ने पाणिनीय शिक्षा के श्लोक २० की व्याख्या में याज्ञवल्क्य-शिक्षा के इस अनुच्छेद की ही सहायता ली है। याज्ञवल्क्यशिक्षा से उन्होंने जिस **अकारः संवृतो ज्ञेयः इतरे विवृताः स्वराः** को उद्धृत किया है, वह निर्णयसागर प्रेस से द्वितीया-

वृत्ति में सन् १६२६ ई० में प्रकाशित शुक्लयजुर्वेदसंहिता के परिशिष्ट में दी गई 'याज्ञवल्क्यशिक्षा' में मिलती भी नहीं है। यदि किसी प्रामाणिक संस्करण में वह हो भी, तो उसका भी इस अनुच्छेद से विरोध पड़ता है। उसमें केवल अ को संवृत कहा है, इसमें बीस व्यंजनों को भी! यह भी स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्यशिक्षा में गृहीत यह संवृत-विवृत बाह्य प्रयत्न के नहीं; क्योंकि इन्हें करण कहा गया है, जो नाम केवल आभ्यन्तर प्रयत्न का ही मिलता है। साथ ही, इन्हें स्पृष्ट-अस्पृष्ट के साथ रखा गया है, जो स्पष्टतः बाह्य नहीं, आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। अतः, उनके साहचर्य से ये संवृत-विवृत भी आभ्यन्तर प्रयत्न ही समझे जायेंगे।

लगता है, पाणिनीयशिक्षा तथा याज्ञवल्क्यशिक्षा दोनों के करण-निर्देशक अंश एक ही स्रोत से लिये गये हैं, और वहाँ पाठाशुद्धि है। अथवा वहाँ आभ्यन्तर-बाह्य प्रयत्नों का घालमेल हो गया है। अन्यथा, आभ्यन्तर प्रयत्न में स्पृष्ट के साथ जो संवृत-विवृत हैं, उनसे घोष-अघोष का कोई नाता नहीं है। घोष के साथ संवार और अघोष के साथ विवार बाह्य प्रयत्नों के अन्तर्गत हैं। सम्भवतः, संवृत-संवार और विवृत विवार का मिश्रण हो गया है। आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टि से सभी वर्गीय वर्ण स्पृष्ट हैं, उनमें न कोई विवृत है, न संवृत। अतः, ग घ ङ संवृत हैं, तथा क ख विवृत, यह कहना असंगत है। कहना चाहिए था कि ग घ ङ आदि का संवार और घोष बाह्य प्रयत्न है तथा क ख आदि का विवार, अघोष। इतना ही नहीं, स्वयं इसी ग्रन्थ में श्लोक २० का २१ से तथा दोनों का ३८ से भी विरोध है। श्लोक २१ तथा ३८ में है:

स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ, ताभ्यामैचौ तथैव च ॥२१॥
अचो स्पृष्टाः यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलस्तथा।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ताः (निबोधानुप्रदानतः) ॥३८॥

श्लोक २० में सभी मात्रिक वर्णों का संवृत तथा केवल द्विमात्रिकों का विवृत प्रयत्न माना और २१ में सभी स्वरों का विवृत प्रयत्न कहा, अ को भी नहीं छोड़ा। उसमें संवृतत्व की अतिव्याप्ति, इसमें विवृतत्व की। फिर, श्लोक २१ में स्वरों तथा ऊष्मों का विवृत करण कहा और ३८ में स्वरों को अस्पृष्ट और ऊष्मों को नेमस्पृष्ट कहा। यदि ३८वें श्लोक को पाणिनिमतानुसारी मानें, तो पाणिनि का **नाज्झलौ** सूत्र व्यर्थ होता है। इस सूत्र से अच् और हल् की संवर्णसंज्ञा का निषेध किया गया है। ३८वें श्लोक के अनुसार तो स्वर-मात्र अस्पृष्ट हैं, शेष सभी व्यंजन ईषत् स्पृष्ट, नेमस्पृष्ट या स्पृष्ट हैं, फिर सवर्णसंज्ञा की प्राप्ति कहाँ है? श्लोक २१ के अनुसार भी केवल ऊष्मों के साथ ही स्वरों की सवर्णसंज्ञा की प्राप्ति है; क्योंकि दोनों का विवृत करण है। ऐसी स्थिति में पाणिनि को प्रक्रिया-लाघव के लिए अच् और हल् की नहीं, शल् (ऊष्म) की सवर्णसंज्ञा का निषेध करना चाहिए था, **नाच्छलौ** सूत्र रखना चाहिए था। हाँ, यदि श्लोक २० को पाणिनि-समर्थित मानें, तो सभी व्यंजनों की किसी-न-किसी स्वर के साथ

सवर्णसंज्ञा प्राप्त हो जाती है; **जैसे राजा + कथयति**, यहाँ द्विमात्रिक आ का भी विवृत प्रयत्न है और अघोष क का भी, अतः कण्ठ्य होने से दोनों सवर्ण कहे जाते, तो सवर्ण दीर्घ हो जाता। ऐसी स्थिति में **नाज्झलौ** से अच् और हल् की सवर्णसंज्ञा का निषेध किया गया है।

इन तीनों श्लोकों को मिलाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्लोक २० तथा २१ में आभ्यन्तर प्रयत्न की कसौटी मुखविवर की विवृतता-संवृतता रखी गई है और ३८वें में जिह्वा के द्वारा उन-उन स्थानों का स्पर्श या अस्पर्श सामीप्य-मात्र। इतना अंश तो वैज्ञानिक है। बादवाले विवेचकों ने सभी वर्णों को इन दोनों कसौटियों पर नहीं कसा है। व्यंजनों तथा अन्तस्थों को केवल स्पृष्टता की तुला पर तौला है तथा स्वरों और ऊष्मों को विवृतता की। पाणिनीयशिक्षा में दी गई इन दोनों तुलाओं के अनुसार सभी वर्णों का वर्गीकरण निम्नांकित प्रकार से होगा :

विवृतता :

१. सभी एकमात्रिक वर्ण संवृत[1] हैं, अथवा सभी वर्ण, जिनका बाह्य प्रयत्न घोष माना जाता है, संवृत हैं। अर्थात्, इनके उच्चारण में मुख-विवर पूरा खुला नहीं रहता, दोनों ओठ पास-पास आ जाते हैं। वर्गों के प्रथम तृतीय पंचम य र ल व ह तथा सभी स्वर इनका संवृत आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। यह पूरा वक्तव्य अशुद्ध तथा पूर्वापरविरुद्ध है। याज्ञवल्क्यशिक्षा का कहना सही है कि केवल अ (अर्थात् एकमात्रिक) संवृत है।

२. सभी द्विमात्रिक वर्ण विवृत हैं, अथवा वर्गों के प्रथम द्वितीय वर्ण तथा श ष स ये सब विवृत आभ्यन्तर प्रयत्नवाले हैं। यह भी पूर्व वक्तव्य की तरह ही अशुद्ध तथा पूर्वापरविरुद्ध है। वास्तव में, ह्रस्व अ को छोड़ शेष केवल सभी स्वर विवृत हैं। कोई भी व्यंजन न संवृत है, न विवृत।

३. स्वरों[2] और ऊष्मों का विवृत करण है, पर इन सबमें अधिक विवृत हैं ए ओ तथा उनसे भी अधिक विवृत हैं ऐ औ। यहाँ सब स्वरों को विवृत कहना ठीक नहीं, ह्रस्व अ तो संवृत है। ऊष्म भी विवृत नहीं, पर ईषद् विवृत तो हैं ही। व्यंजनों में एकमात्र इन्हीं में विवृतता है, चाहे वह स्वरों की तुलना में कम ही क्यों न हो। ए ओ, ऐ औ को पतंजलि ने भी और स्वरों से अधिक विवृत माना है : **यदत्रावर्णं विवृततरं तदन्यस्मादवर्णाद् ये अपीवर्णोवर्णे विवृततरे ते अन्याभ्यामिवर्णोवर्णाभ्याम्**। पर, पतंजलि ने ऐ औ में ए ओ की अपेक्षा भी अधिक विवृतता नहीं बताई है। विवृतता का अर्थ है मुखविवर का खुला रहना।

४. इस उक्ति से स्वतः यह स्पष्ट हो गया है कि वर्गीय वर्णों तथा अन्तस्थ में विवृतता बिलकुल नहीं है।

---

१. श्लोक २०। २. श्लोक २१।

स्पृष्टता[1] :

१. सभी अच् या स्वर अस्पृष्ट हैं, अर्थात् इनके उच्चारण में जीभ सम्बद्ध स्थानों को छूती नहीं, पास भर जाती है।

२. सभी अन्तस्थ ईषत् स्पृष्ट हैं, अर्थात् इनके उच्चारण में भी जिह्वा सम्बद्ध स्थानों के अधिक निकट चली जाती हैं, पर उन्हें सर्वथा छूती नहीं।

३. सभी ऊष्म नेमस्पृष्ट, अर्थात् अर्धस्पृष्ट हैं। इनके उच्चारण में जीभ अन्तस्थों की भी तुलना में निकटतर पहुँच जाती है, पर पूरा स्पर्श नहीं कर पाती, लगता है, स्पर्श हो ही जायगा।

४. शेष हल्, अर्थात् सभी वर्गीय वर्ण स्पृष्ट हैं, इनके उच्चारण में जीभ सम्बद्ध स्थानों को छू देती है।

यह वक्तव्य बड़ा स्पष्ट, पूर्ण तथा वैज्ञानिक है। यदि तालुस्थानीय वर्णों को ही लिया जाय, तो यह प्रतीत होता है कि चवर्ग के उच्चारण में जिह्वा तालु को छू देती है। श् के ऊच्चारण में वह लगता है, अब छू ही देगी, पर नाममात्र का अन्तर तालु और जीभ के बीच रह जाता है। य् के उच्चारण में यह अन्तर बढ़ जाता है। इ के उच्चारण में यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है।

यदि ठीक इसी प्रकार विवृतता की भी विवेचना करें, तो यह तालिका उलट जायगी :

१. स्वरों के उच्चारण में जीभ सम्बद्ध स्थान को छूती नहीं, उससे कुछ दूरी पर रहती है, अतः मुखविवर में हवा के आने-जाने की काफी जगह रहती है। इसलिए, सभी स्वर विवृत हैं। हाँ, इनमें ह्रस्व अ संवृत या सर्वाल्प विवृत तथा सन्ध्यक्षर सर्वाधिक विवृत हैं।

२. ऊष्मों के उच्चारण में जिह्वा तथा सम्बद्ध स्थान का अन्तर अपेक्षाकृत थोड़ा अधिक सँकरा हो जाता है।

३. अन्तस्थों के उच्चारण में यह सँकरापन और भी बढ़ जाता है।

४. और, स्पर्शों के उच्चारण में जीभ सम्बद्ध स्थान को पूरी तरह छूकर एक क्षण के लिए हवा का मार्ग अवरुद्ध कर देती है।

इन सबका उदाहरण क्रमशः इ, श, य तथा चवर्ग का उच्चारण है। इनके उच्चारण में क्रमशः विवृतता कम होती जाती है, और स्पृष्टता बढ़ती जाती है। याज्ञवल्क्यशिक्षा में इन दोनों कसौटियों की चर्चा-मात्र है : **चतुर्विधं करणम्, स्पृष्टमस्पृष्टं संवृतं विवृतं** चेति। किस वर्ण का क्या करण है, यह नहीं दिया है।

---

१. श्लोक, ३८।

बाह्य प्रयत्न :

श्लोक ३८ में आभ्यन्तर प्रयत्नों का वर्णन करने के बाद, ३९ में बाह्य प्रयत्नों का वर्णन है : निबोधानुप्रदानतः अमोऽनुनासिका न ह्रौ, नादिनो ह झषाः स्मृताः । ईषन्नादा यणूजशः श्वासिनस्तु खफादय. ।। ३९ ।।

ईषच्छ्वासांश्चरो विद्याद् गोर्धाम्मैतत् प्रचक्षते ।
दाक्षीपुत्रपाणिनिना येनेदं व्यापितं भुवि ।। ४० ।।

इन पंक्तियों में निम्नांकित बातें बताई गई हैं :

१. सभी स्वर, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, ये वर्ण पाणिनि-प्रत्याहार के अनुसार 'अम्' कहे जाते हैं। इन में ह् तथा र् को छोड़ शेष सभी वर्णों का आनुनासिक्य बाह्य प्रयत्न है।
२. झष् प्रत्याहार के वर्ण, अर्थात् झ भ घ ढ ध और ह इनका नाद अनुप्रदान है।
३. यण्, अर्थात् य र ल व तथा ज श् अर्थात्, ज ब ग ड द इनका इर्षन्नाद अनुप्रदान है।
४. ख फ छ ठ थ का श्वास प्रयत्न है।
५. चर्, अर्थात् च, ट, त, क, प का ईषच्छ्वास-प्रयत्न है।
६. दाक्षीपुत्र पाणिनि के द्वारा वाणी के आश्रयस्थानभूत ये वर्ण और उनकी उच्चारण-विधि पृथ्वी पर प्रवर्त्तित हैं।

इस वक्तव्य में निम्नांकित त्रुटियाँ हैं :

१. ह् और र् को छोड़ अम् प्रत्याहार के सभी वर्णों को एक ही समान अनुनासिक बना देना ठीक नहीं। सभी स्वरों के दो रूप होते हैं : अननुनासिक तथा अनुनासिक। अतः, स्वरों की अनुनासिकता वैकल्पिक कहनी चाहिए थी। परन्तु ङ, ञ, ण, न, म नित्य अनुनासिक हैं, इनका अननुनासिक कोई रूप नहीं है। अतः, दोनों को दो प्रकारों से कहना चाहिए था। गुरुप्रसादजी ने इसका समाधान नहीं किया है।

२. बल्कि आनुनासिक्य को अनुप्रदान कहना भी बिलकुल सही नहीं लगता। अनुप्रदान या बाह्य प्रयत्न शब्द से स्वरतन्त्रीय प्रयत्नों का ही ग्रहण होता है। नासिकावर्त्ती प्रक्रिया उससे भिन्न है। कुछ लोग इसे स्थान-प्रकरण में रखते हैं। इस पुस्तक में भी श्लोक १३ में आठ स्थानों में नासिका को भी एक गिना है और श्लोक २२ में अनुस्वार तथा यमों का नासिकास्थान बताया भी गया है। अतः, आनुनासिक्य की भी चर्चा स्थान-प्रकरण में ही होनी चाहिए थी। पाणिनि ने मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः[१] सूत्र से इसी मत का समर्थन किया है, उनके अनुसार जिसका उच्चारण मुख तथा नासिका दोनों से हो, उसे अनुनासिक कहेंगे।

१, अष्टाध्यायी, १।१।८।

३. यदि मुखविवर को ही स्थान शब्द से लें, नासिका-विवर को नहीं, तो नासिक्य को बाह्य प्रयत्न भी कह सकते हैं। पर, सभी स्वरों तथा य, व, ल और ङ, ञ, ण, न, म का केवल आनुनासिक्य ही बाह्य प्रयत्न नहीं हैं। इन सबका नाद भी बाह्य प्रयत्न है। इसकी चर्चा भी यहाँ अवश्य होनी चाहिए थी, नहीं होना भ्रमजनक है। गुरुप्रसादजी ने इस विषय पर ध्यान ही नहीं दिया है।

४. इस श्लोक के अनुसार केवल नाद-श्वास ही बाह्य प्रयत्न है (अनुप्रदान)। यदि इसके साथ श्लोक २० को रखें, तो यह आभास होता है कि पाणिनिशिक्षा के अनुसार नाद-श्वास मात्र ही अनुप्रदान हैं, संवृत-विवृत (संवार-विवार) और घोष-अघोष अनुप्रदान नहीं, करण हैं (आभ्यन्तर प्रयत्न), पर यह ठीक नहीं। यहाँ यह भी कह देना चाहिए था कि जिनका नाद अनुप्रदान कहा गया, उनका संवार तथा घोष भी अनुप्रदान है, और जिनका श्वास कहा गया, उनका विवार तथा अघोष। गुरुप्रसादजी ने नाद को संवार घोष का भी तथा श्वास को विवार अघोष का भी उपलक्षण मानकर व्याख्या की है। पर, श्लोक २० के साथ तुलना करने पर यह शंका होती है कि क्या नाद-श्वास ही अनुप्रदान हैं; विवार-संवार और अघोष-घोषकरण हैं ?

५. च, ट, त, क, प के साथ श, ष, स को भी ईषत्श्वास कह दिया, यह तो बहुत बड़ा प्रमाद हो गया। सबसे अधिक श्वास तो इन्हीं वर्णों में है। इनकी तो एक अलग श्रेणी बनाकर इन्हें अधिकश्वास कहना चाहिए था। इसपर भी गुरुप्रसाद जी ने ध्यान नहीं दिया।

६. इस प्रसंग में अल्पप्राणत्व-महाप्राणत्व की चर्चा नहीं की गई है।

७. लगता है, श्लोक ३८, ३९, ४० तीनों बाद के प्रक्षेप हैं। श्लोक १९ तक स्थाननिरूपण है; २० तथा २१ में करण तथा प्रयत्न (आभ्यन्तर बाह्य प्रयत्नों) का निरूपण और २२ में फिर स्थान-निरूपण है। तब २३ से ३७ तक विभिन्न वर्णों की विशेषतः अनुनासिक की उच्चारण-विधि है। बीच के १६ श्लोकों में दूसरी चर्चाएँ करके फिर से ३८, ३९ तथा ४० में आभ्यन्तर, बाह्य प्रयत्नों की विस्तृत व्याख्या करना स्पष्ट ही बाद का मिश्रण प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्यशिक्षा में यह अंश नहीं है।

श्लोक २३ से ३७ तक निम्नांकित बातें हैं :

१. अनुस्वार[1] सदा श, ष, स, ह तथा र के पहले और स्वर के बाद उच्चरित होना चाहिए। इसका उच्चारण दन्तमूल से होना चाहिए, और इसमें लौकी से बनी वीणा की तरह निर्घोष होना चाहिए (२३)।

इस उक्ति में निम्नांकित तथ्य है :

(क) अनुस्वार तो स्वरानुग, अर्थात् स्वर का अनुगामी या स्वर के बाद आनेवाला होगा ही। अनुस्वार यह नाम अनुगुण है, सार्थक है। अनुस्वार का शब्दान्तर ही है

१. अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्यः स्वरानुगः।
अनुस्वारस्तु कर्त्तव्यो नित्यं ह्रोः शषसेषु च ॥२३॥

स्वरानुग। पाणिनिसूत्र के अनुसार पद[१] के अन्त में आये म् के स्थान में अनुस्वार होता है, यदि बाद में कोई व्यजंन आ रहा हो, अथवा पद[२] के भीतर आए न् या म् के स्थान में अनुस्वार हो, यदि बाद में अल् प्रत्याहार का कोई वर्ण (क ख ग घ, च छ ज झ, ट, ठ, ड ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ, श, ष, स ह) आये। इस प्रकार, न् या य् के बाद किसी व्यंजन वर्ण के आने पर ही न् या म् का अनुस्वार होता है। अतः, तीनों व्यंजनों की निरन्तर स्थिति की दशा विरल होने से अनुस्वार के (न् या म् के) पहले व्यंजन की सत्ता मिल ही नहीं पाती। कात्स्न्र्य, माहात्म्य आदि में तीन या तीन से अधिक वर्ण तथा न् म् के पूर्व तथा पर में व्यंजन मिलते भी हैं, तो बाद में अन्तस्थ मिलता है, जहाँ अनुस्वार की विधि नहीं है। इसलिए, पाणिनिसूत्रों के नियम से ही यह स्पष्ट है कि अनुस्वार सदा स्वर के बाद होगा, जैसे संसार, हंस, मीमांसा आदि।

(ख) इसी प्रकार, यह भी पाणिनि-नियमानुसार ही है कि अनुस्वार सदा श, ष, स,ह, र के पहले ही मिलेगा। शेष[३] व्यंजनों के पूर्व उसका कोई-न-कोई दूसरा विकार हो जायगा। जैसे : अङ्क, अङ्ग में अनुस्वार का ङ, अन्त कान्त, अन्ध में न , कम्प, कुम्भ आदि में म, मञ्च, वञ्चित आदि में ञ तथा कुण्ठा, मण्डित आदि में ण हो जायगा। अतः, अनुस्वार के उदाहरण उपर्युक्त संसार, हंस आदि ही रहेंगे, जहाँ अनुस्वार के बाद र या कोई ऊष्म वर्ण आता हो।

किन्तु, यह उक्ति अधूरी है। कहना चाहिए था कि श ष स ह तथा र के पहले अनुस्वार सदा अनुस्वार ही रहेगा, पर यदि शेष वर्णों के पहले आयगा, तो दो स्थितियाँ होंगी। यदि एक ही पद है, तो वहाँ अनुस्वार निश्चित रूप से आगे आनेवाले वर्ण के सजातीय अनुनासिक में परिणत हो जायगा; जैसे अङ्क आदि। किन्तु, यदि दो पदों में पूर्वपद के अन्त में अनुस्वार हो और उत्तरपद की आदि में कोई वर्गीय वर्ण या य व ल, तो अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण अनुनासिक ऐच्छिक[४] रूप से होता है; जैसे सङ्गति और संगति, सञ्चय और संचय, सन्ताप और संताप तथा सम्भव और संभव दोनों रूप होंगे। इसी तरह सँय्यम—संयम, सँव्वत्सर—संवत्सर तथा सँल्लाप—संलाप दोनों सही हैं। इस श्लोक में इस ऐच्छिक अनुस्वार की चर्चा नहीं है। नारदशिक्षा[५] में इन सबका संग्रह है।

(ग) इसका उच्चारण दन्तमूल से होना चाहिए, यह उक्ति ठीक नहीं लगती। श्लोक २२ से इसका विरोध भी है। उसके अनुसार अनुस्वार का नासिकास्थान है। वास्तव में, अनुस्वार का स्थान शुद्ध नासिका ही है।

---

१. मोऽनुस्वारः, ८।३।२३।
२. नश्चापदान्तस्य झलि, ८।३।२४।
३. अनुस्वारस्य यपि परसवर्णः, ८।४।५८।
४. वा पदान्तस्य, अष्टाध्यायी, ८।४।५९।
५. आपद्यते मकारो रेफोष्मसु, प्रत्ययेष्वनुस्वारम्।
यवलेषु परसवर्णं, स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम्॥

(घ) अनुस्वार को लौकी की वीणा के निर्घोष की भाँति कहना केवल साहित्यिक वर्णन हुआ, यह कोई वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं है।

२. अनुस्वार, विवृति, विराम, अक्षरद्वय में भी होठों को दो बार खोले, जैसे औकार तथा वकार[१] में। इस उक्ति का सरल अर्थ तो यही प्रतीत होता है कि इन वर्णों के उच्चारण में दो बार होठ खुलेंगे और बन्द होंगे। यह उक्ति तो विचित्र लगती है, गलत भी। गुरुप्रसादजी ने इस श्लोक का अवतरण तो लिखा है कि **अनुस्वारादेरुच्चारणस्य प्रकारमाह**, अर्थात् अनुस्वार आदि के उच्चारण का प्रकार कहते हैं; पर व्याख्या में इस श्लोक का अर्थ सर्वथा मनमाने ढंग से कर दिया है : **अनुस्वारादौ परतः पूर्वाक्षरे उच्चारयितव्ये द्विरोष्ठौ पृथक् कुर्यात्**, अर्थात् **तत्र गुरुत्व द्विमात्रिकत्वं च कुर्यात्**; अनुस्वार, विवृति, विराम और संयुक्ताक्षर के पूर्व अच् के उच्चारण करने के समय उसी प्रकार दोनों होठों को दो बार खोले, जैसे कि औकार और वकार के उच्चारण में खोला जाता है, अर्थात् इनके परे रहते पूर्व अच् को गुरु (द्विमात्रिक) उच्चारण करे। किन्तु, यह व्याख्या भी मूल की भाँति ही अस्पष्ट और असंगत रह गई। 'हंसः' में अनुस्वार के पूर्ववर्त्ती अ में द्विमात्रिकता नहीं रहती, सानुस्वार[२] अ में द्विमात्रिकता या गुरुता मानी जाती है। विवृति के परे रहते भी कहीं पूर्व अच् में गुरुत्व नहीं माना जाता। यथः **श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम्**[३] यहाँ विवृति के पहले के अ में गुरुत्व नहीं माना जाता, किसी के मत से नहीं। ऐसे उदाहरण बृहत्त्रयी में अनेक मिलेंगे। और व के उच्चारण में भी गुरुत्व है, द्विमात्रिकता है, इसे कौन मानेगा? यह तो अर्धमात्रिक व्यंजन है। फिर, होठ को दो बार खोलने का अर्थ द्विमात्रिकता किस सम्बध से कैसे होगा?

३. जिस प्रकार सौराष्ट्र (काठियावाड-गुजरात-जूनागढ़) देश की स्त्रियाँ स्वभावतः तक्रँ ऐसा बोलती हैं,[४] इसी प्रकार 'रङ्ग' वर्णों का उच्चारण करना चाहिए, जैसे **खे अराँ इव खेदया** इस मन्त्रखण्ड में। गुरुप्रसादजी लिखते हैं कि नकार और मकार के स्थान में **नश्छव्य-प्रसान्**,[५] **समः सुटि**[६] आदि सूत्रों से जो 'रु' आदेश होता है, उसकी उपधा का **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा**[७] इस सूत्र से जो अनुनासिक रूप-रंजन होता है, उसको वैदिक परिभाषा में 'रङ्ग' या 'उपधारंजन' कहते हैं। रङ्ग के

१. अनुस्वारे विवर्त्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।
द्विरोष्ठौ तु विगृह्णीयाद् यथौकारवकारयोः ॥२४॥

२. संयोगाद्यं दीर्घं, सानुस्वारं विसर्गसंमिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरुं पादान्तस्थं विकल्पेन ॥—श्रुतबोध।

३. रघुवंश, ३।४६।

४. यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते।
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः खे अराँ इव खेदया ॥ २६ ॥

५. अष्टा॰ ८।३।७। ६. वही, ८।३।५। ७. वही, ८।३।२।

उच्चारण में ङकार का उच्चारण न होकर केवल अनुनासिक-मात्र का ही उच्चारण होना चाहिए, अर्थात् 'अराँ' का 'अराङ्' ऐसा उच्चारण नहीं करना चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि यदि कोई स्वर अनुनासिक होता है, तो वहाँ आनुनासिक्य-मात्र का उच्चारण होगा, ङ्, ञ्, ण्, न्, म् का उच्चारण निराधार ही है।

४. रङ्गवर्ण[1] का प्रयोग करते समय पूर्व अक्षर का ग्रास नहीं करना चाहिए, अर्थात् रङ्गपूर्ववर्त्ती स्वर का और रङ्ग का पृथक्-पृथक् उच्चारण होना चाहिए, दोनों का परस्पर संकर नहीं करना चाहिए। पहले दीर्घ स्वर का प्रयोग करना चाहिए, उसके बाद नासिक्य का। दीर्घस्वर को ही नासिक्य नहीं कर देना चाहिए।

यह विश्लेषण भी विलक्षण ही है। अराँ का उच्चारण करते समय पहले शुद्ध आ का उच्चारण कर लेना चाहिए, फिर नासिक्य अंश का। तो, नासिक्य का उच्चारण किस प्रकार होगा? पिछले श्लोक में तो मना किया कि अराँ का उच्चारण अराङ् की भाँति नहीं करना चाहिए। यह तो विचित्र स्थिति है। रङ्ग कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं, वर्णधर्ममात्र है। पाणिनिशिक्षा में अनुस्वार का स्थान-निर्देश[2] किया गया है, उसे वर्ण-गणना में स्वतन्त्र[3] स्थान भी प्राप्त है, पर रङ्ग की चर्चा न तो वर्णमाला में है, न स्थान-निर्देश-प्रसंग में। जैसा कि श्लोक २६ की व्याख्या में गुरुप्रसादजी ने लिखा है **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** से जो अनुनासिक होता है, उसे ही वैदिक परिभाषा में रङ्ग कहते हैं। अतः, रङ्ग आनुनासिक्य का ही दूसरा नाम है। इस शिक्षा में श्लोक ३६ में अम् प्रत्याहार के ह् र् से भिन्न सभी वर्णों को अनुनासिक कहा गया है। इससे भी स्पष्ट है कि अनुनासिक कोई एक स्वतन्त्र वर्ण नहीं। **अमः अनुनासिकाः** यह बहुवचन निर्देश बता रहा है कि सभी स्वर तथा य् व् ल् भी अनुनासिक हो सकते हैं। अतः, अनुनासिकता बाह्य प्रयत्न की भाँति एक धर्ममात्र है। यह कहना असंगत है कि 'अराँ' में पहले 'आ' का शुद्ध दीर्घ उच्चारण कर लेना चाहिए, फिर उससे पृथक् आनुनासिक्य का उच्चारण करना चाहिए। यह सम्भव ही नहीं है। गुरुप्रसादजी ने इस अर्थ में याज्ञवल्क्यशिक्षा का भी एक श्लोक उद्धृत किया है : **रङ्गे-चैव समुत्पन्ने न ग्राह्यं पूर्वमक्षरम्, दीर्घं स्वरं प्रयुञ्जीत पश्चान्नासिक्यमाचरेत्।** किन्तु वस्तुस्थिति यह लगती है कि पाणिनिशिक्षा का यह श्लोक याज्ञवल्क्यशिक्षा की हू-ब-हू नकल है, और पीछे जिस प्रकार श्लोक १९ तथा २० की व्याख्या में कह आये हैं, ठीक उसी प्रकार यह श्लोक भी याज्ञवल्क्यशिक्षा के किसी भ्रान्त स्रोत पर आधारित है। इस श्लोक का उत्तरार्द्ध भी ठीक नहीं। रङ्ग या अनुनासिक 'अराँ' की तरह हर जगह

१. रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन् न ग्रसेत् पूर्वमक्षरम्।
दीर्घं स्वरं प्रयुञ्जीत पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥२७॥

२. श्लोक २२ : 'अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमिष्यते।'

३. श्लोक ५ : 'अनुस्वारो विसर्गश्च ~क~पौ चापि पराश्रितौ।'

द्विमात्रिक के बाद ही नहीं आता है। यह ठीक है कि **आतोऽटि नित्यम्,**[1] **दीर्घादटि समानपादे**[2] आदि में आ के बाद तथा **समःसुटि**[3], **नश्छव्यप्रशान्**[4] आदि में संयोग के पूर्व अनुनासिकता आने से यह अनुनासिक गुरु वर्ण का परवर्त्ती हो जाता है। परन्तु, **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः**[5] से भी तो अनुनासिकादेश होता है, वह तो ह्रस्व स्वर का भी होता है, जैसे दधि का दधिँ, मधु का मधुँ। यहाँ यह उक्ति कैसे संगत होगी कि पहले दीर्घ स्वर का प्रयोग कर ले, फिर आनुनासिक्य का उच्चारण करे। यहाँ इ, उ ह्रस्व ही स्वर हैं। और, पाणिनि ने **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** अथवा **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः** से उसी अनुनासिक का विधान किया है, जिसकी परिभाषा है : **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः**[6], अतः दोनों अनुनासिकों में कोई अन्तर समझना गलत होगा। बल्कि, श्लोक २६ ने तक्रँ में अँ को अनुनासिक का या रङ्ग का उदाहरण देकर स्पष्ट ही कर दिया है कि यहाँ अँ यह एकमात्रिक भी रङ्ग या अनुनासिकता से युक्त है। लोक में भी कविता आदि में मुँह, अँखिया आदि में अनुनासिकता के कारण गुरुत्व नहीं माना जाता है। हाँ, अनुस्वारयुक्त लघु को भी गुरु मानते हैं। रङ्ग का अर्थ भी 'न् या म् के स्थान में किये गये ँ के पूर्ववर्त्ती स्वर का आनुनासिक्य' करना अव्याप्तिपूर्ण है। वास्तव में, यहाँ कहने का आशय इतना ही प्रतीत होता है कि जिस स्वर में वस्तुतः रङ्ग या आनुनासिक्य है, उससे पूर्ववर्त्ती स्वर में भी आनुनासिक्य करने की लोकप्रवृत्ति देखी जाती है। यह ठीक नहीं, भाषा का दोष है। जैसे अराँ की जगह अँराँ, तक्रँ की जगह तँक्रँ नहीं उच्चारण करना चाहिए। सचमुच लोग आय को आँयँ, दान को दाँन, नदियाँ की जगह नदिँयाँ आदि कहते हैं।

५. रङ्ग[7] का उच्चारण द्विमात्रिक होना चाहिए, एक मात्रा हृदय में, आधी मात्रा मूर्धा (शिर) में तथा शेष आधी मात्रा नासिका में उच्चारित होनी चाहिए (२८)।

इस श्लोक के अर्थ में भी अस्पष्टता है। इस श्लोक में रङ्ग को द्विमात्रिक कहा गया, रङ्गवाले स्वर को नहीं। और, पिछले श्लोक में रङ्ग को स्वतन्त्र वर्ण माना गया, जिसका उच्चारण दीर्घ स्वर के उच्चारण के पश्चात् होना चाहिए। गुरुप्रसादजी ने श्लोक २७ की व्याख्या में बताया है कि **खै अराँ २॥ इव खेदया** में '२ मात्राएँ दीर्घ की तथा आधी मात्रा रङ्ग की, इस प्रकार २॥ मात्राएँ हुईं।' अर्थात्, वे रङ्ग या अनुनासिक को पृथक् तथा अर्धमात्रिक वर्ण मानते हैं। परन्तु, श्लोक २८ में वे स्वीकार करते हैं कि अकेले रङ्ग में ही दो मात्राएँ होती हैं। **हृदये एकमात्र उच्चारणीयः, मूर्धनि अर्धमात्रः, नासिकायाश्च अर्धमात्रः। एवं रङ्गस्य आनुनासिक्यस्य द्विमात्रता भवति।** और, उदाहरण **लोकाँ २॥ऽ अकल्पयन्** में कहते हैं कि दो मात्राएँ

---

१. अष्टा० ८।३।३। २. अष्टा० ८।३।९। ३. अष्टा० ८।३।५। ४. अष्टा० ८।३।७। ५. अष्टा० ८।४।५७। ६. अष्टा० १।१।८।

७. हृदये चैकमात्रस्तु अर्धमात्रस्तु मूर्धनि।
नासिकायां तथार्धं च रङ्गस्यैवं द्विमात्रता ॥२८॥

रङ्ग की तथा आधी मात्रा विवृति की है। तब क्या लोकाँ २॥ऽ अकल्पयन् में दो मात्राएँ आकार की, दो मात्राएँ अनुनासिक की तथा आधी मात्रा विवृति की है? सब उक्तियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। दो मात्राओं का यह विभाग भी कम विलक्षण नहीं।

६. रङ्ग[1] हृदय-प्रदेश से लेकर एक हाथ ऊपर तक व्याप्त होकर, कांस्यपात्र की ध्वनि की तरह मृदु और द्विमात्रिक ध्वनि करता है, जैसे जघन्वाँ में (२९)। इस श्लोक में भी अनुनासिक को स्वतन्त्र द्विमात्रिक ध्वनि ही बताया गया। वास्तव में, श्लोक २८ तथा २९ दोनों का मूल है याज्ञवल्क्यशिक्षा का यह श्लोक— **नस्त उत्पद्यते रङ्गः, कांस्येन समनिस्वनः, मृदुश्चैव द्विमात्रश्च, वृष्टिमाँ २॥ऽ इव निदर्शनम्।** पर, याज्ञवल्क्यशिक्षा में रङ्ग को नासिकोद्भूत द्विमात्रिक ध्वनि माना, उसकी दो मात्राओं का तीन स्थानों, उरस, शिरस् तथा नासिका में विभाग नहीं किया।

७. रङ्ग[2] की इस विस्तृत रहस्यात्मक व्याख्या के बाद कम्प की व्याख्या है। कम्प के उच्चारण के समय उसके मध्य भाग का ही कम्पन करे, आदि तथा अन्त भाग का उच्च स्वर से उच्चारण करे, जहाँ कम्प के साथ रङ्ग का मिश्रण हो, वहाँ रङ्ग-सहित ही कम्पित करे; जैसे **रथ्यो३वयस्वतः।** कम्प एक स्वर-विशेष है। कोई-कोई यहाँ कम्प का अर्थ रङ्ग ही करते हैं।

स्वर की दृष्टि से पद के नौ विभाग किये गये हैं: **अन्तोदात्तमाद्युदात्तमुदात्तमनुदात्तं नीचस्वरितम्। मध्योदात्तं स्वरितं, द्व्युदात्तं त्र्युदात्तमिति नव पदशय्या ॥४५॥**

(क) अन्तोदात्त—अग्निः, इसमें अन्तिम इ उदात्त है।
(ख) आद्युदात्त—सोमः, इसमें आदि का ओ उदात्त है।
(ग) उदात्त—प्र, यह निपात उदात्त है।
(घ) अनुदात्त—वः, यह पद अनुदात्त है।
(ङ) नीचस्वरित—वीर्यम्।
(च) मध्योदात्त—हविषाम्।
(छ) स्वरित—स्वः।
(ज) द्व्युदात्त—बृहस्पतिः।
(झ) त्र्युदात्त[3]—इन्द्राबृहस्पती।

---

१. हृदयादुत्करे तिष्ठन् कांस्येन सामनुस्वनन्।
मार्दवं च द्विमात्रं च जघन्वाँ इति निदर्शनम् ॥२९॥

२. मध्ये तु कम्पयेत् कम्पम् उभौ पार्श्वौ समुन्नयेत्।
सरङ्गं कम्पयेत् कम्पं रथ्यो ३ वेतिनिदर्शनम् ॥३०॥

३. अग्निः सोमः प्र वो वीर्यं हविषां स्वर्बृहस्पतिरिन्द्राबृहस्पती। अग्निरित्यन्तोदात्तं सोम इत्याद्युदात्तम्। प्रेत्युदात्तं, व इत्यनुदात्तम्, वीर्यं नीचस्वरितम् ॥ ४६ ॥ हविषां मध्योदात्तं स्वरिति स्वरितम्। बृहस्पतिरिति द्व्युदात्तमिन्द्राबृहस्पती इति त्र्युदात्तम् ॥ ४७ ॥

क. अंगूठे के सिर को तर्जनी[1] (अंगूठे के पासवाली) के मूल में रखकर उदात्त का बोध कराते हैं, अनामिका (कानी अंगुली के पासवाली) के मध्य में रखकर स्वरित का तथा कानी अंगुली पर रखकर अनुदात्त का। यह विधि सामवेद की है ॥ ४३ ॥

ख. सामवेद में तर्जनी से उदात्त की, मध्यमा से प्रचय, अर्थात् स्वरितपरवर्त्ती अनुदात्त की, अनामिका से स्वरित की तथा कनिष्ठा से अनुदात्त की सूचना दी जाती है ॥ ४४ ॥

ग. अनुदात्त के उच्चारण में हाथ को हृदय के पास रखना चाहिए, उदात्त के उच्चारण में सिर के पास, स्वरित के उच्चारण में कर्णमूल के पास तथा प्रचय के उच्चारण में मुख के पास (नाक के अग्रभाग में); क्योंकि अनुदात्त आदि के स्थान क्रम से हृदय आदि हैं। जो उपर्युक्त प्रकार से हस्तनिर्देशपूर्वक ऋग्यजुःसाम का पाठ नहीं करता, स्वर-वर्ण का यथाविधि उच्चारण नहीं करता, वह नीच योनियों में जन्म लेता है, और जो इनका हस्त-निर्देशपूर्वक स्वर-वर्ण-अर्थ यथाविधि ज्ञान के साथ पाठ करता है, वह ब्रह्मलोक में जाता है।[2]

उच्चारण के गुण-दोष :

१. व्याघ्री जिस प्रकार बच्चों को दाँतों से उठाकर ले जाती है, पर उन्हें दाँतों की पीडा नहीं होती, वह इस प्रकार उन्हें उठाती है कि न तो वे अधिक हल्की पकड़ के कारण गिरने पाते हैं, न अधिक कड़ी पकड़ के कारण कष्ट पाते हैं, उसी भाँति वर्णों का उच्चारण करना चाहिए ॥ २५ ॥[3]

२. वर्णों का इस प्रकार उच्चारण होना चाहिए, कि न तो वे अव्यक्त रह जायँ, न पीडित हो जायँ, अर्थात् न तो वे ज्यादा ढीले हों, न ज्यादा कड़े ॥ ३१ ॥[4]

३. गाकर पढ़नेवाला, अतिशीघ्रता से पढ़नेवाला, सिर हिला-हिलाकर पढ़नेवाला, ठीक जैसा पुस्तक में लिखा है, वैसा ही विना उपयुक्त आरोह-अवरोह के पढ़नेवाला, विना अर्थ समझे पढ़नेवाला तथा फँसे गले से पढ़नेवाला, ये छह अधम पाठक हैं ॥ ३२ ॥[5]

---

१. उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनां प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा।
उपान्तमध्ये स्वरितं द्रुतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥ ४३ ॥
उदात्तं प्रदेशिनीं विद्यात् प्रचयं मध्यतोऽङ्गुलिम्।
निहतं तु कनिष्ठिक्यां स्वरितोपकनिष्ठिकाम् ॥ ४४ ॥
अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः ॥ ४८ ॥

२. श्लोक ५४ तथा ५५।

३. व्याघ्री यथाहरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥

४. एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः।
सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३१ ॥

५. गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथालिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥ ३२ ॥

४. मधुरता, अक्षरों की स्पष्टता, पदों का पृथक् उच्चारण, उचित स्वर, धैर्य (स्थिरता) तथा लय या प्रवाह, ये पाठक के गुण हैं ॥ ३३ ॥[1]

इन दोनों श्लोकों में पुस्तकें पढ़ने की कला की शिक्षा है। आजकल पाठन (रीडिंग तथा रेसिटेशन) पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता। साधारणतः, आज के किसी छात्र को यदि पत्र-पत्रिका आदि पढ़कर सुनाने के लिए कहा जाय, तो उसका वाचन इतना दोषपूर्ण होगा कि श्रोता को अर्थबोध में बड़ी कठिनाई होगी, सुनने का आनन्द तो खैर आयगा ही नहीं। इस पृष्ठभूमि में यदि हम शिक्षा के इन दोनों श्लोकों में वर्णित पाठक, अर्थात् वाचक के इन गुणों की सूक्ष्मता पर ध्यान देते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भाषण के साथ ही वाचन पर भी कितना ध्यान दिया जाता था।

५. वर्ण का उच्चारण शंकित की तरह, भयभीत की तरह, चिल्ला-चिल्लाकर या उखड़ा-उखड़ा-सा, अस्पष्ट, अनुनासिक बनाकर, कौए की तरह कर्कश स्वर में, माथे में ही गूँजता-सा तथा स्थानभ्रष्ट करके नहीं करे।[2] इसी प्रकार अतिमन्द स्वर से, चबा-चबाकर, अतितीव्रता से, फेंकता हुआ-सा, बहुत शनैः शनैः, गद्गद स्वर से, गाते हुए-सा, पीड़ा पहुँचाते हुए-सा, बीच-बीच में किसी पद या अक्षर को ही गायब करके, दीन की तरह गिड़गिड़ाते हुए और अनुनासिक बनाकर भी वर्ण का उच्चारण नहीं करना चाहिए।[3] ये सब दोष वक्ताओं में भी हो सकते हैं और पाठकों-वाचकों में भी। उच्चारण को इन सबसे मुक्त रहना चाहिए।

श्लोक ४६ में वर्ण की मात्राओं की उपमा है। नील कण्ठ की ध्वनि एकमात्रिक, कौए की द्विमात्रिक, मोर की त्रिमात्रिक तथा नेवले की अर्धमात्रिक होती है।[4] इससे यह पता चलता है कि प्राचीन शिक्षाशास्त्री मानव-ध्वनि के साथ पशुपक्षी की ध्वनियों का भी विश्लेषण करते थे। षड्ज आदि सप्तविध स्वरों की उपमा भी विभिन्न प्राणियों की ध्वनियों से दी गई है।

●

---

१. माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठके गुणाः ॥ ३३ ॥

२. शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम् ॥ ३४ ॥

३. उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम ॥ ३५ ॥

४. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं चैव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रन्तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥ ४६ ॥

दयानन्द-प्रकाशित पाणिनिशिक्षा या वर्णोच्चारण-शिक्षा

स्वामी दयानन्द ने अपने 'वेदांगप्रकाश' के प्रथम भाग के रूप में 'पाणिनीय-शिक्षा' का एक भिन्न ही संस्करण निकाला है, जिसका नाम रखा है—'वर्णोच्चारण-शिक्षा'। डॉ० मनमोहन घोष ने पाणिनिशिक्षा के जो ६ रूप बताये हैं, उनसे सर्वथा भिन्न है यह। यह श्लोकबद्ध नहीं, सूत्रबद्ध है। इसमें ८६ सूत्र हैं, जिनमें दो-चार श्लोकमय भी हैं। यह संस्करण एक आरम्भिक भूमिका तथा ८ प्रकरण, इस प्रकार ६ खण्डों में विभाजित है।

इसमें सर्वप्रथम अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति[1], ध्वनि[2] की उत्पत्ति-प्रक्रिया तथा अक्षरज्ञान में वर्णशिक्षा का महत्त्व[3] बताया गया है। फिर, शब्द की परिभाषा[4] देकर ६३ वर्ण दिखाये गये हैं। इसके बाद स्वर का लक्षण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा लघु, गुरु भेदों का निरूपण है।[5] तदनन्तर, व्यंजन का लक्षण[6] देकर

---

१. 'अक्षरं नक्षरं विद्यादश्नोतेर्वा सरोक्षरम्। वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे।'—महाभाष्य, अ०१, पा० १, आह्निक २।

२. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥

३. वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्राह्मवर्त्तते।
तदर्थमिष्टसिद्ध यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते॥
सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति।—महा०, अ० १, पा० १, आ० २।
तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति॥

४. श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।—महा०, अ० १, पा० १, प्रत्याहारसूत्र १, आ० १।

५. स्वयं राजन्ते इति स्वराः।—महा०, अ० १, पा० २, सू० २९।
क. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः।—अष्टा० १।२।२७।
ख. उच्चैरुदात्तः, १।२।२९।
ग. नीचैरनुदात्तः, १।२।३०।
घ. समाहारः स्वरितः, १।२।३१।
ङ. ह्रस्वं लघु, १।४।१०।
च. संयोगे गुरु, १।४।११।
छ. दीर्घं च, १।४।१२।

६. अन्वग् भवति व्यंजनम्।—म०, अ०१, पा०२, सू० २९।

उच्चारण करनेवाले के गुण[१], स्वरों के उच्चारण में दोष[२] एवं व्यंजनों के उच्चारण में भी दोष[३] बताकर इस शिक्षा के ८ प्रकरणों की चर्चा की गई है। यहाँतक भूमिका ही है, जो मुख्यतः महाभाष्य पर आधृत है, या पाणिनिसूत्रों पर।

पहले प्रकरण में स्थान, दूसरे में करण, तीसरे में आभ्यन्तर प्रयत्न, चौथे में बाह्य प्रयत्न, पाँचवें में विभिन्न वायुपिण्ड, छठे में अकार, इकार आदि जाति, सातवें में वर्णों का क्रम तथा आठवें में सबका उपसंहार है।

१. ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा से दयानन्दीय पाणिनिशिक्षा में निम्नांकित अन्तर है :

क. ऋग्वेदीय शिक्षा ने बताया[४] कि पंचम वर्णों तथा अन्तस्थों से संयुक्त ह् उरस्य है, शेष ह् कण्ठ्य, किन्तु दयानन्दीय शिक्षा के अनुसार[५] सभी प्रकार के ह् को कोई कण्ठ्य ध्वनि मानते हैं, कोई उरस्य। वास्तव में, यही दृष्टि ठीक है, वर्णान्तर के सान्निध्य का किसी भी वर्ण के उच्चारण पर प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर इसके कारण और वर्णों का स्थानभेद तो नहीं माना जाता। आजकल अधिक लोग ह् को उरस्य ध्वनि ही मानते हैं।

ख. पहली शिक्षा[७] (ऋग्वेदीय) ने अ को सर्वत्र केवल कण्ठ्य ही माना है, दूसरी[६] (दयानन्दीय) ने मतभेद से इसे सर्वमुखस्थानीय भी तथा कण्ठ्य भी माना है। सर्वमुखस्थानीय होने से ही अ का कभी इ, कभी उ, कभी ए तथा कभी ओ हो जाता है, इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

ग. दूसरी शिक्षा ने मतभेद से सभी कण्ठ्य वर्णों को सर्वमुखस्थानीय[८] भी माना है। इसकी चर्चा पहली में नहीं है। इस दृष्टि पर आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों को विचार करना चाहिए। क्या वास्तव में कवर्ग आदि ध्वनियों के उच्चारण में पूरे मुखविवर की, अर्थात् पूरे तालुभाग की सहायता अपेक्षित है?

घ. पहली ने कवर्ग को जिह्वामूलीय[९] कहा है, कण्ठ्य नहीं। पर, दूसरी ने कवर्ग को कण्ठ्य भी तथा जिह्व्य भी माना है।[१०] अर्थात्, तालुभाग की दृष्टि से यह कण्ठ्य है, पर जिह्वा की दृष्टि से जिह्व्य या जिह्वामूलीय।

---

१. दे० ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा, श्लोक सं० ३३, माधुर्यमक्षरव्यक्तिः आदि।
२. ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।
संदष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः॥—महा० १।१।१।
३. अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः, शशः षष इति माभूत्, पलाशः पलाष इति मा भूत्, मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्।—महा० १।१।१।
४. श्लोक १६ तथा १७।
५. सूत्र २२, 'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठयाः' तथा २३, 'हविसर्जनीयानुरस्यावेकेषाम्।'
६. श्लोक १७, 'कण्ठ्यावहौ'।
७. सूत्र २२, 'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः' तथा सूत्र २६, 'सर्वमुखस्थानभवर्णमित्येके।'
८. सूत्र २७, कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके।
९. श्लोक १८, जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः।
१०. सूत्र २२, 'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठयाः' तथा सूत्र २५, 'कवर्गं ऋवर्णश्च जिह्व्यः।'

ङ. ऋवर्ण को भी दूसरी[1] ने मतभेद से तालुभाग की दृष्टि से मूर्धन्य माना है और जिह्वा की दृष्टि से कवर्ग की तरह जिह्व्य भी। पहली[2] ने ऋवर्ण को केवल मूर्धन्य कहा है।

च. पहली[3] ने तवर्ग को केवल दन्त्य कहा है, दूसरी[4] ने मतभेद से इसे दन्तमूलीय भी स्वीकार किया है।

छ. व को पहली ने केवल दन्त्योष्ठ्य[5] बताया है, दूसरी ने मतभेद से इसे सृक्किणी[6] (ओष्ठ-प्रान्त)-स्थानीय भी कहा।

ज. पहले के अनुसार[7] अनुस्वार तथा यमों का नासिकास्थान है, तथा शेष अयोगवाह अपने आश्रय के स्थानवाले होते हैं। परन्तु, दूसरी के अनुसार विसर्ग[8] मतभेद से कण्ठ्य या उरस्य है, जिह्वामूलीय[9] जिह्व्य है, उपध्मानीय[10] ओष्ठ्य है, अनुस्वार[11] मतभेद से नासिक्य या कण्ठ्यनासिक्य है तथा यम[12] भी मतभेद से नासिक्य या नासिक्यजिह्वामूलीय हैं।

झ. ङ, ञ, ण, न, म को पहली ने केवल अपने-अपने वर्ग के स्थान से ही उच्चरित माना है, अर्थात् उन्हें क्रमशः जिह्वामूलस्थानीय, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य तथा ओष्ठ्य-मात्र लिखा है, जो स्पष्टतः अधूरी उक्ति है। दूसरी शिक्षा ने इन सबके उच्चारण में अपने वर्ग के स्थान के अतिरिक्त नासिका[13] का भी योग बताया है, अर्थात् इन्हें क्रमशः कण्ठ्यनासिक्य, तालव्यनासिक्य, मूर्धन्यनासिक्य, दन्त्यनासिक्य तथा ओष्ठ्यनासिक्य अभिहित किया है।

ञ. र को भी पहली ने केवल मूर्धन्य बताया है, दूसरी ने मतभेद से दन्तमूलीय[14] भी।

---

१. सूत्र २६, 'ऋटुरषा मूर्धन्याः'; सूत्र २५ 'कवर्ग ऋवर्णश्च जिह्व्यः।'
२. श्लोक १७, 'स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषाः।'
३. श्लोक १७, 'दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः।'
४. सूत्र ३२, 'लृतुलसा दन्त्याः', तथा सू० ३१, 'दन्तमूलस्तु तवर्गः।'
५ श्लोक १८, 'दन्त्योष्ठ्योवः स्मृतः।'
६. सूत्र ३३, 'वकारो दन्त्यौष्ठ्यः' तथा सू० ३४, 'सृक्किणीस्थानमेके।'
७. श्लोक २२, "अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमुच्यते।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः॥"
८. सू० २२, 'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठयाः' तथा सू० २३, 'हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम।'
९. सू० २४, 'जिह्वामूलीयो जिह्व्यः।'
१०. 'उपूपध्मानीया ओष्ठयाः' (सू० ३५)।
११. सू० ३६, 'अनुस्वारयमा नासिक्याः' तथा सू० ३७, 'कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके।'
१२. सू० ३६ तथा सू० ३८, 'यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम्।'
१३. सू० २४, 'ङ ञ ण न माः स्वरस्थाननासिकास्थानाः।'
१४. श्लोक १७ तथा सू० १—१२, और सू० १—१३ 'रेफो दन्तमलीय एकेषाम्।'

ट. सन्ध्यक्षरों, अर्थात् ए, ऐ, ओ, औ में दोनों के अनुसार दो वर्णों की सन्धि है, पर दयानन्दीय शिक्षा ने ऋ में भी र् का मिश्रण[1] स्वीकार किया है। तभी तो पाणिनि का अप्तृन् तृच्...होतृपोतृप्रशास्तृणाम् यह णत्वनिर्देश संगत होता है।

इस प्रकार, स्थान-प्रकरण में दोनों में काफी मतभेद है।

२. आभ्यन्तर प्रयत्न-प्रकरण ऋग्वेदीय शिक्षा में तीन स्थलों में बिखरा है, श्लोक २०, २१ तथा ३८ में। फिर भी, अव्याप्ति-अतिव्याप्तिशून्य वर्णन नहीं हो सका है। उसकी तुलना में दयानन्दीय शिक्षा में यह प्रकरण बड़ा स्पष्ट है। इस ग्रन्थ में यह तीसरा प्रकरण है, जो सू० ५० से ५६ तक है। इसके अनुसार सभी स्पर्श वर्ण स्पृष्ट प्रयत्नवाले, अन्तस्थ ईषत्स्पृष्ट, ऊष्म ईषद् विवृत अथवा विवृत, सभी स्वर विवृत तथा ह्रस्व अ संवृत हैं। ऋग्वेदीय शिक्षा के अनुसार ऊष्मों का ईषत्स्पृष्ट मानने पर अस्पृष्ट अचों के साथ उनकी सवर्णता स्वयं प्राप्त नहीं है, अतः पाणिनि का सूत्र नाज्झलौ व्यर्थ हो जाता है। यह पहले दिखाया जा चुका है। यदि दयानन्दीय शिक्षा के अनुसार[2] पाणिनि के मत में ऊष्मों को मतभेद से विवृत भी मानते हैं, तो इस सूत्र की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है।

३. बाह्य प्रयत्न-निरूपण में भी दोनों में अन्तर है।

क. ऋग्वेदीय[3] में केवल श्वास और नाद की ही कसौटियाँ रहती हैं, दयानन्दीय में श्वास[4] के साथ विवार और अघोष भी हैं, तथा नाद[5] के साथ संवार और घोष भी। इसमें अधिक व्यापकता तथा पूर्णता लगती है। अर्थात्, जिनका बाह्य प्रयत्न श्वास है, उनका विवार और अघोष भी है, और जिनका नाद है, उनका संवार और अघोष भी। विवृत-संवृत की तो ऋग्वेदीय शिक्षा में भ्रामक रूप में, आभ्यन्तर प्रयत्न के सांकर्य के साथ ही सही श्लोक २० में चर्चा है, पर घोष-अघोष की चर्चा सर्वथा छोड़ दी गई है।

ख. साथ ही, पहली में प्राणवत्ता की दृष्टि से बाह्य प्रयत्न का विचार नहीं किया गया है, दूसरी में इसका भी विचार है। प्रथम, तृतीय और पंचम को अल्पप्राण तथा शेष को

---

१. सू० १—२६, 'सरेफ ऋवर्णः।'
   (क) यद्यपि पाणिनीयशिक्षा में श्लोक ३६ के 'अमोनुनासिका न ह्रौ' से यह बात गतार्थ है कि ङ् ञ् ण् न् म् अनुनासिक भी हैं, पर वहाँ आनुनासिक्य को स्थान नहीं, प्रयत्न माना है।
२. सू० ५३, 'स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः'; सू० ५४, 'ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः'; सू० ५५, 'ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः'; सू० ५६, 'विवृतकरणा वा'; सू० ५७, 'विवृतकरणा स्वराः'; सू० ५८, 'संवृतस्त्वकारः।'
३. श्लोक ३६।
४. सू० ६१, 'वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदानाश्चाघोषाः।'
५. 'वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च (सू० ६३)।'

महाप्राण माना गया है।[१] यद्यपि यह उक्ति भी अधूरी तथा भ्रामक है। इसके अनुसार य र ल व भी महाप्राण ही प्रमाणित होंगे। पता नहीं, दयानन्दजी ने उसकी हिन्दी व्याख्या में य र ल व का भी अल्पप्राण किस प्रकार लिख दिया है।

ग. स्वरों का बाह्य प्रयत्न तो किसी ने नहीं दिया, परन्तु अयोगवाहों का दयानन्दीय[२] में बाह्य प्रयत्न दिया है, ऋग्वेदीय में नहीं दिया है। तदनुसार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, प्रथम द्वितीय यम का विवार श्वास अघोष तथा अनुस्वार तृतीय चतुर्थ यम और नासिक्य इन का संवार नाद घोष बाह्य प्रयत्न हैं। पर, अयोगवाहों का आभ्यन्तर प्रयत्न किसी ने नहीं दिया।

घ. ऋग्वेदीय[३] शिक्षा ने श्वास तथा नाद प्रत्येक में फिर दो भाग किये हैं; ह तथा झ भ घ ढ ध नादवान्, य र ल व तथा ज ब ग ड द ईषन्नादवान्; ख फ छ ठ थ श्वासवान् तथा च ट त क प ईषत् श्वासवान् हैं। दयानन्दीय[४] ने यह सूक्ष्मता नहीं बताई, पर इसे एक दूसरे ढंग से कहा है। इसने द्वितीय वर्णों, अर्थात् ख फ छ ठ थ में स्-सी प्राणवत्ता, तथा चतुर्थ वर्णों, अर्थात् झ भ घ ढ ध में ह्-सी प्राणवत्ता बताई है। वास्तव में, ये दोनों उक्तियाँ एक दूसरे की समानार्थक नहीं, पूरक हैं। अवश्य ही ख् क् से अधिक श्वासवान् है, घ् ग् से अधिक नादवान् तथा घ् ख् से अधिक प्राणवान्। यह स्थिति सभी वर्गीय वर्णों में है।

४. ऋग्वेदीय में उच्चारण के गुण-दोष तथा उदात्तादि स्वरों का विवेचन अधिक हुआ है। गुण बतानेवाला एक[५] ही श्लोक दोनों में उद्धृत है, जिसमें उच्चारण के माधुर्य आदि छह गुण वर्णित हैं। परन्तु, दोषवाचक श्लोक दयानन्द ने पतंजलि के महाभाष्य से उद्धृत[६] किया है, जिसमें १२ दोषों का वर्णन हैं। ऋग्वेदीय में यह श्लोक नहीं, दूसरे[७] ४ श्लोक हैं, जिनमें २५ प्रकार के उच्चारण-दोष बताये गये हैं। उदात्तादि स्वरों का किस अंगुली[८] को कहाँ रखकर संकेत किया जाय, इसका विस्तार से वर्णन है। एक ही उदात्तादि के कारण नवविध[९] पदों की चर्चा है। ये सब बातें दयानन्दीय शिक्षा में नहीं है।

५. रङ्ग अथवा कम्प का वर्णन भी दयानन्दीय ने छोड़ दिया है, ऋग्वेदीय ने इसका विश्लेषण किया है।[१०]

---

१. सूत्र ६२, 'एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः'।
२. सूत्र ६१ तथा ६३।
३. श्लोक ३९-४०।
४. सू० ६७, 'सस्थानेन द्वितीयाः' तथा ६८, 'हकारेण चतुर्थाः।'
५. श्लोक ३३ तथा सूत्र १८। ६. सूत्र १९। ७. श्लोक ३१, ३२, ३४ तथा ३५। ८. श्लोक ४३, ४४ यथा ४८। ९. श्लोक ४५, ४६ तथा ४७। १०. श्लोक २६, २७, २८, २९ तथा ३०।

६. ऋग्वेदीय ने लघु-गुरु की चर्चा नहीं की है, दयानन्दीय ने इनके लिए पाणिनि सूत्रों को ही उद्धृत[1] कर दिया है।

७. ऋग्वेदीय ने मन्द्र, मध्य, तार, ध्वनियों का विश्लेषण[2] किया है, दयानन्दीय ने इसकी चर्चा भी नहीं की है।

८. किन्तु, कुछ विषयों पर ऋग्वेदीय शिक्षा ने विचार नहीं किया है, दयानन्दीय शिक्षा ने किया है।

क. पहली में वर्णों का विभाग पंचधा[3] ही किया है, स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न तथा अनुप्रदान से। इनमें करण नहीं है। यद्यपि इसमें आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए करण शब्द का व्यवहार हुआ है : **स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्**[4]। दयानन्दीय शिक्षा में भी आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए करण शब्द का प्रयोग हुआ है : स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः;[5] किन्तु दयानन्दीय शिक्षा में इससे भिन्न भी एक करण है, जिसका विश्लेषण-विवेचन दूसरे प्रकरण में हुआ है। आभ्यन्तर प्रयत्न का विवेचन इसके बाद तीसरे प्रकरण में हुआ है। स्थान करण प्रयत्न का अन्तर बताते हुए कहा गया है कि जिस स्थान में वर्ण की स्वरूप-प्राप्ति होती है, उसे स्थान कहते हैं,[6] जिस उपकरण से यह स्वरूप-प्राप्ति होती है, उसे करण कहते हैं[7] तथा प्रयत्न करने को प्रयत्न कहते हैं,[8] जिसके दो भेद हैं। वैसे तो जिह्व्यों, तालव्यों, मूर्धन्यों तथा दन्त्यों का, सबका सामान्यतः जिह्वा ही करण है,[9] पर विशेषतः जिह्व्यों का[10] जिह्वामूल, मूर्धन्यों का जिह्वोपाग्र[11] या जिह्वाग्राधोभाग[12] तथा दन्त्यों का जिह्वाग्र[13] करण है। यह विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण है,[14]

---

१. सूत्र १३ तथा १४। २. श्लोक ७, ८, ३६ और ३७। ३. श्लोक १०। ४. श्लोक २१।

५. सू० ५३। महाभाष्य में भी तुल्यास्य सूत्र की व्याख्या में।

६. सू० ८३, 'यत्रस्था वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम्।'

७. सू० ८४, 'येन निर्वर्त्यते तत् करणम्।'

८. सू० ८५, 'प्रयतनं प्रयत्नः।'

९. सू० ४४, 'जिह्वयतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम्।'

१०. सू० ४५, 'जिह्वामूलेन जिह्व्यानां तद्व येषामभ्यासम्।'

११. 'जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम्' (सू० ४६)।

१२. सू० ४७, 'जिह्वाग्राधः करणं वा।'

१३. 'जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम्' (सू० ४८)।

१४. बर्नार्ड ब्लाख (Bernard Bloch) ने अपनी पुस्तक Outlines of Linguistic Analysis में दूसरे अध्याय के पाँचवें अनुच्छेद में स्थान और करण का स्पष्ट विवेचन किया है : "The vocal organs are conveniently divided into two kinds : Articulators, organs which can be moved more or less freely and can thus be made to assume a variety of positions; and points of articulations fixed points or areas lying above the articulators, which these may touch or approach".
स्थिर के लिए स्थान तथा सक्रिय के लिए करण कितने सटीक संस्कृत शब्द हैं!

जिसे ऋग्वेदीय शिक्षा ने छोड़ दिया है। तालु के किस भाग को जीभ छूती है, यह विचार तो स्थान-प्रकरण में किया गया है, पर जिह्वा का कौन-सा भाग उस स्थान को छूता है, यह प्रश्न ही नहीं उठाया गया है। प्रातिशाख्यों में इसपर विचार है। दयानन्दीय शिक्षा में भी ओष्ठ्य आदि वर्णों के करण का विवेचन छोड़ दिया गया है, अतः यह प्रकरण अधूरा है।

(ख) दयानन्दीय शिक्षा का पाँचवाँ प्रकरण भी नवीन ही है। इसके अनुसार[1] स्पर्श तथा यम वर्णों को उत्पन्न करनेवाली वायु लौहपिण्ड की भाँति सम्बद्ध स्थानों पर आघात करती है, अन्तस्थों को उत्पन्न करनेवाली वायु काष्ठपिण्ड की भाँति तथा ऊष्मों और स्वरों को पैदा करनेवाली वायु ऊन के गोले की भाँति। यह विचार भी बड़ा उपयोगी है, जो ऋग्वेदीय शिक्षा में नहीं है। जिस प्रकार बाह्यप्रयत्न में प्राणवत्ता के विषय में यह विचार है कि किस वर्ण के उच्चारण में कितनी प्राणवायु लगती है, उसी प्रकार इस प्रकरण में यह विचार है कि उस प्राणवायु का घनत्व क्या रहता है। परन्तु, यहाँ भी अयोगवाहों की उपेक्षा है।

(ग) दयानन्दीय शिक्षा का छठा प्रकरण भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रत्येक वर्ण की जाति तथा भेद का निर्धारण किया गया है। इसके अनुसार[2] अ, इ, उ तथा ऋ के ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद से उनमें भी उदात्त-अनुदात्त-स्वरित भेद से तथा उनमें भी अनुनासिक और अननुनासिक भेद से १८-१८ भेद होते हैं। लृ के १२ ही भेद होते हैं; क्योंकि उसका दीर्घ नहीं होता, यदृच्छा आदि में दीर्घ लृ मानने पर उसके भी १८ ही भेद होंगे। ए, ओ, ऐ, औ के भी १२-१२ ही भेद होंगे; क्योंकि इनके ह्रस्व-भेद नहीं होते। य्, व्, ल् के २-२ भेद होते हैं: अनुनासिक तथा अननुनासिक। रेफ और ऊष्म का कोई सवर्ण नहीं होता। यह प्रसंग भी ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य में नहीं कहा गया।

यम और अयोगवाह की व्याखया भी दयानन्दीय शिक्षा में भिन्न है। दयानन्द ने ँ॒ ह्रस्व, ँ॒ दीर्घ, ँ अनुनासिक-चिह्न और ꣳ यह अक्षर इनको चार यम कहा है, तथा इन चारों यमों और ः विसर्जनीय, ᳵ जिह्वामूलीय, ᳶ उपध्मानीय, ं अनुस्वार, इन चारों को मिलाकर ८ अयोगवाह[3] माने हैं। दयानन्दजी ने कुं खुं गुं घुं इन चारो को यम नहीं मानने में दो तर्क[4] दिये हैं—"जब पूर्वोक्त यम हैं तो चुं छुं जुं झुं टुं ठुं इत्यादि

---

१. सू० ६९ तत्र स्पर्शयमवर्णकरो वायुरधः पिण्डवत् स्थानमभिपीडयति। अन्तस्थवर्णकरो वायुर्दारुपिण्डवद्। ऊष्मस्वरवर्णकरो वायुरूर्णापिण्डवद्।

२. सू० ७० "अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोष्टादशात्मक एवमिवर्णादयः।" सू० ७१ लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति। सू० ७२ तं द्वादशभेदमाचक्षते। सू० ७३ यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्तदाऽष्टादशभेदं ब्रुवते कॢपक इति। सू० ७४ सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति, तान्यपि द्वादशप्रभेदानि। सू० ८५ अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च। सू० ७६ रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति। सू० ७ 'वर्णाः त्रिषष्टिः' की व्याख्या में।

४. इस ग्रन्थ की भूमिका में।

यम क्यों न हों ? और, जो कोई कहें कि पलिक्क्नी चख्ख्नतुः, जग्ग्मः, अघ्घ्नुः इत्यादि में क्, ख्, ग्, घ् ये वर्ण यम कहलाते हैं और प्रातिशाख्य में भी प्रसिद्ध हैं, तो क्या इस बात को वे नहीं जानते कि वे वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते; क्योंकि वे तो कवर्ग में पढ़े ही हैं।" परन्तु, कठिनाई यह है कि दयानन्द के माने चार यम भी पूर्ण तर्कसंगत नहीं लगते। यदि ळ भी एक यम माना जाय, तो **अनुस्वारयमानासिक्या:**[1] तथा **यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम्**[2] के अनुसार इसे भी नासिक्य या नासिक्यजिह्वामूलीय मानना होगा, जो असम्भव है। दयानन्द भी इन सूत्रों की व्याख्या में यम से ळ का ग्रहण नहीं करते, 'ळ को छोड़कर' लिखते हैं, जिसका कोई आधार नहीं है। फिर, सूत्र ६१ के अनुसार प्रथम-द्वितीय यमों का विवार, श्वास, अघोष तथा सूत्र ६३ के अनुसार तृतीय-चतुर्थ यमों का संवार, नाद, घोष बाह्यप्रयत्न बताया गया है। यहाँ स्पष्ट ही प्रथम-द्वितीय यमों से कुं खुं का तथा तृतीय चतुर्थ-यमों से गुं घुं का अभिप्राय है। यहाँ दयानन्द प्रथम-द्वितीय यमों से ँ ह्रस्व तथा ँ, दीर्घ लेते हैं, और तृतीय-चतुर्थ यमों से ँ यह अनुनासिक तथा ळ यह वर्ण। यह ठीक नहीं जँचता। साथ ही सूत्र ६३ में तृतीय-चतुर्थ यम और अनुस्वार के अलावा नासिक्य का अलग से ग्रहण है। यहाँ नासिक्य से ङ ञ ण न म अभिप्रेत नहीं हो सकते; क्योंकि इनका अलग से सूत्र ६४ ने संवार, नाद, घोष और सूत्र ६५ ने आनुनासिक्य घोषित किया है। दयानन्दजी के अनुसार यहाँ तृतीय-चतुर्थ यम से 'ळ तथा सानुनासिक अकारादि स्वर' का ग्रहण है। किन्तु, यह उचित नहीं प्रतीत होता। सू० ३६, ३७, ३८ के अनुसार तो सभी यम नासिक्य हैं, फिर यहाँ यम से पृथक् नासिक्य का ग्रहण क्यों किया गया ? अतः, दयानन्द कृत यम का अर्थ भी मन में ठीक बैठता नहीं।

सूत्र ८१ में चार पंक्तियाँ हैं : **≍क≍प योः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयवतः। पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः जग्ग्मः, जघ्घ्नुरित्यत्र यद् वपुः। नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमे यमाः तेषामुकारः संस्थानवर्गीयलक्षकः॥** इनमें से दूसरी-तीसरी पंक्तियों का अर्थ दयानन्दजी लिखते हैं : "पलिक्क्नी आदि प्रयोगों में जो क्, ख्, ग्, घ् इत्याकारक अंश नासिकास्थानीय न् न् म् न् वर्णों से अप्रकटित, अर्थात् गृहीत नहीं होता है, वह अयम, अर्थात् यम नहीं।" स्पष्ट ही, उन्होंने तीसरी पंक्ति में **नासिक्येनोक्तं** का पदच्छेद **नासिक्ये + नोक्तं**, तथा **इमे यमाः** का **इमेऽयमाः = इमे + अयमाः** किया है। किन्तु, यह अर्थ असंगत लगता है। भला, इन स्थलों में द्वितीय क्, ख्, ग्, घ् का न् न् म् न् से प्रकटन या ग्रहण कैसे प्राप्त था, जिसका निषेध किया जायगा : और वे कादि के अयम हैं, इसका क्या अभिप्राय है ? वास्तव में, इन पंक्तियों का यह अर्थ है कि इन चारों स्थलों में नासिक्य के द्वारा जो स्वरूप कहा जाता है, वे सब 'क' आदि के 'यम' हैं। यहाँ **नासिक्येन + उक्तं** तथा **इमे + यमाः** यही पदच्छेद सही है। दयानन्दजी को इनकी यमता में जो सन्देह है, उसका आंशिक निराकरण पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

---

१. सूत्र ३६। २. सूत्र ३८।

याज्ञवल्क्यशिक्षा

याज्ञवल्क्यशिक्षा, पाणिनिशिक्षा से बहुत बड़ी है। इसमें बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें हैं, जैसे किस अक्षर का कौन-सा रंग[1] है, कौन-सा लिंग[2] है, कौन-सा देवता[3] है, कौन-सी जाति[4] है। उच्चारण के सुधार के लिए क्या दन्तधावन[5] करना चाहिए आदि, जो निरर्थक भी लगती है और निर्मूल भी। परन्तु, कई बातों में पाणिनिशिक्षा से अधिक विचार भी हुआ है :

१. पाणिनिशिक्षा ने वर्ण के उच्चारण में केवल ६ दृष्टियों से विचार किया है : स्थान, करण, अभ्यन्तर, बाह्य प्रयत्न, उदात्तादि स्वर तथा मात्रा। उच्चारण में वेग पर ध्यान नहीं दिया। याज्ञवल्क्यशिक्षा ने बताया कि अपने अभ्यास के लिए तीव्र गति से उच्चारण करना चाहिए, दूसरों से बातें करने के लिए मध्यम गति से तथा शिष्यों को समझाने के लिए धीमी गति से (**अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं, प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्। शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्॥**) इन वृत्तियों के भी देवता आदि निर्दिष्ट हैं। साथ ही, कुछ वर्णों के उच्चारण में अंगुलियों की विभिन्न संख्याएँ[6] तथा आकार प्रयुक्त हैं।

२. पाणिनिशिक्षा में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये तीन ही नाम स्वर-प्रसंग में मिलते हैं। इन तीनों के पौर्वापर्य के कारण नव प्रकार के पद बताये गये हैं : अन्तोदात्त, आद्युदात्त आदि। पर, याज्ञवल्क्यशिक्षा में सन्धि के कारण भी इन स्वरों के ८ भेद बताये गये हैं—जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यंजन, तैरोविराम,

---

१. स्पर्शाः कृष्णाः, कपिला अन्तस्थाः, ऊष्माणोऽरुणाः। नीला यमाः। हरिता नासिक्याः। पीतोऽनुस्वारः। रक्तो जिह्वामूलीयः। पीत उपध्मानीयः। श्वेतो विसर्जनीयः। शबलो रङ्गः। नीलोऽनुनासिक्यः।

२. स्वरा विसर्जनीयो यमाश्च पुंलिङ्गाः। ङञणनमा यरलवाः स्त्रीलिङ्गा शेषाण्यक्षराणि नपुंसकलिङ्गानि।

३. कण्ठ्या आग्नेया अकारादयः। जिह्वामूलीया नैरृत्याः ककारादयः। तालव्याः सौम्याश्चकारादयः। वायव्या मूर्धन्याष्टकारादयः। रौद्रा दन्त्यास्तकारादयः। औष्ठ्या आश्विन्याः पकारादयः। शेषाः वैश्वदेवा अं इत्येवमादयः।

४. स्वरास्तु ब्राह्मणा ज्ञेया वर्गाणां प्रथमाश्च ये। द्वितीयाश्च तृतीयाश्च चतुर्थाश्चापि भूमिपाः॥ वर्गाणां पञ्चमा वैश्या अन्तस्थाश्च तथैव च। ऊष्माणश्च हकारश्च शूद्रा एव प्रकीर्त्तिताः॥

५. आम्रपालाशबिल्वानामपामार्गशिरीषयोः। वाग्यतः प्रातरुत्थाय भक्षयेद्द दन्तधावनक आदि ३ श्लोक।

६. प्रथम खण्ड, श्लोक ५४, ५७, ५६ आदि।

पादवृत्त तथा ताथामाव्य। इनकी व्याख्या प्रथम खण्ड के श्लोक ७१ से ७८ तक बड़े विस्तार से की गई है। साथ ही, वर्णों की भाँति इन त्रिविध स्वरों[१] के वर्ण, देवता, जति, गोत्र भी निर्दिष्ट हैं। इन स्वरों के संकेत के लिए हस्तचालन[२] का भी विस्तृततर वर्णन है।

३. प्रथम खण्ड के श्लोक २२ से २६ तक तथा फिर द्वितीय खण्ड में मेघ-दुन्दुभिनिर्घोषः से यथा सुमत्तनागेन्द्रः तक प्रायः १५ श्लोकों में उच्चारण के गुण-दोष बताये हैं। इनमें कई श्लोक पाणिनिशिक्षा के भी हैं, पर अधिक स्वतन्त्र हैं। इनमें वर्णों के साथ पदों[३] के भी विविक्त आदर्श उच्चारण के लिए अनेक दृष्टान्त देकर विषय का विस्तृत वर्णन किया गया है।

४. पदों के विविक्त उच्चारण की भाँति पदों की द्विरुक्ति, आम्रेडित[४] की भी चर्चा की गई है।

५. बल्कि उद्देश्यतया नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात इन चार पदविभागों के नाम भी इसमें आ गये हैं, और वर्णों तथा उदात्तादि स्वरों की तरह इन चारों के भी देवता, वर्ण, गोत्र आदि[५] का वर्णन है।

इस प्रकार, इस शिक्षा ने अपनी विवेचना का क्षेत्र वर्णों तक ही सीमित न रखकर, पदों तक बढ़ा दिया है।

६. पाणिनिशिक्षा में रंग का तो वर्णन काफी विस्तृत है, पर अनुस्वार की मात्रा स्पष्ट नहीं की गई है। यहाँ अनुस्वार के विषय में इतनी उक्तियाँ मिलती हैं :

(क) यदि एकमात्रिक वर्ण के बाद अनुस्वार आये, तो वह द्विमात्रिक होगा। द्विमात्रिक के बाद आनेवाला अनुस्वार मात्रिक होगा; तथा संयोग के पूर्व भी आनेवाला; जैसे 'संस्था' में।[६] यह अवश्य ही पाणिनि के संयोगे गुरु का संकेत है।

(ख) यदि ह्रस्व या दीर्घ के बाद अनुस्वार आये तथा बाद में कोई ऋ-सहित व्यंजन हो, तो वह अनुस्वार भी द्विमात्रिक होता है।[७] जैसे—देवानां हृदयेभ्यः। इस उक्ति से प्रतीत होता है कि 'हृ' आदि शब्दों में ह् और र् के संयोग के भ्रम से पूर्ववर्त्ती

१. प्रथम खण्ड, श्लोक २, ३, ४।
२. प्र० खं०, श्लोक ६०, ६१, ६२, ४७ से ५१।
३. प्र० खं०, श्लोक ४३ तथा द्वि० खं० में—यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदत्पदं निधापयेत्। एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक् आदि।
४. आवर्त्तते पदं यच्च द्विस्त्रिराम्रेडितं हि तत्। यथा धाम्ने धाम्नेति यजुषे यजुषेति निदर्शनम्।
५. द्वितीय खण्ड, श्लोक ४, ५।
६. वर्णे तु मात्रिके पूर्वे अनुस्वारो द्विमात्रकः। द्विमात्रे मात्रिको ज्ञेयः संयोगाद्यस्य यो भवेत्॥ अनुस्वारस्योपरिष्टात् संयोगो यत्र दृश्यते। ह्रस्वं तं तु विजानीयात् संस्थेति निदर्शनम्॥
७. अनुस्वारौ द्विमात्रः स्याद् ऋवर्णव्यञ्जनादिगः। ह्रस्वाद् वा यदि वा दीर्घाद् देवानां हृदयेभ्य इति।

अनुस्वार को एक मात्रिक बोलने का प्रमाद हो जाता था, अर्थात् संस्था आदि शब्दों में जैसे ह्रस्वोत्तरवर्त्ती अनुस्वार का भी संयोगपूर्ववर्त्ती होने के कारण संयोगे गुरु के नियम से गुरुपरवर्त्तित्व मानकर एकमात्रिक उच्चारण करते थे, उसी प्रकार ऋ की मात्रा से युक्त व्यंजन के पूर्ववर्त्ती अनुस्वार को संयोगपूर्ववर्त्ती होने के भ्रम से ह्रस्वपरवर्त्ती रहने पर भी गुरुपरवर्त्ती समझकर एकमात्रिक बोलने लगे। फिर, जब इसके लिए विशेष सावधानी बरती गई कि ऋयुक्त व्यंजन संयोग नहीं है, अतः उससे पूर्ववर्त्ती अनुस्वार को एकमात्रिक नहीं, द्विमात्रिक बोलना चाहिए, तो यह नियम केवल ह्रस्वपरवर्त्ती अनुस्वार में ही सीमित नहीं रहकर दीर्घपरवर्त्ती में भी लागू होने लगा। फलतः, देवानां हृदयेभ्यः यहाँ दीर्घपरवर्त्ती रहने पर भी अनुस्वार का एकमात्रिक नहीं, द्विमात्रिक उच्चारण होने लगा। यह अतिशय सावधानी का परिणाम हो गया। इससे यह आभास मिलता है कि बहुत दिन पहले से ही हम स्वर ऋ का उच्चारण भूल गये हैं। 'हृदय' का उच्चारण हम 'ह्रिदय' करते आ रहे हैं। दयानन्दीय पाणिनिशिक्षा के सरेफ ऋवर्णः[1] सूत्र भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

वर्णों की संख्या, स्थान, प्रयत्न आदि के निर्देश में भी दोनों में यत्र-तत्र अन्तर है।

७. जैसे पाणिनिशिक्षा में स्पष्टतः ६३ या ६४ वर्णों की सत्ता बताई गई है, वैसे याज्ञवल्क्यशिक्षा में कहीं भी स्पष्ट घोषणा नहीं की गई है कि कुल कितने वर्ण हैं। त्रयस्त्रिंशद् व्यंजनानि स्पर्शा, अन्तस्था ऊष्माणश्चेति कहकर व्यंजन तो ३३ गिनाये गये; पर स्वर नहीं गिनाये गये।

८. स्थाननिर्देश के अवसर पर उद्देश्यतया स्वरों की गणना हो गई है, पर वहाँ भी अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३; ऋ ऌ इन ११ स्वरों का ही उल्लेख है। दीर्घ ॠ, प्लुत ऋ३ तथा ऌ३ को तो छोड़ा ही, पूरे ग्रन्थ में कहीं सन्ध्यक्षरों की चर्चा भी नहीं की। क्या इसका मतलब यह लगाया जाय कि यह शाखा सन्ध्यक्षरों को स्वतन्त्र वर्ण नहीं मानती; क्ष, त्र, ज्ञ की तरह संयुक्ताक्षर-मात्र मानती है? पर, यह एक नवीन विचार है। वास्तव में सन्ध्यक्षर और संयुक्ताक्षर पर्याय ही तो लगते हैं।

९. स्थाननिर्देश-प्रकरण में तालव्य और दन्त्य दोनों शिक्षाओं में एक-से निर्दिष्ट हैं, शेष में कुछ अन्तर है। र् को ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा ने मूर्धन्य माना है, दयानन्दीय ने मतभेद से दन्तमूलीय भी और याज्ञवल्क्यशिक्षा ने केवल दन्तमूलीय[2] ही। ह् को ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा ने पंचम तथा अन्तस्थ वर्णों से संयुक्त रहने की स्थिति में उरस्य और शेष दशाओं में कण्ठ्य माना है। दयानन्दीय ने सब ह् को मतभेद से उरस्य अथवा कण्ठ्य स्वीकार किया है, और याज्ञवल्क्यशिक्षा ने सब ह् को केवल उरस्य[3] ही माना है; आजकल के भाषावैज्ञानिक वही ठीक समझते हैं।

---

१. सूत्र ४३।
२. एको दन्तमूलीयो रेफः।
३. द्वौ औरस्यौ ह हा इति।

१०. इस शिक्षा ने ओष्ठ्य वर्णों में एक 'छ' की भी गणना[1] की है, यद्यपि एक छ तालव्यों में भी परिगणित है। यह अस्पष्ट है। क्या शेष चार वर्गों के लिए जैसे एक-एक ऊष्म वर्ण है, वैसे ओष्ठ्य पवर्ग के लिए भी कोई ऊष्म वर्ण था, जिसकी स्मृति यह छ है। यह तो अनुसन्धान का विषय है।

११. और, उरस्य वर्णों में एक 'ह' तथा एक 'हा' बताया; ओष्ठ्यों में 'म' के अलावा एक 'मा' कहा। इसका क्या अर्थ? सभी व्यंजनों में उच्चारणार्थ केवल अ की मात्रा लगाई गई है; ये 'ह्' और 'म्' दो व्यंजन 'अ' तथा 'आ' दो अनुबन्धों के साथ क्यों पढ़े गये? और, स्थान-प्रकरण में विसर्ग जिह्वामूलीय तथा अनुस्वार के नाम नहीं लिये गये। क्या 'हा' से विसर्जनीय और जिह्वामूलीय का तथा 'मा' से अनुस्वार का ही ग्रहण है? और अनुस्वार की भाँति विसर्ग तथा जिह्वामूलीय भी द्विमात्रिक है, अतः उनका निर्देश 'आ' अनुबन्ध के साथ किया गया? स्थान-निर्देश से पूर्व जिह्वामूलीय[2], विसर्जनीय[3] तथा अनुस्वार[4] तीनों का वर्णन किया गया है, अतः याज्ञवल्क्यशिक्षा अपनी वर्णमाला में उनकी गणना करती है, यह स्पष्ट है। साथ ही, स्थान-प्रकरण में जब उपध्मानीय तथा चार यमों का परिगणन है, तब शेष तीन अयोगवाहों को इस प्रकरण में क्यों छोड़ देंगे? परन्तु, विसर्जनीय और जिह्वामूलीय दोनों को ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा ने आश्रयस्थानभागी बताया, दयानन्दीय ने जिह्वामूलीय को जिह्वामूलीय तथा विसर्ग को मतभेद से कण्ठ्य और उरस्य दोनों कहा। दयानन्दीय ने नासिक्य अथवा कण्ठनासिक्य माना है, अर्थात् ङ् उच्चारणवाला। पर, याज्ञवल्क्यशिक्षा ने विसर्जनीय और जिह्वामूलीय (हा) को उरस्य तथा अनुस्वार को ओष्ठ्य, अर्थात् म् उच्चारणवाला बताया? उपध्मानीय को तो दयानन्दीय पाणिनिशिक्षा तथा याज्ञवल्क्यशिक्षा दोनों ने ओष्ठ्य कहा है।

१२. चार यमों का स्थान दोनों ही पाणिनिशिक्षाओं में नासिका बताया गया है, पर याज्ञवल्क्यशिक्षा का मत भिन्न है। एक तो यहाँ 'क्म, ख्म, ग्म, घ्म, कुं, खुं, गुं, घुं इति यमाश्चत्वारः' कहा गया, जिससे ऐसा लगता है कि चारों यमों का रूप कुं खुं गुं घुं की तरह क्रमशः क्म ख्म ग्म घ्म भी है, दूसरे यहाँ प्रथम-द्वितीय को ओष्ठ्य नासिक्य, द्वितीय को कण्ठ्य-दन्त्य भी, तृतीय को कण्ठ्य, जिह्वाग्र्य, नासिक्य और चतुर्थ को उरस्य, कण्ठ्य तथा नासिक्य माना है।[5]

---

१. एकादश औष्ठ्याः प फ ब भ म मा उ ऊ ऊ३ छ उपध्मा चेत्यादयः।
२. ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च। जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः॥
३. शृंगवद्वाथ वत्सस्य कुमारीकुचयुग्मवत्। उभपक्षेस्वरोयत्र स विसर्ग उदाहृतः॥
४. वर्णे तु मात्रिके पूर्वे अनुस्वारो द्विमात्रकः।
५. प्रथमौ चौष्ठनासिक्यौ ओष्ठनासे उपाश्रितौ।
द्वितीयः कण्ठ्यदन्त्यश्च नासामूलमुपाश्रितः॥
तृतीयः कण्ठ्यजिह्वाग्रे नासायामेव निर्दिशेत्।
चतुर्थो हृदि नासिक्यः कण्ठे चाभिहिता यमाः॥

१३. (क) करण शब्द का प्रयोग आभ्यन्तर प्रयत्न के अर्थ में करने पर भी दयानन्दीय पाणिनिशिक्षा ने वर्णों के 'करण' का विचार आभ्यन्तर प्रयत्न से सर्वथा स्वतन्त्र पृथक् प्रकरण में रखा है और ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा ने 'करण' का स्वतन्त्र विचार न कर उसे आभ्यन्तर प्रयत्न के साथ एक कर दिया है। किन्तु याज्ञवल्क्यशिक्षा ने तो सम्भवतः करण, अभ्यन्तर प्रयत्न तथा बाह्य प्रयत्न तीनों को एक ही में मिश्रित कर दिया है। **चतुर्विधं करणम् स्पृष्टमस्पृष्टं संवृतं विवृतं चेति। संवृता घोषा, विवृता अघोषाः। विंशतिर्घोषास्ते गजडदबा, घझढधभा, ङञणनमा, यरलवाश्चेति। त्रयोदश अघोषास्ते कचटतपाः, खछठथफाः, शषसाश्चेति** का अर्थ स्पष्ट नहीं है। लगता है, इस पूरे सन्दर्भ में करण का विवेचन है, पर तब तो करण चतुर्विध नहीं, षड्विध हो गये : स्पृष्ट, अस्पृष्ट, संवृत, विवृत, घोष और अघोष। यदि यह कहें कि करण चतुर्विध ही हैं : स्पृष्ट, अस्पृष्ट संवृत तथा विवृत, तब भी तीन शंकाएँ रह जाती हैं : (१) एक यह कि अगले वाक्यों में किस वस्तु का वर्णन है। इस ग्रन्थ से ऐसा संकेत नहीं मिलता कि अगली पंक्तियों में किसी भिन्न वस्तु का, बाह्य प्रयत्न का, वर्णन है ; (२) बल्कि **चतुर्विधं करणम् स्पृष्टं, अस्पृष्टम्, संवृत विवृतं च** और **विंशतिर्घोषास्ते** इन दोनों वाक्यों के बीच **संवृता घोषा विवृता अघोषाः** यह अंश आकर इस विचार की पुष्टि करता है कि जिनका संवृत करण है, उनका घोष भी और जिनका विवृत करण है, उनका अघोष भी। पर, तब यह चतुर्विधता खटकती है ; (३) एक और बात, स्पृष्ट और अस्पृष्ट इन दो शब्दों से तो वर्णमात्र का ग्रहण हो जायगा, तब दो ही विभाग रह जायेंगे, बाह्यप्रयत्न को संवार-विवार की दृष्टि की भाँति सभी वर्ण दो हो श्रेणियों में आ जायेंगे। चतुर्विधता कहाँ रहेगी, अतः ये शब्द भी ठीक नहीं, स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, संवृत, विवृत ये चार शब्द प्रयुक्त होने चाहिए थे। अथवा, क्या यहाँ चतुर्विध करण बाह्यप्रयत्न ही है। जिह्वा और तालु के स्पर्श से उच्चरित वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट माना जाता है, और जिनके उच्चारण में जिह्वा तालुतल को छू नहीं पाती, सम्बद्ध भाग से कुछ दूरी पर जाकर ठहर जाती है, उन्हें अस्पृष्ट कह सकते हैं, जिनके विश्लेषण करने पर ईषत् स्पृष्ट, विवृत, संवृत ये तीन श्रेणियाँ हो जायेंगी। इसी भाँति आमने-सामने की स्वर-तन्त्रियाँ जिन वर्णों के उच्चारण में एक दूसरे को छूकर, वायुमार्ग को रोककर घोष पैदा करती हैं, उन्हें स्पृष्ट, संवृत, घोष कहेंगे; और जिनके उच्चारण में एक दूसरे को नहीं छूकर, वायुमार्ग को खुला रखकर घोष नहीं पैदा होने देतीं, उन्हें अस्पृष्ट, विवृत, अघोष ? इस स्थिति में यहाँ संवृत को घोष का तथा विवृत को अघोष का उपलक्षण मानकर इन्हें चतुर्विध भी कह सकते हैं। अतः, इस ग्रन्थ से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यहाँ स्पृष्ट-अस्पृष्ट तथा संवृत-विवृत आभ्यन्तर प्रयत्न हैं या बाह्य ? यदि बाह्य हैं, तो संवार-विवार छोड़ दिये। आनुनासिक्य, अल्पप्राण-महाप्राण का नाम नहीं लिया।

१४. वर्णोत्पादक वायुपिण्डों का वर्णन ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा ने बिलकुल नहीं किया है, दयानन्दीय शिक्षा ने किया है; पर तीन ही पिण्डों का। उसकी अपूर्णता

दिखाई जा चुकी है। यहाँ वर्णोत्पादक वायुपिण्ड की चर्चा नहीं है, परन्तु व्यंजन-संयोग के सात प्रकार[1] बताये गये हैं :

क. अयःपिण्ड (लोहे का पिण्ड)—यम का संयोग; जैसे अग्निः, आतनच्मि आदि।
ख. दारुपिण्ड (काठ का पिण्ड)—अन्तस्थ का संयोग; जैसे अश्वः, सूर्यः आदि।
ग. ऊर्णापिण्ड (ऊन का गोला)—जैसे यस्मिन्, अमुष्मिन् आदि।
घ. ज्वालापिण्ड—नासिक्य-संयोग; जैसे ब्रह्मा, वह्निः, गृह्णामि आदि।
ङ. मृत्पिण्ड—अनुस्वारयोगवान्; जैसे संस्था, संस्कर्त्ता आदि।
च. वायुपिण्ड—उपध्मानीययोगवान्; जैसे 'युञ्जानः प्रथमम्' आदि।
छ. वज्रपिण्ड—जिह्वामूलीययुक्त; जैसे 'दिवः ककुत्' आदि।

इन सप्तविध पिण्डों का वर्णन अनन्तभट्ट-कृत भाष्यसहित वाजसनेय प्रातिशाख्य में भी आया है।[2] दोनों जगह दारुपिण्ड और ऊर्णापिण्ड के उदाहरण गलत हो गये हैं। वस्तुतः, इनकी परिभाषा[3] के अनुसार सान्तस्थ यम को दारुपिण्ड कहते हैं। जैसे : अघ्न्या, चिख्न्वा आदि और यमवर्ज अन्तस्थसंयोग को ऊर्णापिण्ड कहते हैं। जैसे : अनूपः, सूर्यः, तल्लोकः आदि।

१५. पाणिनिशिक्षा में सन्धि की चर्चा नाममात्र की है, इसका विस्तार प्रातिशाख्यों में है। पाणिनिशिक्षा में केवल यह प्रसंग[4] आया है कि ऊष्म के स्थान में आठ प्रकार के विकार होते हैं और 'ओ' भाव दो प्रकार से सम्भव है, एक विसर्गसन्धि से, दूसरे गुणसन्धि से। परन्तु, याज्ञवल्क्यशिक्षा में सन्धि का अधिक विस्तार से वर्णन है :

(क) पहले तो यह बताया गया है कि सन्धि के चार[5] रूप हैं : लोप, आगम, वर्णविकार तथा प्रकृतिभाव। चारों के क्रम से उदाहरण ये हैं :

अ. लोप—शततेजाः वायुः = शततेजा वायुः।
आ. आगम—प्राङ्सोमः = प्राङ्क्सोमः।
इ. वर्णविकार—आ इदम् = एदम्, प्र इषितः = प्रेषितः।
ई. प्रकृतिभाव—युंजानः प्रथमम्, आशुः शिशानः आदि।

१. अथ सप्तविधाः संयोगपिण्डाः, अमूपिण्डो, दारुपिण्डो, ऊर्णापिण्डो ज्वालापिण्डो, मृतपिण्डो, वायुपिण्डो, वज्रपिण्डश्चेति।
२. ४।१६५।
३. यमान् विद्यादयःपिण्डान् सान्तस्थं दारुपिण्डवत्।
अन्तस्थं यमवर्जं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत्॥
ज्वालापिण्डान् सनासिक्यान् सानुस्वारांस्तु मृन्मयान्।
सोपध्मावायुपिण्डश्च, जिह्वामूले तु वज्रिणः॥ (याज्ञवल्क्यशिक्षा)
४. श्लोक १४।१५।
५. सन्धिश्चतुर्विधो भवति, लोपागमौ वर्णविकारः प्रकृतिभावश्चेति।

(ख) कई और सन्धियों की भी चर्चा है। जैसे : नकारान्त[1] पद के बाद यदि स आये, तो बीच में त् का आगम हो। जैसे : त्रीन् + समुद्रान् = त्रीन्त्समुद्रान्। यहाँ यह पाणिनि के नश्च[2] सूत्र का संकेत है।

(ग) परन्तु, प्रायः सभी सन्धिनियम अधूरे हैं, अभी उनका अनुगम नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ, कहा गया है कि ङकारान्त[3] पद के बाद स् आवे, तो बीच में क् आ जाता है, जैसे; प्राङ् + सोम = प्राङ्क्सोम। यहाँ स के बदले श ष स तीनों कहना चाहिए था। पकारान्त[4] पद के बाद आये श् का छ् किया गया है; जैसे अनुष्टुप् + शारदी = अनुष्टुप्छारदी। यह 'शश्छोटि' का कितना बौना रूप है? ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं। ङः सि धुट्[5], अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः[6], स्तोःश्चुनाश्चुः[7] आदि का भी बीज-वपन है।

(घ) एक नियम[8] से बताया गया है कि यदि पदान्त द् के बाद श्मश्रु शब्द आये, तो श् का छ् नहीं हो, केवल ञ् श् का संयोग रह जाये। यह 'शश्छोटि' का निषेध लगता है। पर, आश्चर्य है कि 'शश्छोटि' की यहाँ प्राप्ति ही नहीं है, यहाँ न तो अम् के बाद श् है, न अट् के पूर्व। न् अम् के बाहर है, और म् अट् के बाहर। फिर, निषेध क्यों किया गया? प्रतीत होता है कि शिक्षाकाल में नियमों का ठीक अनुसन्धान नहीं हुआ था। अव्याप्ति अतिव्याप्ति-रहित, अनुगमपूर्ण संक्षिप्त सरल नियम बनाना पाणिनि जैसे क्रान्तदर्शी का ही काम था। किन्तु, श्मश्रु शब्द के छत्व को कात्यायन-काल में शीघ्र ही मान्यता मिल गई। उन्होंने 'शश्छोटि' को 'शश्छोमि' पढ़ना चाहिए, ऐसा कहा— छत्वममीति वाच्यम्। इससे तत् + श्लोक = तच्छ्लोक, तत् + श्मश्रु = तच्छ्मश्रु आदि प्रयोग सिद्ध किये गये (दे० 'शश्छोटि' की तत्त्वबोधिनी टीका)।

१६. ऊष्म वर्ण, प तथा व के विभिन्न स्थलों में विभिन्न उच्चारण[9] बताये गये हैं, जो आज बाल की खाल निकालने की तरह लग रहा है। ऊष्म के भेद केलि,

---

१. नकारस्ते पदे पूर्वे सकारे परतः स्थिते।
तं सवर्णं विजानीयात् त्रीन्त्समुद्रे ति निदर्शनम्॥

२. अष्टा० ८।३।३०।

३. ङकारान्ते पदे पूर्वे सकारे परतःस्थिते। कसवर्णं विजानीयात् प्राङ्क् सोमेति निदर्शनम्॥
यह पाणिनि के 'ङणोः कुक् टुक् शरि' का बीज-रूप है।

४. पकारान्ते पदे पूर्वे शकारे परतः स्थिते। छसवर्णं विजानीयात् अनुष्टुप्छारदीति निदर्शनम्॥

५. ८।३।२९। ६. ८।४।५८। ७. ८।४।४०।

८. नकारान्ते पदे पूर्वे श्मश्रुभिः परतः स्थिते। छकारं न प्रयुञ्जीत ञश सन्धि समुच्चरेत्॥

९. उभावावुत्थितश्चोष्मानां तु केलिं विनिर्दिशेत्।
विवृतं प्रति या ऊष्मा विज्ञेया विकटानना॥
लीढातिलीढविद्युच्च शषसेषु प्रकीर्त्तिताः।
जिह्वामूले च रेफे च विज्ञेया विठका शठा॥
उपध्मानीयसहितां पुष्पिणीं तां विनिर्दिशेत।

विकटानना, लीढ, अतिलीढ, विद्युत्, विठका, शठा, पुष्पिणी, सुलभ; व के भेद[2] गुरु, लघु, लघुतर आदि अतिशय सूक्ष्म हैं। और, इस प्रकार के भेद और वर्णों में भी कल्पित हो सकते हैं।

१७. बहुत-से श्लोक पाणिनिशिक्षा तथा याज्ञवल्क्यशिक्षा दोनों में मिलते हैं। जैसे : **यथा सौराष्ट्रिका नारी, ओभावश्च विवृतिश्च, व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान्, माधुर्यमक्षर-व्यक्तिः** इत्यादि।

१८. इसमें पंचविध[3] स्वरभक्तियों की भी चर्चा है, जो पाणिनीय शिक्षा में नहीं है। स्वरभक्ति की चर्चा प्रातिशाख्यों में है, पर वहाँ भी इनकी संख्या और उसके आधार भिन्न हैं। साथ ही पिपीलिका, पाकवती, वत्सानुसारिणी, वत्सानुसंसृता इन पाँच विवृतियों और घात, निर्घात, वज्रिन्, अहर, प्रहर इत्यादि पाँच रंगों का भी वर्णन है। इन दोनों का यह विभाग और कहीं भी नहीं पाया जाता। याज्ञवल्क्यशिक्षा के दो संस्करण प्राप्त हैं। एक तो निर्णयसागर से प्रकाशित उवट-महीधर भाष्य-युक्त 'शुक्लयजुर्वेदसंहिता' के परिशिष्ट-रूप में, दूसरे 'शिक्षासंग्रह' में संगृहीत याज्ञवल्क्यशिक्षा के रूप में। शिक्षा-संग्रहवाली शिक्षा में यत्र-तत्र अन्तर है।

१९. शिक्षासंग्रह में स्थान-प्रकरण में निम्नांकित प्रकार के वर्ण माने गये हैं :

(क) औरस्य दो हैं—ह्व तथा ह्य। संहितावाली शिक्षा में ह और ह्य को औरस्य बताया गया है। ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा ने भी अन्तस्थ संयुक्त ह् को ही उरस्य माना है, असंयुक्त को नहीं।

(ख) कण्ठ्य तीन हैं—अवर्ण, हकार, विसर्जनीय। असंयुक्त ह् को पाणिनिशिक्षा ने भी कण्ठ्य ही माना है। विसर्जनीय की तो संहिता-परिशिष्टवाली शिक्षा में चर्चा भी नहीं है।

(ग) मूर्धन्य छह हैं—षकार तथा टवर्ग। ऋ को यहाँ छोड़ दिया गया। बल्कि, स्थान-प्रकरण में ही उसे छोड़ दिया गया। संहितीय शिक्षा में भी मुद्रणाशुद्धि से ही छपा है **षट् मूर्धन्या ऋटठडढणष** इति; क्योंकि 'ऋ' को गिनने पर ये वर्ण छह नहीं, सात हो जाते हैं।

(घ) तालव्य नौ हैं—इवर्ण, चवर्ग, शकार, यकार, एकार। आश्चर्य है कि संहितीय शिक्षा ने सन्ध्यक्षरों की चर्चा नहीं की है, यहाँ भी चार सन्ध्यक्षरों में से केवल एक 'ए' की चर्चा है, और उसका भी स्थान कण्ठ-तालु दोनों न मानकर केवल धातु माना गया है। क्या यहाँ ए मुद्रणाशुद्धि से आ गया है?

(ङ) 'दन्त्य' आठ हैं—तवर्ग, स, ल तथा ऌ।

---

२. वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुलघूतरः।

३. कारिणी रहयोर्योगे कुर्विणी लहकारयोः॥
हरिणी रषयोर्योगे हारितं ऋषकारयोः।
या तु हंसपदा नाम सा तु रेफनकारयोः॥

(च) ओष्ठ्य आठ हैं, पवर्ग, व उवर्ण तथा उपध्मानीय। व को दन्त्योष्ठ्य नहीं, केवल ओष्ठ्य कहा है।

(छ) दन्तमूलीय एक है—रेफ।

(ज) जिह्वामूलीय पाँच हैं— कवर्ग। आश्चर्य है कि दोनों में से किसी भी याज्ञवल्क्य-शिक्षा में जिह्वामूलीय (ᳵक) की चर्चा नहीं है। एक और बात। संहितापरिशिष्ट-शिक्षा में, स्थान-प्रकरण में कवर्ग की कहीं चर्चा नहीं है और कवर्ग को जिह्वामूलीय मानने के बदले कुं खुं गुं घुं ङुं इन पाँचों को जिह्वामूलीय माना गया है। चूँकि, यम कुं खुं गुं घुं ये चार इसके अनुपद आगे गिनाये गये हैं, अतः अवश्य ही ये पाँच क ख ग घ ङ के संकेत हैं। परन्तु, क ख ग घ ङ लिखने की जगह कुं खुं गुं घं ङुं क्यों लिखा? क्या यह भी मुद्रणासुद्धि है?

(झ) यम चार हैं—यमनिर्देश के लिए दोनों संस्करणों में दो प्रकार के श्लोक मिलते हैं: **रुक्मेति प्रथमो ज्ञेय: सक्थ्ना इत्यपरो भवेत्। तृतीय सद्म इत्याहुरुपध्मेति चतुर्थक:।** यह संहितापरिशिष्ट में मिलता है। इस श्लोक में यम-रूप में स्वीकृत जो क्, थ्, द्, ध् हैं, वे पंचमवर्ण-पूर्ववर्त्ती तो हैं, पर पूर्वसदृश वर्ण नहीं हैं। पूर्वसदृश वर्ण तो द्वित्व होने पर ही मिलता है, जो यहाँ दिखाया नहीं गया है। शिक्षासंग्रह में यह श्लोक ऐसा मिलता है: **रुक्मेति प्रथमो ज्ञेयः सक्थ्ना इत्यपरो भवेत्। ग्विद्या ते तु तृतीयश्च जम्भे दध्ध्म-श्चतुर्थक:।** इस श्लोक में पूर्वार्ध में प्रथम-द्वितीय यमों का विना द्वित्व के ही निर्देश कर दिया और तृतीय-चतुर्थ यमों का द्वित्व कर। यह तो अर्धजरतीय न्याय हो गया। क्या यहाँ भी कहीं मुद्रणाशुद्धि है? यम के विषय में ऐसा मतभेद पाणिनिशिक्षा की व्याख्या के समय भी दिखाया जा चुका है। यहाँ इन चार यमों का भी स्थान नहीं दिया है। सक्थ्ना में क्या क् विसदृश थ् को भी यम माना गया? या थ् का द्वित्व करेंगे?

२०. आभ्यन्तर-प्रयत्न-निरूपण इस संस्करण का बड़ा पूर्ण लगता है। आश्चर्य है, शेष तीनों ग्रन्थों में यह प्रसंग कितना भ्रान्त तथा मिश्रित है, पर शिक्षा-संग्रह की याज्ञवल्क्यशिक्षा में इतना स्पष्ट विवेक कैसे हो पाया है? क्या यह पश्चाद्वर्त्ती है? इसके अनुसार अकार संवृत अस्पृष्ट, शेष स्वर विवृत अस्पृष्ट, अन्तस्थ ईषत्स्पृष्ट, ऊष्म अर्धस्पृष्ट तथा शेष व्यंजन स्पृष्ट होते हैं। ऋ तथा लृ में रेफ और ल् की थोड़ी मात्रा है, अतः इनमें स्वर होते हुए भी पूर्ण अस्पृष्टता नहीं रहती। यह कथन भी कितना सत्य है। किसी भी प्राचीन ध्वनिविज्ञानी ने ऋ तथा लृ की अपूर्ण अस्पृष्टता की ओर ध्यान नहीं दिया था।

२१. विद्यार्थी को कैसे रहना चाहिए, इसपर भी याज्ञवल्क्यशिक्षा ने प्रकाश डाला है। और भी कई बातें छिटपुट मिलती हैं, जिनका शिक्षाविज्ञान से साक्षात सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में, पाणिनीय शिक्षा की तरह लोगों का ध्यान अभी याज्ञवल्क्य-

शिक्षा पर गया ही नहीं है। इसकी व्याख्या भी नहीं की गई है। शिक्षासंग्रह में तो कम-से-कम कारिकाओं की संख्या २३२ भी दे दी गई है। संहितापरिशिष्ट में तो वह भी नहीं। कहीं संख्या दी गई है, कहीं छोड़ दी गई है। मुद्रणाशुद्धियाँ भी हैं।

जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है, शिक्षा-वाङ्मय बड़ा विस्तृत है। डॉ० वर्मा ने स्वीकार किया है कि उन्होंने ६५ शिक्षाग्रन्थ देखे हैं, पर उन्होंने उनके नाम नहीं गिनाये। 'शिक्षासंग्रह' में ३२ शिक्षाग्रन्थों का संग्रह है। इनमें मुख्य ये हैं :

१. **वासिष्ठी**—इसमें केवल ऋग् और यजुष् का विभाग है। इसके अनुसार कुल यजुष् २८८३ हैं।
२. **कात्यायनी**—इसमें केवल उदात्तादि स्वरों का विचार है।
३. **पाराशरी**—इसमें १६० श्लोक हैं, पर वर्णविचार इसमें भी नहीं है।
४. **माण्डव्यशिक्षा**—१३० श्लोक हैं।
५. **लघ्वमोघानन्दिनी**—१७ श्लोक हैं।
६. **माध्यन्दिनशिक्षा**—४० श्लोक।
७. **लघुमाध्यन्दिनी शिक्षा**—इसमें २८ श्लोक हैं। इसकी नवीनता यह है कि इसने अपनी शाखा में ष का ख तथा य का ज उच्चारण बताया है।
८. **अमरेशी वर्णरत्नप्रदीपिका**—इसमें वर्णविचार विस्तृत है, पर कोई नवीनता नहीं है। साथ ही, स्वरविचार और सन्धिविचार भी हैं। इसमें २२६ श्लोक हैं।
९. **केशवी सूत्रात्मिका**—९ सूत्र।
१०. **केशवकृता पद्यात्मिका**—२१ श्लोक।
११. **मल्लशर्यकृता**—६५ श्लोक।
१२. **स्वरांकुशशिक्षा**—२५ श्लोक।
१३. **षोडशश्लोकी रामकृष्ण-विरचिता**—१६ श्लोक।
१४. **अवसाननिर्णयशिक्षा।**
१५. **कात्यायन-प्रणीत स्वरभक्तिलक्षण-परिशिष्टशिक्षा**—४२ श्लोक।
१६. **क्रमसन्धानशिक्षा।**
१७. **गलदृक्शिक्षा**—इसमें केवल यह बताया गया है कि कितनी ऋचाएँ लुप्त हो गई हैं।
१८. **मनःस्वार शिक्षा।**
१९. **प्रातिशाख्यप्रदीप**— इसमें स्वर और सन्धि का विचार है, साथ ही जटा, घन आदि पाठों की भी चर्चा है। यह बड़ी विस्तृत है।
२०. **यजुर्विधानशिक्षा**—इसमें छह अध्याय हैं। यह तो शिक्षा का नहीं, कल्प का ग्रन्थ लगता है।

२१. स्वराष्टकशिक्षा—इसमें वर्ग, स्वर, सन्धि के विचार के साथ अन्त में प्रत्याहार-सूत्र भी दिये हैं।

२२. क्रमकारिका शिक्षा—९२ श्लोक।

२३. पाणिनीया शिक्षा—इसमें ६० श्लोक हैं।

२४. शिक्षाप्रकाश— पाणिनीय शिक्षा की ही प्रकाश टीका।

२५. नारदी शिक्षा—३१ श्लोक।

२६. सामवेदीया गौतमी शिक्षा—इसमें केवल संयोगों का विचार है। इसमें दो से सात व्यंजनों तक के संयोग पर विचार है।

२७. सामवेदीया लोमशी।

२८. अथर्ववेदीया माण्डूकी आदि।

इनमें से जो श्लोकात्मक हैं, उनकी श्लोक-संख्या दी गई है। बहुत-से गद्यात्मक भी हैं। अधिकांश में कोई नवीनता नहीं है। कई में वर्णविचार है ही नहीं, दूसरे-दूसरे विचार हैं। फिर भी, इनके मन्थन से ध्वनिविज्ञान के लिए भी बहुत-से उपयोगी तथ्य पाये जा सकते हैं। पर, अभी इनके मनन-विश्लेषण की ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा है।

प्रातिशाख्य

पहले कहा जा चुका है कि प्रायः सभी विद्वानों के अनुसार वर्त्तमान प्रातिशाख्य ग्रन्थ वर्त्तमान शिक्षाग्रन्थों से प्राचीन हैं, भले ही शिक्षा का विषय प्रातिशाख्य के विषय से प्राचीनतर है। अतः, प्रातिशाख्यों का अध्ययन प्राचीन ध्वनिविज्ञान के परिचय के लिए शिक्षाओं के अध्ययन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए।

युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'व्याकरणशास्त्र का इतिहास' में प्रायः १५ प्रातिशाख्यों की चर्चा की है। यहाँ उनमें से केवल छह का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत कर प्रातिशाख्य-वाङ्मय के प्रतिनिधि विषयों का आकलन किया गया है :

१. ऋक्-प्रातिशाख्य, २. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, ३. शुक्लयजुःप्रातिशाख्य, ४. शौनकीय चतुरध्यायिका, ५. अथर्व-प्रातिशाख्य तथा ६. साम प्रातिशाख्य। इनमें भी सर्वाधिक प्राचीन तथा सर्वांगपूर्ण ऋक्-प्रातिशाख्य है, अतः इस वाङ्मय के अध्ययन के लिए उसी को आधार बनाया गया है। बाकी प्रातिशाख्यों ने उसी के विषय में यत्र-तत्र परिवर्त्तन-परिवर्द्धन किया है।

ऋक्-प्रातिशाख्य :

ऋक्-प्रातिशाख्य के रचयिता शौनक[1] ऋषि हैं। यह श्लोकमय है; किन्तु इन श्लोकों को अर्थानुसार तोड़कर सूत्र बना लिया गया है। इसपर 'उवट' का भाष्य है, जो प्राचीन भारतीय प्रसिद्ध ध्वनिविज्ञानी भी माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में १८ पटल या अध्याय हैं, जिनकी सूत्र-संख्या निम्नांकित है :

पटल-सं०	सूत्र-सं०	पटल-सं०	सूत्र-सं०	पटल-सं०	सूत्र-सं०
१	१०३	२	८२	३	३४
४	६८	५	६१	६	५६
७	५६	८	५०	९	५२
१०	२३	११	७१	१२	२६
१३	५०	१४	६९	१५	३३
१६	९२	१७	५०	१८	६२

प्रथम पटल से पहले विष्णुमित्र की वृत्ति भी सम्बद्ध है। इसके श्लोकों को भी अर्थानुसार दस टुकड़ों में बाँट दिया गया है। इस प्रकार, कुल मिलाकर इसमें १०७८ नियम हैं।

---

१. परावरे ब्रह्मणि यं सदाहुर् वेदात्मानं वेदनिधिं मुनीन्द्राः।
तं पद्मगर्भं परमं त्वादिदेवं प्रणम्यर्चां लक्षणमाह शौनकः ॥ १ ॥

ऋक्-प्रातिशाख्य में निम्नांकित बातें ध्यातव्य हैं :

१. संहिता (विष्णुमित्र की वृत्ति) :

ऐतरेय आरण्यक ३।१।१ में बताया गया है कि भूमि और दिव् के बीच माण्डूकेय[१] के मत से वायुसंहिता है तथा माक्षव्य के मत से आकाश। अगस्त्यपुत्र का कथन है कि (समीकरण-नियम से) ऐसी हालत में आकाश और वायु दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। अर्थात्, ध्वनि पैदा करने के लिए एक मूर्त्त वस्तु चाहिए और उसके पास कुछ खाली जगह चाहिए, साथ ही दोनों के बीच वायु या आकाश (ईश्वर ?) भी रहना चाहिए। इसी तरह चिन्तन और नाद के बीच प्राणसंहिता है, अर्थात् चिन्तन प्राणवायु द्वारा ही नाद से सम्बद्ध है। एक आचार्य[२] पिता-पुत्र में ही यह विवाद है कि इस चिन्तन और नाद में पूर्वरूप कौन-सा है और पररूप कौन-सा ? अर्थात्, पहले नाद, तब चिन्तन है या पहले चिन्तन, तब नाद है ? मनुष्य सोचने के कारण बोलता है या बोलने के कारण सोचता है ? अर्थ से शब्द की निष्पत्ति होती है या शब्द से अर्थ की ? आचार्य शूरवीर के अनुसार पहले वाक् है, फिर अर्थ, उनके पुत्र का मत है कि पहले अर्थ है, तब वाक्। विष्णुमित्र ने ऐ० आ० ३।१।१ के प्रसंग को एक सोपान आगे बढ़ाकर भाषाविज्ञानियों के सामने एक समस्या रख दी है।

२. मूर्धन्य वर्णों की विवेचना :

इस वृत्ति में ऐ० आ० ३।२।६ की उक्ति **तस्यै वा एतस्यै संहितायै णकारो बलं प्राण आत्मा** इन शब्दों में दुहराई गई है **प्राणः षकारो यच्च बलं णकारः**। इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषा में ष तथा ण की बहुलता थी, प्रधानता थी। इस भाषा का बल णकार था, तथा प्राण और आत्मा षकार। पाणिनि ने भी षत्व-विधान तथा णत्व-विधान के दो लम्बे प्रकरण[३] ही बना दिये हैं। साथ ही षत्व की तरह ष्टुत्व[४] के लिए भी पाणिनि ने नियम बनाये हैं; क्योंकि षकार की भाँति ट वर्ग भी संस्कृत में काफी प्राप्त है। वेदों ने ऋषि[५], पोष[६], देवेषु[७], दाशुषे[८], करिष्यसि[९], अध्वराणाम्[१०], वरुणम्[११], द्रवत्पाणी[१२] धिष्ण्या[१३], अष्वीभिः[१४] आदि षकार तथा णकारवाले शब्दों की तो भरमार है ही, ईड्यः[१५], वष्टु[१६], कृष्टयः[१७], ज्येष्ठ्याय[१८], सुष्टुतिम्[१९], वर्षिष्ठम्[२०], मुष्टिहत्यया[२१],

१. माण्डूकेयः संहितां वायुमाह तथाकाशं चास्य माक्षव्य एव।
समानेतामनिले चाम्बरे च मत्वागस्त्योऽविपरिहारं तदेव ॥ २ ॥

२. ऊध्मात्मक्लृप्तौ शूरवीरः सुतश्च वाङ्मनसोर्विवदन्त्यानुपूर्व्ये।

३. ८।३।५५ से ८।३।११९ तक षत्व तथा ८।४।१ से ८।४।३३ तक णत्वविधान।

४. ८।४।४१। ५. ऋक्० मं० १, सू० १, मं० २। ६. ऋ० १।१।३। ७. ऋ० १।१।४।
८. ऋ० १।१।६। ९. ऋ० १।१।६। १०. ऋ० १।१।८। ११. ऋ० १।२।७।
१२. ऋ० १।३।१। १३. ऋ० १।३।२। १४. ऋ० १।३।४। १५. ऋ० १।१।२।
१६. ऋ० १।३।१०। १७. ऋ० १।४।६। १८. ऋ० १।५।६। १९. ऋ० १।७।७।
२०. १।८।१। २१. ऋ० १।८।२।

अभिष्टिः[१], भूर्यस्पष्ट[२], जुष्टयः[३]; उपातिष्ठन्त[४], हव्यवाड्[५], ईडे[६], मृड्ये[७], घृतपृष्ठम्[८], इडा[९], समूढ[१०], अपगूढम्[११], षड्युक्ताम्[१२], अहेडमानः[१३], जिहीडानस्य[१४] मीढ्वान्[१५], विविड्ढि[१६], कुण्डृणाच्या[१७], ष्ठा[१८] ऐसे हजारों प्रयोग हैं, जिनमें टवर्ग आदि मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग है। और, मूर्धन्यों के शिरोमणि ष तथा ण से शून्य तो शायद ही कोई मन्त्र है। तभी तो ऐतरेय आरण्यक तथा ऋग्वेद-प्रातिशाख्य दोनों ने वैदिक भाषा का बल णकार तथा प्राण षकार घोषित किया है। जैसे आजकल लोगों ने सुविधा के लिए यह कहना शुरू किया है कि किसी शब्द के विषय में यदि यह सन्देह हो कि यह पुँल्लिग है या स्त्रीलिंग, तब उसका प्रयोग स्त्रीलिंग में ही करना निरापद है, उसी तरह वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के समय जब यह सन्देह हो कि यहाँ स है या ष, तो ष बोले और जब यह सन्देह हो कि यहाँ न है या ण, तो ण बोले, ऐसा निर्णय ऐ० आ० ३।२।६ ने दिया है: **स यदि विचिकित्सेत् सणकारं ब्रवाणी॓३ अणकारां॓ ३ इति सणकारमेव ब्रूयात् सषकारं ब्रवाणी॓ ३ इति सषकारमेव ब्रूयात्।** वैदिक भाषा तथा पाणिनिकालीन संस्कृत अधिकतर मूर्धन्य वर्ण-रहित थी, उनमें मूर्धन्यों का समावेश द्रविड आदि अनार्य भाषाओं के सम्पर्क से हुआ, ऐसा कहना असंगत ही लगता है। खुद अँगरेजी में भी कैट, फैट, रैट, मैट, चैट, हैट, बैड, पैड, मैड, ग्लैड, हैड, गौड, रौड, नौड आदि हजारों शब्दों में मूर्धन्य वर्ण भरे पड़े हैं; बल्कि वैदिक भाषा की भाँति अँगरेजी भी मूर्धन्य-प्रधान ही है। इसमें ट और ड की भरमार है। इनमें किस अनार्य भाषा के सम्पर्क से मूर्धन्य वर्ण आये? और, स्वयं द्रविड में किसके संसर्ग से मूर्धन्य आये?

३. वर्णमाला :

विष्णुमित्र ने इस प्रकार की वर्णमाला दी है :

१. अ, ऋ, इ, उ।
२. ए, ओ, ऐ, औ।
३. लृ।
४. आ, ॠ, ई, ऊ, ॡ।
५. कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग— ये २५ वर्ण।
६. अन्तस्थ, य र ल व — ४।
७. ऊष्म, ह श ष स — ४।
८. अः, ≍ क, ≍ प, अं — ४।
सर्वयोग १४ + ३३ + ४ = ५१।

---

१. ऋ० १।६।१। २. ऋ० १।१०।२। ३. ऋ० १।१०।१२। ४. ऋ० १।१०।६। ५. ऋ० १।१२।६। ६. ऋ० १।१।१। ७. ऋ० १।१२।६। ८. ऋ० १।१३।५। ९. ऋ० १।१३।६। १०. ऋ० १।२२।१७; ११. ऋ० १।२३।१४; १२. ऋ० १।२३।१५। १३. ऋ० १।२४।११; १४. ऋ० १।२५।२। १५. ऋ० १।२७।२। १६. ऋ० १।२७।१०। १७. ऋ० १।२६।६। १८. ऋ० १।१५।२।

अन्त में लिखा है कि वर्णमाला में कुल इतने ही वर्ण हैं और क्रम भी यही है। यहाँ पूर्वपीठिका समाप्त हो गई है।

पूर्वपीठिका के बाद प्रथम पटल में शौनक ने इस भाँति वर्णमाला बताई है :

१. आ० समानाक्षर—अ आ ऋ ॠ इ ई उ ऊ।

२. चार सन्ध्यक्षर—ए ओ ऐ औ। ये बारह स्वर हुए।

३. अनुस्वार व्यंजन भी है, स्वर भी।

४. शेष सभी व्यंजन हैं।

इनमें (क) आदि के २५ स्पर्श-वर्ण हैं, जिनमें ५-५ का एक वर्ग है; जैसे कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग। (ख) फिर चार अन्तस्थ हैं : य र ल व। और, अन्त में (ग) आठ ऊष्म हैं : ह श ष स, अः (विसर्जनीय), ⌣ क (जिह्वामूलीय), ⌣ प (उपध्मानीय) तथा अं (अनुस्वार)। सर्वयोग ३७। स्वर और व्यंजन दोनों का योग १२ + ३७ = ४६।

दोनों वर्णमालाओं की तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :

(क) दोनों में ही प्लुत स्वर, यम, अनुनासिक तथा दुःस्पृष्ट वर्णों की चर्चा नहीं की गई।

(ख) पहली वर्णमाला ने ह्रस्व तथा दीर्घ ऌ को गिनकर ५१ वर्ण माने हैं, दूसरी ने इन दोनों को भी नहीं गिना, केवल ४६ वर्ण माने हैं। (पर उवट ने सूत्र १।२७ में मात्रिक वर्णों में ह्रस्व ऌ को भी गिनाया है)। स्थान-प्रकरण में भी सूत्र १।४१ में ऌ का उल्लेख है। सूत्र १३।३५ में कहा गया है कि क्लृप् धातु में जो ऌकार है, वह स्वर है। **चाक्लृपे तेन ऋषयो मनुष्याः** (ऋ० १०।१३०।६) आदि स्थलों में इसका प्रयोग भी प्राप्त है। अतः, ऋक्-प्रातिशाख्य की वर्णमाला में इसे स्थान मिलना चाहिए।

(ग) पहली वर्णमाला ने ११ श्रेणियाँ बनाईं, पर इन श्रेणियों का कुछ भी नाम नहीं रखा : (१) अ ऋ इ उ ए ओ ऐ औ।[1] (२) ऌ।[2] (३) आ ॠ ई, ऊ, ॡ।[3] (४) क ख ग घ ङ।[4] (५) च छ ज झ ञ।[5] (६) ट ठ ड ढ ण।[6] (७) त थ द ध न।[7] (८) प फ ब भ म।[8] (९) य र ल व।[9] (१०) ह श ष स।[10] (११) अः ⌣ क ⌣ प अं।[11]

(घ) दूसरी ने वर्णमाला में पहले तीन विभाग किये : स्वर, उभयसाधारण, व्यंजन। फिर, स्वर के दो भेद, ८ समानाक्षर[12] और ४ सन्ध्यक्षर[13] बताये।

---

१ अकारर्कारावि उ ए ओ ऐ औ।

२. पदाद्यन्तयोर्न ऌकारः स्वरेषु।

३. आकारादीन् दीर्घरूपान् द्वितीयान् ह्रस्वेषु। पञ्चस्वपि तानि सन्ति।

४. क खौ ग घौ ङ। ५. च छौ ज झौ ञ। ६. ट ठौ ड ढौ ण। ७. त थौ द धौ न। ८. प फौ ब भौ म। ९. य र ल वाः। १०. ह श ष साः। ११. अः ⌣ क ⌣ प अं (इति वर्णराशिः क्रमश्च, वृत्ति १०)।

१२. अष्टौ समानाक्षरण्यादितः, १।१।

१३. ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराणि (एते स्वराः १।३)।

उभयसाधारण[१] में अनुस्वार को रखा। शेष सभी वर्णों को व्यंजन[२] बताया व्यंजनों में पहले दो भाग किये : स्पर्श[३] तथा अस्पर्श। फिर, इन दोनों में भी प्रविभाग किये। स्पर्श ५-५ वर्णों के ५ वर्गों में विभक्त[४] हैं : कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग तथा अस्पर्श दो भागों में : ४ अन्तस्थ[५] य र ल व और ८ ऊष्म[६] ह श ष स अः ⌣क ⌣प अं। इसकी तालिका इस प्रकार होगी :

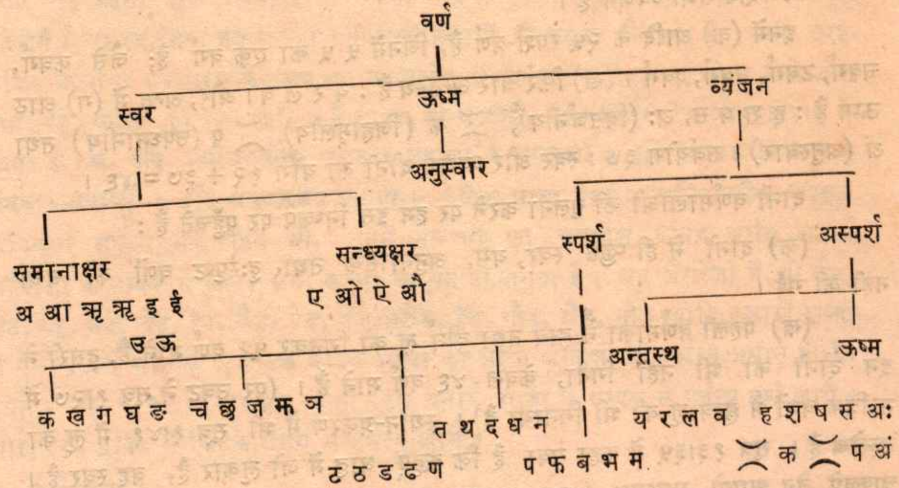

यहाँ यह विचारणीय है कि पाणिनिशिक्षा ने ६३ या ६४ वर्ण माने हैं। इनमें से प्लुतों को ऋग्वेदीय प्रतिशाख्य की दोनों वर्णमालाओं ने क्यों नहीं गिनाया? क्या इसका यह अर्थ है कि यह प्रतिशाख्य केवल उन ध्वनियों को ही स्वतन्त्र वर्ण मानता है, वर्णमाला में स्थान देता है, जिनके लिए पृथक् लिपि-संकेत है? अ, इ, उ, ऋ का, दीर्घ बनाने के लिए कोई एक अर्जा या नियम नहीं। अ की दाहिनी बगल में, इ के ऊपर, ऊ के बीच में तथा ऋ के बीच लिपि में कुछ परिवर्द्धन कर देते हैं। परन्तु, इन चारों तथा चार सन्ध्यक्षरों के भी प्लुत बनाने का केवल एक संकेत है, दाहिनी ओर ३ लिख देना। अतः, प्लुत को अतिरिक्त वर्ण नहीं मानते। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित की भाँति यह एक सर्वसाधारण संकेत हुआ। इसे स्वतन्त्र वर्ण नहीं कहेंगे, यह पृथक् लिपि नहीं हुई। इसीलिए,

१. अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा, १।५।
२. सर्वः शेषो व्यञ्जनान्येव, १।६।
३. तेषामाद्याः स्पर्शाः, १।७।
४. पञ्च ते पञ्च वर्गाः, १।८।
५. चतस्रोऽन्तस्थास्ततः, १।९।
६. उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः।

नासिक्य या अनुनासिक तथा यम की स्थान-प्रकरण में चर्चा हुई, पर वर्णमाला-प्रकरण में इनकी पृथक् गणना, पृथक् निर्देश नहीं हुआ; क्योंकि इनके लिए भी पृथक् स्वतन्त्र लिपि नहीं है। यम संयुक्त रूप में वर्गीय प्रथम चार वर्णों की ही भाँति लिखे जाते हैं (पालिक्क्नी आदि) और अनुनासिक भी अनुस्वार से अधिक अन्तर नहीं रखता। द्वितीय वर्णमाला में ॡ को भी सम्भवतः इसी कारण छोड़ दिया है। एक तो इसका प्रयोग ही अत्यल्प होता है, दूसरे इसके लिए भी स्वतन्त्र लिपि नहीं है, ल में ॠ की मात्रा लगाकर इसका रूप तैयार किया जाता है। पहली वर्णमाला ने भी इसी अरुचि से ॡ को अलग पाँत में अकेला बैठाया है। किन्तु, दुःस्पृष्ट की गणना क्यों नहीं की गई? उसके लिए तो स्वतन्त्र लिपि भी है। क्या वह भी ड तथा ढ का रूपान्तर-मात्र माना गया है?

पहली वर्णमाला ने स्वरों का पहले वह रूप लिया, जो अपनी जाति की न्यूनतम इकाई है। इसलिए, उसने अ, ऋ, इ, उ का एकमात्रिक रूप तथा सन्ध्यक्षरों का द्विमात्रिक रूप एक श्रेणी में रखा। प्रथम चार के दो रूप हैं: एक एकमात्रिक, दूसरा द्विमात्रिक। अतः, इनकी मूल इकाई, एकमात्रिक रूप लिया। पर, सन्ध्यक्षरों की मूल इकाई द्विमात्रिक ही है, अतः उन्हें भी उसी पंक्ति में स्थान दे दिया। तब ॡ को दूसरी पंक्ति में रखा। अपनी जाति की मूल इकाई वही है, पर उसका प्रयोग विरल है। अन्त में, तीसरी पंक्ति में आ, ॠ, ई, ऊ, ॡ को स्थान दिया; क्योंकि ये सब अपनी जाति के मूलरूप ह्रस्वों के विकसित रूप हैं। पाणिनि ने तो प्लुतों की तरह दीर्घों को भी अपने वर्ण-समाम्नाय में स्थान नहीं दिया; क्योंकि उन्होंने स्वतन्त्र लिपि को भी नहीं, स्वतन्त्र जाति-मात्र को ही मान्यता दी।

परन्तु, दूसरी वर्णमाला ने भिन्न दृष्टिकोण अपनाया। उसने न्यूनतम इकाइयों को पहले नहीं रखकर एकतत्त्वात्मक वर्णों को पहले स्थान दिया। अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ में आठों एक-एक तत्त्ववाले अक्षर हैं, समानाक्षर हैं। किन्तु ए, ओ, ऐ औ सन्ध्यक्षर हैं, इन चारों में दो-दो वर्णतत्त्व मिले हैं। ए और ऐ में अ तथा इ मिले हैं, और ओ तथा औ में अ और उ मिले हैं। इस प्रकार आ, ई आदि में दो वर्णतत्त्व नहीं मिले, दो परस्पर विजातीय अक्षरों का मिश्रण नहीं हुआ है। सब दीर्घ वर्ण एक ही तत्त्व के, एक ही जाति के बड़े रूप हैं। अतः, ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों प्रकार के समानाक्षर पहले और सन्ध्यक्षर बाद में रखे गये। तब अनुस्वार को स्थान मिला; क्योंकि वह स्वर भी है, व्यंजन भी। और, अन्त में सभी व्यंजन पूर्वक्रम से ही रख दिये गये।

पहली वर्णमाला ने ह श ष स को एक जगह रखा, अः ≍ क ≍ प अं को दूसरी जगह रखकर ऊष्म नाम दे दिया। यह ठीक नहीं लगता। अनुस्वार तो ऊष्म हर्गिज नहीं है। हाँ, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय में ऊष्मता प्रत्यक्ष है। वास्तव में, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को एक पृथक् श्रेणी में रखकर अयोगवाह नाम देना ही ठीक है। जिस तरह अनुस्वार के विषय में कहा गया कि वह स्वर भी है, व्यंजन भी; उसी भाँति विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय इन तीनों को भी कहना चाहिए था।

यह विश्लेषण 'भट्टोजिदीक्षित' तक जाकर पूरा हुआ है, और उन्होंने स्पष्ट[1] ही इसकी घोषणा कर दी है।

दूसरी वर्णमाला ने जो पाँच वर्ग बनाकर, उन पाँचों को स्पर्श नाम दिया, यह अवश्य ही ध्वनिविज्ञान की एक उपलब्धि है। पर, यह विश्लेषण भी ब्राह्मणकाल में ही हो गया था। पहली वर्णमाला ने भी प्रत्येक वर्ग के पाँचों अक्षरों को एक साथ नहीं रखकर जो **कखौ गघौ ङः**, इस प्रकार प्रथम-द्वितीय को एक साथ, तृतीय-चतुर्थ को दूसरी जगह तथा पंचम को अकेला तीसरी जगह रखा, उसमें भी स्वारस्य है। स्थान, करण तथा आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टियों से ये पाँचों एक समान होकर भी, एक पंक्ति में बैठकर भी, परस्पर कुछ भेद रखते हैं। बाह्य प्रयत्न की दृष्टि से प्रथम-द्वितीय वर्ण विवार श्वास अघोष हैं, तृतीय-चतुर्थ संवार नाद घोष हैं तथा पंचम संवार नाद घोष के साथ अनुनासिक भी है। प्रत्येक वर्ग की यही स्थिति है।

प्लुत : विष्णुमित्र-कृत वर्गद्वयवृत्ति-रूप भूमिका में तथा प्रथम पटल में जो वर्णमाला दी गई है, उसमें प्लुत की गणना नहीं है। परन्तु, इसका उल्लेख है कि यदि बाद में इ, आ रहा हो, तो प्लुत दीर्घवत् हो जाता है।[2] यह स्पष्ट ही पाणिनि के **अप्लुतवदुपस्थिते**[3] का समानार्थक है। यहाँ प्रक्रम-भंग भी लगता है। सम्भवतः, इसका यह औचित्य है कि पदपाठकाल में इति आगे रखने पर प्लुत भी दीर्घ की भाँति ही हो जाता है, अतः प्लुत की पृथक् सत्ता मानकर उसकी पृथक् गणना नहीं करनी चाहिए। जैसे : **अरण्यान्यरण्यान्यसौ**[4] या **प्रे व नश्यसि। कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ ३**। यहाँ अरण्यानी को दूर से सम्बोधित कर जो वाक्य बोला गया, उसका अन्तिम स्वर (पाणिनि के **वाक्यस्यटे प्लुत उदात्तः**[5], **इराद्धूते च**[6] के अनुसार) इ प्लुत हो गया और अवसान में रहने के कारण वह अनुनासिक भी हो गया (**अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः**[7])। पर, जब इस संहितापाठ को पदपाठ करेंगे, तब अन्तिम पद 'विन्दतीँ ३' को लिखेंगे 'विन्दतीति (विन्दति + इति) विन्दतीँ ३'। साथ ही, १।३० तथा ३१ में प्लुत स्वरों को त्रिमात्रिक कहकर **अधः स्विदासीइत** (ऋ० १०।१२९।५) आदि उदाहरण भी दिये हैं। यहाँ तो पदपाठ में 'इति' पढ़ने पर भी उपधा का प्लुतत्व नष्ट नहीं होगा।

४. अवसानचत्त्वं :

वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थ अक्षर यदि अन्त में आ रहे हों, तो 'गार्ग्य'[8] आचार्य के मत से उन सबके स्थान में केवल तीसरे वर्ण हो जाते हैं, तथा

१. अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीययमानाम् अकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यातत्त्वेनानुस्वारस्याप्यच्त्वात्।—हल् सन्धि में 'समः सुटि' की व्याख्या में।

२. इपरो दीर्घवत् प्लुतः, १।४। ३. अष्टा० ६।१।१२९। ४. ऋ० १०।१४६।१। ५. अष्टा० ८।२।८२। ६. अष्टा० ८।२।८३। ७. अष्टा० ८।४।५७।

८. तस्मादन्यमवसाने तृतीयं गार्ग्यः स्पर्शम्।

शाकटायन[1] के मत से उनके स्थान में केवल पहले अक्षर हो जाते हैं। अर्थात्, गार्ग्य के मत से अवसान के क् ख् ग् घ् का ग्, च् छ् ज् झ् का ज्, ट् ठ् ड् ढ् का ड् तथा त् थ् द् ध् का द् और प् फ् ब् भ् का ब् होता है। जैसे: वाग्, षड्, चिद्, कुकुब् आदि। परन्तु, शाकटायन के मत से इनके स्थान में क्रमशः क्, च्, ट्, त्, प् होंगे; जैसे वाक्, षट्, चित्, कुकुप् आदि। पाणिनि ने इन दोनों सूत्रों की जगह केवल एक वावसाने[2] कहा। इससे इतना ही पता चला कि उपर्युक्त स्थितियों में दोनों प्रकार के रूप होंगे। पर, किसके मत से कौन-सा रूप होगा, यह स्पष्ट नहीं हुआ। सम्भव है, पाणिनि के समय इन दोनों आचार्यों का मत सबको स्वीकृत हो चुका हो, अतः उनके लिए इतना ही वक्तव्य पर्याप्त था कि ये दोनों रूप शुद्ध हैं।

५. अक्षर तथा वर्ण :

समस्त स्वर अक्षर[3] कहे जाते हैं। यहाँ अक्षर शब्द की परिभाषा में कुछ अस्पष्टता हो गई है। इस सूत्र से ऐसा पता चलता है कि अक्षर केवल स्वरों को कहते हैं। सभी व्यंजन तथा अनुस्वार अक्षर के ही अंग होते हैं।[4] इस उक्ति से भी केवल स्वर ही अक्षर प्रतीत होते हैं। अथर्व-प्रातिशाख्य से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है।[5] परन्तु, स्वयं ऋक्-प्रातिशाख्य के ही अनुसार व्यंजन-सहित,[6] अनुस्वार-सहित अथवा अकेला भी स्वर अक्षर माना जाता है। इस भाँति 'प्र' में एक उक्ति के अनुसार पूरा 'प्र' अक्षर है; किन्तु शेष तीन मान्यताओं के अनुसार केवल अ ही अक्षर है, प् और र् उसके अंग हैं, इसी तरह 'वर्क्' इस शब्द में पहले मत से पूरा 'वर्क्' इतना एक अक्षर है, दूसरे मत से केवल अ अक्षर है, व्, र्, क् तीनों उसके अंग हैं। अर्थात्, एक मत के अनुसार अक्षर का अर्थ हुआ अँगरेजी का 'वावेल', दूसरे मत के अनुसार उसका अर्थ हुआ 'सिलेबल'। यह तो ठीक नहीं है। यद्यपि 'सिलेबल' में भी शत-प्रतिशत प्रधानता 'वावेल' की ही मानी जाती है, व्यंजन (कंसोनेण्ट) रहें या न रहें, कोई फर्क नहीं पड़ता; फिर भी परिभाषा या लक्षण तो स्पष्ट होना ही चाहिए। और, झगड़ा यहीं समाप्त नहीं हो जाता। महाभाष्य[7] के **अक्षरं न क्षरं विद्यात् अश्नोतेर्वा स्वरोऽक्षरम्। वर्णं वाऽहुः पूर्वसूत्रे किमर्थमुपदिश्यते** के अनुसार अक्षर वर्ण का पर्याय-मात्र है। इस कथन से तो 'प्र' और 'वर्क्' में केवल या व्यंजन-सहित 'अ' ही नहीं; प् र् व् र् क् सभी प्रत्येक अक्षर हैं। क्योंकि, जो वर्ण हैं, वे अक्षर भी हैं। इस प्रकार, अक्षर शब्द अँगरेजी के 'लेटर', 'वावेल' तथा 'सिलेबल' तीनों का बोधक हो गया। यह ठीक नहीं। भाषाविज्ञान में ऐसे भ्रामक शब्द और लक्षण नहीं रखने चाहिए। 'लेटर' के

---

१. प्रथमं शाकटायनः। २. अष्टा० ८।४।५। ३. उभये त्वक्षराणि, १।१६।

४. अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम्, १।२२।

५. स्वरोक्षरम्, १।९३।

६. सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोक्षरम्, १८।३२।

७. अ० १, पा० १, आ० २।

लिए वर्ण, 'वावेल' के लिए स्वर तथा 'सिलेबल' के लिए अक्षर को योगरूढ कर लेना चाहिए।

शिक्षाशास्त्र में इस प्रकार के २-३ और शब्द हैं, जिनका प्रयोग भ्रमजनक हो जाता है। स्वर शब्द से अ, आ, इ, ई आदि वर्णों[1] (वावेल) का भी बोध कराया जाता है और उदात्त,[2] अनुदात्त, स्वरित (ऐक्सेण्ट) तथा षड्ज, ऋषभ[3] आदि का भी। इसी प्रकार, 'करण' शब्द का प्रयोग कहीं जिह्वारूप[4] उच्चारण-साधन के लिए और कहीं प्रयत्न[5] (आभ्यन्तर अथा बाह्य) के लिए किया गया है। आभ्यन्तर प्रयत्न में विवृत-संवृत तथा बाह्य प्रयत्न में विवार-संवार के प्रयोगों से भी खूब भ्रम फैला है। इन सबकी चर्चा की जा चुकी है। इन तीनों स्थलों के लिए भी पृथक्-पृथक् योगरूढ शब्दों का प्रयोग सीमित कर देना उचित होता।

६. गुरु-लघु :

यदि ह्रस्व[6] के बाद भी संयोग अथवा अनुस्वार रहे, तो वह गुरु हो जाता है। पाणिनि ने संयोगे गुरु[7] सूत्र से संयोगपूर्ववर्त्ती ह्रस्व को तो गुरु कहा, पर अनुस्वारपूर्ववर्त्ती को उन्होंने गुरु नहीं बताया। इस प्रातिशाख्यसूत्र ने भी अनुस्वारपरक ह्रस्व को तो गुरु कहा, पर विसर्गपरक को नहीं कहा। छन्दःशास्त्र में गुरु-लघु का विचार इससे ज्यादा विस्तृत है। उसके अनुसार दीर्घ और संयोग, अनुस्वार तथा विसर्ग पूर्ववर्त्ती ह्रस्व नित्य गुरु होते हैं[8], और पाद के अन्त में स्थित ह्रस्व वैकल्पिक रूप से गुरु होता है। इनसे भिन्न सभी वर्ण (स्वर) लघु कहे जाते हैं। पाणिनि ने अनुस्वार और विसर्ग का ग्रहण नहीं किया, परन्तु इनका पा० शर् प्रत्याहार में माना जाता है, अतः अनुस्वारविसर्गपूर्ववर्त्ती ह्रस्व भी संयोगपूर्ववर्त्ती समझा जायगा और 'संयोगे गुरु' के नियम से ही वह भी गुरु होगा। पर, यह सुविधा पादमध्य में ही होगी। पादान्त में अनुस्वार या विसर्ग का पूर्ववर्त्ती वर्ण 'संयोगे गुरु' से गुरु नहीं हो सकेगा।

७. स्वरांगता :

अनुस्वार और सभी व्यंजनों को अक्षर का, अर्थात् स्वर का अंग ही बताया गया है। अर्थात, एक स्वर के आगे या पीछे जो भी व्यंजन या अनुस्वार होंगे, वे सब उसी स्वर के

---

१. पा० शि०, श्लो० ४।
२. पा० शि०, श्लो० ११।
३. दयानन्दीय पाणिनिशिक्षा, सू० ४४।
४. ऋ० पा० शि०, श्लो० २१ तथा पा० शि०।
५. वही।
६. तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि, १।२१।
७. १।४।११।
८. दे० छन्दविचार।

अंग माने जायेंगे। पर, यह नियम वहाँ के लिए हुआ, जहाँ स्वर एक ही हो, चाहे व्यंजन कई हों। यदि अनेक स्वर हों, तो दो स्वरों के बीच का व्यंजन परवर्त्ती[1] स्वर का अंग होता है; जैसे 'अयम्' शब्द में 'य्' अपने परवर्त्ती अ का अंग है, पूर्ववर्त्ती अ का नहीं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि व्यंजनों (और अनुस्वार) को किसी भी स्वर का अंग मानने-न मानने में क्या अन्तर पड़ता है? इसके साधारणतः दो उत्तर हो सकते हैं। एक यह कि इससे यह प्रमाणित होता है कि व्यंजनों का स्थान वर्णमाला में गौण है, वे स्वरों के अनुचर-मात्र हैं। इसीलिए, पद्य में उनकी मात्रा की गणना ही नहीं होती, केवल स्वरों की मात्राएँ गिनी जाती हैं। दूसरे यह कि उच्चारण के लिए शब्दों को कई टुकड़ों में तोड़ते हैं। ये खण्ड अँगरेजी में 'सिलेबल' कहलाते हैं, प्रातिशाख्य में ये 'अक्षर' शब्द नाम से प्रसिद्ध हैं। तो, व्यंजनों में यह विचार किया जाता है कि उनका उच्चारण किस स्वर के साथ होगा, अक्षर या सिलेबल बनाने पर वे किस स्वर का साथ देंगे। यह तो बताया ही जा चुका है कि उनका अकेला, बिना स्वर की सहायता के, उच्चारण नहीं हो सकता, अतः वे किसी-न-किसी पूर्ववर्त्ती स्वर की सहायता अवश्य लेंगे, पर किसकी सहायता लेंगे, यह विचारना पड़ता है। उदाहरणार्थ, सहायता शब्द को कई तरह से खण्डों में बाँट सकते हैं :

(क) सह् + आय् + अत् + आ अथवा (ख) स + हा + य + ता आदि। इसमें दूसरा तरीका ही सही है, यह इस प्रातिशाख्य का मत है। पर, स्वरांगता के विचार का एक तीसरा लाभ भी उवट ने इन सूत्रों की टीका में बताया है। उनके अनुसार स्वरांगता से यह फल[2] होता है कि जो व्यंजन जिस स्वर के अंगभूत होते हैं, वे उसी स्वर के अनुरूप उदात्तादि होते हैं। इसमें उन्होंने याज्ञवल्क्यशिक्षा का एक श्लोक भी प्रमाण-रूप में उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ, 'अयं देवाय जन्मने' में 'अयं' के अन्तोदात्त होने के कारण य् भी उदात्तवत् सुनाई पड़ता है, पूर्ववर्त्ती अ के समान अनुदात्तवत् नहीं:, देवाय के ए के अनुदात्त होने के कारण द् भी अनुदात्तवत् सुनाई पड़ता है, पर व् अगले आ के समान उदात्तवत् सुनाई पड़ेगा। और, 'गायन्ति त्वा' में य् के परवर्त्ती अ के स्वरित होने के कारण य् भी स्वरित की तरह सुनाई पड़ता है।[3] यहाँ यह कुछ विचित्र लगता है कि उदात्त-अनुदात्त-स्वरित रूप स्वरों का विधान तो अचों के लिए ही किया जाता है, व्यंजनों में उदात्तत्वादि की प्रतीति कैसे होगी? अँगरेजी में भी वामाघात तो अक्षर या सिलेबल पर ही किया जाता है, किसी एक व्यंजन पर भी उस आघात की प्रतीति कैसे

---

१. स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य, १।२३।

२. सू० २२ की टीका में 'अङ्गसंज्ञायाः प्रयोजनम्, यानि यस्य स्वरस्याङ्गभूतानि व्यञ्जनानि तानि तेनैव स्वरेण सस्वराणि भवन्ति, तथा चोक्तम्—'स्वर उच्चः स्वरो नीचः, स्वरः स्वरित एव च। स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्।'—पा० शि०, ११८ इति।

३. यथा अयम् इत्ययं शब्दस्यान्तोदात्तत्वाद्यकार उदात्तवच्छ्रूयते। तथा अयं देवाय जन्मने (ऋ० १।२०।२१) इत्यत्रैकारस्यानुदात्तत्वाद्दकारोनुदात्तवच्छ्रूयते। यथा गायन्ति त्वा (ऋ० १।१०।१) इत्यकारस्य स्वरितत्वाद्यकारः स्वरितवच्छ्रूयते (सू० २३ की टीका में)।

होगी ? पर, उवट के कथन से तथा याज्ञवल्क्यशिक्षा के उस श्लोक से तो ऐसा ही आभास मिलता है कि मुख्यतः उदात्तता आदि भले ही केवल अ, इ आदि स्वरों में रहती हो, पर सामीप्य के कारण उसकी प्रतीति व्यंजनों में भी होती है, व्यंजन भी उदात्त-अनुदात्त-स्वरित के समान सुनाई पड़ते हैं।

अनुस्वार तथा विसर्जनीय पूर्वस्वर के ही अंग[1] होंगे तथा इनका पूर्वस्वर के साथ ही उच्चारण तथा उसके साथ ही समानस्वरता होगी। जैसे **वसुं सुनुं सहसः** (ऋ० १।१२७।१) में पूर्व अनुस्वार उ के साथ उच्चरित तथा एक स्वर होगा, ऊ के साथ नहीं, द्वितीय अनुस्वार उ के साथ ही रहेगा, उत्तरवर्त्ती अ के साथ नहीं। इसी तरह **नॄँः पात्रम्** (ऋ० १।१२१।१) में विसर्ग ॠ के साथ रहेगा, उत्तरवर्त्ती स्वर आ के साथ नहीं। इस सूत्र की व्याख्या में भी उवट 'दो स्वरों के बीच रहने पर' की अनुवृत्ति करते हैं, पर यह ठीक नहीं लगता। अनुस्वार और विसर्ग कभी दो स्वरों के बीच रह ही नहीं सकते, इनके बाद कभी स्वर आ ही नहीं सकता। आगे स्वर आने पर न तो र का विसर्ग होगा, न ही न् म् का अनुस्वार। दिये गये उदाहरणों में अनुस्वार और विसर्ग के बाद पहले एक व्यंजन आया है, तब स्वर। अतः, ये दो स्वरों के बीच नहीं कहे जा सकते। वस्तुतः, यह सूत्र ही अनावश्यक है। सूत्र २२ में ही अनुस्वार के साथ विसर्ग की भी चर्चा कर देनी चाहिए थी। 'सभी व्यंजन, अनुस्वार, विसर्जनीय ये अक्षरांग होते हैं' : **अनुस्वारविसर्जनीयव्यञ्जनानि चाक्षराङ्गानि।**

संयोग के आदि का व्यंजन यदि दो स्वरों के बीच में आये, तो वह कभी पूर्वस्वर का अंग होता है और कभी परस्वर का, वक्ता की जैसी इच्छा। इसके उदाहरण में उवट ने कहा है कि जैसे **आत्वा रथम्** (ऋ० ८।६८।१) में दो तकार तथा एक वकार का संयोग है। इनमें द्वित्व के कारण (**अनचि च**)[2] उत्पन्न पहला तकार पूर्वस्वर का अंग है, अतः उसके उदात्त होने से वह भी उदात्त की भाँति सुनाई पड़ेगा। दूसरा तकार जो संयोग के आदि में है, कभी पूर्ववर्त्ती उदात्त स्वर के अंग होने से उदात्तवत् सुनाई पड़ेगा, कभी परवर्त्ती अनुदात्त स्वर के अंग होने से अनुदात्तवत्। और, व परवर्त्ती स्वर का अंग होने के कारण उसी की भाँति सदा अनुदात्त सुनाई देगा।[3] उवट की इस उक्ति में दो सन्देह हो जाते हैं। एक तो यह कि यहाँ दो तकार और एक वकार इन तीनों का संयोग है, यह स्पष्ट है। उवट ने भी यहाँ तीनों का संयोग माना ही है। ऐसी स्थिति में संयोग का आदि दूसरा ही त् क्यों होगा, पहला क्यों नहीं होगा ? यह ठीक है कि जहाँ

---

१. पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ, १।२४।
२. अष्टा० ८।४।४७।
३. यथा आत्वा रथम् (ऋ० ८।६८।१) इति द्वौ तकारौ वकारश्च संयोगः तत्र क्रमजः प्रथमस्तकारः पूर्वस्याङ्गं तस्यचोदात्तत्वादुदात्तवच्छ्रूयते। द्वितीयः संयोगादिः पूर्वस्य वोदात्तस्य स्वरस्याङ्गमुत्तरस्य वानुदात्तस्वरस्याङ्गमुदात्तानुदात्तवच्छ्रूयते इत्यर्थः। वकारो द्वितीयस्य स्वरस्याङ्गं तस्य चानुदात्तत्वादनुदात्तवच्छ्रूयते।

तीन व्यंजनों का आनन्तर्य रहता है, वहाँ दो की भी संयोग-संज्ञा होती है। अतः, वैसी स्थिति में दूसरे तकार में ही पूर्वांगता-परांगता की ऐच्छिकता रहेगी, पहली सदा पूर्वांग ही बना रहेगा, जैसा उवट का कहना है। परन्तु, दो से अधिक तीन-चार की भी तो एक साथ संयोग-संज्ञा होती है।[1] ऐसी स्थिति में पहला तकार भी संयोगादि होने से ऐच्छिक रूप से कभी पूर्वांग कभी परांग हो सकता है, यह उवट ने क्यों नहीं लिखा? उवट के कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे पहले तकार को भी परांग नहीं मानते। किन्तु, यह निर्णय निर्मूल लगता है। और, जहाँ तीन की नहीं, दो ही व्यंजनों की संयोग-संज्ञा मानेंगे, वहाँ भी पहला तकार किस नियम से पूर्वांग होगा? वहाँ भी दो स्वरों के मध्यवर्त्ती होने से उसे सूत्र २३ के अनुसार परांग ही होना चाहिए। ऐसी हालत में उचित तो यह है कि चाहे जितने भी व्यंजन दो स्वरों के बीच आयें, वे सब ऐच्छिक रूप से कभी पूर्वांग और कभी परांग हो सकते हैं। और, दूसरा यह सन्देह होता है कि उवट ने क्यों दो व्यंजनों का संयोग नहीं चुनकर तीन का ही चुना। **आत्त्वा रथम्** के बाद उन्होंने **अग्ग्निमीळे** (१।१।१) का उदाहरण दिया है। यहाँ भी दो ग् तथा एक न् इन तीन का ही संयोग चुना है। इन दोनों स्थानों में अनचि च से वर्णद्वित्व के कारण ही तीन व्यंजनों का संयोग जुटा है, स्वाभाविक नहीं। और, यह अनचि च वैकल्पिक नियम है। इसलिए, दोनों स्थानों में दो-दो व्यंजनों, त् व् तथा ग् न् का भी संयोग हो सकता था। इस स्थिति को उदाहरणार्थ क्यों नहीं लिया? ऐसी स्थिति में तो पहला भी तकार तथा गकार अनिवार्य रूप से परांग होगा, इसकी चर्चा क्यों नहीं की? सम्भव है, उवट का यह तात्पर्य हो कि वैकल्पिक स्थल में भी शास्त्र की प्रवृत्ति ही श्रेयस्कर मानी जाती है, अतः द्वित्व करना ही ठीक है, और जब द्वित्व हो जायगा, तब तीन व्यंजनों के संयोग में पहले व्यंजन को पूर्ववर्त्ती स्वर खींचेगा, तीसरे को परवर्त्ती स्वर अपनी ओर खींचेगा और मँझला व्यंजन दोनों की आकर्षण-शक्ति की रस्साकशी में कभी इधर झुकेगा, कभी उधर। उवट-भाष्य से यह प्रतीत होता है कि जहाँ दो ही वर्णों का संयोग होगा, वहाँ पूर्व वर्ण पूर्वस्वर का, उत्तर वर्ण उत्तर स्वर का अंग होगा, जैसे विश्वानि देव० में 'श्' पूर्ववर्त्ती 'इ' का तथा 'व्' परवर्त्ती 'आ' का ही अंग होगा। किन्तु, इस सूत्र से यह अर्थ नहीं निकलता। सूत्र के अनुसार तो दोनों को परांग ही लेना चाहिए। उवट जो इस पूर्वांगता-परांगता से व्यंजन को भी उदात्तादियुक्त-सा बना देते हैं, यह आवश्यक नहीं कि सूत्र का भी तात्पर्य हो। व्यंजन में उदात्तत्वादि स्वरधर्मों की कल्पना ठीक नहीं लगती। यहाँ शास्त्र का तात्पर्य सम्भवतः व्यंजन के पूर्ववर्त्ती या परवर्त्ती स्वर के साथ उच्चारण-मात्र में हो। 'विश्वानि' के दो उच्चारण स्पष्ट ही प्रचलित सुने जाते हैं, एक विश् + वानि, दूसरा वि + श्वानि। यह सूत्र दूसरे उच्चारण का समर्थक है और उवट सम्भवतः प्रथम का।

---

१. हलोऽनन्तराः संयोगः, १।१।७ का भाष्य 'अविशेषेण संयोगसंज्ञा विज्ञास्यते, द्वयोरपि बहूनामपि।'

जहाँ परवर्त्ती व्यंजन[1] की द्विरुक्ति[2] होती है, वहाँ दो-दो व्यंजन पूर्वांग अथवा परांग ऐच्छिक रूप से बनेंगे। जैसे आर्त्नी इमे (ऋ० ६।७५।४); यहाँ रेफ, दो तकार और नकार का संयोग है। यहाँ स्वरभक्ति[3] तथा रेफ ये दोनों पूर्वस्वर के अंग होंगे, नकार परवर्त्ती स्वर ई का अंग होकर उसकी ही भाँति स्वरितवत् होगा; परन्तु मध्यमवर्त्ती दोनों तकार कभी पूर्वांग होकर उदात्तवत् रहेंगे, कभी परांग होकर स्वरितवत्। यहाँ भी वही 'आ त्वा रथम्' का ही तरीका रखा। फिर, पार्ष्ण्यां वा (ऋ० १।१६२।१७) यहाँ रेफ, दो षकार, णकार तथा यकार इन पाँच व्यंजनों का संयोग है। यहाँ भी रेफ स्वरभक्ति के साथ पूर्वस्वर का अंग होकर उदात्तवत् सुनाई देगा, दोनों षकार कभी पूर्वांग होकर उदात्त, कभी परांग होकर स्वरित सुनाई देंगे और ण् तथा य् परांग होकर स्वरित सुनाई पड़ेंगे। यहाँ भी वही विधि रखी।

स्वरभक्ति पूर्ववर्त्ती रेफ अथवा लकार के आश्रित होती है। रेफ के बाद आनेवाली रेफ-सदृश और लकार के बाद आनेवाली लकार-सदृश होती है। और, यह स्वरांग होती है। रेफ अथवा लकार जिस व्यंजन के भी बाद वह स्वरभक्ति आती है, उसके साथ वह पूर्वस्वर का अंग बन जाती है। जैसे : प्रत्यु अदर्शि, आर्ष्टिषेणः यहाँ रेफ के बाद आई और वनस्पते शतवल्शः, नारायासो न जल्हवः यहाँ लकार के बाद आई स्वरभक्ति है। यह नाम भी सार्थक है, अतः स्वरभक्ति स्वर का ही एक प्रकार है।

८. मात्रा-विचार :

(क) स्वरभक्ति के दो भेद होते हैं, दीर्घ और ह्रस्व। इनमें दीर्घ स्वरभक्ति[4] आधी मात्रा की होती है। जैसेः 'प्रत्यु अदर्शि' (ऋ० ७।८१।१), 'कर्हि' (ऋ० ५।७४।१०), 'शतवल्शः' (ऋ० ३।८।११)।

(ख) सभी व्यंजन आधी मात्रा के होते हैं।

(ग) ह्रस्व स्वरभक्ति[5] आधी से कम मात्रा की होती है। उवट ने आधी से कम का अर्थ यहाँ किया है चौथाई मात्रा। जैसे 'आर्ष्टिषेणः' (ऋ० १०।९८।५) 'वर्ष्ठयान्' (ऋ० ५।८३।३)।

(घ) जहाँ समास का पदच्छेद करते हैं, वहाँ भी एक मात्रा का अवग्रह होता है; जैसे रत्नऽधातमम् (ऋ० १।१।१)।

पाणिनीय शिक्षा ने स्वरांगता का विचार तो सर्वथा छोड़ ही दिया है, मात्रा-विचार में भी अवग्रह और स्वरभक्ति की चर्चा दूर रही, व्यंजनों का भी नाम नहीं

१. च परक्रमे द्वे।
२. ८।४।४६।
३. स्वरभक्तिः पूर्वभागक्षराङ्गम्।—ऋक्-प्रा०, १।३२।
४. द्राघीयसी सार्धमात्रा, १।३३।
५. अर्धोनान्या, १।३५।

लिया है। इस प्रातिशाख्य ने ध्वनिविज्ञान के इन दोनों पक्षों की विस्तृत व्याख्या कर शिक्षा की त्रुटि को ही दूर किया है। पाणिनि ने भी केवल स्वरों की ही मात्रा दी है।

९. रक्त :

जो अनुनासिक हैं, उनकी रक्त[1] संज्ञा होती है। इस प्रातिशाख्य में सूत्र १।१४ के अनुसार[2] ङ ञ ण न म की अनुनासिक संज्ञा की गई है और सूत्र ४।८० के अनुसार[3] जहाँ न् का लोप, रेफ या ऊष्म किया गया हो, वहाँ उससे पूर्ववर्त्ती स्वर अनुनासिक किया गया है, जैसे, **महाँ इन्द्रो** (ऋ० ६।१६।१); यहाँ महान् के न् का लोप करने पर उससे पूर्ववर्त्ती आ अनुनासिक हो गया है। इन दोनों प्रकार के अनुनासिकों की यहाँ रक्त संज्ञा की गई। परन्तु, पाणिनीय या याज्ञवल्क्यशिक्षा में इस दूसरे अनुनासिक को ही रक्त या रंग कहा गया है, पहले प्रकार ङ ञ ण न म को नहीं। दोनों में शिक्षा की दृष्टि ही ठीक लगती है।

१०. संयोग :

व्यंजनसन्निपात[4] को संयोग कहते हैं। यहाँ सन्निपात शब्द से एक से अधिक व्यंजनों का ग्रहण हो सकता है। अतः, अनेक व्यंजनों की संयोग-संज्ञा माननी चाहिए, चाहे वे कुल दो हों या चार-पाँच। यही सूत्र का शब्दार्थ है। परन्तु 'उवट' ने यहाँ भी **व्यञ्जनयोर्मेलकः संयोगसंज्ञको भवति** कहकर दो ही व्यंजनों का संयोग माना है, जिसका कोई कारण नहीं दीखता। इसी से 'उवट' को स्वरांगता-प्रकरण में भी सूत्र २५ की व्याख्या में कठिनाई हुई है।

११. स्थाननिर्देश :

सूत्र[5] १।४८ ने बताया है कि सूत्र १।४७[6] में नासिक्य अर्थ है नासिक्य, यम और अनुस्वार। 'उवट' ने इस सूत्र की अवतारणा की है : **केते नासिक्या इत्यस्यामपेक्षायामाह,** अर्थात् नासिक्य कौन हैं, पहले यह जानने की अपेक्षा है। यहाँ भी पूर्वोक्त रक्त आदि संज्ञाओं की तरह 'नासिक्य' शब्द भ्रामक है। नासिक्य कौन हैं? तो नासिक्य, यम और अनुस्वार, यह प्रश्न और उत्तर ठीक संगत नहीं होते। उवट ने लिखा है कि ँ **इति नासिक्यः कं खं गं घं इत्यादयो यमाः। वक्ष्यति हि यमः प्रकृत्यैव सदृक् (६।३२) इति। त्रं इत्यनुस्वार एते नासिक्याः।** अर्थात् ँ, कं खं गं घं तथा अनुस्वार इन्हें नासिक्य

---

१. रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः, १।३६।
२. अनुनासिकोऽन्त्यः।
३. नकारस्य लोपरेफोष्मभावे, पूर्वस्तत्स्थानादनुनासिकः स्वरः।
४. संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः।
५. नासिक्ययमानुस्वारान्।
६. शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान्।

कहते हैं। यम वर्णों को सूत्र ६।३२ ने अपनी प्रकृति के ही सदृश बताया है, अतः वे प्रकृतिस्थानीय होंगे। इन छहों को भी नासिक्य कहना और ँ इसे भी नासिक्य कहना ठीक नहीं है। यहाँ नासिक्य शब्द यदि विशेषण-मात्र रखेंगे, तो ङ ञ ण न म का भी ग्रहण हो जायगा, अतः रूढ ँ इसका बोधक-मात्र रखना चाहिए। ऐसी स्थिति में सूत्र ४७ तथा ४८ को मिलाकर **शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्ययमानुस्वारान्** कहना चाहिए था।

यमों[1] के दो स्थान होते हैं, एक तो नासिका, दूसरा अपनी प्रकृति का स्थान। जैसे पलिक्क्नी में यम रूप क् का स्थान नासिका भी है, कण्ठ भी। पत्त्नी में त् रूप यम का नासिका भी, दन्त भी।

इससे यह आक्षिप्त हुआ कि शुद्ध नासिका-स्थान केवल दो का ही है, ँ तथा अं का। आचार्य वेदमित्र ड का स्थान जिह्वामूल तथा तालु मानते हैं और दो स्वरों के बीच में आने पर इसका ळ मानते हैं, जैसे इडा=इळा (ऋ० ७।४४।२); और ऊष्म के साथ योग रहने पर यह डकार ही ढकार होकर दो स्वरों के बीच में आकर ळ्ह बन जाता है, जैसे साढा = साळ्हा (ऋ० ७।५६।२३); किन्तु दोनों ओर स्वर नहीं रहने पर यह आदेश नहीं होगा, जैसे वीड्वंग (ऋ० ६।४७।२६), मीढ्वस्तोकाय (ऋ० २।३३।१४)। जब सन्धि करते हैं, तब आगे का स्वर हट जाने से वड्विङ्ग बन जाता है, पर पदपाठ में जब सन्धि तोड़ देते हैं, तब यही वीळुऽअङ्ग हो जाता है। सम्भवतः, इस ळ का उच्चारण हम भूल गये हैं। तमिल-भाषा में 'तमिळ', मैथिली में निफल की जगह 'निफळ' जैसा उच्चारण होता है। सम्भव है कि कहीं-कहीं क्षेत्रीय बोलियों में ळ तथा ळ्ह से मिलता-जुलता उच्चारण सुरक्षित हो। खड़ी बोली में इसकी जगह क्रमशः ड़ तथा ढ़ हो गये हैं। ये ड़ तथा ढ़ भी दो स्वरों के बीच में पड़ने पर ही रहते हैं, अन्यथा ड तथा ढ हो जाते हैं। इस लक्षण से प्रतीत होता है कि ये भी ळ ळ्ह के ही अवशेष हैं, जैसे मण्डल में ड, परन्तु उसके भोजपुरी-अपभ्रंश में मँड़र, खड़ी बोली में मड़राना, एरण्ड का रेंड़, मण्डन का मढ़ना, गड्ढा का गढ़ा, ढाढ़स आदि।

ऋक्-प्रातिशाख्य में स्थान-प्रकरण में कण्ठ, उरस्, जिह्वामूल, तालु, मूर्धन्, दन्त, ओष्ठ ये सात स्थान दिये हैं। नासिका-स्थान का प्रत्यक्ष सीधा निर्देश नहीं किया है। नासिका-स्थान की चर्चा अनुप्रदान-निरूपण के बाद पटल १३ के सूत्र[2] २० में की है। पाणिनिशिक्षा के उपरिकथित दोनों संस्करणों में नासिका की चर्चा स्थान तथा अनुप्रदान-प्रकरणों में हुई है। प्रतीत होता है कि नसिक्यता के विषय में मतभेद था कि इसे स्थान-निरूपण में रखा जाय या गुण निरूपण में। उवट ने सू०१३।२१ में अनुनासिकता को घोषता, सोष्मता आदि की तरह गुण[3] ही माना है। वस्तुतः, नासिका के आस्यबहिर्भूत होने के

१. अत्र यमोपदेशः।
२. रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्।
३. एतद्वर्णात्मगुणशास्त्रमाहुः।

कारण अनुनासिकता को गुण या बाह्यप्रयत्न ही मानना चाहिए, स्थान नहीं। वैसे ऋक्-प्रातिशाख्य में प्रथम पटल में भी सूत्र १४ ने सभी वर्गान्त्य वर्णों को अनुनासिक कहा है। इसी तरह सूत्र ४७ के 'नासिक्य वर्णों को छोड़कर' इस अंश की व्याख्या में ४८ में कहा गया है 'नासिक्य, यम, अनुस्वार को'। इन दोनों में अन्वर्थ संज्ञा के कारण परम्परया यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये सब वर्ण नासिका-स्थानवाले हैं। इनमें ङ ञ ण न म तथा कुं खुं गुं घुं ये ६ तो द्विस्थानीय हैं, इनमें प्रत्येक अपने वर्ग के स्थान तथा नासिका दोनों की सहायता से उच्चरित होते हैं।

यह पहले कहा गया है कि उवट ने सूत्र ४८ में नासिक्य का अर्थ ँ॒ यह माना है। दयानन्द[1] ने इस चिह्न का उच्चारण 'ग्वुँ' कुछ इस ढंग का माना है, अनुनासिक-चिह्न तो केवल ँ इतना ही है। और यह ँ॒ (ग्वुँ) भी नासिक्य ही है। वास्तव में, नासिक्य और अनुनासिक ये दोनों प्रयोग भी ध्वनिविज्ञान के लिए भ्रमजनक होने से त्याज्य हैं। नासिक्य शब्द यदि कई वर्णों का बोधक रखा गया, तो उनमें से ही एक को नासिक्य नाम भी देना ठीक नहीं। 'नासिक्य, यम और अनुस्वार-रूप नासिक्यों को छोड़कर' का क्या अर्थ हुआ? यहाँ प्रथम नासिक्य शब्द से किसका ग्रहण है? इन दोनों शब्दों के साथ रक्त या रंग शब्द भी भ्रामक हो गया है। सूत्र १।१४ के अनुसार[2] सभी वर्गान्त्य वर्ण अनुनासिक हैं, १।३६ के अनुसार[3] सभी अनुनासिकों का दूसरा नाम रक्त है। इस प्रकार, इस शास्त्र में अनुनासिक तथा रक्त दोनों पर्याय हैं। सूत्र १३।२०[4] ने कहा है कि रक्त वर्ण मुख और नासिका से बोले जाते हैं। उवट ने अनुनासिक और रक्त शब्द से ङ ञ ण न म तथा सूत्र ४।८०[5] से विहित ँ इस चिह्न का ही ग्रहण किया है। सूत्र १।३६ तथा १३।२० की व्याख्या में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है। और, नासिक्य शब्द से ँ॒ कुँ खुँ गुँ घुँ तथा अनुस्वार का ग्रहण होता है, यह सूत्र ४८[6] से स्पष्ट हो जाता है। इनमें चार यमों के दो-दो स्थान होते हैं, एक तो नासिका, दूसरा अपनी प्रकृति का स्थान। नासिका-स्थान का विधान तो सूत्र १।४८ से अन्वर्थ संज्ञावश हो जाता है, और अपनी-अपनी प्रकृति के स्थान का विधान सूत्र ६।३२[7] तथा १।५०[8] करते हैं। परन्तु ँ॒ तथा अं का मुखस्थान कहीं नहीं कहा गया है। क्या ये दोनों वर्ण शुद्ध नासिक्य हैं? और, रक्तों या अनुनासिकों में भी ङ् ञ् ण् न् म् का नासिका तथा मुखस्थान तो कहना ठीक है, परन्तु

---

१. सूत्र ७ की व्याख्या में।
२. अनुनासिकोऽन्त्यः १।१४।
३. रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः, १।३६।
४. रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्, १३।२०।
५. नकारस्य लोपरेफोष्मभावे पूर्वस्तत्स्थानादनुनासिकः स्वरः।
६. नासिक्ययमानुस्वारान्, १।४८।
७. यमः प्रकृत्यैव सदृक्, ६।३२।
८. अत्र यमोपदेशः, १।५०।

ँ् इस अनुनासिक स्वर का मुखस्थान कैसे है ? मुख में कौन-सा स्थान है इसका ? यह तो कहीं स्पष्ट नहीं किया है ? क्या सर्वमुखस्थानीय मानें इसे ? पर, जिस प्रकार केवल नासिका से उच्चारण सम्भव नहीं मानकर ँ इस अनुनासिक स्वर का सर्वमुख भी स्थान मानेंगे, उसी प्रकार ँ् इस नासिक्य तथा अं इस अनुस्वार का भी क्यों नहीं मानेंगे ? सम्भवतः, यहाँ नाम और स्थान का विभाग ऐसा होना चाहिए था :

१. यम-कुं खुं गुं घुं ये चार—स्ववर्गस्थानीय तथा नासिकास्थानीय (दोनों स्थानों का बराबर योग)।

२. ङ् ञ् ण् न् म्—स्ववर्गस्थानीय तथा नासिकास्थानीय (दोनों स्थानों का बराबर योग)।

३. अनुस्वार—सर्वमुखस्थानीय तथा नासिकास्थानीय, अधिक योग नासिका का, मुख का अत्यल्प।

४. अनुनासिक ँ यह चिह्न—सर्वमुखस्थानीय तथा नासिकास्थानीय, अधिक योग नासिका का, मुख का अत्यल्प।

५. ँ् यह चिह्न (अथवा ह्रस्व तथा दीर्घ ग्वुं, ँ और ँ्)—सर्वमुखस्थानीय तथा नासिकास्थानीय, अधिक योग नासिका का, मुख का अत्यल्प।

इनमें प्रथम को यम, द्वितीय को वर्गान्त्य, तृतीय को अनुस्वार, चतुर्थ को अनुनासिक, पंचम को ग्वुं तथा पाँचों को (एक नाम) नासिक्य कहा जाय, तो कम भ्रम होगा।

वर्णमाला-निर्देश के समय ह्रस्वों के साथ दीर्घों को भी गिनकर ८ समानाक्षर माने थे; पर स्थान-निर्देश में केवल अ, इ, उ, ऋ का ही नाम लिया, इनके दीर्घ भेदों का नाम नहीं लिया, आक्षेप कर लिया। वर्णमाला-प्रकरण में भी ऐसा ही करना चाहिए था। पाणिनि ने भी अपने वर्ण-समाम्नाय में दीर्घ आ, ई, ऊ, ॠ का निर्देश नहीं किया, आक्षेप कर लिया है।

ऋक्-प्रातिशाख्य के स्थाननिर्देश-प्रकरण में शिक्षाग्रन्थों से कुछ-न-कुछ अन्तर है। शिक्षाओं ने कवर्ग को मतभेद से कण्ठ्य और जिह्वामूलीय दोनों माना है, इसने कवर्ग को केवल जिह्वामूलीय बताया। इसी भाँति तवर्ग को भी शिक्षाओं ने मतभेद से दन्त्य तथा दन्तमूलीय दोनों स्वीकार किया है, इसने केवल दन्तमूलीय कहा। इसका अर्थ यह हुआ कि तवर्ग का स्थान कालभेद से कुछ पीछे खिसका है। देशभेद भी इसका कारण हो सकता है।

परन्तु, दो अन्तर तो बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं :

(क) एक ने ए तथा ऐ को भी इ के समान शुद्ध तालव्य कहा है, कण्ठ्यतालव्य नहीं। इसी तरह ओ औ का स्थान केवल ओष्ठ्य माना है, कण्ठ्य और ओष्ठ्य दोनों नहीं। क्या इसका अर्थ यह है कि चारों में ही अ का योग और उच्चारण गौण है ? चारों में ही अ की मात्रा अपेक्षाकृत न्यून है। इसीलिए, इनके स्थान में जहाँ ह्रस्व होता है,

वहाँ इ, उ ही होते हैं, अ कदापि नहीं। पाणिनि के **एच इग्घ्रस्वादेशे**[1] इस तथ्य का अनुवादक-मात्र है? ए और ऐ भी इ के दीर्घ रूप ही हैं? इ, उ के दीर्घ केवल ई, ऊ इसलिए होते हैं कि वे ही शुद्ध इ उ जाति के हैं। ए ओ अ से गुणित तथा ऐ औ अ से वर्द्धित हैं? पर ह्रस्व इन सबके स्थान में इ, उ ही होंगे; क्योंकि सबमें प्रधानता निरपवाद रूप से इ, उ जाति की ही है? संस्कृत में ही नहीं, वर्त्तमान भारतीय भाषाओं में भी इ उ का गुण से ए ओ तथा वृद्धि से ऐ औ होना और ए ऐ का ह्रस्व से इ तथा ओ औ का ह्रस्व से उ होना देखा जाता है: जैसे रुकना-रोकना, भूँकना-भोंकना, बैठना-बिठाना, देखना-दिखाना, सीखना-सिखाना, सोना-सुलाना, सूखना-सुखाना आदि।

(ख) ऋ तथा कवर्ग का एक ही स्थान बताया—जिह्वामूल। यह तो विचित्र लगता है। शिक्षाओं ने एक स्वर से ऋ को मूर्धन्य कहा है। क्या पहले ऋ का जिह्वामूलीय उच्चारण भी, क्षेत्रभेद से ही सही, होता था और ऌ का भी। दन्त की जगह जिह्वामूल स्थान कहा। पेत्रृस का उच्चारण भी फ्रांस में 'पाग़ी' होना क्या ऋ की जिह्वामूलीयता का ही स्मारक है? आज तो इसका उच्चारण ही भूल गया है। ऋ का उच्चारण, कोई र, कोई रि तथा कोई रु करते हैं। 'गृह' उत्तरप्रदेश में ग्रह, बिहार में ग्रिह, उड़ीसा में ग्रुह[2] उच्चरित होता है। पाणिनि ने भी ऋ के स्थान में अर्[3], इर्[4], उर्[5] तीनों का विधान किया है। एक जगह ऋ का रि[6] उच्चारण भी विहित है। दूसरी जगह[7] र भी, और रु[8] भी।

इस प्रसंग में एक बात पर और ध्यान देना चाहिए। जिह्वामूल को स्थान कहना ठीक नहीं। जिह्वा तो सभी वर्णों के उच्चारण में करण है, चाहे उसका अग्र हो, या उपाग्र, या मध्य, या मूल, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। स्थान तो कहीं ऊपर ही निर्दिष्ट करना चाहिए। प्राय: जिह्वा अपने जिस भाग से ऊपरी धरातल का स्पर्श करती है, उस भाग के सामने ऊपरवाले हिस्से से ही टकराती है, जिह्वामूल के लिए तो यह बात और भी पक्की है। अत:, सभी जिह्वामूलीय वर्णों को शायद कण्ठमूलीय कहा जाय, तो अधिक अच्छा होता। जिह्वामूलीय (ᳵ क) का भी कुछ दूसरा नाम रखना चाहिए, अन्यथा भ्रान्ति हो सकती है। एक ही शब्द कहीं विशेषणवत् किसी जाति-मात्र के लिए प्रयुक्त हो, कहीं रूढ संज्ञा की भाँति किसी एक वस्तुव्यक्ति के लिए, यह विज्ञान की भाषा के लिए समीचीन नहीं।

१२. प्रयत्न:

प्राणवायु[9] वक्ता की इच्छा के अनुसार कण्ठ-बिल के विवृत, अर्थात् फैले रहने पर श्वासता को प्राप्त करती है तथा संवृत, अर्थात् सँकरा रहने पर नादता को। जब कण्ठ-

---

१. १।१।४८। २. १।१।४८। ३. गुण तथा उरत्, ७।३।६६ आदि। ४. ऋत इद्धातोः, ७।१।१०० आदि। ५. ऋत उत्, ६।१।१११; उदोष्ठ्यपूर्वस्य, ७।१।१०२ आदि। ६. रिङ् शयग्लिङ्क्षु, ७।४।२८। ७ र ऋतो हलादेर्लघोः, ६।४।१६१। ८. श्रुवः शृच, ३।१।७४।

९. वायु प्राणः कण्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा। आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम्, १३।१।

विल मध्यस्थिति में रहता है, तब वह उभयात्मक[1] रहती है। सभी वर्णों[2] की ये ही तीन प्रकृतियाँ होती हैं : श्वास, नाद तथा उभयस्वरूप। यह स्मरणीय है कि पाणिनि-शिक्षा ने वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया का आरम्भ जठराग्नि-प्रेरित वायु से किया था। ऋक्-प्रातिशाख्य ने उस झमेले को छोड़ दिया। श्वास-प्रश्वास की वायु से ही वर्णों की उत्पत्ति होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। उसमें आरम्भिक स्थिति में जठराग्नि-प्रेरित वायु का भी योग होता है, यह बड़ी सूक्ष्म तथा सन्देहास्पद वस्तु है। शिक्षा ने 'परा', 'पश्यन्ती' तथा 'मध्यमा' का भी संकेत किया है, अतः उसे वाणी के 'परा' रूप से ही उत्पत्ति की प्रक्रिया दिखानी पड़ी है। प्रातिशाख्य ने मध्यमा से आरम्भ किया है, और वैखरी का ही विश्लेषण किया है। अतः, शिक्षा प्रदर्शित प्रक्रिया में से आरम्भिक कई सोपानों को छोड़ दिया है। स्थूल विज्ञान की दृष्टि से यही ठीक है, वह तो मनोविज्ञान के धरातल की बात होती है।

प्रथम पटल के सूत्र ११ तथा १२ के अनुसार क ख च छ ट ठ त थ प फ श ष स, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार अघोष हैं, शेष घोष हैं। यहाँ सूत्र ४ ने सब अघोषों का श्वास अनुप्रदान बताया[3] और ५ ने शेष का नाद[4]। इस प्रकार १ के ११[5], १२[6] तथा १३ के १, ४ और ५ इन सूत्रों के योग से यह अर्थ निकला कि उपर्युक्त वर्णों का विवार, श्वास, अघोष प्रयत्न है तथा शेष का संवार नाद और घोष प्रयत्न है। १।१३ ने सभी युग्मों, अर्थात् द्वितीय-चतुर्थ वर्णों को सोष्म[7] बताया है और १३।६ का कहना है कि सोष्म घोषों, अर्थात् घ झ ढ ध भ तथा घोष ऊष्म, अर्थात् ह का श्वासनाद दोनों[8] प्रयत्न हैं। यह उक्ति शिक्षा में नहीं मिलती। उसमें केवल दो ही उक्तियाँ, दो ही श्रेणियाँ हैं : १. विवार श्वास अघोष तथा २. संवार नाद घोष। तीसरी श्रेणी, अर्थात् इन दोनों का मध्यवर्त्ती घ झ ढ ध भ तथा ह इन छह वर्णों को बताना, यह प्रातिशाख्य की अपनी विवेचना है। सम्भवतः, सोष्मता के कारण इनमें नाद के साथ श्वास का भी योग मानना उचित है।

ऋक्-प्रातिशाख्य में भी पाणिनिशिक्षा तथा याज्ञवल्क्यशिक्षा की भाँति आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए 'करण' शब्द का व्यवहार हुआ है। उवट ने बाह्य प्रयत्न के लिए अनुप्रदान के वजन पर इसके लिए किसी के मत से 'प्रदान' शब्द का प्रयोग किया है।

१. उभयं वान्तरोभौ, १३।२।
२. ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति, १३।३।
३. श्वासोऽघोषाणाम्, १३।४।
४. इतरेषां तु नादः, १३।५।
५. अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः, १।११।
६. वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ।
७. युग्मौ सोष्माणौ।
८. सोष्मोष्मणां घोषिणां श्वासनादौ।

'सभी स्पृष्ट' अस्थित है।'[1] 'ह के पहले के चार वर्णों का दुःस्पृष्ट करण है।'[2] यहाँ 'ह् से पूर्ववर्ती चार वर्णों का' के बजाय 'अन्तस्थों को' कहना अधिक स्पष्ट तथा सरल होता। क्या उस समय तक य र ल व के लिए अन्तस्थ शब्द का खूब प्रचार नहीं हुआ था? और, इन वर्णों को दुःस्पृष्ट कहना भी भ्रामक हो है। दुःस्पृष्ट या द्विःस्पृष्ट नाम 'ळ' इस अक्षर के लिए शिक्षाशास्त्र में रूढ है। अन्तस्थों को ईषत्स्पृष्ट ही कहना अच्छा होता। 'सभी स्वर, अनुस्वार, और ऊष्म अस्पृष्ट स्थित हैं।'[3]

(क) कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग ये स्पृष्ट हैं।

(ख) अन्तस्थ ईषत्स्पृष्ट हैं (उवट ने दुःस्पृष्ट का अर्थ ईषत्स्पृष्ट किया है)।

(ग) सभी स्वर, ऊष्म तथा अनुस्वार अस्पृष्ट स्थित हैं।

सूत्र १२ अस्पष्ट है: **नैके कण्ठ्यस्य स्थितमाहुरूष्मणः।** इसका अर्थ उवट करते हैं कि कण्ठ्य ऊष्म, अर्थात् हकार और विसर्जनीय का कुछ आचार्य अस्पृष्ट करण नहीं मानते। उनके अनुसार ये दोनों वर्ण स्पृष्ट या ईषत्स्पृष्ट हैं। कुछ आचार्य कण्ठ्य ऊष्म के बजाय यहाँ अकण्ठ्य ऊष्म का ग्रहण करते हैं, अर्थात् अकण्ठ्य ऊष्म का वे अस्पृष्ट करण नहीं मानते। एक तो यही विवाद है कि इस सूत्र में कण्ठ्य ऊष्म की या अवग्रह से अकण्ठ्य ऊष्म की चर्चा है। दूसरे, इसमें 'ऊष्मणः' एकवचन है, द्विवचन या बहुवचन नहीं; अतः उससे अनेक ऊष्मों का ग्रहण कैसे होगा? तीसरे, यहाँ केवल स्थितता का निषेध है, अस्पृष्टता का नहीं, फिर उवट अस्पृष्टता की चर्चा क्यों करते हैं? क्या स्थितता और अस्पृष्टता परस्पर नान्तरीयक (व्याप्य-व्यापक) हैं?

तेरहवें पटल के बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्नों के विवेचन को देखने पर निम्नांकित बातें ध्यान में आती हैं:

(अ) बाह्य प्रयत्न-प्रकरण में श्वास और नाद ये ही दो मुख्य प्रतिपाद्य प्रतीत होते हैं, विवार-संवार तथा अघोष-घोष नहीं। यह नहीं कहा जाता कि इस वर्ण का विवार-श्वास अघोष प्रयत्न है। वाक्यरचना इस तरह की है कि कण्ठबिल के विवृत रहने पर श्वास अनुप्रदान रहता है, या अघोष वर्णों का श्वास अनुप्रदान रहता है। इस प्रकार, विवार और अघोष पूर्वसिद्ध उद्देश्य की तरह वर्णित हैं, नया विधान श्वास-मात्र का किया जाता है, विधेय केवल श्वास ही रखा जाता है। प्रथम पटल में अघोष संज्ञा स्पष्ट शब्दों में की गई है, घोष संज्ञा वहाँ अर्थागत-मात्र है। यहाँ १३वें पटल में अघोष और घोष दोनों की स्पष्ट चर्चा है, यद्यपि हैं दोनों उद्देश्य रूप में हो।

(आ) शिक्षा ने यह बात नहीं खोली थी कि इन वर्णों को विवार, श्वास और अघोष तथा संवार नाद और घोष क्यों कहते हैं? ऋक्-प्रातिशाख्य ने इसकी विवेचना की कि कण्ठबिल के विवृत रहने पर वर्ण श्वासता को पाता है तथा संवृत रहने पर नादता

१. स्पृष्टमस्थितम्।
२. दुःस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्।
३. स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्।

को। दूसरा वाक्य है—अघोष वर्णों का श्वास प्रयत्न और शेष का नाद। इससे यह प्रतीत होता है कि इन वर्णों को विवार इसलिए कहते हैं कि इनके उच्चारण में कण्ठविवर विवृत रहता है, तथा श्वास इसलिए कि कण्ठविवर के विवृत रहने से प्राणवायु श्वास रूप ही रह जाती है। जिन वर्णों के उच्चारण में कण्ठविवर संवृत रहता है, उन्हें संवार कहते हैं। ऐसी स्थिति में प्राणवायु नादता को प्राप्त करती है, अतः इन वर्णों को नाद भी कहते हैं। महाभाष्य में **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** के भाष्य में बाह्य प्रयत्न में जो विवार-संवार बताये गये हैं, उनकी उद्योत ने टीका की है—**विवारसंवारौ कण्ठबिलस्य विकास-सङ्कोचौ**। किन्तु, इन्हें क्रमशः अघोष और घोष क्यों कहते हैं, यह न तो प्रथम पटल में स्पष्ट किया गया है, न तेरहवें में और न 'तुल्यास्य' सूत्र के भाष्य में।

अपने 'सामान्य भाषाविज्ञान' के सातवें अध्याय में ध्वनियन्त्र का विश्लेषण करते हुए बाबूराम सक्सेना ने लिखा है कि जब हम साधारण रीति से साँस लेते हैं या अघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, तब स्वरयन्त्र की स्वरतन्त्रियों के दोनों समूह अलग-अलग निःस्पन्द पड़े रहते हैं और बीच से साँस आती-जाती रहती है और जब सघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, तब दोनों समूह आकर वीणा के तारों की भाँति आपस में टक्कर मारते हैं तथा ध्वनि के घोष की सृष्टि करते हैं।

(इ) कुछ लोगों का विचार है कि सोष्म[1] वर्णों में शीघ्रतर प्राण होता है। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार का यह आशय है कि सोष्म वर्णों के उच्चारण में वायु तेजी के साथ भाथी की हवा की भाँति कण्ठबिल के बाहर निकल जाती है, अतः शीघ्रता के कारण कम समय में वायु की राशि अधिक हो जाती है, घनत्व बढ़ जाता है। इस तरह ऋग्वेद-प्रातिशाख्य जिसे शीघ्रतर 'प्राण' कहता है, उसे ही दृष्टिभेद से बाद के आचार्य लोग 'महाप्राण' कहते हैं। यहाँ केवल शीघ्रप्राण की चर्चा है, विलम्बित प्राण की नहीं; पर वह अर्थतः आ ही गया, जिसके उच्चारण में प्राणवायु धीरे-धीरे कण्ठबिल से बाहर आती है, वे विलम्बित प्राण होंगे। समय की अधिकता के कारण इस हवा का घनत्व कम हो जायगा, अतः इन्हें बाद में अल्पप्राण कहा गया। यहाँ 'एके' से यह भी सूचित होता है कि तबतक यह सर्वमान्य विश्लेषण नहीं था। लोग सोच रहे थे कि क और ख के उच्चारण में क्या अन्तर पड़ता है, दोनों का एक ही स्थान, एक ही आभ्यन्तर प्रयत्न, एक ही करण है। बाह्य प्रयत्न भी दोनों का ही विवार-श्वास अघोष है। फिर, यह उच्चारणभेद क्यों हो रहा है? अतः, कुछ आचार्यों ने विश्लेषण कर बताया कि ख की जनक प्राणवायु शीघ्रतर है और क की विलम्बिततर। सम्भव है कि बाद में भाषाविज्ञों ने यह विश्लेषण नहीं स्वीकार किया हो। उन्होंने ख की जनक वायु को शीघ्रतर नहीं, महत्तर तथा क की जनक वायु को विलम्बित नहीं, आभ्यन्तर बताया। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वायु के शीघ्रतर होने से जब उसका घनत्व बढ़ जा सकता है, तब वह महान् हो ही जायगी। इसी भाँति उसके विलम्बिततर होने से उसका घनत्व घट जायगा

१. शीघ्रतरं सोष्मसु प्राणमेके, १३।१६।

तो, यह अल्प हो ही जायगी। किन्तु, ऐसा भी सम्भव है कि ख को पैदा करने के लिए क की तुलना में अधिक प्राणवायु लगती हो। यह कुछ सूक्ष्म विश्लेषण है, जिसपर आधुनिक भाषाविज्ञों को ध्यान देना चाहिए। अँगरेजी भाषावैज्ञानिक 'जोन्स' आदि ने क का ही बलाघात हीन उच्चारण क् तथा बलाघातयुक्त उच्चारण ख् माना है। ख् को भिन्न वर्ग नहीं स्वीकार किया है।

उवट ने इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि सभी वर्णों में तीन गुण[1] अवश्य हैं : स्थान, करण तथा अनुप्रदान। जो सोष्म वर्ण हैं, उनमें ऊष्मता-रूपी एक अधिक गुण है। उनमें गुण की अधिकता है और काल की मात्रा उतनी ही है, अतः शीघ्रता के बिना उनका उच्चारण सम्भव नहीं है। पदकार ने भी कहा है कि प्रथम-द्वितीय वर्ण श्वास तथा अघोषवाले हैं, इनमें पहले वर्ण अल्पप्राण हैं, दूसरे महाप्राण। तीसरे-चौथे नाद तथा घोषवाले हैं, इनमें भी तीसरे अल्पप्राण हैं, चौथे महाप्राण। सोष्म वर्णों को महाप्राण कहने का यही तात्पर्य है।

उवट की इस उक्ति से निम्नांकित बातें व्यक्त होती हैं :

(क) महाप्राणता अनुप्रदान से, बाह्यप्रयत्न से बहिर्भूत चौथा गुण है। पहला गुण-स्थान, दूसरा आभ्यन्तर प्रयत्न, तीसरा बाह्य प्रयत्न तथा चौथा सोष्मता। प्रथम तीन सबमें है, पर चौथा सबमें नहीं। पता नहीं, यहाँ उवट ने जिह्वा-रूप करण की क्यों उपेक्षा की है? उसे भी एक गुण मानना चाहिए था, जैसे दयानन्द ने माना है। साथ ही, यह महाप्राणता भी अनुप्रदान या बाह्यप्रदान का ही एक अंग क्यों नहीं है? जैसे बाह्य प्रयत्न को विवार-संवार, श्वास-नाद तथा घोष-अघोष तीन प्रकार से दो विरोधी श्रेणियों में बाँटते हैं, ठीक वैसे ही महाप्राण-अल्पप्राण इस चौथे प्रकार से भी दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं। यह बाह्यप्रयत्नता इस युग्म में, महाप्राण-अल्पप्राण में, क्यों नहीं है? यदि उवट के अनुसार यह मानें कि सोष्म वर्णों में ऊष्मता अधिक गुण है, तो यह क्यों नहीं कह सकते कि घोषवानों में सघोषता अधिक गुण है? बाह्यप्रयत्ननिरूपण-सूत्र ६।७ तक ही समाप्त कर १९वें में शीघ्रतरप्राणता की चर्चा तो यही प्रमाणित करती है कि यह बाह्य-प्रयत्न बहिर्भूत है। परन्तु, महाभाष्य में अल्पप्राणता-महाप्राणता को भी बाह्यप्रयत्न माना गया है : **सन्ति ह्यास्याद् बाह्याः प्रयत्ना.........के पुनस्ते? विवारसंवारौ, श्वासनादौ, घोषवदघोषवत्ता, अल्पप्राणता महाप्राणतेति तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१।१।९)।**

(ख) सोष्मता महाप्राणता से भिन्न वस्तु है और यह महाप्राणता का आधार है। पर लगता है, एक ही वस्तु के ये दोनों नामान्तर, पर्याय या दृष्टिभेद-मात्र हैं।

---

१. सर्वेषु वर्णेषु स्थानकरणानुप्रदानानि त्रयो गुणाः समानाः। सोष्मसूष्मा गुणोऽधिकः। तत्र गुणबहुत्वान्मात्राकालेन शैघ्र्याद्दते न शक्यमुच्चारयितुमिति तेषु शीघ्रतरं प्राणं मन्यन्ते। पदकारेणाप्युक्तम्—प्रथमद्वितीयाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः। एकेऽल्पप्राणा अपरे महा-प्राणाः। तृतीयचतुर्था नादानुप्रदाना घोषवन्तः। एकेऽल्पप्राणा अपरे महाप्राणाः। इति सोष्मसु महाप्राणं विदधदेतमेवार्थमाह।—१३।१९।

(ग) यह शीघ्रतरप्राणता और महाप्राणता एक ही वस्तु है।

(ई) सूत्र १ की व्याख्या में उवट ने बताया[1] है कि कोई आचार्य ध्वनि का मूल प्राण वायु मानते हैं, कोई उदान। शौनक प्राणवायु को ही ध्वनि का मूल मानते हैं।

(उ) उवट ने कहा[2] है कि स्वरों का तथा घोषवानों का नाद प्रयत्न होता है। शौनक ने सूत्र में इसकी स्पष्ट चर्चा नहीं की है कि स्वरों का क्या बाह्य प्रयत्न है। शिक्षाओं ने भी बाह्यप्रयत्न-प्रकरण में स्वरों की चर्चा नहीं की है, किन्तु यहाँ उवट ने अघोष से भिन्न वर्णों में स्वरों को भी गिनकर उनका भी नाद प्रयत्न बताया। साथ ही, अघोष से भिन्न वर्णों में दो श्रेणियाँ बनाईं : स्वर तथा घोषवान्। इसका यह अथ हुआ कि स्वरों का नाद प्रयत्न तो है, पर घोष नहीं, और स्वर न अघोष है, न घोष; उनकी एक तीसरी श्रेणी है। तब तो बाह्य प्रयत्न में तीन श्रेणियाँ माननी होंगी, बल्कि एक तीसरी श्रेणी तो शौनक ने ही मानी है : श्वासनाद, अतः चार श्रेणियाँ माननी होंगी।

(ऊ) ह् में श्वास और नाद[3] दोनों माने जाते हैं। इसका संकेत यही है कि चतुर्थ वर्णों में ह् का योग है, द्वितीय वर्णों में क्रमशः जिह्वामूलीय, श्, ष्, स् तथा उपध्मानीय था। 'शौनक' ने यही बात सूत्र[4] १६ तथा १७ में स्पष्ट की है।

(ऋ) आभ्यन्तर प्रयत्न या करण के निरूपण में दो कसौटियाँ हैं : एक तो यह कि विभिन्न वर्णों के उच्चारण के समय मुखविवर कितना फैला या सिकुड़ा रहता है, और दूसरा यह कि जिह्वा सम्बद्ध स्थानों का स्पर्श करती है या नहीं। पाणिनिशिक्षा के श्लोक २० तथा २१ में मुखविवर की विवृतता-संवृतता को कसौटी रखा गया है और ३८ में जिह्वा के द्वारा उन-उन स्थानों के स्पर्श और अस्पर्श सामीप्यमात्र को याज्ञवल्क्य-शिक्षा ने दोनों प्रकार की चर्चामात्र की है। जिस प्रकार दोनों शिक्षाओं ने दोनों कसौटियों की चर्चा की है, उस प्रकार ऋक्-प्रातिशाख्य ने नहीं किया है। इसने केवल स्पष्टता की कसौटी ली है, विवृतता की चर्चा साफ छोड़ दी है। पाणिनिशिक्षा के श्लोक २१ ने स्वरों और ऊष्मों का एक ही कारण बताया है—विवृत। इसी भाँति ऋक्प्रातिशाख्य के सूत्र १३-११ ने भी स्वरों और ऊष्मों का एक ही करण कहा है—अस्पृष्ट।

इसने सम्भवतः विवृतता की दृष्टि इसलिए छोड़ दी है कि यह शब्द बाह्यप्रयत्न के साथ मिश्रित होकर भ्रामक बन जाता है। मुखविवर और कण्ठविवर के संवरण-विवरण के लिए एक ही शब्द रखने से करण और अनुप्रदान के विचार में भ्रम हो जाता है। अनुप्रदान में विवार-संवार ये भाव-शब्द तथा करण में विवृत-संवृत ये विशेषण-शब्द रखने पर भी विशेष लाभ नहीं हुआ है, इसके प्रमाण में दोनों शिक्षाओं में व्याप्त भ्रामक उक्तियाँ

१. वाचि वर्त्तमानं प्राणमेक आचार्या मन्यन्ते, अपर उदानं मन्यन्ते। एवमुभयकाचार्यविप्रतिपत्ति-दर्शनाच्छौनकेन भगवता प्राणं मन्यमानेनेदं शास्त्रमेवं प्रणीतम्—'वायुः प्राणः०'।—१३।१।

२. इतरेषां स्वराणाम् ? स्वराणां घोषवतां च नादः प्रकृतिर्भवतीति वेदितव्यम्।—१३-५।

३. १३।६।

४. सोष्मतां च सोष्मणामूष्मणामाहुः संस्थानेन, १३।१६; घोषिणां घोषिणैव, १३।१७।

पहले दी जा चुकी हैं। महाभाष्य में भी 'अइउण्' इस प्रत्याहारसूत्र के भाष्य में आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत के लिए विवार का प्रयोग है : अकारस्य विवृतोपदेशः कर्त्तव्यः। किं प्रयोजनम् ? आकारग्रहणार्थम्। अकारः सवर्णग्रहणेनाकारमपि यथा गृह्णीयात् ०। किं च कारणं न गृह्णीयात् ? विवारभेदात्। किमुच्यते विवारभेदादिति, न पुनः कालभेदादपि ? यथैव ह्ययं विवारभिन्नः एवं कालभिन्नोऽपि।...बाह्यश्च पुनरास्यात्काल:, तेन स्यादेव कालभिन्नस्य ग्रहणम्, न पुनर्विवारभिन्नस्य। अतः, 'ऋक्-प्रातिशाख्य' ने विवृतता की कसौटी छोड़ एक नया विवेचन प्रस्तुत किया है—स्थित-अस्थित का। इसके अनुसार जिस वर्ण के स्थान के पास जाकर जिह्वा कुछ देर ठहर जाती है, वह स्थित तथा दूसरा अस्थित होता है।[1] उदाहरणार्थ : सभी स्पर्श-वर्ण स्पष्ट तथा अस्थित हैं, अर्थात् इनके उच्चारण में जिह्वा उस स्थान को छू तो देती है, पर वहाँ तनिक भी ठहरती नहीं।[2] इसी भाँति सब स्वर, ऊष्म तथा अनुस्वार अस्पष्ट स्थित हैं, अर्थात् इनके उच्चारण में जिह्वा-सम्बद्ध स्थान को पूरी तरह छूती तो नहीं; पर उसके पास ठहरी रहती है। यह एक नई दृष्टि है। य र ल व को केवल दुःस्पृष्ट, अर्थात् ईषत्स्पृष्ट बताया, दूसरी दृष्टि से उसे देखा ही नहीं। किन्तु, प्रसंग से अर्थापत्तिवश यह प्रतीत होता है कि अन्तस्थ वर्ण स्थितास्थित हैं, दोनों के मध्यवर्त्ती हैं। महाभाष्य नाज्झलौ सूत्र में वर्णों का करण (आभ्यन्तर प्रयत्न) इस भाँति गिनाया है—स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्, ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्, विवृतमूष्मणाम्, स्वराणां च। छायाटीका ने लिखा है कि ये ४ शौनक प्रातिशाख्य-सूत्र हैं।

(ए) एक ही वायु कण्ठविवर तक आकर वक्ता की इच्छा के अनुकूल विभिन्न गुणों के कारण विभिन्न वर्णों में परिणत हो जाती है। उवट ने यहाँ बताया है कि वे कौन-से गुण हैं, जिनसे संयोग के कारण वर्णों में श्रुति-कृत विशेषता आ जाती है, अर्थात् वर्ण भिन्न-भिन्न सुनाई पड़ने लगते हैं। यहाँ उन्होंने 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' का निम्नांकित श्लोक उद्धृत कर उसका विवेचन किया है :

अनुप्रदानात् संसर्गात् स्थानात् करणविन्ययात् (विभ्रमात्)।
जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमात्॥[3]

(क) अनुप्रदान : प्रत्येक वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्ण यद्यपि समान स्थान और प्रयत्न (आभ्यन्तर) वाले हैं, तथापि उनमें अनुप्रदान (बाह्य प्रयत्न) के भेद से ध्वनि विभिन्न हो जाती है, जैसे क् और ग् का एक ही स्थान कण्ठ है, एक ही प्रयत्न स्पृष्ट है; किन्तु श्वास के योग से क् तथा नाद के कारण ग् यह भिन्न ध्वनि सुनाई पड़ती है।

---

१. 'यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य जिह्वावतिष्ठते तत्स्थितमित्युच्यते।' १३।११ की व्याख्या में उवट। 'यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य मध्ये जिह्वा न सन्तिष्ठते तदस्थितमित्युच्यते।' १३।९ की व्याख्या में उवट।

२. चूँकि करण स्थान को छूकर झटके से हट जाता है, इसीलिए इनके उच्चारण में स्फोट (plosion) होता है, और ये स्फोट-स्पर्श (plosive) कहे जाते हैं (दे० डेनियल जोन्स)।

३. तै० प्रा० २३।२।

(ख) **संसर्ग :** ग् तथा घ् दोनों कण्ठस्थान, स्पृष्ट प्रयत्न तथा नाद-अनुप्रदान-वाले हैं, किन्तु घ् में ऊष्म का संसर्ग है, ग् में नहीं। अतः, घ् की श्रुति ग् से भिन्न हो गई। इसी भाँति ग् और ङ् में कण्ठ्यत्व, स्पृष्टता तथा नाद के तुल्य रहने पर भी ङ् में अनुनासिकता के योग से उसकी श्रुति ग् से भिन्न हो गई। आश्चर्य है, यहाँ उवट[1] ने पंचम वर्णों में आनुनासिक्य नहीं, अनुस्वार का योग माना है!

उवट की इस उक्ति से यह प्रतीत होता है कि वे बाह्य प्रयत्न केवल नाद को ही मानते हैं। 'ऋक्प्रातिशाख्य' के तेरहवें पटल के सूत्र १, ४ तथा ५ से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि बाह्य प्रयत्न से पहले श्वास तथा नाद का ही ग्रहण होता था। अघोष तथा घोष प्रथम पटल में वर्णों की संज्ञा रूप में वर्णित हैं, तेरहवें पटल में, बाह्य प्रयत्न के प्रकरण में, बाह्य प्रयत्न के रूप में नहीं। विवार-संवार हैं, तो तेरहवें पटल में ही, पर इनका वर्णन उद्देश्य-रूप से है; जैसे कण्ठ के विवृत रहने पर वर्ण श्वासता को पाता है और संवृत रहने पर नादता को। इतना ही नहीं, सोष्मता-अनूष्मता भी, जो महाप्राणता-अल्पप्राणता के पर्यायसदृश हैं, ऋक्प्रातिशाख्य में बाह्य प्रयत्न-प्रकरण से पृथक् वर्णित हैं, अतः उवट इन्हें अनुप्रदान में नहीं, संसर्ग में गिनते हैं। पर, पतंजलि ने बाह्य प्रयत्न के ८ भेद गिनाये[2] हैं—विवार-संवार, श्वास-नाद, अघोष-घोष तथा महाप्राण-अल्पप्राण। दयानन्दीय पाणिनिशिक्षा में सोष्मता और महाप्राणता दोनों का पृथक्-पृथक् बाह्य प्रयत्न-निरूपण में चतुर्थ प्रकरण में वर्णन है। भट्टोजिदीक्षित[3] ने तो इस में उदात्त-अनुदात्त और स्वरित इन तीनों स्वरों को भी जोड़कर बाह्य प्रयत्न के ११ भेद माने हैं। **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** के भाष्य में 'उद्योत' ने भी बताया है कि **वृद्धिरादैच्** के भाष्य तथा कैयट के अनुसार इन्हें मिलाकर ११ बाह्य प्रयत्न हैं— **कुत एवोदात्तादिभिः सहैकादश बाह्यप्रयत्ना इति कैयटो वक्ष्यति। उदात्तादीनामपि वृद्धिसंज्ञासूत्रशेषे गुणत्वेन व्यवहारात्।** आनुनासिक्य को दीक्षित ने बाह्य प्रयत्न[4] में नहीं, स्थान-प्रकरण तथा गुण में रखा है। किन्तु, पाणिनीय शिक्षा के दोनों संस्करणों में इसका वर्णन स्थान तथा बाह्य प्रयत्न-निरूपण दोनों प्रकरणों[5] में हुआ है। इसे भी स्वीकार करें, तो बाह्य प्रयत्न के १२ भेद हो जायेंगे। पतंजलि ने भी पूर्वोद्धृत बाह्य प्रयत्न-निरूपण में उक्त ८ की गणना के बाद अन्त में आनुनासिक्य की भी चर्चा[6] की है। सूत्र १।१।६ के भाष्य में उद्योत

---

१. 'द्वितीयचतुर्थां ऊष्मणा संसृज्यन्ते, अनुस्वारेण पञ्चमः।'

२. सू० १।१।९।

३. 'बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति।'—तुल्यास्य० की व्याख्या।

४. वहीं।

५. श्लोक २२ तथा ३६।

६. १।१।२ : तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः, श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च। एकेऽल्पप्राणाः, अपरे महाप्राणाः। तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः।

से यह प्रतीत होता है कि ङ ञ ण न म अनुस्वार, यम तथा रंग का नासिकास्थान है; क्योंकि नासिक्य के विना उनकी स्वरूप-निष्पत्ति ही नहीं होगी, पर स्वर तथा य व ल का यह गुण या बाह्य प्रयत्न है; क्योंकि नासिक्य की सहायता के विना भी इन वर्णों की उत्पत्ति हो सकती है।

(ग) परिमाण : अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ इन युग्मों का परस्पर स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान तीनों सर्वथा तुल्य हैं, फिर भी परिमाण या मात्रा के भेद से, ह्रस्वत्व-दीर्घत्व के अन्तर से, श्रुति में भेद पड़ जाता है। इस प्रकार, उवट ने ह्रस्वत्व, दीर्घत्व और प्लुतत्व को भी एक पृथक् गुण-कोटि में रखा है। शिक्षाओं ने भी मात्राकृत भेद को पृथग्जातीय ही बताया है।[1] किन्तु, महाभाष्य में सूत्र १।१।९ की व्याख्या में छाया[2] ने यह बताया है कि यद्यपि भाष्य में आठ ही बाह्यप्रयत्न-भेदों की चर्चा है, परन्तु यहाँ और भी उदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा आनुनासिक्य इन सातों का ग्रहण करना चाहिए। अइउण् सूत्र का भाष्य ही इसमें प्रमाण है। अइउण् सूत्र में यह शंका आई है कि अइउण् में विवृत अ ही पढ़ना चाहिए, संवृत अ नहीं, अन्यथा अ का ग्रहण नहीं होगा। इसपर यह आपत्ति उठाई गई है कि आ में केवल विवार का ही भेद नहीं है, काल अर्थात् मात्रा का भी तो भेद है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि विवृतता[3] आस्यस्थ प्रयत्न है और ह्रस्वता आदि आस्यबाह्य हैं। अतः, काल-भिन्न का तो ग्रहण होगा ही, विवार-भेद से भिन्न का नहीं होगा। ह्रस्व अ और दीर्घ आ तुल्यास्यप्रयत्न हैं, पर संवृत अ और विवृत अ तुल्यास्यप्रयत्न नहीं हैं। इसी प्रकार वृद्धिरादैच् सूत्र के भाष्य[4] में भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इन स्वरों को तथा आनुनासिक्य को वर्णों का गुण बताया गया है।

किन्तु, एक अनुपपत्ति है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में वर्णों के स्थान, करण तथा आभ्यन्तर प्रयत्न की चर्चा नहीं की है। इसी भाँति विवार-संवार, श्वास-नाद, अघोष-घोष तथा अल्पप्राण और महाप्राण की भी चर्चा छोड़ दी है। पर, अनु-

---

एकेऽल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा आनुनासिक्यवर्जम्। आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः।

१. स्वरतः कालतः, स्थानात्प्रयत्नानुप्रदानतः, १० पाशि०।

२. यद्यप्यत्र भाष्ये उवटेनैवोक्तास्तथापीति नाऽन्येषामप्युदात्तादीनां सप्तानां संग्रहो बोध्यः। न चोदात्तादीनां तत्त्वे न मानम्, एकस्थानकवर्णनिष्ठानां तेषां प्रयत्नभेदेनैव भेदस्य व्यावस्थापनीयत्वात्। अन्यथा तद्भेदस्य निर्मूलत्वापत्तेः। अइउण् सूत्रस्थं भाष्यं ह्रस्वत्वादीनां तत्त्वे मानमित्यन्यत्र स्पष्टम्।

३. बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः तेन स्यादेव कालभिन्नस्य ग्रहणम्, न पुनर्विवारभिन्नस्य।

४. आकारस्य तपरकरणं क्रियते। किं प्रयोजनम्? सवर्णार्थम्। तपरस्तत्कालस्येति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात्। केषाम्? उदात्तानुदात्तस्वरितानाम्। किं च कारणं न स्यात् .... भेदकत्वाद गुणस्य ... ... आनुनासिक्ये नाम गुणः तद्भिन्नस्यापि ग्रहणं यथा स्यात्।

नासिक[1] संज्ञा ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत[2] संज्ञा और उदात्त-अनुदात्त-स्वरित[3] संज्ञा के लिए सूत्र बनाये हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि पाणिनि इन सातों को बाह्य प्रयत्न नहीं मानते, अन्यथा वे ऋक्प्रातिशाख्य की भाँति अघोष-घोष आदि संज्ञाएँ भी करते। अतः, बाह्य प्रयत्न उक्त महाभाष्यस्थ उद्धरण के अनुसार स्थान, स्पृष्ट, आभ्यन्तर प्रयत्न तथा विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण रूप बाह्य-प्रयत्न के नहीं हो सकते; परन्तु अ की निष्पत्ति विना उदात्तत्व, ह्रस्वत्व और अनुनासिकत्व के भी हो सकती है; अ अनुदात्त या स्वरित दीर्घ या प्लुत तथा अननुनासिक भी तो हो सकता है। अ की रूप-निष्पत्ति केवल कण्ठ-स्थान, विवृतादि आभ्यन्तर प्रयत्न तथा नादादि बाह्य प्रयत्न से ही हो जाती है। ये सातों उसके स्वरूप-निष्पादक नहीं, गुणाधायक-मात्र हैं। उवट ने सूत्र १३।२१ की व्याख्या में केवल इन १२ को ही वर्णों का गुण कहा है—

श्वासता, नादता, उभयता। स्पृष्टता, दुःस्पृष्टता, अस्पृष्टता।
कण्ठबिलस्य विवृतता, संवृतता, अघोषता, घोषता। सोष्मता, अनुनासिकतेति।

(घ) स्थान : वर्णों में भिन्न श्रुति लानेवाला चौथा कारण है स्थान। अ इ उ ऋ में या क च ट त प में परस्पर समान आभ्यन्तर प्रयत्न है, समान बाह्य प्रयत्न है, समान परिमाण (मात्रा) तथा संसर्ग है। फिर भी, ये समानश्रुति इसलिए नहीं हो सके कि इनका स्थान परस्पर भिन्न है। प्रथम समूह के क्रमशः कण्ठ, तालु, ओष्ठ, मूर्धा ये भिन्न स्थान हैं, द्वितीय समूह के कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ। वास्तव में, वर्णों की स्वरूप-निष्पत्ति में मुख्यतम कर्त्तृत्व स्थान का ही है। यहाँ उवट ने करण के लिए प्रयत्न शब्द का प्रयोग किया है।

(ङ) करण : इ, य तथा ज के स्थान और अनुप्रदान (परिमाण तथा संसर्ग भी) तुल्य ही हैं, फिर भी इनमें उच्चारण-भेद इसलिए हो गया कि तीनों का करण या आभ्यन्तर प्रयत्न भिन्न हैं, क्रमशः विवृत, ईषत् स्पृष्ट, तथा स्पृष्ट हैं। उवट की इस उक्ति से यह संकेत मिलता है कि ज् की भाँति य् तथा इ का भी संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण बाह्य प्रयत्न है, केवल आभ्यन्तर प्रयत्नकृत ही इनमें भेद हैं।

पाणिनीय शिक्षा में भी वर्णों का विभाग ५ प्रकार से बताया[4] जा चुका है; किन्तु वहाँ पंचविधत्व संसर्गकृत नहीं, स्वरकृत है। शेष चार विभाग दोनों में तुल्य हैं। पाणिनिशिक्षा ने संसर्गकृत भेद नहीं माना और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने स्वरकृत। उवट ने यहाँ संसर्गकृत भेद के दो उदाहरण दिये हैं। सोष्मत्व के संसर्ग से ग ज ड द ब, घ झ ढ ध भ से भिन्न हो जाता है और आनुनासिक्य के संसर्ग से ङ ञ ण न म से। इनमें सोष्मत्व महाप्राणत्व का ही पर्यायान्तर है, जो बाह्यप्रयत्न (अनुप्रदान) से गतार्थ है

१. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः, १।१।८।
२. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः, १।२।२७।
३. उच्चैरुदात्तः, १।२।२९, नीचैरनुदात्तः, १।२।३०, समाहारः स्वरितः, १।२।३१।
४. पा० शि०, श्लोक १०।

और आनुनासिक्य स्वरों तथा अन्तस्थों में बाह्य प्रयत्न से तथा शेष वर्णों में स्थान से ही गतार्थ है। आज की दृष्टि से हम कहेंगे कि ग् घ् ध्वनि से इसलिए भिन्न है कि ग् अल्पप्राण तथा घ् महाप्राण है और ङ् ध्वनि से इसलिए भिन्न है कि ग् का स्थान केवल मुख है, ङ् का नासिका भी। इस प्रकार स्थान, करण, अनुप्रदान और परिमाण से ही ध्वनिभेद के ये सब कारण गतार्थ हो जायेंगे। संसर्ग को पाँचवाँ कारण बताना व्यर्थ है। ऋक्प्रतिशाख्य में, स्थाननिर्देश-प्रकरण में नासिका-स्थान की चर्चा नहीं है, नासिक्यता की अलग से एक गुण रूप में चर्चा है। इसी भाँति अनुप्रदान-प्रकरण में सोष्मत्व या शीघ्रतरप्राणत्व (महाप्राणत्व) का कथन नहीं है, उसके बाहर है। इसलिए उवट ने सूत्र १३।१३ के 'गुणविशेष' की व्याख्या में तै० प्रा० का यह श्लोक दिया, जिसमें पाँच कारणों में स्थान और अनुप्रदान के अलावा एक संसर्ग भी रखा। पर, पाणिनिशिक्षा में आनुनासिक्य की चर्चा बाह्य प्रयत्न-प्रकरण में है : अयोऽनुनासिका न ह्रौ।[1] फिर, महाप्राण-अल्पप्राण का भेद नहीं रखकर क् को ईषच्छ्‌वास, ख् को श्वास, ग् को ईषन्नाद और घ् को नाद कहा गया है। इससे महाप्राणता भी बाह्यप्रयत्न के अन्तर्भूत ही हो जाती है। इसलिए, पाणिनिशिक्षा में संसर्ग से भेद नहीं मानकर उदात्तादि त्रिविध स्वरों से ध्वनिभेद की बात कही गई है। अ, अ॒ अ॑ —ये तीनों स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न, बाह्य प्रयत्न और काल (तैत्तिरीय प्रातिशाख्योक्त संसर्ग भी) इन चारों दृष्टियों से तुल्य होने पर भी स्वरभेद से भिन्न हैं। उवट द्वारा उद्धृत तै० प्रा० की इस कारिका से उदात्तादि स्वर-कृत ध्वनिभेद का संग्रह नहीं हो रहा है; क्योंकि ऋक्प्रातिशाख्य में उदात्तादि को इन पाँचों में से किसी में गतार्थ नहीं किया गया है। इसीलिए, उवट ने स्वर-कृत भेद के उदाहरण भी नहीं दिये। यद्यपि उदात्तादि भी वैयाकरणों के मत से अनुप्रदान के ही अन्तर्भूत हैं।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से उद्धृत इस कारिका का अर्थ भी यहाँ उवट ने बहुत परिवर्त्तित कर दिया है। इसकी माहिषेय व्याख्या, उवट की व्याख्या से बहुत भिन्न है। माहिषेय ने इस कारिका की व्याख्या में अ कार का उदाहरण देते हुए लिखा है : **अकारस्य तावन्नादोऽनुप्रदानम्, कण्ठः संसर्गः, आस्यं हनूस्थानम्, ओष्ठौ करणविन्यासौ, मात्राकालः परिमाणमिति। एवं सर्ववर्णानां बोद्धव्यमिति।**[2] अर्थात्, अ इस ध्वनि में अनुप्रदान है नाद, संसर्ग है कण्ठ, स्थान है मुख और हनू, करणविन्यास है ओष्ठद्वय और परिमाण है एक मात्रा का काल। इनमें तो बस केवल पहला और पाँचवाँ ही उवट के अभिप्रेत भेद के तुल्य हैं। माहिषेय के दूसरे, तीसरे, चौथे भेद उवट से सर्वथा विलक्षण हैं।

१३. कुछ आचार्य वर्णों को नित्य मानते हैं, कार्य (अनित्य) नहीं।[3] पर, इसकी रचना ऐसी है कि इसका विपरीत अर्थ भी किया जा सकता है कि कुछ

---

१. पा० शि०, ३९।
२. तै० प्रा०, १३।२ की टीका।
३. एके वर्णाञ्छाश्वतिकान्तकार्यान्, १३।१४।

आचार्य वर्णों को नित्य नहीं, कार्य मानते हैं। वस्तुतः, यह विचार दर्शनों में विस्तार से हुआ है, पस्पशाह्निक में भी यह प्रश्न उठाया गया है। यहाँ तो यह प्रक्रम-भंग की ही तरह लग रहा है।

१४. शौनक का कहना है कि घोषवानों का घोष अ है तथा अनुनासिकों का घोष अनुस्वार।[१] उवट ने इसकी व्याख्या में कहा है कि ग ज ड द ब य र ल व ह में अकार अपने स्थान से आकर घोषत्व पैदा करता है और ङ ञ ण न म में अनुस्वार अपने स्थान से आकर। यह तो विचित्र लगता है। जहाँ अ-रहित ये वर्ण हैं गि, गी, गु, गू, आदि, वहाँ क्या ग् घोष नहीं है? और फिर, स्वरों में शौनक या उवट ने घोष माना कहाँ है? इनमें तो केवल नाद माना है। फिर, अ या कोई दूसरा भी स्वर जो स्वयं घोष-अघोष से विलक्षण है, ग ज ड द ब में घोष कैसे पैदा करेगा? और ङ ञ ण न म में अनुस्वार कहाँ मिला है? तथा अनुस्वार को तो शौनक ने स्वयं अघोष[२] माना है, वह आकर पंचमाक्षरों में घोष कैसे पैदा करेगा? क्या यह सूत्र अस्पष्ट है? उवट के लिए भी?

घोषवानों का घोष अकार है (१३।१५), शौनक की इस उक्ति की व्याख्या में उवट ने घोषवानों में केवल तृतीय वर्ण, अन्तस्थ तथा ह् ही गिनाये हैं। चतुर्थ वर्ण छोड़ दिये हैं, यद्यपि प्रथम पटल के सूत्र ११ तथा १२ और तेरहवें पटल के सूत्र ६ के अनुसार वे भी घोष हैं। तो क्या इसका यह तात्पर्य है कि ये चतुर्थ वर्ण ऊष्म तथा घोष ह् के योग से जैसे सोष्मा बनते हैं, उसी भाँति घोष भी? और, इन वर्णों को घोष बनाने के लिए अ की अपेक्षा नहीं है। यह स्पष्ट है कि शौनक द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों में एक ही प्रकार की सोष्मता या महाप्राणता नहीं मानते; क्योंकि द्वितीय वर्ण अघोष हैं और चतुर्थ घोष। इसीलिए, द्वितीय वर्णों में अघोष ऊष्मों का संसर्ग माना, चतुर्थ में घोष ऊष्म का। प्रथम पटल के सूत्र ११ के अनुसार जिह्वामूलीय, श, ष, स् तथा उपध्मानीय अघोष ऊष्म हैं। इसलिए, ये अपने तुल्यस्थानीय प्रथम वर्णों से मिलकर उन्हें अघोष सोष्म द्वितीय बताते हैं। घोष ऊष्म ह् केवल तृतीय वर्णों को ही सोष्म घोष बनाता है। यद्यपि जो[३] कवर्ग और विसर्जनीय दोनों को कण्ठ्य तथा जिह्वामूलीय हो, जिह्वामूलीय मानते हैं, उनके मत से ख् में विसर्जनीय का ही योग मानना चाहिए; पर ऋक्प्रातिशाख्य[४] ने कवर्ग तथा जिह्वामूलीय को जिह्वामूलीय माना है तथा विसर्जनीय को कण्ठ्य या उरस्य, अतः यहाँ जिह्वामूलीय के योग से ही ख् में सोष्मता मानी गई है।

आजकल के भाषावैज्ञानिकों की मान्यता[५] है कि क्+ह्+ख् तथा ग्+ह्+घ् है, अर्थात् सभी द्वितीय तथा क् चतुर्थ वर्ण ह् के योग से ही बने हैं। रोमन में तो

---

१. आहुर्घोषं घोषवतामकारमेकेऽनुस्वारमनुनासिकानाम्, १३।१५।
२. १।११।
३. दयानन्दीय पाणिनिशिक्षा, दीक्षित आदि (अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्)।
४. १।४१ तथा ४०।
५. हिन्दी-शब्दानुशासन, पृ० ३४ आदि।

सचमुच ख को kh तथा घ को gh लिखते हैं, क्योंकि उस लिपि में द्वितीय-चतुर्थ वर्ण हैं ही नहीं। किन्तु, नागरी में ये स्वतन्त्र ध्वनियाँ तथा लिपियाँ हैं, ख् को क्ह् या घ् को ग्ह् नहीं लिख सकते। इस सिद्धान्त में दो त्रुटियाँ हैं। ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य के अनुसार द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों में एक ही ऊष्म ह् का योग नहीं है। इनमें भिन्न-भिन्न ऊष्म का मिश्रण है, जिसकी तालिका यह है :

क् + जिह्वामूलीय + ख।	ग् + ह् = घ्।
च् + श् = छ्।	ज् + ह् = झ्।
ट् + ष् = ठ्।	ड् + ह् = ढ्।
त् + स् = थ्।	द् + ह् = ध्।
प् + उपध्मानीय + फ्।	ब् + ह् = भ्।

दयानन्दीय पाणिनिशिक्षा ने भी द्वितीय-चतुर्थ वर्णों के ऊष्म में अन्तर बताया है। चतुर्थ प्रकरण के आठवें सूत्र **सस्थानेन द्वितीयाः** तथा नवें सूत्र **हकारेण चतुर्थाः** बताया है कि द्वितीय वर्णों में स् का योग है, चतुर्थ में ह् का। वस्तुतः, यहाँ 'सस्थानेन' का तात्पर्य, जैसा कि दयानन्द ने लिखा है, सकार के स्थान से नहीं, समानस्थान से है। द्वितीय वर्ण अपने सस्थान, अर्थात् समान स्थान ऊष्म के योग से बनते हैं। इस अर्थ में यह सूत्र ऋक्-प्रातिशाख्य के सूत्र १३। १६ का पूर्णतः समानार्थक हो गया। ठीक यही शब्द 'सस्थानेन' दयानन्दीय शिक्षा के सूत्र में अ है और ऋक्प्रतिशाख्य के सूत्र में भी। अवश्य ही दयानन्द ने ऋक्प्रतिशाख्य की उवट-कृत व्याख्या नहीं देखी थी। यों भी सभी द्वितीय वर्णों को स् की ऊष्मता से सोष्म मानना स्पष्टतः अतर्कसंगत लगता है। यहाँ समान शब्द का समास होने पर स[1] आदेश हो गया है, यह स सकार का बोधक नहीं है। आश्चर्य है यह बात दयानन्द को कैसे नहीं सूझी ? महाभाष्य में भी समानस्थान अर्थ में सस्थान शब्द का प्रयोग है : **ननु चैङः सस्थानतरावर्ध एकारोऽद्‌र्ध ओकारः** (ए ओङ् ऐ औच् सूत्र में)।

यह कहना कि 'संस्कृत-व्याकरण में अनेक जगह ग् और ह् को मिलाकर घ् तथा द् और ह् को मिलाकर ध् बनाने का उल्लेख है', भ्रमात्मक है। वाग् + हरिः = वाग्घरिः में तथा तद् + हितम् = तद्धितम् आदि में ग् ह् मिलकर घ् और द् ह् मिलकर ध् नहीं बने हैं; अपितु अकेला ह् ही ग् के सम्पर्क से घ् बना है[2], और द् के संपर्क से ध्। बल्कि, पाणिनि के नियम[3] से, जो सर्वथा भाषावैज्ञानिक है, ह् के पहले कहीं प्रथमाक्षर मिलेगा ही नहीं, सदा तृतीयाक्षर ही मिलेगा। और कहीं भी तृतीयाक्षर तथा ह् को मिलाकर चतुर्थाक्षर नहीं बनता, हर जगह ह् के स्थान में ही चतुर्थाक्षर होता है। स्वयं पाणिनिसूत्रों में इसके उदाहरण हैं : **एच इग्घ्रस्वादेशे** (इग् + ह्रस्वादेश); **नाज्झलौ**[4] = (न + अज् + हलौ) ; **तद्धिताः** = (तद् + हिताः) आदि।[5] इसी भाँति ऊष्मा में श् ष् स् के पहले सदा प्रथमाक्षर[6]

---

१. सू० ६।३।८५। २. **झयो होऽन्यतरस्याम्** ८।४।६२। ३. **झलां जशोऽन्ते**, ८।२।३९।
४. १।१।१०। ५. ४।१।७६। ६. **खरि च**, ८।४।५५।

ही रहते हैं, और वहाँ भी प्रथमाक्षर तथा ऊष्म दोनों के स्थान में एक द्वितीयाक्षर नहीं होता, किन्तु श् ष् स् के पूर्व आये प्रथमाक्षर का द्वितीयाक्षर हो जाता है, यह पोष्कर आदि आचार्य का मत है।[1] जैसे वत्सरः = वथ्सरः, अप्सराः = अफ्सराः आदि। श् ष्, स् के बाद प्रथमाक्षर के आने पर तो कहीं भी यह परिवर्त्तन नहीं होता, जैसे अयस्कुम्भ, निश्चल, दुष्ट, बाष्प, निस्तार आदि में ऊष्मों के सम्पर्क से प्रथमाक्षर का द्वितीयाक्षर नहीं हुआ। पर ह् के पूर्ववर्त्ती या परवर्त्ती दोनों प्रकार के व्यंजनों के संयोग से ह् में परिवर्त्तन होता है,साथ ही पार्श्ववर्त्ती वर्ण में भी विकृति होती है। दुह् + त = दुग्ध[2] बन जाता है, अर्थात् यहाँ ह् का घ तथा त् का ध हो गया। इसी प्रकार, मुह् + त = मूढ[3] बन जाता है। यहाँ ह् का ढ तथा त् का ध् फिर ढ् हो जाता है। नह् + ध = नद्ध[4] बन जाता है। यहाँ ह् का ध् , त् का भी ध् , फिर पूर्ववर्त्ती ध् का द् हो जाता है। इस प्रकार, किसी भी वर्ण के सम्पर्क में रहने पर ह् के स्थान में चतुर्थाक्षर ही होता है, उसके समीपवर्त्ती वर्ण में भी अगर विकृति होती है, तो वह भी चतुर्थाक्षर ही होता है। पाणिनि ने कुछ स्थलों में बिना किसी वर्ण-सान्निध्य के भी ह् के स्थान में चतुर्थाक्षर बताया है; जैसे हन् के ह् का ध् होकर संघ[5] उद्घ, घातक[6] आदि बने हैं। हृ और ग्रह् के ह् का भ् हो जाता है, तो वेद में गृभाय, जभार आदि[7] बनते हैं। ह् के स्थान में द्वितीयाक्षर विरल है, 'आत्थ' 'आह्[8] + थ'। आधुनिक भाषाओं में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें तृतीय वर्ण और ह् दोनों मिलकर एक चतुर्थ वर्ण में परिणत हो जाते हैं, जैसे गदहा = गद्हा = गधा; सब ही = सब् ही = सभी आदि। परन्तु, द्वितीय वर्ण सदा श् ष् स् के ही मिश्रण से बनते हैं[9], ह् के नहीं, जैसे शुष्क = सूखा, रूक्ष = रूखा, पश्च का पीछा, अष्ट का आठ, वत्स का बाछा, हस्त का हाथ, बाष्प का भाफ आदि। बाष्प शब्द में पहले व् का ब् हो जाता है; जैसे वार्त्ता से बात, वश से बस आदि बनते हैं। फिर ष् के सम्पर्क से जिस भाँति प्रथमाक्षर प् फ् बन जाता है, उसी भाँति तृतीयाक्षर ब् भ् हो जाता है। अर्थात्, श् ष् स् के सम्पर्क से भी तृतीयाक्षर के चतुर्थाक्षर बन जाने के उदाहरण मिलते हैं। अतः, यह कहना कि द्वितीय तथा चतुर्थ दोनों वर्गीय वर्णों में ह् का ही संसर्ग है, सर्वथा असंगत है। इनमें सोष्मता या महाप्राणता के कई स्रोत हैं।

दूसरी बात यह कि ऊष्म वर्णों के संसर्ग का यह अर्थ नहीं कि सभी द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण संयुक्त या सन्धिव्यंजन हैं। जिस प्रकार अ इ मिलकर ए (जैसे सुरेन्द्र) और अ उ मिलकर ओ (जैसे सूर्योदय) बन जाते हैं, उस प्रकार ख छ ठ थ फ या घ झ ढ ध भ नहीं बनते हैं। ए ओ ऐ औ को सभी प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञों ने सन्ध्यक्षर माना है : इमानि सन्ध्यक्षराणि[10]; पर इन्हें किसी ने सन्धिव्यंजन नहीं कहा है। जैसा

---

१. चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरितिवाच्यम्, ८।४।४८ का वार्त्तिक। २. सू० ८।२।३२।
३. ८।२।३३। ४. ८।२।३४। ५. ३।३।८६। ६. ७।३।५४। ७. हृग्रहोर्भश्छन्दसि (वार्त्तिक)।
८. हिन्दी में भी एक उदाहरण है, गुहा = गुफा। ९. ष्करकक्षां खः, श्चत्सप्सांच्छः।
१०. एओङ , ऐऔच् सूत्रस्थ भाष्य।

कि ऊपर बताया गया है, संस्कृत में कहीं ग् तथा ह् के मिलने से घ् नहीं बनता। 'हिन्दी-शब्दानुशासन' ख् तथा घ् को सन्धिव्यंजन भी नहीं, संयुक्त व्यंजन मानता है। क्या क्त, क्य आदि की तरह ही ये संयुक्त हैं? यह असम्भव है।

एक बात और। सुर + इन्द्र में अ और इ मिलकर ए बना है, एक + एक में अ और ए मिलकर ऐ, सूर्य + उदय में अ तथा उ मिलकर ओ और जल + ओघ में अ और ओ मिलकर औ। इसका यह अर्थ नहीं कि हर जगह ये चारों सन्ध्यक्षर दो स्वतन्त्र वर्णों के योग से ही बने हैं। महाभाष्य में सन्ध्यक्षरों का जो विश्लेषण किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि सन्ध्यक्षरों के अ इ उ स्वतन्त्र अ, इ, उ की जाति के नहीं, भिन्न वर्ण ही हैं। मौलिक स्वतन्त्र अ इ उ की अपेक्षा इन अंगभूत वर्णों की मात्राएँ भी भिन्न हैं, प्रयत्न भी। इन चारों में मिला हुआ अ एक मात्रा से कम का है तथा इ या उ एक मात्रा से अधिक[1] का, और तीनों विवृत नहीं, विवृततर हैं : **यदत्रावर्णम् विवृततरं तदन्यस्मादवर्णात्। ये अपीवर्णोवर्णे विवृततरे ते अन्याभ्यामिवर्णोवर्णाभ्याम्।**[2] इसकी टीका में प्रदीप ने स्पष्ट कर दिया हैं कि स्वतन्त्र अकारादि से सन्ध्यक्षरस्थ अकारादि का सावर्ण्य नहीं हैं : **तत्र प्रयत्नभेदादसावर्ण्यादकारेण सन्ध्यक्षरावयवस्य ग्रहणं नास्तीत्यर्थः।** एक, ऐक्य, ओषधि, औषध आदि के ए, ओ, ऐ, औ सन्धि-निष्पन्न नहीं, एकाकी हैं।

पहले दिखा आये हैं कि ऋक्प्रातिशाख्य ने ए ऐ को तालव्य तथा ओ औ को ओष्ठ्य माना है।[3] इनके कण्ठ्यत्व अंश की उपेक्षा कर दी है; क्योंकि इनमें अ का अंश अल्पतर तथा गौण है। स्वतन्त्र अ $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{2}$ मात्रा का तथा इ और उ $1\frac{3}{4}$ या $1\frac{1}{2}$ के सम्भव नहीं हो सकते। पाणिनिशिक्षा में भी ए ओ को शेष स्वरों से विवृततर और ऐ औ को विवृततम बताया गया है।[4] अ की मात्रा अत्यल्प होने से ही कहीं भी एच् का ह्रस्व अ नहीं होता। **एच इग्घ्रस्वादेशे**[5] इस तथ्य का ही अनुवादक है। वास्तव में, सन्ध्यक्षर के अ इ उ वर्णमाला के स्वतन्त्र अ, इ उ के तुल्य दीखनेवाले अपूर्ण ध्वनिखण्ड हैं, जिनके मिश्रण से एक पूर्ण ध्वनि सन्ध्यक्षर बनता है।

जैसे 'सुरेन्द्र'[6] आदि स्थलों में अ तथा इ आदि के मिश्रण से एक सन्ध्यक्षर तैयार होता है, तो यह भी कह सकते हैं कि वागीश में क् का ही ग् बना है[7] तथा वाङ्मय[8] में ङ्। तब क्या यह कहना ठीक होगा कि सभी तृतीय तथा पंचम वर्ण भी मौलिक नहीं, प्रथम वर्ण के विकार हैं, अतः सन्धिव्यंजन हैं? यह गलत दृष्टिकोण है। वैसे तो कवर्ग का चवर्ग[9], चवर्ग का कवर्ग[10], तवर्ग का चवर्ग[11] तथा टवर्ग[12] आदि भी विकार होते हैं।

---

१. एङः सस्थानत्वात्, ऐचोश्चोत्तर भूयस्त्वात्, वही। २. वहीं। ३. १४२ तथा ४७।
४. श्लोक २१। ५. १।१।४८। ६. आद् गुणः, ६।१।८७। ७. ८।२।३९। ८. ८।४।४५।
९. कुहोश्चुः, ७।४।६२। १०. चो: कुः, ८।२।३०। ११. ८।४।४०। १२. ८।४।४१।

इस प्रकार, विचार करें, तब तो सभी वर्ण सन्ध्यक्षर ही दीखेंगे, केवल अ ही मौलिक अक्षर मूल मातृका, है, जिसे कृष्ण ने गीता में कहा है : अक्षराणामकारोऽस्मि ।[1] यह तो स्पष्ट है कि खादति का ख्, गच्छति का ग्, घर्म का घ् क् से नहीं बना है, मौलिक है। इसी भाँति एधते, वेष्टते, एजति का ए; लोकते, ओखति आदि का ओ; ढौकते आदि का औ सन्धिकृत नहीं, मौलिक हैं। इ उ के दीर्घ रूप हैं ई ऊ, गुण-रूप (अ के खण्ड से गुणित) हैं ए ओ तथा वृद्धिरूप (वर्धित) हैं ए औ। ये संयुक्त स्वर नहीं। आज की भाषाओं में प्रयुक्त ए औ को तो अब अधिकांश भाषाविद् मौलिक (सन्ध्यक्षर नहीं) वर्ण मानने ही लगे हैं। ठीक इसी भाँति क् का महाप्राण रूप है ख्, संवृत नाद घोष-रूप है ग् तथा संवृत नाद घोष महाप्राण-रूप है घ्, ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा, ये सन्धि-व्यंजन नहीं हैं।

इसलिए, जैसे अ और इ के मिलने से ए बनता है, पर वह अ और इ वर्णमाला के अ तथा इ नहीं, तत्सदृश वर्णखण्ड है, भिन्न अपूर्ण ध्वनियाँ हैं, उसी तरह प्रथम तथा तृतीय स्पर्शवर्ण जिन ऊष्मों के संयोग से द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर बनते हैं, वे ऊष्म ध्वनियाँ वर्णत्व को प्राप्त वर्णमाला के पूर्ण वर्ण नहीं, अपितु तत्सदृश वर्णखण्ड हैं, जिन्हें हम सादृश्य-मात्र से ऊष्म वर्ण कहकर पुकारते हैं। इस तरह ग्+ह्=घ् का अर्थ हुआ कि ग् सदृश ध्वनि के साथ ह् सदृश ध्वनि के योग से एक मूल पूर्ण ध्वनि घ् की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार स्वरभक्ति के अ, इ, उ की पृथक् गणना नहीं हैं; क्योंकि वे अपूर्ण अस्पष्ट ध्वनियाँ हैं, उसी प्रकार इन अस्पष्ट ऊष्मों का अलग गणना नहीं की गई है।

बहुत से आचार्यों का यह स्पष्ट मत है कि न तो ग ज ड द ब में किसी वर्ण के योग से घोषता आई है, न ही ख छ ठ थ फ या घ झ ढ भ में किसी के योग से ऊष्मता।[2] घोषता और ऊष्मता इन वर्णों की अपनी वस्तु है, जो इनकी ध्वनि के साथ ही उत्पन्न हुई है।

१५. सूत्र १३।३७ से ऐसा आभास मिलता है कि ऋक्प्रातिशाख्य में आनुनासिक्य और अनुस्वार में विवेक नहीं हो पाया है। सूत्र १३।१५ से भी इसका समर्थन होता है, जिसमें अनुनासिकों में अनुस्वार द्वारा घोषता की बात कही गई है। १३।३२ तथा १३।३३ का यह कहना[3] है कि जहाँ अनुस्वार से पहले ह्रस्व स्वर है, वहाँ ह्रस्व में से आधी मात्रा, १।४ मात्रा या १।८ मात्रा की स्वरभक्ति निकल जाती है, और उनकी मात्रा अनुस्वार में जुट जाती है तथा जहाँ अनुस्वार के पहले दीर्घ वर्ण है, वहाँ अनुस्वार में से ही आधी स्वरभक्ति की मात्रा निकलकर दीर्घ स्वर में जुट जाती है। जैसे क्रमशः त्वं च राजेन्द्र[4] तथा गवां शता[5]। यह विश्लेषण बड़ा विचित्र लगता है। यह तो पहले

१. १०।३३।
२. अत्रोत्पन्नावपर ऊष्मघोषौ, १३।१८।
३. ह्रस्वमर्धस्वरभक्त्यासमाप्तामनुस्वारस्योपधामाहुरेके, अनुस्वारं तावतैवाधिकं च ह्रस्वोपधम्, ३२, तथा दीर्घपूर्वं तदूनम्, ३३।
४. ऋ० १।१७४।१।
५. ऋ० १।१२२।७।

भी बताया जा चुका है कि ह्रस्व के बाद आनेवाला अनुस्वार दीर्घ तथा दीर्घ के बाद आनेवाला ह्रस्व होता है, किन्तु यह विश्लेषण तो विलक्षण है, 'त्वं' में अ में आधी तथा अनुस्वार में १॥ मात्राएँ हैं, और 'गवां' में २॥ मात्राएँ आ में और आधी अनुस्वार में है। यह स्थिति विचित्र है। अ या कोई स्वर अर्धमात्रिक भी रह सकता है और २॥ मात्रा-वाला भी १ और १॥ मात्राएँ रहने पर भी अनुस्वार को दीर्घ कहते हैं, तथा आधी मात्राएँ रहने पर भी ह्रस्व। तब तो इसका यह अर्थ हुआ कि ह्रस्व में १ मात्रा तथा दीर्घ में २ मात्राओं का रहना अनिवार्य नहीं है, और स्वरों का उच्चारण सब स्थितियों में तुल्य मात्रा का नहीं है। जहाँ १ या १ से कम मात्रा लगे, उसे ह्रस्व कहेंगे और जहाँ १ से अधिक मात्राएँ लगें, उसे दीर्घ। इस परिभाषा से व्यंजन भी ह्रस्व माने जाते हैं, परन्तु एक से अधिक मात्रा का व्यंजन नहीं हो सकता; अतः व्यावर्त्त्य के अभाव से उनके साथ ह्रस्व का प्रयोग नहीं होता। सूत्र १३।३६ में बताया गया है कि ऊपर जो कहा गया है[१] कि ऋग्वेद में दीर्घ के बाद अनुस्वार के ये परिगणित स्थल ही हैं, वह केवल पदमध्यस्थ अनुस्वार के लिए, अन्यथा पद के अन्त में तो दीर्घ के बाद आनेवाले अनुस्वार के बहुत-से उदाहरण हैं। सूत्र १३।३७ के अनुसार[२] व्याडि सर्व अनुस्वार को नासिकास्थानीय या मुख-नासिकोभयस्थानीय दोनों मानते हैं। यहाँ उवट ने नासिकास्थानीय के उदाहरणों में **त्वां राजानम्,**[३] **त्वं राजेन्द्र**[४], **अंसेषु वः**[५], **हवींषि**[६], इन सब स्थलों में अनुस्वार दिखाया है और मुखनासिकोभयस्थानीय के उदाहरणों में त्वाँ **राजानम्,** त्वँ राजेन्द्र, अँसेषु वः, हवीँषि, इन सबमें अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु)। वे अनुस्वार को नासिक्य तथा चन्द्र-बिन्दु को अनुनासिक कहते हैं। इस उक्ति से यह बात समझ में आ जाती है कि क्यों ऋक्प्रातिशाख्य में यत्र-तत्र अनुस्वार तथा अनुनासिक पर्याय की तरह प्रयुक्त हैं। लगता है, पहले हर अनुस्वार की जगह अनुनासिक का तथा अनुनासिक की जगह अनुस्वार का भी प्रयोग होता था। यह अभी सूत्र १३।२७ तथा १३।१५ में भी बता आये हैं। हिन्दी में आज भी नदियों, नदियोँ दोनों विवरण चलाये जाते हैं।

१६. तेरहवें पटल के ३४।३५ में ऋ ऌ का विश्लेषण किया गया है।[७] "ऋ में रेफ है, परवर्ती में अर्थात् ॠ में भी पूर्वार्द्ध में रेफ है। ॠ का र् ऋ के र् से ह्रस्वतर है या तुल्यमात्रिक। यह र् मध्य में है।" इस उक्ति से निम्नांकित बातें सामने आती हैं :

(क) ऋ शुद्ध स्वर नहीं है। इसमें र् का अंश मिला है। यह पहले कह चुके हैं कि प्रशास्तृणाम्[८] आदि प्रयोगों से यह सिद्ध है कि पाणिनि भी ऋ में र् का अंश मानते हैं। इसीलिए, पाणिनि ने **रषाभ्यां नो णः समानपदे**[९] में ऋ का ग्रहण नहीं किया, यद्यपि

---

१. सूत्र १३।२८।

२. व्याडिर्नासिक्यमनुनासिकं वा, ३७।

३. ऋ० २।१८।

४. ऋ० १।१७४।१।

५. ऋ० ५।५४।११।

६. ऋ० १०।६।३।

७. रेफोऽस्त्यकारे च परस्य चार्धे पूर्वे ह्रसीयाँस्तु न वेतरस्मात्, मध्ये सः, १३।३४; तस्यैव लकारभावे धातौ स्वरः कल्पयताव्लृकारः, १३।३५।

८. ६।४।११। ९. ८।४।१।

नृनमन में णत्व रोकने के लिए उसे 'क्षुभ्नादिगण[1]' में पढ़ दिया। ऋक्प्रातिशाख्य ने णत्वविधान के अवसर पर[2] तो र के अतिरिक्त ऋ को भी नति का कारण माना, किन्तु यहाँ आकर स्पष्ट घोषित किया कि ऋ में स्वयं भी र् का अंश वर्त्तमान है।

(ख) ऋ में जो यह र् का अंश है, वह मध्य में है। अर्थात्, आदि तथा अन्त में स्वर का अंश है और मध्य में र् का। स्वरों से घिरा रहने के कारण इसका व्यंजनत्व इतना तिरोहित हो जाता है कि इसे शुद्ध स्वर-सा ही मान लिया गया है।

(ग) ऋ में कुल १ मात्रा है। तभी यह ह्रस्व और लघु कहा जाता है। किन्तु १ मात्रा तो केवल स्वर के लिए ही चाहिए, और इसमें तो तीन खण्ड हैं, प्रथम खण्ड स्वर का, द्वितीय र् का, तृतीय फिर स्वर का। इसका यह अर्थ हुआ कि ऋ के प्रथम तथा तृतीय खण्ड स्वर नहीं स्वरभक्ति हैं।

(घ) ॠ में यह र् पूर्वार्ध में ही है। अर्थात्, द्विमात्रिक दीर्घ ॠ में पहली मात्रा में ही क्रमशः स्वरभक्ति, र् तथा स्वरभक्ति तीनों का मिश्रण है, दूसरी मात्रा पूर्णतः शुद्ध स्वर है।

(ङ) दीर्घ ॠ में जो र् है, वह ह्रस्व ऋ के र् की अपेक्षा ह्रस्वतर है, अथवा उतना ही है। इस उक्ति से इस निष्कर्ष का समर्थन होता है कि व्यंजनों को भी एकमात्रिक से कम होने पर भी ह्रस्व कह सकते हैं। ऋ में र् का अंश है, यह तो ए ओङ् ऐ औच् के भाष्य (महाभाष्य) ने भी माना है, परन्तु ऋ की रचना का ऐसा विश्लेषण फिर ऋति सवर्णे ॠ वा इस वार्त्तिक का अर्थ करते हुए भट्टोजिदीक्षित ने ही अकः सवर्णे दीर्घः[3] में प्रस्तुत किया है। दीक्षित ने लिखा है कि होतृ + ऋकारः यहाँ वार्त्तिककार के मत में जो दो ह्रस्व ऋकारों के स्थान में एक ॠ हो रहा है, वह है तो द्विमात्रिक ही, परन्तु उसके मध्य में दो र् हैं, उनकी एक मात्रा हुई तथा दोनों ओर आधी मात्रा की दो स्वरभक्तियों की एक मात्रा हुई, इस प्रकार इन चारों खण्डों को मिलाकर दो मात्राएँ पूरी हुईं। यह ॠ होने पर दीक्षित ने होतृ + ऋकारः = होतृकारः ही लिखा है, होतॄकारः नहीं। सम्भवतः, दीक्षित का यह तात्पर्य है कि इस वर्ण के द्विमात्रिक होने पर भी इसमें स्वरांश तो एकमात्रिक ही है, अतः इसे दीर्घ नहीं कहेंगे। यह तो उन्होंने कात्यायन का आशय बताया। पाणिनि के अनुकूल तो उन्होंने होतृ + ऋकारः = होतॄकारः लिखा है, यहाँ ॠ दीर्घ रखा है। पर, यह स्पष्ट नहीं है कि इस दीर्घ ॠ में कितना अंश र् का कितना स्वर का है। ऋक्-प्रातिशाख्य-सम्मत दीर्घ ॠ में तो र् की मात्रा आधी या इससे भी कम है, शेष १॥ या कुछ ज्यादा ही स्वर की ही मात्रा है।

ऌ का भी ठीक यही विश्लेषण[4] है, केवल र् की जगह ल् है, बस इतना ही अन्तर है। यह ऌ केवल क्लृप् धातु में मिलता है। उवट ने कहा है कि चाक्लृप्रे तेन

१. ८।४।३९।
२. ५।४०।
३. स्वरसन्धि, ६।१।१०१।
४. १३।३५।

ऋषयो मनुष्याः[1] यहाँ क् का द्वित्व इसलिए नहीं होता कि वह स्वर से परे तो है, पर बाद में व्यंजन नहीं है, ऌ का पूर्वभाग स्वरभक्ति है, अच् है और प् का द्वित्व होता है; क्योंकि वह ऌ के उत्तर भाग स्वरभक्ति से परे भी है और बाद में भी र् व्यंजन है। अर्थात् इस स्वरभक्ति का भी अच् से ग्रहण होता है। ऋति सवर्णे ऋ वा के साथ दीक्षित ने कात्यायन के ॡति सवर्णे ॡ वा का भी ठीक उसी भाँति विश्लेषण किया है। यहाँ मध्य में दो रेफों की जगह दो लकारों की एक मात्रा, पूर्वोत्तर स्वरभक्तियों की दूसरी मात्रा है।

वैसे उच्चारण से तो लगता है कि ऋ में पहले र्, बाद में इ (र् + इ) तथा ऌ में पहले ल्, फिर ऋ (ल् + र् + इ) है। फिर र् और ल् के पूर्व भी स्वरभक्ति माननी ही पड़ेगी, अन्यथा इनके परे रहने पर अचकार्य कैसे होगा? जैसे: रेफः + अस्ति + ऋकारे = रेफोऽस्त्यृकारे यहाँ ऋ के परे इ का यण् तथा कल्पयतौ + ॡकारः = कल्पयतावॢकारः यहाँ ऌ के परे औ का आव् कैसे होगा? वेदों, उपनिषदों में भी ऐसी सन्धि के उदाहरण बहुत मिलते हैं। सन्ध्यक्षरों के विश्लेषण में इतनी उक्तियाँ हैं:

(क) कुछ आचार्यों[2] का कहना है कि सन्ध्यक्षर सन्धिज हैं और वर्णों की भाँति मौलिक नहीं। यह निश्चय इसलिए होता है कि दोनों युग्म द्विस्थानीय हैं, अर्थात् ए ऐ कण्ठतालव्य तथा ओ औ कण्ठोष्ठ्य हैं।

(ख) शाकटायन[3] का मत है कि इनमें प्रथम-तृतीय, अर्थात् ए तथा ऐ प्रथमार्ध अकार, द्वितीयार्ध इकार है, और ओ औ में प्रथमार्ध अकार, द्वितीयार्ध उकार है।

(ग) अ[4] की तथा इ या उ की मात्राएँ क्रमशः ए तथा ओ में इस प्रकार दूध-पानी की तरह मिल गई हैं कि कहाँ अ है, कहाँ इ उ की मात्राएँ हैं, इसका विवेक नहीं हो पाता। इसीलिए, ए ओ में अ इ उ की मात्राओं की पृथक्-पृथक् श्रुति नहीं प्रतीत होती, एक संश्लिष्ट ध्वनि-सी सुनाई पड़ती है। इसीलिए, ए ओ का उच्चारण ऐ औ से भिन्न प्रतीत होता है।

(घ) दूसरे[5] आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार ह्रस्व स्वर के बाद आये अनुस्वार के स्थल में पूर्व स्वर अर्धमात्रिक या पादोनमात्रिक तथा अनुस्वार सार्धमात्रिक या सपादमात्रिक होता है, उसी तरह ऐ औ में अ की मात्रा कम, इ उ की मात्रा अधिक है, दोनों बराबर एकमात्रिक नहीं हैं। उवट का यहाँ कहना है कि इन आचार्यों के अनुसार चूँकि इन दोनों में अ की तथा इ उ की मात्रा में वैषम्य है, अतः इनमें दोनों भागों का क्षीरोदकवत् संसर्ग नहीं होता, दोनों का पृथक्-पृथक् श्रवण होता है।

स्थाननिर्देश-प्रकरण में इन्हें एकस्थानीय (क्रमशः तालव्य तथा ओष्ठ्य) कहा गया है, और यहाँ द्विस्थानीय। शौनक इन्हें न सन्ध्यक्षर मानते हैं और न द्विस्थानीय,

---

१. ऋ०, १०।१३०।६।
२. सन्ध्यानि सन्ध्यक्षराण्याहुरेके द्विस्थानतैतेषु तथोभयेषु, १३।३८।
३. सन्ध्येष्वकारोऽर्धमिकार उत्तरं युजोरुकार इति शाकटायनः, १३।३९।
४. मात्रासंसर्गादवरेऽपृथक्श्रुती, १३।४०।
५. ह्रस्वानुस्वारव्यतिषङ्गवत्परे, १३।४१।

अतः 'एके' कहते हैं, अर्थात् कुछ लोगों का ऐसा विचार है। इसलिए, यह बात स्थाननिर्देश-प्रकरण में नहीं बताकर यहाँ कही गई। जो इन्हें सन्ध्यक्षर तथा द्विस्थानीय मानते हैं, वे भी ए ऐ तथा ओ औ में परस्पर ध्वनिभेद के दो कारण कहते हैं। एक तो यह कि यद्यपि चारों में पहली एक मात्रा अ की तथा दूसरी एक मात्रा इ या उ की है; परन्तु ए ओ में यह मिश्रण दूध-पानी की भाँति है, अतः उनमें अ इ उ के पौर्वापर्य का सीमा का विवेक नहीं हो पाता, दोनों खण्ड पूरी तरह संसृष्ट हो जाते हैं, ऐ औ में यह मिश्रण क्षीरोदकवत् नहीं, अतः इनमें पूर्व-उत्तर खण्डों का विवेक हो जाता है। दूसरा यह कि ए ओ में पूर्व तथा उत्तर दोनों खण्ड तुल्य मात्रा के हैं, अतः उनमें क्षीरोदकवत् मिश्रण सम्भव होता है, परन्तु ऐ औ में प्रथम खण्ड न्यूनतर मात्रा का है, उत्तर खण्ड अधिकतर मात्रा का, अतः इन दोनों में दूध-पानी-सा पूर्ण मिश्रण हो ही नहीं पाता, कुछ पार्थक्य रह ही जाता है। महाभाष्य में कात्यायन का **ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्**[1] कथन इसी का समर्थक है।

१८. वाणी के तीन स्थान[2] हैं : मन्द्र, मध्यम तथा उत्तम। पाणिनिशिक्षा में उत्तम को तार कहा गया है। इन तीन स्थानों में ही सप्तविध यम भी प्रतिष्ठित हैं। गान्धर्व वेद में इन यमों के नाम हैं : षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद[3]। सामवेद में ये सात हैं—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र अतिस्वार्य[4]। कुछ लोग मृदुत्व, तीक्ष्णत्व आदि भिन्न ही यम बताते हैं। वाणी की वृत्तियाँ भी तीन[5] ही मानी गई : विलम्बित, मध्यम तथा द्रुत। किस वृत्ति से कौन-सा कार्य करना चाहिए, यह अन्यत्र[6] स्पष्ट है। पूर्व-पूर्व वृत्ति में उत्तरोत्तर वृत्ति से अधिक मात्राएँ ३ या ४ लगती हैं। अभ्यास के लिए द्रुत वृत्ति, प्रयोग के लिए मध्यम तथा शिष्यों को उपदेश देने के लिए विलम्बित वृत्ति का व्यवहार करना चाहिए। नीलकण्ठ[7] की बोली १ मात्रा की, कौए की २ मात्राओं की तथा मुरगे (अथवा मयूर) की ३ मात्राओं की होती है। इनसे ही मात्राओं का अन्दाज लग सकता है।[8] ये सब तत्त्व वाणी को छन्दोमय काव्य तथा रागमय गीत में परिणत करने के साधन हैं।

१९. बारहवें पटल में विविध विषय हैं। यह पटल वैदिक तथा लौकिक ध्वनि-विज्ञान का अच्छा अध्ययन-विश्लेषण प्रस्तुत करता है। विसर्जनीय भिन्न ऊष्म वर्ण,

---

१. महाभाष्य में 'ए ओङ्' 'ऐ औच्' की व्याख्या में।
२. इसकी चर्चा पाणिनिशिक्षा के श्लोक ८, ३६, ३७ में है।
३. पाणिनिशिक्षा में श्लोक १२ में इसका वर्णन है।
४. तै० प्रा०, २३।१२ में वर्णित।
५. यह याज्ञवल्क्यशिक्षा में वर्णित है, पाणिनीय में नहीं।
६. यह भी वहीं है।
७. यह पाणिनिशिक्षा श्लोक ४९ में कुछ परिवर्धन के साथ है। इसमें नकुल की अर्धमात्रिक वाणी का भी योग है।
८. ४२ से ५० तक इन सब बातों की ही विवेचना है।

अन्तस्थ, ऋ, महाप्राण वर्ण तथा चवर्ग में २७ वर्ण कभी पद के अन्त में नहीं आते।[1] वास्तव में, पदान्त ह् चवर्ग या श् का कवर्ग या टवर्ग, ष् का टवर्ग या रुत्व विसर्ग, स् तथा र् का विसर्ग, महाप्राण का अल्पप्राण जश्त्व या चर्त्व हो जाता है, शेष वर्ण अन्त में आते ही नहीं हैं। ॠ, ॡ, अन्तिम चार ऊष्म (ँ ॅ क ॅ प अं) झ ञ ट ठ ड ढ ण ये १३ वर्ण पद के आदि में कभी नहीं आते।[2] यद्यपि झटिति, टका, डमरु, ढक्का आदि में इनमें से कुछ पदादि रूप में प्राप्त होते है, किन्तु यह उक्ति विशेषतः ऋचाओं में आये पदों के लिए है, या प्रायोवाद है। सूत्र ३ से १६ तक यह बताया गया है कि अमुक वर्ण अमुक वर्ण के साथ नहीं आते; जैसे चवर्ग, टवर्ग और तवर्ग परस्पर[3] संयुक्त नहीं होते इत्यादि। किन्तु, ये सभी नियम ऋचाओं के एक पद के लिए हैं, जहाँ दो पदों का संयोग होगा, वहाँ ऐसे सन्धिस्थल मिल जायेंगे। **होतारं रत्नधातमम्**[4] में प्रथम पद अनुस्वारान्त ही है, यद्यपि १२।२ ने ऐसी स्थिति का निषेध किया है। **हव्यवाड् जुह्वास्यः**[5] में ड् और ज् इस टवर्ग-चवर्ग का संयोग भी प्राप्त है। लोक में तो षट्त्व, षड्ज आदि में एकपद में भी इनका संयोग मिल जाता है। पाणिनि ने भी **स्तोः श्चुनाश्चुः**[6], **ष्टुनाष्टुः**[7] आदि कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि तवर्ग, चवर्ग तथा टवर्ग के साथ रहकर कभी अपनी स्थिति कायम नहीं रख सकता। ऋक्-प्रतिशाख्य का यह पूरा प्रकरण विस्तृत और श्रमपूर्ण अध्ययन का तो परिणाम है ही, साथ ही अनेक भाषावैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटक भी है। इसके अधिकांश वक्तव्य व्यंजनसन्धि का मूल कारण बतानेवाले हैं।

२०. अनुनासिकतापत्ति :

प्रातिशाख्यों में एक-एक वर्ण का विश्लेषण ही नहीं, वर्णविकार (ध्वनि-विकार) और सन्धि का भी विस्तार से वर्णन है, शिक्षा से इस वाङ्मय का यह मुख्य अन्तर है। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

आदि के आठ स्वर, अर्थात् अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ यदि अवसान में आयें और प्रगृह्य संज्ञक नहीं रहें, तो उनका अनुनासिक[8] हो जाता है, जैसे **ईड्यो नूतनैरुतँ**[9], **इन्द्रवो वामुशन्ति हिँ**।[10] यह पाणिनि के **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः**[11] का समानार्थक है। एक अन्तर यह है कि पाणिनि ने ऋ ॠ का (जैसे कर्तृ) अनुनासिकत्व नहीं किया हैं; किन्तु इस सूत्र ने उनका भी अनुनासिकत्व माना है। उवट ने अपने भाष्य में उपर्युक्त दो ही उदाहरण दिये हैं, जो अवर्ण तथा इवर्ण के हैं। शेष वर्णों के उदाहरण मृग्य हैं।

---

१. ऊष्मान्तस्थसोष्मचकारवर्गा नान्तं यान्त्यन्यत्र विसर्जनीयात्, १२।१।
२. ॠकारल्कारौ परमर्धमूष्मणां नादिं तकारादवरे च सप्त, १२।२।
३. नान्योन्येन मध्यमा स्पर्शवर्गाः संयुज्यन्ते।
४. ऋ० १।१।१। ५. ऋ० १।१२।६। ६. ८।४।४०। ७. ८।४।४१।
८. अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान्, ६३।
९. ऋ० १।१।२। १०. ऋ० १।२।४। ११. अष्टा० ८।४।५७।

संस्कृत-भाषा में अनुनासिकतापत्ति के निम्नांकित स्थल वर्णित हैं :

(क) आगे पदादि अथवा प्रत्ययादिभूत पंचम वर्णों के आने पर वर्गीय चार वर्णों के स्थान में, जैसे **जगत्+नाथ=जगन्नाथ,** ऐसा विकल्पित रूप अथवा **वाक्+मय= वाङ्मय** ऐसा अनिवार्य रूप[1]।

(ख) न् या म् के स्थान में र् करने पर पूर्ववर्त्ती स्वर पर ऐच्छिक रूप से अनुस्वार या अनुनासिक का आगम होता। पाणिनि का नियम है : **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा**[2], जैसे न् का र् करने पर **महाँ इन्द्रः, चक्रिँस्त्रायस्व** आदि ; म् का र् करने पर **सँस्कृतम्, पुँस्कोकिलः** आदि।

(ग) आगे वर्गीय[3] वर्ण या य् व् ल्[4] आने पर अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण अनुनासिक; जैसे **शं + करः = शङ्करः, तं + लोकम् = तँल्लोकम्।**

(घ) र् द् आदि[5] के बाद आये निष्ठा-प्रत्यय के त् का नत्व आदि; जैसे **कॄ + त = कीर्ण, छिद् + त = छिन्न** आदि।

(ङ) अन्त में आये[6] अप्रगृह्य अण् का अनुनासिकत्व; जैसे : **दधिँ, मधुँ** आदि। अथवा 'आ' उपसर्ग का मध्य में ही अनुनासिकत्व **गभीर आँ उग्रपुत्रे** आदि।[7] इनमें प्रथम स्थिति में एक अनुनासिक व्यंजन के सान्निध्य से दूसरा अननुनासिक भी अनुनासिक बन जाता है। यह सन्धि के कारण हुआ, ऐसा समझ में आता है। टवर्ग और चवर्ग का प्रभाव जैसे तवर्ग पर पड़ता है, उसी भाँति अनुनासिक का प्रभाव भी दूसरे वर्ण पर पड़ना स्वाभाविक है, कुछ लोग 'आम' को 'आँम', 'हाथियों' को हाँथियों' बोलते ही हैं। दूसरी स्थिति में जहाँ न् या म् का र् हो जाता है, वहाँ एक अनुनासिक वर्ण के नष्ट हो जाने से उसकी क्षतिपूर्त्ति के लिए पूर्ववर्त्ती वर्ण में अनुनासिकता आ सकती है। यह भी तर्कसंगत लगता है। तीसरी स्थिति में तो एक अनुनासिक (अनुस्वार) के स्थान में दूसरा अनुनासिक हो जाता है, यह तो साधारण ही बात हुई। पर, चौथी स्थिति में कुछ विलक्षणता है, निष्ठा के त् का न् क्यों होता है? धूर्त्त, मूर्त्त आदि की तरह **जीर्त** और **शीर्त** न होकर **जीर्ण** और **शीर्ण** क्यों हुआ? **वित्त, भित्त** की तरह **छित्त** क्यों नहीं हुआ, **छिन्न** कैसे हुआ? **त्रात** नहीं होकर **त्राण** कैसे हो गया? अनुनासिकता के प्रति यह आसक्ति क्यों? परन्तु, पाँचवीं स्थिति तो और भी आश्चर्यप्रद है। किसी भी पद के अन्त में आये अप्रगृह्य अ, इ, उ का अनुनासिक क्यों हो जाता है? चौथी स्थिति में तो कम-से-कम 'त' के 'नत्व' के लिए किसी विशेष वर्ण के सान्निध्य की भी अपेक्षा है,

१. अष्टा० परोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा, ८।४।४५।
२. वहीं का वार्त्तिक—'प्रत्यये भाषायां नित्यम'।
३. ८।३२।
४. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, ८।४।५८; वा पदान्तस्य, ८।४।५९।
५. वहीं का वार्त्तिक—'यवलपरे यवला वा'।
६. रदाभ्यां निष्ठातोनः पूर्वस्य च दः, ८।२।४२।
७. ८।४।५७। ८. आङोनुनासिकश्छन्दसि, ६।१।१२६।

यहाँ तो वह भी नहीं। शुद्ध शब्द उत, हि आदि का उच्चारण उतँ, हिँ आदि हो जाता है। ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा तथा याज्ञवल्क्यशिक्षा कहती है कि सौराष्ट्र नारियाँ तक्र को तक्रँ कहती हैं। संस्कृत में अकारण ही अ इ उ को अनुनासिक बोलने की प्रवृत्ति कैसे इतनी बढ़ गई कि पाणिनि जैसे कठोर वैयाकरण को भी इसकी अनुमति देनी पड़ गई। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इसका रहस्य ढूँढ़ना चाहिए।

शाकल्य ऋषि के मतानुसारी प्लुत में ही यह अनुनासिकता[१] दिखाते हैं, सर्वत्र नहीं। जैसे : नत्वा भीरिव विन्दतीँ ३।[२]

२१. नमन :

अ से भिन्न स्वरों को 'नामी' कहते हैं।[३] वैसे नाम तो यह बड़ा सुन्दर है, अन्वर्थ है। जो दन्त्य को झुकाकर मूर्धन्य कर दे, वह वर्ण 'नामी' हुआ। ऋ स् तथा न् दोनों को मूर्धन्य बनाता है, शेष वर्ण केवल स् को। परन्तु, पाणिनि को इस भावुकता से क्या मतलब ? उन्होंने इस प्रत्याहार से पूरे षत्व-प्रकरण का काम ले लिया। साथ ही, इण् में ह् य् व् र् ल् ये स्वरभिन्न वर्ण भी आ गये, अतः अधिक लक्ष्यों की सिद्धि भी हो गई ; जैसे चतुर्षु आदि। नति को मूर्धन्य कहा और 'नम्य, नन्ता' आदि शब्दों की उपेक्षा कर दी। सूत्र ६६ ने एक भाषावैज्ञानिक पहलू पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। षत्व तथा णत्व दोनों स्थलों में पूर्ववर्ण ही परवर्ण को प्रभावित करता है, परवर्ण पूर्ववर्ण को नहीं। जैसे 'पठिष्यति' में इ के बाद आने से स् का ष् हुआ, परन्तु पठसि में इ के पहले आने पर स् का ष् 'पठषि' नहीं हुआ। इसी भाँति 'किरण' में र के बाद आने से न का ण हुआ; पर 'वानर' में र के पहले आने पर न का ण नहीं हुआ। वास्तव में वर्ण-परिवर्त्तन-स्थलों में परसवर्ण के ही उदाहरण अधिक पाये जाते हैं : भक्त = भत्त = भात, सप्त = सत्त = सात आदि। पूर्वसवर्ण के अत्यल्प; किन्तु नति-स्थल इसके अपवाद हैं। षत्व और णत्व दोनों पूर्ववर्णापेक्षी हैं, मित्र = मित्त = मीत, पक्व = पक्का आदि की भाँति।

२२. संहिता (पटल २) :

संहिता 'पदप्रकृति'[४] होती है। उवट ने इसकी व्याख्या की है कि पद ही संहिता की प्रकृति है। अर्थात्, पहले पद है, फिर उनके योग से संहिता या वाक्य बनता है। पदप्रकृति शब्द में बहुव्रीहि समास मानने पर यह अर्थ निकलेगा। किन्तु, कुछ भाषावैज्ञानिक इस पद में षष्ठीतत्पुरुष मानते हैं। अर्थात्, संहिता या वाक्य पदों की प्रकृति है, कारण है। पहले संहिता या वाक्य है। फिर, अध्ययनार्थ विश्लेषण कर पद बनाये गये हैं।

---

१. तत् त्रिमात्रे शाकला दर्शयन्त्याचार्यशास्त्रापरिलोपहेतवः, १।६४।
२. ऋ०, १०।१४६।१।
३. ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः, १।६५।
४. संहिता पदप्रकृतिः २।१।

२३. सन्धि :

सन्धि चार प्रकार की हो सकती है : (क) दोनों ओर स्वर रहे, (ख) दोनों ओर व्यंजन रहे, (ग) पहले व्यंजन पीछे स्वर रहे तथा (घ) पहले स्वर और पीछे व्यंजन रहे। इनमें यदि पहले स्वर तथा एषः, स्यः, सः, भी और बाद में व्यंजन रहे, तो उसे 'अनुलोम अन्वक्षर सन्धि'[1] कहते हैं। यदि व्यंजन पहले और स्वर बाद में आये, तो उसे 'प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि'[2] कहते हैं। अनुलोम और प्रतिलोम नामों तथा इनकी व्याख्या से यह आक्षिप्त होता है कि दोनों ओर स्वर या दोनों ओर व्यंजन रहने पर की गई सन्धि सजातीय सन्धि कही जायगी। लगता है, ग्रन्थकार ने सन्धि को विवाह तथा स्वर को उच्च वर्ण, व्यंजन को निम्नवर्ण, पूर्वत्व को पुरुषत्व तथा परत्व को नारीत्व के समान मानकर सजातीय, अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह की तरह सन्धियों के नामकरण किये हैं। इसमें साहित्यिक सौन्दर्य तो है ही, कुछ भाषिक स्वारस्य भी है।

२४. विभिन्न सन्धियों के नाम बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थः जहाँ दो व्यंजनों के संयोग में कोई परिवर्त्तन नहीं होता, उसे **अवशंगम**, जहाँ परिवर्त्तन हो जाता है, उसे **वशंगम** सन्धि कहते है। 'म्' का अनुस्वार होना **परिपन्न** सन्धि[3], मध्य में क्, ट्, न् आदि का आगम **अन्तःपात**[4] सन्धि हैं। जहाँ विसर्ग का कोई आदेश होता है, उसे **व्यापन्न** सन्धि कहते हैं, और जहाँ कोई आदेश नहीं हो पाता, उसे **विक्रान्त**। णत्व, षत्व तथा ष्टुत्व को **नति**[5] कहते हैं। इस प्रकार, सभी सन्धियों के सुन्दर अन्वर्थ नाम रखे गये हैं।

२५. कुछ ऐसी प्रक्रियाओं की चर्चा है, जो पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी नहीं वर्णित हैं, जैसे :

(क) अघोषपरक[6] ऊष्म के पूर्व में विसर्ग का लोप हो जाता है। इसका संग्रह कात्यायन ने **खर्परे शरि विसर्गलोपो वा वक्तव्यः** कहकर किया है।

(ख) पाणिनि ने ऋ के बाद आये न का ण नहीं बताया है, केवल र् और ष् के बाद न का णत्व-विधान किया है, पर 'ऋक्प्रातिशाख्य' ने ऋ[7] के बाद आये न का भी ण किया है। कात्यायन ने इसका संग्रह **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** कहकर किया है। पाणिनि के **अप्तृन्तृच् ... प्रशास्तॄणाम्**[8] इस निर्देश से यह गतार्थ करना पड़ता है।

(ग) अपदान्त प्रथम वर्णों के बाद यदि श ष स आये, तो प्रथम वर्ण के स्थान में द्वितीय[9] वर्ण हो जाता हैं,। जैसे : 'विरप्शी' का 'विरफ्शी'[10]। कात्यायन ने इसके लिए **चयो द्वितीयाः शरिपौष्करसादेः**[11] कहा है। पाणिनि ने तो इसका उल्लेख ही नहीं किया।

---

१. एषस्य स च स्वराश्च पूर्वं, भवन्ति व्यञ्जनमुत्तरं यदेभ्यः, तेऽन्वक्षरसन्धयोऽनुलोमाः।

२. प्रतिलोमास्तु विपर्यये त एव।

३. ४।१५। ४. ४।१६, ८७,१८। ५. पूरा पंचम पटल। ६. ५।३६। ७. ५ के ४० से ६१ तक।

८. ३।४।११। ९. ६।५४। १०. ऋ० १।८।८। ११. अष्टा० सू० ८।८।४८ में पठित।

(घ) कुछ लोग 'क्शा' के स्थान में 'ख्या' आदेश करते हैं।[1] यह पतंजलि की उक्ति का अधूरा प्रतिपादन है। प्राणिनि ने क्शाञ् आदेश की कल्पना भी नहीं की है। पतंजलि ने 'चक्षिङ्' धातु के स्थान में ख्याञ् की जगह, क्शाञ् आदेश कर असिद्ध काण्ड में णत्वविधि के बाद, शस्ययोवा पढ़ने के लिए कहा है, जिससे 'चख्यौ', 'चक्शौ' आदि दो-दो रूप भी होंगे और पुम् + ख्यानम् = पुंख्यानम् में म् का रुत्वादि[2], 'पर्याख्यानम्' में णत्व[3] आदि नहीं होंगे।

ऐसी विधियों को देखने से सन्देह होता है कि क्या 'ऋक्प्रातिशाख्य' पाणिनि-कात्यायन-पतंजलि इस मुनित्रय के बाद की रचना है? क्योंकि, 'ऋक्-प्रातिशाख्य' में उल्लिखित प्रक्रियाएँ पाणिनि ने नहीं लिखीं, कात्यायन या पतंजलि ने उनकी चर्चा, की, यह कल्पना ठीक नहीं जँचती। प्रगृह्य, उपस्थित आदि संज्ञाएँ भी अष्टाध्यायी की भाँति ऋक्प्रातिशाख्य में भी मिलती हैं।[4]

२६. कुछ प्रक्रियाएँ अवैज्ञानिक भी लगती हैं। उदाहरणार्थ :

(क) सन्धि पदान्त और पदादि वर्णों में ही होती है और पददृष्ट वर्णों में ही।[5] **ता अस्य पृशनायवः**[6] में ता+अस्य में दीर्घ नहीं हुआ; क्योंकि पदावस्था में 'ता' नहीं 'ताः' है। इसी प्रकार तस्मा अरं गमाय वः[7] में 'तस्मा + अरम्' में दीर्घ नहीं हुआ; क्योंकि पदावस्था में 'तस्मा' नहीं, 'तस्मै' है। यह व्याख्यान ठीक नहीं, पाणिनि का **पूर्वत्रासिद्धम्**[8] द्वारा एक सन्धि के बाद दूसरी सन्धि को रोकना ही अधिक उपयुक्त है; क्योंकि पदावस्था सदा रहती है, अतः ता और तस्मा पददृष्ट नहीं हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

(ख) इसी प्रकार, 'ऋक्-प्रातिशाख्य' ने नियम[9] बनाया है कि यदि एक वर्ण की पूर्ववर्त्ती तथा उत्तरवर्त्ती दोनों वर्णों से एक ही साथ सन्धि की प्राप्ति हो, तो पहले पूर्ववर्त्ती सन्धि ही होगी। जैसे : इन्द्र+आ+इहि, यहाँ पहले इन्द्र का आ के साथ दीर्घ होकर इन्द्रा बनेगा, फिर इहि के साथ गुण से 'इन्द्रेहि'।[10] अन्यथा, पहले आ+इहि से 'एहि' बन जाने पर इन्द्र+एहि में वृद्धि होकर 'इन्द्रैहि' बन जायगा। यह प्रक्रिया ठीक नहीं। लौकिक भाषा में पहले आ+इहि से 'एहि' बनाकर शिव से जोड़ने पर 'शिवैहि' प्रयोग होने लगेगा। इसे रोककर शिवेहि बनाने के लिए पाणिनि ने वृद्धि का बाधक पर रूप बनाया है : **ओमाङोश्च**,[11] यही वैज्ञानिक है।

---

१. ६ का ५५, ५६।
२. ८।३।६।
३. ८।४।२९।
४. ऋक् प्रा० १।६८ से ७५ तक, तथा १०।१२।
५. २।५।
६. ऋ० १।८४।११।
७. ऋ० १०।९।३।
८. ८।२।१।
९. २।७।
१०. ऋ० १।९।१।
११. ६।१।९५।

(ग) वाय उक्थेभिर्जरन्ते[1] में 'वायो' के ओ का अ[2] आदेश करना तथा वायवायाहि दर्शत[3] में 'वायो' के ओ का पूर्वनियम से अ करने के बाद अनोष्ठ्य वर्ण के आगे रहने से बीच में व् का आगम[4] करना भी भद्दी प्रक्रिया है। पाणिनि के अनुसार दोनों स्थलों में अयादि सन्धि करके लोपः शाकल्यस्य से वैकल्पिक व लोप ही सही विश्लेषण है।

(घ) 'मधुन ऋतस्य'[5] में मधुना + ऋतस्य ऐसी स्थिति में ऋ के पूर्ववर्त्ती आ का अ[6] हो गया, यह प्रक्रिया गलत है। वस्तुतः, यहाँ मधुनः + ऋतस्य इस स्थिति में सकारस्थानिक र् का अत्व तथा उसका लोपः शाकल्यस्य के नियम से लोप हुआ है।

इस प्रकार, कई जगह के विश्लेषण, अवैज्ञानिक तथा अँधेरे में टटोलने जैसे हैं।

२७. 'ते अग्रेया[7]' आदि में 'एके' प्रकृतिभाव को प्राच्यों की पदवृत्ति तथा 'यो अस्मै'[8] आदि में ओ के प्रकृतिभाव को पंचालों की पदवृत्ति कहते[9] हैं। इससे इन प्रयोगों की क्षेत्रीयता पर प्रकाश पड़ता है। पाणिनि ने यह सन्धि बताई[10] है, पर क्षेत्रीयता की चर्चा नहीं की है।

२८. उच्चारण में तभी सुविधा होती है, जब व्यंजन के बाद स्वर तथा स्वर के बाद व्यंजन हो। जहाँ दो स्वर या दो व्यंजन निरन्तर आ जाते हैं, वहाँ ध्वनिप्रवाह रुक जाता हैं। इनमें जहाँ दो स्वरों की निरन्तरता से ध्वनिप्रवाह रुकता है, उसे विवृत्ति[11] कहते हैं। उवट के अनुसार विवृत्ति तीन प्रकार की होती है (क) जब दोनों ओर ह्रस्व स्वर हो, तब ह्रस्व पादमात्रिक[12] विवृत्ति होती है, जैसे प्र ऋभुभ्य[13]। (ख) किसी एक ओर दीर्घ रहने पर अर्धमात्रिकदीर्घ विवृत्ति, जैसे नू इत्था ते[14], सा नो अध्ये[15]। (ग) दोनों ओर दीर्घ रहने पर पादोनमात्रिक दीर्घ विवृत्ति होती है। जैसे : ता ई वर्धयन्ति[16], या ऐच्छः[17] आदि। जहाँ दोनों ओर सन्धि के स्थल हैं, उसे उभयतः स्वरस्वरा विवृत्ति कहते हैं। जैसे : तस्मा उग्राय[18]। एक पद के भीतर विवृत्ति के ४ ही उदाहरण मिलते हैं : पुर एता[19], नमउक्तिभिः[20], प्रउगम्[21] तथा तितउना[22]। शेष सभी विवृत्तियाँ दो पदों के बीच वाक्य में मिलती हैं। इन चारों में भी 'तितउना' तो एक सर्वथा अखण्ड पद है, बाकी तीन समास के कारण एक पद बने हैं। य औशिजः[23]' आदि वाक्यस्थ-मात्र है। पाणिनि ने विवृत्ति शब्द का कहीं उल्लेख नहीं किया है, प्रक्रियाएँ सब दी हैं।

---

१. ऋ० १।२।२। २. २।२८। ३. ऋ० १।२।८। ४. २।३१। ५. ऋ० १०।६८।४। ६. २।३०। ७. ऋ० ४।३४।१०। ८. १० ८।३१।२। ९. २।३३। १०. ६।१।११५, ११६। ११. २।३। १२. २।३,४ तथा २।७९ से ८२ तक तथा २।१३।१४। १३. ऋ० ४।३३।१। १४. अ० १।१३२।४। १५. अ० ६।९१।१। १६. अ० १।१५५।३। १७. ऋ० १०।१०।८।५। १८. ऋ० ८।६६।७। १९. ऋ० ६।४७।७। २०. ऋ० ८।४।६। २१. ऋ० १०।१३०।३। २२. ऋ० १०।७१।२। २३. ऋ० १।१८।१।

२६. यदि एक से अधिक व्यंजन निरन्तर आ जायँ, तो स्वर की सहायता के अभाव में उसके उच्चारण पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह भी शिक्षाशास्त्र (ध्वनिविज्ञान) में बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। ऐसे स्थलों में 'ऋक्प्रातिशाख्य' ने भग्न प्रवाह की क्षतिपूर्ति या प्रतिक्रिया के रूप में निम्नांकित सोपान बताये[1] हैं।

(अ) **क्रमण या क्रम :** इसमें पूर्व व्यंजन दो बार उच्चरित होकर स्वर के अभाव की पूर्ति करता है। जैसे : आत्वा रथम् = आ त्त्वा रथम्।[2] यहाँ त् व् के संयोग से जो उच्चारण में कष्ट हुआ, उसकी प्रतिक्रिया में एक और व्यंजन बढ़ा दिया गया—त् का द्वित्व हो गया और तीन व्यंजनों का संयोग त् त् व् तैयार हो गया। जिस प्रकार जले हुए हाथ को फिर आग पर सेंकते हैं, या क्रमशः निर्धन होता व्यक्ति अपना ठाट-बाट बढ़ाता जाता है, कुछ उसी प्रकार की प्रवृत्ति यह भी है। पहले इसका बड़ा व्यापक प्रयोग था। यहाँतक की 'उल्व' को **उल्ल्ब**[3] 'स्तूयमानाः' को **स्स्तूयमानाः**[4], 'स्यन्दन्तां' को '**स्स्यन्दन्तां कुल्याः**'[5] कहा जाता था। पाणिनि ने इसका क्षेत्र बहुत सीमित[6] कर दिया। साथ ही, क्रमण-मात्र को ऐच्छिक भी बताया। ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार, शाकल[7] आचार्य क्रमण नहीं करते थे, पाणिनि ने भी इसकी चर्चा की है[8] (१ से १५ तक क्रम[9] प्रकरण ही है)।

(आ) **अभिनिधान :** सूत्र[10] १७ से अभिनिधान का प्रकरण शुरू हुआ है और २८ तक चला है। इस शब्द का अर्थ इसी सूत्र में दिया गया है : इसके उदाहरण इस प्रकार लिखे हैं : **अर्वाग् देवा अस्य**[11], **यद् देवा अरः**[12], **दग् धासि,**[13], **उल्कामिव**[14] आदि। यदि बाद में स्पर्श वर्ण आ रहा हो, तो स्पर्श का तथा र् को छोड़ शेष अन्तस्थ का 'अभिनिधान' होता है। यह अभिनिहित सन्धि से भिन्न है, जिसमें पदान्त ए ओ के बाद आगे अ का पूर्व रूप होता है। 'उवट' ने यह बताते हुए कि ऊष्म तथा रेफ का अभिनिधान नहीं होता है। ये उदाहरण दिये हैं : ब्रह्म, विष्णुः, स्म, पृश्निः, अर्चन्त्यर्कमर्किणः आदि। 'अभिनिधान' से सम्बद्ध वर्णों का केवल उच्चारण थोड़ा परिवर्तित हो जाता था, वर्णान्तर नहीं होता था। पर, इस परिवर्तित उच्चारण को कैसे लिपिबद्ध किया जाय और इस लिपि-संकेत को कैसे समझा जाय। वास्तव में, यह उच्चारण का अन्तर केवल गुरुमुख से सुनकर समझने की चीज थी। हाँ, यहाँ एक बात दीखती है कि उदाहरण-स्थलों में दो निरन्तर व्यंजनों को पृथक्-पृथक् लिखा गया है, संयुक्त रूप में सटाकर नहीं; परन्तु प्रत्युदाहरण-स्थलों में दोनों को संयुक्त रूप में एक साथ सटाकर लिखा गया है। इससे

---

१. षष्ठ पटल में इसका विस्तार से वर्णन है। २. ऋ० ८।६८।१।
३. ऋ० १०।५१।१। ४. ऋ० ११०।७।२। ५. ऋ० ५।८३।८।
६. अचो रहाभ्यां द्वे अनिचि च (८।४।४६ और ४७)।
७. संयुक्तं तु व्यञ्जनं शाकलेन, ६।१४। ८. सर्वत्र शाकल्यस्य, ८।४।५१।
९. स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते, संयोगादिः स क्रमोविक्रमे सत्, ६।१।
१०. अभिनिधानं कृतसंहितानां, स्पर्शान्तस्थानामपवाद्य रेफम्, सन्धारणं संवरणं श्र तेश्च स्पर्शोदयानाम्, ६।१७।
११. ऋ० १०।१२६।६। १२. ऋ० १०।७२।६। १३. ऋ० ५।९।४।
१४. ऋ० १०।६८।४।

प्रतीत होता है कि 'अभिनिधान' अवग्रह की जाति की ही चीज है। दूसरे पटल के चौतीसवें सूत्र में बताया गया है कि (उस सूत्र की व्याख्या में उवट के उदाहरण) **'रथेभ्योऽग्ने'**, **'पितरोऽरम्'** आदि में अ का अभिनिधान है। यहाँ षष्ठ पटल के १७वें सूत्र में अभिनिधान के दो लक्षण बताये गये हैं : (क) श्रुति का सन्धारण तथा (ख) संचरण, अर्थात् **रथेभ्यो अग्ने** में अ को ध्वनि के बाद आनेवाले ध्वनिप्रवाह को रोक दिया तथा ध्वनि को ढक दिया, इसका अत्यल्प उच्चारण किया। इसी स्थिति का संकेत है—यह ऽ चिन्ह। **रथेभ्योग्ने** को **रथेभ्योऽग्ने** इस प्रकार लिखने का यही स्वारस्य है कि ओ के बाद तुरत ग् का उच्चारण नहीं करना चाहिए, जरा रुकना चाहिए। **अर्वाग् देवाः** में भी ग् के अभिनिधान का अर्थ है कि ग् के बाद आनेवाला द् ध्वनि कुछ विलम्ब से उच्चरित होगी तथा ग् का उच्चारण ढककर अत्यल्प किया जायगा, और प्रत्युदाहरण 'ब्रह्मा' में ह् तथा म् दोनों का उच्चारण अविछिन्न प्रवाह में होगा। अभिनिधान में पहला व्यंजन थोड़ा उच्चरित होकर कुछ अधिक काल ले लेता है, जिससे स्वर की क्षतिपूर्त्ति होती है। यह प्रकरण सूत्र ६।१७ से २८ तक चला है। यह ध्यान देने की बात है कि जो शाकल, क्रमण या वर्ण द्वित्व के विरोधी थे, वे इस 'अभिनिधान' के समर्थक[१] हैं, अर्थात् वे संयोग स्थल में वर्ण द्वित्व नहीं, अभिनिधान चाहते हैं; बल्कि औरों से कहीं अधिक स्थलों में अभिनिधान चाहते हैं। पाणिनि ने अभिनिधान को मान्यता नहीं दी है, वर्णद्वित्व का ही समर्थन किया है।

(इ) **यम** : संयोग-स्थल में स्वर के अभाव की पूर्त्ति का तीसरा उदाहरण है— यम। इसका वर्णन ६।२६ से ३८ तक है। यदि बाद में कोई अनुनासिक स्पर्श आ रहा हो, तो अनुनासिक स्पर्श अपने यम[२] को आपन्न होता है। 'उवट' ने निम्नांकित उदाहरण दिये हैं :

(क) पलिक्नीरित्[३], (ख) चरव्नप्युः, (ग) परिग्मन्न[४], (घ) वृत्रघ्न परि[५], (ङ) सुमुच्महे[६], (च) परिज्मानयिव[७], (छ) आत्मा[८], (ज) अमथ्नादन्यम्[९], (झ) वद्मा सूनो[१०], (ञ) दध्मसि,[११] (ट) आनानं तीर्थम्[१२] (ठ) गृभ्णामि[१३] यहाँ ये बातें विचारणीय हैं :

(क) 'उवट' ने 'यम' के उदाहरणों में न तो पलिक्नी, चख्नतुः, इस प्रकार संयुक्त वर्णों को पृथक्-पृथक् लिखा, न क्रम की तरह पलिक्क्नीः, चख्ख्नतुः इस भाँति पूर्ववर्ण का द्वित्व कर तीनों वर्णों को संयुक्त करके ही। यहाँ लिपि पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि यम-प्रातिशाख्यों के मत में अनुनासिक के परे रहने पर पूर्व में आनेवाले स्पर्श वर्णों का क्रमण (द्वित्व) नहीं है; यह दोनों व्यंजनों के बीच में आनेवाला पूर्वसदृश एक तीसरा वर्ण नहीं है। ऋग्वेदीय पाणिनिशिक्षा के श्लोक ४ में **चत्वारश्च यमाः स्मृताः**

---

१. ६।२० से ६।२८ तक 'लकार ऊष्मस्वपि शाकलेन' आदि।

२. स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु, ६।२९।

३. ऋ० ५।२।४। ४. ऋ० ४।४३।६। ५. ऋ० ६।६८।१०। ६. ऋ० ६।२६।५। ७. ऋ० १।१२७।२। ८. ऋ० ७।८७।२। ९. ऋ० १।९३।६। १०. ६।१३।६। ११. ऋ० ८।१०२।२०। १२. ऋ० १०।११४।७। १३. ऋ० १०।८५।३६।

की व्याख्या में बताया गया है कि आचार्य औदव्रजि, नारद, भट्टोजिदीक्षित आदि विद्वान् 'यम' को क्रमजाति का वर्णागम मानते हैं। पाणिनिशिक्षा के इस श्लोक की व्याख्या में पंजिकाभाष्य ने लिखा है : **नारदौदव्रज्योर्मतेन यमो वर्णागम इति विधीयते। अस्मात् चत्वारश्च यमाः स्मृताः इति वर्णान्तरत्वेनोपदेशः, संयोगशास्त्रात्। 'अथ चतुर्णां यमानामुदाहरण' मिति प्रकृत्य अग्निनरिति यमो, गकारौ द्वौ नकार इकारश्चेति। अन्ये तु यमं वर्णापत्तिं मन्यन्ते। तथा च शौनकः स्पर्शयमाननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु।** इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि शौनक के मत से यम वर्णागम या द्वित्व नहीं, वर्णापत्ति हैं। इस प्रसंग में पहला स्थान क्रम का है, दूसरा अभिनिधान का, तीसरा यम का और चौथा स्वरभक्ति का। प्रातिशाख्य में इसी क्रम से इनका वर्णन है। अतः, 'यम' क्रमण की अपेक्षा अभिनिधान तथा स्वरभक्ति के निकटतर है। सूत्र ३० तथा ३१ ने बताया है कि श् स्थानीय छ् की न तो यमापत्ति होगी, न अभिनिधान,[1] अतः ये दोनों सजातीय विकार लगते हैं। इसलिए, 'आ त्वा रथम्' में जिस तरह क्रम से दो त् हो जाते हैं, उस तरह 'पलिक्नीः' में दो क् नहीं होते, बल्कि 'अर्वाग् देवाः' में सामान्य ग् की जगह जैसे अभिनिहित ग् हो जाता है, वैसे ही 'पलिक्नीः'[2] में सामान्य क् की जगह यमरूप क हो जाता है। यहाँ एक यह शंका हो सकती है कि जब इस क् का द्वित्व नहीं होता, तब इसे यम कैसे कहते हैं? यम का अर्थ है—युग्म। सम्भवतः इसका उत्तर देने के लिए ही उक्त पंजिकाभाष्य ने यम का अर्थ किया है : '**यच्छन्तीति यमाः, स्वयमेवोपरमेरन्,** अर्थात् जो वर्ण यमापन्न होता है, उसके उच्चारण के बाद अत्यल्पकाल के लिए ही सही उच्चारण-प्रवाह रुक जाता है। उच्चारण-प्रवाह का यह विराम, जो चौथाई मात्रा से भी कम काल का होता है, या 'श्रुति का सन्धारण' अभिनिधान में भी होता है और यम में भी। यही दोनों में सादृश्य है, इसीलिए अभिनिधान के बाद 'यम' का वर्णन है। परन्तु, अभिनिधान में जिस श्रुति का सन्धारण होता है, उसका आवरण, अर्थात् अतिनीच ध्वनि से उच्चारण भी होता है। अतः, उसके बाद अवग्रह या रिक्तत (हाएटस) का अनुभव होता है। पर, यमापत्ति में यमापन्न वर्ण का स्वाभाविक ध्वनि से तथा नासिका की सहायता से उच्चारण होने के कारण सन्धारण होने पर भी अनुरणन बना रहता है। इस अनुरणित[3] ध्वनि को ही वर्णाभास मानकर इसे 'यम' कहते हैं। साथ ही, ध्वनि का संयमन, उपरम या विराम भी है ही। यह उपेक्षणीय नहीं कि 'ऋक्प्रातिशाख्य' में ६।२६ से ६।३२ तक के किसी भी सूत्र के उदाहरण में या सूत्र १।५० के उदाहरण में कहीं भी 'यम' दो सदृश वर्ण नहीं दिखाये गये। बल्कि दीक्षित के ही उदाहरणों में दो सदृश वर्ण चिन्त्य हैं। घ्नन्ति में घ् का द्वित्व किस नियम से होगा? और, यहाँ दो घ्

१. 'न स्पर्शस्योष्मप्रकृतेः प्रतीयाद्यमापत्तिम्' तथा 'नाभिनिधानभावम्'।

२. जोन्स ने भी टौप्मोस्ट (Topmost), सब्मिट (Submit), मट्न (Mutton), ऐड्मायर (Admire), एक्मे (Achme) तथा डौग्मेटिक (Dogmatic) आदि शब्दों में प, ब, त, द, ग, क को नासिक्य (Nasal) माना है,

३. सम्भवतः इसीका संकेत सू० ६।३३ ने किया है : 'श्रुतिर्वा यमेन मुख्यास्ति समानकाला।'

तथा 'चख्ख्नतुः' में दो ख् कैसे सुनाई पड़ेंगे ? पहले में झलां जश् झशि[1] से पहला घ् ग् हो जायगा, दूसरे में खरि च[2] से पहला ख् क हो जायगा। इनमें दो घकारों तथा खकारों का उच्चारण पाणिनिविरुद्ध ही नहीं, भाषाविज्ञान-विरुद्ध[3] लगता है।

(ख) जैसे पदान्त क् आदि के स्थान में आगे किसी अनुनासिक[4] स्पर्श के आने पर ङ् आदि अनुनासिक सजातीय स्पर्श हो जाते हैं, दिक्+नाग—दिङ्नाग, प्रायः उसी तरह एक पद के बीच ही अगले अनुनासिक स्पर्श के प्रभाव से पिछला अननुनासिक स्पर्श भी अपने अनुनासिक रूप में परिणत हो जाता है। अन्तर यही है कि दिक्+नाग में न् के संयोग से क् सर्वथा सवर्ण अनुनासिक बनकर ङ् हो जाता है; किन्तु पलिक्+नी में न् का संयोग होने पर भी क् ङ् में परिणत नहीं होता, यम रूप क् में परिणत होता है, जो अनुनासिक ध्वनि ही है। यह निर्विवाद है कि यमों के उच्चारण में भी नासिका का योग माना गया है। पहले पटल के ४८वें तथा ५०वें सूत्रों के अनुसार सभी यम वर्ण नासिक्य भी हैं तथा अपनी प्रकृति के स्थानवाले भी। अर्थात्, दिङ्नाग के ङ् की तरह पलिक्नीः का क् भी कण्ठ्यनासिक्य है। हाँ, यम वर्ण पंचम वर्णों की तुलना में कम अनुनासिक्य हैं, यद्यपि हैं अनुनासिक ही। अर्थात्, यम क् ङ् की अपेक्षा शुद्ध क् के अधिक सदृश है। जैसे : अनुनासिक यँ् वँ् लँ् लिखते हैं, वैसे यम वर्ण को पलिककँ्नीः या पलिकँ्नीः कोई नहीं लिखता, किसी ने नहीं लिखा है।

(ग) ऋक्प्रातिशाख्य में 'उवट' ने इस सूत्र के उदाहरण में २० स्पर्शवर्णों को यमापन्न माना है। पटल १, सू. ५० में तो उन्होंने स्पष्ट कहा ही है : **विंशतिर्यमा बह्वृचा न भवन्ति, स्वरूपैश्चत्वार एव।** अर्थात्, यम वर्ण यद्यपि २० हैं; फिर भी क च ट त प प्रथम वर्णों के यम को कुं, द्वितीय वर्णों के यमों के खुं, तृतीय वर्णों के यमों को गुं और चतुर्थ वर्णों के यमों को घुं मानने से ही काम चल जायगा। कुं ही वर्णमाला में वर्गीय प्रथम वर्ण रूप यमों का प्रतिनिधित्व करेगा, इसी भाँति खुं द्वितीय वर्णों का। इसलिए, यम वर्णों के २० रहने पर भी शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ने वर्णमाला में यमों की संख्या चार मानी है। परन्तु, इसमें दो आपत्तियाँ हैं, पहली यह कि क च ट त प के यमों का प्रतिनिधित्व करने के बदले कुं, क ख ग घ के यमों का, स्वसजातीय सवर्ण वर्णों के यमों का प्रतिनिधित्व क्यों नहीं करेगा ? ऐसी स्थिति में पाँच वर्गों के यमों के लिए यमों की संख्या ५ माननी चाहिए, कुं खुं गुं घुं नहीं, कुं चुं टुं तुं पुं रूप पाँच यम रहें। दूसरी यह कि 'यम' चाहे चार मानें, चाहे पाँच, इनको पृथक् क्यों गिनें ? इन्हें वर्णमाला में पृथक् स्थान क्यों दें ? जैसे २० का अन्तर्भाव ४ या ५ में कर लेते हैं, वैसे उनका भी अन्तर्भाव मूल वर्णों में ही क्यों नहीं हो जायगा ? अर्थात्, क् का यम कण्ठ्य, नासिक्य तथा विवार श्वास अघोष अल्पप्राण है तथा च् का यम तालव्य नासिक्य विवार श्वास अघोष अल्पप्राण और ख् का यम कण्ठ्य नासिक्य विवार श्वास अघोष महाप्राण। अतः, पूरी तरह से न तो च्

१. ८।४।५३। २. ८।४।५५।

३. सम्भवतः ६।३७ 'ऊष्मा सोष्मणः' से इसी की चर्चा तथा 'वर्जयेत्तम' ६।३८ से इसी का प्रत्याख्यान किया गया है।

४. ऋ० प्रा० ४।३ या अष्टा० ८।४।४५।

का यम न ख् का यम ही क् के यम से तुलनीय है। यदि कुं और चुं टुं आदि में स्थान का भेद रहने पर भी कुं से चुं टुं आदि का ग्रहण हो जाय अथवा कुं और खुं में प्राण का भेद रहने पर भी यदि खुं का कुं से ग्रहण हो जाय, तो यही क्यों न मानें कि मूल क् और कुं में नासिक्यता-मात्र का अन्तर रहने पर भी क् से कुं का भी ग्रहण हो जायगा, उसे अलग वर्ण क्यों माना जाय ? स्वरों को तो नासिक्यता के योग से पृथक् वर्ण नहीं माना गया, य् व् ल् के भी तो दो भेद नहीं माने गये ? वर्णमाला में २१ की जगह ४२ स्वर तथा ४ की जगह ७ अन्तस्थ (र् में अनुनासिकता नहीं होती) नहीं माने जाते।

(घ) यदि न्यासकार के अनुरोध से गुरुप्रसाद शास्त्री के अनुसार यह भी मान लें कि वस्तुतः यम २० नहीं, ४ ही हैं, 'पत्‍न्यौ' नहीं, 'पत्क्न्यौ' होता है, अर्थात् क् च् ट् त् प् चारों प्रथम वर्णों का यमागम क् ही होगा, तब भी बात वही रह जाती है। इस यम रूप क् का भी ग्रहण मौलिक क् से क्यों नहीं हो जायगा ? अतः, दयानन्द की शंका ठीक है कि इनको वर्णमाला में पृथक् स्थान क्यों दिया जाय ? 'ऋक्प्रातिशाख्य' ने तो इन्हें स्वतन्त्र स्थान नहीं ही दिया है। यमों को अपनी प्रकृति के ही सदृश घोषित[1] किया है (३२—३४)।

(ङ) यदि मूल स्पर्श वर्णों से इन चारों को भिन्न माना जाय, तो स्वरभक्ति को भी मूल अ, इ, उ से भिन्न मानना पड़ेगा।

(ई) यम और स्वरभक्ति के विवेचन के बीच अभिनिधान की एक शाखा नाद या ध्रुव का विवेचन किया गया है, इसका वर्णन ६।४६ से ४५ तक है। इससे भी ऐसा आभास मिलता है कि 'ऋक्प्रातिशाख्य' के मत से यम अभिनिधान की जाति का ही एक वस्तु है। अभिनिधान-स्थल में अभिनिधान के बाद एक नाद का आगमन होता है, इसे ध्रुव भी कहते हैं।[2] इस नाद में इतना कम काल लगता है कि कहा गया है ; ध्रुवकालमनिर्देश्यमल्पत्वात्कवयो विदुः, अर्थात्, ध्रुव का काल अवर्णनीय रूप से अल्प है। इसीलिए, सूत्र ६।२६ ने ध्रुव को अभिनिधान-काल मात्र में ही ठहरनेवाला बताया है। अर्थात्, अभिनिधान के बाद इस नाद में इतना कम काल लगता है कि इसे अभिनिधान के काल में ही उच्चरित समझना चाहिए। उदाहरण है : अर्वाग् देवा:[3] यद् देवा:[4] आदि। पर, अघोष अभिनिधान के बाद[5] ध्रुव की श्रुति नहीं होती है; जैसे : वाक् पतङ्गाय[6], यत् ते[7]। इसका यह तात्पर्य लगता है कि घोष वर्ण नादवान् होते हैं, अतः उन्हीं के अभिनिधान के बाद नाद की श्रुति होती है, अघोष वर्ण तो स्वयं नादरहित होते हैं, अतः उनके अभिनिधान के बाद नाद की श्रुति नहीं होती। अनुनासिकों के अभिनिधान के बाद जिस नाद की श्रुति होती है, वह नाद भी अनुनासिक[8] ही होता है; जैसे, अर्वाङ् नरा[9] तन् मे

१. 'यमः प्रकृत्यैव सदृक्' तथा 'अनन्यस्तु प्रकृतेः प्रत्ययार्थे'।
२. नादः परोऽभिनिधानाद्ध्रुवं तत्तत्कालस्थानम्, ६।३९।
३. ऋ० १०।१२९।६। ४. ऋ० १०।७२।६। ५. अश्रुतित्वघोषात्।
६. ऋ० १०।१८९।३। ७. ऋ० १०।५८।१।
८. नासिकास्थानमनुनासिकाच्चेत्। ९. ऋ० ७।८२।८।

जुषस्व[1] अन्तस्थों के अभिनिधान के बाद की श्रुति पूर्ववर्णवत् अनुनासिक या अननुनासिक[2] होती है; जैसे : तवँ वो दस्म्[3] में अनुनासिक तथा पर्वत्तश्चित्[4], में अननुनासिक ही ध्रुवश्रुति होगी। व्याडि आचार्य[5] सर्वत्र अभिनिधान का लोप चाहते हैं। उवट ने उदाहरण दिये हैं : उप द्मातेव[6] तथा अर्वाग्ग्देवाः[7], पर व्याडि के मत[8] से भी कुछ जगह अभिनिधान की स्वीकृति है। जैसे : परा वग्ग् भारभृत्[9]। जहाँ सवर्णपूर्व ध्रुवसहित अभिनिधान हो, वहाँ अभिनिधान लोप होता है, ऐसा सब आचार्यों का मत[10] है। जैसे : यद्देवा अदः[11]।

इस पूरे प्रकरण के मनन से यही प्रतीत होता है कि अभिनिधान के बाद सुनाई पड़नेवाला यह नाद या ध्रुव एक प्रकार का अनुरणन ही था। जो पूर्व वर्ण, अर्थात् अभिनिहित वर्ण के सदृश ही होता था। व्याडि ने जहाँ अभिनिधान नहीं माना, वहाँ क्रमण (द्वित्व) दिखाया गया, जैसे 'अर्वाग्ग्देवाः'। इससे यह प्रतीत होता है कि जहाँ व्यंजन-द्वय-संयोग हैं, वहाँ (क) क्रम से पूर्व वर्ण का द्वित्व हो सकता है। जैसे : अर्वाग्ग्देवाः या (ख) अभिनिधान तथा नाद से एक का उच्चारण तथा द्वितीय का नाद हो सकता है, जैसे अर्वाग्-देवाः, या (ग) एक का उच्चारण तथा द्वितीय का अनुरणन (यमत्व) हो सकता है; जैसे परिग्मन्। अर्थात्, नादसहित अभिनिधान तथा यमापत्ति बहुत सदृश हैं। अवसान[12] में अभिनिधान तथा क्रमण दोनों वर्जित हैं। इस नाद को ध्रुव सम्भवतः इसलिए कहते हैं कि इसमें पूर्व वर्ण ठहरा-सा लगता है। अनुरणन इतना कम है कि वह नहीं के बराबर लगता है, अतः रिक्तता, ठहराव का अनुभव अधिक होता है। लगता है, पहला ही नाद अबतक चल रहा है। पर नाद रहता अवश्य है, तभी तो इस नाद को अभिनिहित-वर्णकालिक ही नहीं, तत्स्थानीय[12] भी माना गया है।

(उ) क. इसके बाद स्वरभक्ति का वर्णन हैं। यह ६।४६ से ५३ तक है। 'स्वर-परवर्त्ती[13] रेफ के बाद यदि कोई व्यंजन आता है, तो रेफ और व्यंजन के बीच ऋ की सजातीय एक स्वरभक्ति बीच में सुनाई पड़ती हैं।' स्वरभक्ति का शाब्दिक अर्थ है—स्वर का भाग, अंश, खण्ड। अभिनिधान की तरह इसके लिए भी कोई लिपि नहीं है। यह कोई पूर्ण ध्वनि नहीं, एक ध्वनिखण्डमात्र हैं। जैसे : कर्हि[14]। यहाँ 'कर्हि का उच्चारण 'कऋहि', 'करिहि' की तरह का होगा। वास्तव में, आज भी हमारा उच्चारण ऐसा हो जाता है, यह ध्यान देने पर आसानी से समझा जा सकता है।

ख. स्वरभक्ति के दो भेद हैं—ह्रस्व तथा दीर्घ। जिसके[15] बाद ऊष्म वर्ण आता है, वह दीर्घ स्वरभक्ति होती है; जैसे कर्हि[16]। जहाँ इस[17] ऊष्म वर्ण का द्वित्व हो जाता है,

---

१. ऋ० ७।९९।७। २. अन्तस्थायाः पूर्वस्वरूपमेव। ३. ऋ० ८।८८।१।
४. ऋ५।६०।३। ५. ऋ० ५।९।५। ६. ऋ० १०।१२९।६।
७. परक्रमस्वररेफोपधे न। ८. ऋ० ८।७५।१२।
९. सवर्णपूर्वस्य सहध्रुवस्य विपर्ययो ध्रुवविशिष्टेऽपरेषाम्। १०. ऋ० १०।७२।६।
११. 'नावसितम्, ७, तथा अपि चावसाने, १८। १२. ६।३९।
१३. रेफात्स्वरोपहिताव्यञ्जनोदयाद्दहकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा, ६।४६। १४. ऋ० ८।७३।५।
१५. द्राधीयसीतूष्मपरा ६।४८। १६. ऋ० ८।७३।५। १७. इतराक्रमे ६।४९।

वहाँ दीर्घ नहीं, ह्रस्व ही स्वरभक्ति होती है; जैसे अदश्श्यायती[1]। जिसके बाद ऊष्म-भिन्न वर्ण आता हो, वह स्वरभक्ति भी ह्रस्व ही होगी, यह अर्थतः आ गया। जैसे : अर्चन्त्यर्कमर्किनः[2]। जहाँ घोषवर्ण के अभिनिधान के बाद स्पर्श या ऊष्म वर्ण आ रहा हो, वहाँ[3] भी स्वरभक्ति होती है। जैसे—अर्वाग् देवाः[4] तथा शतवल्शः[5]। यहाँ भी अभिनिहित ग् तथा ल् के बाद स्वरभक्ति होगी, यह पूर्व नियम से क्रमशः ह्रस्व तथा दीर्घ होगी।

(ग) कुछ आचार्य स्वरभक्ति बिलकुल[6] नहीं करना चाहते, कुछ रेफ के बाद[7] करना चाहते हैं, कुछ रेफ के बाद भी तभी करना चाहते हैं, जब[8] आगे बिना द्वित्व का ऊष्म आ रहा हो। अर्थात्, कुछ के मत से बर्हि में स्वरभक्ति होगी, अर्चन्ति में नहीं होगी, कुछ के मत से दोनों में होगी, कुछ के मत से कहीं नहीं होगी। यह स्वरभक्तिवाला उच्चारण अवश्य प्राकृत है, जिससे 'सूर्य', 'सूरज' बनता है।

(घ) गार्ग्य ने अभिनिधान-स्थल की भाँति यम-स्थल[9] में भी स्वरभक्ति की सत्ता मानी है; जैसे पलिक्नीरित्[10]। यहाँ क् और न् के बीच भी स्वरभक्ति रहती है। यह स्वरभक्ति नासिक्य हैं; बल्कि उन्होंने द्वितीय-चतुर्थ यम के बाद सोष्म नासिक्य स्वर-भक्ति की ही सत्ता बताई है; जैसे अमथ्नात् में थ् के बाद सोष्म नासिक्य स्वरभक्ति होगी।

(ङ) सूत्र ६।४६ ने तो केवल ऋकार वर्ण की स्वरभक्ति की बात कही है, पर उवट ने १।३२ की व्याख्या में र् के बाद रेफ सदृश तथा ल् के बाद लकारसदृश[11] स्वरभक्ति मानी है। जैसे : अदर्शि[12] में रेफसदृश तथा शतवल्शः[13] में लकारसदृश।

(च) यह स्वरभक्ति[14] केवल ऋकारवर्णरूप नहीं होती, बल्कि वह पूर्ववर्त्ती अथवा उत्तरवर्त्ती किसी भी स्वर के सदृश हो सकती है। जैसे : धूर्षदम्[15] में ऊकार रूप स्वर भक्ति होगी, बर्हिषदः[16] में इकार रूप। यहाँ ये दोनों उदाहरण केवल पूर्वसदृश के ही दिये गये हैं, उत्तरसदृश का एक भी उदाहरण नहीं दिया गया। दीर्घ का 'दीरघ', मूर्ख का 'मूरख' ये लोकप्रसिद्ध उच्चारण उत्तरसदृश स्वरभक्ति के प्रमाण हैं। बल्कि लोक-व्यवहार में अ रूप स्वरभक्ति शेष सब रूपों पर छा रही है, कीर्त्ति को 'कीरिति' नहीं, 'कीरति' कहते हैं। हाँ, इसका विपरीत वर्ष का 'बरस' की तरह 'बरिस' उच्चारण भी बिहार में पाया जाता है। अब तो ऐसा लगता है कि स्वरभक्ति के लिए ऋकार-सवर्णता का नियम तो टूट ही चुका है। पूर्वोत्तर स्वरसवर्णता का भी बन्धन बहुत शिथिल है। जनरुचि ने जहाँ जिसे सुगम समझा, वहाँ वही स्वरभक्ति लगा दी।

---

१. ऋ० ७।८।१।१। २. ऋ० १।१०।१। ३. विच्छेदात्स्पर्शोष्मपराच्चप : घोषिण, ६।४७।
४. ऋ० १०।१२६।६। ५. ऋ० ३।८।११। ६. सर्वत्र के स्वरभक्तेरभावम, ६।५१।
७. रेफोपधामपरे विद्यामानाम्, ६।५१।
८. अकान्तोष्मप्रत्ययाभावमेके, ६।५२।
९. यमान्नासिक्या स्वरभक्तिरुत्तरा गार्ग्यस्य, ६।३६, ऊष्मा सोष्मणः, ६।३६।
१०. ऋ० ५।२।४।
११. रेफादुत्तरा रेफसदृशो भवति, लकारादुत्तरा लकारसदृशो भवति।
१२. ऋ० ७।८।१।१। १३. ऋ० ३।८।११। १४. ६।५३।
१५. ऋ० १।१४३।७। १६. ऋ० ६।६८।१।

(छ) 'उवट' ने १।३२ की व्याख्या में लिखा है कि अन्वर्थ संज्ञा होने से इसका अर्थ है--स्वर का प्रकार। परन्तु, यह सभी स्वरों का ही नहीं, र् तथा ल् का भी बोध करता है; क्योंकि 'उवट' के ही अनुसार स्वरभक्ति इनके सदृश होती है। ये दोनों तो खैर अन्तस्थ हैं—अर्धस्वर हैं; पर स्वरभक्ति घोषवानों[1] के अभिनिधान के बाद जब आयगी, तब उसमें र् ल् का सादृश्य नहीं, तत्तत् घोषवर्णों का सादृश्य होगा, यही तर्क-संगत लगता है। आखिर स्वर भी तो घोषनादवान् ही हैं। अतः, स्वरभक्ति को स्वर, अर्धस्वर तथा स्वरधर्मा घोषनादवत् व्यंजन के भी सदृश होना पड़ता है।

इस प्रकार, विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि व्यंजन-संयोग-स्थल में स्वर के अभाव से उत्पन्न उच्चारणक्लिष्टता को दूर करने के लिए पाँच प्रकार के उपाय अपनाये जाते थे—क्रमण, अभिनिधान, अभिनिधानसहचरित नाद या ध्रुव, यम तथा स्वरभक्ति। ये पाँचों ही संयुक्त व्यंजनों में से पूर्व या परवर्त्ती + ध्वनि पर आधृत ध्वनियाँ (एक प्रकार का अनुरणन) थीं। इनमें स्वरभक्ति में स्वरत्व अत्यधिक है, शेष में अत्यल्प। स्वरभक्ति में दीर्घ तथा ह्रस्व भेद कर क्रम से आधी तथा चौथाई मात्रा मानी गई है, शेष चारों भी अर्धमात्रिक से अधिक नहीं, कुछ कम भले ही हों। इनमें स्थानभेद भी है और कालभेद भी। संयोगस्थल का इतना सूक्ष्म विश्लेषण विज्ञान के अद्भुत विकास का परिचय देता है। पहले जब ध्वनियन्त्रों के अभाव में ध्वनि या उच्चारण की इन बारीकियों के प्रत्यक्ष अनुभव तथा ग्रहण में कठिनाई थी, तब का यह विश्लेषण है। आज तो बहुत-से ऐसे यन्त्र बन गये है, जिनसे यह प्रक्रिया सरलतर बन रही है।

३०. चौदहवें पटल में उच्चारण-दोष बताये गये हैं। यहाँ का दोष-प्रकरण शिक्षाओं के दोष प्रकरण की तुलना में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। शिक्षाओं में केवल पढ़ने या बोलने के सामान्य दोष बताये गये हैं, जैसे गाकर पढ़ना, अतिशीघ्र पढ़ना, सिर डुला-डुलाकर पढ़ना। अथवा बहुत धीमे बोलना, दाँतों से चबाकर बोलना, बड़ी तेजी से बोलना, ठहर-ठहरकर बोलना, बीच में कोई अक्षर ही छोड़ देना आदि (पा० शि०) किन्तु, यहाँ बहुत-से ऐसे दोष गिनाये गये हैं, जो भाषा के अपभ्रंश से तद्भव शब्दों की। बृद्धि के कारण हैं। साथ ही, वर्णविशेष का उच्चारण किस प्रकार किसी दूसरे वर्ण से मिलता-जुलता होने लगा, इसकी भी विस्तृत चर्चा है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह अध्याय आज भी बड़ा उपादेय है। इस अध्याय की संक्षिप्त झाँकी नीचे दी जाती है।

प्रथम सूत्र ने बताया है कि यहाँतक (क) वर्णों की संख्या, स्वरूप तथा गुण का निर्देश हो चुका, (ख) संहिता से उनमें क्या परिवर्त्तन हो जाता है, इसका भी विवरण दिया जा चुका। अब (ग) वर्णों के उच्चारण के दोषों के कुछ नमूने यहाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जायेंगे।[2] वर्णों के उच्चारण में जितने दोष होते हैं, उन्हें तीन भागों में बाँट सकते हैं : **आय, अपाय** तथा **व्यथन**।

---

१. ६।४७।

२. समुद्दिष्टा वर्णगुणा : पुरस्तान् निर्दिष्टानां सांहितो यश्च धर्मः।
तदापायव्यथनानि दोषास् तान् व्याख्यास्यामोऽत्र निदर्शनाय ॥ १ ॥

(क) आय : जो वर्ण नहीं है, उसका उच्चारण करना; जैसे 'ह्वयामि, यहाँ पूर्ववर्त्ती अनुनाद प्रतीत होता है। उस समय भी संयुक्त वर्णों से किसी शब्द का आरम्भ होने पर असुशिक्षित लोग कोई पूर्वध्वनि बोलते थे। जैसे : आजकल लोग स्नान को अस्नान, स्तुति को अस्तुति, स्त्री को इस्त्री आदि कहते हैं, उसी भाँति पहले लोग ह्वयामि' का सम्भवतः 'अह्वयामि' उच्चारण करते थे। यहाँ अ का का आगम या आय है। वस्त्र का बस्तर, शाप का श्राप, बेंच का ब्रेंच —इस आय के ही उदाहरण हैं।

(ख) उपाय : जो वर्ण है, उसे नहीं बोलना; जैसे—'ऊनयी' में 'यी' का। आजकल जैसे 'स्वर्ग' शब्द में व का लोप होकर 'सरग' उच्चारण होने लगा है, वैसे ही सम्भवतः पहले 'ऊनयी' का य लोप से ऊनै के ढंग का उच्चारण होने लगा था।

(ग) व्यथन : किसी वर्ण को पीडित कर उसकी ध्वनि ही बदल देना; जैसे 'रथ्या' का 'रस्या' की भाँति उच्चारण। जिस प्रकार पश्चिमी लोगों ने सिन्धु को 'हिन्दु' तथा सत्तर को 'हत्तर' (इकहत्तर) बना दिया है, या आजकल कोई-कोई ष को ख, ण को न, य को ज बोलते हैं, उसी प्रकार पहले कोई असुशिक्षित रथ्या को रस्या कहता होगा। स् और थ् में सब तो सदृश ही है, केवल आभ्यन्तर प्रयत्न का अन्तर है। कोई-कोई तो स् को फ् भी बोलता है, शीशम को 'फीफम' कहता है। यहाँ आभ्यन्तर प्रयत्न का ही नहीं, स्थान का भी परिवर्त्तन हो गया है—उच्चारण दन्त से ओष्ठ की तरफ खिसक गया।

ध्वनि-परिवर्त्तन के सभी नियम इन तीनों श्रेणियों में ही आ जायेंगे। इस पटल में ९८ सूत्र हैं। सबमें ध्वनि के विकार के ही कुछ उदाहरणस्थल दिखाये गये हैं। इनमें ग्रस्त, निरस्त, संदष्ट, अम्बूकृत आदि दोषों की चर्चा पतंजलि ने की है। दयानन्दीय शिक्षा में इसका उल्लेख हो चुका है। किन्तु, न्यास, पीडन, शून आदि कुछ ऐसे दोष भी यहाँ गिनाये गये हैं, जिनकी चर्चा शिक्षाओं में नहीं है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

१. अन्तस्थ[1] संयुक्त वर्णों में कहीं आदि का लोप कर देते हैं और कहीं अन्त का; जैसे निषद्य[2] को 'निषद्' पढ़ेंगे तथा 'वाय्वोः' को 'वायोः'। बंगाली लोग आज भी उद्वत को 'उद्दत' कहते हैं।

२. एक व्यंजन[3] दूसरे पार्श्ववर्त्ती व्यंजन पर भी प्रभाव डालता है; जैसे षड् द्वा द्वा।[4] यहाँ ड् के सम्पर्क से अगला द् भी ड् जैसा उच्चरित होने लगता है। आजकल भी 'दंड' को 'डंडा' कहा जाता है।

३. आ[5] के बाद आया विसर्ग प्रायः लुप्त-सा हो जाता है; जैसे देवाः, सोमाः का उच्चारण 'देवा', 'सोमा' होने लगता है।

---

१. सान्तस्थानामादिलोपान्तलोपौ, १४। १४।
२. ऋ० १। १७७। ४।
३. अन्योऽन्येन व्यञ्जनानां विरागः, १४। १६।
४. ऋ० ८। ६८। १४।
५. कण्ठ्या यथा रेफवतस्तथाहुः, १४। ३१।

४. स्वर[१] के बाद यदि संयोग के आदि में श् ष् स् आते हैं, तो बीच में विसर्ग-सा उच्चारण होने लगता है; जैसे 'ते स्तोकाश्चोतन्ति[२], का 'तेः स्तोकाः श्चोतन्ति' सा उच्चारण हो जाता है।

५. कुछ लोग[३] ऋ को रु जैसा पढ़ते हैं। जैसे : तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन्[४] में मात्रूस् पित्रून् ऐसा उच्चारण होता है। आज भी उड़िया लोग ऋषि को 'रुषि' कहते हैं, ऋण को 'रुण', जिससे अँगरेजी का (रुण = रुन = लुन = लोन) 'लोन' शब्द निष्पन्न होता है। महाभारत के सभापर्व में अर्जुन के द्वारा भारत से उत्तर के ऋषिक देश की विजय का वर्णन है। क्या यह 'ऋषिक' देश रूस (Russia) ही है? इससे कम-से-कम ऐसा तो प्रतीत होता ही है कि ऋ का रु जैसा उच्चारण ठीक नहीं।

६. कुछ लोग[५] वैयश्व को वय्यश्व[६] और कुछ रय्या को रैया[७], 'हृदय्य' को 'हृदैय'[८] बोलते हैं। आज भी कुछ लोग शय्या को 'शैया' बोलते-लिखते हैं।

७. कुछ[९] लोग 'ध्वनयीत्'[१०] को 'ध्वनैत्' पढ़ते हैं, तो कुछ लोग 'अभैष्म'[११], को 'अभयिष्म' कहते हैं।

८. कोई[१२] 'शृङ्ग[१३]' को 'शिङ्ग'[१४] ही बोलते हैं।

९. जहाँ बहुत से अनुनासिक'[१५] वर्ण आ जाते हैं, वहाँ स्वर भी अनुनासिक हो जाते हैं। जैसे : ननूनमस्ति नोश्वः[१६]।

१०. कहीं अ इ की विवृत्ति रहने पर ऐ तथा अ उ रहने पर औ ऐसा उच्चारण हो जाता है; जैसे 'स इन्द्र[१७], का 'सैन्द्र,' तथा 'कस्त उषः'[१८] का 'कस्तौषः' आदि।

किन्तु, यह सब मार्गप्रदर्शन-मात्र है। सूत्र ६३ ने ठीक ही कहा है कि स्वरों तथा व्यंजनों के परस्पर सजातीय या विजातीय संयोग में एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ने से इतने प्रकार के दोष पैदा होते हैं, हो सकते हैं कि उनकी गणना शक्य नहीं।[१९] 'उवट' ने इसके भाष्य में कहा है कि तरह-तरह के प्रयोक्ता, नाना प्रकार के स्थान, करण, अनुप्रदान, स्वर तथा विविध प्रकृति स्वभाव, शील, आधार किन वर्णों में कौन-से दोष पैदा कर देंगे, यह नहीं जान पाने के कारण इनका पार पाना कठिन है। वस्तुतः, यह सारा-का-सारा दोष-निरूपण सभी प्रकार के ध्वनिविकारों—सन्धियों का उत्स है। उच्चारण-दोष के कारण ही कोई भी ध्वनि-परिवर्त्तन होता है। इन उच्चारणशास्त्रों के सम्यक् अध्ययन से मनुष्य प्रत्येक वर्ण का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण पूर्णता से जान[२०] सकते हैं।

---

१. संयोगादेरूष्मणः पूर्वमाहुर्विसर्जनीयमधिकं स्वरोपधात्, १४।३३।

२. ऋ० ३।९।१२।

३. स्वरौ कुर्वन्त्योष्ठनिभौ सरेफौ तिस्रो मातॄ०स्त्रीन्पितॄन् यन्नृभिन्नॄन्, १४।३८।

४. ऋ० १।१६४।१०। ५. १४।४१। ६. ऋ० ८।२६।११। ७. ऋ० १०।१६।७।

८. ऋ० १।१५१।४। ९. १४।४३। १०. ऋ० १।१६२।१५। ११. ऋ० ८।४७।१८।

१२. १४।४६। १३. ऋ० ५।२।९। १४. १४।५६। १५. ऋ० १।१७०।१। १६. १४।६०

१७. ऋ० ६।३५। १८. ऋ० १।३०।२०। १९. १४।६३। २०. १४।६४।

इस वर्णशिक्षा[1] को अपूर्ण मानना ठीक नहीं। शास्त्रों में अपवाद मिलेंगे ही, ज्ञानभेद, मतभेद तो चलता ही रहेगा। सभी वेदांग ऋषिकृत हैं, वे भी अन्य शास्त्रों की भाँति पूर्ण हैं, निन्द्य नहीं।

सूत्र ६८ ने 'ऋक्प्रातिशाख्य' को भी शिक्षा (वर्णशिक्षा) ही कहकर पुकारा है और ६६ ने इसे वेदांग कहा[2] है। 'उवट' ने इस पटल की समाप्ति में पूर्वोक्त ६८।६६। सूत्रों को व्याख्या में कहीं से तीन श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें शिक्षाशास्त्र की महिमा बताई गई है। इन बातों से पता चलता है कि प्रातिशाख्य वाङ्मय भी वेदांग-शिक्षा-शास्त्र का ही मार्ग है। जिन्हें शिक्षा कहते हैं, वे सभी वेदों के लिए, साथ ही लोक के लिए भी सामान्य वर्णोच्चारण-सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। पर, प्रातिशाख्य केवल किसी वेद के शाखाविशेष के लिए उपयोगी बातों पर ही विशेष ध्यान देते हैं, यह इनके प्रतिशाख्य इस अन्वर्थ नाम से ही स्पष्ट है। यह ध्यातव्य है कि 'ऋक्प्रतिशाख्य' के सभी उदाहरण ऋग्वेद से ही लिये गये हैं, एक भी अन्यवेदीय या लौकिक उदाहरण नहीं है।

३१. इस प्रतिशाख्य का पन्द्रहवाँ पटल लगता है कि कल्प का भाग हो, शिक्षा का नहीं। इसमें अध्यापयिता और अध्येता को किस प्रकार अध्यापन-अध्ययन करना चाहिए, इसका विस्तार से वर्णन है, बीच-बीच में कहीं-कहीं प्रसंगवश उच्चारण-नियम का भी उल्लेख है। १७वें में प्रसंगवश २० उपसर्गों की भी गणना है।

३२. इसके सोलहवें, सतरहवें तथा अठारहवें पटल में केवल छन्दों की विवेचना है। इससे यह प्रमाणित होता है कि छन्दों का अध्ययन भी, भाषा के अध्ययन का, भाषाविज्ञान का ही एक अंग माना जाता था। पहले भी बताया जा चुका है कि भारत में आरम्भ से ही छन्दोविज्ञान भाषाविज्ञान का ही एक अंग माना जाता रहा है।

३३. बारहवें पटल के सत्रहवें सूत्र से इस पटल की समाप्ति तक पद के चार विभागों का वर्णन है। यह विषय शुद्ध निरुक्त का है, इस प्रकार प्रातिशाख्य शिक्षा से वर्णविचार लेकर अपनी ओर से उसमें ध्वनि-परिवर्त्तन का विचार जोड़ता है, और साथ ही निरुक्त के पद-विचार तथा छन्द के छन्दोविचार का भी स्पर्श करता है। यहाँ नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये विभाग ही नहीं, इनके विस्तृत लक्षण भी दिये गये हैं। आख्यात, क्रिया का बाधक होता है, उपसर्ग उसमें अर्थविशेष का निर्धारण करता है, नाम वस्तु को कहता है और पादपूर्ति मात्र के लिए आनेवाले निपात कुछ सार्थक होते हैं और कुछ अनर्थक, निपातों की संख्या अनियत है, पर उपसर्ग केवल २० ही हैं। बाद में वैयाकरणों ने 'निलयते'-'दुलयते' में लत्वसिद्धि के लिए निस् दुस् के अलावा निर् दुर् भी उपसर्ग माने हैं, किन्तु इन्हीं उपसर्ग, निपात, नाम और आख्यात का पद-विभाग और ये ही लक्षण भी परवर्त्ती भाषाविज्ञानियों के भी मान्य बने रहे।

पहले कई स्थानों पर बता आये हैं कि 'ऋक्प्रतिशाख्य' के बहुत-से सूत्र तत्समानार्थक पाणिनिसूत्रों से इस प्रकार मिलते हैं कि प्रतीत होता है कि एक ने दूसरे की

---

१. १४। ६८ तथा ६६।

२. "शास्त्रापवादात्प्रतिपत्तिभेदान्निन्दन्त्यकृत्स्नेति च वर्णशिक्षाम्" तथा "सैतेन शास्त्रैर्न विशिष्यतेऽन्यैः कृत्स्नं च वेदाङ्गमनिन्द्यमाजम्"।

सहायता अवश्य ली है । 'ऋक्प्रातिशाख्य' में विस्तार है, स्पष्टता है, पर अनुगम का अभाव है । पाणिनि में संक्षेप है, किन्तु अनुगम (अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-शून्यतायुक्त संक्षिप्त नियम है । नीचे दोनों के समान सूत्र आमने-सामने दिये जा रहे हैं :

१.	तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि, १।२१	= संयोगे गुरु, १।४।११।
२.	इपरो दीर्घवत् प्लुतः, १-४	= अप्लुतवदुपस्थिते, ६।१।१२९ ।
३.	तस्मादन्यमवसाने तृतीयं गार्ग्यः स्पर्शम् १।१५ तथा प्रथमं शाकटायन : १।१६	= वावसाने, ८।४ ।
४.	गुरूणि दीर्घाणि, १।२०	= दीर्घञ्च, १।४।१२।
५.	मात्रा ह्रस्वः, १,२७, द्वे दीर्घः, १।२९, तथा तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः	= ऊकालोज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः, १।२।२७ ।
६.	संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः, १।३७	= हलोऽनन्तराः संयोगः, १।१।७।
७.	ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः, १।६८	= सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे,१।१।१६।
८.	पदं चान्यः, १।६९।१	= ओत्, १।१।१५ ।
९.	षष्ठादयश्च द्विवचोन्तभाजस्त्रयो दीर्घाः, १।७१	= ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्, १।१।११ ।
१०.	साप्तमिकौच पूर्वौ, १।७२	= ईदूतौ च सप्तम्यर्थे, १।१।१९ ।
११.	अस्मे युष्मे त्वे अमीच प्रगृह्याः, १।७३	= शे,१।१। १३; अदसोमात्, १।१।१२ ।
१२.	उकारश्चेति करणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन, १।७५	= उञः = १।१।१७; ऊँ, १।१।१८
१३.	समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम् २।१५	= अकः सवर्णे दीर्घः, ६।१।१०१।
१४.	इकारोदय एकारमकारः सोदयः, २।१६ तथा उकारोदय ओकारम् २।१७	= आद्गुणः ६।१।८७ ।
१५.	परेष्वैकारमोजयोः, २।१८ औकारं युग्मयोः, २१।९	= वृद्धिरेचि ६।१।८८।
१६.	समानाक्षरमन्तस्थां स्वामकण्ठ्यां स्वरोदयम् २-२१	= इको यणचि, ६।१।७७ ।
१७.	प्रकृत्येतिकरणादौ प्रगृह्या. २।५१	= प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्,६।१।१२५।
१८.	एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः, ३।३	= समाहारः स्वरितः १।१।४०
१९.	घोषवत्परः प्रथमास्तृतीयान् स्वान्-४-२	= झलां जशोऽन्ते, ८।२।३९
२०.	उत्तमानुत्तमेषूदयेषु, ४।३	= यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा, ८।४।४५ ।
२१	सर्वैः प्रथमैरुपधीयमानः शकारः शकल्य पितुश्छकारम्, ४।४	= शश्छोटि, ८।४।६३ ।

२२. पदान्तैस्तैरेव तृतीयभूतैस्तेषां चतुर्थानुदयो हकारः, ४।४	= द झषो होऽन्यतरस्याम्, द।४।६१ ।
२३. विस्थाने स्पर्श उदये मकारः सर्वेषामेवोदयस्योत्तमं स्वम्, ४।६ ।	= मोऽनुस्वारः, द।३ २३। अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, द।४।५द।
२४. तथा नकार उदमे लकारे, ४।द	= तोर्लि, द।४।६० ।
२५. ञकारं शकारचकारयोः, ४।६ २६. तकारो ञकारलकारयोस्तौ, ४।१० २७. तालव्येऽघोष उदये चकारम्, ४।११	= स्तो : श्चुनाश्चु : द।४।४० ।
२८. छकारं तयोरुदयः शकारः ४।१२	= शश्छोटि, द।४।६३ ।
२९. रेफोष्मणोरुदययोर्मकारोऽनुस्वारं तत् परिपन्नमाहुः , ४।१५	= मोऽनुस्वारः, द।३।२३ ।
३०. ङकारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरे के ककारम्, ४।१६	= ङ्णोः कुक्टुक् शरि, द।३।२द ।
३१. टकारनकारयोस्तु आहु : सकारोदययोस्तकारम्, ४।१७	ङः सि धुट्, द।३।२९ । = नश्च, द।३।३० ।
३२. ञकारे शकारपरे चकारम्, ४।१द	= शि तुक, द।३।३१ ।
३३. सम्राट् शब्द : परिपन्नापवादः, ४।२३	= मो राजि समः क्वौ, द।३।२५ ।
३४. ओकारं ह्रस्वपूर्व :, ४।२५	= हशि च, ६।१।११४ ।
३५. द्राघितोपधा ह्रस्वस्य, ४।२६	ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोणः, ६।३।१११। रो रि द।३।१४ ।
३६. अघोषे रेफ्यरेफी चोष्माणं स्पर्श उत्तरे तत्सस्थानमनूष्मपरे, ४।३१	विसर्जनीयस्य सः, द।३।३४ । स्तो : श्चुनाश्चु :, द।४।४० ।
३७. प्रथमोत्तमवर्गीये स्पर्शे वा, ४।३३	= कुप्वो : ᳲक ᳳपौ च, द।३।३७
३द. तमेवोष्माणमूष्मणि, ४।३२ ऊष्मणि चानते, ४।३४	= वा शरि, द।३।३६ ।
३९. परं रेफात्, ६।४	= अचो रहाभ्यां द्वे, द।४।४६ ।
४०. न तूष्मा स्वरोष्मपर :, ६।१०	= शरोचि, द।४।४९ ।
४१. पदान्तीया ह्रस्वपूर्वौ ङकारो नकारश्च क्रामत उत्तरे स्वरे, ६।१५	= ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्, द।३।३२ ।
४२. रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्, १३।२०० रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः, १।३६	= मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः, १।१।द ।

इस प्रकार, और भी कुछ सूत्रों में शब्द या अथ का सादृश्य ढूँढ़ा जा सकता है, किसी में कम, किसी में बहुत।

'ऋक्प्रातिशाख्य' में निम्नांकित भाषाविज्ञानियों के मत उद्धृत किये गये हैं :

१. भूमिका में—शौनक, माण्डूकेय, माक्षव्य, अगस्त्य, शूरवीर (विष्णुमित्र-कृत वर्गद्वयवृत्ति), शूरवीरसुत = ६
२. प्रथम पटल में—गार्ग्य, शाकटायन, वेदमित्र, शाकल = ४
३. द्वितीय पटल में—गोतम, शाकल्य स्थविर = २
४. तृतीय पटल में—शाकल्य, माण्डूकेय, व्याडि = ३
५. चतुर्थ पटल में—शाकल्यपिता = १
६. षष्ठ पटल में—शाकल = १
७. एकादश पटल में—बाभ्रव्य = १
८. त्रयोदश पटल में—व्याडि, शाकल्य, गार्ग्य = ३

इस प्रकार, प्रायः १५-१६ आचार्यों के मत इसमें दिये गये हैं।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य

यह कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का प्रातिशाख्य है। इसपर माहिषेय भाष्य (पदक्रमसदन), त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण ये तीन भाष्य उपलब्ध हैं। माहिषेय भाष्य को श्री वे० वेंकट शर्मा ने एक लघु टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया है। भूमिका में शर्माजी ने लिखा है कि सर्वाण्यपि हि प्रातिशाख्यानि वेदग्रन्थानां संहितापाठे, पदपाठे, क्रमपाठे च उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचयलक्षणं स्वरं, वर्णागमादेशलोपप्रकृतिभावरूपं संस्कारं च सामान्यविशेषरूपैर्विधिभिरुपदिशन्ति। तत्र संहितापाठात् पदे क्रमे च यो विशेषः तादृशान् विशेषान् प्रधानतो विधिष्वन्तर्भावयितुमेव प्रातिशाख्यं प्रवृत्तम्। यत्र संहिता-पदयोः संहिताक्रमयोर्वा मिथो विसंवादो नास्ति तत्र स्वरसंस्कारावधिकृत्य प्रवृत्ता विधयः सामान्यशास्त्रादवगन्तव्याः। यदाहोव्वटः—यत्र पुनः पदकारस्य चार्षसंहितायाश्च समान-त्वं तत्र लक्षणं न वक्ति, व्याकरणस्य विषय इति। अर्थात्, प्रातिशाख्य का विषय है सन्धि का विश्लेषण, संहितापाठ का पदपाठ या क्रमपाठ से जो अन्तर है, उसकी व्याख्या। जहाँ दो पदों या वर्णों के मिलने से या पृथक् होने से किसी वर्ण का आगम, आदेश, लोप, प्रकृतिभाव, उदात्तत्वादि होते हैं, वही प्रातिशाख्य का लक्ष्य है। संहितादि पाठों से निरपेक्ष जो वर्णविकार और स्वरादि हैं, वे व्याकरण का विषय हैं।

इसमें दो 'प्रश्न' हैं, प्रत्येक में १२ अध्याय हैं। इनकी सूत्रसंख्या निम्नांकित है :

प्रश्न १		प्रश्न २	
अध्याय-संख्या	सूत्र-संख्या	अध्याय-संख्या	सूत्र-संख्या
१	६२	१	६१
२	५२	२	३३

प्रश्न १		प्रश्न २	
अध्याय-संख्या	सूत्र-संख्या	अध्याय-संख्या	सूत्र-संख्या
३	१६	३	६
४	५४	४	३०
५	४१	५	८
६	१४	६	७
७	१६	७	५
८	३४	८	१३
९	२४	९	१६
१०	२५	१०	१५
११	१९	११	२१
१२	११	१२	६
	३६८		१७९

कुलयोग ५४७

ऋक्प्रतिशाख्य से तैत्तिरीय प्रतिशाख्य में निम्नांकित अन्तर हैं :

१. वर्णमाला

इस प्रतिशाख्य के अनुसार वर्णों की संख्या यह है : (क) आदि में सोलह[1] स्वर हैं, माहिषेय के अनुसार ये अ आ आ ३, इ ई ई ३, उ ऊ ऊ ३, ऋ ॠ, लृ, ए ऐ, ओ औ हैं । इनमें भी आदि के ६ समानाक्षर[2] हैं, अर्थात् अ आ आ ३, इ ई ई ३, उ ऊ ऊ ३ । (ख) शेष व्यंजन[3] हैं। इनमें आरम्भ के २५ स्पर्श[4] हैं, जिनके ५-५ का एक-एक वर्ग बनता[5] है, इस भाँति ५ वर्ग हैं । इसके बाद ४ अन्तस्थ[6] हैं । फिर, ६ ऊष्म[7] हैं— ᳵक श ष स ᳵप तथा ह । इस तरह व्यंजन ३५ हुए । दोनों मिलकर कुल ५१ वर्ण हैं । **अथ वर्णसमाम्नायः** इस प्रथम सूत्र से वर्णों की गणना है और यह सूत्र ११ तक चली है । इस प्रकरण में इस प्रतिशाख्य ने केवल ५१ ही वर्ण गिनाये हैं । पर, **अथ वर्णसमाम्नायः** की व्याख्या में माहिषेय ने लिखा है : **आम्नाय इत्यानुपूर्व्येण अकारादयो यमपर्यवसानाः पूर्वाचार्यैरुपदिष्टा वर्णाः** । यहाँ पहले पूर्वोक्त वर्णों की संख्या और क्रम के बाद अन्त में कं खं गं घं ये चार यम भी गिनाये हैं, अर्थात् माहिषेय के अनुसार वर्ण कुल ५५ हैं ।

इसके बाद सूत्र १२ में ऊष्म के साथ ही विसर्जनीय[8] का ग्रहण है । इससे दो बातें निकलती हैं कि, वर्णमाला में एक वर्ण विसर्जनीय भी है, और वह ऊष्म नहीं है । फिर, सूत्र १८ में विसर्ग के साथ अनुस्वार तथा नासिक्य का भी उल्लेख है । सोलहवें[9], सत्रहवें[10] सूत्रों का कहना है कि वर्णों में कार प्रत्यय जोड़कर उस वर्णजाति का बोध कराते हैं, जैसे अकार, इकार, ककार आदि । अठारहवें[11] सूत्र ने इसका अपवाद बताया है कि विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार तथा नासिक्य इनमें कार शब्द नहीं जुटता । जैसे : कार, ᳵ कार का प्रयोग नहीं होता । इस सूत्र में नासिक्य का अर्थ अवश्य ही ४ यम है । नासिक्य का अर्थ है— नासिकास्थानीय । ऐसे वर्ण निम्नांकित हो सकते हैं— (क) ङ ञ ण न म, (ख) अनुस्वार, (ग) अनुनासिक तथा (घ) ४ यम । इनमें से प्रथम का यहाँ नासिक्य-पद से ग्रहण नहीं हो सकता; क्योंकि इनसे कार प्रत्यय

---

१. षोडशादितः स्वराः, १।१।५ ।
२. अथ नवादितः समानाक्षराणि, १।१।२ ।
३. शेषा व्यञ्जनानि, १।१।६ ।
४. आद्याः पञ्चविंशतिः स्पर्शाः, १।१।७ ।
५. स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्च पञ्च वर्गाः, १।१।१०; प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः, १।१।११ ।
६. पराश्चतस्रोऽन्तस्थाः, १।१।८ ।
७. परे षडूष्माणः, १।१।९।३ १।१।१ ।
८. ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीया अघोषाः, १।१।१२ ।
९. वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या, १।१।१६ ।
१०. अकारव्येतो व्यञ्जनाम्, ।१।१।१७ ।
११. न विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयनुस्वारनासिक्यानाम, १।१।१८ ।

जुटता है। स्वयं इसी प्रातिशाख्य में पंचम अध्याय के बारहवें[1] सूत्र में मकार का, चौबीसवें[2] में नकार का तथा सातवें अध्याय के पहले सूत्र[3] में णकार का प्रयोग है। अनुस्वार का तो नासिक्य के साथ ही इसी सूत्र में कथन है, अतः नासिक्य का अर्थ अनुस्वार हो ही नहीं सकता। अनुनासिक भी इस ग्रन्थ में नासिक्य से विवक्षित नहीं हो सकता; क्योंकि दूसरे अध्याय के ४६ वें सूत्र[4] में नासिक्यों के लिए बहुवचन का प्रयोग है। आनुनासिक्य या रंग तो एक ही है। इसके अगले पचासवें[5] सूत्र ने इन नासिक्यों को मुखनासिक्य भी कहा तथा इक्यावनवें[6] ने बताया कि इनमें वर्गीय वर्णों की भाँति ही स्थान और करण होते हैं। ये बातें अनुनासिक या रंग में घट ही नहीं सकतीं। अतः, अवश्य ही इस प्रातिशाख्य में नासिक्य का अर्थ यमवर्ण है। ऋक्प्रातिशाख्य में यद्यपि नासिक्य का सामान्यतः[7] अर्थ अनुनासिक, अनुस्वार तथा यम तीनों हैं; पर वहाँ भी नासिक्य से प्रायः अनुनासिक[8] का ही ग्रहण होता है।

माहिषेय ने द्वितीयाध्याय के ४६ वें सूत्र में नासिक्यों के निम्नांकित उदाहरण दिये हैं : (क) रुक्ममुपदधाति (सं० ५।२।७), (ख) आतनच्मि (सं० १।१।३), (ग) आट्णारः (५।६।५), (घ) रत्नमभजन्त (सं० २।६।१२), पाप्मा (सं० २।२।७), तिग्मम् (सं० ४।७।१५), दघ्ना (सं २।५।३)। माहिषेय अवश्य ही इन उदाहरणों में यम वर्णों को भी दिखा रहे हैं; ङ ञ ण न म को नहीं; क्योंकि ङ और ञ एक भी उदाहरण में उपलब्ध नहीं है, किन्तु म रुक्म, आतनच्मि, पाप्मा तथा तिग्म इन चार-चार शब्दों में प्राप्त है। इनमें कहीं अनुस्वार या आनुनासिक्य भी नहीं है, अतः नासिक्य का वह भी अभिप्राय नहीं हो सकता।

'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' ने अपनी वर्णमाला में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को तो स्थान दिया है; पर अनुस्वार, विसर्ग तथा यम वर्णों का उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत माहिषेय ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में वर्णमाला में ४ यमों को स्थान दिया है; पर अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन चारों की चर्चा छोड़ दी है। इन आठों का उल्लेख वर्णमाला से बाहर सूत्र १८ ने एक ही साथ कर दिया है। किसी भी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ अक्षर यम रूप में प्रयुक्त हो सकता था; पर इनकी जाति चार ही मान ली गई थी। शिक्षा और ऋक्प्रातिशाख्य ने इन्हें कुं खुं गुं घुं कहा तथा तैत्तिरीय प्रतिशाख्य ने कं खं गं घं। बात एक ही हुई, चाहे कोई ऊ अनुबन्ध लगाये या अ। प्रथमापस्थित होने से कोई अ ही अनुबन्ध लगाना पसन्द करता होगा।

---

१. ईं पूर्वो मकारः, १।५।१२।
२. नकार एतेषुकारम्, १।५।२४।
३. अथ नकारो णकारम्, १।७।१।
४ नासिक्या नासिकास्थानाः, १।२।४६।
५. मुखनासिक्या वा, १२।५०।
६. वर्गवच्चैषु, २५१।
७. ऋक्प्रातिशाख्य, १।४७।
८. ऋक्प्रातिशाख्य, १।४८।

कोई सोचता होगा, उ अनुबन्ध में जातिग्राहकता शक्ति है। कु कहने से कवर्ग का ग्रहण
हो जाता है। उसी भाँति कुं कहने से प्रथमाक्षर यम जातिवाले क च ट त प का तथा
खुं से द्वितीयाक्षर यम जाति वाले ख छ ठ थ फ का। इस भाँति गुं तथा घुं से भी पूरा
तृतीयाक्षर तथा चतुर्थाक्षर जातियों का ग्रहण होगा। यही दिखाने के लिए माहिषेय ने
१।२।४६ की व्याख्या में कं रूप यम के क च ट त प का एक-एक उदाहरण देकर एक खं
रूप द्वितीयाक्षर का, एक गं रूप तृतीयाक्षर का तथा एक घं रूप चतुर्थाक्षर यम का
उदाहरण दिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उव्वट की भाँति माहिषेय भी यम का अर्थ
वर्णागम या वर्णद्वित्व नहीं, वर्णादेश ही मानते हैं और यम का अर्थ युग्म नहीं, सन्धारण
करते हैं। इस भाँति सबका संग्रह करने पर तैत्तिरीय प्रतिशाख्य में निम्नांकित वर्ण माने
जाते हैं: (क) स्वर—१६, (ख) स्पर्श—२५, (ग) अन्तस्थ—४, (घ) ऊष्म—श ष स ह,
जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय, (ङ) अनुस्वार तथा विसर्ग और (च) यम—५७। शिक्षा ने
जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को ऊष्म की पंक्ति से हटाकर अनुस्वार तथा विसर्जनीय की
श्रेणी में बिठाकर इन्हें[1] अयोगवाह कहा। ऋक्प्रातिशाख्य ने इन आठों को एक[2] पंक्ति
में रखकर सबको ऊष्म बताया, पर तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने अनुस्वार विसर्जनीय को
अलग-अलग भो बिठाया और वर्णमाला में स्थान भी नहीं दिया।

चूँकि, इस प्रतिशाख्य में स्वयं १६ स्वर नहीं गिनाये गये हैं, अतः सन्देह रह ही
जाता है कि सोलह स्वर कौन हैं? साथ ही, यह भी शंका रहती है कि इनमें आदि के
६ समानाक्षर कौन हैं? माहिषेय ने जो स्वर गिनाये हैं, उनमें ऋ ऌ ए ऐ ओ औ के
प्लुतभेद नहीं गिनाये, और अ, इ, उ के प्लुतभेद गिनाये हैं, पर इसका कोई कारण नहीं
दीखता। ऋक्प्रातिशाख्य ने स्वरों में किसी भी प्लुत की गणना नहीं की है। ऋक्प्राति-
शाख्य ने आठ समानाक्षर माने हैं, जिनमें उव्वट के मत से ह्रस्व तथा दीर्घ अ ऋ इ उ
का ग्रहण[3] है, पर तैत्तिरोय ने ६ समानाक्षर बताये हैं, जो माहिषेय के मत से अ, इ, उ
के ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत भेद हैं। ऋक्प्रातिशाख्य ने ऌ को वर्णसमाम्नाय में स्थान नहीं
दिया, तैत्तिरीय के माहिषेय भाष्य ने ऌ के केवल ह्रस्वभेद को तो स्थान दिया; पर ऌ के
साथ ॠ को भो समानाक्षरों की पंक्ति से बाहर कर दिया। बल्कि, ऋ ॠ ऌ को ए ऐ
ओ औ के साथ ६ समानाक्षरों से पृथक् रखा; किन्तु समानाक्षर के वजन पर इन्हें
सन्ध्यक्षर नहीं बताया, यहाँतक कि ए ऐ ओ औ को भी सन्ध्यक्षर नहीं कहा। यूँ हम
इन्हें अपनी सुविधा के लिए समानाक्षर से भिन्न मिश्रिताक्षर कह सकते हैं। यह ठीक भी
लगता है क्योंकि ए, ऐ, ओ, औ की भाँति ऋ ॠ ऌ भी निःसन्देह शुद्ध एक वर्ण नहीं हैं।
सभी भाषाविज्ञानविदों ने इनमें दो जातियों का, स्वर तथा व्यंजन का, अविभाज्य
मिश्रण माना है। इस तरह, वर्ण-समाम्नाय में तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की अपनी कुछ
मौलिकता है।

१. दे० ऋग्वेदीय पा० शि०, श्लोक २२ की तथा दयानन्दीय पा० शि०, सूत्र ७ की व्याख्या।
२. १।१०।
३. १।१।

२. वर्णधर्म :

(क) घोष : वर्ण-समाम्नाय-निर्देश के बाद वर्णधर्मों की चर्चा है। उनमें सर्वप्रथम घोष का वर्णन है। इस दृष्टि से ३ विभाग किये गये हैं :

(अ) श, ष, स जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्जनीय, प्रथम तथा द्वितीय वर्ण अघोष[1] हैं।

(आ) ह् अघोष नहीं[2] है।

(इ) शेष सभी व्यंजन घोषवान् हैं[3]।

यहाँ ३ बातें विचारणीय हैं :

(अ) विसर्जनीय की वर्ण-समाम्नाय में चर्चा नहीं की, पर घोष-ध्वनियों के साथ इसका भी उल्लेख कर दिया। इसका अर्थ यह कि इस ध्वनि को तो मान्यता देते हैं, पर यह पूर्ण स्वतन्त्र वर्ण नहीं कहला सकती।

(आ) घोष-निरूपण में तीन सूत्रों की एकवाक्यता से दो प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। यहाँ दो मत हैं। एक के अनुसार यहाँ दो श्रेणियाँ हैं : १. ह्-भिन्न ऊष्म, विसर्जनीय, प्रथम; द्वितीय अघोष है; २. शेष व्यंजन घोष है। दूसरे के अनुसार यहाँ तीन श्रेणियाँ हैं : १. सूत्र १२ में उक्त वर्ण अघोष हैं, २. ह् अघोष नहीं है, ३. और इन दोनों के शेष व्यजन घोष हैं। इसका यह तात्पर्य हुआ कि ह् मध्यवर्ती है, न अघोष न घोष। माहिषेय कहते हैं : नापि हकारो घोषवान् स्यात् नाप्यघोषः।

(इ) इस प्रसंग में स्वरों का उल्लेख ही नहीं किया। माहिषेय ने तो इसका अपनी ओर से उल्लेख कर कह दिया कि स्वर न घोष हैं, न अघोष : स्वरा नापि घोषवन्तो नाप्यघोषाः। अर्थात्, सभी स्वर और ह् घोष तथा अघोष दोनों से भिन्न मध्यवर्त्ती हैं। वास्तव में, ह् स्वरसजातीय व्यंजन है यह और भाषावैज्ञानिकों ने भी माना है। ऋक्प्रातिशाख्य ने ह् में श्वास और नाद दोनों मानकर इसे तीसरी श्रेणी में रखा है, पर इसके साथ स्वरों की चर्चा नहीं की है।

(ख) मात्रा : १. अकार ह्रस्व है, २. तथा अकार के समान कालवाले सभी स्वर भी ह्रस्व हैं। ३. उससे दुगुनी मात्रावाले स्वर दीर्घ होते हैं। ४. तथा तिगुनी मात्रा-वाले प्लुत कहे जाते हैं। ५. व्यंजन में ह्रस्व का आधा काल लगता है। ६. अ के समान[4] कालवाला अनुस्वार भी ह्रस्व कहा जाता है। ७. ऋ ऌ[5] भी ह्रस्व कहे जाते हैं।

यहाँ अ के समानकालिक अनुस्वार को ह्रस्व कहा गया है। यह उक्ति आवश्यक है; क्योंकि पहली उक्ति में अ के समानकालिक स्वरों को ह्रस्व कहा गया था। किन्तु, अनु-स्वार न तो पूरी तरह स्वर है, न पूरी तरह अ का समानकालिक। इसे ह्रस्व इसलिए

---

१. ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीया अघोषाः १।१।१२।
२. न हकारः १।१।१३।
३. व्यंजनशेषो घोषवान् १।१।१४।
४. अनुस्वारश्च, १।१।३४।
५. ऋकारऌकारौ ह्रस्वौ १।१।३१।

कहते हैं कि इससे अधिककालिक भी एक अनुस्वार होता है, जिसे दीर्घ कहते हैं। वास्तव में, न ह्रस्व अनुस्वार पूरी एक मात्रा का होता है, न दीर्घ पूरी दो मात्राओं का। किन्तु, आपेक्षिक रूप से ये परस्पर (लक्षणा से) ह्रस्व तथा दीर्घ कहे जाते हैं। इससे भी विचित्र यह है कि यहाँ ऋ ऌ को अलग से ह्रस्व कहा गया है। अ के समानकालिक स्वर ह्रस्व होते हैं, इस सामान्य उक्ति से ऋ ऌ का संग्रह नहीं होता था। क्या इ उ की भाँति ऋ ऌ अ के समानकालिक नहीं हैं? ऋक्प्रातिशाख्य ने अ को नमूना नहीं बताया, उसने सीधे मात्राकालिक[1] को ह्रस्व कहकर अ, इ, उ, ऋ, ऌ सबका संग्रह कर लिया। परन्तु, तैत्तिरीय ने एकमात्रा काल को स्पष्टतर करने के लिए एक उदाहरण 'अ' सामने रख दिया। लेकिन, उससे कठिनाई हो गई। उस समय तक अवश्य ही ऋ ऌ का सही उच्चारण भूलने लगा था। अब इनके उच्चारण में अ से अधिक समय लग रहा था। अ, इ, उ की तरह ऋ ऌ नहीं थे, इसीलिए माहिषेय ने ऋ ऌ को समानाक्षर नहीं माना है। ऋ तथा ऌ अब र् + इ तथा ल् + र् + इ बन गये थे। अतः, शंका होना स्वाभाविक था कि इनमें तो इ से अधिक काल लग रहा है, ये ह्रस्व कैसे होंगे। इसलिए, प्रातिशाख्य को इन्हें अलग से ह्रस्व बताना पड़ा। सच तो यह है कि आरम्भ से ही इनके उच्चारण में अवश्य ही अ, इ, उ से अधिक काल लगता होगा; पर तैत्तिरीय प्रातिशाख्य को ही सर्वप्रथम यह स्पष्ट करने का श्रेय है।

(ग) **उदात्तादि स्वरः** : इसके अनन्तर सूत्र ३८, ३९, ४० क्रमशः उदात्त, अनुदात्त, स्वरित संज्ञा-विधायक हैं, जो प्रत्यक्षर पाणिनि के सूत्रों के तुल्य हैं। उदात्त से परे रहने पर स्वरित की भी आधी मात्रा उच्चैस्तर, अर्थात् उदात्ततर हो जाती है और शेष डेढ़ मात्रा भी उदात्तसम[2] हो जाती है। व्यंजन के साथ रहने पर भी स्वरित की यही स्थिति रहती है। अथवा, बाद का हिस्सा उदात्ततम नहीं नीचैस्तर[3], अर्थात् अनुदात्ततर होता है। अथवा शेष भाग अनुदात्ततर नहीं, केवल अनुदात्तसम[4] होता है। कुछ आचार्यों की मान्यता है कि स्वरित का आदि ह्रस्वार्द्धकाल उदात्तसम तथा शेष अनुदात्तसम[5] रहता है। कुछ का कहना है कि आदि से अन्त तक समूचा पूर्णस्वरित[6] रहता है। यहाँ उदात्तपरवर्त्ती स्वरित के विश्लेषण में सिद्धान्त हैं :

१. एकमात्रिक या अनेकमात्रिक स्वरित में निम्नांकित पहली आधी मात्रा उदात्ततर, शेष उदात्तसम।

२. पहली आधी मात्रा उदात्ततर, शेष अनुदात्ततर।

३. पहली आधी मात्रा उदात्ततर, शेष अनुदात्तसम।

---

१. १।२७।

२. 'तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य' तथा 'उदात्तसमः शेषः, १।१।४१, ४२।

३. अनन्तरो वा नीचैस्तराम्, १।१।४४।

४. अनुदात्तसमो वा, १।१।४५।

५. आदिरस्योदात्तसमः शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः, १।१।४६।

६. सर्वप्रवण इत्येके।

४. पहली आधी मात्रा उदात्तसम, शेष अनुदात्तसम ।

५. आदि से अन्त तक पूरा स्वरित ।

इसमें पाणिनि सम्भवतः चौथे सिद्धान्त के पोषक थे। उनका तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् इसी छियालीसवें सूत्र का समर्थक मालूम पड़ता है। अतः, दीक्षित का यह कहना ठीक नहीं कि पाणिनि के इस सूत्र में ह्रस्व-ग्रहण विवक्षित नहीं है। यह बात ठीक नहीं जँचती। 'ह्रस्व' नहीं कहने पर इस सूत्र का अर्थ होगा कि स्वरित का पहला आधा उदात्त तथा पिछला आधा अनुदात्त होता है। ऐसी स्थिति में ह्रस्व में आधा मात्रा उदात्त, आधा अनुदात्त, दीर्घ में एक मात्रा उदात्त, एक मात्रा अनुदात्त तथा प्लुत में डेढ़ मात्रा उदात्त और डेढ़ मात्रा अनुदात्त होगी। किन्तु, अर्धह्रस्व कहने पर दीर्घ में आधी मात्रा उदात्त तथा डेढ़ मात्रा अनुदात्त और प्लुत में आधी मात्रा उदात्त तथा ढाई मात्राएँ अनुदात्त रहेंगी। यहाँ के चौथे सिद्धान्त तथा पाणिनि की यही मान्यता प्रतीत होती है कि स्वर चाहे एकमात्रिक, द्विमात्रिक या त्रिमात्रिक रहे, पहली आधी मात्रा ही उदात्त रहेगी, शेष सारी मात्राएँ अनुदात्त होंगी।

(घ) **वर्णोत्पत्ति और श्वासनाद** : द्वितीयाध्याय का आरम्भ शब्दों की उत्पत्ति से होता है। शरीरस्थ वायु[1] उठकर जब उरस् और कण्ठ से टकराती है, तब शब्द की उत्पत्ति होती है। 'माहिषेय' ने प्रातिशाख्य की इस उक्ति के समर्थन में दो श्लोक कहीं से उद्धृत किये हैं। यहाँ प्रातिशाख्य ने यह नहीं बताया है कि यह शरीरस्थ वायु है कौन-सी। बड़ी सरलता से शरीरस्थ वायु का अर्थ प्राणवायु (उच्छ्वास, बाहर निकलने-वाली साँस) किया जा सकता है। यही आजकल का सर्वमान्य सिद्धान्त भी है कि प्राणवायु ही जब बाहर निकलती है, तब उन स्थानों से टकराकर विभिन्न ध्वनियाँ पैदा करती हैं। पर, माहिषेय पाणिनिशिक्षा की भाँति जठराग्निप्रेरित, नाभिदेश से ऊपर उठी वायु से ही, उरस्, कण्ठ आदि स्थानों में ध्वनि की उत्पत्ति मानते हैं : औदरेणाग्निना समीरित ऊर्ध्वं नाभेरुत्थितो वायुः कण्ठस्योरसश्च सन्धाने तैस्तैः करणविशेषैः पीड्यमानः शनैः शनैः मुखनासिकाभ्यां विनिःसृतशब्द इत्यभिधीयते। श्लोकावप्यत्र चोदाहरन्ति :

> योऽयमन्तःशरीरेऽग्निः सम्प्रेरयति मारुतम्।
> स शरीरं सदोपैति मनसा चोपयुज्यते ॥
> ततः रुञ्जायते नादः तमिदं ब्रह्मणो विदुः।
> ईश्वरः सर्वभूतानां वाचस्पतिरसंशयम् ॥

'माहिषेय' का उपर्युक्त सिद्धान्त तथा ये श्लोक पाणिनिशिक्षा[2] के शब्दोत्पत्ति-सिद्धान्त के पोषक लगते हैं; पर ऋक्प्रातिशाख्य[3] तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने अपने शब्दोत्पत्ति-सिद्धान्त में जठराग्नि से प्रेरित वायु का उल्लेख नहीं किया है; बल्कि ऋक्प्रातिशाख्य ने तो स्पष्टतः प्राणवायु को ही ध्वनि का मूल माना है।

---

१. १।१।३२।

२. वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने, १।२।१

३. श्लोक ६ तथा ७। ४. १३।१।

इस ध्वनि के ५ प्रातिश्रुत्क[1] हैं, अर्थात् यह ५ स्थानों से सुनाई पड़ती है, उरस्, कण्ठ, शिरस्, मुख तथा नासिका। ये ही ५ वर्णों के स्थान हैं। शिक्षा[2] तथा ऋक्प्रातिशाख्य[3] में उक्त जिह्वामूल, तालु, दन्त तथा ओष्ठ इन चारों का यहाँ एक मुख में ही अन्तर्भाव है।

वर्णों की प्रकृतियाँ तीन मानी गई हैं। कण्ठ-विवर के संवृत रहने[4] पर नाद होता है, विवृत[5] रहने पर श्वास, मध्य की स्थिति में हकार[6] रहता है। ऋक्प्रातिशाख्य[7] ने इन्हें गुण भी कहा है और प्रकृति भी। यहाँ इन्हें केवल प्रकृति[8] कहा गया है। यहाँ कण्ठ की विवृतता के तीन सोपान देखकर यही ठीक लगता है कि प्रथमाध्याय में घोषता के भी सूत्र १२, १३, १४ के अनुसार तीन ही सोपान रखे जायँ, दो नहीं। वहाँ घोषता-अघोषता की मध्यवर्त्ती स्थिति तो एक मानी गई; पर उसका कोई नाम नहीं रखा गया। यहाँ नाद और श्वास की मध्यवर्त्ती स्थिति का नाम ह रख दिया गया; क्योंकि इस मध्यवर्त्ती स्थिति में रहनेवाले वर्णों का ह मुख्य प्रतिनिधि है।

सभी स्वर तथा घोषवान् वर्णों के उच्चारण में कण्ठ के संवृत रहने से नाद[9] अनुप्रदान रहता है और अघोष वर्णों के उच्चारण में कण्ठ के विवृत रहने से श्वास[10] अनुप्रदान होता है। ह तथा चतुर्थ वर्णों के उच्चारण में हकार[11] अनुप्रदान रहता है, अर्थात् नाद और श्वास की मध्यवर्त्ती स्थिति रहती है। इस प्रकार, तीन प्रकृतियों का यहाँ सभी वर्णों में विभाग भी बता दिया गया। इतना अंश बिलकुल ऋक्प्रातिशाख्य के वर्गीकरण से मिलता है। किन्तु, ऊपर तीन ही प्रकृति बताकर भी यहाँ एक और चौथी श्रेणी बना दी। अघोषों में भी प्रथम वर्णों से भिन्न वर्णों में प्रथम की अपेक्षा अधिक[12] श्वास रहता है। यह बाह्य प्रयत्न-निरूपण हुआ, जिसे यहाँ वर्णप्रकृति कहा गया। फिर, यह ध्यातव्य है कि स्वरों को नादवान् तो माना गया; परन्तु घोषवान्[13] नहीं। इस प्रकार, प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों के घोष और नाद-निरूपण को मिला देने से यह अर्थ निकला कि कुछ वर्णों का विवार श्वास अघोष प्रयत्न होता है, कुछ का संवार नाद घोष और कुछ ऐसे होते हैं, जिनमें इन दोनों में से कोई भी कोटि पूरी तरह लागू नहीं होती। इस प्रसंग में महाप्राण अल्पप्राण की चर्चा नहीं की गई; किन्तु थोड़ा ही ध्यान देने पर स्पष्ट

१. तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्त्युरः कण्ठः शिरो मुखं नासिके इति, १।२।३।
२. श्लोक १३।
३. १।३८ से ४९ तक।
४. संवृते कण्ठे नादः क्रियते, १।२।४।
५. विवृते श्वासः, १।२।४।
६. मध्ये हकारः, १।२।६।
७. १३।२१ तथा १३।३।
८. ता वर्णप्रकृतयः, १।२।७।
९. नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु, १।२।८।
१०. अघोषेषु श्वासः, १।२।१०।
११. हकारो हचतुर्थेषु, १।२।९।
१२. भूयान् प्रथमोऽन्योऽन्येषु १।२।११।
१३. १।२।८।

हो जाता है कि वर्णों की प्रकृति के वर्णन के समय जो इनकी तीन छोड़ चार श्रेणियाँ बनाई गई हैं, उनमें महाप्राणत्व-अल्पप्राणत्व शब्द ही केवल नहीं व्यवहृत हुए, अन्यथा उनका वर्गीकरण नाद और श्वास के वर्गीकरण को प्रभावित कर रहा है। नादवान् अल्पप्राणों को केवल नादवान् कहा गया, नादवान् महाप्राणों को हकारवान्, श्वासवान् अल्पप्राणों को केवल श्वासवान् तथा श्वासवान् महाप्राणों को अधिकश्वासवान्। पाणिनिशिक्षा में भी प्रायः ये ही चार विभाग हैं—श्वास, ईषत्श्वास, नाद तथा ईषत्नाद। अर्थात्, पाणिनिशिक्षा तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार श्वास और प्राण प्रायः समानार्थक ही हैं। यहाँ भी वही रचना है कि कण्ठ के संवृत[1] रहने पर नाद होता है, विवृत रहने पर श्वास। आधुनिक विश्लेषण भी कह रहा है कि स्वरयन्त्रमुख के संवृत-विवृत रहने पर नाद-घोष उत्पन्न होते हैं। स्वरयन्त्रमुख का ही पुराना नाम कण्ठ है, जैसे मूर्धन् का पर्याय शिरस् लिखा जाता है।

(ङ) ओष्ठों का विवार-संवार : सूत्र १२ से यह प्रसंग शुरू हुआ है कि किस वर्ण के उच्चारण में ओष्ठ तथा हनु (जम्भमूल) कितने खुलते हैं या बन्द रहते हैं, अर्थात् फैलते हैं या सिकुड़ते हैं। अवर्ण[2] के उच्चारण में ओठ और हनु न तो अधिक सँकरे होते हैं, न अधिक फैले। माहिषेय[3] ने इन दोनों स्थितियों का विषय-विभाग कर दिया है। ह्रस्व अ के उच्चारण में ओठ और हनु उपसंहृत, अर्थात् संकुचित तो रहते हैं; किन्तु अत्युपसंहृत या अतिसंकुचित नहीं। दीर्घ तथा प्लुत अवर्ण के उच्चारण के समय दोनों व्यस्त, अर्थात् फैले तो रहते हैं, पर अतिव्यस्त, अर्थात् बहुत ज्यादा फैले नहीं रहते। औ के उच्चारण में हनु की स्थिति[4] प्रायः वैसी ही रहती है, पर दोनों ओठ अधिक[5] सिकुड़ जाते हैं। एकार[6] के उच्चारण में दोनों ओठ थोड़ा अधिक दूर-दूर हट जाते हैं; पर दोनों हनु अधिक सिकुड़[7] जाते हैं। साथ ही, जिह्वा के मध्य के दोनों प्रान्तों से उत्तर जम्भ्यों, अर्थात् हनुमूल के प्रान्त-प्रदेशों का स्पर्श[8] किया जाता है। किसी-किसी संस्करण में यहाँ एक और सूत्र[9] मिलता है, जिसका अर्थ है कि इवर्ण के उच्चारण में जिह्वा का मध्य तालु-को छूता है, पर यह बात बहुत आगे आई है। ऋ ॠ[10] तथा ऌ के उच्चारण में दोनों हनु अधिक सिकुड़ जाते हैं और जिह्वाग्र वर्स्व, अर्थात् दन्तमूल को छूता रहता है। कुछ[11] आचार्यों के अनुसार अनुस्वार और स्वरभक्ति में भी यही स्थिति रहती है। 'माहिषेय' ने फिर यहाँ विषय-विभाग कर दिया है। अनुस्वार के उच्चारण में दोनों हनु सिकुड़ते हैं

१. १।२।४ तथा ५।
२. अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम्, १।२।१२।
३. अकारेनात्युपसंहृतः, आकारे प्लुते च नातिव्यस्तः।
४. ओकारे च, १३।
५. ओष्ठौतूपसंहृततरौ, १४।
६. ईषत्प्रकृष्टावेकारे, १५।
७. उपसंहृततरे हनू, १६।
८. जिह्वामध्यान्ताभ्यां चोत्तरांजम्भ्यान् स्पर्शयति, १७।
९. तालौ जिह्वामव्यभिवर्णे।
१०. उपसंहृततरे च जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु वर्स्वेषूपसंहरति, १८।
११. एकेषामनुस्वारस्वरभक्त्योश्च, १९।

तथा स्वरभक्ति के उच्चारण में जिह्वाग्र दन्तमूल को छूता रहता है। यह विश्लेषण ठीक नहीं जँचता। स्वरभक्ति कोई एक वर्ण तो है नहीं कि उसके उच्चारण में जिह्वाग्र दन्तमूल को छूता रहे, इसके कई अस्पष्ट रूप हैं। जिन[1] वर्णों के उच्चारण के लिए जिह्वा की स्थिति का वर्णन नहीं है, उनमें जिह्वा प्रकृतिस्थ रहती है, और जिनके लिए ओठों की स्थिति का वर्णन नहीं है; उनमें ओठों की अ की भाँति स्थिति[2] रहती है। इवर्ण[3] के उच्चारण में जिह्वामध्य तालु के पास सिकुड़ जाता है। ए[4] के उच्चारण में यही होता है। उवर्ण[5] के उच्चारण में ओठ संकुचित हो जाते हैं। उ तथा ओ दोनों के उच्चारण में दोनों ओठ पास आकर भी लम्बे[6] हो जाते हैं, अर्थात् आगे की ओर निकल जाते हैं।

यह प्रकरण तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की अपनी विशेषता है। वर्णोच्चारण के इस पहलू पर विरल विद्वानों का ध्यान गया है। स्वरयन्त्र विरल या कण्ठविवर की विवृतता-संवृतता से अनुप्रदान या बाह्य प्रयत्न का विचार होता है। जिह्वा के कारण मुखविवर की विवृतता-संवृतता के आभ्यन्तर प्रयत्न का निर्णय होता है, जिसे अधिकांश आचार्य करण कहते हैं। दयानन्दीय शिक्षा ने करण को आभ्यन्तर प्रयत्न से भिन्न वस्तु माना है। करण में यह विचार है कि किस वर्ण के उच्चारण में जिह्वा का कौन-सा भाग किस स्थान को छूता है या उसके पास जाता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में इस करण का विचार आभ्यन्तर प्रयत्न के समानान्तर रूप से इसी अध्याय के सूत्र ३५ से ४५ तक किया है। पर, यहाँ सूत्र १२ से २४ तक जो विश्लेषण है, वह करण से कुछ मिलता-जुलता होते हुए भी, करण से भिन्न वस्तु है। इस प्रकरण में मुखविवर को नहीं ओष्ठयुग्म तथा हनुयुग को विवृतता-संवृतता या संकोच-फैलाव का विचार है। यद्यपि यह प्रकरण न तो पूर्ण है, न सर्वथा वैज्ञानिक ही; किन्तु यही क्या कम है कि इस आचार्य ने इतने पुराने युग में परम्परा से एक नई शाखा निकालकर उसपर अपना मत प्रकट किया।[7] उच्चारण का यह पहलू कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

(च) **ऐ औ का विश्लेषण :** सूत्र २५ से २९ तक सन्ध्यक्षरों का, ऐ औ का विश्लेषण है :

क. ऐ तथा[8] औ के आदि में अकार का अर्धभाग है और अन्त में क्रमशः इ उ का अध्यर्ध भाग, अर्थात् ½ अ + १½ इ = ऐ, और ½ अ + १½ उ = औ।

---

१. अनादेशे प्रण्यस्ता जिह्वा, १।२।२०।
२. अकारवदौष्ठौ, १।२।२१।
३. तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे, १।२।२२।
४. एकारे च, १।२।२४।
५. ओष्ठोपसंहार उवर्णे, १।२।२४।
६. सन्निकृष्टावोष्ठौ दीर्घौ च स्याताम्।
७. डेनियल जोन्स ने ओठों की विभिन्न दशाओं (गोलाकार, फैले, तटस्थ आदि) का महत्त्व वर्णों के, विशेषतः स्वरों के उच्चारण में स्वीकार किया है।
८. अकारार्धमैकारौकारयोरादिः, १।२।२६; इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः, २८ तथा उकारस्तूत्तरस्य, २९।

ख. कुछ[1] आचार्यों का मत है कि यह अर्ध अकार ह्रस्व अ से भी अधिक संवृत है।

यहाँ ए तथा ओ में अ इ उ के मिश्रण के अनुपात का उल्लेख क्यों नहीं किया ? सूत्र १।१।२ की व्याख्या में माहिषेय ने तो इन्हें समानाक्षर में नहीं गिना है ? क्या ए ओ में इनका मिश्रण अविश्लेषणीय माना गया था ? ऐ तथा औ में आदि में मिश्रित अ की आधी मात्रा को संवृततर कहना भी नई दृष्टि है।

(छ) **स्थानकरण**—सूत्र ३० से अध्याय की समाप्ति, ५२ तक प्रायः स्थानकरण-विचार है। सूत्र ३० ने पंचम वर्णों के साथ अनुस्वार[2] को भी अनुनासिक कहा है, यह तो विचित्र है! अनुस्वार और अनुनासिक दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। क्या उस समय दोनों का पार्थक्य स्पष्ट नहीं हो पाया था ? इस सूत्र में अनुस्वार का उदाहरण भी अनुनासिक की लिपि में ही दिया गया है! **योऽँशुम्**[3] यह **यः + अंशुम्' = योंऽशुम्** होगा, **योऽँशुम्** कैसे होगा ? पंचम अध्याय का अन्तिम सूत्र इस भाँति लिखा है : **'मीमाँसकानां च**, यहाँ तो 'मीमांसकानाम्' होगा, **'मीमाँसकानाम्'** कैसे होगा ?

स्वर वर्णों के उच्चारण में जिह्वा तालु के किसी भाग का स्पर्श नहीं करती, अतः ये पूर्ण अस्पर्श वर्ण हैं। शेष में जिह्वा किसी भाग का अधिक या थोड़ा स्पर्श करती है। अतः, दोनों के लिए, स्वर के लिए तथा व्यंजन के लिए, स्थान और करण की परिभाषा भिन्न होगी। जिस स्वर के उच्चारण में जिह्वा का जो भाग तालु के जिस भाग के पास पहुँचता है, वह[4] तालुभाग ही उस स्वर का स्थान है और वह जिह्वाभाग[5] उस स्वर का करण। जिस व्यंजन के उच्चारण में जिह्वा के जिस भाग से तालु के जिस भाग[6] का स्पर्श किया जाता है, वह तालुभाग उसका स्थान तथा वह जिह्वाभाग[7] उसका करण होगा। पहले (कर्नलब्लॉख) द्वारा किया गया स्थानकरण-विवेक दिया गया है। (बर्नार्ड ब्लॉख के 'आउट-लाइन्स ऑव लिंग्विस्टिक अनालेसिस' के दूसरे अध्याय के पाँचवें अनुच्छेद में।)

करण-विवेचन के इस संक्षिप्त सूत्र ने बड़ी सुन्दरता से करण और आभ्यन्तर प्रयत्न दोनों का एक ही साथ प्रतिपादन कर दिया है। यहाँ आभ्यन्तर प्रयत्न का एक ही पहलू लिया गया, जिह्वा उस स्थान को छूती है या नहीं, स्पर्श तथा अस्पर्श। इससे स्वयं ही यह बात आक्षिप्त हो गई कि जहाँ जीभ पास जाकर ठहर जाती है, उसे छूती नहीं; वहाँ जीभ और उस तालुभाग के बीच मुखविवर विवृत रह जाता है, अर्थात् अस्पर्श का अर्थ ही हुआ विवृत। किन्तु, यहाँ सभी व्यंजनों में स्पर्श मान लिया गया है, यह नहीं समझाया गया है कि वर्गीय वर्णों में पूर्ण स्पर्श है, अन्तस्थों तथा ऊष्मों में क्रमशः कम स्पर्श है।

---

१. संवृतकरणतरमेकेषाम्, २७।
२. अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः, ३०।
३. सं० ३।३।४।
४. स्वराणां यत्रोपहारस्तत् स्थानम्, ३१।
५. यदुपसंहरति तत्करणम्, ३२
६. अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत् स्थानम्, ३३।
७. येन स्पर्शयति तत् करणम्, ३४।

अस्तु; नीचे एक तालिका से बताया जा रहा है कि किस प्रकार इस प्रकरण में एक ही सूत्र से स्थानकरण तथा आभ्यन्तर प्रयत्न का विवरण दे दिया गया है :

वर्ण		करण	स्थान	आभ्यन्तर प्रयत्न
क.[1] कवर्ग	के उच्चारण में—	जिह्वामूल से—	हनुमूलों का—	स्पर्श किया जाता है।
ख.[2] चवर्ग	,,	जिह्वामध्य से—	तालु का	,,
ग.[3] टवर्ग ,,	,,	प्रतिवेष्टित (पीछे लौटाये) जिह्वाग्र से—	मूर्धा का	,,
घ.[4] तवर्ग ,,	,,	जिह्वाग्र से—	दन्तमूल का	,,
ङ.[5] पवर्ग ,,	,,	अधरोष्ठ से—	उत्तरोष्ठ का	,,
च.[6] य ,,	,,	जिह्वामध्य के प्रान्त भागों से—	तालु का	,,
छ.[7] र ,,	,,	जिह्वाग्र के मध्य से—	दन्तमूल के पश्चिम भाग का	,,
ज.[8] ल ,,	,,	जिह्वाग्र के मध्य से—	दन्तमूल का	,,
झ. व[9] ,,	,,	ओष्ठप्रान्तों से—	दन्त का	,,

ञ.[10] ऊष्मों का क्रमशः स्पर्श-वर्गों के स्थान से ही उच्चारण होता है, अर्थात् जिह्वामूलीय का हनुमूल, श का तालु, ष का मूर्धा, स का दन्तमूल तथा उपध्मानीय का ओष्ठ से उच्चारण होता है। किन्तु, इनका करण विवृत[11] है। अर्थात्, इनके उच्चारण में जिह्वा तालु को छूती नहीं, केवल उसके पास जाती है, और बीच में मुखविवर खुला रहता है। ह और विसर्जनीय का स्थान कण्ठ[12] है। इन दोनों में करण का उल्लेख नहीं किया, माहिषेय के अनुसार इन्हें करण होता ही नहीं। कुछ आचार्यों[13] का मत है कि ह अपने से उत्तरवर्त्ती स्वर के पूर्वभाग के स्थान से उच्चरित होता है तथा विसर्ग[14] पूर्ववर्त्ती स्वर के अन्तभाग के स्थान से। यह विश्लेषण बड़ा विचित्र लगता है। पाणिनि-

१. हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति, १।२।३५।
२. तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे, ३६।
३. जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे, ३७।
४. जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु, ३८।
५. ओष्ठाभ्यां पवर्गे, ३९।
६. तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे, ४०।
७. रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग् दन्तमूलेभ्यः, ४१।
८. दन्तमूलेषु च लकारे, ४२।
९. ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे, ४३।
१०. स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण, ४४।
११. करणमध्यं तु विवृतम्, १।२।४५।
१२. कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ, ४६।
१३. उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषाम, ४७।
१४. पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः, ४८।

शिक्षा[1] ने सभी अयोगवाहों को आश्रयस्थानभागी बताया था। यहाँ केवल विसर्जनीय को ही इस कोटि में रखा गया, पर उसे पूर्वस्वर के अन्त के स्थान से उच्चरित कहा। जैसे, स्वर के कई खण्ड हों, और सब खण्डों का उच्चारण भिन्न-भिन्न स्थल से हो रहा हो। ह को भी इसी भाँति स्वतन्त्र स्थान से हीन कर उत्तरवर्त्ती स्वरके पूर्व के स्थान से उच्चरित बताया।[2] नासिक्य वर्णों का स्थान नासिका[3] है, अथवा मुख और नासिका दोनों[4] हैं। यहाँ माहिषेय ने नासिक्य से केवल यम ही लिये हैं। ठीक भी है। अगले सूत्र[5] ने बताया कि इनमें सब कुछ (स्थानकरणादि) वर्गवत् होता है, अर्थात् क् का यम भी सब बातों में क की भाँति ही होता है, केवल इनमें नासिकास्थान का योग अधिक होता है। नासिका के विवरण[6] (विवार - फैलाव) से अनुनासिक्य होता है।

यहाँ द्वितीयाध्याय समाप्त हो गया है। आश्चर्य है कि स्थानकरण-प्रसंग में स्वरों का वर्णन साफ छोड़ दिया गया है, यद्यपि यह कह दिया गया है कि स्वरों का स्थान वहीं है, जहाँ[7] जिह्वा का उपसंहार (संकोचन) हो, अर्थात् जिह्वा सिकुड़कर तालु के जिस भाग के पास ठहरे। डेनियल जोन्स ने भी स्वरों का नहीं, केवल व्यंजनों का ही स्थान-निर्धारण किया है।

३. वर्णविकार, सन्धि :

क. तृतीय अध्याय के आरम्भ से ही सन्धि का आरम्भ होता है। किन्तु, यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। पाणिनि ने जहाँ यह बताया है कि पृथक्-पृथक् रहने पर अमुक रूप में वर्त्तमान अमुक शब्द संहिता में अमुक-अमुक रूप में परिणत होता है, वहाँ तैत्तिरीय प्रतिशाख्य ने यह बताया है कि संहिता में अमुक रूप में वर्त्तमान अमुक शब्द विभाग करने पर अमुक रूप में परिणत हो जाता है। उदाहरणार्थ, पणिनि ने बताया कि 'देव' तथा 'सुम्न' शब्दों से क्यच् प्रत्यय करने पर यजुर्वेद में 'देव' का 'देवा' तथा 'सुम्न' का 'सुम्ना' रूप हो जायेंगे।[8] इस प्रातिशाख्य ने कहा[9] कि देवा, सुम्ना आदि शब्दों में व्यंजनपरक संहितानिमित्तक दीर्घ पदकाल में (पदपाठ में) ह्रस्व हो जाता है। पाणिनि देव + यते से देवायते की सिद्धि दिखाते हैं, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 'देवायते' से 'देव+यते' की। पाणिनि पद को आधार मानकर वाक्य की रचना के लिए तथा प्रकृति

१. श्लोक २२।
२. Outlines of Linguistic Analysis, अ०२, अनु० १०, खं० ४—"Note that in words like he, ham, hoe, who, the tongue and hip position for his almost or quite the same as for each following vowel."
३. नासिक्या नासिकास्थानाः, ४९।
४. मुखनासिक्या वा, ५०।
५. वर्गवच्चैषु, ५१।
६. नासिकाविवरणादनुनासिक्यः, ५२।
७. १।२।३१।
८. ७।४।३८, देवसुम्नयोर्यजुषि काठके।
९. देवाशीका सुम्ना श्वर्ता वयुना, हृदयाधोक्था शुद्धा,१।३।२।

को मानकर पद की रचना के लिए नियम बताते हैं, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य वाक्य को आधार मानकर पद को तथा पद की आधार मानकर प्रकृति की आकृति बताता है। एक की दृष्टि व्यावहारिक तथा शिक्षोपयोगी है, दूसरे की तात्त्विक तथा वैज्ञानिक। ऋक्प्रातिशाख्य का भी प्रायः पाणिनिवाला ही मार्ग है। विज्ञान में चाहे संश्लेष से विश्लेष की ओर बढ़ें, या विश्लेष से संश्लेष की ओर, अध्ययन ठीक हो जाता है। कोई परमाणु से भौतिक पदार्थों का निर्माण बताये, या भौतिक पदार्थों का, परमाणु में विघटन, फल एक ही निकलता है। पाणिनि ने तु, नु मक्षु का संहिताकाल में दीर्घान्तत्व[1] बताया, तैत्तिरीय प्रतिशाख्य ने तू, नू, मक्षू का पदकाल में ह्रस्वान्तत्व[2], बात एक ही हुई।

ख. यह सारा अध्याय ह्रस्वविधान ही करता है, पर इसमें पाणिनि की चुस्ती नहीं, अनुगम नहीं। इन्द्रा मरुत्वन्तः या वत्परः से काम नहीं चला, तब इन्द्रा[3] वद्वन्वान् परः कहना पड़ा है। पाणिनि ने इस पूरे अध्याय का संग्रह अपनी अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ के षष्ठाध्याय के तीसरे पाद में ५-६ सूत्रों में कर लिया है।[4]

ख. इसका सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय प्रग्रह-विधायक है। पाणिनि इसे ही 'प्रगृह्य' कहकर पुकारते हैं। इसमें ५४ सूत्र हैं, अधिकांश स्थान ऐसे हैं, जहाँ सन्धि की प्राप्ति भी नहीं थी, फिर भी उनमें प्रग्रह किया गया है। पाणिनि ने केवल सन्धिस्थलों में ही प्रगृह्यसंज्ञा की है, और कुल ६ सूत्रों[5] में ही सब उपयोगी स्थलों का अन्तर्भाव कर दिया है।

घ. यहाँतक पदपाठ या विभाग-सम्बन्धी विधि समाप्त कर, पंचम अध्याय से संहिता-सम्बन्धी विधि आरम्भ की गई है। यहाँ संहिता के साथ एक प्राणभाव[6] की भी शर्त्त है। माहिषेय ने एक प्राणभाव का अर्थ किया है एकश्वासोच्चार्यता, एक साँस में उच्चारण-योग्य होना। इस प्रसंग में विविध सन्धियाँ हैं, अधिकांश व्यंजन-सन्धियाँ तथा कुछ विसर्ग-सन्धियाँ।

ङ. इनमें बहुत-से सूत्र भ्रामक हैं, जैसे सूत्र ४ 'त्रपु'[7] और 'मिथु' के बाद चकार आये, तो बीच में शकार का आगम करता है। यह गलत है। वस्तुतः, यहाँ शकार का आगम नहीं होता, विसर्गस्थानीय सकार का चवर्ग के योग से शकार हो जाता है। इसी प्रकार, आठवें सूत्र[8] ने नीचा शब्द के बाद उच्चा शब्द आये, तो बीच में द् का आगम बताया है। यह उपहासास्पद है। वस्तुतः, यहाँ नीच शब्द की पंचमी नीचात् के बाद उच्च शब्द आने पर जगत् + ईश = जगदीश की भाँति नीचात् + उच्च = नीचादुच्च बन

---

१. ६।३।१३३।
२. १।३।१५।
३. १।३।३।
४. ६।३।१३१ से १३७ तक।
५. १।१।११ से १९ तक।
६. अथ संहितायामेकप्राणभावे, १।५।१।
७. त्रपुमिथुपूर्वः शकारश्चपरः, ४।
८. नीचापूर्वोदकार उच्चापरः, ८।

गया है; क्योंकि पदान्त झल् का जश् हो जाता है, यदि बाद में खर् प्रत्याहार न आये, तथा अवसान न हो।

पाणिनि ने भी कहीं-कहीं ऐसी गलत व्याख्या की है। उन्नीस के लिए एक शब्द है 'एकान्नविंशतिः'। इसका एक पर्याय एकोनविंशतिः तो बड़ी सरलता से बन जायगा, एकेन ऊनः—एकोनः, एकोना विंशतिः—एकोनविंशतिः। पर 'एकान्नविंशतिः' कैसे बनेगा? पाणिनि ने षष्ठाध्याय के तृतीय पाद के छिहत्तरवें सूत्र एकादिश्चैकस्य चादुक् से इस प्रयोग की सिद्धि के लिए दो विधान किये हैं, नञ् के 'न' लोप का निषेध तथा एक के बाद 'अदुक्' का आगम। भट्टोजिदीक्षित ने इस प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार की है। एकेन + न + विंशतिः इस विग्रह में पहले न् का विंशति के साथ समास हो गया, फिर एक के साथ नविंशति का तृतीयासमास हुआ, फिर इस पाणिनिसूत्र से नलोप का निषेध तथा एक का 'अदुगागम' हुआ। यह गलत प्रक्रिया है। वस्तुतः, यहाँ एकेन न विंशतिः नहीं, एकात् न विंशतिः ऐसा विग्रह है, हेत्वर्थ में पंचमी है। अर्थ है—एक के कारण बीस की संख्या पूरी नहीं हो सकी।' यहाँ समास नहीं होगा, 'अथवा अलुक् समास होगा, और परोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा से त् का वैकल्पिक नत्व होगा, या अनुनासिकत्व के अभाव में त् का जश्त्व होगा और 'एकान्नविंशतिः' तथा 'एकाद् न विंशतिः' दोनों प्रयोग बन जायेंगे। यही ऐतिहासिक व्याख्या है। किन्तु, वैयाकरणों को कठिनाई यह है कि 'एकात्' होगा कैसे? एक शब्द तो सर्वनाम है, उसकी पंचमी का एकवचन 'एकस्मात्' होगा, 'एकात्' नहीं। इसलिए, इतनी लम्बी प्रक्रिया करनी पड़ी कि तृतीया का विग्रह कर, समास कर फिर अत् का आगम करना पड़ा। अन्यथा, यहाँ एकशब्दता के लिए यदि समास किया भी जाय, तो पंचमीतत्पुरुष कर अलुक् कर देना चाहिए था। वस्तुतः, अशिक्षित जनता ने पहले यह अशुद्ध रूप बना लिया, फिर शिक्षित समाज ने भी इसे प्रयोगबाहुल्य से अपना लिया। तब तो वैयाकरणों को गले पड़ा ढोल बजाना ही पड़ा और गलत प्रक्रिया बनानी पड़ी। पर, उचित यह था कि 'एकान्नविंशति' शब्द को 'पृषोदरादि' में रखकर 'निपातन' कर देते, या यहाँ 'एक' शब्द में सर्वनाम का निषेध-मात्र कर देते।

च. इस प्रकरण के बहुत-से सूत्र अव्याप्ति या अतिव्याप्तिवाले भी हैं, कोई व्यर्थ हैं, कहीं अनुगम के अभाव में अनावश्यक विस्तार है। सम् उपसर्ग के बाद कृ धातु के आने पर बीच में स् का आगम बनाना चाहिए था, विशेष अर्थ की भी चर्चा करनी चाहिए थी, जैसा पाणिनि[1] ने किया है। ऐसा न कर सम् के बाद कुरु शब्द तथा अकुर्व शब्द आने पर बीच में स् के आगम के लिए दो-दो सूत्र बनाये, ताकि 'संस्कुरुते' और 'समस्कुर्वत' ये दो[2] प्रयोग सिद्ध हो जायँ। क्या इस वेद में संस्कार, संस्करोति, संस्क्रियात् जैसे प्रयोग कहीं नहीं आये हैं? पाणिनि ने उत् उपसर्ग के बाद आये केवल स्था और स्तम्भ् धातुओं के स् का पूर्वसवर्ण[3] बताया है, यहाँ उत् के बाद किसी भी व्यंजनपरक स् का

१. सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे, ६।१।१३७।
२. सम्पूर्वः सकारः कुरुपरः, १।५।६ तथा अकुर्व च प्रत्ययात्परः, ७।
३. उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य, ८।४।६१।

लोप[1] कहा, तब तो उत् के बाद आये स्कम्भ, स्तन्, स्मि, स्वन् आदि में भी सकार का लोप हो जायगा। पाणिनि ने श् का छ् करने के लिए 'शश्छोटि'[2] यह छोटा-सा सूत्र बनाया, और यहाँ सूत्र ३४ से ३७ तक ४ सूत्र[3] बनाये, फिर भी अव्याप्ति-अतिव्याप्ति रह ही गई। नश्छव्यप्रशान्[4], स्तोः श्चुनाश्चुः[5] और तोर्लि[6] के क्षेत्रों के लिए भी सूत्र हैं, पर ३ की जगह ६ सूत्र[7] बनने पर भी सब क्षेत्र पकड़ा नहीं जा सका है।

छ. किन्तु इसमें कहीं-कहीं कुछ नवीन दृष्टि भी है। सूत्र ३८ तथा ३९ पाणिनि के झयो होऽन्यतरस्याम्[8] का समानार्थक हैं। ३८ का अर्थ है—प्रथम वर्णों के बाद यदि ह् आये, तो उसके स्थान में पूर्वसवर्ण चौथा अक्षर हो जाता है, प्लाक्षि, कौण्डिन्य, गौतम और पौष्कर सादि आचार्यों के मत से[9], जैसे (अर्वाक् ह्येन =) अर्वाग्घ्येनं परैः[10] तथा (सरट्ह) सरड्ढ् वा[11] आदि। सूत्र ३९ के अनुसार यहाँ कोई विकार नहीं होगा, ह् अविकृत[12] रहेगा, जैसे सरट् ह वा[13] आदि। यहाँ सूत्र ४० तथा ४१ एक नये विकार का उल्लेख करते हैं। शैत्यायन[14] तथा मीमांसकों[15] के मत में यह चतुर्थ वर्ण ह् के स्थान में नहीं, अपितु प्रथम वर्ण तथा ह् के बीच में आता है, जैसे सरट्ढ् ह वै[16], यत् ध् हारियोजनीरिति[17], अर्वाग् घ् ह्येनम्[18]। इस चतुर्थाक्षर आगम का उल्लेख किसी और वैयाकरण ने या पाणिनि ने नहीं किया है। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार के उच्चारण की सम्भावना तथा उसकी स्वीकृति का बड़ा महत्त्व है। यहाँ भी यह ध्यातव्य है कि ग्-ह् मिलकर घ् बन जाने का मत कहीं नहीं उल्लिखित है, जैसा 'हिन्दी-शब्दानुशासन' का विचार है।

---

१. उत्पूर्वः सकारो व्यञ्जनपरः, १४।
२. ८।४।६३।
३. स्पर्शपूर्वः शकारः छकारम्, ३४; न मकारपूर्वः ३५, पकारपूर्वश्च वाल्मीकेः, ३६, व्यञ्जनपरः पौष्करसादेर्न पूर्वश्च अकारम्, ३७।
४. ८।३।७०।
५. ८।४-४०।
६. ८।४।६०।
७. नकारः शकारं च परः २०;. तकारश्चकारं शचछ परः, २२; यपरो जकारम्,२३; नकार एतेषु ञकारम्, २४; लपरो लकारम्, २५; नकारोऽनुनासिकम्, २६।
८. ८।४।६२।
९. प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थं तस्य सस्थानं प्लाक्षि-कौण्डिन्य-गौतम-पौष्करसादीनाम्, १।५।३८।
१०. सं० ६।३।३।
११. सं० ५।३।१२।
१२. अविकृत एकेषाम्, ३९।
१३. सं० ५।३।१२।
१४. चतुर्थोऽन्तरे शैत्यायनादीनाम्, ४०।
१५. मीमांसकानां च, ४१।
१६. सं० ५।३।१२।
१७. सं० ६।५।९।
१८. सं० ६।३।३।

सूत्र ३१ का कहना[1] है कि जहाँ न् या म् के स्थान में ल् होता है, वहाँ ल्ँ अनुनासिक नहीं होता, प्रत्युत ल् का पूर्ववर्त्ती स्वर अनुनासिक होता है। अर्थात्, यहाँ सूत्र २६ से न् के स्थान में जो ल्[2] होता है, वह अनुनासिक नहीं होगा, पूर्ववर्त्ती स्वर अनुनासिक होगा। तस्मिन् + लोके = तस्मिल्ँ लोके नहीं, तस्मिँल्लोके। इसी भाँति सूत्र २८ से जो म् का ल् होता है, वहाँ भी होगा। अमुं + लोकम् – अमुल्ँ लोकम् नहीं, बल्कि अमुँल्लोकम् होगा। यह एक सूक्ष्म विश्लेषण है। पाणिनि के नियमानुसार पूर्वस्वर का आनुनासिक्य नहीं हो सकता, यह परसवर्ण ल् ही अनुनासिक होगा; पर आत्रेय आचार्य पूर्ववर्त्ती स्वर में ही आनुनासिक्य मानते हैं, ल् में नहीं। यहाँ २६ तथा २८ के उदाहरणों में भी ल् पर अनुनासिक-चिह्न नहीं, पूर्ववर्त्ती स्वर पर ही है। पुल्ँलिंग कोई नहीं बोलता या लिखता, सभी पुँल्लिग ही बोलते-लिखते हैं। इसलिए, 'आत्रेय' का मत तर्कसंगत प्रतीत होता है।

आठवें अध्याय के सूत्र १५[3] में बताया गया है कि अ से भिन्न स्वर के बाद यदि विसर्ग आये और उसके बाद र् आये, तो विसर्ग का लोप और पूर्ववर्त्ती स्वर का दीर्घ हो जाता है; जैसे (यवागूः + राजन्यस्य) = **यवागू राजन्यस्य**[4] तथा (रुरुः + रौद्रः =) **रुरूरौद्रः**[5]। यहाँ अवर्णपूर्वक रेफ के लोप की चर्चा नहीं की, साथ ही इसका भी विश्लेषण नहीं हो सका कि र् का लोप होता है, रु का नहीं। पाणिनि ने बड़ी कुशलता से जो लोपस्थल नहीं हैं, वहाँ स् का र् नहीं, रु किया है, तथा मौलिक र् का ही लोप किया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की र् और रु का अन्तर रख सकने की अक्षमता के कारण, आचार्यों में एष्टः + रायः यहाँ क्या होगा, इस प्रश्न पर मतभेद हो गया है। कुछ लोगों का विचार है कि यहाँ भी विसर्ग-लोप तथा पूर्वस्वर का दीर्घ होकर[6] **एष्टारायः** बनेगा। कुछ का विचार है कि यहाँ विसर्ग का र् होगा, लोप नहीं। अतः, **एष्टर् रायः**[7] रूप रहेगा। सांकृत्य आचार्य का मत[8] है कि यहाँ विसर्ग पूर्ववर्त्ती स्वर के साथ मिलकर ओ हो जायगा, अतः **एष्टोरायः** बनेगा। 'उख्य' आचार्य की मान्यता[9] है कि यहाँ विसर्ग तथा पूर्ववर्त्ती स्वर दोनों के स्थान में उ हो जायगा, इसलिए **एष्टु रायः** रूप सिद्ध होगा। पाणिनि ने र् और रु का अन्तर रखकर कैसा विवेक कर दिया है कि **मनः + भव = मनोभव,** किन्तु **पुनः + भव = पुनर्भव, अहः + भ्याम् = अहोभ्याम्,** किन्तु **अहः + भाति = अहर्भाति** बनते हैं।

---

१. उत्तमलभावात् पूर्वोऽनुनासिक इत्यात्रेयः, ३१।
२. नकारोऽनुनासिकम्, २६।
३. अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते दीर्घं च पूर्वः, ८।१५।
४. सं० ६।२।५।
५. सं० ५।५।१६।
६. एष्टश्च, १७।
७. द्वावुदात्तमोत्तरीयस्य रेफः, १९।
८. साङ्कृत्यस्योकारम्, २०।
९. ओकारमुख्यस्य सपूर्वः, २१।

नवें अध्याय का पहला सूत्र कात्यायन के खर्परे शरि विसर्गलोपो वा वक्तव्यः का समानार्थक है। यदि यह प्रातिशाख्य पाणिनि-पूर्वकालिक है, तो पाणिनि ने यहाँ देख-कर भी इस नियम का उल्लेख क्यों नहीं किया? चतुःस्तनाम् से चतुस्तनाम्[1] कैसे हुआ, यह उन्हें बताना चाहिए था। सूत्र २ से ६ तक[2] पाणिनि के विसर्जनीयस्य सः, वा शरि, शर्परे विसर्जनीयः तथा कुप्वोः ᳲक ᳳपौ च के विषय[3] का वर्णन है। एक अन्तर यह है कि पाणिनि ने जहाँ सामान्यतः वैकल्पिक विधि कर दी है, वहाँ प्रातिशाख्य विभिन्न आचार्यों का मत स्पष्ट कर देता है। जैसे यह 'प्लाक्षि' और 'प्लाक्षायण' आचार्य का मत है कि विसर्ग के बाद क, प, श, ष, स में से कोई वर्ण आये, तो उसके स्थान में कोई आदेश नहीं होता। 'अग्निवेश्य' और 'वाल्मीकि' क प के पूर्व, कुछ और आचार्य श ष स के पूर्व विसर्जनीय में परिवर्त्तन नहीं मानते, शेष लोग परिवर्त्तन मानते हैं। सूत्र १६[4] का अर्थ है कि अपृक्त उ प्रकृतिवत् रह जाता है, यदि बाद में कोई स्वर आये, तो बीच में व् का आगम होता है। जैसे अदन्ति उ एवास्य, यहाँ उ के बाद ए आने पर उनमें सन्धि नहीं हुई, तथा बीच में व् आ गया, तो बना—अदन्त्युवेवास्य[5]। यह तो विचित्र सन्धि है? पाणिनि ने उ के प्रकृतिभाव की ही चर्चा[6] की है, बीच में व् के आगम की नहीं।

दसवें अध्याय से स्वरसन्धि का आरम्भ है। ११वें सूत्र[7] का अर्थ है कि अनु-नासिक के साथ हुआ एकादेश भी अनुनासिक होता है। पाणिनि ने इस अर्थ का कोई सूत्र नहीं बनाया है; क्योंकि उनके अनुसार केवल अवसान[8] में ही अप्रगृह्य अ इ उ अनुनासिक बनते हैं। चौदहवाँ[9] सूत्र पररूपविधायक है। एङि पररूपम्[10] का वार्त्तिक एमन्नादिषुच्छन्दसि इसी के आधार पर बना है, ऐसा लगता है। पन्द्रहवें में यण्[11]-विधान है, किन्तु आश्चर्य है कि इस प्रातिशाख्य ने लृ के साथ ऋ की भी अवहेलना की है। केवल इ का य् तथा उ का व् ही बताया है। अट्ठारहवें में दो स्थलों में ई के स्थान में य् का निषेध किया है। इसका संग्रह पाणिनि के इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च[12] से भी नहीं हो सकेगा, छान्दसता ही शरण है। यों, कात्यायन ने उसी सूत्र में एक वार्त्तिक

---

१. सं० ५।१।६।

२. अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम्, २:, न क्षपरः, ३; कवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीवयोः, ४; ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम्, ५; न प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः, ६।

३. ८।३।३४, ३५, ३६ तथा ३७।

४. उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या वकारोऽन्तरे।

५. सं० २।३।७।

६. १।१।१७।

७. अनुनासिके अनुनासिकम्।

८. ८।४।५७।

९. एष्टरेतनेमनोद्मन्नोष्ठेवः परो लुप्यते।

१०. ६।१।९४।

११. इवर्णोकारौ यवकारं स्वरपरौ; क. नश्येनी मिथुनी।

१२. ६।१।१२७।

पड़ा है, जिससे इसका संग्रह हो सकता है : **ईषा अक्षादीनां छन्दसि प्रकृतिभावो वक्तव्यः ।** उन्नीसवें[१] का अर्थ है कि अवर्णपूर्व 'यकार' तथा 'वकार' का लोप होता है, यदि बाद में स्वर हो। जैसे : **आप उन्दन्तु**[२]। **बीसवें**[३] के अनुसार 'उख्य' आचार्य यह य-व-लोप नहीं करते, जैसे **वायविष्टये**[४]। इक्कीसवें[५] का तात्पर्य है कि 'सांकृत्य' आचार्य वलोप का ही निषेध करते हैं, यलोप स्वीकार करते हैं। बाईसवें[६] का कहना है कि 'माचाकीय' आचार्य यकार-वकारलोप की स्वीकृति केवल उसी अवस्था में देते हैं, जब आगे उ या ओ आये; जैसे **शतक्रत उद्वंशमिव**[७], **या जाता ओषधयः**[८]। आश्चर्य है कि यहाँ शाकल्य का नाम नहीं लिया। तेईसवें[९] सूत्र के अनुसार 'वात्सप्र' आचार्य यहाँ य् व् का लोप नहीं, लेश करना चाहते हैं। अर्थात्, यहाँ य् व् का उच्चारण लुप्तवत् ही अत्यल्प होता है। पाणिनि ने शाकटायन[१०] के मत में य् व् का लघुप्रयत्नतर होना बताया है। यह लेश और लघुप्रयत्नतर सम्भवतः एक ही स्थिति का निर्देश करते हैं।

अध्याय ११ का उन्नीसवाँ[११], अन्तिम सूत्र ध्वनिविज्ञान का एक रोचक तथ्य है। इसके अनुसार कुछ आचार्यों का मत है कि जहाँ पदान्त ए ओ के बाद आये अ का लोप नहीं होता है, वहाँ यह पूर्ववर्त्ती ए या ओ का अर्धसदृश हो जाता है, अर्थात् अ के स्थान में एकमात्रिक ए या ओ हो जाता है। जैसे **मा ते अस्यां सहसावन**[१२] में 'अस्यां' का उच्चारण 'एस्यां' होगा। इसी भाँति **समिद्धो अंजन्**[१३] में 'अंजन्' को 'ओंजन्' कहेंगे। पतंजलि ने सम्भवतः इसी का उल्लेख करते हुए कहा है : **छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया**[१४] **अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते—सुजाते एश्वसूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्**—यद्यपि उन्होंने इसे पार्षदकृतिमात्र कहकर घोषणा कर दी है कि **नैव**[१५] **हि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति**—लोक या वेद में कहीं एकमात्रिक एकार-ओकार नहीं होता। किन्तु, लोकभाषा में दोनों का प्रयोग प्रचुरता से पाया जाता है।

१. लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ ।
२. सं० १।२।१ ।
३. नोख्यस्य ।
४. सं० २।२।१२ ।
५. वकारस्तु साङ्कृत्यस्य ।
६. उकारौकारपरौ लुप्येते माचाकीयस्य ।
७. सं० १।६।१२ ।
८. सं० ४।२।६ ।
९. लेशो वात्सप्रस्यैतयोः ।
१०. व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८।३।१८ ।
११. सपूर्वस्यार्धसदृशमेकेषाम् ।
१२. सं० १।६।१२ ।
१३. सं० ५।१।११ ।
१४. एओङ् ऐऔच् सूत्रस्थ भाष्य ।
१५. वही ।

द्वितीय प्रश्न के प्रथम अध्याय में सूत्र १ से ४ तक 'म्' की सन्धि बताई गई है। दूसरे[१] सूत्र के अनुसार 'म्' के बाद यदि रेफ या ऊष्म वर्ण आये तो म् का लोप हो जाता है। तीसरे[२] के अनुसार, कुछ आचार्यों के मत से य् व् के पूर्व भी म् का लोप होता है। इन सूत्रों से जहाँ म् का लोप होता है, वहाँ द्वितीय प्रश्न के तृतीय अध्याय के प्रथम सूत्र से पूर्वस्वर का आनुनासिक्य हो जाता है। इनके क्रमशः उदाहरण हैं—**प्रत्युष्टँ रक्षः[३], सँशितं मे[४], तँ षट्[५], सँसमिद्युवसे[६], त्वँ ह[७], एतँ युवानम्[८], सँवत्सरीणा[९]** आदि। यह स्थिति इस शाखा की अपनी विशेषता लग रही है। पाणिनि ने इसे स्वीकृति नहीं दी है। पीछे दिखा आये हैं कि **मीमांसकानां[१०] च, अथ षकारँ सकारविसर्जनीयौ[११]** आदि सूत्रों में किस प्रकार अनुस्वार की जगह अनुनासिक का प्रयोग खटकता है। इसका अर्थ यह हो जाता है कि यह शाखा हर जगह अनुस्वार के स्थान में अनुनासिक के प्रयोग का ही समर्थन करती है। यदि कोई वर्गीय वर्ण है, तो उसके परे 'म्' के स्थान में उसका सवर्ण पंचमाक्षर होगा। य व ल आगे रहने पर म् का भी यँ वँ लँ होगा। शेष सभी स्थितियों में उसका लोप होकर पूर्ववर्त्ती स्वर का आनुनासिक्य हो जायगा, अतः अनुस्वार के प्रयोग का एक भी लक्ष्य नहीं रह गया। साहित्यिक परिनिष्ठित संस्कृत में यह प्रवृत्ति कहीं नहीं देखी जाती; किन्तु लौकिक क्षेत्रीय भाषाओं में सचमुच अनुस्वार की जगह अनुनासिक के प्रयोग की प्रवृत्ति है—**संसरति = सँसरता, दंशन = डँसना, रंग = रँगना** आदि। प्राकृत से ही यह प्रवृत्ति आरम्भ हुई है। वर्गीय वर्णों के पहले भी अनुस्वार (या पंचमाक्षर) हटाकर पूर्वस्वर का दीर्घत्व तथा अनुनासिकत्व प्राकृत का सामान्य नियम है; भंग (**भङ्ग**) = **भाँग, अंक (अङ्क) = आँकना, अंजन = आँजना,** आन्त्र = **आँत, सन्ध्या = साँझ, वन्ध्या = बाँझ, कण्टक = काँटा, कम्प = काँप** आदि। इस प्रवृत्ति का मूल इस शाखा की ही परम्परा लगता है। सूत्र ४ ने 'सम् × राज्' में म् का प्रकृतिभाव[१२] बताया है। पाणिनि ने भी **मो राजि समः क्वौ[१३]** से इसका समर्थन किया है। जैसे : **सम्राडसि[१४]**

१. रेफोष्मपरः।
२. यवकारपरश्चैकेषामाचार्याणाम्।
३. सं० १।१।२।
४. सं० ४।१।१०।
५. सं० ५।५।२।
६. सं० २।६।११।
७. सं० २।६।११।
८. सं० ३।३।६।
९. सं० ४।३।१३।
१०. १।५।४१।
११. १।६।१।
१२. न सँ सामिति रापरा।
१३. ८।३।५२।
१४. सं० १।३।२

साम्राज्यानाम्[1] आदि। पर, इस सूत्र का कथन कि 'तम्' या 'साम्' के बाद 'रा' शब्द आये, तो 'म्' अविकृत रहे, अतिव्याप्तिपूर्ण है, ऐसा तो **संराधन, संस्रव** आदि में भी है।

पाँचवें से णत्वविधान है। यहाँ 'र्' तथा 'ष्' के अतिरिक्त 'ऋ' और 'ॠ' भी णत्व का निमित्त माना गया है।[2] पाणिनि ने ॠ का उल्लेख नहीं किया, र् से ही काम चला लिया है। सातवाँ[3] सूत्र अन्य वर्णों से व्यवधान रहने पर भी णत्व का विधान करता है, यह अतिव्याप्त है। पाणिनि ने ठीक ही परिगणन कर दिया है—**अट् कुप्वाङ् नुम्व्यवायेऽपि**[4]। सूत्र १५ णत्व का निषेधक[5] है। यहाँ सातवें सूत्र की अतिव्याप्ति भी प्रायः दूर कर दी गई है, श स च ट त वर्गीयेषु में एक ल् का उल्लेख छूट गया है।

सोलहवाँ[6] सूत्र ऋकार के बाद आये ळ अथवा ल को पौष्करसादि के मत में 'ड' करता है; जैसे **मृडा जरित्रे**[7]। यहाँ यह 'ड' दोनों ओर स्वरों से घिरा है, अतः ऋक्प्राति-शाख्य, १।५२ के अनुसार (आचार्य वेदमित्र ड का ळ आदेश चाहते हैं,) मृळा ऐसा होना चाहिए। वेदों में यह प्रवृत्ति ही साधारण है। ऋक्प्रातिशाख्य में इसका कोई अपवाद नहीं दिया है। पर, यहाँ पौष्करसादि का मत है कि ऋ के बाद ड का ही उच्चारण होगा, ळ का नहीं। यह भाषावैज्ञानिक प्रवृत्ति लगती है कि मूर्द्धन्य ऋ के बाद मूर्धन्य ड का ही उच्चारण हो, दन्त्य ळ का नहीं। इस सूत्र में एक और विशेषता है। यहाँ ऋ को पृक्त स्वर कहा गया है। ऋ शुद्ध स्वर नहीं, व्यंजन से पृक्त या मिश्रित है। वास्तव में यह ऋ का सुन्दर विश्लेषण है।

दूसरे अध्याय में सूत्र २८ तक पाणिनि के **अचो रहाभ्यां द्वे**[8] तथा **अनचि**[9] **च** आदि सूत्रों का विस्तार है। इनमें कुछ ऐसे भी वर्णद्वित्व के स्थल हैं, जो पाणिनि को अभिप्रेत नहीं थे, जैसे **अनुल्ब्वणं वयत**[10] (सं० ३।४।२); **दधिक्राव्ण्णो अकारिषम्** (सं० १।५।११):, **अल्प्पो**[11] **ह्य्येव** (सं० ५।१।३):, **आक्खिदते**[12] (स० ४।५।९), **परिब्भुज** (सं० ४।५।१) आदि स्थलों में क्रमशः ब्, ण्, प्, ख्, भ आदि के द्वित्व के लिए पाणिनि ने कोई नियम नहीं बनाया। आखिदते से आक्खिदते, परिभुज से परिब्भुज की भाँति ही हिन्दी में कहीं-कहीं लिखा का 'लिक्खा' प्रयोग हो रहा है।

---

१. सं० ३।४।५।
२. ऋकारॠकाररषपूर्वो नकारो णकारं समानपदे।
३. व्यवेतोऽपि।
४. ८।४।२।
५. न सुषुम्नोऽग्नियुष्मानीतोऽन्तो लोपात् स्पर्शपरो व्यवायिषु श स च ट त वर्गीयेषु।
६. पृक्तस्वरात्परो लो डं पौष्करसादेः।
७. सं० ४।५।१०।
८. ८।४।४६।
९. ८।४।४७।
१०. लवकारपूर्वः स्पर्शश्च पौष्करसादेः २।२।२।
११. स्पर्श एवैकेषामाचार्याणाम् ३।
१२. २।२।८ उपसर्ग पाथ एषोऽव्यातिधामपरमभूते पूर्वेषु छखिभुजेषु च।

सूत्र[1] ६ का विषय कुछ विलक्षण है। इसका अर्थ है कि अघोष ऊष्म के बाद यदि कोई स्पर्श वर्ण आ रहा हो, तो बीच में उस स्पर्श वर्ण का वर्गीय प्रथम वर्ण अभिनिहित होता है। इस प्रक्रिया को यहाँ अभिनिधान कहा गया है। जैसे **अश्मन्नूर्जं** का **अश्प्मन्नूर्जं** (सं० ४।६।१), **ग्रीष्मे** का **ग्रीष्ट्मे** (सं० २।१।२), **अयस्मयं** का **अयस्प्मयं** (सं० ४।२।५) इत्यादि रूप हो जायेंगे। यह प्राकृत में या उत्तरी भारत में नहीं पाया जाता, पर आश्चर्य है, उड़िया भाषा में यह प्रवृत्ति आज भी देखी जाती है। उड़ीसा में 'कृष्ण' को 'कृष्ट्ण' कहते हैं। यह प्रवृत्ति देखकर सहज ही ऐसा अनुमान होने लगता है कि 'कृष्ण' का ही **कृष्ट् ण-क्रिष्ट् न-क्रिष्ट** अँगरेजी में जाकर '**क्राइस्ट**' हो गया। आर्यसमाजियों का यह तर्क केवल हँसी में उड़ा देने के लायक नहीं है। सूत्र १० ने कहा[2] है कि 'प्लाक्षि आचार्य' अघोष स्पर्श से पूर्व ही ऐसा अभिनिधान मानते हैं, जैसे—'निष्क' का **निष्क्क** (सं० ४।४।२), 'विश्पते' का **विश्प्पते** (सं० ४।४।४) तथा 'य श् छन्दसाम्' का **यश्च्छन्दसाम्** (तै० उ०, प्र० १, अनु० ४) आदि। ११वें सूत्र का कहना[3] है कि प्लाक्षायण का विचार है कि पंचम स्पर्शवर्ण के पूर्व ही यह अभिनिधान होता है, जैसे अक्ष्ट्ण्या (सं० ५।२।७)।

बारहवाँ[4] सूत्र कात्यायन के **चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्** का समानार्थक है; किन्तु यहाँ 'पौष्करसादि' का नाम नहीं है। इसके अनुसार किसी भी प्रथम स्पर्श वर्ण के बाद यदि श् ष् स् आये, तो प्रथमाक्षर का द्वितीयाक्षर हो जाता है। जैसे : **तत् सवितुः - तथ् सवितुः** (सं० १।५।६) **अप्सु-अफ्सु** (सं० २।३।१२)। 'वाडभीकार[5]' असवर्ण ऊष्म के पूर्ववर्त्ती प्रथमाक्षर का ही द्वितीयाक्षर चाहते हैं। उनके मत में 'तथ् सवितुः' नहीं होगा; क्योंकि स् त् सवर्ण है। हाँ, 'तथ् षोडशी' (सं० ६।६।११) होगा। सूत्र १४ से २८ तक सभी सूत्र वर्णद्वित्वनिषेधक हैं। यद्यपि पाणिनि ने इस प्रकरण के विधि-निषेध को अतिसंक्षिप्त कर दिया है, तथापि ध्वनिविज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए यहाँ इस प्रकरण का विस्तार मननीय है। क्यों, किस वर्ण का, किस वर्ण के सान्निध्य में द्वित्व किया जा रहा है या निषेध, यह रोचक विषय है।

तृतीयाध्याय के सूत्र १ से ५ तक के सूत्र अनुनासिकता तथा अनुस्वार के विधायक हैं। **न्** का जहाँ र् या ऊष्म या य् किया जाय, अथवा जहाँ उस य् का लोप किया जाय, अथवा जहाँ **म्** का लोप किया जाय, इन जगहों में पूर्वस्वर का आनुनासिक्य[6] हो जाता है।

दूसरे[7] सूत्र ने कुछ लोगों के मत में इस आनुनासिक्य का निषेध किया है। तीसरा सूत्र है—**ततस्त्वनुस्वारः**। इसका अर्थ माहिषेय ने लिखा है—**तस्मादनुनासिकात् स्वरात्**

१. अघोषादूष्मणः परः प्रथमोऽभिनिधानः स्पर्शपरात्तस्य सस्थानः, २।२।६।

२. अघोषे प्लाक्षेः।

३. उत्तमपरात्तु प्लाक्षायणस्य।

४. प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम्।

५. वाडभीकारस्यासस्थानपरः, २।२।१३।

६. नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः, २।३।१।

७. नैकेषाम्, २।३।२।

परः अनुस्वारागमो भवति, अर्थात् 'उस अनुनासिक स्वर के बाद अनुस्वार का आगम होता है।' यह अर्थ संगत नहीं लगता। क्या मतलब, जहाँ आनुनासिक्य होता है, वहाँ ही उस अनुनासिक स्वर के बाद अनुस्वार का आगम होता है? तब तो 'वनस्पतीँ रनु' (सं० ४।२।८) नहीं, 'वनस्पतीं रनु' इस प्रकार ई के बाद आनुनासिक्य तथा अनुस्वार दोनों की लिपि लिखनी चाहिए थी। और, 'महाँ इन्द्रो' नहीं, 'महां इन्द्रो'—ऐसा शुद्ध होता। साथ ही, दूसरे सूत्र ने जिन आचार्यों के मत से, अनुनासिकता का निषेध किया है, उनके मत में क्या 'वनस्पती रनु' तथा 'महा इन्द्रो' ऐसा रूप होगा? न, यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। यहाँ सम्भवतः माहिषेय से भ्रम हुआ है। **ततस्त्वनुस्वारः** का द्वितीय सूत्र **नैकेषाम्** की एकवाक्यता से यह अर्थ होगा कि 'तब तो अनुस्वार होगा', अर्थात् जब कुछ आचार्यों के मत से अनुनासिकता नहीं होगी, तब तो अनुस्वार होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इन सब स्थलों में दो ही विकल्प हैं—अधिक लोगों के मत से अनुनासिकता होगी, कुछ लोगों के मत से अनुनासिकता नहीं, अनुस्वार का आगम होगा। यह बात उपहासास्पद है कि एक जगह दोनों ही होंगे। एक जगह दोनों में से एक भी नहीं होगा। **माहिषेय** ने भी **तु शब्दः तत् इति सर्वनाम्ना परामृष्टस्य स्वरस्यानुनासिकगुणं विनिवर्त्तयति। तस्मादनुनासिकप्रतिषेधपक्षेऽपि अनुस्वारागमः स्यात्** कहकर यह दिखाया है कि 'तु' शब्द के स्वारस्य से जहाँ अनुनासिकता का निषेध होगा, वहाँ भी अनुस्वारागम होगा। इससे एक सोपान का तो सुधार हुआ कि अनुनासिकता तथा अनुस्वार दोनों से शून्य रूप नहीं होगा, पर अभी एक सोपान और बढ़ना चाहिए था। माहिषेय के वाक्य में 'अपि' नहीं 'एवं' होना चाहिए। अर्थात्, जहाँ अनुनासिकता का प्रतिषेध होगा, वहाँ भी नहीं, वहाँ ही अनुस्वारागम होगा। जहाँ अनुनासिकता का प्रतिषेध नहीं होगा, अनुनासिकता होगी, वहाँ अनुस्वार नहीं होगा—एक रूप अनुनासिकवाला, एक अनुस्वारवाला। आश्चर्य है कि सम्भवतः **अनुनासिकात् स्वरात्परः अनुस्वारागमः** इस भ्रान्त व्याख्या से प्रभावित हो पाणिनि ने भी अपने अनुस्वारविधायक सूत्र[1] **अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः**[2] में इसी भ्रामक भाषा का प्रयोग कर दिया है। पाणिनि के सूत्र का तो और भी स्पष्टता से यही अर्थ निकलता है कि अनुनासिक से परे में अनुस्वार का आगम होता है। ठीक यही भ्रम वहाँ भी है। पहला सूत्र कहता है : **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा**। अर्थात्, इस प्रकरण (प्रकरण, न् के रेफादेश-प्रकरण) में पूर्वस्वर की अनुनासिकता हो जाती है, विकल्प से। दूसरा सूत्र कहता है कि अनुनासिक के परे अनुस्वार का आगम होता है। इसका आशय बिलकुल यही हुआ कि जहाँ अनुनासिकता होगी, वहीं अनुस्वारागम भी होगा, अन्यथा एक भी न होगा। वह जगह खाली रहेगी। अर्थात्, समृकृत का या तो 'सँस्कृत' रूप होगा, या 'संस्कृत'। ये ही दोनों रूप पाणिनि के सूत्रों के शाब्दिक अर्थ से समर्थित होते हैं, जबकि तथ्य यह है कि दोनों अशुद्ध हैं। सौभाग्य हुआ कि व्याख्याताओं ने पाणिनि के **अनुनासिकात् परः** की भ्रामक

---

१. ८।३।४।

२. ८।३।२।

रचना की व्याख्या की—**अनुनासिकं[1] विहाय रो: पूर्वस्मात् परः।** पाणिनिसूत्र की निर्भ्रान्तता प्रमाणित करने के लिए कितनी खींचातानी करनी पडी ? अनुनासिकात् में ल्यब्लोप[2] में पंचमी की शरण लेनी पड़ी। फिर भी, पूर्ण स्पष्ट नहीं हुआ, तो तत्त्वबोधिनी ने बताया—**अनुनासिकाभावपक्षे इत्यर्थः**[3], अर्थात् अनुनासिक के अभाव में ही यह अनुस्वारागम होगा। यदि तत्त्वबोधिनीकार का **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** की टीका में **वाग्रहणं स्पष्टार्थम्, अनुनासिकात्पर इति ज्ञापकादेव सिद्धेः, नहि विकल्पं विना अनुनासिकं विहाय इत्यनुनासिकाभावपक्षः सम्भवति** कहना सब वैयाकरणों का सम्मत है, तो स्पष्ट है कि इस प्रकरण में दो ही रूप निर्दिष्ट हैं—एक केवल अनुनासिकवाला, दूसरा केवल अनुस्वारवाला। दोनों से सहित या दोनों से रहित किसी का सिद्धान्त नहीं। ऐसी अवस्था में पाणिनि को स्पष्ट कहना चाहिए था **पूर्वस्यानुनासिकोऽनुस्वारो वा।** और, यदि यह मत सही है, तो माहिषेय ने तीसरे सूत्र की व्याख्या में अवश्य भ्रम किया है। चौथे सूत्र[4] के अर्थ में लिखा है कि अनुस्वार का आगम होता है, पर उदाहरण में केवल अनुनासिक संकेत दिया है—'सँसृज' (सं० १।४।४५)। यह वास्तव में ऊष्म के पूर्व अनुस्वार की जगह अनुनासिक का विधान करनेवाला लगता है।

चौथे अध्याय में भी अनुस्वार-अनुनासिक का ही विधान है। यहाँ एक बात शंकास्पद लगती है। तृतीयाध्याय के सूत्र ६ में अनुनासिक का विधान है, उसकी ही अनुवृत्ति चौथे अध्याय में आनी चाहिए थी। अनुस्वार का विधान अध्याय ३ के सूत्र ३ तथा ४ में ही है। स्वयं माहिषेय ने चौथे अध्याय के सभी उदाहरणों में अनुनासिक ही दिखाया है, अनुस्वार नहीं। परन्तु, सभी सूत्रों के अर्थ में यही लिखा है कि अनुस्वार का आगमन होता है। विधान करते हैं अनुस्वार-आगम का, और उदाहरण में हर जगह लिखते हैं अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु)। यहाँ अवश्य कोई भ्रम है।

इस पूरे अध्याय के प्रत्येक सूत्र से प्रातिशाख्यकार का, विश्लेषणशक्ति का प्रारम्भिक प्रयास प्रकट हो रहा है। जहाँ-जहाँ अनुनासिक या अनुस्वार दिखाई देता है, एक-एक को शृंगग्राहिकया बताते हैं कि यहाँ अनुनासिक या अनुस्वार का आगम हुआ है। इसका अनुगम करने की, इन विशेषों को अन्तर्भूत कर लेनेवाले सामान्य तथ्य पकड़ लेने की, क्षमता नहीं आ पाई है। इन प्रातिशाख्यों को पढ़ने के बाद पाणिनि से व्याकरण पर विना लिखे रहा ही नहीं गया होगा, ऐसा लगता है। जैसे कोई गिनाने लगे कि धनानि, वनानि, सुखानि, पुस्तकानि............में न् का आगम होता है, तो हमसे नहीं रहा जायगा। हम चिल्ला उठेंगे—एक शब्द में क्यों नहीं कह देते कि सभी अकारान्त नपुंसक शब्दों से प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन में न् का आगम होगा। इस अध्याय के ३० सूत्रों से भी अनुस्वारागम (अनुनासिकता) का ५० प्रतिशत भी क्षेत्र नहीं बताया जा सका है, जबकि पाणिनि ने प्रायः २४ सूत्रों में इसका समस्त क्षेत्र गतार्थ कर

---

१. सिद्धान्तकौमुदी, हल्सन्धि।

२. ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च (वार्त्तिक)।

३. 'अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः' की टीका में तत्त्वबोधिनी—सि० कौ० टीका।

४. स्रादिषु चैकपद ऊष्मपरः।

दिया है। प्रातिशाख्यकार को शंस और शस् धातुओं तथा 'मांस' और 'मास' शब्दों के अन्तर का भी ज्ञान नहीं है, ऐसा लगता है। नियम बनाने का ढंग भी उपहासास्पद है—पद[1] के आदि में यदि स्र, शो, ह, पा, श आवे और बाद में स्वरपरक सकार हो, तो बीच में अनुस्वार का (अनुनासिक का ?) आगम होता है, जैसे सं+स्रयेत्=संस्रयेत्, शो+सा=शोँसा, हं+सः=हँसः, पां+सून=पाँसून, शं+सति=शँसति इत्यादि। यह विश्लेषण आज बिलकुल बच्चों का-सा लगता है, पर उस समय यही एक अनुसन्धान माना गया होगा। शंस् और स्रंस् तो मूल धातु हैं, पांसु मूल शब्द है। हंस भी हन्+स के योग से बना या मूल शब्द ही है, इनमें अनुस्वार या अनुनासिक के आगम की क्या आवश्यकता है ?

पाँचवें अध्याय में जो विचार है, उसे पाणिनि ने अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया है और प्रातिशाख्यों ने भी संकेत-मात्र ही किया है। किन्तु, यह विचार ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यहाँ एक-एक कर सब नियम दिखाये जा रहे हैं।

१. **तीव्रतरमानुनासिक्यमनुस्वारोत्तमेष्विति शैत्यायनः**[2], अर्थात् शैत्यायन का मत है कि अनुस्वार तथा पंचम वर्णों में तीव्रतर आनुनासिक्य है।

२. कौहलीपुत्र[3] का विचार है कि सब अनुनासिक वर्णों में समान ही अनुनासिकता है। जैसे : **'सपत्न', 'साहं', 'सम्मार्ज्मि'** (सं० १।१।१०) में यम, अनुस्वार तथा पंचम वर्ण तीनों में तुल्य आनुनासिक्य है।

३. भारद्वाज[4] का कहना है कि अनुस्वार में अणु-मात्र आनुनासिक्य है। यहाँ भी अनुस्वार के उदाहरण में अनुनासिक ही दिखाया गया है—त्वँ। वास्तव में, अनुनासिक में ही आनुनासिक्य कम रहता है, अनुस्वार में तो अधिक रहता है।

४. स्थविर[5] कौण्डिन्य का मत है कि (क) नकार के रेफभाव में, (ख) ऊष्म-भाव में, (ग) यकारभाव में, (घ) उस यकार के लोप में तथा (ङ) मलोप होने पर उत्तरोत्तर तीव्रतर अनुनासिक होता है।

५. उपर्युक्त अनुस्वार[6]-स्थलों में पूर्ववर्त्ती स्वर में आधी मात्रा अधिक रहती है। अर्थात्, अनुनासिक या अनुस्वार के कारण उस अक्षर (सिलेबल) की मात्रा बढ़ जाती है।

६. पौष्करसादि[7] का मत है कि स्वार, अर्थात् स्वरित और विक्रम, अर्थात् अनुदात्तविशेष में दूसरे वर्णों से दृढप्रयत्नतर उच्चारण होता है।

---

१. स्र शो ह पा श पदादयः स्वरपदे, २।४।२।
२. २।५।१।
३. सर्वत्रेति कौहलीपुत्रः, २।५।२।
४. अनुस्वारेण्विति भारद्वाजः, २।५।३।
५. नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्चोत्तरमुत्तरं तीव्रतरमितिस्थविर-कौण्डिन्याः, २।५।४।४।
६. व्यञ्जनकालश्च स्वरस्यात्राधिकः, २।५।५।
७. स्वारविक्रमयोर्दृढप्रयत्नतरः पौष्करसादेः, २।५।६।

७. शैत्यायन[1] का कहना है कि स्वार, विक्रम में ही क्यों, सभी वर्णों में प्रयत्न-विशेष से उच्चारण में विशेषता आती है।

८. आत्रेय[2] कहते हैं कि जैसे बुद्धिमान व्यक्ति दूध से भरा पात्र लेकर चलता है, उसी प्रकार वर्णों को न अत्यन्त व्यक्त, न अत्यन्त अव्यक्त ढंग से बोले।

इस अध्याय में ८ ही सूत्र हैं।

छठे अध्याय में सात सूत्रों में केवल प्रणव की मात्रा तथा स्वर का विचार हुआ है। इससे मालूम होता है कि ओम् के उच्चारण में कितनी कलात्मकता थी।

आठवें अध्याय में क्षेत्र, नित्य, प्रातिहत, अभिनिहित, प्रश्लिष्ट, पादवृत्त, तैरो-व्यंजन नाम के सन्धिजन्य स्वरित-विशेषों का विवेचन है। सूत्र ९ तक यह बताया गया है कि ये स्वर किस स्थिति में होते हैं, तथा १० से १३ तक यह बताया गया है कि इनमें किसका उच्चारण दृढ़प्रयत्नतर, मृदुतर अथवा अल्पतर होता है। यह भी पूर्णतः स्वर-विषयक अध्याय ही है।

नवें अध्याय में सूत्र १२, १३ और १४ में नासिक्य की व्याख्या है, यह ध्यान देने योग्य है। आश्चर्य है कि बारहवें[3] सूत्र का स्पष्ट अर्थ है कि प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ स्पर्शवर्ण के बाद यदि पंचम वर्ण आये तो उसी क्रम से नासिक्य, अर्थात् प्रथम नासिक्य, द्वितीय नासिक्य, तृतीय नासिक्य तथा चतुर्थ नासिक्य आ जाते हैं, अर्थात् बीच में इनका आगम हो जाता है। माहिषेय भी यही व्याख्या करते हैं : **अनुत्तमात् स्पर्शात् उत्तमपरादानु-पूर्व्येण नासिक्यानामागमो भवति। द्वितीयस्पर्शाद् दि्वतीयनासिक्याः, तृतीयस्पर्शात् तृतीय-नासिक्याः, चतुर्थस्पर्शाच्चतुर्थः।** किन्तु, उदाहरण में **प्रश्न, ग्रथ्नीयात्, विद्मा, दध्ना**— इन चारों जगहों में नासिक्य का आगम लिपि में नहीं दीखता। यदि यह मानें कि पंचम वर्ण के पूर्व प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण स्वयं अनुनासिक बन जाते हैं, तो एक त् थ् द् ध् लिखना संगत हो सकता है, पर तब इसे आगम कैसे कहेंगे, यह तो आदेश होगा। तब तो सूत्र में 'स्पर्शात्' यह पंचमी निर्देश नहीं चाहिए, 'स्पर्शस्य' ऐसा षष्ठी निर्देश करना चाहिए था। क्या इसका यह अभिप्राय समझा जाय कि बीच में एक नासिक्य का आगम होता है, पर वह केवल उच्चारण में रहता है, लिपिबद्ध नहीं किया जाता? इस प्रातिशाख्य में पहले भी दिखा आये हैं कि कहीं भी यमों के उदाहरण में दो वर्ण नहीं दिखाये गये हैं। 'ऋक्प्रातिशाख्य' में भी पूर्वसदृश वर्ण कहीं लिपिबद्ध नहीं किया गया है। यहाँ तेरहवाँ[4] सूत्र कहता है कि इन्हें कोई-कोई 'यम' कहते हैं। इसका भी आशय यही लगता है कि साधारणतः इन्हें नासिक्य कहते हैं, यहाँ पूर्वसदृश वर्ण नहीं रहता, केवल एक अनुनासिक ध्वनि बीच में उच्चरित होती है, जिसका कोई लिपि-संकेत नहीं। पर कुछ आचार्य यहाँ पूर्वसदृश अनुनासिक ध्वनि का आगम मानते हैं। वे इसे 'यम' वर्ण कहते हैं। चौदहवें[5] का अर्थ है कि यदि ह् के बाद न्, ण् या म्

---

१. प्रयत्नविशेषाद् सर्ववर्णानामिति शैत्यायनः, २।५।७।

२. नातिव्यक्तं न चाव्यक्तमेवं वर्णानुदिङ्गयेत्।
पयः पूर्णमिवामत्रं हरन् धीरो यथामतिः, इत्यात्रेयः,२।५।८।

३. स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः।

४. तान् यमानेके।

५. हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्।

आवे, तब भी बीच में एक नासिक्य का आगम होता है—कुछ आचार्यों के मत में। यहाँ भी हकारात् यह पंचमीनिर्देश है, किन्तु **आह्नम् अपराह्ण** और **ब्रह्म**—इन तीनों उदाहरणों में कहीं भी ह् और न् ण् म् के बीच किसी नासिक्य का आगम लिपि में नहीं दिखाया गया। यहाँ कौन-सा यमवर्ण आ सकता था? क्या ह् ही दो हो जाते। संभवतः बाद में ह् के यम को स्वीकृति नहीं मिली।

पन्द्रहवें[1] सूत्र के अनुसार जहाँ रेफ और ऊष्म का संयोग होता है, वहाँ रेफ स्वर-भक्ति होता है। जैसे—**दर्श, कर्षति**। सोलहवें ने कहा[2] है कि जहाँ ऊष्म का द्वित्व हुआ हो, अथवा ऊष्म के बाद प्रथम वर्ण आ रहा हो, वहाँ रेफोष्म संयोग में भी रेफ की स्वरभक्ति नहीं होती; जैसे—**वर्ष्याभ्यः** (सं० ७-४-१३), **वर्ष्टा पर्जन्यः** (सं० ७।५।२०) आदि।

स्वरादि विचार

दसवें अध्याय में विविध सिद्धान्तों का संग्रह है :—

१. किसी भी स्वर[3] को उच्च अर्थात् उदात्त बनाने के लिए ये साधन हैं—'आयाम' अर्थात् (शरीर का) फैलाव; 'दारुण्य' अर्थात् (अंगों की) दृढ़ता तथा कण्ठविवर की 'अणुता' अर्थात् संकीर्णता। यहाँ सूत्र कहता है : ये साधन शब्द को, अर्थात् ध्वनि को उच्च करनेवाले हैं। माहिषेय ने इसकी व्याख्या की है **एवं युक्तस्य उच्चशब्दो भवति, तेनैवोदात्तः क्रियते।** इससे स्पष्ट है कि यहाँ उदात्त का अर्थ—उच्च ध्वनि ही है। भट्टोजिदीक्षित ने उदात्त का अर्थ किया है—अपने ताल्वादिस्थान के ऊर्ध्वभाग से उच्चरित होना। उदात्त के उस अर्थ में इन तीन साधनों की कोई उपयोगिता नहीं है। उदात्त का अर्थ उच्च ध्वनि ही (अपेक्षाकृत) अधिक ठीक लगता है, जैसे अँगरेजी में ऐक्सेण्ट होता है।

२. 'अन्ववसर्ग'[4] अर्थात् (शरीर का) संकोचन, 'मार्दव' अर्थात् (अंगों का) शिथिलीकरण और 'उरुता' अर्थात् (कण्ठविवर की) स्थूलता—ये ध्वनि को नीचा बनानेवाले हैं। इसी से वर्ण अनुदात्त होता है।

३. परस्पर[5] ऋचाओं के बीच तीन मात्राओं का विराम किया जाता है, पदों के बीच दो मात्राओं का, विवृत्तियों में एक मात्रा का तथा समानपद-विवृत्तियों में आधी मात्रा का।

४. इन सबों को गुरु समझना चाहिए :—(क) व्यंजनान्त, (ख) दीर्घ, (ग) संयोग-पूर्व, (घ) अनुस्वार-संयुक्त। इससे शेष लघु हैं।

---

१. रेफोष्म संयोगे रेफस्स्वरभक्तिः।

२. न क्रमे प्रथम परे।

३. 'आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य।' महाभाष्य में भी उच्चैरुदात्तः की व्याख्या में बिलकुल यही पंक्ति दी गई है। १।२।२९

४. अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि—१०।

५. ऋग्विरामः पदविरामो विवृत्तिविरामः, समानपदविवृत्तिविरामस्त्रिमात्रो द्विमात्र एकमात्रोऽर्धमात्र इत्यानुपूर्व्येण—१३। (विरामविचार संस्कृत-व्याकरण-ग्रन्थों में विरल है।)

व्यंजनान्त को पाणिनि ने गुरु नहीं बताया है, न अनुस्वार-संयुक्त को। पर छन्दः शास्त्र में यह सर्वस्वीकृत है !

ग्यारहवें अध्याय में वर्णोत्पत्ति का प्रसंग है।

१. अनुप्रदान[1] से, संसर्ग से, स्थान से, करणविन्यय से तथा पाँचवें साधन-परिमाण से वर्णों में विशेषता अर्थात् भिन्नता पैदा होती है। इस सूत्र की व्याख्या हम पहले कर आये हैं, और यह भी बता आये हैं कि उवट ने माहिषेय की व्याख्या से क्या भिन्न व्याख्या की है। ऋक्प्रातिशाख्य के १३वें पटल के १३वें सूत्र की व्याख्या में उवट ने तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य का यह श्लोक सूत्र २।११।२ उद्धृत किया है।

२. वर्णमिश्रित[2] शब्द (ध्वनि) से वाणी की उत्पत्ति होती है।

३. वाणी के ७ स्थान होते हैं, उपांशु, ध्वान, निमद, ऊनद्धि उपब्दि, मन्द्र, मध्यम तथा तार। अधिकांश जगहों में मन्द्र, मध्यम तथा तार—इन तीन स्थानों की ही चर्चा है, यहाँ ७ की। (क) जिसमें[3] शब्द का ग्रहण नहीं होता है, वह 'उपांशु' है। (ख) जिसमें[4] शब्द (ध्वनि) का ग्रहण तो होता है, पर अक्षर-व्यंजन की उपलब्धि नहीं होती, उसे 'ध्वान' कहते हैं। (ग) जिसमें[5] अक्षर व्यंजन की उपलब्धि होने लगती है, उसे 'निमद' कहते हैं। (घ) जिसमें[6] अक्षर-व्यंजन के साथ शब्द (ध्वनि) का भी श्रवण होता है, उसे 'उपब्दि' कहते हैं। (ङ) हृदय-प्रदेश में यदि ध्वनि की उपलब्धि होती है, तो उसे 'मन्द्र', (च) कण्ठ में उपलब्धि होने पर 'मध्य' और (छ) मूर्धा में उपलब्धि होने पर उसे 'तार' कहते हैं। 'अमर-कोश' में मन्द्र गम्भीर ध्वनि का तथा तार तीव्र ध्वनि का वाचक शब्द माना गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'उपांशु' नाम 'परा ध्वनि' का है, ध्वान पश्यन्ती का, निमद मध्यमा का तथा उपब्दि वैखरी का। इस वैखरी नाद की उत्तमता तथा स्थूलता के तारतम्य से मन्द्र, मध्यम तथा तार—तीन भेद होते हैं। 'उपब्दि' तक वाणी प्रायः आत्मश्रव्य ही रहती है। वह मन्त्रपाठ के योग्य नहीं। मन्त्रपाठ के लिए अन्तिम तीन श्रेणियाँ ही उपादेय हैं।

मन्द्र, मध्य तथा तार—इन तीन स्थानों में (जबकि नाद सर्वग्राह्य उच्चता तक पहुँच जाता है) सात 'यम' होते हैं—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य। इनमें पूर्व पूर्व, उत्तर उत्तर से अधिक दीप्त होते हैं।

'क्रुष्ट'[7] प्रथम तथा द्वितीय—ये तीन आह्वारक स्वर हैं। माहिषेय के अनुसार ये उत्क्षेपी (उदात्त ?) हैं। माहिषेय ने इसी से आक्षेप कर लिया है कि मध्यवर्ती तृतीय 'सम'

१. २।११।२।
२. वर्णपृक्तः शब्दो वाचउत्पत्तिः २।११।३।
३. करणवदशब्दममनः प्रयोगमुपांशु २।११।६।
४. अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः २।११।७।
५. उपलब्धिर्निमदः, २।११।८।
६. सशब्दमुपब्दिमत्, २।११।९।
७. २।११।१५।

या 'धृतप्रचय' है, और अन्तिम तीन अर्थात् चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य 'अवक्षेपी' (अनुदात्त) हैं। यह तो सामवेदियों का विचार हुआ। तैत्तिरीयकों के अनुसार तो मन्द्र, चतुर्थ, तृतीय तथा द्वितीय क्रमशः अनुदात्त, स्वरित, प्रचय तथा उदात्त होते हैं। तैत्तिरीयकों का क्रम भी कुछ भिन्न है। वे पहले द्वितीय यम को स्थान देते हैं और उसे उदात्त कहते हैं। फिर मन्द्र को स्थान देकर उसे अनुदात्त कहते हैं, तब क्रम से तृतीय, चतुर्थ यमों को रखकर उन्हें प्रचय और स्वरित कहते हैं। यही उनका चतुर्यम है।

बारहवें अध्याय में संहिताओं तथा प्रातिशाख्य के विषयों का सिंहावलोकन और उपसंहार है :—

चार संहिताएँ होती हैं : पदसंहिता, अक्षरसंहिता, वर्णसंहिता तथा अंगसंहिता[१]। नाना[२] पदों के सन्धान का संयोग ही पदसंहिता है। इसी प्रकार अक्षरसंहिता आदि को भी समझना चाहिए।

जो वेद की भाषा जानना चाहता है, उसके लिए "गुरुत्व,[३] लघुता, साम्य, ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत, लोप, आगम, विकार, प्रकृति, विक्रम, क्रम, स्वरित-उदात्त-अनुदात्त, श्वास, नाद, अंग—इन सबोंका ज्ञान अपेक्षित है।" यहाँ वैदिक भाषा के बहाने किसी भी भाषा के पूर्ण ज्ञान के लिए उच्चारण के इन रूपों का ज्ञान (ध्वनिविज्ञान) आवश्यक बताया गया है।

जो पद[४] और क्रमपाठ की विशेषताओं को जाने, वर्ण और क्रम के ज्ञान में पारंगत हो अथवा जो पदों तथा वर्णों का सही क्रम जाने, जो स्वर तथा मात्रा के विभाग को जाने, वही आचार्य बन सकता है (यज्ञ में), अथवा आचार्य के पास विशेषाध्ययन के लिए जा सकता है।

यहाँ दूसरे प्रश्न का बारहवाँ अध्याय तथा पूरा ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

'ऋक्प्रातिशाख्य' की भाँति तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी बहुत-से सूत्र पाणिनि के सूत्रों के अल्पाधिक समानार्थक-से हैं। नीचे इनकी तालिका दी जा रही है :—

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	**पाणिनि के सूत्र**
१. उच्चैरुदात्तः, १।१।३८	उच्चैरुदात्तः, १।२।२९।
२. नीचैरनुदात्तः, १।१।३९	नीचैरनुदात्तः, १।२।३०।
३. समाहारः स्वरितः, १।१।४०	समाहारः स्वरितः, १।२।३१
४. सोऽपृक्तसंज्ञः, १।१।५५	अपृक्त एकाल् प्रत्ययः, १।२।४१
५. आद्यन्तवच्च, १।१।५६	आद्यान्तवदेकस्मिन्, १।१।२१
६. विनाशो लोपः, १।१।५८	अदर्शनं लोपः, १।१।६०।
७. संपूर्वः सकारः कुत्परः, १।०।१६	समः सुटि, ८।३।५ संपरिभ्यां करोतौ भूषणे, ६।१।१३७

---

१. २।१।२०।

२. २।१२।३।

३. २।१२।५।

४. २।१२।६।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	पाणिनि के सूत्र
८. उत्पूर्वः सकारो व्यञ्जनपरः, १।५।१४	उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य, ८।४।६१
९. क—एष स स्य इति च, १।५।१५ ख—नासः, १।५।१६	एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्०, ६।१।१३२
१०. नकारः शकारं चपरः, १।५।२०	नश्छव्यप्रशान्, ८।३।७
११. क—तकारश्चकारं श च छ परः, १।५।२२ ख—जपरो जकारम्, १।५।२३ ग—नकार एतेषु ञकारम्, १।५।२४	स्तोः श्चुना श्चुः, ८।४।४०
१२. क—लपरौ लकारम्, १।५।२५ ख—नकारोऽनुनासिकम्, १।५।२६	तोर्लि, ८।४।६०
१३. मकारस्स्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम्, १।५।२७	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, ८।४।५८ वा पदान्तस्य, ८।४।५९
१४. ङपूर्वः ककारः सषकारपरः, १।५।३२	ङ्णोः कुक्टुक् शरि, ८।३।२८
१५. टनकारपूर्वश्च तकारः, १।५।३३	डः सि धुट्, ८।३।२९ नश्च, ८।३।३०
१६. स्पर्शपूर्वः शकारः छकारम्, १।५।३४	शश्छोऽटि, ८।४।६३
१७. प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थं तस्य सस्थानम्, १।५।३८	झयो होऽन्यतरस्याम्, ८।४।६२
१८. क—वा धा षपूर्वस्तष्टम्, १।७।१३ ख—थश्च ठम्, १।७।१४	ष्टुना ष्टुः, ८।४।४१
१९. क—अथ प्रथमः, १।८।१ ख—उत्तरमपर उत्तमः सवर्गीयम्, १।८।२	यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा, ८।४।४५
२०. तृतीयं स्वरघोषवत् परः, १।८।३	झलां जशोऽन्ते, ८।२।३९
२१. अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते, १।८।१५	रो रि, ८।३।१४
२२. दीर्घं च पूर्वः, १।८।१६	ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः, ६।३।१११
२३. क ख—पकारपूर्वः षमकारपूर्वः समवग्रहः, १।८।२२	इणः षः ८।३।३९ सोऽपदादौ ८।३।३८
२४. अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम्, १।९।२	विसर्जनीयस्य सः, ८।३।३४
२५. न क्षपरः, १।९।३	शर्परे विसर्जनीयः, ८।३।३५
२६. कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीकयोः, १।९।४	कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च, ८।३।३७
२७. ऊष्म पर एवै केषामाचार्याणाम्, १।९।५	वा शरि, ८।३।३६
२८. ओकारमः सर्वोऽकारपरः, १।९।७	अतो रोरप्लुतादप्लुते, ६।१।११३
२९. घोषवत्परश्च, १।९।८	हशि च, ६।१।११४
३०. अवर्णपूर्वस्तु लुप्यते, १।९	हलि सर्वेषाम्, ८।३।२२
३१. अथ स्वरपरोपकारम् १।९।१०	भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि, ८।३।१७

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	पाणिनि के सूत्र
३२. क—एकारोऽयम्, १।६।११ ख—ओकारोऽवम्, १।६।१२ ग—ऐकार आयम्, १।६।१४ घ—औकार आवम्, १।६।१५	एचोऽयवायावः, ६।१।७८
३३. नाकारपरौ, १।६।१३	प्रकृत्यान्तः, पादमव्यपरे, ६।१।११५
३४. उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या वकारोऽन्तरे, १।६।१६	उञः, १।१।१७
३५. क—ह्रस्वपूर्वो ङकारो द्विवर्णम्, १।६।१८ ख—नकारश्च, १।६।१९	ङमोह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्, ८।३।३२
३६. अथैकमुभे, १।१०।१	एकः पूर्वपरयोः, ६।१।८४
३७. दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे, १।१०।२	अकःसवर्णे दीर्घः, ६।१।१०१
३८. अथावर्णपूर्वे, १।१०।३ क—इवर्णपर एकारम्, १।१०।४ ख—उवर्णपर ओकारम्, १।१०।५ ग—अरमृकारपरे, १।१०।८	आद्गुणः, ६।१।८७
३९. क—एकारैकारपर ऐकारम्, १।१०।६ ख—ओकारौकारपर औकारम्, १।१०।७	वृद्धिरेचि, ६।१।८८
४०. उपसर्गपूर्व आरम्, १।१०।९	उपसर्गादृति धातौ, ६।१।९१
४१. उदात्तमुदात्तवति, १।१०।१०	एकादेश उदात्तेनोदात्तः, ८।२।५
४२. इवर्णोकारौ यवकारं स्वरपरौ, १।१०।१५	इको यणचि, ६।१।७७
४३. उदात्तयोश्च परोऽनुदात्तः स्वरितम्, १।१०।१६	उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य, ८।२।४
४४. लुप्येते स्ववर्णपूर्वौ यवकारौ, १।१०।१९	लोपः शाकल्यस्य, ८।३।१९
४५. लेशो वात्सप्रस्यैतयोः, १।१०।२३	व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य, ८।३।१८
४६. न प्लुतप्रग्रहौ, १।१०।२४	प्लुतप्रगृह्या अचिनित्यम्, ६।१।१२५
४७. लुप्यते त्वकार एकार ओकारपूर्व, १।११।१	एङः पदान्तादति, ६।१।१०९
४८. अथालोपः, १।११।२	प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे, ६।१।११५
४९. ऋकारऋकाररषपूर्वो नकारो णकारं समानपदे, २।१।६	रषाभ्यां नो णः समानपदे, ८।४।१
५०. व्यवेतोऽपि, २।१।७	अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, ८।४।२
५१. स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णं व्यञ्जनपरम्, २।२।१	अनचि च, ८।४।४७
५२. रेफात् परं च, २।२।४	अचो रहाभ्यां द्वे, ८।४।४६
५३. ऊष्मा स्वरपरः, २।२।१६	शरोऽचि, ८।४।४९
५४. उदात्तात् परोऽनुदात्तः स्वरितम्, २।२।२९	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, ८।४।६६
५५. नकारस्य रेफोष्मभावा०, २।३।१	अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा, ८।३।२
५६. नोदत्तस्वरितपरः, २।२।३१	नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्, ८।४।६७

५७. ततस्त्वनुस्वारः, २।३।३ — अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः, ८।३।४

५८. अप्रग्रहाः समानाक्षराण्यनु०, २।३।६ — अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः, ८।४।५७

ढूँढ़ने से कुछ और भी सदृश अर्धसदृश सूत्र मिल जायेंगे। इस प्रातिशाख्य में निम्न-लिखित प्राचीन भाषावैज्ञानिकों का उल्लेख है :—

(१) आत्रेय, १।५।३१,

(२) वाल्मीकि, १।५।३६

(३) पौष्करादि, १।५।३७

(४-६) प्लाक्षि, कौण्डिन्य, गौतम, १।५।३८

(७) मीमांसक, १।५।४१

(८) साङ्कृत्य, १।८।२

(९) काण्ड्यायन, १।९।१

(१०) अग्निवेश्य, १।९।४

(११) प्लाक्षायण, १।९।६

(१२) उख्य, १।१०।२०

(१३) माचाकीय, १।१०।२२

(१४) वात्सप्र, १।१०।२३

(१५) वाडभीकार, २।२।१३

(१६) हारीत, २।२।१८

(१७) शाङ्खायन, २।३।७

(१८) शैत्यायन, २।५।१

(१९) कौहलीपुत्र, २।५।२

(२०) भारद्वाज, २।५।३

(२१) स्थविरकौण्डिन्य लोग। इन इक्कीस आचार्यों में बहुतों के नाम अनेक बार आये हैं। इक्कीस के अलावा दो-एक छूटे-फूटे भी हो सकते हैं।

●●

वाजसनेयिप्रातिशाख्य

अथवा

शुक्लयजुः प्रातिशाख्य

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा का प्रातिशाख्य कात्यायनकृत उपलब्ध है। इस पर 'उवट' और 'अनन्तभट्ट' के भाष्य मिलते हैं। इसमें ८ अध्याय तथा कुल ७२६ सूत्र हैं। इसका विवरण इस प्रकार है :

अध्याय	सूत्र-संख्या	अध्याय	सूत्र-संख्या
१.	१६६	२.	६५
३.	१५२	४.	१९६
५.	४६	६.	३१
७.	१२	८.	५५
			७२६

आठवें अध्याय में सूत्र २५ तक वर्णसमाम्नाय का उल्लेख है। वहाँ ये वर्ण गिनाये गये हैं :—

(१) **स्वर**—अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ ॠ३, ऌ ॡ ॡ ३ = १५

(२) **सन्ध्यक्षर**—ए ए३, ऐ ऐ३, ओ ओ३ तथा औ औ३ = ८

२३

(३) **व्यञ्जन**—वर्गीय २५, अन्तःस्थ ४, ऊष्म—श ष स ह = ४ = ३३

(४) **अयोगवाह**—जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अं अनुस्वार, अः विसर्ग, हुं, **यह नासिक्य,** कुं खुं गुं घुं ये चार यम = ६

६५

इस प्रकार कुल ६५ वर्ण हैं। यदि इनमें ळ और ळ्ह भी जोड़ दें तो इनकी संख्या ६७ हो जाती है। किन्तु माध्यन्दिन शाखा जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य और दीर्घ ॡ तथा ळ् ळ्ह—इन ६ वर्णों को नहीं मानती। अतः उनके मत से कुल ६१ ही वर्ण होंगे।

इस प्रातिशाख्य ने भी स्थान-निरूपण में ऋवर्ण को जिह्वामूलीय (१।६५) ए को इ की भाँति शुद्ध तालव्य (१।६६) ओ को उ की भाँति शुद्ध ओष्ठ्य (१।७०) तथा रेफ को दन्त-मूलीय (१।६८) ध्वनि माना है। यद्यपि सन्ध्यक्षरों में ए ओ का भी उल्लेख है, पर उनमें कण्ठ्य मात्रा के मिश्रण का उल्लेख नहीं किया गया।

उसके बाद इसी (प्रथम) अध्याय में सूत्र ७६ से ८४ तक करण का निरूपण है। दन्त्य[1] वर्णों का करण जिह्वा का अग्रभाग है, र[2] का भी। मूर्धन्यों का[3] प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र तथा तालव्यों[4] का जिह्वामध्य करण है। हुँ इस नासिक्य तथा ओष्ठ्य वर्णों का जो स्थान है, वही करण[5] है। व् का करण[6] दन्ताग्र, यमों का नासिकामूल[7], जिह्वामूलीय तथा अनुस्वार[8] का हनुमूल और कण्ठ्य वर्णों का जिह्वामध्य[9] है।

इनमें जिह्वामूलीय तथा अनुस्वार का करण ठीक नहीं जँचता। यजुर्वेद के दोनों प्रातिशाख्यों में करण का बड़ा सुन्दर वर्णन है, वैसा और कहीं नहीं है। किन्तु आश्चर्य है कि इस प्रातिशाख्य में आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रयत्नों की बिलकुल चर्चा नहीं है, यद्यपि **समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः** सूत्र में(१।४।३)'आस्य प्रयत्न' (आभ्यन्तर प्रयत्न) का उल्लेख है।

इस प्रातिशाख्य में भी बहुत-से सूत्र पाणिनि-सूत्रों के पूर्णतः या अंशतः सदृश हैं, कुछ केवल अर्थ की दृष्टि से, कुछ अर्थ और शब्द दोनों ही दृष्टियों से। नीचे उदाहरण दिये जा रहे हैं :—

प्रातिशाख्य-सूत्र	**पाणिनि-सूत्र**
१. अन्त्याद् वर्णात् पूर्व उपधा, १।३५	अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा, १।१।६५
२. समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः, १।४३	तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्, १।१।६
३. अनन्तरं संयोगः (व्यंजनम् की अनुवृत्ति), १।४८	हलोऽनन्तराः संयोगः, १।१।७
४. एकारेकारो कारा द्विववचनान्ताः, १।६३	ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्, १।१।११
५. उच्चैरुदात्तः, १।१०८	उच्चैरुदात्तः, १।२।२९
६. नीचैरनुदात्तः, १।१०९	नीचैरनुदात्तः, १।२।३०
७. उभयवान्स्वरितः, १।११०	समाहारः स्वरितः, १।२।३१
८. तस्यादित उदात्तँ स्वरार्धमात्रम्, १।१२६	तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्, १।२।३२
९. तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, १।१३४	तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, १।१।६६
१०. तस्मादित्युत्तरस्यादेः, १।१३५	{ तस्मादित्युत्तरस्य, १।१।६७ / आदेः परस्य, १।१।५४ }
११. षष्ठी स्थाने योगा, १।१३६	षष्ठी स्थानेयोगा, १।१।४९
१२. वर्णस्यादर्शनं लोपः, १।१४१	अदर्शनं लोपः १।१।६०

---

१. दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः, १।७६।
२. रश्च, १।७७।
३. मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्, १।७८।
४. तालुस्थाना मध्येन, १।७९
५. समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः, १।८०।
६. वो दन्ताग्रैः, १।८१।
७. नासिकामूलेन यमाः, १।८२।
८. जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन, १।८३।
९. कण्ठ्या मध्येन, १।८४।

प्रातिशाख्य सूत्र	पाणिनिसूत्र
१३. संख्यातानामुद्देशो यथासंख्यम्, १।१४३	यथासंख्यमनुदेशः समानाम्, १।३।१०
१४. मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः, १।७५	मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः, १।१।८
१५. एकवर्णः पदमपृक्तम्, १।१५१	अपृक्त एकाल्प्रत्ययः, १।२।४१
१६. विप्रतिषेधे उत्तरं बलवदलोपे, १।१५९	विप्रतिषेधे परं कार्यम्, १।४।२
१७. स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्, २।१	अनुदात्तं पदमेकवर्जम्, ६।१।१५८
१८. आमन्त्रितं च, २।२४	आमन्त्रितस्य च, ६।१।१९८
१९. ऋषरेफेभ्यो नकारो णकारं समानपदे, ३।८४	रषाभ्यां नो णः समानपदे, ८।४।१
२०. सन्ध्यक्षरमयवायावम्, ३।४८	एचोऽयवायावः, ६।१।७८
२१. उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्, ४।१।३७	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, ८।४।६६
२२. एदोद्भ्यां पूर्वमकारः, ४।६२	एङः पदान्तादति, ६।१।१०९
२३. विकारी यथासन्नम्, १।१४२	स्थानेऽन्तरतमः, १।१।५०
२४. प्रकृत्या सम्राट् सम्राजि, ४।६	मो राजि समःक्वौ, ८।३।२५
२५. विश्वदेव्यसोमौ वताम्, ३।११७	मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ, ६।३।१३१
२६. उदात्तस्यान्तस्थीभावे स्वरितपरमनुदात्तम्, ४।४९	उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य, ८।२।४
२७. यद्वृत्तोपपदाच्च, ६।१४	यद्वृत्तान्नित्यम्, ८।१।६६
२८. देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि, २।९४	देवताद्वन्द्वे च, ६।२।१४१
२९. ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः, १।९४	ओत्, १।१।१५
३०. उकारोपृक्तः, १।९५	उञः, १।१।१७
३१. सामजपन्यूङ्खवर्जम्, १।१३१	यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु, १।२।३४

पाणिनि के कुछ सूत्रों को कात्यायन ने सरल करने के लिए कई खण्डों में बाँट दिया है अथवा अधिक शब्दों में स्पष्ट किया है। ऐसा ऋक्प्रातिशाख्य तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में भी किया गया है। यह पहले दिखा आये हैं :—

प्रातिशाख्यसूत्र	पाणिनि-सूत्र
३२. अमात्रस्वरो ह्रस्वः, १।५५ द्विस्तावान् दीर्घः, १।५।७ प्लुतस्त्रिः	ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः, १।२।२७
३३. सन्ध्यक्षर ऐकारौकारौ, ४।५८	वृद्धिरेचि, ६।१।८८
३४. स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र, ४।१०१	अनचि च, ८।४।४७
३५. तकारवर्गश्चकारवर्गे चकारवर्गम्, ४।९६ शकारे च ४।९७	स्तोः श्चुना श्चुः, ८।४।४०
३६. हश्च तस्मात् पूर्वचतुर्थम्, ४।१२४	झयो होऽन्यतरस्याम्, ८।४।६२
३७. तकारो ले लम्, ४।१३ नु श्चानुनासिकम्, ४।१४	तोर्लि, ८।४।६०

३८. ह्रस्वग्रहो दीर्घप्लुतौ प्रतीयात्, १।६३ प्रथमग्रहणे वर्गम्, १।६४	अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः, १।१।६६
३९. स्पर्शोऽपञ्चमः स्वरधौ तृतीयम्, ४।१२०	झलां जशोऽन्ते, ८।२।३९
५०. जिति प्रथमम्	खरि च, ८।४।५५
४१. अनुस्वारं रोष्मसु मकारः, ४।१	मोऽनुस्वारः, ८।३।२३

इस प्रकार थोड़ा-बहुत सादृश्य रखनेवाले और भी सूत्र ढूँढ़े जा सकते हैं। इसी प्रकार इस कात्यायन प्रातिशाख्य के कई सूत्र कात्यायन के वार्त्तिकों के भी तुल्य दीखते हैं। उदाहरणार्थ :—

१. तद्बृहतौ करपत्योस्तलोपश्च, ३।५२	तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् सलोपश्च, ६।१।१५७ पर
२. षड्दशदन्तयोः संख्यावयो अर्थयोश्च, ३।४७	षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च धासु वेति वाच्यम्, ६।३।१०९ पर
३. असस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य, ४।१२२	चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्, ८।४।४८ पर
४. लुङ् मुदि जित्परे, ३।१३	खर्परे शरि विसर्गलोपो वा वक्तव्यः, ८।३।३६ सूत्र पर

कई जगह प्रातिशाख्य ने फलितार्थ कथन करके पाणिनि का संक्षेप भी किया है, जैसे पाणिनि के **अदसोमात्**[1] की जगह इस प्रातिशाख्य ने केवल '**अमी**[2] **पदम्**' कह दिया। बात यह है कि **अदसोमात्** के दो ही लक्ष्य हैं—'अमू' और 'अमी'। इनमें 'अमू' की प्रगृह्य संज्ञा तो **एकारेकारोकारा**[3] **द्विवचनान्ताः** से ही हो जायगी। अतः केवल 'अमी' में प्रगृह्यसंज्ञा करने के लिए '**अमीपदम्**' कह दिया। चतुरध्यायी ने इसे और स्पष्ट कर दिया है **अमी बहुवचनम्**[4]। पर पाणिनि के शास्त्र के अनुसार अमू में **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्**[5] से प्रगृह्य संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि **पूर्वत्रासिद्धम्**[6] के नियम से त्रिपादीविहित मुत्व सपाद-सप्ताध्यायीस्थ प्रह्य संगृज्ञा के प्रति असिद्ध हो जायगी और यह अमू अदौ बन जायगा। इसलिए पाणिनि को तो अपना विस्तृततर नियम **अदसोमात्** बनाना ही पड़ेगा।

इस तरह का संक्षेप कहीं-कहीं अव्याप्ति या अतिव्याप्तिजनक भी हो गया है। 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' ने पाणिनि के **विसर्जनीयस्य**[7] **सः** की जगह प्रक्रिया, लाघव के लिए

१. १।१२।
२. १।६८।
३. १।६३।
४. १।७८।
५. १।१।११।
६. ८।२।१।
७. ८।३।३४।

तथयोः[१] **सम्** और **चछयोः**[२] **शम्** दो सूत्र कहे, किन्तु 'कः+टलति'—**कष्टलति** का तो संग्रह नहीं हो सका, **नश्छव्यप्रशान्**[३] का विस्तृत लक्ष्य **तथयोः**[४] **सम्**, **चच्छयोः**[५] **शम्** कह कर बहुत सीमित कर दिया; किन्तु 'धावन्+ठक्कुरः'—**धावँष्ठक्कुरः** की सिद्धि तो नहीं हो सकी। इसी भाँति **स्तोः श्चुना श्चुः**[६], **शात्**[७] इन दो सूत्रों की जगह **तकारवर्गश्चकार**[८] **वर्गं चकारवर्गम्** और **शकारे**[९] **च** ये दो सूत्र कहकर लक्ष्य को अति सरल बनाने का प्रयास किया, किन्तु 'याच्+ना'–'याच्ञा', यज्+न–**यज्ञ** इनकी निष्पत्ति के लिए क्या उपाय सोचा ? बल्कि, पाणिनि ने जहाँ अवसर देखा है, वहाँ सामान्य नियम के बदले प्रतिपदोक्त विधि की है, फिर भी वे अव्याप्ति से बच गये हैं। वाजसनेय प्रातिशाख्य के **नुश्चाम्रेडिते**[१०] की जगह पाणिनि ने स्पष्ट **कानाम्रेडिते**[११] कहा है, पर इसमें कोई दोष नहीं है।

कुछ स्थानों में पाणिनि तथा शुक्लयजुःप्रातिशाख्यकार कात्यायन में थोड़ा मतभेद भी है। पाणिनि 'देव+इन्द्र' से **देवेन्द्र**, 'देव+उचित' से **देवोचित** की तरह 'देव+ऋषि' से **देवर्षि** भी **आद्गुणः**[१२] के नियम से निष्पन्न करते हैं। हाँ, देव+ऋषि यह विश्लिष्ट प्रयोग भी सही मानकर वे ऋत्यकः[१३] के नियम से सिद्ध करते हैं। किन्तु कात्यायन प्रातिशाख्य 'देवर्षि' शब्द का समर्थन नहीं करता, **'कण्ठ्यादिवर्ण एकारम्' 'उवर्ण ओकारम्'** की भाँति ऋकार 'अरम्' कोई नियम नहीं। फलतः **'कण्ठ्य ऋकारे ह्रस्वम्'** इस नित्य नियम से हर जगह 'मह ऋषि', 'देव ऋषि' यही प्रयोग होगा, 'महर्षि', 'देवर्षि' नहीं। पाणिनि ने यहाँ केवल शाकल्य आचार्य के मत से सन्धि का अभाव तथा ह्रस्वत्व माना है, कात्यायन ने सबके मत से। 'व्रतम्+कृणुत' आदि स्थलों में पाणिनि ने **वा पदान्तस्य**[१४] कहकर **व्रतङ् कृणुत** और **व्रतं कृणुत** दोनों रूपों का समर्थन किया है। वा० प्रा० ने **स्पर्शे 'परपञ्चमम्'** कह कर एकमात्र **व्रतङ् कृणुत** को ही मान्यता दी है। पाणिनि दिक्+मण्डल आदि में **यरोऽनुनासिके-**

१. ३।८।
२. ३।७।
३. ८।३।७।
४. ३।१३५।
५. ३।१३३।
६. ८।४।४०।
७. ८।४।४४।
८. ४।९६।
९. ४।९७।
१०. ४।९।
११. ८।३।१२
१२. ६।१।८७
१३. ६।१।१२८।
१४. ८।४।५९।

ऽनुनासिको वा[१] से 'दिङ् मण्डल' और 'दिग् मण्डल' दोनों रूप मानते हैं, वा० प्रा० पञ्चमे[२] पञ्चमम् कहकर यहाँ केवल दिङ् मण्डल रूप की स्वीकृति देता है, पाणिनि 'उत्+हर्षय' यहाँ **झयो होऽयतरस्याम्**[३] इस वैकल्पिक नियम से 'उद्धर्षय' और 'उद्हर्षय' दोनों रूप सही मानते हैं, पर वा० प्रा० **'हश्च तस्मात्[४] पूर्व चतुर्थम्'** कहकर केवल 'उद्धर्षय' रूप को ही स्वीकार करता है।

श् का छ् करने में तो आचार्यों में परस्पर बहुत मतभेद प्रतीत होता है। पाणिनि झय् प्रत्याहार[५] के बाद आए श् को छ् बताते हैं, यदि बाद में अट् प्रत्याहार आवे। इस नियम से 'तत्+श्लोकेन' यहाँ श् का छ् नहीं होगा। इसके संग्रह के लिए वार्त्तिककार ने यहाँ कहा **छत्वममीति वाच्यम्** अर्थात् **शश्छोटि** की जगह **शश्छोऽमि** कहना चाहिए। पर इससे 'तत्+श्लोकेन'—'तच्छ्लोकेन के संग्रह के साथ 'तत्+श्मश्रुणा' यहाँ भी श् के छत्व की प्राप्ति हो गई; क्योंकि अम् प्रत्याहार में म् भी है, इसलिए यहाँ श् के बाद अम् प्रत्याहार आ' रहा है। इधर 'ऋक्प्रातिशाख्य' ने **सर्वैः[६] प्रथमै रुपधीयमानः, शकारः शाकल्यपितुश्छकारम्** कहकर प्रथमाक्षर के बाद आये सभी शकार का छकारादेश स्वीकार किया, बाद में चाहे कोई भी अक्षर न आये। इससे तो 'वाक्+श्च्योतति' यहाँ भी छत्व की प्रवृत्ति हो गई, यद्यपि दीक्षित ने **छत्वममीतिवाच्यम्** के प्रत्युदाहरण में कहा है—**अमीति किम्, वाक्श्च्योतति**, अर्थात् यहाँ छत्व नहीं होगा। और 'वज्रिन्+श्नथिहि' यहाँ श् के पूर्व न झय् प्रत्याहार है, श् के बाद न अट् प्रत्याहार, अतः यहाँ **शश्छोटि** से छत्व नहीं प्राप्त है। **छत्वममीतिवाच्यम्** इस वार्तिक के अनुसार यहाँ श् के बाद अम् प्रत्याहार तो मिल सकता है, पर झय् से परे तो यह श् नहीं हो सकता। अतः वार्त्तिककार के मत से भी यहाँ छत्व की प्राप्ति नहीं हुई। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का नियम **'स्पर्शपूर्व.[७] शकारश्छम्'** सबसे विस्तृत है, यह श् के बाद भी कुछ नहीं ढूँढ़ता और पहले भी प्रथमाक्षर मात्र नहीं, स्पर्श वर्णों में कोई भी रहे तो छत्व करता है। अतः इसके नियम से 'वज्रिन्+श्नथिहि' में तथा 'वाक्श्च्योतति' में, दोनों जगह श् का छ् हो जायगा। ऋक्प्रातिशाख्य ने भी 'वज्रिन्+श्नथिहि' में छत्व माना है, अतः उसे एक और नियम बनाना पड़ा है—**छकार[८] तयोरुदयः शकारः**, अर्थात् न् स्थानिक ञ् के बाद भी श् का छ् होता है। परन्तु याज्ञवल्क्यशिक्षा ने न् के बाद आये श् के छत्व का निषेध[९] किया है। न् और श् के संयोग में याज्ञवल्क्यशिक्षा के अनुसार न् का ञ् होगा, श् का छत्व नहीं, ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार यहाँ ञ् और छ् का

---

१. ८।४।४५।
२. ४।१२३।
३. ८।४।६२।
४. ४।१२४।
५. ८।४।६३।
६. ४।४।
७. १।५।३४।
८. ४।१२।
९. दे० १६२ (ब)

संयोग होगा। पाणिनि के अनुसार यहाँ पहले न् और श् के बीच तुक् (शि तुक् ८।३।३१) का आगम होगा, फिर इस त् का श्चुत्व तथा श् का छत्व होगा; क्योंकि अब श् झय् प्रत्याहारस्थ च के बाद आ रहा है। अनन्तर **झरो झरि सवर्णे** से च् का लोप होने से ञ् तथा छ् का संयोग मिल जायगा। शुक्लयजुःप्रातिशाख्य ने **परश्चास्पर्शपरश्छम्** कहकर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि श् के बाद अस्पर्श वर्ण आयगा तभी छत्व होगा, अन्यथा नहीं। अतः 'वाक्+श्च्योतति' में छत्व नहीं हो सकता। इस प्रकार छत्व में विविध मत हैं। अन्यत्र भी कई सन्धियों में ऐसे मतभेद अंशतः दिखाये जा चुके हैं तथा ढूँढ़े जा सकते हैं।

कई ऐसे स्थल हैं, जहाँ पाणिनि ने किसी आचार्य का नाम लिया है, पर वा० प्रा० ने उसे सामान्य नियम बताया है। किसी आचार्य-विशेष का मत नहीं। अन्य कुछ स्थल इसके विपरीत भी हैं, जहाँ पाणिनि ने ही विकल्प-मात्र कह दिया; पर वा० प्रा० ने विभिन्न आचार्यों का अलग-अलग मत बताया। 'अदिते+एहि = **अदितय् एहि,** इस स्थिति में पाणिनि के अनुसार केवल शाकल्य[१] आचार्य लोप चाहते हैं, पर वा० प्रा० के अनुसार यह लोप सामान्य नियम है और नित्य है! पाणिनि ने जहाँ **वा[२] शरि** यह सामान्य वैकल्पिक विधान बताया है, वहाँ वा० प्रा० ने **प्रत्ययसवर्णं[३] मुदि शाकटायनः**, तथा **अविकारं शाकल्यः[४] श ष सेषु**' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि 'निःसार', 'दुःशील' आदि प्रयोग शाकल्य के मत से तथा 'निस्सार' 'दुश्शील' आदि प्रयोग शाकटायन के मत से होते हैं। पाणिनि ने विष्णोः+क्रमः तथा 'विष्णो≍क्रमः' दोनों प्रयोगों को सब के मत[५] से मान्यता दे दी, किन्तु वा० प्रा० ने स्पष्ट बताया कि पहला प्रयोग शाकल्य[६] के मत से तथा दूसरा शाकटायन[७] के मत से होगा। इस प्रकार का अन्तर कात्यायन-प्रातिशाख्य के साथ कात्यायन के वार्त्तिक का भी यत्र-तत्र दीखता है। वार्त्तिककार ने 'अन्तः स्थ' में विसर्ग का लोप ऐच्छिक[८] माना है, किन्तु इस प्रातिशाख्य ने नित्य[९]। 'वत्सर' शब्द की जगह 'वथ्सर' प्रयोग वार्त्तिककार के मत में होगा, प्रातिशाख्यकार के मत में नहीं। वार्त्तिककार आगे श ष स रहने पर किसी प्रथमाक्षर का अपना द्वितीयाक्षर हो जाना मानते हैं, प्रातिशाख्यकार असवर्ण प्रथमाक्षर का ही। कहीं ऐसा भी हुआ है कि वार्त्तिककार ने किसी दूसरे के मत से कोई रूप सही माना है, और प्रतिशाख्यकार ने उसी रूप को दूसरे का मत बताया है। वार्त्तिककार ने 'प्राङ्क् षष्ठः' की

---

१. ८।३।१९।

२. ८।३।३६।

३. ३।९।

४. ३।१०।

५. ८।३।३७।

६. तथा प्रकृत्या कखयोः पफयोश्च ३।११।

७. जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः, ३।१२।

८. खर्परे शरि वा विसर्ग लोपः, ८।३।३६ पर वार्त्तिक।

९. लुङ् मुदि जित्परे, ३।१३।

जगह पौष्करसादि[१] के मत में 'प्राङ्ख् षष्ठः' प्रयोग माना है, प्रातिशाख्यकार ने शौनक[२] के मत में।

कहीं पाणिनि ने ही सूक्ष्मतर विश्लेषण किया है, वा० प्रा० ने उसका संक्षिप्त रूप प्रस्तुत कर दिया है। पाणिनि ने जहाँ **छे च, आङ्माङोश्च, दीर्घात्, पदान्ताद् वा**—ये चार[३] नियम बताये हैं, वहाँ वा० प्रा० ने केवल एक नियम **स्वर छकारे चकारेण सर्वत्र** कहकर छुट्टी ली है। वा० प्रा० ने इस छ् या तुक् का आगम सर्वत्र नित्य मान लिया है, अतः यह संक्षिप्त नियम बन गया है। फलतः पाणिनि के मत से 'लक्ष्मीच्छाया' के साथ 'लक्ष्मीछाया' भी शुद्ध है, पर वा० प्रा० के अनुसार केवल पहला ही शुद्ध है, दूसरा अशुद्ध। इस प्रकार के संक्षेपण में कहीं-कहीं वा० प्रा० से अतिव्याप्ति भी हो गई है। पाणिनि के **पुमः खय्यम्परे** और **समः सुटि** दो[४] सूत्रों की जगह वा० प्रा० ने एक ही नियम तो बताया—**समन्तः पदे[५] कखपफेष्वनूष्मपरेषु**, पर म् के सत्व की अतिव्याप्ति सम्+कलन, सं+कर, शम्+कर आदि जगहों में भी हो जायेगी। पर कहीं-कहीं वा० प्रा० के संक्षेपण में दोष नहीं भी आया है। वा० प्रा० ने **तस्मादि[६]त्युत्तरस्यादेः** इस **एक ही** सूत्र से जहाँ काम चलाया है, वहाँ पाणिनि को दो सूत्र[७] बनाने पड़े हैं—**तस्मादित्युत्तरस्य** तथा **आदेः परस्य**। पाणिनि इस प्रकार एक सूत्र बनावें तो दोष पड़ जायगा, यह महाभाष्य में निर्णय किया जा चुका है।

कहीं पाणिनि तथा वा० प्रा० ने अपनी-अपनी सुविधा के अनुकूल संज्ञा के लक्ष्य में भी विस्तार या संकोच किया है। वाजसनेय प्रातिशाख्य द्विरुक्ति-स्थल में दोनों[८] पदों को आम्रेडित मानता है, पाणिनि केवल दूसरे[९] को। वा० प्रा० एक वर्णवाले पद[१०] को अपृक्त कहता है, पाणिनि एक वर्णवाले प्रत्यय[११] को। वा० प्रा० एक प्राणयोग[१२] को संहिता बताता है, पाणिनि परम सन्निकर्ष[१३] को।

वा० प्रा० ने कुछ ऐसे प्रयोगों की भी व्याख्या की है, जिन्हें पाणिनि और कात्यायन ने छोड़ दिया था। जैसे :—

---

१. ८।४।४८ पर वार्त्तिक-चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरितिवाच्यम्।
२. असंस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य, ४।१२२।
३. ६।१।७३, ७४, ७५ तथा ७६।
४. ८।३, ६ तथा ५।
५. ४।८।
६. १।१३५।
७. १।१।६७, तथा १।१।५४।
८. द्विरुक्तमाम्रेडितंपदम्, १।१४६।
९. तस्य परमाम्रेडितम्—८।१।२।
१०. एकवर्णः पदमपृक्तम्, १।१५१।
११. अपृक्त एकाल्प्रत्ययः, १।२।४१।
१२. वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता, १।१५८।
१३. परः सन्निकर्षः संहिता, १।४।१०९।

१. पाणिनि ने **व्रीहेः पुरोडाशे**[१] में पुरोडाश शब्द का प्रयोग तो किया; पर इस शब्द में ष्टुत्व के लिए कोई नियम नहीं बनाया, प्रातिशाख्य ने इसके लिए एक सूत्र बनाया—**पुरो दाशे**[२] ।

२. अनडुह् शब्द के सुबन्त आदि में विविध रूपों की सिद्धि के लिए पाणिनि ने **चतुरनडुहोरामुदात्तः**[३] आदि सूत्रों में 'अनडुह्' शब्द का उल्लेख किया; किन्तु इस शब्द की निष्पत्ति की व्याख्या नहीं की। प्रातिशाख्य ने इसका विश्लेषण बताया—**अनसो वाहौ सकारो डकारम्** ।

३. पाणिनि ने 'विश्व' शब्द का दीर्घ वसु, राट्, नर और मित्र—इन चार[४] शब्दों के पूर्व रहने पर ही किया है। प्रातिशाख्य ने इसके अतिरिक्त **विश्वाभुवे, विश्वापुषं, विश्वाहा**—इन स्थलों में भी बताया है। पाणिनि इन जगहों में **अन्येषामपि**'[५] **दृश्यते** से काम चलायंगे ।

४. प्रातिशाख्य ने अश्वत्थ अश्वत्थामा आदि शब्दों की सिद्धि के लिए एक नियम बनाया है—**अश्वात् स्थे तकारं**[६] **संज्ञायाम्** । पाणिनि ने इस शब्द की सिद्धि नहीं दिखाई है ।

५. पृश्निनः, उल्बम् आदि में द्वित्व के लिए प्रातिशाख्य ने नियम बताया है—**ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च**[७] **स्पशः**, पाणिनि ने इसकी उपेक्षा की है ।

६. ततः क्खनेम, याः प्फलिनीः में प्रातिशाख्य ने 'जिह्वामूलीमोपध्मानीयाभ्यां च'[८] नियम बनाकर वर्णद्वित्व बताया है, पाणिनि ने इसकी कोई व्याख्या नहीं की है। वस्तुतः, यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि तत≍खनेम या≍फलिनीः का उच्चारण-भ्रम से ततः क्खनेम, याः प्फलिनीः लिखा जाने लगा होगा, और क्रमशः शिष्टसम्मत हो जाने पर इस विवरण के समर्थन के लिए प्रातिशाख्य को अनुमति देनी पड़ी होगी ।

७. दातृणाम्, धातृणा आदि में णत्व के लिए पाणिनि ने स्पष्ट नियम नहीं बताया, ज्ञापक से काम चलाया, किन्तु प्रातिशाख्य ने 'ऋषरेफेभ्यो नकारो णकारं समानपदे[९]' कहकर र् और ष् की भाँति ऋ को भी स्पष्टतः णत्व का निमित्त घोषित किया ।

---

१. ४।३।१४८ ।
२. ३।४४ ।
३. ७।१।९८ ।
४. ६।३।१२८, १२९, १३० ।
५. ६।३।१३७ ।
६. ४।१०० ।
७. ४।१०४ ।
८. ४।१०४ ।
९. ३।८४ ।

परन्तु इसके विपरीत इस प्रातिशाख्य ने पाणिनि-निष्पादित कई लक्ष्यों को छोड़ा भी है।

१. पाणिनि ने **ङमो ह्रस्वादचि[1] ङमुण्नित्यम्** कहकर ङ् और न के साथ ण् का भी ग्रहण किया है, पर प्रातिशाख्य ने **ङ्नौ चेद् ध्रस्वपूर्वौ स्वरे पदान्तौ** में ण् को छोड़ दिया—फलतः सुगण्+ईशः=सुगण्णीशः की सिद्धि प्रातिशाख्य नहीं दिखा सका।

२. इसी तरह पाणिनि ने **ङ्णोः कुक् टुक् शरि, डः सि धुट्, नश्च** कहकर[2] ङ् के बाद क् का, ण् के बाद ट् का तथा ड् और न् के बाद त् का आगम दिखाया है। पर प्रातिशाख्य ने केवल ङ् के बाद क् का तथा न् के बाद त् का ही आगम दिखाया। इस प्रकार प्रातिशाख्य ने **प्राङ्क्सोमः त्रीन्त्समुद्रान्** का साधुत्व तो दिखाया; पर **सुगण्ट्षष्ठः, षट्त्सन्तः** की व्याख्या छोड़ दी।

३. प्रातिशाख्य ने '**स्पर्शोऽपञ्चमः[3] स्वरघोषतृतीयम्**' कहकर उत्+एनम्=**उदेनम्**, यत्+ग्रामे=**यद्ग्रामे** आदि की व्याख्या कर दी तथा **जिति प्रथमम्**[4] कहकर ऊर्ग्+च्=ऊर्क्‌च, अनुष्टुभ्+च=अनुष्टुप् च आदि की, पर **वावसाने**[5] का लक्ष्य तो नहीं बताया। पदान्त में तृतीयाक्षर का तो निषेध[6] है, अतः वहाँ तृतीयाक्षर तो नहीं रहेगा?

वाजसनेय प्रातिशाख्य में कई और भी नई बातें बताई गई हैं, जिनपर पाणिनि ने भी प्रकाश नहीं डाला है, और दूसरे प्रातिशाख्य ने भी नहीं :

१. वर्णों में एक मात्रा और आधी मात्रा की तरह अर्धमात्रा की आधी मात्रा अणुमात्रा, तथा अणुमात्रा की भी आधी परमाणुमात्रा भी होती है।[7]

२. सात प्रकार के स्वरों का विश्लेषण है—अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त, ताथाभाव्य। इनका उल्लेख तो याज्ञवल्क्यशिक्षा में भी है, पर यहाँ विस्तार से प्रतिपादन है।

३. ये स्वर भी द्विमात्रिक[8] होते हैं—(क) व्यञ्जनान्त, जैसे 'दध्यङ्' में य् का अ और (ख) अवसानगत, जैसे 'पशून् पाहि' में इ (यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र)।

४. यदि[9] दो स्वरों के बीच कोई एक वर्ण दो बार निरन्तर आये (एक ही पद के भीतर) तो वह वर्णद्वय एकमात्रिक एक वर्ण की भाँति होता है, जैसे कुक्कुट में

---

१. ८।२।३२।
२. ८।३।२८, २६, ३०।
३. ४।१२०।
४. ४।१२१।
५. ८।४।५६।
६. अ० १ के सूत्र ८५।८८।
७. १।५९, ६०, ६१।
८. ४।१०६।
९. ४।१४५।

क्क, वित्त में त्त आदि। पतंजलि ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है—१-१-२ **ऐ औच्** सूत्र-भाष्य में। इसी भाँति ऐ औ भी वर्णद्वय हैं; पर एक वर्णवत् धारण होने से एक वर्ण हो जाते हैं, अर्थात् एकप्रयत्न निर्वर्त्य हो जाते हैं। जैसे—**कस्मै, आनन्दनन्दौ** आदि में। स्पष्ट है कि वा० प्रा० ऐ औ को सिद्धान्ततः वर्णद्वय तथा व्यवहार में सन्धिस्वर, और उसी भाँति क्क, त्त आदि को सन्धिव्यञ्जन मानता है।

५. ऋ में[1] दोनों ओर कण्ठ्य स्वर की अणु अर्थात् ¼ मात्राएँ हैं, बीच में अर्धमात्रिक र् है। किन्तु ये सब अंश संश्लिष्ट, एकीभूत तथा अविद्यमानपृथक् श्रुति हैं। इसी भाँति ऌ में कण्ठ्यस्वर तथा ल् हैं, जैसे—**ऋद्धि, क्लृप्तः**।

६. ह्रस्वपूर्व[2] असंयोग पर अनुस्वार अध्यर्धमात्रिक तथा पूर्ववर्त्ती ह्रस्व भी अर्धमात्राकालिक होता है, जैसे—**मंहिष्ठो** में मं के अं में ½ अ + १½ अनुस्वार का मिश्रण है। इसी तरह दीर्घ स्वर[3] के बाद का अनुस्वार अर्धमात्राकालिक तथा पूर्ववर्त्ती दीर्घ भी अध्यर्धमात्रिक होता है, जैसे—**मांस** में आं = १½ आ + ½ अनुस्वार। संयोगपूर्ववर्त्ती ह्रस्वपरवर्त्ती[4] अनुस्वार में भी आधी मात्रा और पूर्ववर्त्ती ह्रस्व में डेढ़ मात्रा होती है, जैसे—**इमं स्तनम्** में अं०—१½ अ + ½ अनुस्वार है।

७. और प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थों ने जिसे 'यम' कहा है, उसे यहाँ विच्छेद[5] कहा गया है। 'उवट' ने कहा है कि रेक्क्म आदि में **स्वरात् संयोगादिः** से क् का द्वित्व करने पर इस सूत्र से द्वितीय क का समत्व किया जाता है। इसी प्रकार **यज्ञः** में ज्, ज रूप यम् तथा ञ् का संयोग है, **दद्ध्ना** में द् ध् रूप यम तथा नकार का संयोग है। यह यम एक पद के भीतर ही हो सकता है। **त्मन्या** में स्वर के बाद नहीं आने से त् का द्वित्व नहीं हुआ, अतः यहाँ त् का का यम नहीं हुआ, केवल त् और म् का संयोग हुआ।

उवट के इस ग्रन्थ से ये बातें निकलती हैं :—

(क) यम एक प्रकार का विच्छेद है, अर्थात् उच्चारण-प्रवाह में ठहराव है। अनेक व्यंजनों का संयोग हो जाने से उच्चारण में कठिनता होती है, अतः बीच में यहाँ थोड़ा ठहराव कर देते हैं।

(ख) पञ्चम वर्ण के पूर्ववर्त्ती अपञ्चम स्पर्श के द्वित्व का जहाँ अवसर है, वहीं यमत्व की सम्भावना है। यमत्वविधायक शास्त्र नया द्वित्व नहीं करता, जहाँ **अनचि च**[6] से द्वित्व

१. ४।१४८।
२. ४।१५०।
३. ४।१५१।
४. ४।१५१।
५. ४।१६३।
६. ८।४।४७।

हुआ है, वहाँ दूसरे वर्ण को यम बनाता है। अतः 'सिद्धान्तकौमुदी' में भट्टो जिदीक्षित' का उदाहरण **'घ्घ्नन्ति** ठीक नहीं, यहाँ घ् का द्वित्व किस नियम से होगा ?

(ग) जहाँ द्वितीय अथवा चतुर्थ वर्ण का द्वित्व होगा भी वहाँ पूर्ववर्ण क्रमशः **चर्त्व** से प्रथम अथवा **जश्त्व** से तृतीय वर्ण में परिणत हो जायगा। जैसे **चक्ख्नतुः जग्घ्नतुः** ऐसे रूप होंगे, **चख्ख्नतुः** और **जघ्घ्नतुः** नहीं; क्योंकि **खरि च** और **झलां जश् झशि**[1] की प्रवृत्ति कैसे रोकी जा सकती है ? अतः दीक्षित के दोनों उदाहरण 'चख्ख्नतुः' और 'घ्घ्नन्ति' ठीक नहीं हैं, किन्तु ऐसी स्थिति में खुं और घुं रूप द्वितीय चतुर्थ यमों का कहीं भी उच्चारण नहीं मिलेगा। इसलिए कुं खुं गुं घुं रूप चार यमों की गणना वर्णमाला में अनावश्यक है। बल्कि कुं चुं टुं तुं पुं की गणना की जाय, या इन्हें प्रकृतिभूत वर्णों से ही गतार्थ किया जाय, यही ठीक होगा।

८. यदि एक पद के भीतर ही स्वर के बाद ज् आवे और बाद में भी ऋ से भिन्न कोई स्वर आवे तो उस ज् का वैकल्पिक रूप से य्[2] उच्चारण भी होगा। जैसे **अजोऽग्नेर-जनिष्ट** को पढ़ेंगे **अयोग्नेरयनिष्ट**। **अज्जाः** में स्वर के बाद नहीं आने से, **भुज्ज्युः** में बाद में स्वर नहीं रहने से तथा **तदिन्द्रेण जयत** में एक पद के भीतर नहीं रहने से ज् का य् उच्चारण नहीं होगा। **विजृम्भमाणाय** में बाद में ऋ है, अतः ज का यत्व नहीं हुआ। यह तो आज विचित्र लगता है। आजकल य् का ज् उच्चारण होने के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, पर ज् का तो य् उच्चारण कहीं नहीं मिलता। प्राकृत में भी **आदेर्योऽजः** आदि के य् का ज् उच्चारण बताता है, जैसे यस्य = जिस, यादृश = जैसा, यश = जस, युवान = जवान आदि, किन्तु ज् के स्थान में य् का उच्चारण विरल है। यहाँ भी चरकों का ही ऐसा मत दिया है, माध्यन्दिनों तथा वाजसनेयियों का नहीं। मागधी में ज का य आदेश विहित है, क्या चरक भी प्राच्य शाखा ही है ? बिहार की सभी बोलियों में तो य का ही ज उच्चारण देखा जाता है।

९. ख्या (ख्या प्रकथने[3], या चक्षिङः[4] ख्याञ्) में सब लोग ख् य् का ही संयोग मानते हैं, जैसे—**विख्याय, आख्यातम्**; पर गार्ग्य यहाँ क् श् का संयोग मानते हैं—**विक्शाय, आक्शातम्** ऐसा। पतंजलि[5] ने यहाँ प्रक्रिया-काल में क् श् का संयोग माना है, प्रयोगदशा में ख् य् और क् श् दोनों का ही संयोग स्वीकार किया है। क की जगह ख उच्चारण तो बहुप्राप्त है, किन्तु य की जगह श उच्चारण तो विचित्र लगता है।

१०. कुछ प्रत्ययों के पूर्व भी अवग्रह चिह्न लगता है। प्रतीत होता है कि ये पहले स्वतन्त्र शब्द थे। क्रमशः निभ, संकाश आदि की तरह इनका स्वतन्त्र प्रयोग रुक गया होगा और स्वतन्त्रपरत्व विस्मृत हो गया होगा। यहाँ तद्धितों में तर, तय, वत्, मत्, शस्, था,

---

१. ८।४।५३।

२. स्वरात् परो जकारो वा यकारमापद्यते स्वरे परे समानपदे न तु ऋकारे, ४।१६६।

३. अदादि।

४. २।४।५४।

५. चक्षिङः ख्याञ् का भाष्य (सूत्र २।४।५४)।

त्व, त्रा, ताति, नामधातु प्रत्ययों में क्यच्, क्यङ्, क्यच्; कृत् में क्वसु; सुप्में भकारादि प्रत्यय तथा सु के पहले अवग्रह दिखाया गया है। इनमें क्वसु के पूर्व अवग्रह का तो कोई मूल नहीं प्रतीत होता; किन्तु स्वादि और तद्धित-प्रत्ययों के पूर्व तो शब्द की पदसंज्ञा पाणिनि[1] ने भी की है। नामधातु में भी **नः क्ये**[2] पदत्व करता ही है। क्वसु के पूर्व अवग्रह सम्भवतः इनके मिथ्या साहृश्य से आ गया होगा।

११. जहाँ-जहाँ म् या न् के स्थान में अनुस्वार होता है, वहाँ-वहाँ काश्यप और शाकटायन वैकल्पिक रूप से अनुनासिक का भी उच्चारण मानते हैं: **अपां रसेन** या **अपाँ रसेन, तां सवितुः** या **ताँ सवितुः, यजूंषि**, या **यजूँषि,** दोनों सही हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सब जगह अनुस्वार या अनुनासिक के बाद र् श् ष् स् में से ही कोई वर्ण आ रहा है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने इन वर्णों के पूर्व म् का लोप तथा पूर्ववर्त्ती स्वर की अनुनासिकता बताई है। यहाँ शुक्लयजुः प्रातिशाख्य में दोनों रूपों को मान्यता दी गई है।

१२. याज्ञवल्क्यशिक्षा की भाँति बहुत-से वक्तव्य प्रातिशाख्यशास्त्र के अनुपयोगी भी मिलते हैं, जैसे भोजन मधुर और स्निग्ध करना चाहिए आदि।

इस प्रातिशाख्य में पाणिनि के टि, घु, भ आदि संज्ञाओं की भाँति कुछ विचित्र निरर्थक संज्ञाओं का लाघव के लिए उपयोग किया गया है, जैसे (१) **सिम्**—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ। (२) **जित्**—प्रथम द्वितीय स्पर्शवर्ण तथा श ष स (शर् प्रत्याहार)। (३) **मुत्**—श ष स (शर् प्रत्याहार)। (४) **धि**—तृतीय, चतुर्थ, पंचम स्पर्शवर्ण, ह, य, र, ल, व = २० वर्ण (हश् प्रत्याहार)। पर कुछ सार्थक संज्ञाएँ भी हैं; जैसे—(१) नति = मूर्धन्यभाव, (२) भावी = अकण्ठ्य स्वर, (३) सोष्म = द्वितीय चतुर्थ स्पर्श। कुछ से लक्षणया भी अर्थ निकाला जाता है; जैसे—(१) रिफित = अकारोपध विसर्ग, (२) प्रत्यय = परवर्त्ती आदि। रिफित प्रयोग से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि रिफ् धातु से निष्ठा प्रत्यय किया गया है। 'रेफ' भी इसी रिफ् से घञ् या अच् करके बनाना ही उचित है। कात्यायन ने **रादिफः** वार्त्तिक बनाकर र शब्द से इफ प्रत्यय कर 'रेफ' शब्द की सिद्धि की है—यह व्युत्पत्ति ऐतिहासिक नहीं है।

इसमें अपेक्षाकृत कम भाषाविदों के मत का उल्लेख है :—(१) काण्व—१-१२३ में, (२) शाकटायन—३।९ में। (३) शाकल्य—३।१०। (४) औपशवि—३।१३१। (५) काश्यप—४।५। (६) दाल्भ्य—४।१६। (७) शौनक—४।१२२। (८) जातूकर्ण्य—४।१२५। इनमें बहुतों के नाम अनेक बार आये हैं। सर्वाधिक शाकटायन का नाम आया है।

---

१. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने, १।४।१७।

२. १।४।१५।

सामप्रातिशाख्य

ऋक्तन्त्रव्याकरण

सामवेद का प्रातिशाख्य ऋक्तन्त्रव्याकरण माना जाता है। यह शाकटायन[1]-कृत है। इसपर ऋक्तन्त्रविवृति तथा सामवेदसर्वानुक्रमणी दो टीकाएँ भी प्राप्त हैं। सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित संस्करण ही इसका सर्वोत्तम संस्करण प्रतीत होता है। यह सामवेद की कौथुम शाखा का प्रातिशाख्य है।

इसमें ७ प्रपाठक हैं। ये प्रपाठक कई दशकों में विभाजित हैं, जिनमें प्रायः १०-१० सूत्र हैं, २-३ जगह इस संख्या का अतिक्रमण भी हुआ है। निम्नलिखित तालिका से ग्रन्थ का संक्षिप्त ज्ञान हो जायगा :—

प्रपाठक	दशक	सूत्र-संख्या
१.	इसमें सूत्र नहीं, केवल टीका है, यह स्पष्ट ही बाद का योग है।	
२.	दशक ६	सूत्र ६०
३.	,, ८	,, ८०
४.	,, ७	,, ७४(चतुर्थ दशक में १४ सूत्र हैं।)।
५.	,, ७	,, ७३ (द्वितीय दशक में ११ तथा सप्तम में १२ सूत्र है।)
—	———	———
५	२८	२८७

इसमें प्रथम प्रपाठक में वर्णों की संख्या तथा क्रम निम्नलिखित प्रकार से दिये हैं:—

ए ओ ऐ औ आ ॠ ॡ ई, ऊ, ऋ, ऌ, इ, उ, अ=१४। र य व ल=४। ङ ञ ण न म, घ झ ढ ध भ, ग ज ड द ब, ख छ ठ थ फ, क च ट त प=२५। ह श ष स=४। अः ≍क ≍प—३। हुं कुं खुं गुं घुं अं आं=७। कुल ५७ वर्ण हैं।

यह स्पष्ट है कि यहाँ वर्णों का क्रम और प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं से सर्वथा भिन्न है। व्यंजनों में प्रायः पाणिनि के वर्णसमाम्नाय के क्रम का ही अनुसरण किया गया है। स्वरों में उसे उलट दिया गया है। किन्तु पाणिनि से उपेक्षित ध्वनियों का भी यहाँ उल्लेख है। हाँ, प्लुत वर्ण तथा ळ और ळ्ह छोड़ दिये गये हैं।

प्रथम प्रपाठक में ही वर्णों के करण अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न का भी निरूपण कर दिया गया है।

---

१. सूर्यकान्त जी अपनी भूमिका (पृ० ३६) में लिखते हैं : "The original Rktantra was composed by Audabraji who also wrote Samatantra Puspasutra and a grammar on Bhasa, which had a distinct set of Pratyaharas as is shown by the first Prapathak or the RKtantra. Shakatayan. revised Audabraji's work in Rktantra as well as in Grammar."

करण :

(१) स्पर्श वर्णों का करण स्पृष्ट है ।
(२) अन्तस्थों का दुस्पृष्ट,
(३) स्वरों तथा ऊष्मों का विवृत, तथा
(४) अकार ऐकार और औकार का विवृततर ।

बाह्य प्रयत्न :

जो घोष वर्ण हैं; वे संवृत हैं, जो अघोष हैं, वे विवृत हैं । स्वर और घोषवर्णों का नाद अनुप्रदान है तथा अघोषों का श्वास । प्रथम वर्णों में अल्पतर श्वास होता है । ह तथा चतुर्थ वर्णों में श्वास और नाद दोनों होते हैं ।

यहाँ अल्पप्राण-महाप्राण की चर्चा नहीं की गई है । इस प्रातिशाख्य में यह भी नहीं बताया गया है कि घोष वर्ण कौन हैं तथा अघोषवर्ण कौन । अतः यह स्पष्ट नहीं होने से बाह्यप्रयत्ननिरूपण भी सुस्पष्ट नहीं हुआ । प्रथम वर्णों को अल्पतर श्वासवान्, द्वितीय को श्वासवान्, तृतीय एवं पंचम को नादवान् तथा ह और चतुर्थ को नाद-श्वास उभययुक्त कहने का अर्थ यह हो सकता है कि सम्भवतः इस प्रसंग में श्वास में प्राणवत्ता भी सम्मिलित है । ऐसी स्थिति में यह भी आक्षिप्त हो सकता है कि द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों में और ह में महा-प्राणता रहती है ।

दूसरे प्रपाठक में स्थान-निरूपण है :

(१) ह[१], अ, आ तथा विसर्जनीय का कण्ठस्थान है । (२) अथवा[२] विसर्जनीय उरस्य ध्वनि है । (३) ककार[३], ऋकार, ॠकार जिह्वामूलीय हैं । (४) शकार[४], चकार, यकार, इकार, ईकार तथा एकार का तालु स्थान है । (५) ष[५] और ट का मूर्धा स्थान है । (६) तकार[६], सकार और लकार का दन्त स्थान है । (७) रेफ[७] दन्त्य या दन्तमूलीय है । (८) वकार[८], ओकार, औकार, उपध्मानीय, पकार, उकार और ऊकार—ये ओष्ठ्य हैं । (९) यम[९], अनुस्वार और नासिक्य वर्णों का नासिका स्थान है ।

स्थान-प्रकरण में इतनी बातें विचारणीय हैं :

(१) उपध्मानीय[१०] की चर्चा हुई, पर जिह्वामूलीय का स्थान नहीं बताया गया, यद्यपि वर्णमाला में दोनों का साथ ही उल्लेख हुआ है । संभव है, इसके अन्वर्थ नाम से इसका जिह्वामूल ही स्थान समझा गया हो ।

---

१. हकार अकार आकार विसर्जनीयाः कण्ठे ।

२. उरसि विसर्जनीयो वा ।

३. जिह्वामूले ककार ऋकार ॠकाराः ।

४. तालुनि शकारचकारयकार इकार ईकार एकाराः ।

५. मूर्धनि षटौ

६. दन्ते तकारसकारलकाराः ।

७. रेफो मूले वा ।

८. ओष्ठे वकार ओकार औकार उपध्मानीय पकार उकार ऊकाराः ।

९. नासिकायां यमानुस्वारनासिक्याः ।

१०. १।८ ।

(२) ऐकार का भी स्थान-प्रकरण में उल्लेख नहीं हुआ, यद्यपि औकार का उल्लेख हुआ है। जिस प्रकार ओ के साथ ही औ का भी ओष्ठस्थान बताया गया है, उसी प्रकार क्या ए[१] के साथ तालु-स्थान में ऐ का भी उल्लेख उचित है, मुद्रणाशुद्धि से यह छूट गया है ?

(३) आश्चर्य है कि ओ तथा औ सर्वथा उ की भाँति ओष्ठ्य[२] समझ लिये गये और ए तथा ऐ इ की भाँति तालव्य। इनमें अ के मिश्रण को इतना गौण स्थान दिया गया कि उसके कारण इनमें कण्ठ्यता के मिश्रण की चर्चा भी नहीं की गई ? उन्हें शुद्ध ओष्ठ्य तथा तालव्य की तरह ही समझ लिया गया ?

(४) ऋ को यहाँ भी कवर्णस्थानीय अर्थात् जिह्वामूलीय[३] और रेफ को दन्तमूलीय[४] माना गया। बहुतों ने इन दोनों को मूर्धन्य ध्वनि बताया है। ऌ का स्थान ही नहीं बताया गया।

(५) इस प्रातिशाख्य में एक यह विचित्रता दीख रही है कि कवर्ग[५] का ग्रहण 'कु' से नहीं, 'क' या 'ककार' से ही कराया गया है। किसी आचार्य ने 'कवर्ग' कहा, किसी ने 'क' में 'उ' अनुबन्ध लगाकर 'कु' कहा। किन्तु यहाँ तो 'अ' अनुबन्ध या 'कार' प्रत्यय से ही पूरे वर्ग का बोध कराया गया है। पूरे स्थान में ककार से कवर्ग, चकार से चवर्ग ट से टवर्ग, तकार से तवर्ग तथा पकार से पवर्ग का ग्रहण कराया गया है। यह थोड़ा विलक्षण लगता है कि ककार या क का अर्थ कवर्ग हो।

इस प्रकार दूसरे प्रपाठक के प्रथम दशक में ही स्थानविवेक समाप्त हो गया है। शेष ५ दशकों में व्यञ्जन का स्वरांगता-विचार और ह्रस्वादि, गुरु आदि तथा उदात्त आदि संज्ञाएँ हैं।

तीसरे-चौथे प्रपाठकों में मुख्यतः संधि का वर्णन है, आरम्भ में स्वर का विचार है, फिर सन्धि का।

पाँचवें प्रपाठक के आरम्भ से काफी दूर तक संहितादीर्घत्व का प्रकरण है। पाँचवें दशक के अन्त में वर्णद्वित्वप्रकरण, छठे दशक में णत्वविधान तथा सातवें में षत्व और ष्टुत्व-विधान है। यहाँ ही यह छोटा-सा प्रातिशाख्य समाप्त हो गया है।

ऋक्तन्त्रव्याकरण के भी बहुत-से सूत्र पाणिनि के सूत्रों या कात्यायन के वार्त्तिकों से काफी मिलते-जुलते हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :

ऋक्तन्त्र व्याकरण	**पाणिनि-सूत्र**
१. सन्निकर्षः संहिता, प्र० ३, द० १, सू० ७	परः सन्निकर्षः संहिता, १।४।१०९
२. आश्चर्यमनित्ये, ४।७।१	आश्चर्यमनित्ये, ६।१।१४७
३. कास्तीराजस्तुन्दे नगरे, ४।७।४	कास्तीराजस्तुन्दे नगरे, ६।१।१५५

१. १।४।
२. १।८।
३. १।३।
४. १।७।
५. १।३।

४. विश्वस्य नरवसुराट् सु, ५।१।४	विश्वस्य वसुराटोः, ६।३।१२८ नरे संज्ञायाम्, ६।३।१२६
५. मित्र ऋषौ, ५।१।५	मित्रे चर्षौ, ६।३।१३०
६. उदः स्थास्तम्भोः, ४।३।७	उदः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः, ८।४।६१
७. कुस्तुम्बुरुणि जातिः, ४।६।५	कुस्तम्बुरुणि जातिः, ६।१।१४३
८. आस्पदमास्थायाम्, ४।६।६	आस्पदं प्रतिष्ठायाम्, ६।१।१४६
९. अपरस्परं सातत्ये, ४।६।७	अपरस्पराः क्रियासातत्ये, ६।१।१४४
१०. उपप्रती हिंसायाम्, ४।६।३	उपात्प्रतियत्ने, ६।१।१३६ हिंसायां प्रतेश्च, ६।१।१४१
११. उभयथा भुवोम्न ऊध स्वः, ३।७।४	अम्नरूधस्वरित्युभयथाच्छन्दसि, ८-२।७० भुवश्च महाव्याहृतेः, ८।२।७१

इत्यादि ।

कात्यायन के वार्तिक

१. शकन्धुकादीनाम्, ३।३।७	शकन्ध्वादीनां पररूपं वाच्यं तच्चटेः : (सूत्र-एत्येधत्यूठ्सु पर)
२. मासे चमृति, ३।५।३	ऋते च तृतीयासमासे, ६।१।८९ पर
३. वत्सतरादीनामृणे	प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे, ६।१।८९ पर
४. श्ववित्पदवराहकर्णदन्त दंष्ट्रेष्वसं-प्रतिचेत् इत्यादि	शुनो दन्तदंष्ट्रा कर्णकुन्द वराह पुच्छ पदेषु = अन्येषामपि दृश्यते, ६।३।१३७ पर वार्तिक ।

इनमें अधिकांश सूत्रों में इतना अधिक सादृश्य दिखाई देता है कि मन में यह विश्वास-सा हो जाता है कि यह प्रातिशाख्य पाणिनि-व्याकरण पर आधृत है ।

एक सूत्र **किट् किडाकारौ हन्वाम्**, २।१० का अर्थ स्पष्ट नहीं होता । इस प्रातिशाख्य में निम्नलिखित बातें विशेष उल्लेखनीय हैं :

(१) बहुत-से शब्दांशों से पूरे शब्द का बोध कराया गया है, जैसे (क) मास (२।१।१) से समास, (ख) र्ग (२।२।३) से वर्ग, (ग) ति (२।३।६) से गति, (घ) र्घ (३।४।३) से दीर्घ, (ङ) क्ष (५.७-७) से अक्षर, (च) ग्रा से ग्राम, (छ) रण से करण । यह तो पाणिनि के प्रत्याहार तथा लाघव की भद्दी नकल हुई । लगता है, ग्रन्थकार एक नये प्रकार के प्रत्याहार (संक्षेप) के निर्माण के उत्साह में औचित्य की सीमा भी लाँघ गये हैं ।

(२) केवल प्रत्यय कहकर ऊपर के सूत्र से प्रकृति की अनुवृत्ति की गई है, जैसे—**मान् विकारः** (३।१।४) में ऊपर से प्रकृतिः (३।१।३) की अनुवृत्ति आई, अर्थ हुआ—**प्रकृतिमान्** ; **वान्त्संधिः** (२।६।२) में उदात्तमुत् (२।६।१) से उदात्त की अनुवृत्ति आई, अर्थ हुआ—**उदात्तवान्** । यह पाणिनि की अनुवृत्ति-प्रणाली का अच्छा मजाक है । जैसे ऊपर प्रत्याहारप्रक्रिया की विडंबना बताई गई है, वैसे ही यह अनुवृत्ति-प्रक्रिया की विडम्बना है । अथवा नवीनता या आविष्कार का उत्साह भी इनका कारण हो सकता है ।

(३) पाणिनि ने जिन संज्ञाओं को सार्थक भी बनाया था, उन्हें भी निरर्थक बना दिया गया है; जैसे 'संयोग' को 'सण्' 'उदात्त' को 'उत्' आदि। यह पाणिनि के टि, घु, घ, भ आदि निरर्थक संज्ञाओं की नकल पर इस लाघव के क्षेत्र में उनसे भी आगे बढ़ जाने का प्रदर्शन है।

(४) केवल वर्ण तथा सन्धि का संक्षिप्त विचार है, स्वर (उदात्तत्व आदि) विश्लेषण अत्यल्प (नहीं के बराबर) है।

(५) पूरी पुस्तक में केवल दो आचार्यों का उल्लेख है, 'नैगि' और औदव्रजि' (दूसरे प्रपाठक के अन्त में)।

(६) यद्यपि ऋक्तन्त्रव्याकरण के बहुत-से सूत्र पाणिनि-सूत्रों की भाँति हैं, परन्तु पाणिनि की तरह इनमें अनुगम नहीं, अव्याप्ति अतिव्याप्ति है। यह सूर्यकान्त जी ने भी अपनी भूमिका[१] में स्वीकार किया है। अब चाहे पाणिनि ने इससे सूत्र लिये हों या प्रातिशाख्य ने ही पाणिनि से। यही बात कात्यायन के वार्त्तिकों के साथ भी लागू है। सूर्यकान्त जी को संदेह है कि ऋक्तन्त्र का **भाषयां[२] णीपरयोः** कात्यायन[३] के **स्वादीरेरिणोः** और **अक्षादूहिन्याम्** का ही विकसित रूप है। पर वास्तव में यह बात नहीं है। कात्यायन के नियम अनुगमपूर्ण हैं, जबकि ऋक्तन्त्र के अनुसार 'स्वैरी' में वृद्धि की अव्याप्ति तथा 'प्रोक्षणी' आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी। ऋक्तन्त्र का '**उपसर्गादूहेष्यौप्रैष्यार्थे** भी अपोह, अपेष्य आदि में अतिव्याप्त होगा। इसी भाँति **पुंस्पर्शे**[४] से स् का आगम—पुंगायकः आदि में, **अन्त्यात् प्रथमोऽघोषे**[५] से क् का आगम 'प्रत्यङ् चलति आदि में अतिव्याप्त है तथा **दन्त्याच्छश्छम्**[६] से श् का छत्व 'वाक्छूरः में अव्याप्त है। इस प्रकार ऋक्तन्त्र के नियम अपरिष्कृत-से लगते हैं।

(७) हाँ, स्थान-प्रयत्न-निरूपण में कहीं-कहीं शेष शिक्षा-प्रातिशाख्य ग्रन्थों से कुछ नवीनता है, यह प्रथम एवं द्वितीय प्रपाठकों में इन प्रकरणों को देखकर स्पष्ट ही समझा जा सकता है।

●

१. पृ० ४१।
२. ३।४।६।
३. सूत्र ६।१।८९ पर दोनों वार्त्तिक।
४. ४।१।२।
५. ४।५।२।
६. ४।४।४।

चतुरध्यायिका

'चतुरध्यायिका' अथर्ववेद का प्रातिशाख्य है। यह भी ऋक्प्रातिशाख्य की भाँति शौनककृत ही है।

इसमें चार अध्याय हैं, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है। प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं। सूत्र-संख्या निम्नलिखित क्रम से है :—

अध्याय संख्या—	१	२	३	४
सूत्र संख्या—	१०५	१०७	९६	१२६ = ४३४

प्रथम सूत्र में दो बातें बताई गई हैं—(क) एक यह कि प्रयोगयोग्य पद चार प्रकार के ही हो सकते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात; और (ख) दूसरा यह कि इस प्रातिशाख्य में यह बताया गया है कि अन्य पद के सान्निध्य से अथवा वाक्य के अन्त में आने पर इनके रूप में क्या परिवर्त्तन होता है।

सूत्र ३ से ९ तक यह बताया गया है कि अमुक वर्ण ही पद के अन्त में आ सकते हैं। ये हैं —(क) ऌ-भिन्न सभी स्वर, (ख) ल्, (ग) विसर्ग, तथा (घ) चवर्ग को छोड़ शेष सभी स्पर्श वर्णों के प्रथम तथा पंचम वर्ण। वस्तुतः किसी शब्द के अन्त में ऌ नहीं आता। ऌ केवल क्लृप् धातु में आता है, अतः ऌ पद के अन्त में कभी आ ही नहीं सकता। र् अन्त में आयगा तो उसका विसर्ग[1] हो जायेगा, व् अन्त में आयगा तो उसका उ या ऊ हो जायगा[2]। चवर्ग अन्त में आयगा तो उसका कवर्ग[3] हो जायगा। अन्त में आए श् का कवर्ग या टवर्ग[4], ष् का टवर्ग[5], स् का र् और[6] विसर्ग तथा ह् का घ् या ढ्[7] हो जायगा। अतः पद के अन्त में श् ष् स् ह् में से कोई नहीं मिलेग। अनुस्वार अन्त में नहीं हो सकता, न जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ही; क्योंकि ये तीनों विकार परवर्ण निमित्तक[8] हैं; अन्त में आये द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ—तीनों वर्णों के स्थान में प्रथम वर्ण हो जाता[9] है। अतः यह वक्तव्य सही है। परन्तु अन्त में आये य का कोई विकार नहीं होता, इसलिए पदान्त वर्णों में य् की भी चर्चा करनी चाहिए थी। साथ ही पाणिनि के मत में पदान्त में प्रथम तथा तृतीय स्पर्श वर्ण दोनों में से कोई भी ऐच्छिक[10] रूप से आ सकता है, अतः तृतीय वर्णों

---

१. ८।३।१५।
२. ६।४।१९, ६।१।१३१ आदि।
३. ८।२।३०।
४. ८।२।३६, ८।२।६२ आदि।
५. ८।२।३।
६. ८।२।६६।
७. ८।२।३१ तथा ३२।
८. ८।३।२३, २४, ३७
९. ८।४।५६।
१०. ८।४।५६।

को भी पदान्तवर्त्ती मानना होगा । यहाँ भी सूत्र ८ में बताया गया है कि शौनक सभी पदान्त प्रथम वर्णों के स्थान में तृतीय वर्ण का उच्चारण चाहते हैं ।

स्वर

सूत्र १४, १५, १६ में उदात्तादि की व्याख्या है । इनमें पाणिनि से दो भिन्नताएँ हैं । एक तो यह कि यहाँ **समानयमे** कहा, अर्थात् एक ही सन्तान (Key) में तुलनात्मक उच्चता से ध्वनि में उदात्तत्व, नीचता से अनुदात्तत्व होता है । अन्यथा निम्न ध्वनि (Low tone) से उच्चारण से सभी अनुदात्त ही हो जायँ और उच्च ध्वनि (High tone) से उच्चारण में सभी उदात्त ही । दूसरी बात यह कि पाणिनि ने स्वरित को दोनों का समाहार[1] मात्र बताया और अलग से दूसरा सूत्र लिखकर कहा कि स्वरित में पहले उदात्त, फिर अनुदात्त[2] होता है । पर चतुरध्यायी ने स्वरित को आक्षिप्त[3] कहकर एक ही शब्द में स्पष्ट कर दिया कि यह एक फेंका हुआ स्वर है, अर्थात् इसमें ऊपर से नीचे गिरती-सी ध्वनि होती है, पहले ऊँची फिर नीची । एक बात और । पाणिनि ने तीन प्रकार के स्वरों को उदात्त, अनुदात्त, स्वरित कहा है, अतः इन शब्दों का प्रयोग पुंल्लिग में है । किन्तु चतुरध्यायी ने इन तीन प्रकार के स्वरों से युक्त अक्षरों को उदात्त, अनुदात्त, स्वरित बताया, अतः इन शब्दों का प्रयोग नपुंसक में किया ।[4] सूत्र[5] १७ सोलहवें की ही व्याख्या है, पाणिनि के **तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्**[6] का समानार्थक ।

करण, प्रयत्न :

सूत्र १८ से २८ तक करण (Producing organs) का वर्णन है । ऊपर बताया जा चुका है कि विभिन्न भाषावैज्ञानिकों ने करण का प्रयोग विभिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिए किया है । यहाँ भी करण-विवेक में कुछ भिन्न दृष्टि है । यहाँ कण्ठस्थानीय वर्णों का अधरकण्ठ, जिह्वामूलीय वर्णों का हनुमूल, तालव्य वर्णों का जिह्वामध्य, मूर्धन्य वर्णों का प्रतिवेष्टित (पीछे की ओर घुमाई हुई) जिह्वाग्र, ष का द्रोणिकीकृत (डोंगी की तरह चारों ओर ऊपर उठी बीच में गहरी) जिह्वा, दन्त्यों का फैलाया हुआ जिह्वाग्र, ओष्ठ्यों का अधरोष्ठ, नासिक्य वर्णों का नासिका, अनुनासिक वर्णों का मुख और नासिका दोनों तथा रेफ का दन्तमूल करण बताया गया है । इस प्रातिशाख्य में और ध्वनिगुणों की अपेक्षा करण का विचार अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक लगता है ।

२९ से ३६ तक सभी सूत्र आभ्यन्तर प्रयत्न का वर्णन करते हैं । इसे भी यहाँ करण ही कहा गया है, जैसाकि अधिकांश प्रातिशाख्य और शिक्षा-ग्रन्थों ने माना है । इस प्रसंग में यह विचार है कि करण (उत्पादक मुखावयव) और स्थान (उत्पत्तिस्थान) के बीच

१. समाहार : स्वरितः, १।२।३१ ।
२. १।२।३२ ।
३. आक्षिप्तं स्वरितम्, १।१६ ।
४. अष्टा० १।२।२९, ३०, ३१; चतु० १।१४, १५, १६ ।
५. स्वरितस्यादितो मात्रार्धमुदात्तम् ।
६. १।२।३२ ।

क्या सम्बन्ध है, दोनों में कितना संयोग या सान्निध्य है। यहाँ सब स्पर्श वर्णों (क से म तक के २५ वर्ण) का स्पृष्ट प्रयत्न कहा है, अन्तस्थों का ईषत्स्पृष्ट, ऊष्मों का विवृत भी, तथा स्वरों का भी विवृत। सूत्र ३३ है—**एके स्पृष्टम्**। इसका अर्थ भाष्यकार तथा उवट दोनों ने किया है कि कुछ आचार्यों के मत में स्वरों का स्पृष्ट करण है। अतः व्हिटनी ने इसे स्पष्ट ही अशुद्ध (Too obviously and grossly incorrect) घोषित किया है।

वस्तुतः यहाँ **एके स्पृष्टम्** नहीं, **एकेऽस्पृष्टम्** पाठ है, अवग्रह के लिपिबद्ध नहीं करने से सबको इसका अर्थ करने में भ्रम हो गया है। 'एकेस्पृष्टम्' तो यहाँ बिलकुल बेतुका है। ऐसी ऊटपटांग बात ऋषि-मुनि नहीं कह सकते थे। 'आभ्यन्तर प्रयत्न' के विचार में दो बातें आती हैं—एक तो यह कि उच्चारक अंग और उच्चारण-स्थान में संयोग होता है कि नहीं, दूसरी यह कि मुखविवर फैला रहता है या सिकुड़ा। किसी वर्ण के प्रसंग में इनमें से पहले की ही चर्चा है, किसी में दूसरे की तथा किसी में दोनों की। परन्तु दोनों दृष्टियों से विचार प्रत्येक वर्ण के लिए लागू है, यह पहले भी कह आये हैं। इसीलिए सूत्र ३१ में ऊष्म वर्णों के उच्चारण में दोनों दृष्टियों से समीक्षा की गई है; क्योंकि उनमें दोनों दृष्टियों का समान महत्त्व है। सूत्र ३१ में 'अपि' ग्रहण के बल से सूत्र ३० से 'ईषत् स्पृष्ट' की अनुवृत्ति आती है। और, 'ईषत्' का अन्वय 'स्पृष्ट' की तरह 'विवृत' से भी होता है। अतः 'ऊष्मों का विवृत भी' इस वाक्य का अर्थ होगा, ऊष्मों का आभ्यन्तर प्रयत्न थोड़ा स्पृष्ट भी, थोड़ा[1] विवृत भी है। सूत्र ३२ में 'च' से सूत्र ३१ का केवल विवृत शब्द ही अनुवृत्त हुआ, अतः अर्थ हुआ स्वरों का भी विवृत प्रयत्न है। इसी प्रसंग में तैंतीसवें सूत्र का कहना है कि कुछ आचार्य स्वरों को पूर्ण अस्पृष्ट मानते हैं। अस्पृष्टता भी विवृतता का ही दूसरा पहलू है, दृष्टिभेद-मात्र है। स्पर्श वर्ण, अन्तस्थ, ऊष्म तथा स्वर—इन चारों में पूर्वउत्तर-पूर्व से-उत्तर में स्पृष्टता क्रमशः भाव से अभाव की ओर गई है और विवृतता क्रमशः अभाव से भाव की ओर। विद्वानों ने सब वर्णों में भाव-पक्ष की ही चर्चा की है, अभाव-पक्ष की नहीं। परन्तु 'ऊष्म' दोनों का सन्धिस्थल है, अतः दोनों की समान स्थिति है। इसीलिए सामान्यतः सबने स्वरों को 'विवृत'-मात्र कहा, पर कुछ आचार्य इसे 'अस्पृष्ट' भी कहना चाहते हैं।

सूत्र ३४ ने 'ए' तथा 'ओ' को विवृततम कहा और ३५ ने 'आ' को उससे भी अधिक विवृततम (अतिविवृततम) माना। फिर ३६ ने अ (ह्रस्व) को संवृत बताया। यहाँ एक शंका होती है। किसी भी स्वर को विवृततर नहीं बताया। ए, ओ को विवृततम कहने से उससे भी अधिक विवृत आ के लिए कोई शब्द ही नहीं रह गया। पाणिनि-शिक्षा ने तो सब स्वरों में विवृततर[2] **ए ओ** को तथा विवृततम **ऐ औ** को माना है। किन्तु ऐ औ से भी अधिक विवृत आ तथा ह्रस्व अ से भी अधिक संवृत उ लगता है।

---

१. महाभाष्य में इसी प्रकार 'नाज्झलौ' सूत्र की व्याख्या में पतंजलि ने शौनक प्रातिशाख्य सूत्रों में ईषत् की अनुवृत्ति कर ऊष्मों का ईषद् विवृत प्रयत्न माना है, यह पीछे कह आये हैं।

२. श्लोक २१।

सन्धि वर्ण :

३७ से ४१ तक के सूत्रों में ऐसे वर्णों की विवेचना है, जिनमें एकाधिक वर्णों की मात्राएँ हैं। ऋवर्ण में रेफ का सम्मिश्रण है। दीर्घ तथा प्लुत ऋवर्ण में पहली ही मात्रा में रेफ का मिश्रण है। कहने का अर्थ यह है कि ऋ में इवर्ण (या अवर्ण) की स्वरभक्ति ही लम्बी करके द्विमात्रिक या त्रिमात्रिक बनाई जा सकती है। र् अंश पहली मात्रा से ही चिपका रहेगा। व्यञ्जनभक्ति होने से यह लम्बा करके दूसरी और तीसरी मात्रा तक खींचकर नहीं ले जाया जा सकता है। इसी भाँति ऌवर्ण में भी ल् का मिश्रण है। सूत्र ३९ कहता है कि ऌवर्ण 'सलकार' होता है। इसका क्या अर्थ होना चाहिए? क्या सलकार ऋवर्ण ऌवर्ण होता है? आज तो ऌ का उच्चारण ऐसा ही हो रहा है कि यह ल्+ऋ लग रहा है। किन्तु उवट ने कहा है कि ऋवर्ण में रेफ का मिश्रण है और ऌ में रेफ की जगह ल् का। ऋ में जब 'ल्' 'र्' की जगह ले लेता है तब ऌ का उच्चारण 'होता है। किन्तु आज हम जो ऌ का उच्चारण करते हैं, उसमें रेफभक्ति का भी उच्चारण होता है।

सन्ध्यक्षर हैं तो संसृष्ट वर्ण, पर उनमें एक-वर्ण-तुल्य व्यवहार होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्र ३७ तथा ४० में 'संसृष्ट' पाठ शुद्ध है, 'संस्पृष्ट' अपपाठ है। ऋ में र् का तथा ऌ में ल् का संस्पर्श नहीं, संसर्ग है। संस्पर्श का अर्थ भी संसर्ग कर सकते हैं।

आश्चर्य है, यहाँ करण तथा आभ्यन्तर प्रयत्न का निरूपण है, किन्तु स्थान-निरूपण सर्वथा छोड़ दिया गया। बाह्य प्रयत्नों में भी केवल नाद और श्वास की चर्चा हुई। विवार-संवार का तो उल्लेख नहीं ही हुआ, घोष-अघोष का भी विधेय-रूप में उल्लेख नहीं हुआ।

अध्याय १, पाद २

बयालीसवें सूत्र से द्वितीय पाद शुरू होता है। इसमें बताया गया है कि विसर्जनीय को ही 'अभिनिष्ठान' कहते हैं। पाणिनि ने **अभिनिसः स्तनः शब्दसंज्ञायाम्**[1] से इसी शब्द 'अभिनिष्ठान' को सिद्ध किया है। तैंतालीसवें से अड़तालीसवें तक यह बताया गया है कि संयोग रहने पर किन वर्णों का उच्चारण प्रभावित होता है। यहाँ कई नाम दिये हैं—व्यञ्जन-विधारण, अभिनिधान, पीठित, सन्नतर, हीन-श्वासनाद और आस्थापित। सबमें प्रभावित व्यञ्जन के उच्चारण में कुछ अपूर्णता रह जाती है, किन्तु प्रत्येक प्रकार में दूसरे प्रकार से कुछ अन्तर है। यह अन्तर यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है। भाषाविज्ञानियों को इनके अन्तर का सही विश्लेषण यन्त्रों की सहायता से करना चाहिए। संभव है, सब पर्याय ही हों। स्पर्श का बाद में स्पर्श वर्ण के आने पर, पदान्त में तथा अवग्रह में अभिनिधान होता है। लकार का बाद में ऊष्म वर्ण के आने पर और ङ् ण् न् का बाद में हकार के आने पर अभिनिधान होता है। व्यञ्जन का अभिनिधान या विधारण और स्वर का अवग्रह प्रायः एकार्थक हैं। पचासवें सूत्र में बताया गया है कि संयोग के पूर्ववर्त्ती वर्ण की पिछली आधी मात्रा परवर्त्ती वर्ण के तुल्य करणवाली होती है। यह बड़ा सूक्ष्म विचार है। उच्चारण में वर्णों का पौर्वापर्य परस्पर इतना गुँथा रहता है कि एक का उच्चारण दूसरे से सर्वथा असंपृक्त नहीं हो सकता।

सूत्र ५१ से ५४ तक लघु और गुरु संज्ञा का प्रकरण है। तिरेपनवाँ सूत्र कहता है कि अनुनासिक भी गुरुसंज्ञक होता है। यहाँ भी सम्भवतः अनुस्वार और अनुनासिक में एकता

---

१. ८।३।८६।

की भ्रान्ति हो गई है। अनुस्वार अवश्य ही गुरु हो जाता है। पर अनुनासिकता से मात्रा नहीं बढ़ती; हँसना, मुँह आदि शब्दों में अनुनासिक अँ, उँ आदि गुरु नहीं होते। पहले भी ऐसे भ्रम की चर्चा कर चुके हैं। चौवनवाँ सूत्र पद के अन्त में आये स्वर को गुरु बताता है। यहाँ भी भ्रम है। **स नः पितेव सूनवे** में 'स' का 'अ' तथा पितेव का 'अ' गुरु नहीं होता। वस्तुतः 'पद' नहीं 'पाद' के अन्त में आनेवाला स्वर गुरु बन जाता है। यहाँ भ्रम से पादान्ते की जगह 'पदान्ते' लिख दिया है। **अग्ने सूपायनो भव** में अन्तिम अ पादान्त में होने से गुरु हो जाता है। वैसे पद और पाद पर्याय भी हो सकते हैं, हैं। अनुनासिक की जगह यहाँ अनुस्वार तथा विसर्गयुक्त को गुरु कहना चाहिए था; जैसे—**होतारं**, **स नः** इत्यादि में।

सूत्र ५५ से ५८ तक व्यञ्जन की स्वरांगता का विचार है कि कौन-सा व्यञ्जन किस स्थिति में पूर्ववर्त्ती या परवर्त्ती स्वर का अंग बनता है।

सूत्र ५९ से ६२ तक ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञाएँ की गई हैं। यहाँ एक विचित्रता है कि व्यञ्जन की भी ह्रस्व संज्ञा कर दी गई है। 'उवट' ने यहाँ ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुतः को उद्देश्य मानकर एकमात्रः, द्विमात्रः, त्रिमात्रः को विधेय माना है। फलतः यह अर्थ किया है कि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत क्रमशः एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक होते हैं। इस प्रसंग में व्यञ्जनानि को भी उद्देश्य मानकर अर्थ किया गया है कि व्यञ्जन भी एकमात्रिक होते हैं। यह भ्रामक है, पतंजलि की घोषणा[1] है कि कोई भी व्यञ्जन एकमात्रिक नहीं है। व्यञ्जन में तो आधी मात्रा ही लगती है, उसे प्रातिशाख्य एकमात्रिक कैसे बना सकता है? अतः यहाँ[2] एकमात्र, द्विमात्र और त्रिमात्र शब्द उद्देश्य हैं और ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत विधेय। व्यञ्जनादि को उद्देश्य रखकर यह अर्थ निकालना अभिप्रेत है कि व्यञ्जन भी ह्रस्व ही कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में सारांश यह होगा कि त्रिमात्रिक तथा उससे भी अधिक मात्रा के वर्ण प्लुत, उससे कम तथा एक से अधिक मात्रा के वर्ण दीर्घ और एक या एक से कम मात्रा के वर्ण ह्रस्व कहे जाते हैं। व्यञ्जन सब एक से कम मात्रा होने के कारण ह्रस्व हैं। इस अर्थ में कोई भी बाधा नहीं होती। यहाँ दूसरा पाद समाप्त है। इस पाद में वर्णों की ह्रस्व आदि, लघु आदि, संयोग आदि संज्ञाएँ हैं।

अध्याय १, पाद ३

सूत्र ६३ में 'षोडश' तथा 'पुरोडाश'—इन दो शब्दों की सिद्धि दिखाई गई है। ६४ वाँ सूत्र **कृपो रो लः**[3] का समानार्थक है। ६५वाँ उसका अपवाद-स्थल बताता है—'कृपा आदि शब्दों में लत्व नहीं होता'। उवट का कहना ठीक ही है कि यह आदि कहकर एक गण को लक्ष्य बनाने का तरीका 'चतुरध्यायी' में सब प्रातिशाख्यों से अधिक है। यह इसे पाणि-

---

१. "न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्तिः" महाभाष्य, १।१।१—ऐ औ च् सूत्र की टीका।

२. १।५९, ६१, ६२।

३. ८।२।१८।

४. बिहारी बोलियों में ल का र उच्चारण बहुत पाया जाता है—हल>हर, गला>गर, थाली>थारी, काला>करिया आदि।

नीय अष्टाध्यायी की कक्षा में ला देता है। इसका 'चतुरध्यायी' नाम भी 'अष्टाध्यायी' के वजन पर ही रखा मालूम होता है।

सूत्र ६६ **'पादमङ्गुरिम्'** आदि जगहों में ल् का र् करता है। यह प्राकृतोन्मुख[४] प्रवृत्ति है, जिससे लाला=लार, बाल=बार आदि बनते हैं। अनुनासिक वर्ण का यदि पूर्व वर्ण के साथ एकादेश हो तो वह भी अनुनासिक होता है। 'पुरुष आ बभूवाँ' में अवसान में अनुनासिक होता है। यहाँ सीधे अण् का अवसान में अनुनासिकत्व कहना चाहिए। ऋ को जब अनुनासिक किया जाता है तब र् के बाद आनेवाले हिस्से को ही, पूर्ववर्ती भाग को नहीं।

सूत्र ७३ से ८२ तक प्रगृह्य-संज्ञा का विधान है। ७७वाँ सूत्र **'अस्मे युष्मे त्वे मे इति चोदात्ताः'** पाणिनि के 'शे'[१] का ही विस्तार है। फिर भी, इतना लम्बा होने पर भी 'शे' के सभी लक्ष्यों को यह नहीं बता सकता। अठहत्तरवें सूत्र **अमी बहुवचनम्** को विश्वबन्धु शास्त्री ने पाणिनि के **अदसो मात्**[२] से अधिक स्पष्ट और निगमक बताया है। उनका कहना है कि 'अमू' (आसाते) में तो **ईदूदेद् द्विवचनं**[३] **प्रगृह्यम्** से ही प्रगृह्य संज्ञा हो जायगी, अतः केवल अमी (ईशाः) के लिए **अदसोमात्** यह सामान्य सूत्र बनाना प्रक्रिया-गौरव है—**अमी बहुवचनम्** यह स्पष्ट कह देना चाहिए था। परन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में सपादसप्ताध्यायीस्थ प्रगृह्य संज्ञा के प्रति त्रिपादी-विहित मुत्व के असिद्ध हो जाने से 'अमू' शब्द ऊकारान्त नहीं, 'अदौ' ऐसा औकारान्त हो जायगा, फिर यहाँ प्रगृह्य संज्ञा होगी कैसे? 'अदसो मात्' कहने पर तो विधानसामर्थ्यात् 'अमू' और 'अमी' दोनों की प्रगृह्य संज्ञा होगी। सूत्र ७९ **निपात एकाजनाङ्**[४] का समानार्थक है, किन्तु अष्टाध्यायी ने ङकार अनुबन्धवाले (ईषदर्थ आदि में वर्त्तमान) आ का ही प्रगृह्यत्व रोका है, 'अङित् आ' (वाक्य और स्मरण में वर्त्तमान) को प्रगृह्य माना है। चतुरध्यायी ने तो सभी आ को प्रगृह्यत्व से दूर हटा दिया है, यह प्रगृह्य संज्ञा की अव्याप्ति हो गई।

सूत्र ८३ ने बताया है कि पद के भीतर जो अनुनासिक है, वह ह्रस्व होता है। इसके अपवाद हैं ८४ से ९१ तक के सूत्र। यह प्रसंग भी अपूर्ण ही है। इस तिरासीवें सूत्र के कथन से ही स्पष्ट हो जाता है कि तिरेपनवें सूत्र में जो अनुनासिक को गुरु बताया गया है, वहाँ उसका तात्पर्य अनुस्वार से है।

अध्याय १, पाद ४

सूत्र ९३ स्वर की अक्षर संज्ञा करता है, व्यञ्जन-सहित स्वर की नहीं, केवल स्वर की। ९७ वाँ सूत्र कहता है कि अवशा+इति='अवशेति' और 'आबभूवाँ+इति' = आबभूवेति' में ए का प्लुत नहीं होता। उवट ने लिखा है कि संहिता में 'अवशेति' मिलता है, पर

१. १।१।१३।
२. १।१।१२।
३. १।१।१२।
४. १।१।१४।

'आवभूवेति' नहीं मिलता, किन्तु अवश्य ही यह किसी ऐसी शाखा में आया होगा, जो लुप्त हो चुकी है।

सूत्र ९९ में यम का विवेचन है। इसके अनुसार एक ही पद में प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण के बाद यदि पंचम वर्ण आये तो पूर्ववर्त्ती वर्ण का सजातीय एक और वर्ण बीच में आ जाता है। अर्थात् यह प्रातिशाख्य भी यम को वर्णागम ही मानता है। इसपर काफी विचार पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। चतुरध्यायी ने इसके अतिरिक्त भी एक यम माना है। ह् के बाद भी कोई नासिक्य (पंचम वर्ण) आये तो बीच में एक यम आता है, जैसे 'पूर्वाह्णः' में ह् और ण् के बीच एक ह् सदृश अनुनासिक वर्ण उच्चरित होगा। अतः पृ० ३९३ में सूत्र ९९ की व्याख्या करते समय 'उवट' का यह कहना ठीक नहीं कि 'गृह्णाति' को यम के उदाहरण में देना संगत नहीं, की 'गृभ्णाति' देना चाहिए। क्योंकि इस सूत्र के अनुसार 'गृह्णाति' भी यम का उदाहरण है।

सूत्र १०१ से १०४ तक स्वरभक्ति की व्याख्या है। रेफ के बाद ऊष्म वर्ण आता हो और उसके बाद कोई स्वर हो तो रेफ और ऊष्म के बीच स्वरभक्ति होती है। इसकी मात्रा ह्रस्व अ की आधी होती है, अर्थात् यह अर्धमात्रिक होती है। किसी के मत से यह चौथाई मात्रा की भी होती है। यदि र् के बाद कोई दूसरा व्यञ्जन आता हो तो यह स्वरभक्ति ¼ या ⅛ मात्रा की होती है। इसे ही स्फोटन भी कहते हैं। सूत्र १०४ **पूर्वस्वरं संयोगाविघातश्च** का अर्थ 'उवट' करते हैं कि ये पूर्वस्वर का अंग होते हैं और संयोग का विघात नहीं होता है। 'ये' से सूत्र ९९ से लेकर १०३ तक विहित सभी विधियों का ग्रहण किया गया है, जिनमें स्वरभक्ति के अलावा यम और नासिक्य भी आ जाते हैं। उनके अनुसार यह सूत्र बताता है कि यम, नासिक्य और स्वरभक्ति सभी पूर्वस्वर के अंग होते हैं। यह तर्कसंगत नहीं लगता। स्वरांगता का विचार बहुत पीछे ५५ से ५८ तक के सूत्रों में समाप्त हो चुका है। उसका यहाँ कोई प्रसंग नहीं। **पूर्वस्वरम्** का अर्थ भी **पूर्वस्वरस्य अङ्गम्** करना अनपेक्षित व्यायाम लगता है। और फिर यम तथा नासिक्य से संयोग का विघात होने का डर कैसे है, जिसका यहाँ निषेध किया जायगा? इसलिए इस सूत्र को यम और नासिक्य तक **घसीटना** व्यर्थ है। यह केवल स्वरभक्ति की व्याख्या करता है। स्वरभक्ति का अर्थ है—स्वर का भाग, स्वर का अंश। सूत्र १०२ ने बताया कि यह स्वरभक्ति आधी मात्रा चतुर्थांश मात्रा या अष्टमांश मात्रा की होती है। इसमें दो सन्देह होते हैं। एक तो यह कि स्वरभक्ति होने पर किस स्वरांश का उच्चारण होता है; चाहे वह एक मात्रा का आधा, चतुर्थांश अथवा अष्टमांश ही हो, पर किस स्वर का? दूसरा यह कि दो व्यञ्जनों के बीच यदि एक स्वरांश आ गया, तब तो अव्यवहित व्यञ्जन नहीं रह गये, फिर यहाँ संयोग संज्ञा कैसे होगी? इन्हीं दोनों शंकाओं का उत्तर इस सूत्र में है। अतः पूर्वस्वर का यहाँ अर्थ होगा पूर्वस्वर वाला, अर्थात् यह स्वरभक्ति पूर्वस्वरतुल्य होती है। 'अ' के बाद आनेवाले 'र'-जन्य संयोग के बीच में 'अ' की, 'इ' के बाद आनेवाले में 'इ' की तथा 'उ' के बाद आनेवाले में 'उ' की स्वरभक्ति, स्वरांश सुनाई पड़ता है। आज भी हम देखते हैं कि 'धर्म' का 'धरम', 'मिश्र' का 'मिसिर' तथा 'मूर्ख' का 'मुरुख' उच्चारण होता है। इस स्वरभक्ति के

उच्चारण से संयोग भी नष्ट नहीं माना जाता, संयोगाश्रय सभी कार्य अव्याहत रूप से होते हैं। यही इस सूत्र का अर्थ है।

सूत्र १०५ में प्लुत के कुछ स्थल गिनाये गये हैं और यहीं यह पाद तथा अध्याय समाप्त हुआ है।

इस अध्याय में निम्नलिखित सूत्र पाणिनि-सूत्रों के सदृश हैं :

चतुरध्यायी	पाणिनि
१. उच्चैरुदात्तम्, १।१४	उच्चैरुदात्तः, १।२।२९
२. नीचैरनुदात्तम्, १।१५	नीचैरनुदात्तः, १।२।३०
३. स्वरितस्यादितोमात्रार्धमुदात्तम्, १।१७	तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्, १।२।३२
४. ह्रस्वं लघ्वसंयोगे, १।५१	{ ह्रस्वंलघु, १।४।१० संयोगे गुरु, १।४।११
५. एकमात्रो ह्रस्वः, १।५९ ६. द्विमात्रो दीर्घः, १।६१ ७. त्रिमात्रः प्लुतः, १।६२ }	ऊकालोज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः, १।२।२७
८. कृपे रेफस्य लकारः, १।६४	कृपो रो लः, ८।२।१८
९. नकारमकारयोर्लपि पूर्वस्यानुनासिकः, १।६७	अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा, ८।३।२
१०. उकारस्येतावपृक्तस्य, १।७२	उञः, १।१।१७
११. दीर्घः प्रगृह्यश्च, १।७३	ऊँ, १।१।१८
१२. ईकारोकारौ च सप्तम्यर्थे, १।७४	ईदूतौ च सप्तम्यर्थे, १।१।१९
१३. द्विवचनान्तौ, १।७५ १४. एकारश्च, १।७६ }	ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्, १।१।११
१५. अमी बहुवचनम्, १।७८	अदसो मात्, १।१।१२
१६. अस्मे युष्मे त्वे मे इति चोदात्तः, १।७७	शे, १।१।१३
१७. निपातोऽपृक्तोऽनाकारः, १।७९	निपात एकाजनाङ्, १।१।१४
१८. ओकारान्तश्च, १।८०	ओत्, १।१।१५
१९. आमन्त्रितं चेतावनार्षे, १।८१	संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, १।१।१६
२०. हनिगम्योः सनि, १।८६	अज्झनगमां सनि, ६।४।१६
२१. शान्मान्दानाम्, १।८७	मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य, ३।१।६
२२. वर्णादन्त्यात्पूर्व उपधा, १।९२	अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा, १।१।६५
२३. व्यञ्जनान्यव्यवेतानि स्वरैः संयोगः, १।९८	हलोऽनन्तराः संयोगः, १।१।७
२४. सोष्मणि पूर्वस्यानुपधा, १।९९	झलां जश् झशि, ८।४।५३

अध्याय २

दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र से संहिता का अधिकार चला है और इस अध्याय की समाप्ति तक चारों पादों में केवल सन्धि के सूत्र हैं। इनकी तुलना में अष्टाध्यायी के सूत्र सामने लिखे जा रहे हैं :

चतुरध्यायी	पाणिनि
२५. संहितायाम्, २।१	संहितायाम्, ६।१।७२
२६. पदान्तानामनुत्तमानां तृतीया घोषवत् स्वरेषु, २।२	झलां जशोऽन्ते, ८।२।३९
२७. पदान्ते चाघोषाः, २।३	वावसाने, ८।४।५६
२८. अघोषेषु च, २।४	खरि च, ८।४।५५
२९. उत्तमा उत्तमेषु, २।५	यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा, ८।४। ५
३०. द्वितीयाः शषसेषु, २।६	कात्यायन का वार्त्तिक 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्, सूत्र ८।४।४७ पर।
३१. तेभ्यः पूर्वं चतुर्थो हकारस्य, २।७	झयो होऽन्यतरस्याम्, ८।४।६२
३२. टकारात् सकारे तकारे, २।८	डः सि धुट्, ८।३।२९
३३. ङणनेभ्यः कटतैः शषसेषु, २।९	ङ्णोः कुक् टुक् शरि, ८।३।२८ नश्च, ८।३।३०
३४. नकारस्य शकारे ञकारः, २।१० ३५. चवर्गीये घोषवति, २।११ ३६. तकारस्य शकार लकारयोः परसस्थानः, २।१३ ३७. चटवर्गयोश्च, २।१४ ३८. टवर्गीये णकारः, २।१२ ३९. ताभ्यां समानपदे तवर्गीयस्य पूर्वसस्थानः, २।१५ ४०. षकारान्नानापदेऽपि, २।१६	स्तोः श्चुना श्चुः, ८।४।४० ष्टुना ष्टुः, ८।४।४१ न पदान्ताट्टोरनाम्, ८।४।४२ तोः षि, ८।४।४३ शात्, ८।४।४४
४१. तवर्गीयाच्छकारः शकारस्य, २।१७	शश्छोटि, ८।४।६३
४२. लोप उदः स्थास्तम्भोः सकारस्य, २।१८	उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य, ८।४।६१
४३. रेफस्य रेफे, २।१९	रो रि, ८।३।१४
४४. स्पर्शादुत्तमादनुत्तमस्यानुत्तमे, २।२०	झरो झरि सवर्णे, ८।४।६५
४५. स्वराद् यवयोः पदान्तयोः, २।२१	लोपः शाकल्यस्य, ८।३।१९ हलि सर्वेषाम्, ८।३।२२
४६. नाकाराद् वकारस्य, २।२२	
४७. लेशवृत्तिरधिस्पर्शः शाकटायनस्य, २।२४	व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य, ८।३।१८
४८. पुमो मकारस्य स्पर्शे घोषेऽनूष्मपरे विसर्जनीयोऽपुंश्चादिषु, २।२५	पुमः खय्यम्परे, ८।३।६
४९. नकारस्य चटतवर्गेष्वनूष्मपरेषु विसर्जनीयः, २।२६	नश्छव्यप्रशान्, ८।३।७

चतुरध्यायी	पाणिनि
५०. आकारोपधस्योप बद्धादीनां स्वरे, २।२७ ५१. वृक्षाँ वनानीति वकारे, २।२८ ५२. नाभ्युपधस्य रेफ ऋतूँरुत्सृजते वशीत्येवमादीनाम्, २।२९	दीर्घादटि समानपादे ८।३।९
५३. मकारस्य स्पर्शे परसस्थानः, २।३०	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, ८।४।५८
५४. न समो राजतौ, २।३६	मो राजि समः क्वौ, ८।३।२५
५५. विसर्जनीयस्य परसस्थानः, २।३०	विसर्जनीयस्य सः, ८।३।३४ स्तोः श्चुना श्चुः, ८।४।४० कुपयोः≍क≍पौ च, ८।३।३७
५६. स्वरे यकारः, २।४१	भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि, ८।३।१७
५७. अकारोपधस्योकारोऽकारे, २।५।३	अतो रोरप्लुतादप्लुते, ६।१।११३
५८. घोषवति च, २।५४	हशि च, ६।१
५९. आकारोपधस्य लोपः, २।५५	लोपः शाकल्यस्य, ८।३।१९
६०. एष स्य व्यञ्जने, २।५७	एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि, ६।१।१३२
६१. निर्दुराविर्हविरसमासेऽपि, २।६३	इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य, ८।३।४१
६२. कुरुकरंकरत्कृणोतुकृतिकृधिष्वकर्णयोः, २।६५	कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः, ८।३।५०
६३. पञ्चम्याश्चाङ्गेभ्यः पर्यादिवर्जम्, २।६७	पञ्चम्याः परावध्यर्थे, ८।३।५१
६४. षष्ठ्याश्चाशच्याः २।७१	षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु, ८।३।५३
६५. इडायास्पदे, २।७२	इडाया वा, ८।३।५४
६६. अत्रनाम्युपधस्य षकारः, २।८१	इण्कोः, ८।३।५७
६७. नामिक रेफात् प्रत्यय सकारस्य, २।८७	आदेशप्रत्यययोः, ८।३।५९
६८. सहेः साड्भूतस्य, २।८२	सहेः साडः षः, ८।३।५६
६९. तद्धिते तकारादौ, २।८३	ह्रस्वात्तादौ तद्धिते, ८।३।१०१
७०. युष्मदादेशे तैस्त्वमादिवर्जम्	युष्मत्ततक्षुष्वन्तः पादम्, ८।३।१०३
७१. उपसर्गाद् धातोः, २।९०	उपसर्गात् सुनोति सुवति, ८।३।६५
७२. अभ्यासाच्च, २।९१ ७३. अभ्यासव्यवायेपि स्थः, २।९३	स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, ८।३।६४
७४. स्था सहि सिचीनामकारव्यवायेऽपि, २।९२	प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि, ८।३।६३
७५. अग्नेः स्तोम सोमयोः, २।९६	अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः, ८।३।८२
७६. सुञः, २।९७	सुञः, ८।३।१०७
७७. न सृपिसृजिस्पृशिस्पृर्धि स्वरति स्मरतीनाम्, २।१०२	न रपर सृपि सृजि स्पृशि स्पृहि सवनादीनाम्, ८।३।११०

इस अध्याय में कुल १०७ सूत्र हैं। सूत्र १ से ३९ तक पहला पाद है, ४० से ५९ तक दूसरा, ६० से ८० तक तीसरा तथा ८१ से १०७ तक चौथा। प्रथम पाद में व्यञ्जन-सन्धि, दूसरे, तीसरे पादों में विसर्गसन्धि तथा चौथे पाद में षत्वविधान है। इस अध्याय के ५० प्रतिशत सूत्र पाणिनीय अष्टाध्यायी के तुल्य हैं, पर अनावश्यक विस्तार करने पर भी अनुगम की कमी से अव्याप्ति अतिव्याप्ति बहुत हो गई है। सम्भव है अव्याप्ति अतिव्याप्ति स्थलों का अथर्ववेद की शौनकीय शाखा में प्रयोग ही नहीं हुआ हो, अतः इस प्रातिशाख्य ने उनपर ध्यान न दिया हो!

इस अध्याय में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

१. पदान्त में अघोष वर्ण ही विहित[१] है, घोष नहीं। 'गोधुक्' ही होगा 'गोधुग्' नहीं। पाणिनि ने दोनों को सही[२] माना है।

२. श ष स से पहले द्वितीय वर्ण का विधान इसने[३] किया है, पाणिनि ने नहीं। हाँ, 'कात्यायन', ने इसका वर्णन[४] किया है।

३. **स्तोः श्चुना[५] श्चुः, ष्टुना ष्टुः,[६] तोर्लि[७]** का पूरा अनुगम यह नहीं कर सका है, यद्यपि इसके लिए सूत्र कम नहीं, बल्कि सात बनाये[८] गये हैं।

४. सूत्र ३२ तथा ३४ से म् और न् का लोप कर प्रथम अध्याय के सूत्र ६७ से अनुनासिक करना ठीक नहीं जँचता। **पितरँ वरुणम् यजूँषि** आदि में अनुस्वार उचित है, अनुनासिक नहीं। यही पाणिनि की भी सम्मति है। यदि अनुसासिक से ही अनुस्वार और अनुनासिक दोनों का बोध करायें तो यह ठीक नहीं। पहले भी ऐसी स्थिति पर प्रकाश डाला जा चुका है।

५. सूत्र ३८ कहता है कि यदि संयोग में पहला वर्ण परवर्त्ती वर्ग का और पिछला वर्ण पूर्ववर्त्ती वर्ग का आये, तथा पहले वर्ण के बाद विराम हो (अर्थात् एक पद की समाप्ति हो), तो उस संयोग के भीतर स्फोटन होता है। 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' के टीकाकार ने स्फोटन की व्याख्या की है—**पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्**, अर्थात् एक पिंड में बँधे संयोग का पृथक्-पृथक् होकर उच्चरित होना—फूटकर दो टुकड़ों में परिणत हो जाना। चतुरध्यायी के प्रथम अध्याय के सूत्र १०३ ने स्वरभक्ति का पर्याय ही स्फोटन भी माना है। टीकाकार ने स्फोटन के उदाहरण दिये हैं—**वषट्कारेण = वषट् कारेण, त्रिष्टुब्गायत्री = त्रिष्टुब् गायत्री**। विजातीय वर्ण होने से यहाँ दोनों का संयोग पूरा परस्पर

१. २।७
२. ८।४।५६
३. २।६।
४. ८।४।४८ पर वार्त्तिक।
५. ३।८।४०।
६. ८।४।४१।
७. ८।४।६०।
८. २।१।१० से १६ तक।

सम्बद्ध नहीं हो पाता, दोनों के अव्यवहित उच्चारण में अत्यल्प व्यवधान करना पड़ जाता है।

किन्तु, यदि पहले टवर्ग फिर चवर्ग के आने से संयोग पैदा हुआ है, तो वहाँ स्फोटन नहीं, कर्षण होता है। स्फोटन में संयुक्त वर्णों में प्रथम का पूर्ण उच्चारण होने के बाद दूसरे वर्ण का उच्चारण शुरू होने के पहले एक अति न्यून मात्रा खाली रह जाती है। परन्तु कर्षण में यह रिक्तता नहीं रहती है। दोनों का उच्चारण खींच कर करना पड़ता है। ऐसे संयोग के उच्चारण में साधारण से अधिक काल लगता है। यहाँ 'उवट' के अनुसार पूरे संयोग के उच्चारण में काल अधिक लगता है। किन्तु प्रतीत होता है कि कर्षण पूरे संयोग का नहीं, केवल टवर्ग का होता है, चवर्ग का नहीं। उदाहरण हैं—**षट् च मे, षड् जाताः** आदि। यहाँ कर्षण केवल ट् और ड् का होता है। दो व्यञ्जनों का संयोग होने पर अभिनिधान, आस्थापित, स्वरभक्ति, स्फोटन और कर्षण जैसी कोई चीज होती है। अभिनिधान में पूर्व वर्ण का द्रुततर तथा अपूर्ण उच्चारण होता है। आस्थापित भी उसे ही कहते हैं, पर अलग रखकर उसका विचार करना शायद बता रहा है कि दोनों में अवश्य कोई सूक्ष्म अन्तर है। सम्भवतः 'आस्थापित' का अर्थ यह है कि पूर्व वर्ण का अधूरा नहीं, पूरा उच्चारण होगा, पर उसके उच्चारण के बाद थोड़ा ठहरकर दूसरे व्यञ्जन का उच्चारण करते हैं। इसी प्रकार स्वरभक्ति और स्फोटन पर्याय हैं, परन्तु दोनों में सूक्ष्म अन्तर सम्भवतः यह है कि स्वरभक्ति में स्वरांश इतना अल्प होता है कि संयोग नष्ट नहीं होने पाता, किन्तु स्फोटन में संयोग टूट-फूट-सा जाता है। कर्षण यह प्रकट करता है कि संयोग के पूर्ववर्त्ती वर्ण का ही अधिक देर तक उच्चारण करेंगे, दोनों के बीच रिक्त काल नहीं रखेंगे।

६. सूत्र ४२ से ५२ तक यह बताया गया है कि अमुक स्थानों में विसर्ग का र् हो जाता है। पाणिनि की दृष्टि से यह विपरीत प्रक्रिया है। पाणिनि के अनुसार इनकी व्याख्या होगी कि यहाँ र् का विसर्ग नहीं होने पाया।

७. सूत्र ६० में कहा गया है कि 'दुर्+दाश'—यहाँ र् का उ हो जाता है और दाश के द् का मूर्धन्य, फिर दु उ डाश='दूडाश' बन जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'दूडाश' की प्रक्रिया निम्नलिखित है—दुर्+दाश। यहाँ र् के सम्पर्क से द् का ड् हुआ (जैसे कृत् >कर्त्त>कट होता है और नृत्>नर्त>नट)। फिर ड ड़ तथा र के अभेदग्रह से र् र् का संयोग होने के कारण दुर् के र् का लोप[1] हुआ और पूर्ववर्त्ती उ का दीर्घ[2], तथा 'दूडाश' बन गया। 'दुर्+दभ' से 'दूडाभ्' भी ठीक इसी प्रक्रिया से बना है। लोक-बुद्धि ने भ्रम से यहाँ रेफलोप और दीर्घत्व कर दिया, क्रमशः ये प्रयोग शिष्टों को भी ग्राह्य हो गये, तब शास्त्रकारों को इनके लिए व्यवस्था करनी पड़ी। इसी भाँति सूत्र ६१ 'दुर्+शुना' को 'दुच्छुना' बनाने के लिए दुर् के र् का त् करता है। यहाँ भी पूर्वप्रक्रिया की ही विपरीत प्रक्रिया है। जैसे द्=ड्=ड्=र्, वैसे ही र=ड़्=ड्=द्=त् हो गया है। लगता है, कुत्ते को जो 'दुर्' और 'दुत्' कहकर लोग भगाते हैं, उसमें भी इसी भाँति मूल 'दुर्' का

---

१. रो रि, ८।३।१४।

२. ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः, ६।३।१११।

'दुत्'[1] बन गया है ? फिर तो दोनों से 'दुरदुराना', 'दुतकारना'—ये दो क्रियाएँ भी बन गई हैं, पर मूल शब्द एक ही होगा । वह क्या 'दुर्' है, या 'दुत्' ही मौलिक है ?

अध्याय ३

तीसरे अध्याय में कुल ९६ सूत्र हैं । १ से २५ तक प्रथम पाद है, २६ से ५४ तक द्वितीय, ५५ से ७४ तक तृतीय, तथा ७५ से ९६ तक चतुर्थ पाद ।

पूरे प्रथम पाद में पूर्वपद के अन्तिम स्वर के दीर्घ का वर्णन है, जैसे—'विश्वामित्र' 'श्वापद' आदि । दूसरे पाद में २६ से ३२ तक वर्णद्वित्व-प्रकरण, ३३ से ३७ तक प्रकृति-भाव प्रकरण, ३८ से ५४ तक स्वरसन्धि प्रकरण, ५५ से ७४ तक अभिनिहित, जात्य, उदात्त आदि स्वरों का वर्णन तथा ७५ से ९५ तक णत्वप्रकरण है । अंतिम सूत्र ९६वाँ, एक निपातन है—'तुविष्टमः' ।

इस अध्याय के निम्नलिखित सूत्र पाणिनिसूत्रों की भाँति हैं :

७८. विश्वस्य नरवसुमित्रेषु, ३।९	विश्वस्य वसुराटोः, ६।३।१२८ नरे संज्ञायाम्, ६।३।१२९ मित्रे चर्षौ, ६।३।१३०
७९. उपसर्गस्य नामिनो दस्ति, ३।११	दस्ति ६।३।१२४ (ऊपर से 'उपसर्गस्य' तथा 'इकः' अनुवृत्त हैं)
८०. रलोपे, ३।२०	ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः, ६।३।१११
८१. ङणना ह्रस्वोपधाः स्वरे, ३।२७	ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्, ८।३।३२
८२. संयोगादि स्वरात्, ३।२८	अनचि च, ८।४।४७
८३. रेफहकारौ परं ताभ्याम्, ३।३१	अचो रहाभ्यां द्वे, ८।८।४६
८४. प्रगृह्याश्च प्रकृत्या, ३।३३	प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्, ६।१।१२५
८५. स्वरे नामिनोऽन्तःस्थाः, ३।३८	इको यणचि, ६।१।७७
८६. सन्ध्यक्षराणामयवायावः, ३।४०	एचोऽयवायावः। ६।१।७८
८७. पूर्वपरयोरेकः, ३।४१	एकः पूर्वपरयोः, ६।१।८४
८८. समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः, ३।४२	अकः सवर्णेदीर्घः, ६।१।१०१
८९. अवर्णस्येवर्णे एकारः, ३।४४ ९०. अवर्ण ओकारः, ३।४५ ९१. अरमृवर्णे, ३।४६	आद्गुणः, ६।१।८७
९२. अपसर्गस्य धात्वादावारम्, ३।४८	उपसर्गादृति धातौ, ६।१।९१
९३. भूतकरणस्य च ३।४९	आट्श्च, ६।१।९०
९४. ओकारोकारयोरौकारः, ३।५१ ९५. एकारैकारयोरैकारः, ३-५०	वृद्धिरेचि, ६।१।८८
९६. श षसाः स्वरे, ३।३२	शरोऽच, ८।४।४९
९७. एकारौकारत्तात् पूर्वः पदाकेरकारस्य, ३।५३	एङः पदान्तादति, ६।१।१०९
९८. एकादेश उदात्तेनोदात्तः, ३।६६	एकादेश उदात्तेनोदात्तः, ८।२।५

१. बिहारी बोलियो में 'दुर्' ही चलता है, 'दुत्' नहीं ।

९९. उदात्तादनुदात्तं स्वर्यते, ३।६७	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, ८।४।६६
१०१. नोदात्तस्वरितपरम् ३-७०	नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगाल- वानाम्, ८।४।६७
१०२. ऋवर्ण रेफषकारेभ्यः समानपदे नो णः, ३।७५	रषाभ्यां नो णः समानपदे, ८।४।१
१०३. अकारान्तादह्नः, ३।७७	अह्नोऽन्तात्, ८।४।७
१०४. विभक्त्यागमप्रातिपदिकान्तस्य, ३।७	प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च, ८।४।११
१०५. उपसर्गाद् धातोर्नानापदेऽपि, ३।७९	उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य, ८।४।१४
१०६. अवग्रहादृकारात्, ३।८५	छन्दस्यृदवग्रहात्, ८।४।२६
१०७. पदान्तस्पर्शयुक्तस्य, ३।८९	न पदान्तस्य, ८।४।३७
१०८. नषेः षान्तस्य, ३।९०	नषेः षान्तस्य, ८।४।३६
१०९. स्वर लोपे हन्तेः, ३।९१	हन्तेरत्पूर्वस्य, ८।४।२२
११०. क्षुभ्नादीनाम्, ३।९२	क्षुभ्नादिषु च, ८।४।३९
१११. व्यवाये शसलैः, ३।९३ ; ११२. चटतवर्गैश्च, ३।९४	अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, ८।४।२
११३. पदेनावर्जिते च, ३।९५	पदव्यवायेऽपि, ८।४।३८
११४. इच्छायां च यकारादौ, ३।१८	क्यचि च

इस अध्याय में मुख्यतः ये बातें मननीय हैं :

१. यहाँ ओषधि और रात्रि शब्द का यत्र-तत्र दीर्घ विधान किया है, पाणिनि ने यह नहीं बताया। किन्तु **कृदिकारादक्तिनः**[1] कहकर वार्तिककार ने रात्रि और रात्री दोनों प्रयोग सर्वत्र के लिए शुद्ध और ऐच्छिक माने हैं। स्त्रीलिंग में ओषधि शब्द के भी ह्रस्वान्त और दीर्घान्त दोनों रूप सही होंगे। बल्कि 'महाभारत' में तो क्तिन्नन्त इकारान्त के भी दीर्घान्त रूप मिलते हैं, जातीषु[2] आदि।

२. प्रयुक्त या प्रयोक्तव्य पदों की व्याख्या के विभिन्न प्रकार हैं। चतुरध्यायी, **यवलोपे न यौ सन्ध्यौ** द्वारा प्रकृतिभाव से सन्धि को रोकती है, किन्तु अष्टाध्यायी यहाँ 'असिद्धत्व'[3] से ही सन्धि रोक देती है। **ब्राह्मणेभ्य ऋषिभ्यः** में यलोप असिद्ध हो जायगा, अतः गुण नहीं होगा। इसी भाँति **नदीन्तरति** में परसवर्ण के असिद्ध होने से अनुस्वार आ जायगा, तो **नश्छव्यप्रशान्**[4] की स्वयं प्रवृत्ति नहीं होगी, उसके लिए निषेधसूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह 'धिया+आ+इहि' में पहले यदि **पूर्वम् धातुरूपसर्गेण युज्यते** के नियम से 'आ+इति' मिलकर 'एहि' बन जाय तो 'धिया' के साथ 'एहि' की वृद्धि होकर 'धियैहि' रूप बन जायगा। इसलिए चतुरध्यायी ने **आकारः केवलः प्रथम पूर्वेण** नियम बनाकर पहले 'धिया+आ=धिया' बना लिया, फिर 'इहि' से जोड़कर

---

१. ४।१।४५ सूत्र पर।

२. अश्वमेध १८।१४।

३. ८।२।१।

४. ८।३।७।

गुण द्वारा 'धियेहि' बनाया। किन्तु अष्टाध्यायी ने **ओमाङोश्च**[1] नियम बनाकर 'धिया+एहि' यहाँ वृद्धि को रोककर पररूप द्वारा 'धियेहि' की सिद्धि की। चतुरध्यायी ने **स्वरलोपे हन्तेः, व्यवाये: शसलै** तथा **चटतवर्गेश्च** इन निषेध[2] सूत्रों से जो काम किया है, वही काम पाणिनि ने **हन्तेरत्पूर्वस्य, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि** इन[3] दोनों विधिमुख सूत्रों से कर लिया है।

३. चतुरध्यायी में भी और प्रातिशाख्यों की तरह ही कुछ ऐसे प्रयोगों की सिद्धि दिखाई गई है, जिन की चर्चा पाणिनि ने नहीं की है, कात्यायन ने की है। चतुरध्यायी कहती है सीमन्ते ह्रस्वः और वार्त्तिककार कहते हैं—**सीमन्तः**[4] **केशवेशेषु**, पर पाणिनि इसका उल्लेख नहीं करते। क्या चतुरध्यायी ने वार्त्तिककार की तरह पाणिनि से अनुक्त स्थलों का भी संग्रह किया है, अथवा पाणिनि ने प्रातिशाख्य में इसे देखकर भी इसके लिए पृथक् सूत्र नहीं बनाया, **पृषोदरादि**[5] से इसे सिद्ध कर लिया?

४. चतुरध्यायी ने अ+इ=ए, अ+उ=ओ तथा अ+ऋ=अर् करने के लिए ३ सूत्र पृथक्-पृथक्[6] बनाये, पर 'पाणिनि' ने एक ही सूत्र बनाकर[7] इन तीनों का विधान किया। यहाँ भी संदेह होता है कि क्या पाणिनि के ही एक सूत्र की व्याख्या और विश्लेषण कर चतुरध्यायी ने तीन सूत्र बनाये हैं, या चतुरध्यायी के तीन सूत्रों का पाणिनि ने एक सूत्र में संक्षेप किया है?

५. ५५ से निम्नलिखित आठ सन्धिस्वरों का वर्णन है—अभिनिहित, प्राश्लिष्ट, जात्य, क्षैप्र, तैरोव्यञ्जन, पादवृत्त, सविध, विकम्पित। 'उवट' ने इन सबको स्वरित का ही भेद बताया है, परन्तु चतुरध्यायी ने अभिनिहित और प्राश्लिष्ट के लिए स्वरित की चर्चा नहीं की है। जो भी हो, इन आठ नामों का स्वारस्य गवेषणीय है।

६. पाणिनि ने स्वरित के बाद आये अनुदात्त[8] की एकश्रुति की है, पर चतुरध्यायी ने उसकी उदात्तश्रुति की है। चतुरध्यायी ने स्वरित या उदात्त के बाद आये स्वर को अनुदात्त बताया है; पर अष्टाध्यायी ने किसी भी पद में कहीं भी एक स्वर को छोड़ शेष सबको अनुदात्त[9] करार किया है।

७. चतुरध्यायी ने रेफ और षकार के अलावा ऋ को भी णत्व का कारण स्पष्ट रूप से कहा[10] है। पाणिनि ने णत्वविधि में ऋ का ग्रहण नहीं[11] किया है; किन्तु **अप्तृन्**-

---

१. ६।१।९५।
२. ३।९१, ९३, ९४।
३. ८।४।२२ तथा २।
४. ६।१।९४ पर वार्त्तिक।
५. ६।३।१०९।
६. ३।४४, ४५, ४६।
७. ६।१।८७।
८. १।२।३९।
९. ६।१।१५८।
१०. ३।७५।
११. ८।४।१।

तृच ·····प्रशास्तृणाम्[१] में णत्व तथा **तासि च क्लृपः**[२] में; लत्व कर के पाणिनि ने यह दिखा दिया है कि ऋ में र् का अंग सम्मिलित है।

अध्याय ४

चौथे अध्याय में १२६ सूत्र हैं। सूत्र १ से ४६ तक प्रथम पाद, ४७ से ७२ तक दूसरा पाद, ७३ से १०० तक तीसरा पाद तथा १०१ से १२६ तक चौथा पाद है।

इसके प्रथम तीन पादों में पदपाठ तथा चौथे पाद में क्रमपाठ से होनेवाले परिवर्त्तनों का वर्णन है। सूत्र १ और २ में यह बताया गया है कि पदपाठ में इस प्रकार की स्थिति में उपसर्ग और आख्यात की संहिता बनी रहेगी। ३ से ६ तक इसके अपवाद हैं, अर्थात् इन स्थितियों में विग्रह कर दिया जायगा। सूत्र ७ से ४६ तक बताया गया है कि अमुक स्थितियों में अवग्रह द्वारा पद तोड़कर दिखाये जायेंगे। पूरे दूसरे पाद में अवग्रह के अपवाद हैं, अर्थात् इन स्थलों में अवग्रह द्वारा शब्दखण्ड नहीं तोड़े जायेंगे, एक साथ जुटे दिखाये जायेंगे। तीसरे पाद में इसकी चर्चा है कि अमुक स्थलों में पदपाठ-काल में षत्व, णत्व, आदि की समापत्ति हो जायगी, अर्थात् संहिताकाल में संहिता के कारण जो वर्ण-परिवर्त्तन हुआ था, वह पदपाठकाल में मूलरूप में (स् और न् में) परिणत हो जायगा। अन्त में इसके कुछ अपवाद भी हैं। चौथे पाद में क्रमपाठ की आवश्यकता और इसकी रचना के नियम बताये गये हैं।

इस अध्याय से भी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से बहुत-सी बातों पर प्रकाश पड़ता है :

१. चूँकि पदपाठ में पदों का पाठ है, इसलिए सामान्यतः यह समझा जा सकता है कि वैदिक काल में इन्हें पद माना जाता था, यद्यपि असंदेह के लिए बहुत-से पदों का भी अवग्रह छोड़ दिया गया है।

(क) वेदकाल में उपसर्ग और धातु का समास स्वीकृत था, किन्तु उपसर्ग को सम्भवतः क्रियासापेक्षता के कारण स्वतन्त्र पद नहीं समझते थे, अतः उसका अवग्रह नहीं किया जाता था। हाँ, कर्मप्रवचनीय आदि रूपों में प्रादि अव्ययों का स्वतंत्र पदत्व अभीष्ट था। शेष समासस्थलों में सर्वत्र अवग्रह किया जाता था।

(ख) तद्धित प्रत्ययों के पूर्व भी प्रातिपदिक का पदत्व लोगों को विदित था; धा, त्रा, था, तर, तम, मतु, वति, शस्, तातिल्, मात्र, दानीम्, मय, क, जातीय आदि तद्धित प्रत्यय, तथा

(ग) भिस्, भ्याम्, भ्यस् और सुप् इन स्वादि प्रत्ययों के पूर्व भी प्रातिपदिक को लोग पद मानते, समझते थे। अतः यहाँ अवग्रह विहित है। पाणिनि के **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने**[३] का यही आशय है। किन्तु, 'मतुबर्थक' प्रत्यय के पूर्व तकारान्त और सकारान्त शब्दों को

१. ६।४।११।
२. ७।२।६०।
३. १।४।१७।

पद नहीं माना जाता था, उनका अवग्रह वर्जित था—**न तकारसकाराभ्यां मत्वर्थे**। इसी लिए पाणिनि ने भी **तसौ मत्वर्थे**[1] द्वारा इन्हें पद नहीं 'भ' संज्ञक घोषित किया।

(घ) **काम्यच्** आदि नामधातु प्रत्यय भी सुबन्त से होते हैं, अतः इन प्रत्ययों के पूर्व आये शब्द भी पद माने जाते थे, यह सूत्र ४० से समर्थित होता है। पाणिनि भी **सुप आत्मनः क्यच्**[2] कहकर इस प्रकरण के सभी प्रत्यय सुबन्त से ही करते हैं और बाद में **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः**[3] से इस सुप् का लोप कर देते हैं।

(ङ) 'इव' के साथ आये विभक्त्यन्त पद का भी 'इव' के साथ समास स्वीकृत होने लगा था, यद्यपि यहाँ विभक्ति का लोप नहीं होने से समास का कोई स्पष्ट चिह्न नहीं रहता। इसलिए सूत्र ४१ **इवे च** भी यहाँ अवग्रह का विधान करता है। पाणिनि ने 'इव' समास का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु 'कात्यायन' ने **इवेन सह समासो विभक्त्य लोपश्च**[4] स्वीकार किया है।

(च) द्विरुक्ति में भी पूर्वपद के अवग्रह का विधान सूत्र ४० तथा ४४ ने किया है। इसीलिए पाणिनि ने भी द्विरुक्तिस्थल में समासद्भाव माना है—**'कर्मधारयवदुत्तरस्य।'**[5] यहाँ द्विरुक्ति-स्थल में उत्तर पद को 'आम्रेडित' कहा गया है, पाणिनि ने गौरव-चिन्ता छोड़कर यह नाम स्वीकार[6] कर लिया है।

२. जहाँ पूर्वखण्ड के पद रहने पर भी अवग्रह करने में सन्देह या कोई अन्य असुविधा उपस्थित है; वहाँ अवग्रह का निषेध है, जैसे याभिः, ताभिः, यावत्, तावत् आदि स्थलों में अवग्रह करने पर यह असुविधा हो जाती है कि मूल शब्द या और ता समझे जाने लगते हैं, यत्, तत् की प्रतीति नहीं होती। यदि बालकाभ्याम् का अवग्रह किया जाय तो समासत्ति (सूत्र ७४) से सम्भवतः 'अक्षीभ्याम्' से 'अक्षिभ्याम्' की भाँति 'बालकाभ्याम्' भी 'बालकभ्याम्' बन जायगा। ऐसी स्थिति में कोई पदपाठ में याभिः को यभिः, यावत् को यवत् न कहने लगे। अतः इनका अवग्रह वर्जित कर दिया। 'देवताद्वन्द्वे' में भी अवग्रह निषिद्ध कर दिया गया। 'इन्द्राग्नी' आदि स्थलों में यदि इन्द्र+अग्नि लिखा जाय तो दो कठिनाइयाँ हैं—एक तो इनकी अर्धनारीश्वर की तरह अभिलषित युग्मरूपता खण्डित हो जाती है, दूसरे, अवगृहीत शब्द का स्वरूप भी समस्त शब्द से बहुत भिन्न हो जाता है। 'द्यावाभूमी' का 'दिवभूमि', 'अहोरात्र' का 'अहन् रात्रि' 'षोडशी' का 'षष् दशी' (और यहाँ दशी लिखना भी असंगत ही होगा), 'समुद्र' का 'सम् उद्र', 'परीत्त' का 'परि दत्त' 'उद्धित' का 'उद् धात',

१. १।४।१९।
२. ३।१।८।
३. २।४।७१।
४. २।२।१८ पर।
५. ८।१।११; ६ तथा १० भी।
६. ८।१।२।

'जास्पत्य' का 'जाया पत्य' आदि अवग्रह करके दिखाया जाय तो कितना अन्तर पड़ जाता है दोनों में? इसलिए ऐसी जगहों में अवग्रह वर्जित है। संज्ञा-शब्दों में भी इसीलिए अवग्रह नहीं किया जाता था कि अवग्रह करने पर आनुपूर्वी नष्ट हो जाने से उनमें संज्ञात्व ही नहीं रह जायगा। अश्वत्थ, न्यग्रोध, कश्यप आदि में अश्व त्थ आदि कहेंगे तो वह रूढ़ अर्थ कैसे निकलेगा?

३. 'कृत्वस्' को पाणिनि ने एक प्रत्यय[1] माना है, किन्तु चतुरध्यायी ने इसे स्वतन्त्र शब्द स्वीकार किया है। वैसे 'दशकृत्वः' आदि में कृत्वस् को स्वतन्त्र शब्द मानें, तब भी अवग्रह होगा, और तद्धित प्रत्यय मानें तब भी। चाहे इसे समास का खण्ड मानें या तद्धितान्त का, पूर्वखण्ड में पदत्व सुलभ है। टीकाकार ने यहाँ दश उपपद कृ धातु से त्वस् कृत् प्रत्यय माना है। लगता है, कृत्वस् भी पहले कृत्, कार, कर आदि की भाँति नित्यसमासघटक एक स्वतन्त्र शब्द था, पाणिनि ने उसे तद्धित प्रत्ययों में रख लिया। ऐसे और भी कई उदाहरण मिलते हैं, जहाँ स्वतन्त्र शब्द क्रमशः प्रत्यय बन गया है।

४. सूत्र ७४ से तीन बातों का पता लगता है:

(क) क और प से पहले आनेवाले विसर्ग को जब ऊष्म में परिणत करते हैं, तो उसे 'उपाचार' कहते हैं, और स्वर से पहले आये शब्द के अन्त के न् को जब विसर्ग कर लुप्त कर देते हैं, तो उसे आन्पद कहते हैं।

(ख) ऐसा समस्त पद, जिसका पदपाठकाल में अवग्रह किया जा सकता है तथा जो प्रगृह्यसंज्ञक है, जब दुहराया जाकर इति के साथ रखा जाता है, तब उसे चर्चा कहते हैं। क्रमपाठ में ऐसी ही आवृत्ति को परिहार कहते हैं।

(ग) चर्चा और परिहार में षत्व, णत्व, उपाचार, दीर्घ, टुत्व, लोप तथा 'आन्पद' की समासत्ति हो जाती है, अर्थात् शब्दों से ये विकार हट जाते हैं और शब्द अपने पूर्वरूप में आ जाते हैं। जैसे 'वसोष्पते' पदपाठकाल में 'वसोरिति वसोः' हो जायगा, विसर्ग का जो ष् हुआ था, वह समाप्त हो जायगा, फिर विसर्जनीय ही आ जायगा। यह स्थिति **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्ययायः** का ही प्रभाव है। समासत्ति उसी का अनुवादक है।

५. सूत्र ८४ में लिट् लकार के लिए परोक्षा शब्द का और ९१ में प्रेरणार्थक या णिजन्त धातु के लिए कारित शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रातिशाख्य में ऐसी कई सुन्दर संज्ञाएँ मिलती हैं, जिनको लाघवार्थ पाणिनि ने छोड़ दिया है। सूत्र ४६ ने अट् तथा आट् को भूतकरण कहा है, कितना सुन्दर नाम है यह!

६. पूरे चौथे पाद में पदपाठ तथा क्रमपाठ की आवश्यकता तथा इनके नियम बताये गये हैं, किन्तु आरम्भ के ६ सूत्रों में यह बताया गया है कि शरीर-त्याग के बाद जो परम ज्योति में लीन हो जाना चाहते हैं, उनका वेदाध्ययन धर्म है, अवश्य कर्त्तव्य है। वेदों का अध्ययन भी स्वच्छन्द नहीं, याज्ञिकों की परम्परा के अनुकूल करना चाहिए। यज्ञकर्म वेदों

१. संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्, ५।४।१७।

से पृथक् नहीं है। यज्ञ अर्थात् लोकसेवार्थ कर्म में ही सारे लोक प्रतिष्ठित हैं और लोकों में ही पंचविध जन प्रतिष्ठित हैं।

इस प्रकार वेदाध्ययन की महिमा बताकर सूत्र १०७ में यह समझाया गया है कि पद के अध्ययन से एक-एक शब्द का, उसकी प्रकृति (आदि) तथा प्रत्यय (अन्त) का, स्वर का और अर्थ का ज्ञान होता है। अन्तिम सूत्र १०८ का कहना है कि क्रमपाठ के अध्ययन से संहितापाठ तथा पदपाठ—दोनों दृढ़ होते हैं। यहीं यह ग्रन्थ समाप्त हो गया है।

चतुर्थ अध्याय का विषय ही ऐसा है कि इसका कोई भी सूत्र पाणिनि-सूत्र की भाँति नहीं हो सकता था; क्योंकि पाणिनि ने पदपाठ क्रमपाठ के लिए कोई सूत्र नहीं बनाया है। पर चौथे अध्याय को छोड़कर ३ अध्यायों के ३०८ सूत्रों में प्रायः ११४ सूत्र पाणिनितुल्य है, यह प्रमाण है कि चतुरध्यायी कितना अधिक अष्टाध्यायी के साथ सम्बद्ध है।

पूरी चतुरध्यायी में केवल 'शौनक' (१।८ में) तथा 'शाकटायन' (२।२४ में) की ही एक-एक जगह चर्चा है, और किसी आचार्य की नहीं।

अथर्व-प्रातिशाख्य भी अथर्ववेद का ही एक प्रातिशाख्य है, अतः चतुरध्यायी के विस्तृत विवेचन के बाद उसके विवेचन की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती है। यहाँ प्रत्येक वेद के एक-एक प्रतिनिधि प्रातिशाख्य का ही दिग्दर्शन कराया गया है। अथर्व-प्रातिशाख्य बहुत-कुछ चतुरध्यायी-सा ही है। साथ ही इसमें ध्वनिविचार है ही नहीं, अतः ध्वनिविचार के प्रकरण में उसकी विशेष उपयोगिता भी नहीं है।

शिक्षा और प्रातिशाख्य तो वर्णविज्ञान के लिए लिखे ही गये हैं, परन्तु विभिन्न वेदों के परिशिष्टों में भी ध्वनिविज्ञान के बहुत-से तत्त्वों की चर्चा है। वास्तव में इनका क्षेत्र अति विस्तृत है, तथा संग्रहणीय और अध्येतव्य है। भाषाविज्ञान-प्रेमियों को इन सभी ग्रन्थों का मनन करना चाहिए।

उदाहरणार्थं शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के 'प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट' में ३ कण्डिकाएँ हैं। प्रथम कण्डिका में ९ सूत्र हैं; सबमें स्वरविचार है। द्वितीय कण्डिका के प्रथम सूत्र में यह बताया गया है कि इस शाखा में य का ज उच्चारण किया जाता था, जैसे **'युञ्जानः प्रथमम्'** को **'जुञ्जानः प्रथमम्'** कहते थे। बारहवें सूत्र ने 'ष' की जगह 'ख' उच्चारण की अनुमति दी है, जैसे 'इषे त्वा' = 'इखे त्वा'। खड़ीबोली में भी तद्भव शब्दों में य का ज उच्चरित होता है, जैसे यादृश = जैसा, यः = जो, यदा = जब आदि; पर 'ष' का 'ख' उच्चारण हिन्दी में प्रायः नहीं है। तत्सम शब्दों में तो न 'य' का 'ज', न 'ष' का 'ख' उच्चरित होता है। किन्तु मिथिला में तत्सम शब्दों में भी इनका ऐसा ही उच्चारण होता है। वहाँ षष्ठी को खष्ठी, मेष को मेख (मीन-मेख) और योजना को जोजना कहते हैं। इस कण्डिका के तीसरे तथा चौथे सूत्रों में क्रमशः र् तथा ल् के बाद ए स्वरभक्ति के उच्चारण का उल्लेख है, जैसे 'दर्शतम्' का 'दरेशतम्', 'उपवल्हामसि' का 'उपवलेहामसि' आदि उच्चारण

होते हैं। इसमें कुल १२ सूत्र हैं। इसकी तीसरी कण्डिका के कुल छह सूत्रों में विसर्ग तथा अनुस्वार आदि के उच्चारण का उल्लेख है।

इसी तरह शुक्लयजुर्वेद के भाषिक परिशिष्ट-सूत्र में तीन कण्डिकाओं के ७३ सूत्रों में स्वरों का विचार है। परन्तु तृतीय कण्डिका के ग्यारहवें सूत्र में अ + ऋ = अर् का उल्लेख है, 'यत्किंचन + ऋतुषु' = 'यत्किंचनर्तुषु', और बारहवें मेंव लोप का उल्लेख है; जैसे 'द्वौ + इति' = 'द्वाइति' आदि।

पाणिनि और ध्वनिविज्ञान

इस प्रकार संहिता से लेकर वेदांग-काल तक भाषाविज्ञान पर आनुषंगिक रूप से या इसे ही मुख्य विषय बनाकर प्रकाश डालनेवाले विविध ग्रन्थों तथा शाखाओं का संक्षिप्त परिचय देने के बाद पाणिनि-व्याकरण की चर्चा आवश्यक और लाभप्रद हो जाती है। भाषा-विश्लेषण के लिए निर्धारित चार वेदांग शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त तथा छन्द में से शिक्षा तथा उसके ही शाखाभूत प्रातिशाख्य वाङ्मय में से अधिकांश के लुप्त हो जाने तथा अवशिष्ट में भी यत्र-तत्र बहुत मिश्रण हो जाने पर भी, कुछ ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय की झाँकी पिछले पृष्ठों में दी जा चुकी है। व्याकरण वेदांग पर भी, निःसन्देह बहुत-सारे ग्रन्थ बने होंगे; किन्तु पाणिनि-व्याकरण ने '**सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः**' कर अपनी प्रचण्ड किरणों से उनकी आभा को अस्तित्वहीन कर दिया। शिक्षा और प्रातिशाख्य-वाङ्मय से भी पाणिनि को अवश्य ही काफी सहायता मिली होगी। विश्वबन्धु शास्त्री अपने 'अथर्व-प्रातिशाख्य' की भूमिका में तीनों की तुलना कर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "All existing Pratishakhyas are in their present forms, later than Panini, but some have been but little modified, while the others have suffered more. All however belong to a school that existed before Panini invented his system." बर्नेल (Burnell) भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उन्होंने पाणिनि को अपने पूर्ववर्त्ती ऐन्द्र व्याकरण का बहुत ऋणी माना है। पाणिनि ने स्वयं ही इन भाषाविज्ञानियों के नाम लिये हैं—आपिशलि[१], काश्यप[२], गार्ग्य[३], गालव[४], चाक्रवर्मण[५], भारद्वाज[६], शाकल्य[७], शाकटायन[८], सेनक[९] तथा स्फोटायन[१०]। इन नामों के अतिरिक्त भाषाविज्ञानियों की और कई शाखाओं की भी चर्चा अष्टाध्यायी में की गई है; जैसे प्राच्य[११], प्रतीच्य, उदीच्य[१२],

---

१. वा सुप्यापिशलेः ६।१।९२।

२. तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य १।२।२५।

३. तथा ४. अड्गार्ग्यगालवयोः ७।३।९९।

५. ई, चाक्रवर्मणस्य ६।१।१३०।

६. ऋतो भारद्वाजस्य ७।२।६३।

७. लोपःशाकल्यस्य ८।३।१९।

८. त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ८।४।५०।

९. गिरेश्च सेनकस्य ५।४।११२।

१०. अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३।

११. रोपधेतोः प्राचाम् ४।२।१२३।

१२. उदीचां वृद्धादगोत्रात् ४।१।१५७।

आचार्य[1]। इन व्यक्तियों तथा सम्प्रदायों में से अनेक की चर्चा एकाधिक बार आई है। लगता है, पाणिनि पद-पद में अपने मत के समर्थन के लिए तथा विभिन्न आचार्यों के मतों का परिचय देने के लिए अनेक विचारकों की मान्यताएँ देते चलते हैं। अवश्य उस समय दर्जनों वैयाकरण तथा उनके ग्रन्थ या सम्प्रदाय प्रचलित या ज्ञात थे। चूँकि व्याकरण मुख्यतः वाक्य-विज्ञान तथा अर्थविज्ञान हैं, इसलिए पाणिनि ने विशेष ध्यान इन्हीं पर दिया है, किन्तु निरुक्त के प्रतिपाद्य पदविज्ञान पर भी पाणिनि ने वाक्यविज्ञान से कम नहीं लिखा है। साथ ही शिक्षा-प्रतिपाद्य वर्णविज्ञान के लिए पाणिनि ने अपने प्रत्याहार में वर्णसमाम्नाय की चर्चा की है और वर्ण-सन्धि के लिए भी सभी नियम विस्तार से दिये हैं। छन्द का भी उल्लेख पाणिनि ने कर दिया है। इस प्रकार उनके व्याकरण में भाषाविज्ञान के और सब विषयों के अंसों का भी थोड़ा-बहुत प्रतिपादन है।

वर्णमाला :

पाणिनि के प्रत्याहार-सूत्रों की वर्णमाला यहाँ देने के पहले विविध सम्प्रदायों की स्वीकृत वर्णमाला यहाँ एकत्र कर देना तुलना के लिए लाभप्रद होगा। अतः निगम और आगम-स्वीकृत विभिन्न मुख्य मतों के अनुसार प्राचीन भारतीय भाषाओं की ध्वनियों की संख्या नीचे दी जा रही है :—

१. पाणिनीय शिक्षा[2] : अ, आ, आ३, इ, ई ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ ॠ ऋ३, ऌ ॡ ३, ए, ए३, ओ, ओ३, ऐ, ऐ३, औ, औ३ = २२ स्वर। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ; ट ठ ड ढ ण; त थ द ध न; प फ ब भ म = २५ स्पर्श। य र ल व = ४ अन्तस्थ। श ष स ह = ४ ऊष्म। अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय = ४ अयोगवाह। कुं खुं गुं घुं = ४ यम तथा एक दुःस्पृष्ट ळ १। कुल ६४। कोई प्लुत ऌ को नहीं मानते, कोई दुःस्पृष्ट को। उनके मत से ६३ ही वर्ण हैं।

स्वामी दयानन्द[3] ने इनमें से कुं खुं गुं घुं को यम नहीं मानकर ँ ह्रस्व, ँँ दीर्घ ँ अनुनासिक चिह्न तथा दुःस्पृष्ट ळ इन चारों को यम माना है, अतः उनके मत में ६३ वर्ण हैं।

पण्डित रामाज्ञा पाण्डेय[4] ने पाणिनि के मत में ७३ वर्ण माने हैं। उपर्युक्त वर्णों के अतिरिक्त उन्होंने ये वर्ण गिनाये हैं—चतुर्मात्रिक ऐ तथा औ—२, लघुप्रयत्नतर य् और व्—२, उरस्य ह्—१ (पूर्वलिखित ह् कण्ठ्य है), ईषत् स्पृष्ट ऋ ऋ३, ऌ, ऌ३ (पूर्वचर्चित ऋ ऌ विवृत हैं)—४, नासिक्य या हुँ या रङ्ग—१, कुल १०। पाण्डेयजी ने दुःस्पृष्ट की गणना नहीं की है। यदि उसे गिनें तो पाणिनि के मत से ७४ वर्ण हो जायेंगे। पाणिनि-शिक्षा के पञ्जिकाभाष्य में दुःस्पृष्ट की जगह दीर्घ अनुस्वार का उल्लेख है, उसे भी गिन लें तो पाणिनि के अनुसार कुल ७५ वर्ण हो जाते हैं।

१. दीर्घादाचार्यणाम् ८।४।५२।

२. पृ० १०५ से १६२ तक।

३. वर्णोच्चारणशिक्षा का ७ वाँ सूत्र।

४. व्याकरणदर्शन-भूमिका, पृ० ६४।

२. **याज्ञवल्क्य**[1] **शिक्षा** में वर्ण-गणना स्पष्ट नहीं है। इसकी सर्वप्रमुख विशेषता है—सन्ध्यक्षरों को वर्णमाला में स्थान नहीं देना। इस सम्प्रदाय के अनुसार न्यूनाधिक निम्नलिखित वर्ण हैं :—अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ऌ=११। स्पर्श २५। अन्तस्थ=४। ऊष्म श ष स तथा दो ह—५। विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा दो अनुस्वार—५। यम—४। कुल ५४।

३. **ऋक्प्रातिशाख्य :** (क) विष्णुमित्र की वर्गद्वयवृत्ति[2]—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ—१४ स्वर। २५ स्पर्श। ४ अन्तस्थ। श ष स ह—४ ऊष्म। अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय—४ यम। कुल ५१।

(ख) प्रथम पटल[3]—ऊपर गिनाये वर्णों में ऌ ॡ को छोड़कर केवल ४९। किन्तु प्रथम पटल में वर्णमाला में ४९ की ही चर्चा करने पर भी आगे ह्रस्व ॡ[4], प्लुत[5], ई३, कुं खुं गुं घुं चार यम[6], हुँ नासिक्य[7], और ळ तथा ळ्ह का[8] भी उल्लेख हुआ है, अतः ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार ५८ वर्ण हैं।

४. **कृष्णयजुःप्रातिशाख्य :** (क) माहिषेय[9]—अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ—१६ स्वर। स्पर्श—२५। अन्तस्थ—४। ऊष्म—श ष स ह जिह्वामूलीय, तथा उपध्मानीय=६। कुल=५१। किन्तु वर्णमाला-निर्देश के बाद वर्ण-सन्धिप्रकरण में अनुस्वार[10], विसर्जनीय[11] तथा चार[12] यमों की भी चर्चा है। अतः कुल वर्ण ५१+६ =५७ हैं।

(ख) वैदिकाभरणकार ने यम चार नहीं, ५ माने हैं—कवर्गीय, चवर्गीय, टवर्गीय, तवर्गीय तथा पवर्गीय। साथ ही एक स्वरभक्ति को भी वर्णमाला में स्थान दिया है। अतः उनके मत से ५७+२=५९ वर्ण हैं।

(ग) त्रिभाष्यकृत् ने उपर्युक्त ५७ के अलावा ळ, रङ्ग और स्वरभक्ति को भी एक-एक वर्ण माना है, अतः उनके मत में ५७+३=६० वर्ण हैं।

---

१. पृ० १६३ से १७५ तक।
२. पृ० १८३।
३. वहीं।
४. ऋक्प्रा० सू० १।४१।
५. ऋक्प्रा० सू० १।४।
६. ऋक्प्रा० १।५०।
७. ऋक्प्रा० १।४८।
८. ऋक्प्रा० १।५२।
९. पृ० २६५।
१०. तै० प्रा० सू० १।१८।
११. वहीं।
१२. वहीं तथा २।४९, ५०, ५१।

५. शुक्लयजुः[१] प्रातिशाख्य—अ इ उ ऋ ऌ के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद—१५। सन्ध्यक्षरों के दीर्घ और प्लुत भेद—८। इस प्रकार स्वर—२३। स्पर्श—२५, अन्तस्थ—४, ऊष्म—४; इस तरह व्यंजन—३३। अयोगवाह=जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अं यह अनुस्वार, अः यह विसर्जनीय, हुँ यह नासिक्य, कुँ खुँ गुँ घुँ—ये चार यम=९। कुल वर्ण ६५। यदि इनमें ळ और ळ्ह भी जोड़ दें, तो ६७ हो जायेंगे। किन्तु माध्यन्दिन शाखा जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य, दीर्घ ॡ तथा ळ, ळ्ह ये ६ वर्ण नहीं मानती, अतः उसके अनुसार कुल ६१ ही वर्ण होंगे। पाण्डेयजी[२] ने यजुःप्राति० अ० ८, सूत्र २८, २९ तथा ३० के अनुसार[३] इस प्रातिशाख्य में कुल ५५ वर्ण ही माने हैं।

६. सामप्रातिशाख्य[४]—अ इ उ ऋ ऌ के ह्रस्व-दीर्घ भेद—१०, ए ओ ऐ औ दीर्घ—४, कुल स्वर=१४। स्पर्श—२५, अन्तस्थ—४, ऊष्म—४=व्यंजन ३३। अयोगवाह—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, हुम् यह अनुनासिक, कुँ खुँ गुँ घुँ ४ यम, ह्रस्व और दीर्घ दो अनुस्वार—१०। कुल ५७ वर्ण हैं। शाकटायन के मत से पादमात्रिक य् व् भी होते हैं। अतः ५९ वर्ण हुए।

७. अथर्वप्रातिशाख्य[५]—अथर्वप्रातिशाख्य में वर्णों की संख्या निर्दिष्ट नहीं है। चतुरध्यायी में इतने वर्णों की चर्चा है :—अ, कवर्ग, ह तथा विसर्ग—८; जिह्वामूलीय—१; इ, चवर्ग, य और श—८; ऋ, टवर्ग, रेफ और ष—८; ऌ तवर्ग, ल और स—८; ओष्ठ्य (उ, पवर्ग, व, उपध्मानीय ८ ?) तथा नासिक्य (चार यम, अनुस्वार; अनुनासिक—६ ?)—कुल ४७ ?

अथर्वप्रातिशाख्य में वर्णमाला तो नहीं ही है, स्थान-प्रयत्ननिरूपण भी नहीं है कि इतना भी अटकल लगावें। हाँ, स्वर, व्यंजन, ऊष्म की चर्चा बार-बार आई है।

यह तो कुछ निगम-ग्रन्थों की वर्णमाला का उल्लेख हुआ, अब कुछ आगम-ग्रन्थों में स्वीकृत वर्णमाला का भी दिग्दर्शन कराना उचित होगा—

८. वैष्णवतन्त्र—अहिर्बुध्न्यसंहिता[६] :—मूल स्वर—अ आ इ ई उ ऊ—६। सन्धिज स्वर—ऋ ॠ ऌ ॡ ३, ए ए३ ओ ओ३—८। स्पर्श २५। अन्तस्थ—४।

---

१. पृ० ३०८।

२. व्याकरणदर्शन-भूमिका, पृ० ८०-८१।

३. त्रयोविंशति रुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः : द्विचत्वारिंशद् व्यञ्जनानि एतावान् वर्णसंग्रहः—यजुःप्रा० ८।२८। तस्मिँल् ळ्हजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम्—यजुः प्रा० ८।२९। ऌकारो दीर्घः प्लुताश्चोक्तवर्जम्—८।३०।

४. पृ० ३२६।

५. व्याकरणदर्शन-भूमिका, पृ० ८८।

६. सोलहवाँ अध्याय।

ऊष्म—श ष स ह क्ष—५। विन्दु या अनुस्वार और विसर्ग—२। कुल ५०। याज्ञवल्क्यशिक्षा की तरह इसने भी ५ ऊष्म माने, परन्तु याज्ञवल्क्य ने उसका नाम छ दिया था, अहिबुंध्न्य ने क्ष। ऐ औ की यहाँ चर्चा ही नहीं की, सम्भवतः इन्हें एक नहीं, संयुक्त वर्ण माना (सन्धिज नहीं, संयुक्त)। और ऋ ॡ को भी समान नहीं, सन्धिस्वर कहा।

९. **शैवशाक्ततन्त्र**[1]—अ इ उ ऋ ऌ। आ ई ऊ ॠ ऌ३। ए ओ ऐ औ अं अः। कुल १६ स्वर। २५ स्पर्श, ४ अन्तस्थ और ५ ऊष्म श ष स ह क्ष=३४ व्यंजन। कुल वर्ण ५०।

१०. **तन्त्रालोक**[2] :—इसमें इतने ही वर्ण भङ्ग्यन्तर से वर्णित हैं। उसके अनुसार भी ५० ही वर्ण हैं (ऊपर बताये हुए)।

११. **मातृकाचक्रविवेक**[3]—इसमें उपर्युक्त ५० वर्णों के अतिरिक्त ळ भी माना गया है, जिससे कुल ५१ वर्ण हो गये हैं।

पाण्डेयजी ने निम्नलिखित सम्भाव्यमान[4] वर्ण बताये हैं, अर्थात् यदि सभी भाषावैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का योग कर दिया जाय तो वर्णों की निम्नलिखित संख्या होगी :

(क) अ, इ, उ, ऋ के ह्रस्व, दीर्घ प्लुत भेद—१२। ऌकार ह्रस्व और प्लुत—२। ए ओ ऐ औ दीर्घ और प्लुत—८। ईषत् स्पृष्ट ऋ ॡ दीर्घ और प्लुत—४। चतुर्मात्रिक ऐ औ—२=२८ स्वर। २५ स्पर्श। अन्तस्थ और ऊष्म ८। अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, तथा ४ यम=८। दीर्घ अनुस्वार, दुःस्पृष्ट ळ, हुम् यह नासिक्य, उरस्य हकार, पादमात्रिक य् तथा व् ६। कुल=४७। २८ स्वर और ४७ शेष वर्ण, कुल मिलाकर ७५। यदि इसमें एकमात्रिक ए ओ, ळ्ह, रङ्ग, स्वरभक्ति, एकमात्रिक ङ भी जोड़ दें तो ८१ हुए। यदि इसमें पादमात्रिक ह् तथा अष्टमांश मात्र ह् को भी जोड़ दें तो ये ८३ हो गये। इस प्रकार पाण्डेयजी ने ८३ सम्भाव्यमान वर्ण माने हैं।

किन्तु इनमें निम्नलिखित वर्णों का योग नहीं किया है, यद्यपि ये कहीं-न-कहीं स्वीकृति पा चुके हैं :—(१) दीर्घ ॡ—१। (२) अर्धमात्रिक पूर्वोत्तर सवर्णरूप स्वरभक्ति—अ, इ, उ—३। (३) ऋ ॡ का अणुमात्रिक स्वरभक्ति=२। (४) क्ष—१। (५) दयानन्द-प्रतिपादित ꣲ ह्रस्व तथा ꣳ दीर्घ (ह्रस्व ग्वुं, दीर्घ ग्वुं)=२। इन नवों को भी मिला दें तो वर्णों की संख्या ६२ तक पहुँच जायगी।

परन्तु पाणिनि ने अपने प्रत्याहार[5] सूत्रों में वर्णमाला को एक नया रूप, नई दृष्टि दी। अष्टाध्यायी की वर्णमाला यह है :—

---

१. व्याकरणदर्शन-भूमिका, पृ० १०३।

२. वहीं।

३. व्याकरणदर्शन-भूमिका, पृ० १०६।

४. व्याकरणदर्शन-भूमिका, पृ० ६५-६६।

५. अ इ उ ण्। ऋ ऌ क्। ए ओ ङ्। ऐ औ च्। ह य व र ट्। लण्। ञ म ङ ण न म्। झ भ ञ्। घ ढ ध ष्। ज ब ग ड द श्। ख फ छ ठ थ च ट त व्। क प य्। श ष स र्। हल्।

(१) अ इ उ। (२) ऋ ऌ। (३) ए ओ। (४) ऐ औ। (५) ह य व र। (६) ल। (७) ञ म ङ ण न। (८) झ भ। (९) घ ढ ध। (१०) ज ब ग ड द। (११) ख फ छ ठ थ च ट त। (१२) क प। (१३) श ष स। (१४) ह्। अर्थात् पाणिनि ने अपने प्रत्याहार-सूत्रों में कुल ९ स्वर तथा ३४ व्यंजनों को ही स्वतन्त्र वर्ण माना है। कहाँ ये ४३ वर्ण और कहाँ ऊपर गिनाये ८३ या ९२ वर्ण। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

अर्धमात्रिक, एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक होने से वर्ण में भेद नहीं होता। यदि इससे भिन्नता मानी जाय, तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा अनुनासिक, अननुनासिक के भेद से भी भिन्नता क्यों नहीं मानी जाय ? 'सिद्धान्तकौमुदी' ने तो उपर्युक्त गुणों के कारण अ, इ, उ, ऋ प्रत्येक के १८-१८ भेद तथा ऌ, ए, ओ, ऐ औ के १२-१२ भेद गिनाये हैं। तब तो इतने ही में स्वरों के १३२ भेद हो गये। अतः वर्णों की गणना में जातिपक्ष लेना चाहिए, व्यक्तिपक्ष नहीं। अकारत्व जाति सब अकारों में है, ह्रस्वत्व आदि, उदात्तत्व आदि, आनुनासिक्य आदि से व्यक्ति या उपजाति में अंतर आता है, जाति में नहीं। वर्णों में भेद के स्रोत केवल इतने ही नहीं हैं। यदि व्यक्तिपक्ष माना जाय, तो वर्णों की इयत्ता ही नहीं निर्धारित हो सकती। स्वरों में ऊपर बताये गये भेद तो जातिकृत ही हैं, व्यक्तिकृत भेद तो स्वरों और व्यंजनों में भी अनन्त हैं। उदाहरणार्थ क् एक कण्ठ्य वर्ण है; यह कहने से काम नहीं चल सकता। किसी भी वर्ण का उच्चारण आगे या पीछे आनेवाले वर्णों के सान्निध्य के और भिन्न क्षेत्रीय तथा भिन्नयुगीय विलक्षण प्रवृत्तियों के कारण अपने मूल केन्द्रीय स्थान से इधर-उधर हटकर शतविध हो सकता है। अ का उच्चारण उत्तरप्रदेश में आ की भाँति, बिहार में अ की भाँति तथा बंगाल में ओ या औ की भाँति होता है। उत्तरप्रदेश में पढ़ते हैं—का खा गा घा, बिहार में क ख ग घ और बंगाल में को खो गो घो। अरविन्द को बंगाली लोग 'औरोविन्दो' कहते हैं। ऋ को दिल्ली के निकट र, बिहार में रि तथा उड़ीसा में रु कहते हैं, इसीलिए गृह का उच्चारण इन क्षेत्रों में क्रमशः 'ग्रह' 'ग्रिह' और 'ग्रुह' होता है। अमृत का अम्रत, अम्रित, अम्रुत। कवर्ग, चवर्ग तथा टवर्ग का उच्चारण आज ठीक उसी भाँति नहीं हो रहा है, जिस भाँति हजारों वर्ष पहले होता था। स्थान, करण, प्रयत्न में कुछ-न-कुछ अन्तर पड़ता रहता है। चवर्ग पहले संघर्षी नहीं था, आज वह थोड़ा संघर्षी भी हो गया है। साथ ही इन तीनों वर्गों का उच्चारण-स्थान कुछ आगे की ओर खिसक आया है। कवर्ग तालव्य और टवर्ग वर्त्स्य-सा बन गया है। हिन्दी के टवर्ग से अँगरेजी का टवर्ग भी थोड़ा भिन्न हो गया है। इन क्षेत्रीय तथा भिन्नयुगीय ध्वनिभेदों के कारण ही प्रातिशाख्यों और शिक्षाओं में वर्णों के स्थान-करण-प्रयत्नादि विचार में भिन्नता दिखाई देती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति का क उच्चारण दूसरे सभी व्यक्तियों के क से, बल्कि उसका अपना ही एक बार का उच्चरित क दूसरे क्षणों में उच्चरित क से भिन्न होगा। हर व्यक्ति का हर बार का क परस्पर भिन्न होगा; क्योंकि कम-से-कम ध्वनि की कम्पन-संख्या तो भिन्न हो ही जायगी, यह भाषाविज्ञानियों का मत

है। अतः इन सब वर्णव्यक्तियों को लिपिबद्ध करना या इनका परस्पर विश्लेषण करना असम्भव-सा है। पाणिनि ने इसे समझा और उन्होंने वर्णव्यक्तियों भाषाध्वनियों (Speech sounds) का अध्ययन-विश्लेषण-वर्गीकरण कर उनमें अनुस्यूत वर्ण-जातियाँ (ध्वनितत्त्व = ध्वनिग्राम = ध्वनिश्रेणी = ध्वनिमात्र = Phonemes) निकाल लीं। वर्ण-समाम्नाय में ये ध्वनितत्त्व ही निर्दिष्ट हैं। मात्रा, स्वर आदि के भी परिवर्त्तन से ध्वनितत्त्व में परिवर्त्तन नहीं माना जाता, इसलिए पाणिनि ने वर्णसमाम्नाय में मूल स्वर ९ ही माने। अ इ उ के अर्धमात्रिक या पादमात्रिक रूप भी इन्हीं से गतार्थ हो जायेंगे, तथा सन्ध्यक्षरों के एकमात्रिक या चतुर्मात्रिक रूप भी यहाँ तक कि ऋ ऌ से एकमात्रिक द्विमात्रिक की भाँति ईषत्स्पृष्ट ऋ ऌ का भी ग्रहण हो जायगा; क्योंकि ईषत्स्पृष्ट = ईषद्विवृत = विवृत। विवृत ऋ ऌ में भी र् ल् का तो अंश है ही, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, और तदनुरूप थोड़ी ईषत्स्पृष्टता का रहना भी अनिवार्य है। वैसे भी कई प्रातिशाख्य और शिक्षा सब स्वरों को समान रूप से विवृत नहीं मानते, ए ओ को विवृततर, ऐ औ को विवृततम कहते ही हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कि उत्तरप्रदेश, बिहार तथा बंगाल में अ की समान रूप से विवृतता नहीं रहती, फिर भी अ के ग्रहण से सबका ग्रहण हो जाता है। पाणिनि ने तो अ को प्रयोग-दशा में संवृतता[1] की छूट ही दे दी है। फिर भी, वे अ तथा आ में एक ध्वनितत्त्व स्वीकार करते हैं; क्योंकि अस्पृष्टता तो दोनों में है। इसी भाँति विवृत ऋ ॡ तथा ईषत्स्पृष्ट ऋ ॡ तत्त्व है। ऋक्प्रातिशाख्य और सामप्रातिशाख्य ने प्लुतों की गणना नहीं करके यही संकेत दिया था कि उनमें पृथक् ध्वनि-तत्त्व नहीं हैं। पाणिनि ने एक सोपान आगे बढ़कर कहा कि दीर्घ स्वरों में भी ह्रस्ववाला ही ध्वनितत्त्व है, भिन्न नहीं।

वास्तव में यह प्रश्न थोड़ा विवादास्पद है। आ की जाति अ से भिन्न लगती है। आ केवल अ का द्विमात्रिक रूप नहीं लगता। आ का एकमात्रिक रूप भी कविताओं में प्रयुक्त होता है। जैसे—**कुरुराज**[2] **का देख प्रताप बता सच प्राण क्या तेरे नहीं चलते थे।** इस कविता के प्रवाह में सवैया छन्द में पहला, तीसरा, चौथा तथा पाँचवाँ आ द्विमात्रिक है और दूसरा **का** वाला 'आ' तथा छठा **क्या** वाला 'आ' एकमात्रिक। इसी भाँति इस चरण के प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ तथा पंचम 'ए' द्विमात्रिक और तृतीय **रे** वाला ए एकमात्रिक है। इस छन्द में लगातार १५ सगण तथा अन्त में एक यगण आता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में ह्रस्व ए ओ को तो छन्दोगों की सात्यमुग्रि[3] राणायनीय शाखा में प्रयुक्त माना है, पर एक तो वे ए ओ अकार स्थानीय उच्चारण-मात्र हैं, वास्तविक ए ओ नहीं; दूसरे, पतञ्जलि ने उन्हें मान्यता नहीं दी। स्पष्ट घोषणा कर दी कि लोक या वेद में कहीं भी एकमात्रिक ए या ओ नहीं है। किन्तु आ की एकमात्रिकता की तो कहीं भी चर्चा नहीं है। परिनिष्ठित संस्कृत में जहाँ-कहीं द्विमात्रिक ए ओ पर से बलाघात हटने के कारण उनमें ह्रस्वता आई है,

१. अ अ ८।४।६८।

२. कुरुक्षेत्र, पंचम सर्ग।

३. ए ओङ् सूत्रस्थ भाष्य।

वहाँ उनके स्थान में क्रमशः इ उ ही हुए हैं, एकमात्रिक ए ओ नहीं। पाणिनि का **एच इग्घ्रस्वादेशे** यही बता रहा है। ऐ औ का भी जब ह्रस्व होता है, तब क्रमशः इ उ ही होते हैं, एकमात्रिक ए ओ नहीं। 'सेव्' का 'सिषेवे', 'लोक्' का 'लुलोके', 'रै' का 'अतिरी', 'ढौक्' का 'डुढौके' आदि स्थलों में ए ऐ का ह्रस्व इ तथा ओ औ का ह्रस्व उ ही देखे जाते हैं। विपरीत उदाहरण तो पर्याप्त मिलते हैं। इ का गुण से ए, वृद्धि से ऐ होता है तथा उ का गुण से ओ, वृद्धि से औ होता है। जैसे 'नी' से 'नीति', 'नेता', 'नैतिक'; 'विद्' से 'वेद', 'वैदिक'; 'शुच्' से 'शोक', 'शौच' तथा 'मूल' से 'मौलिक' आदि पर्याप्त उदाहरण हैं। ए ओ भी वृद्धि से ऐ औ बनते हैं, जैसे केवल से कैवल्य, लोक से लौकिक आदि। इससे यही प्रतीत होता है कि ई, ए तथा ऐ—तीनों का एकमात्रिक रूप इ और ऊ, ओ तथा औ—तीनों का एकमात्रिक रूप उ है। अर्थात् एकमात्रिक इ उ के दीर्घ द्विमात्रिक ई ऊ, गुण द्विमात्रिक ए ओ तथा वृद्धि द्विमात्रिक ऐ औ हैं। ई ऊ में इ उ केवल अधिक लम्बे कर दिये गये, ए ओ में इ उ अ से गुणित किये गये और ऐ ओ में इ उ अ से गुणित ही नहीं, साथ ही वर्धित भी किये गये। इसीलिए परिनिष्ठित हिन्दी में भी ए तथा ऐ दोनों का ह्रस्व इ ही होता है। जैसे 'सीखना' का प्रेरणार्थक 'सिखाना' होता है, वैसे 'देखना' का 'दिखाना' और 'बैठना' का 'बिठाना'। 'पीटना' का प्रेरणाहीन रूप जिस तरह 'पिटना' बनता है, उसी तरह 'देखना' का 'दिखना' और 'तैरना' का 'तिरना'। इसी प्रकार 'सोना' और 'रोना' के प्रेरणार्थक 'सुलाना', 'रुलाना' और 'खोदना' तथा 'पोंछना' के प्रेरणाहीन रूप 'खुदना', 'पुँछना' (खोलना-खुलना, धोना-धुलना, रोकना-रुकना आदि) आदि में यह स्पष्ट है कि सन्ध्यक्षरों का भी ह्रस्व परिनिष्ठित हिन्दी में इ या उ ही होता है। हिन्दी-व्याकरण की यही प्रवृत्ति है। हाँ, बोलियों में ह्रस्व ए ओ भी देखा जाता है, जैसे भोजपुरी में 'देखना' का 'देखाना', 'रोना' का 'रोआना' होता है, 'दिखाना', 'रुलाना' नहीं। और आ का एकमात्रिक रूप तो भोजपुरी में भी नहीं मिलता। भागना, छानना, जानना, लादना, बाँधना, हाँकना आदि के प्रेरणार्थक खड़ीबोली या भोजपुरी दोनों में भगाना, छनवाना, जनाना, लदवाना, बँधवाना, हँकवाना आदि ही होंगे। खड़ीबोली की कविताओं में तो ए ओ ही नहीं, आ, ई, ऊ, ऐ, औ भी एकमात्रिक किये जाने लगे हैं। कवियों ने पहले भी निरंकुशता की है, परन्तु व्याकरण ने कालिदास के प्रमाद का भी समर्थन नहीं किया है। **उठो-उठो[1] कुरीतियों की राह तुम भी रोक दो**—इस काव्य-पंक्ति में 'की' और 'भी', 'कि' और 'भि' की तरह स्पष्ट उच्चरित हो रहे हैं। ई और ऊ की एकमात्रता की कल्पना भी हम नहीं कर सकते, पर छन्द के अनुरोध से कवि लोग वह भी कर बैठते हैं।

अपकर्म किये जिसके हित[2] अंक में आज उसे भरता नहीं क्यों है ?
ठुकराता है जीत को क्यों पद से, अब द्रौपदी से डरता नहीं क्यों है ?

---

१. सामधेनी : दिनकर।

२. कुरुक्षेत्र : पंचम सर्ग : दिनकर।

कुरुराज की भोगी हुई इस सिद्धि को, हर्षित हो वरता नहीं क्यों है ?
कुरुक्षेत्र विजेता, बता निज पाँव, सिंहासन पै धरता नहीं क्यों है ?

इस कविता में सभी चिह्नित स्थलों में लघु वर्ण होना चाहिए, अतः इसमें आ, ई, ए, ओ, ऐ का एकमात्रिक उच्चारण है। बल्कि एकमात्रिक का भी द्विमात्रिक उच्चारण छन्द के लिए करते हैं। जैसे—**नीरवता नूपुर बजाते**[1] में 'नूपुर' पढ़ने से ही मात्रा ठीक बैठती है, अतः यहाँ ह्रस्व को भी दीर्घ की भाँति पढ़ा जाता है और **यदि भटककर मैं कहीं आ जाऊँ तो दोषी न कहना**[2] में दीर्घ 'ऊँ' ह्रस्व पढ़ा जाता है। शास्त्र इसे मान्यता नहीं देता है, केवल इसका विश्लेषण कर वस्तुस्थिति बता देता है। अतः एकमात्रिक ए ओ भी पार्षद-कृति है, सैद्धान्तिक रूप नहीं। इसका मानक रूप द्विमात्रिक ही है। इसी तरह स्वरभक्ति या अवग्रह में कोई अ, इ या उ में एक से कम ही मात्रा रखता है, तो शास्त्र उस उच्चारण को स्वतन्त्र पूर्ण वर्ण नहीं मानता। 'धर्म' और 'कर्म' के उच्चारण में र् तथा म के बीच तनिक भी ठहराव नहीं करनेवाले तथा अत्यल्प भी स्वरांश की ध्वनि नहीं आने देनेवाले भी बहुत हैं, और 'धरम' तथा 'करम' कहकर पूरा एकमात्रिक उच्चारण करनेवाले भी बहुत हैं। इन दोनों के बीच स्वरभक्ति की अनेकविध मात्राओं का भी उच्चारण करनेवाले व्यक्ति पर्याप्त हैं। शास्त्र प्रत्येक के उच्चारण-दोष को मान्यता देकर मानक रूप नहीं मान सकता। वह तो सबों का ध्वनितत्त्व लेकर बना देगा। ऐ औ की चार मात्राएँ हो जाने से उन्हें स्वतन्त्र वर्ण मानना भी निरर्थक[3] है। पिछले पृष्ठों में बता आये हैं कि संगीत के राग के आलाप में तथा पुकारने में स्वरों की मात्राएँ ८-९ इकाइयों तक पहुँच जाती हैं। कहाँ तक स्वरों के विभेद बताते रहेंगे ? पाणिनि ने इन सब विभाषाओं, भाषाओं तथा गद्यों और पद्यों में अगणित प्रकार से उच्चरित वर्णों को देख-समझकर ही उनकी जातियों या ध्वनितत्त्वों का निश्चय किया। जैसे संगीतशास्त्र में लक्षविध श्रुतियों के होने पर भी मूल मानक स्वर ७ माने गये, तार मध्यम-कोमल के भेद से गाने में इसके १२ रूप ही आधार बनाये गये और अलंकार के लिए भी ऊपर से और ८ श्रुतियों को वाद्यों में स्थान मिला। २० से अधिक श्रुतियों को वाद्यों में मान्यता नहीं मिली है। इसी तरह पाणिनि के प्रत्याहार में उल्लिखित वर्ण ही पूर्ण स्वतंत्र वर्ण माने गये हैं, शेष श्रुतियाँ मात्र हैं। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य, यम, स्वरभक्ति आदि सभी ध्वनियाँ पूर्ण वर्ण नहीं; अवान्तर श्रुतियाँ-मात्र हैं।

इतना ही नहीं, उन्होंने और भी गम्भीरता तक अवगाहन कर इन वर्णों तथा स्वरों का क्रम भी वैज्ञानिक रखा। उनको वर्ण-समाम्नाय में सर्वप्रथम इसलिए रखा कि अ ही व्यापकतम वर्ण तथा स्वर है। अ का स्थान आचार्यों ने संपूर्ण मुख[4] ही माना है। लगता

---

१. हंसकुमार तिवारी की 'अनुभूति' कविता।

२. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २३ अगस्त, १९५९ ई०।

३. पाणिनि ने भी ८।२।१०६ से चतुर्मात्रिक ऐ औ को मान्यता दी है, पर उन्होंने इसे भी त्रिमात्रिक की श्रेणी में ही रखकर प्लुत नाम ही दिया है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के अतिरिक्त एक चौथा भेद नहीं माना है। (१।२।२७)

४. दयानन्दीय पाणिनिशिक्षा, सू० २६ 'सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके'।

है, हर वर्ण के उच्चारण में अ का उच्चारण अनुस्यूत है। इसीलिए नागरी ही नहीं, अरबी तथा रोमन-वर्णमाला में भी अ को वर्णमाला में प्रथम स्थान प्राप्त है। मनु ने तो अकार को प्रणव का सार, ऋग्वेद[1] का सार तक कह दिया है। नागरी ने सब स्वरों की मात्राएँ बनाईं, जैसे इ=ि, ई=ी, उ=ु, ऊ=ू, ऋ=ृ, ॠ=ॄ, ए=े, ऐ=ै, ओ=ो, औ=ौ। परन्तु, अ के लिए कोई मात्रा नहीं बनी; क्योंकि वह अमेय है। विना अ के मिले नागरी के सभी व्यञ्जन अपूर्ण माने गये हैं, 'कवि' शब्द में 'क' को पूरा और 'भक्त' शब्द में 'क' को आधा कहा जाता है। अरबी ने तो केवल अ को ही वर्णमाला में स्थान दिया है, शेष स्वरों के लिए केवल ज़ेर, ज़बर, पेश आदि मात्राएँ रखी हैं, स्वतन्त्र वर्ण नहीं। ध्वनि-परिवर्तन में सभी स्वरों के स्थान में अ तथा अ के स्थान में सभी स्वर हो जाते हैं। कारण यह है कि अ सब स्वरों में अनुस्यूत है। ए ऐ ओ औ में तो प्रथमांश 'अवर्ण' है ही, ऋ में भी अ का अंश अवश्य छिपा है, तभी तो ऋ का गुण अर् और वृद्धि आर् होती है; जैसे—'वृष्' का 'वर्षण', 'ऋषि' का 'आर्ष' आदि। इ और उ में भी अ का अंश छिपा है। इसीलिए गुण तथा वृद्धि करने पर इ का ए और ऐ तथा उ का ओ और औ होता है। जैसे—मैग्निफाइंग ग्लास से देखने पर छोटे जीव भी दिखाई पड़ने लगते हैं, उसी भाँति गुण या वृद्धि करने पर ही इ उ में छिपा अ दिखाई पड़ता है। अ का गुण तो होता ही नहीं, पर दीर्घ करें या वृद्धि, उसका आ ही बनता है, अन्य किसी भी स्वर से अमिश्रित। ए ऐ का ह्रस्व इ, तथा ओ औ का ह्रस्व उ होना भी यही प्रमाणित कर रहा है कि इ, उ में थोड़ा अ का अंश अवश्य छिपा है। किसी भी स्वर में गुण करें या वृद्धि, अ की शरण लेनी ही पड़ती है। अ के विना सभी स्वर गुणहीन तथा वृद्धिहीन हैं। इ का ए=अ+इ, ऐ=आ+इ (या अ+ए), उ का ओ=अ+उ, औ=आ+उ (या अ+ओ), ऋ का 'अर्' और 'आर्' तो स्पष्ट ही अवर्ण से युक्त है। इस भाँति स्पष्ट है कि सभी वर्णों में, सभी स्वरों में प्रधान अ है। संस्कृत में सर्वाधिक प्रयुक्त स्वर यही है। नन्दिकेश्वर ने कहा है "**अकारः सर्ववर्णास्यः प्रकाशः परमेश्वरः** और फिर 'ऐतरेय आरण्यक[2]' की घोषणा है—**अकारो वै सर्वा वाक्, सेषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति**। अर्थात्, सब वाणी अकार-स्वरूप ही है। यह अ ही विविध स्पर्श तथा ऊष्म से व्यज्यमान होकर नाना वर्णों में परिणत होता है। अ का स्थान भी कण्ठ है, जो स्थानों में सर्वप्रथम है। इन सब कारणों से अ को वर्णमाला में प्रथम स्थान दिया गया है।

अ के बाद क्रमशः इ तथा उ को जगह मिली। अ का स्थान कण्ठ, इ का तालु तथा उ का ओष्ठ है। अतः इन तीनों में स्थानक्रम से यही पौर्वापर्य उचित है। ऋ और ऌ के स्थान यद्यपि ओठ से पूर्ववर्त्ती है, मूर्धा और दन्त; किन्तु ये दोनों पूर्णतः समानाक्षर नहीं हैं। ऋ और ऌ में र् तथा ल् का और स्वरभक्ति का अंश मिला है। ये वास्तव में सन्धिज या मिश्र

---

१. "अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः,वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च"
—मनुस्मृति, अ० २, श्लोक ७६।

२. २।३।६।

स्वर हैं, जिनमें स्वर और व्यंजन दोनों के अपूर्ण भाग मिले हैं—स्वरभक्ति तथा व्यंजनभक्ति। ऋ में र् का अंश मिला है, यह पाणिनि को भी स्वीकार है। यह पाणिनि के **प्रशास्तृणाम्**[१] **क्लृपः**[२] आदि निर्देशों से स्पष्ट है, यह कह आये हैं। साथ ही इ उ सन्ध्यक्षरों में भी मिश्रित हैं, अतः ये ऋ लृ से अधिक व्यापक हैं। इसलिए पहले तीन समानाक्षरों को एक पंक्ति में रखा गया, उनमें भी महत्व, आधिक्य तथा उच्चारणस्थान के पौर्वापर्य से अ, इ, उ—यह क्रम रखा गया है। फिर अपूर्ण स्वर तथा अपूर्ण व्यंजन भागों से बने सन्धिज स्वरों ऋ और लृ दो को ही पृथक् एक पंक्ति में बिठाया। सन्ध्यक्षरों से पहले इन्हें इसलिए रखा कि ये सदा अपूर्ण खण्डों से ही बनते हैं, एक ही स्थान से उच्चरित होते हैं; इसीलिए कुछ आचार्यों[३] ने इन्हें समानस्वरों में ही गिना है। इन दोनों में भी अधिक प्रयुक्त ऋ को पहले, अल्पप्रयुक्त लृ को बाद में रखा। साथ ही लृ में भी ऋ का अंश, स्वरभाग वर्त्तमान है, और उच्चारण-स्थान भी लृ का ऋ के बाद ही पड़ता है। ऋ में रेफभक्ति से मिश्रित जो स्वरभक्ति है, वह अ, या इ, या उ तीनों का अस्पष्ट एकीभूत रूप है, यह पहले कह आये हैं। तभी 'गृह' को उत्तरप्रदेश में 'ग्रह', विहार में 'ग्रिह', उड़ीसा में 'ग्रुह' जैसा बोलते हैं। पाणिनि ने भी ऋ के स्थान में अर्[४] इर्[५], तथा उर्[६]—तीनों का विधान किया है; जैसे 'हृ' का 'हरति' और 'जहार' तथा 'कृ' का 'किरति' एवं 'मृ' का मुमूर्षति' या 'दातृ' का 'दातुः'। तद्भवों में भी ऋ के स्थान में ये तीनों विकार देखे जाते हैं; जैसे 'कृत्' का 'काट', 'मृत्ति' का 'मट्टी' या 'माटी', 'पृष्ठ' का 'पीठ', 'मृष्ठ' का 'मीठ', 'पृच्छ' का 'पूछ', 'भृज्ज' का 'भूँज' आदि। इसलिए पहले अ इ उ एक जगह, फिर ऋ लृ दूसरी पंक्ति में। इसके बाद सन्ध्यक्षरों को स्थान मिला। सन्ध्यक्षर सभी द्विमात्रिक ही होते हैं, और द्विस्थानीय होते हैं। अ इ उ ऋ लृ एकमात्रिक तथा एक स्थानोच्चार्य हैं। ऋ लृ के खण्ड सदा अपूर्ण ही होते हैं, परन्तु सन्ध्यक्षर दो पूर्ण वर्णों के योग से भी बनते हैं। जैसे—सुर+इन्द्र, सूर्य+उदय, एक+एक, परम+ओषधि आदि में अ+इ=ए, अ+उ=ओ, अ+ए=ऐ तथा अ+ओ=औ बने हैं। महाभाष्य में भी ऋ लृ और सन्ध्यक्षरों के बीच यह भेद माना गया है कि ऋ लृ के खण्ड व्यपवृक्त, विभाज्य नहीं, जबकि सन्ध्यक्षरों के खण्ड व्यपवृक्त[७] हैं। साथ ही ये सन्ध्यक्षर चाहे जितना भी परस्पर मिलकर एक ही लें, कभी-कभी ऐसा अवसर आ जाता है कि इन्हें दूध-पानी की तरह अलग भी हो जाना पड़ता है। जैसे—'**एचोऽप्रगृह्यस्य०**'[८] से प्लुतविधान के समय

---

१. ६।४।११।

२. १।३।९३।

३. ऋक्प्रा० १।१।

४. ७।४।६६।

५. ७।१।१०२।

६. ७।१।१११ या ६।१।१११।

७. "यद्यपि रेकात् परं भक्तेः न तत् क्वचिदपि व्यपवृक्तं दृश्यते", तथा "क्व च व्यपवर्गोऽस्ति, सन्ध्यक्षरेषु"—ए ओङ् सूत्रस्थ भाष्य।

८. ८।२।१०७।

अवर्णांश तथा इवर्ण और उवर्ण भाग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, 'गृहे' का 'गृहा ३ इ', 'पटो' का 'पटा ३ उ'। बल्कि अयादि सन्धि का यदि विश्लेषण किया जाय तो वहाँ भी यही प्रक्रिया काम करती मिलेगी। ने+अनम् यहाँ पहले ए दो भागों में फट जाता है—न्+अ+इ+अनम्, फिर इ का यण् हो कर 'नयनम्' बनता है। अतः ऋ और ऌ के बाद सन्ध्यक्षरों को रखा गया है।

इन चारों में भी ए ओ को पहले रखकर एक अलग पंक्ति बनाई गई। ए ओ को क्रमशः इ उ के तुल्यस्थान बहुतों ने माना है। महाभाष्य में भी इसका उल्लेख[1] है और कई प्रातिशाख्यों[2] का भी यह मत है, जिसे पहले बतला आये हैं। साथ ही ए ओ से ऐ औ अधिक[3] विवृत हैं। कुछ शाखाओं में ए ओ ह्रस्व[4] भी माने जाते हैं, परन्तु ऐ औ को किसी ने ह्रस्व नहीं माना है। ऐ औ ए ओ के भी विवृद्ध रूप हैं, तभी तो 'देव' से 'दैविक' 'लोक' से 'लौकिक' बनता है। ऐ तथा औ का मिश्रण भी ए ओ की अपेक्षा अधिक व्यपवृक्त है, यह स्वसंवेद्य है। ए ओ में मिश्रण ऐसा है कि ये मूलवर्णवत् ही प्रतीत होते हैं; पर ऐ औ में तो दो भिन्न ध्वनियाँ स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं। लोक-भाषाओं में तो इन्हें सचमुच व्यपवृक्त कर ही बोलते हैं—बइठीं (बैठिए), गउरी (गौरी) आदि। ऐ औ का अ ए ओ से दीर्घ भी है, तभी ए ओ के स्थान में अय् अव् पर ऐ औ के स्थान में आय् आव् होते हैं। इसलिए ए ओ से ऐ औ को भिन्न श्रेणी में तथा बाद में स्थान देना उचित ही है। इन दोनों युग्मों में भी, जिनमें अ और इ का मिश्रण है, उन्हें पहले तथा जिनमें अ और उ का मिश्रण है उन्हें बाद में रखा—पहले कण्ठतालव्य, फिर कण्ठोष्ठ्य।

इस भाँति पाणिनि के वर्णसमाम्नाय में स्वरों में एक-एक का क्रम तथा श्रेणी-विभाग पूर्णतः वैज्ञानिक है।

वर्णसमाम्नाय में व्यंजनों से पहले स्वरों को स्थान भी कई कारणों से प्राप्त है। एक तो यह कि व्यंजनों का उच्चारण अकेले संभव नहीं, स्वरों की ही सहायता से इनका उच्चारण हो पाता है। इनका नाम ही व्यंजन है, ये सहायक मात्र हैं—**अन्वग् भवति व्यञ्जनम्**[5] म० भा० १।२।१—मुख्य वर्ण तो स्वर है। स्वर शासक हैं, व्यंजन शासित। अक्षर (सिलेबल) बनाने में व्यंजनों की कोई पूछ नहीं। एक स्वर आगे-पीछे कई व्यंजनों को परिजन बनाकर एक परिवार बनाता है। मधुमक्खी रानी की भाँति स्वर राजा है, व्यंजन मजदूर। जहाँ कई व्यंजन निरन्तर आ जाते हैं, वहाँ उन्हें किसी-न-किसी पिछले या अगले स्वर की सीमा में बिठाकर क्षेत्र का झगड़ा निपटाया जाता है। प्रायः हर प्रातिशाख्य में व्यंजनों की

१. सिद्धमेङः सस्थानत्वात्—ए ओङ् सूत्रस्थ भाष्य।

२. शुक्लयजुः प्रा० १।६।६।

३. पा० शि०—२१।

४. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते—ए ओङ् सूत्रस्थ भाष्य।

५. महाभाष्य—उच्चैरुदात्तः १।२।२९ का भाष्य।

स्वरांगता का विचार है। शासक होने के ही कारण स्वरों की संख्या अल्पतर है, प्रजारूप व्यंजनों की बहुतर। अतः पहले स्वरों, फिर व्यंजनों को स्थान दिया गया है।

व्यंजनों में अन्तस्थों का महत्त्व सर्वाधिक है। ये हैं ही अन्तस्थ अर्थात् स्वरों तथा व्यंजनों के मध्यवर्त्ती। ये पूर्ण व्यंजन नहीं, अर्धस्वर (Semi-vowels) भी हैं। धन बढ़ने पर ये शासक बन जाते हैं, घटने पर शासित। कभी इ उ ऋ लृ संकुचित अर्थात् एकमात्रिक से अर्धमात्रिक होकर य् व् र् ल् बन जाते हैं, कभी य् व् र् ल् सम्प्रसृत या समृद्ध अर्थात् अर्धमात्रिक से एकमात्रिक होकर इ उ ऋ लृ हो जाते हैं। पाणिनि ने **इको यणचि**[१] तथा **इग्यणः**[२] **संप्रसारणम्** से यही स्थिति स्पष्ट की है। 'व्यध्' से 'विद्ध', 'कस्य', से' किस', 'यहाँ, से 'इहाँ' 'वप्' से 'उप्त', 'त्व' से 'तू' [त्व, तउ>दाउ (thou); 'वय>'वह'>वी (we)], 'वहाँ' से 'उहाँ', 'स्वर' से 'सुर', 'ग्रह्' से 'गृह', 'व्रज' से 'बृज' आदि में संप्रसारण द्वारा अन्तस्थों का स्वर में परिणत होना स्पष्ट है। अँगरेजी में भी य् व् र् ल् से स्वर तथा अक्षर-निर्माण (सिलेबल) का काम लिया जाता है, sympathy शब्द में y से इ बनता है (स्य>ही = He), Two में W से उ। Centre, Cadre तथा apple, cattle आदि शब्दों में r तथा l से सिलेबल बनाया जाता है, यह सर्वस्वीकृत है। इसी भाँति इ उ ऋ लृ के भी य् व् र् ल् बनने के उदाहरण संस्कृत, हिन्दी और अँगरेजी में बहुत अधिक हैं। अति+आचार से अत्याचार, इह से यहाँ, dial से डायल, सु+आगत से स्वागत, उदक से water आदि। साधारणतः अन्तस्थों का क्रम य र ल व रखा जाता है, उच्चारण-स्थान की दृष्टि से यही क्रम ठीक लगता है। किन्तु स्वरों के इ उ ऋ लृ इस क्रम के ही अनुसार पाणिनि ने इनका क्रम य् व् र् ल् रखा; क्योंकि ये दोनों श्रेणियाँ एक-दूसरे के रूपान्तर हैं, अतः दोनों जगह क्रम एक ही चाहिए।

यह तो संस्कृत, हिन्दी तथा अँगरेजी के उदाहरणों से स्पष्ट है कि अन्तस्थ वस्तुतः अर्धस्वर हैं, अतः स्वर के बाद उन्हें स्थान मिलना चाहिए। परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि अन्तस्थों के साथ ह् को क्यों रखा गया। पतंजलि ने कहा[३] है कि ह् दो जगह, अर्थात् अन्तस्थों के साथ तथा ऊष्मों के साथ इसलिए है कि इसका ग्रहण अट् और हश् प्रत्याहारों में भी हो और साथ ही रल्, शल्, वल्, झल् प्रत्याहारों में भी। यदि अन्तस्थों के साथ ह् नहीं पढ़ा जायगा, तो **अर्हेण**[४] में णत्व नहीं होगा, 'पुरुषो[५] हसति' में उत्व नहीं होगा। यदि ऊष्मों के साथ नहीं पढ़ा जायगा, तो 'स्निहित्वा' में क्त्वा का कित्त्व[६] नहीं होगा, 'अधुक्षत्' में क्स[७] नहीं होगा, 'रुदिहि' में इट्[८] नहीं होगा तथा 'अदाग्धाम्' में सिज्लोप[९]

१. ६।१।७७।
२. १।१।४५।
३. द्वितीय आह्निक के अन्त में प्रत्याहार-सूत्रों की व्याख्या के बाद।
४. ८।४।२।
५. ६।१।११४।
६. १।२।२६।
७. ३।१।४५।
८. ७।२।७६।
९. ८।२।२६।

नहीं होगा। अतः शब्दसाधुत्व की व्याख्या के लिए इसका पाठ पंचम तथा चतुर्दश दोनों सूत्रों में आवश्यक है। पतंजलि के इस उत्तर से प्रभावित होकर बहुत-से विद्वान् यह भी कहते हैं कि पाणिनि का अभिप्राय यहाँ वर्णमाला दिखाने का नहीं है। वे तो लाघव से शब्द की व्याख्या के लिए प्रत्याहार-निर्माणार्थ यहाँ इन वर्णों का उल्लेख करते हैं। अतः उन्होंने प्रत्याहार-रचना में उपयोगी वर्णों को प्रत्याहारोपयोगी क्रम से ही रखा है। ऐसा कहना उचित, संतोषजनक नहीं है। पीछे आये सभी वर्णों के व्यक्तित्व और क्रम की वैज्ञानिकता की परीक्षा की जा चुकी है। प्रत्याहार-निर्माण भी उनका उद्देश्य अवश्य था, किन्तु मुख्य बात यह थी कि वे अपने व्याकरण का, शब्दानुशासन का, आरम्भ शब्दों के समवायि-कारण वर्णों के परिचय से प्रारम्भ करना चाहते थे। स्वयं पतंजलि ने १४ माहेश्वर सूत्रों की व्याख्या के बाद दूसरे आह्निक में अक्षरसमाम्नायोपदेश का प्रयोजन दिखाने के लिए प्रश्न किया है—**किमर्थमुपदिश्यते** ? वर्णों का उपदेश यहाँ किसलिए किया गया ? इसके उत्तर[1] में स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि वर्णों के ज्ञान से ही वाणी, अर्थात् शब्दात्मक वाक्यात्मक भाषा का ज्ञान होता है, अतः अपने शास्त्र में, व्याकरण-ग्रन्थ में इष्ट वर्णों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। यहाँ वर्णसमाम्नाय से प्रत्याहार बनते हैं और प्रत्याहारों से शब्दान्वाख्यान में लाघव होता है, यह तो सबसे अन्तिम और गौण उत्तर है।

अतः दो हकारों के पाठ का पतंजलिकृत समाधान पूर्ण नहीं आंशिक है। पं० रामाज्ञा पाण्डेय ने यह शंका उठाकर पतंजलि के समाधान से संतोष नहीं प्रकट किया[2] है। उन्होंने इसका यह उत्तर दिया है कि 'ह्' वास्तव में दो हैं ही—एक कण्ठ्य और दूसरा उरस्य। उनके अनुसार यद्यपि पतंजलि ने दोनों हकारों का एक ही रूप मानकर समाधान किया है, परन्तु स्थानभेद के कारण दो हकार मानने में कोई बाधा नहीं है, बल्कि दो ही मानना चाहिए। किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत पहले ऊष्म 'ह्' की भाँति एक अन्तस्थ 'ह्' भी उच्चरित होता था, उसी की गणना यहाँ पाणिनि ने अन्तस्थ वर्णों के साथ की है। इस अनुमान में निम्नलिखित बातें सहायक हैं :—

(१) जिस प्रकार संस्कृत, अँगरेजी तथा हिन्दी में इ, उ, ऋ, ऌ तथा य् व् र् ल् के परस्पर स्थान-परिवर्तन के उदाहरण पहले बताये गये हैं। ठीक उसी प्रकार अ के स्थान में ह् तथा ह् के स्थान में भी अ के उदाहरण तीनों भाषाओं में खूब मिलते हैं 'अश्व' का Horse, 'आवास' का House, 'ओठ' का 'होठ', 'अस्ति' का 'हस्ती', 'नाल' या न+अ+ल का

१. "वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते। तदर्थमिष्टसिद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते।"

२. "यद्यपि उरस्यो हकारः पाणिनीये मते नायाति, तथापि पाणिनेरपि पूर्वं 'हयवरट्' 'हल्' इत्यनयोः सूत्रयोर्द्विविधस्य हकारस्य सत्तानुमीयते। यद्यपि भाष्यकारेण द्वयोर्हकारयोरूपमेकमेव मत्वा फलं प्रदत्तम्, तथापि स्थानभेदेन वर्णभेदाङ्गीकारे बाधकाभावात्, किमुत वर्णैक्ये विरोधादेव हकारो गवेषकै-रभ्युपगन्तव्य एव।"

—व्याकरणदर्शनभूमिका, पृ० ६४।

'नहर', 'अइसन' का 'हइसन' (भोजपुरी), तेल अन्न > तेलहन आदि में अ का ह् उच्चारण हो गया है। फिर महाराष्ट्र = महरट्ठा = मरहट्टा > मराठा, होस्पिटल = अस्पताल, जुदः का जुदा, वायदः का वायदा, Honest का ओनेस्ट, हम्बुल का अम्बुल आदि में ह का उच्चारण हुआ है। रोमन में तो एक ही ह् है; किन्तु अरबी में दो ह् रखे गये हैं—'हे' तथा 'हमज़ा'। 'व्याकरणदर्शनभूमिका' में यह तो अनुमान नहीं लगाया गया है कि पहले एक अन्तस्थ भी था, परन्तु यह स्वीकार[1] किया गया है कि बिन्दु से वर्णों के विकास के मार्ग में कण्ठ्य ह् से ही अ का विकास हुआ है। वहाँ यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि ह य व र ल के ही क्रमशः संप्रसारण अ इ उ ऋ लृ हैं। इससे ही अर्थापत्ति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पहले ह् भी एक अर्धस्वर तथा अन्तस्थ था, जिसका संप्रसारण 'अ' होता था। पाणिनि ने इतना तो माना ही है कि अन्तस्थ का ही संप्रसारण होता है। इसलिए वर्ण समाम्नाय में भी ठीक अ इ उ ऋ लृ के क्रम से ही, स्वरों की गणना की समाप्ति के बाद, व्यंजनों की गणना के प्रारम्भ में इन पाँच अन्तस्थों ह य व र ल का उल्लेख किया है। अतः तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य की भाँति कण्ठ्य अन्तस्थ भी एक वर्ण था, जिसका ऊष्म ह् से अभेदग्रह के कारण क्रमशः लोप हो गया।

(२) अन्तस्थ वर्ण प्रायः मध्यवर्णागम के रूप में शब्दों के भीतर घुस जाते हैं। पाणिनि ने राम + ओः = रामयोः, लता + आः = लतायाः, दा + अकः = दायकः (ज्यायान्, भूयान्), धी + औ = धियौ तथा भू + औ का भुवौ, बभू + अ = बभूव, बभू + अतुः = बभूवतुः उच्चारण स्वीकार किया है। ने + अन = नयन, पो + अन = पवन, नै + अक = नायक, पौ + अक = पावक भी प्रायः उसी कोटि के ध्वनिविकार हैं। हिन्दी में भी जि + आ = जिया, सी + आ = सिया, दे + आ = दि + आ = दिया इसी रीति से बने हैं। हिन्दी ने य् का आगम तो खूब किया है, पर व् के आगम में उसने कुछ अनुत्साह दिखाया है। हो + आ = हु + आ को हुवा बोलते हैं, पहले हुवा ही लिखते भी थे, पर अब हुआ लिखते हैं। धो + आ = धोया, सोया, रोया, भिगोया आदि व के क्षेत्रों पर भी य् ने ही कब्जा किया है। हाँ, दूसरी प्रेरणा में व् आगम का एकच्छत्र राज्य है—पढ़वाना, लिखवाना, हँसवाना, करवाना आदि। संस्कृत में तो ज्यादातर इवर्ण-उवर्ण के बाद ही य् व् का आगम होता था; किंतु हिन्दी में अवर्ग के बाद भी इनका आगम हुआ। पा + आ, आ + आ, खा + आ, गा + आ, ला + आ आदि भूतकालिक रूपों में रामचरितमानस की अवधी में व् का ही आगम किया गया है—पावा, आवा, गावा आदि, पर खड़ीबोली में क्रियापदों में व् को य् ने अपदस्थ कर दिया है। इनका हिन्दी-रूप आजकल पाया, आया, खाया आदि हो गया है। हाँ, संज्ञा-शब्दों में पाद = पा + अ = पाँव या पाव, घात = घा + अ = घाव आदि में तथा हाल से हवाल आदि में व् आगम का अवकाश मिलता है। संस्कृत में र् ल् का आगम विरल था—संविदते—संविद्रते, शे + अते—शेरते आदि; पा + णिच् = पालयति आदि; किन्तु हिन्दी में इन

---

१. पृ० १२५—"यदा च हयरलवेति पञ्चकं संप्रसृतं भवति तदा स्वीयमर्धमात्रात्मकं रूपं वर्धयित्वा एकमात्रारूपं दधत् भूतपञ्चकरूपं धारयति, एवमेता एव पञ्च मातृका अ इ ऋ लृ उ रूपेण परिणमन्ते, इग्यणः संप्रसारणम् (१।१।५५) इति सूत्रयन् भगवान् पाणिनिरिममर्थं परिपुष्णाति।"

दोनों वर्णों ने भी य् व् की तरह अन्तस्थ होने के दावे से मध्यप्रवेश आरम्भ कर दिया है; पण—प्रण, शाप—श्राप, कोटि—क्रोटि—करोड़ आदि में र् का तथा धो + आना = धुलाना, रोआना—रुलाना, सोआना—सुलाना, दिखाना—दिखलाना, बिठाना—बिठलाना, खा + आना = खिलाना, पी + आना = पिलाना, जी + आना = जिलाना आदि में ल् का क्षेत्रविस्तार प्रत्यक्ष है। अँगरेजी के तद्भव शब्दों बेंच—ब्रेंच, कोल—कोयला आदि में भी यह प्रवृत्ति काम कर रही है। इसी भाँति संस्कृत से अँगरेजी में गये घास से ग्रास (Grass), फल से फ्रूट (Fruit), कण से ग्रेन (Grain) आदि शब्दों में र् का मध्यागम देखा जा सकता है। ठीक इसी भाँति ह् के भी मध्यागम के काफी उदाहरण मिलते हैं। जैसे—तेल + अन्न = तेलहन, चालाक—चाल्हाक (भोजपुरी), जेल—जेहल (भोजपुरी), खोड—खोहर, शीतन—सिहरना, लशुन—लहसुन, प्रशूल—पँहसुल।

(३) प्रत्येक उच्चारण-स्थान के लिए चार प्रकार के वर्ण होने ही चाहिए—विवृत, ईषद् विवृत, ईषत्स्पृष्ट तथा स्पृष्ट। अतः जैसे तालु के लिए इ, य, श, च; मूर्धा के लिए ऋ, र, ष, ट; दन्त के लिए लृ, ल, स, त; ओष्ठ के लिए उ, व, उपध्मानीय, प हैं, उसी प्रकार कण्ठ के लिए भी चार वर्ण अवश्य रहे होंगे—अ, ह, ह, क। पाणिनि ने अ, इ, उ, ऋ, लृ के क्रम से ह, य, व, र, ल कहकर स्पष्ट संकेत किया है कि अ का अन्तस्थ ह् है। पर सम्भवतः अन्तस्थ ह का ऊष्म ह से विवेक करना कठिन एवं असम्भव हो गया होगा, यहाँ तक कि उसकी स्वतन्त्र लिपि भी नष्ट हो गई होगी। आजकल भी ओ औ की स्वतन्त्र लिपि नहीं है, अ में ही मात्राएँ लगाकर ओ औ बना लेते हैं। इसी भाँति विदेशी ध्वनियों ज़् फ़् क़् की लिपि नहीं रहने से हम ज फ क में ही नीचे नुक्ता लगाकर काम चलाते हैं। उसी भाँति कण्ठ्य अन्तस्थ के लिए ऊष्म ह् की लिपि में ही कोई संकेत लगाते होंगे। परन्तु जैसे हिन्दी में ज़् फ़् क़् के उच्चारण तथा लिपि को प्रायः ज फ क से ही प्रकट करते हैं, वैसे ही लोग अन्तस्थ ह् के उच्चारण तथा लिपि को क्रमशः ऊष्म ह् से ही प्रकट करने लगे होंगे। इसी भाँति ळ भी क्रमशः ल बन गया, इडा से इळा और उससे इला तैयार हो गया। बाद में हिन्दी ने जनभाषा में प्रचलित ळ के विकृत उच्चारण से नई लिपि ड़ को गढ़ा। मूर्धन्य ष् का उच्चारण मिथिला में ख होता है, अतः कहीं-कहीं पहले की पुस्तकों में ष की जगह ख ही लिखा मिलता है। लक्ष्मण से लषण, और लषण से ही लखन भी बना है। अँगरेजी में तो यह ष् नहीं ही मिलता है, हिन्दी में भी इसका उच्चारण श् से इतना मिल गया है कि डॉ० भोलानाथ तिवारी[१] ने श् और ष् दोनों को एक ही ध्वनि माना है। आजकल ऋ को भी हटाकर रिषि, रिण आदि लिखने का आन्दोलन चल रहा है। मेरे अनुमान से अन्तस्थ ह् की भी यही दुर्गति (निष्कासन) हुई। अतः वर्णमाला का प्रथम ह् सम्भवतः कण्ठ्य अन्तस्थ है, दूसरा उरस्य ऊष्म।

---

१. भाषाविज्ञान, पृ० १६१ : "आज की हिन्दी में 'निराश' और 'कोष' के अन्त में 'श' और 'ष' के रूप में आनेवाला 'श्' ध्वनितत्त्व एक है, पर 'श' और 'ष' दो चिह्नों का प्रयोग होता है।" पतंजलि ने १।१।१ की समाप्ति में यह चेतावनी पहले ही दे दी थी "शशः षष इति मा भूत्", खबरदार! व्याकरण पढ़ो, नहीं तो शश षष कहोगे, जैसे कोई 'फ़ाद्ड़' को 'फादर' कहे तो कैसा लगेगा?

अन्तस्थों के बाद पंचम स्पर्श वर्णों की पंक्ति है—ञ म ङ ण न। इनमें ञ और ङ का प्रयोग अत्यल्प होता है। सञ्चय, वञ्चित, लुञ्चित, उञ्छ, प्रत्यञ्चा, गुञ्जन आदि में लिखा तो जाता है, पर इसका उच्चारण अनुस्वार-सा होता है। याच्ञा, यज्ञ, विज्ञ आदि स्थलों में इसका उच्चारण कुछ यँ की तरह हो जाता है। अतः आधुनिक हिन्दी-वर्णमालाओं में कोई-कोई विद्वान् इसे स्थानच्युत कर रहे हैं, पर यह ठीक नहीं है। प्रत्येक स्पर्श वर्ण का एक अनुनासिक वर्ण अवश्य होगा, ञ चवर्ग का अनुनासिक स्पर्श है। उच्चारण तो हम बहुत-से वर्णों का भूलने लगे हैं, इसके लिए उनका निष्कासन नहीं किया जा सकता। ङ का भी उच्चारण बहुत कम मिलता है, अङ्क, सङ्घ, अङ्ग, सङ्क, सङ्ख्या, शङ्कते, रिङ्गति आदि स्थलों में यह सर्वदा ञ की तरह संयुक्त होकर ही आता है। पाणिनि के अनुसार सङ्ग, सङ्घ, सङ्ख्या आदि में वैकल्पिक[1] अनुस्वार भी लिख सकते हैं, परन्तु अङ्क, शङ्का, रङ्क, अङ्ग, इङ्गित, लङ्घन आदि में अनुस्वार नहीं होगा, ङ् लिखना-बोलना अनिवार्य[2] है। किन्तु, हिन्दीवालों ने इन स्थलों में भी ङ् लिखना बन्द कर दिया है, हर जगह अनुस्वार से काम चला रहे हैं। चाहे एक पद के भीतर की बात हो, चाहे दो पदों के, अनुस्वार के स्थान में आगे आनेवाले पाँच स्पर्श वर्गों के प्रभाव से ङ ञ ण न म लिखना-बोलना वे अनावश्यक मानते हैं। पाँचों की जगह वे अनुस्वार ही लिखते हैं। अङ्क, वञ्चित, पण्डित, तन्तु, कम्पन की जगह हिन्दीवाले अंक, वंचित, पंडित, तंतु, कंपन ही लिखना चाहते हैं। किन्तु संस्कृतवाले दूसरे रूपों को अशुद्ध मानते हैं। सच तो यह है कि अनुस्वार का ही अपना उच्चारण विस्मृत हो चुका है, अतः अंक लिखने पर भी हम बोलते 'अङ्क' ही हैं। आजकल अनुस्वार का उच्चारण कवर्ग तथा ह् के पहले अनिवार्य रूप से तथा य् र् ल् के पहले प्रायः ङ् होता है। पवर्ग और व के पहले म् होता है और शेष सभी व्यंजनों के पूर्व न् होता है। इस प्रकार संस्कृत में भी ञ और ङ के उच्चारण-स्थल कम हैं। परन्तु प्राङ्, प्रत्यङ्, सम्यङ्, अवाङ्मुख, वाङ्मय, दिङ्मण्डल आदि में ङ् का तथा यज्ञ, विज्ञ, याच्ञा आदि प्रयोगों में ञ का अस्तित्व तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। भोजपुरी में 'माँगना' को 'माङना' बोलते हैं, इसी भाँति 'अङना', 'रङना' आदि का प्रयोग होता है। प्राकृत में राजा का 'राञा' प्रयोग होता था, जिसका मूर्धन्यीकरण से 'राणा' रूप बना होगा। न, म और ण का तो खूब प्रयोग है। स्वरों तथा अर्धस्वरों के बाद अनुनासिक व्यंजनों की गणना इसलिए की गई है कि इनमें कुछ स्वरत्व है। अर्धस्वर के वजन पर चाहें तो इन्हें पाद-स्वर कह ले सकते हैं। सक्सेना[3] जी ने तो लिखा है कि "वैदिक पूर्व प्राथमिक आर्यभाषा में छह अन्तस्थ (बीच की) ध्वनियाँ थीं, जो शब्द में अपने स्थान के अनुसार ही स्वर या व्यंजन की संज्ञा पाती थीं। उस समय व्यंजन-रूप में ये य् र् ल् व् म् न् थीं और स्वर-रूप में इ ऋ ऌ उ तथा स्वर म̥ न̥ थीं·······वैदिक तथा उत्तरकालीन संस्कृत में अन्तिम दो स्वर (म̥ न̥) विलुप्त हो गये और इनके स्थान पर अ का आदेश हो गया। उदाहरणार्थ—गम् और मन् धातुओं के क्त प्रत्ययान्त रूपगत (ग् अ त् अ) और मत (म् अ त अ) बनते हैं; पर

१. ८।४।५९।

२. ८।४।५८।

३. डॉ० बाबूराम सक्सेना का 'सामान्य भाषाविज्ञान' (आठवाँ अध्याय), पृ० ५८।

होने चाहिए थे (ग् म̥ त् अ) और (म् न̥ त् अ)। इन म̥ और न̥ स्वरों की ध्वनि सम्भवतः उन म̥ और न̥ स्वरों की-सी रही होगी, जो अँगरेजी आदि भाषाओं में 'गॉड्न̥' आदि शब्दों में आजकल भी स्वर का काम देते हैं। वास्तव में म̥ न̥ की अन्तस्थता या स्वरता में संस्कृत-भाषा में कोई प्रमाण नहीं है, इन्हें अन्तस्थ की श्रेणी में कभी नहीं बैठाया जा सकता। यह कहना गलत है कि गम्+त, तथा मन्+त में म् और न् के स्थान में अ आदेश हो गया है, तब तो ग अत म अत रूप हो जायेंगे। गत, मत बनाने के लिए पररूप द्वारा एक अ को हटाना पड़ेगा। उससे अच्छा है कि म् न् को सीधे ही लोप से हटा दें। म् न् के लोप की स्थितियाँ और भी कई जगह हैं—गम्+त्वा=गत्वा, मन्+त्वा=मत्वा, गम्+ति=गति, मन्+ति=मति आदि। इन सब जगहों में म् न् का लोप करते हैं, अ आदेश कर फिर एक अ का लोप करने का बखेड़ा क्यों करेंगे? डॉ॰ सक्सेना के अनुसार गत की ग्म̥त, मत की जगह म्न̥त कैसे होगा? क्या सब 'म्', 'न्' लोप-स्थलों में वे उपधालोप चाहते हैं? गम्+त, मन्+त यहाँ उपधालोप से पहले ग्म̥त म्न̥त हुआ, फिर संस्कृत ने म̥ न̥ के स्थान में अ आदेश कर दिया! यहाँ दो आपत्तियाँ हैं। धातु तो गम्, मन् हैं? उपधालोप होने पर म् का म̥ तथा न् का न̥ स्वर-रूप ही कैसे हुआ? और इन म̥ तथा न̥ का बाद में अ कैसे हो गया? यदि ऐसी प्रक्रिया है, तो जग्मतुः—जग्म̥तुः—जगतुः, घ्नन्ति—घ्न̥न्ति—घन्ति क्यों नहीं बने? पाणिनि ने स्पष्ट ही उपधालोप[1] तथा अनुनासिक-लोप[2] के दो पृथक्-पृथक् स्थल—'गत', 'आगत्य' और 'जग्मतुः', 'हत' 'आहत्य' और 'जघ्नतुः' कुछ सोचकर ही रखे होंगे। अतः सक्सेनाजी का यह अटकल गलत है। हाँ, यह सही है कि ये पंचमाक्षर अन्तस्थों के बाद स्वर के समीपवर्त्ती हैं। ये स्वर और व्यंजन के अन्तस्थ (य् व् र् ल् की भाँति) नहीं, अन्तस्थ और व्यंजन के अन्तस्थ (मध्यवर्त्ती) हैं। मौलिक ङ् तथा ञ् के, विशेषतः असंयुक्त, तो संस्कृत में विरल ही उदाहरण मिलेंगे। प्रायः सब ङ् ञ् न् म् से अनुस्वार होकर परसवर्ण द्वारा ही होते हैं। किन्तु न् ण् म्—इन तीनों के स्थान में भी वैसे ही स्वरादेश होता है, जैसे य् व् र् ल्—इन अन्तस्थों के स्थान में। पाणिनि ने अनुनासिक वर्णों के लोप के लिए जहाँ तीन[3] सूत्र बनाये हैं, वहाँ अनुनासिक के आत्व के लिए पाँच[4] सूत्र। जन्, सन्, खन् से जात, सात, खात, जायते, सायते, खायते, जाति, साति, खाति, तन् का तायते आदि न् के आकारादेश से ही बने हैं। ण् का भी आ होता है—ओण्+वन्—'अवावा' बन जाता है।

इन अनुनासिक वर्णों के स्थान में स्वर ही नहीं, अर्धस्वर अन्तस्थ भी खूब होते हैं। पाणिनि ने म्[5] और न्[6] के स्थान में र् आदेश कर सम्+कार—संस्कार, पुम्+कोकिल—पुंस्कोकिल, तांस्तान्, कांस्कान् आदि रूप बनाये हैं। धनमान् का धनवान् म् के वत्व[7] से ही

१. गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि—६।४।९८।
२. अनुदात्तोपदेशवनति तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति—६।४।३७।
३. ६।४।३७, ३८, ४०।
४. ६।४।४१, ४२, ४३, ४४, ४५।
५. ८।३।५, ६।
६. ८।३।७, ८, ९, १०, ११, १२।
७. ८।२।९ से १५ तक।

होता है। हिन्दी में भी 'आम' (रस) का 'आँव', 'ग्राम' का गाँव होता है, पुनः से 'फिन' और 'फिर' में न् का रत्व देखा जाता है। भोजपुरी में पुनः के दो तद्भव मिलते हैं—फेन तथा फेर। भोजपुरी में 'बलवान्' का 'बरियार' या 'बरुवार' हो जाता है। यहाँ भी न् का रेफादेश स्पष्ट है। इसी तरह अन्तस्थ के स्थान में भी अनुनासिक वर्ण हो जाते हैं—ल का न हुआ, और व का म तथा 'लवण' से 'नमक' तैयार हो गया। हन् का अँगरेजी में किल (kill), नीम्बु का अँगरेजी में 'लेमन', बिहारी में 'लेमू', 'ऊर्णा' से 'ऊन' तथा 'ऊल' न के लत्व से ही बनता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि म-व तथा न-ल में परस्पर स्थान-परिवर्त्तन होता है। ञ का यादेश देखा तो नहीं जाता; पर 'यज्ञ' और 'याच्ञा' आदि का उच्चारण यज्यँ, याच्याँ आदि की भाँति होता है, यह तो आज सबोंकी शिकायत ही है। ण भी र् के सजातीय ड़ के अनुनासिक ड़ँ की भाँति उच्चरित हो रहा है, मणि को हम मड़ि ँ कह रहे हैं, यह सभी भाषाविज्ञानियों का आरोप है। अतः अवश्य ही सभी पंचमाक्षरों का अपने सवर्ण अन्तस्थों के साथ उच्चारण व्यत्यय होता है। केवल ङ इसका अपवाद है; क्योंकि अन्तस्थ ह् लुप्त है। अँगरेजी में सभी अन्तस्थ तथा अनुनासिक व्यंजन स्वनशील (sonant) माने जाते हैं। यह स्वनशीलता सर्वाधिक स्वरों में ही रहती है, तब अन्तस्थ में और तब अनुनासिक व्यंजन में। अनुनासिक व्यंजन के स्थान में ही अनुस्वार भी होता है। अपने महासंज्ञोचित अन्वर्थ नाम से ही यह स्पष्ट है कि यह अनुस्वार स्वरों का पिछलग्गा है। अनुस्वार सदा न् या म् का ही होता है और म् या न् अनुस्वार होकर भी फिर अन्तस्थों में परिणत होते हैं, सय्ँयन्ता, सवँ्वत्सरः, यलँ्लोकम्, तलँ्कम् यह पीछे बताया जा चुका है। साथ ही अन्तस्थ की भाँति अनुस्वार, अनुनासिक, न् का मध्यागम भी खूब होता है। पाणिनि ने फल+इ=फलानि, धावत्+औ=धावन्तौ, बालक+आम् =बालकानाम् आदि में न का आगम दिखाया है और यज आन—यजमान आदि में म् का। हिन्दी में शर्कर का कंकड़, पक्ष का पंख, मार्जन का मंजन, हस् का हँस, मुख का मुँह हो जाता है। उर्दू में समुद्र को समुन्दर कहते हैं। "रामचरितमानस' में अँगूठी के लिए 'मुनरी' का प्रयोग हुआ है, यह मुद्रा—मुद्रिका—मुद्री—मुनरी से हुआ है। यह ठीक है कि सभी अनुनासिक व्यंजनों में न् और म् ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रयुक्त है। परन्तु संस्कृत-भाषा के लिए यह गौरव की ही बात है कि जहाँ इन पाँच अनुनासिक पादस्वर-रूप व्यंजनों, ङ ञ ण न म में से अँगरेजी ने केवल दो न् (एन्) तथा म् (एम्) और अरबी ने भी केवल दो न् (नून), म् (मीम्) ही सुरक्षित रखे हैं, वहाँ इसने पाँचों की स्मृति जुगा रखी है। सर्वाल्प स्वनशीलता पंचम व्यंजनों में उससे ज्यादा अन्तस्थों में तथा सर्वाधिक स्वरों में है। क्या सर्वाधिक स्वनशीलता के कारण ही इन्हें स्वर कहते हैं? मूलतः स्वन शब्द ही न के रेफादेश से स्वर बन गया है? धातुपाठ में तो स्वृ धातु शब्द और उपताप में पठित है, इस स्वृ से स्वर बनेगा।

पंचम वर्णों के बाद पाँच चतुर्थ वर्णों को स्थान मिला—झ भ घ ढ ध। इसके बाद पाँच तृतीय वर्णों को स्थान मिला—ज ब ग ड द। फिर पाँच द्वितीय वर्णों की श्रेणी रखी गई—ख फ छ ठ थ। और अन्त में पाँचों प्रथम वर्णों को रखा गया—च ट त क प।

स्वरों तथा अन्तस्थों के बाद सभी स्पर्शों को गिनाकर अन्त में ऊष्म वर्ण बताये गये—श ष स ह।

ऊपर बताया जा चुका है कि पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, यम, नासिक्य, रङ्ग, ह्रस्व ग्वुं, दीर्घ ग्वुं, ळ तथा ळ्ह की गणना वर्णसमाम्नाय में नहीं की। पाणिनि ने अनुस्वार[1], अनुनासिक,[2] विसर्जनीय,[3] जिह्वामूलीय[4], और उपध्मानीय[5] को मान्यता दी है। इन ध्वनियों का भाषा में प्रयोग भी प्रचुर परिमाण में स्वीकार किया है, पर इन्हें वे स्वतन्त्र मौलिक ध्वनियाँ नहीं मानते, ये अवान्तर ध्वनियाँ हैं। पतंजलि[6] ने अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य और यमों को अयोगवाह माना है तथा इन का पाठ अट् और शर् प्रत्याहारों में रखा है। किन्तु इसकी उपयोगिता नासिक्य और यम में कुछ नहीं बताई, केवल अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय में बताई है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में दिखाया है कि किस प्रकार न् और म् अनुस्वार[7] बनते हैं; जैसे जिघांसा, रिरंसा तथा फिर अनुस्वार से परसवर्ण द्वारा न् म् हो जाते[8] हैं; जैसे—हन्ति, सम्भव, शान्त और स् र् बनकर विसर्जनीय[9] होता है; जैसे—मनः तथा फिर वह स् रूप में लौट भी आता है; जैसे—मनस्ताप[10] आदि। इन्हें लिपि-संकेत प्राप्त है, पर इनमें वर्णत्व नहीं माना जाता। जैसे नाबालिगों को अन्न-वस्त्र-आवास की सुविधाएँ प्राप्त हैं, छोटे-मोटे काम भी दिये जाते हैं, पर मतदाताओं में इनका स्थान नहीं रहता। उच्चारण की दृष्टि से विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का ह् से इतना कम अन्तर है कि ये सब ह् की उपजातियों के समान लगते हैं। विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय कभी मौलिक ध्वनियाँ नहीं हो सकते, ये स् या र् के विकार-मात्र हैं। स् का ह् भी विकार होता है; जैसे—एधितास्+ए=एधिताहे[11] तथा द्वादश=बारह, एकसत्तर=इकहत्तर, अस्ति=अहइ=है आदि। पर ह् मूलवर्ण भी है—हास, हार, हनन आदि में। अतः ह् को वर्णमाला में स्थान मिला, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय को नहीं। इसी तरह अनुस्वार मौलिक विरल है, सभी न् या म् से उत्पन्न हैं। पर न् या म् अनुस्वार से उत्पन्न भी हैं; जैसे—सन्ताप, सम्भव आदि में और मौलिक भी; जैसे—नयन, मनन आदि में। इसलिए म् तथा न् को वर्णमाला में जगह मिली, अनुस्वार को नहीं। ह्रस्व तथा दीर्घ ग्वुं तो अनुस्वार के भी विकार हैं, और वह भी सार्वत्रिक नहीं, यादृच्छिक। कोई पढ़ता है 'ईशावास्यमिद ग्वुं' कोई 'ईशावास्यमिदं'। अतः ये तो वर्णमाला में स्वतन्त्र स्थान

१. ८।३।२३, २४ तथा ८।४।५९।
२. ८।३।२ से १२ तक; ६।१।१२६ तथा ८।४।५७।
३. ८।३।१५, ३५, ३६, ३७।
४. ८।३।३७।
५. ८।३।३७।
६. हयवरट् सूत्र का अयोगवाहाधिकरण-महाभाष्य।
७. ८।३।२३, २४।
८. ८।४।५८, ५९।
९. ८।३।१५।
१०. ८।३।३४।
११. ७।४।५२।

पाने के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। ये ध्वनियाँ संस्कृत में स्वीकृत हैं; पर इन्हें वर्णमाला में स्थान नहीं प्राप्त है, ठीक वैसे ही जैसे भाषाविज्ञानी क्लिक ध्वनियों का भाषा में वर्णन-विश्लेषण तो कर देते हैं, पर उन्हें वर्णमाला में स्थान नहीं देते। अरबी ने इ, उ आदि ध्वनियों को जेर, ज़बर, पेश के मात्रा-रूप में तो स्वीकार किया, पर अपनी वर्णमाला में इन्हें नहीं गिना।

अनुनासिक और रङ्ग एक ही वस्तु हैं। इनमें भेद हो भी तो वह नगण्य होगा। यह वर्णधर्म है, वर्ण नहीं। सभी स्वर तथा र् को छोड़कर सभी अन्तस्थ भी दो प्रकार के होते हैं—अनुनासिक और अननासिक। स्पर्शों में भी ङ ञ ण न म तो स्पष्ट ही अनुनासिक हैं। इनके पूर्व यदि अपदान्त प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण आते हैं, तो पाणिनि के मत से तो केवल[1] द्वित्व होता है, परन्तु प्रातिशाख्य मध्य में पूर्वसवर्ण यम का आगम करते हैं, और वह यम अनुनासिक ही होता है। जैसे 'पलिक्क्नीः' में दूसरा क् यम और अनुनासिक है। कोई आचार्य यम का आगम नहीं कर पूर्ववर्ण को ही यम कहकर उसे ही अनुनासिक कर देते हैं। पदान्त प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ के बाद पंचम वर्ण आने पर तो पाणिनि भी उनके स्थान में अनुनासिक[2] आदेश करते हैं—जैसे अवाक्+मुख=अवाङ्मुख आदि। अन्तर यह है कि यहाँ क् का ङ् पूर्णतः अनुनासिक हो गया, और पलिक्नीः आदि में न के पूर्व क् का अत्यल्प आनुनासिक्य होगा, क् का ङ् नहीं होगा, क् ही बना रहेगा, परन्तु उसमें आनुनासिक्य आ जायगा। इस प्रकार आनुनासिक्य-विहीन केवल र श ष स ह ही रह गये, शेष सब वर्णों में आनुनासिक्य-धर्म रह सकता है। पाणिनि ने स्वर[3] तथा व्यंजन[4] दोनों के आनुनासिक्य की चर्चा की है। इसलिए जिस तरह ह्रस्वत्व, उदात्तत्व आदि का वर्ण-समाम्नाय में समावेश नहीं है, उसी तरह अनुनासिकत्व का भी।

एक बात और। यह रङ्ग या अनुनासिक अनुस्वार से अधिक भिन्न नहीं है। प्राति-शाख्यों में कई जगह पर्याय की तरह दोनों का प्रयोग है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[5] के द्वितीय प्रश्न में तो सब अनुस्वार-स्थलों में अनुनासिक का ही विधान है; जैसे—'संशित' नहीं 'सँशित', 'मीमांसक' नहीं 'मीमाँसक' उच्चारण का समर्थन है। अष्टाध्यायी में भी म् या न् के रेफादेश-प्रकरण[6] में पूर्वस्वर में ऐच्छिक रूप से अनुनासिकत्व अथवा अनुस्वारागम का विधान है। इसका अर्थ यही लगता है कि उन स्थलों में दोनों का उच्चारण मिश्रित था। हिन्दी में भी में, मैं, नदियों आदि में चन्द्रबिन्दु देकर कोई अनुनासिकत्व नहीं प्रकट करता, केवल अनुस्वार-चिह्न ही दे दिया जाता है। हाँ, जहाँ सन्देह है, वहाँ 'हँस दिया', और 'हंस दिया' आदि स्थलों में दोनों का अन्तर रखा जाता है। लिपि की समानता का मूल

१. ८।४।४७।
२. ८।४।४५।
३. ८।४।५७।
४. ८।४।४५।
५. २।१।१, २, ३, ४ तथा २।३।१।
६. ८।३।२ तथा ४।

अवश्य ध्वनि की समानता रही होगी। इसलिए अनुस्वार की तरह यह रङ्ग भी न् म् से ही गतार्थ है।

यमरूप जो प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण हैं, वे तो अपने मूल रूप में ही गतार्थ हैं, क का यम क् में, ख् का यम ख् में इस भाँति। आनुनासिक्य-मात्र को अधिकता वर्णान्तरत्वप्रयोजक नहीं हो सकती, अन्यथा य् के साथ यँ की भी गणना आवश्यक हो जायगी। आगे-पीछे के वर्णों का प्रभाव सब वर्णों के उच्चारण पर पड़ता है, 'पलिक्क्नी' के क् में यदि न् के संपर्क से कुछ आनुनासिक्य है, तो 'पक्व' के क् में व् के सम्पर्क से ओष्ठ्यता, 'शक्य' के क् में य के कारण तालव्यता आदि की भी स्वल्प गन्ध है। यदि आगम या आदेश-रूप २० यम वर्ण केवल ४ यम-जाति में गतार्थ किये जा सकते हैं, तो ये अपनी मूल जाति में क्यों नहीं गतार्थ किये जा सकते ?

ळ और ळ्ह ध्वनि को पाणिनि ने संस्कृत में मान्यता नहीं दी है। उन्होंने कडार,[१] पीडा[२], क्रीडा[३] ऐसे प्रयोग किये हैं; कड़ार, पीड़ा, क्रीड़ा नहीं। यह ळ और ळ्ह उच्चारण ग्राम्य-विकृति थी, परिनिष्ठित संस्कृत में इसे स्थान नहीं मिला; पर देशीय परम्परा से ये हिन्दी में ड़ और ढ़ बनकर आ गये हैं; जैसे—गड़ना, पड़ना, सड़ना, लड़ना, गढ़ना, मढ़ना, गाढ़ा, काढ़ा आदि। अब इन्हें ड तथा ढ का ही सजातीय मानना चाहिए। जैसे ज, क, फ में संघर्षण से ज़ क़ फ़ हो जाते हैं, वैसे ही ड ढ में दन्त्यता के मिश्रण से ड़ ढ़ की निष्पत्ति होती है। अग्निमीळे, अग्निमीडे, अग्निमीले—तीनों उच्चारण चलते हैं। षोडश से षोळश होकर ही 'सोलह' बना है। सक्सेनाजी[४] ने भी ढ़ को ढ ध्वनिग्राम की ही एक ध्वनि माना है। इसी भाँति एकमात्रिक ङ की, पादमात्रिक और पादार्धमात्रिक ह् की सत्ता यदि मानी जाय, तो वह पार्षदकृतिमात्र होगी। इनका भी अन्तर्भाव क्रमशः ङ् तथा ह् में ही हो जायगा। पाणिनि ने रेफादेशभूत लघुप्रयत्नतर[५] (पादमात्रिक ?) य् व् की चर्चा की है, फिर भी उन्हें वर्णमाला में स्वतन्त्र स्थान नहीं देकर, मौलिक अर्धमात्रिक य् व् से ही गतार्थ किया है। जैसे स्वरों में मात्रा की कमी-वेशी से मूल ध्वनितत्त्व में अन्तर नहीं पड़ता और स्वरभक्ति भी स्वरों में गतार्थ हो जाती है, वैसे ही व्यंजनों की मात्रा का न्यूनाधिक्य भी अकिंचित्कर है। क्ष को तो पृथक् वर्ण मानना बेकार है। आज तो हिन्दी में सब पहली पोथियों की वर्णमाला में क्ष ही नहीं, त्र और ज्ञ भी लिखे रहते हैं, पर कौन नहीं जानता कि ये क्रमशः क्+ष्, त्+र् तथा ज्+ञ् के संयोग हैं। क्ष का उच्चारण क्ष होना चाहिए, क्छ नहीं तथा ज्ञ का उच्चारण ज्ञ् होना चाहिए ग्यँ नहीं। माना कि हम ञ का उच्चारण भूलकर ज्ञ को ज्यँ की तरह बोलते हैं, पर ज् का भी उच्चारण छोड़कर ग्यँ क्यों बोलें ?

१. २।२।३८।
२. ७।४।३।
३. २।२।१७।
४. सामान्य भाषाविज्ञान—लिपिशास्त्र, पृ० २२४।
५. ८।३।१८।

वर्णमाला में पाणिनि ने केवल उन वर्णों को रखा है, जो पूर्ण हैं, स्वतन्त्र हैं, अन्य-निरपेक्ष उच्चरित हो सकते हैं।

आजकल लोग नागरी से ञ, ङ, लृ, ऋ तथा ष को बहिष्कृत करने की बात उठाते रहते हैं। ञ और ङ का कितना प्रयोग तथा उपयोग है, यह पीछे बताया जा चुका है। पाणिनि ने संभवतः इनका कम उपयोग देखकर अपने शास्त्र में इनसे अधिक काम लेकर इनका महत्त्व बढ़ाया है। इन दोनों से प्रत्याहार-सूत्रों, जैसे **ए ओ ङ्**, **झमञ्** में अनुबन्ध का काम लिया है। धातुओं में सैकड़ों जगह इन्हें अनुबन्ध जोड़कर यह नियम ही बना दिया है कि जो धातु ङित् हैं, वे आत्मनेपदी[1] और जो 'ञित्' हैं, वे उभयपदी[2] होंगे। जैसे—इङ् अध्ययने, माङ् माने, गाङ् गतौ आदि तथा डुकृञ् करणे, डुदाञ् दाने, वेञ् तन्तुसन्ताने, णीञ् प्रापणे, ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च आदि। प्रत्यय भी खूब ङित् तथा ञित् किये हैं। ङित् प्रत्ययों से गुण-वृद्धि का निषेध[3] और आत्मनेपद का विधान किया गया है तथा ञित् प्रत्यय से वृद्धि[4] और स्वर[5] का विधान। नजिङ्[6] प्रत्यय करने से 'तृष्णक्' में तथा यङ्[7] करने से 'नेनीयते' में, गुण नहीं होता है। ङित् होने से ही यङन्त नेनीयते, क्यङन्त[8] शब्दायते आदि में आत्मनेपद होता है। ङित् आदेश अन्त्य वर्ण के स्थान में होता है। अनङ्[9] तथा अवङ्[10] अनेकाल् होने पर भी अन्त्य में होते हैं, जिससे सखा, गवाश्रम् बनते हैं। इसी तरह ठञ्[11], अञ्[12], ष्यञ्[13] आदि में वृद्धि तथा आद्युदात्तता होती है। जैसे क्रमशः लौकिकः, पौत्रः, पाण्डित्यम् आदि। घञ्[14] के ञित्व से पाकः में वृद्धि तथा आद्युदात्तता के अलावा कुत्व[15] भी होता है। इस भाँति पाणिनि ने ङ् तथा ञ दोनों वर्णों से खूब काम लेकर इनकी अप्रयुक्तता दूर करने की चेष्टा की है।[16] ङ् से आरम्भ होनेवाले १३ तथा ञ्[17] से आरम्भ होनेवाले ४ सूत्र भी बनाये गये हैं।

---

१. १।३।१२।
२. १।३।७२।
३. १।१।५, १।३।१२।
४. ७।२।११५, ११६, ११७।
५. ६।१।१९७।
६. ३।२।१७२।
७. ३।१।२२।
८. ३।१।१७।
९. ७।१।९४।
१०. ६।१।१२३।
११. ५।१।४४।
१२. ४।१।१०४।
१३. ५।१।१२४।
१४. ३।३।१८।
१५. ७।३।५२।
१६. ८।३।३२, ६।१।२१२, ६।१।११०, ७।१।१५, १।१।५३, १।४।६, ७।१।२८, ७।३।११६, ७।१।७३, ८।३।२८, ६।३।६३, ४।१।१ तथा ६।१।१।
१७. ४।३।११५, ३।२।१८७, ६।१।१९७, ५।३।११९।

ऌ का प्रयोग एक ही धातु में मिलता है; पर वह वेदों से लेकर स्मृतियों तक खूब प्रयुक्त हुआ है। अतः अब नागरी-लिपि या संस्कृत-हिन्दी भाषाओं के लिए इस अत्यल्प-प्रयुक्त वर्ण का भी परित्याग सम्भव नहीं है। पाणिनि ने असिद्धत्व का लाभ उठाने के लिए भले ही कृप् धातु के ऋ का ऌ किया है, पर वस्तुस्थिति यह है कि कृप् और क्लृप् दो पृथक्-पृथक् धातु ही हैं। पाणिनि ने **लुटि च क्लृपः**[१], **तासि च**[२] **क्लृपः** में क्लृप् धातु का ही उल्लेख कर इसका पूरा संकेत कर दिया है। वेद में **'चाक्लृप्रे**[३] **तेन ऋषयो मनुष्याः', 'य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे'**[४]; ब्राह्मण में क्लृप्ति[५], क्लृप्तीः[६], क्लृप्त[७], अचीक्लृपत्[८], अचीक्लृपताम्[९], क्लृप्तान्[१०], संक्लृप्त्या[११], संक्लृप्तौ[१२], समक्लृपताम्[१३], आरण्यक में क्लृप्त्यै[१४]; महाभारत में क्लृप्त[१५] श्मश्रु; मनुस्मृति में क्लृप्तकेशनखश्मश्रु[१६]; भागवत में अचीक्लृपत्[१७], चक्लृपे[१८] आदि बीसों बार क्लृप् धातु का प्रयोग हुआ है।

इस क्लृप् से भिन्न है कृप् धातु, जिससे कृपः, कृपा, कृपणः, कृपाणः आदि शब्द बनते हैं। ऋ के विषय में कुछ दिन पहले यह मत चला था कि इसे हटा दिया जाय; क्योंकि उसका उच्चारण तो अब स्वर की तरह होता ही नहीं, 'रि' की भाँति होता है। आधुनिक हिन्दी-विद्वानों ने मुद्रणयन्त्र आदि में इससे लाघव भी बता दिया था। पर यह दृष्टि बड़ी अवैज्ञानिक है। एक तो यही कहना गलत है कि ऋ का उच्चारण रि है, पहले बता चुके हैं कि इसका उच्चारण र, रि, रु तीनों की भाँति देशभेद से होता है। दूसरी बात यह कि ऋ से जितने गुण, वृद्धि आदि स्वर-कार्य होते हैं, वे रि से कैसे होंगे? इसे

१. १।३।९३।
२. ७।२।६०।
३. ऋग्० १०।१३०।६।
४. अथर्व० ७।८७।
५. ऐ० ब्रा० १।२।
६. ऐ० ब्रा० ३०।६।
७. ऐ० ब्रा० १०।१।
८. ऐ० ब्रा० १।२।५।३।
९. ऐ० ब्रा० १२।१।
१०. छा० ब्रा० ७।३।
११. वहीं।
१२. वहीं।
१३. वहीं।
१४. ऐ० आ० १।३।८।
१५. भीष्मपर्व ९६।७६।
१६. ६।५२।
१७. ३।५।८।
१८. ३।७।२५। महाभाष्य, काव्यादर्श आदि में भी क्लृप् धातु का प्रयोग खूब हुआ है।

स्वरपंक्ति से निकाल देने पर आनेवाली पीढ़ी कैसे समझेगी कि ऋषि से आर्ष, ऋतु से आर्तव, दृढ़ से दाढ्यं, वृष्णि से वार्ष्णेय, कृष्ण से कार्ष्ण या कार्ष्णि, कृत्स्न से कार्त्स्न्य और देव + ऋषि = देवर्षि, ब्रह्म + ऋषि = ब्रह्मर्षि, महा + ऋषि = महर्षि, राज + ऋषि = राजर्षि, सप्त + ऋषि = सप्तर्षि, वर्षा + ऋतु = वर्षर्तु, उत्तम + ऋण = उत्तमर्ण, अधम + ऋण = अधमर्ण, पुरुष + ऋषभ = पुरुषर्षभ, भरत + ऋषभ = भरतर्षभ आदि सैकड़ों नित्यप्रयुक्त शब्द कैसे बनेंगे। ऋत से निषेधार्थ अनृत, ऋ से अनृण, आनृण्य, ऋतु से अनृतु आदि में न् का आगम कैसे होगा? मुनि + ऋषभ आदि स्थलों में मुन्यृषम ऐसा यण् कैसे होगा: दातृ से दात्रा, दात्रे, दात्रोः आदि में यण् से रूपसिद्धि कैसे होगी? कृष्, घृष्, तृष्, धृष्, वृष्, हृष्, कृश्, दृश्, मृश्, सृज्, सृप् आदि ऋदुपध धातुओं में गुण-स्थलों में कर्षण, घर्षण आदि प्रयोग कैसे बनेंगे? श्लोक में **मधुसमृद्धिसमेधित मेद्यया** को सम्रिद्धि पढ़ेंगे तो तृतीयाक्षर लघु नहीं गुरु बन जायगा और छन्द का भङ्ग होगा। अतः ऋ को अब भारतीय भाषा तथा लिपि से हटाना संभव नहीं है। ऋ का काम रि से ही लें तब तो अतिरिक्त में यण् हो जाय, अरिक्त में न् का आगम हो जाय, रिक्थ से महा + रिक्थ नहीं महर्क्थ, रैक्थिक नहीं आर्क्थिक बनने लगे। वैसे ऋ का रि उच्चारण परिनिष्ठित संस्कृत में भी हो गया था, तभी तो कृ + यते = क्रियते, कृ + यात् = क्रियात्, कृ + आ = क्रिया बनते थे। कृमि की जगह क्रिमि, गृवा की जगह ग्रीवा ऐसे ही तो बने! ऋ का र उच्चारण भी होता था, मृदु से म्रदिमा, पृथु से प्रथिमा, दृश् से द्रक्ष्यति आदि। पर हम ऋ को हटा नहीं सकते।

इसी भाँति कुछ लोग मूर्धन्य ष को भी निर्वासित करना चाहते हैं। वे यह नहीं समझते कि ऐसा करने पर विश्न, प्रश्न की भाँति विष्णु, कृष्ण भी विश्नु और कृश्न हो जायेंगे। जैसाकि पहले बता आये हैं, वैदिक भाषा में षकार और णकार जान के समान हैं। दृश् से दर्षण और वृष् से वर्षण में अन्तर कैसे करेंगे? यह कितना वैज्ञानिक है कि वृष्, सृज्, दृश् से त या ति प्रत्यय करने पर चूँकि सभी धातुएँ मूर्धन्य षकारान्त हो जाती हैं, इसलिए परवर्ती + तवर्ग भी टवर्ग में परिणत होता है, जैसे वृष्ट-वृष्टि, सृष्ट-सृष्टि, दृष्ट-दृष्टि। यहाँ तालव्य श रखने पर टवर्गापत्ति की क्या व्याख्या करेंगे? अतः उच्चारण में चाहे जो भी त्रुटि हो रही हो, हमें ष, ऋ, ऌ को अपनी वर्णमाला में रखना ही पड़ेगा। वैसे तो कुछ लोग य् व् बोल ही नहीं सकते; क्योंकि उनसे ईषत्स्पर्श की निपुणता नहीं हो पाती, वे पूर्ण स्पर्श कर ज और ब बोल देते हैं, योजना को जोजना, योगी को जोगी, यज्ञ को जग्य, वेद को बेद, विज्ञान को बिज्ञान, मणि को मनि, कल्याण को कल्यान कहते हैं। कुछ र् भी नहीं बोलकर ड़ बोलते हैं, धरम-करम को धड़म-कड़म कहते हैं। तो क्या इनकी अशक्ति से य्, व्, ण आदि को भी हटा दें? यह गलत तर्क है। ये सब वर्ण अब भारतीय भाषाओं में ऐसे बद्धमूल हो चुके हैं कि इनका निष्कासन संभव नहीं है। पाणिनि ने बहुत सूक्ष्म विचार करके ही इन ध्वनितत्त्वों को अपने भाषाविज्ञान में स्थान दिया है।

यूरोपीय भाषावैज्ञानिक यूरोपीय भाषाओं में टवर्ग तथा चवर्ग के नहीं रहने से यह कहते हैं कि प्राचीन आर्य-वर्णमाला में ये ध्वनियाँ नहीं थीं। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अपने 'सामान्य भाषाविज्ञान' के चौबीसवें अध्याय में आर्य-परिवार की आदिम भाषाओं की ध्वनियों की एक तालिका दी है। इसमें बहुत-सी बातें मुनित्रय की सम्मति के विरुद्ध हैं।

(१) कवर्ग के तीन रूप माने गये हैं, पर हमारा वर्त्तमान कवर्ग उन तीनों से भिन्न है। प्रथम कवर्ग कण्ठतालव्य है, क्य, ख्य, ग्य, घ्य जैसा। दूसरा कण्ठ्यसंघर्षी है, अरबी के कवर्ग जैसा—क़् ख़् ग़् घ़् जैसा। तीसरा कण्ठ्योष्ठ्य है—क्व, ख्व, ग्व, घ्व, जैसा। आश्चर्य है, इसमें एक कण्ठ्य मूर्धन्य या कण्ठ्यदन्त्य का भी योग क्यों नहीं किया—क्र, ख्र, ग्र, घ्र जैसा।

(२) चवर्ग की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। यह वर्ग बाद में भारतीय भाषा में टपक पड़ा है। क्या अँगरेजी में Chin, jail आदि शब्दों में उच्चरित च, ज भी बाद के ही परिवर्धन माने जाते हैं, या वे संस्कृत के चवर्ग से भिन्न माने जाते हैं?

(३) टवर्ग तो अनार्य-ध्वनि, द्रविड़ों से ली गई ध्वनि, घोषित ही कर दी गई है। पीछे दिखा आये हैं कि वैदिक संस्कृत भाषा में टवर्ग की कितनी प्रचुरता है। अँगरेजी के कैट, ग्रैड आदि शब्दों में टवर्ग की इतनी प्रमुखता है कि वह भी टवर्ग-प्रधान भाषा ही लगती है। किन्तु, अँगरेजी टवर्ग को भी भारतीय टवर्ग से भिन्न मानते हैं।

(४) ङ ञ ण को भला क्यों मान्यता मिलेगी, जब इनका पूरा वर्ग ही उड़ा दिया गया। प्राचीन स्पर्शों में केवल तवर्ग तथा पवर्ग को मान्यता मिली है, पर उनमें भी न और म को स्थान नहीं प्राप्त है। ये य र ल व के साथ अन्तस्थ व्यंजन माने गये हैं, बल्कि इन्हें इतनी पदोन्नति मिली है कि इन्हें इ उ ऋ ऌ के साथ ऩ् म़् दो अन्तस्थ स्वर के रूप में भी माना जा रहा है।

(५) ऊष्मों में केवल स् का उल्लेख है। श् और ष् तो बेचारे कण्ठ्य और तालव्य स्पर्शों के साथ हटाये ही गये। आश्चर्य है कि ह् को भी कैसे निष्कासित कर दिया गया, जो बेचारा सब ध्वनियों का मूल था। जिह्वामूलीय, उपध्मानीय को कौन पूछे, विसर्जनीय भी निष्कासित हुआ।

(६) ह्रस्व स्वरों में अ के साथ ए ओ भी आ बैठे? इन्हें तो पतंजलि ने दूर हटाया था। इ उ ऋ ऌ की ह्रस्व स्वरों में चर्चा नहीं हुई, वे तो बेचारे अन्तस्थ ठहरे, उन्हें ह्रस्वत्व दीर्घत्व से क्या मतलब! उन्हें इस श्रेणी में बैठाने पर ऩ् म़् को भी लाना पड़ेगा।

(७) इसलिए दीर्घ भी केवल तीन रह गये—आ, ए, ओ। ई ऊ ॠ को निर्वासित कर दिया। साथ ही ऐ औ को भी हटाया। ये मूल नहीं मिश्र स्वर हैं। और ए तथा ओ मूल, अमिश्र स्वर हैं?

(८) मिश्र स्वरों की भी लम्बी तालिका है। इनके दो भेद हैं—मिश्र ह्रस्व तथा मिश्र दीर्घ। शेष कुल वर्णों के बराबर केवल ये मिश्र स्वर ही हो जाते हैं। ह्रस्व अ, ऐ औ से आरम्भ कर अन्तस्थ स्वर इ, ऋ, ऌ, उ, ऩ् म़् जोड़कर प्रत्येक से ६-६ मिश्र ह्रस्व स्वर बनाये गये हैं, तथा दीर्घ आ, ए, ओ से भी उपर्युक्त ६ अन्तस्थ स्वर जोड़कर ६-६ दीर्घ मिश्र स्वर। इस प्रकार कुल ३६ मिश्र स्वर हो गये हैं। किन्तु यह संख्या तो बहुत कम है। यह आवश्यक नहीं कि मिश्र स्वरों में पहले मूल स्वर ही रहे, बाद में अन्तस्थ स्वर। विपरीत भी तो हो सकता है! अतः जैसे ६ मूल स्वरों से आरम्भ होनेवाले

मिश्र स्वर ३६ हैं, वैसे ही ६ अन्तस्थ स्वरों से आरम्भ होनेवाले भी ३६ मिश्र स्वर हो सकते हैं—कुल बहत्तर।

(६) इनके अतिरिक्त एक उदासीन स्वर भा माना गया है—अ।

भारतीय परम्परा से ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया :

यह सब कथन भारतीय ध्वनिविज्ञान के विरुद्ध है। भारतीय परम्परा के अनुसार ध्वन्युत्पत्ति की यह प्रक्रिया है। आत्मा जब बुद्धि से परामर्श कर मन को विवक्षित बात कहने की आज्ञा देता है, तब मन कायाग्नि की प्रेरणा से ध्वन्युत्पादक वायु उत्पन्न करता है। वही श्वास-वायु के साथ मिलकर ध्वनियन्त्रों की सहायता से विभिन्न ध्वनियाँ पैदा करती है। वह श्वास-वायु ऊपर की ओर उठकर निकलने का दूसरा मार्ग नहीं पाकर नासिका-रन्ध्र से निकलती है। यही स्थूल बिन्दु बनकर सब नादमय वर्णों का मूल कारण बनती है। यह अनुनासिक या अनुस्वार-रूप है। मुँह बन्द कर नाक से ध्वनि पैदा करने पर दो ही वर्ण उत्पन्न होते हैं—उँ या हुँ। मुँह बन्द कर कोई भी गीत गुनगुनाने से यह ध्वनि स्पष्ट सुनी जा सकती है। यह वर्णों की अव्यक्त स्थिति है। यही बिन्दु नादप्रपंच के लिए दो भागों में बँटकर विसर्ग रूप को प्राप्त करती है। इसमें मुँह खोलकर वायु को वेग से छोड़ा जाता है, अतः इसे विसर्जनीय कहते हैं। यह अनुनासिक ध्वनि की तरह स्वावलम्बी और पूर्ण नहीं। शुद्ध अनुनासिक ध्वनि मुँह को सर्वथा बन्द कर केवल नासिका-रन्ध्र से निकाली जाती है, और शुद्ध विसर्जनीय ध्वनि नासि-कारन्ध्र बन्द कर केवल मुख-विवर से। अनुनासिक ध्वनि या स्थूल बिन्दु ही शुद्ध मूल प्रकृति है। उसके बाद प्रकृति-विकृतियों की परम्परा चलती है। विसर्जनीय ध्वनि में कण्ठ-प्रदेश में जिह्वा के द्वारा कुछ रुकावट होती है, अतः यह कण्ठ्य ध्वनि है—जैसे प्रातः में। इससे तीन और ध्वनियाँ निकलती हैं—

(क) ह, इसमें उरःप्रदेश में ही वायु में कुछ विकार होता है, अतः इसे उरस्य कहते हैं।

(ख) जिह्वामूलीय, इसमें जिह्वामूल की सहायता ली जाती हैं, अतः इसे जिह्वा-मूलीय कहते हैं और

(ग) उपध्मानीय, इसमें फूँकने की-सी ध्वनि होती है, और ओठ की सहायता ली जाती है। अतः यह उपध्मानीय तथा ओष्ठ्य मानी जाती है। जैसे क्रमशः निः + चय = निह्चय (भोजपुरी), महान् आदि की ह्, प्रात⌒काल की जिह्वामूलीय तथा प्रात⌒प्रातः की उपध्मा-नीय ध्वनियाँ। इन चारों को शुद्ध ऊष्म ध्वनि कहते हैं; क्योंकि इनके उच्चारण में हवा में वेग के कारण भीतर की गर्मी बनी रहती है। इनमें भी ह् सर्वाल्प ऊष्म रहता है; क्योंकि उसके उच्चारण में कण्ठ के संवृत रहने से हवा में वह वेग नहीं रहता। इस विसर्ग को ही कण्ठविवर को विवृत रखकर संघर्षी ऊष्म बनाने पर तालु, मूर्धा तथा दन्त से क्रमशः तीन ध्वनियाँ निकलती हैं—श, ष तथा स; जैसे—निः + चय = निश्चय, निः + फल = निष्फल, निः + तार = नि-स्तार। फिर इन पाँच ऊष्मों अर्थात् जिह्वामूलीय, श, ष, स तथा उपध्मानीय से वर्णधारा निकलती है। जब इनका घर्षण और ऊष्मत्व-अंश नहीं रहता, बल्कि कण्ठ-विवर के विवृत रहने पर भी जिह्वा के तात्वादि स्थानों को छूकर खड़ा हो जाने से वायु के वेग का निरोध हो जाता

है, तब इनसे क्रमशः क च ट त प—ये पाँच स्पर्श-ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। अन्तः + करण = अन्त≍करण (= अन्तक् करण), वह् + स्यति वक्ष्यति, दुह् + त = दुग्ध, वाहन—वैगन (अँगरेजी) तथा वागो (रूसी), उत् + शिष्ट = उच्छिष्ट, रामस्य—रामश्य (बँगला)', रामच्याँ (गुजराती), क्वेस्शन (Question)—क्वेश्चन, वस् + स्यति = वत् स्यति, विद्वस् + भ्याम् = विद्वद्भ्याम्, पुनः + पुनः = पुन≍पुनः—पुनप्पुनः या पुनफ्पुनः आदि उच्चारणों में यही प्रवृत्ति काम करती है। ये शुद्ध स्पर्श-व्यंजन हैं। इनमें ऊष्मता बिलकुल नहीं रह गई है। इन्हीं में जब स्पर्श के साथ थोड़ी ऊष्मता भी रहती है, जब पूर्वापेक्षया श्वास-वायु का वेग कुछ अधिक रहता है, तब इनसे क्रमशः ख छ ठ थ फ—ये द्वितीय वर्ण उत्पन्न होते हैं। ऊष्म वर्णों से पूर्व आये प्रथमाक्षर इसी कारण द्वितीय वर्णों में परिणत हो जाते हैं कि परवर्त्ती ऊष्मता से ये भी प्रभावित हो जाते हैं। पौष्करसादि आचार्य ने इस ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। इसीलिए कुछ लोग उत्सव को उथ्सव, अप्सरा को अफ्सरा बोलते हैं। संस्कृत का 'अपशोच' फारसी में 'अफसोस' इसी भाँति हो गया है। प् का फ् हो गया, और जैसे ऊष्म का चवर्ग होता है, वैसे ही चवर्ग का भी ऊष्म हो गया, ऊष्म के सम्पर्क से। कोई बक्शीजी कहता है, कोई बख्शी जी। ह को छोड़ शेष सभी उपर्युक्त ध्वनियों में गलविवर के विवृत रहने से श्वास पैदा होता है, घोष नहीं होता है। अतः ये सभी पूर्णतः नाद और घोष से हीन हैं। किन्तु जब इन्हीं क च ट त प में गलविवर को संवृत करने से नाद और घोष पैदा हो जाते हैं, तब ये क्रमशः ग ज ड द ब में परिणत हो जाती हैं। आगे किसी नादवान् वर्ण के रहने पर पूर्ववर्त्ती नादहीन भी नादवान् बन जाता है; जैसे—वाक् + ईश्वर = वागीश्वर, अच् + अन्त = अजन्त, षट् + यन्त्र = षड्यन्त्र, जगत् + गुरु = जगद्गुरु, अप् + ज = अब्ज आदि। ये पाँचों वर्ण स्वनशील हो गये। चूँकि सर्वोत्तम नादवान् स्वर हैं, इसलिए नादवान् होने से ये तृतीय व्यंजन स्वरत्व-प्राप्ति की ओर उन्मुख हुए। इन्हीं पाँचों में यदि ऊष्मत्व का मिश्रण हो जाय, तो ये घ झ ढ ध भ बन जाते हैं। पहाड़ी लोगों को चूँकि प्रायः चढ़ाई के कारण अधिक लम्बी साँस लेनी पड़ती है, इसलिए वे अल्प-प्राण-महाप्राण अर्थात् निरूष्म-सोष्म का अन्तर नहीं रख पाते। वे क् को ख् तथा ग् को घ् कहते हैं। बल्कि उनकी लिपि में, वर्णमाला में एक ही वर्ण होता है, और उसका उच्चारण वे अर्ध महाप्राण की भाँति करते हैं। अँगरेज लोग 'करोति' को 'खरोति' जैसा बोलेंगे। इसीलिए वे 'त्रि' को 'थ्री', 'पलाय्' को 'फ्लाय्' बोलते हैं; रूसी में 'शर्करा' को 'साखार' कहते हैं। जब ध्यान देकर वे अल्पप्राण का उच्चारण करना चाहते हैं, तब महाप्राण को भी अल्पप्राण ही बोलने लगते हैं; जैसे—'खट्वा' को 'कौट', 'भ्रातर'—'ब्रादर', रूसी में 'ब्रात' आदि। अज्ञान से भी ऐसा होता है। हिन्दी में जो उर्दू के ज़ फ़ क़ के स्थल नहीं पहचानते, वे ज की जगह ज़ और ज़ की जगह ज बोल जाते हैं। जिन्हें व और ण के उच्चारण का ठीक अभ्यास नहीं, वे व, ण की जगह प्रायः ब, न बोलते हैं, वेद को बेद तथा स्मरण को स्मरन कहते हैं। विना का बिना, विल्व का बेल, वश का बस, हरिण का हिरन और द्विगुण का दुगुना ऐसे ही बनता है। जब अधिक सावधानी रखने की चेष्टा करते हैं, तब ब को भी व तथा न को भी ण बोल देते हैं—जैसे बाह्य को वाह्य, 'बाहु' को 'वाहु' और 'करना' को 'करणा', 'भजन', को 'भजण', 'बहन' को 'भैण' आदि। संस्कृत में इसका विवेक आवश्यक था

कि कहाँ महाप्राण वर्ण का उच्चारण होगा, कहाँ अल्पप्राण का। जब ग ज ड द ब में महाप्राणत्व नहीं अनुनासिकत्व का मिश्रण होगा, तब ये क्रमशः ङ ञ ण न म में परिणत हो जायेंगे। अब ये इतने स्वनशील (Sonant) हो गये कि स्वर के पास पहुँच गये। दिग् + मण्डल = दिङ् मण्डल; जगद् + नाथ = जगन्नाथ या भिद् + न = भिन्न; षड् + मुख = षण्मुख, अब् + मध्य = अम्मध्य आदि में इसके उदाहरण प्रत्यक्ष हैं। आधुनिक भाषाओं में यह प्रवृत्ति क्षेत्रीय बोलियों में ज्यादा है। भोजपुरी में तो जहाँ भी ग का अनुनासिक से संपर्क होता है, वहाँ वह ङ ही बन जाता है—'माँगना' का 'माङना', 'रँगना' का 'रङना', 'आँगन' का 'आङन' उच्चारण होता है। यह प्रवृत्ति खड़ीबोली में भी बढ़ रही है। 'माँगकर' शायद ही कोई बोलता है, सब 'माङकर' कहते हैं। अँगरेजी में भी Long का 'लौंग' नहीं 'लॉङ्' ही उच्चारण है। भोजपुरी में चन्दन को चन्नन, इन्दर (इन्द्र) को इन्नर कहते हैं और चुम्बा को चुम्मा। अम्बा को अम्मा तो खड़ीबोली में भी कहते हैं। अधिक सावधानी में कभी इससे विपरीत प्रक्रिया भी हो जाती है; जैसे सुनर—सूनर—सुन्नर—सुन्दर; बानर—बन्नर—बन्दर आदि। आनुनासिक्य कम होने या हटने पर ये पंचमाक्षर तुरत तृतीयाक्षर बन जाते हैं, महिष>बँहिस>भँइस>भैंस; माई>बाई, मा>बा आदि शब्द ऐसे ही बनते हैं।

जब इन पंचमाक्षरों से स्पर्श की मात्रा थोड़ी कम कर दें, अर्थात् जीभ ताल्वादि स्थानों को पूरी तरह छूए नहीं, केवल अति समीप पहुँच जाय, और आनुनासिक्य कम कर दें तो ये ही क्रमशः ह य र ल व में परिणत हो जाते हैं; यज्ञ का यग्यँ, निम्बु का लेमू (Lemon), 'बालावली' का 'बरौनी' विना का बिला, नापरवाह—लापरवाह, नंगा—लंगा, धनमान्—धनवान्, गमन का गवना, भ्रमर का भँवर आदि ऐसे ही बनते हैं। विपरीत उदाहरण भी मिलते हैं, जहाँ अन्तस्थ ही पंचमाक्षर में बदल जाते हैं, जैसे लवण—नमक, लुञ्चन—नोचना आदि। कभी-कभी तृतीयाक्षर और अन्तस्थ वर्णों में सीधे परस्पर परिवर्त्तन होता है, जैसे वद्—बोल, यथायोग्य—जथायोग्य, युवान्—जवान, द्वारवान्—दरबान, क्रोड—कोरा, तब>तव>तड>तो आदि। इस प्रकार तृतीयाक्षर, पंचमाक्षर और अन्तस्थ वर्णों में बहुत सादृश्य है। ये स्वर नहीं होकर भी स्वनशील होने से स्वरसदृश हैं।

अन्तिम विकास की सीढ़ी में इन अन्तस्थों के ही संप्रसृत रूप मूल स्वर बन जाते हैं, ह् का अ, य् का इ, र् का ऋ, ल् का ऌ तथा व् का उ। इनके उदाहरण पीछे दिखाये जा चुके हैं।

पाणिनि ने वर्णों को संकोच या ह्रास के क्रम से दिखाया है, विकास के क्रम से नहीं। इसीलिए स्वर से आरम्भ कर ऊष्मों से तथा पंचम वर्णों से आरम्भ कर प्रथम वर्णों से समाप्त किया है। पहले सर्वाधिक विकसित वर्ण अ को प्रस्तुत किया, फिर क्रमशः अविकसित वर्णों को कहते-कहते अन्त में ह् पर आये। अहिर्बुध्न्य-संहिता के अनुसार वैष्णवतन्त्र के मत में भी स्पर्शों की गिनती विपरीत क्रम से ही दी है, म भ ब फ प, न ध द थ त इस भाँति। डॉ० मनमोहन गौतम ने कहा[1] है कि इन प्रत्याहार-सूत्रों में क्रम से चार प्रकार की

१. सरल भाषाविज्ञान, पृ० २७७।

ध्वनियाँ आती हैं —पहले स्वर, फिर ऐसे व्यंजन जो स्वनन्त स्वरों में समानधर्मा हैं, तब स्पर्श व्यंजन, और अन्त में घर्ष व्यंजन। आजकल के भाषावैज्ञानिक भी इसी क्रम से वर्णों का वर्गीकरण करते हैं। आजकल नागरी में वर्णों की शिक्षा विकास-क्रम से प्रचलित है, अतः बालकों को ङ घ ग ख क की जगह क ख ग घ ङ पढ़ाया जाता है। रोमन और अरबी ध्वनि या लिपि में तो इसका विचार ही नहीं हुआ है, यूँ ही सभी वर्ण बेतरतीब रख दिये गये हैं।

पाणिनि का मुख्य विषय है पदविज्ञान, अतः उन्होंने वर्णविज्ञान पर विस्तार से प्रकाश नहीं डाला। वर्णसमाम्नाय तो वैज्ञानिक ढंग से सजा दिया, पर वर्णों के स्थान-प्रयत्न की चर्चा अष्टाध्यायी में नहीं की। सम्भव है, पाणिनि ने शिक्षा में वर्णविज्ञान पर विस्तार से विचार करने के बाद अष्टाध्यायी में इसकी उपयोगिता भी नहीं समझी हो। किन्तु **'तुल्यास्यप्रयत्नं[१] सवर्णम्'** अर्थात् जिन वर्णों का स्थान और प्रयत्न तुल्य हो, वे परस्पर सवर्ण होते हैं। इस सवर्ण संज्ञा-सूत्र से, **'अणुदित्[२] सवर्णस्य चाप्रत्ययः'** अण् और उदित् वर्ण अपने सवर्ण के ग्राहक होते हैं, इस सवर्णग्राहक सूत्र से तथा **अकः[३] सवर्णे दीर्घः**, **इकोऽसवर्णे[४] शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** आदि विधिसूत्रों में सवर्ण वर्णों की चर्चा कर स्थान-प्रयत्न-विज्ञान की ओर प्रचुर संकेत कर दिया है। **स्थानेऽन्तरतमः[५]** से सदृशतम की तलाश में बाह्य प्रयत्न का भी संग्रह हो जाता है। **अर्त्तिह्रीब्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ[६]** में पुक्+णौ का पुङ्णौ निर्देश **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा[७]** से मिलकर बता रहा है कि ङ् और क् सवर्ण हैं। **एच इग्घ्रस्वादेशे[८]** में इक्+ह्रस्वादेशे—इग्घ्रस्वादेशे यह निर्देश बता रहा है कि **झयो होऽन्यतरस्याम्[९]** से किया ह् का पूर्वसवर्ण घ् तथा **झलां जशोऽन्ते[१०]** से किया क् का ग्, ये चारों सवर्ण हैं। **लशक्वतद्धिते[११]** में कुग्रहण तथा कृत् प्रत्ययों में किया गया टक[१२],

१. १।१।९।
२. १।१।६९।
३. ६।१।१०१।
४. ६।१।१२७।
५. १।१।५०।
६. ७।३।३६।
७. ८।४।५८।
८. १।१।४८।
९. ८।४।६२।
१०. ८।२।३९।
११. १।३।८।
१२. ३।२।८।

ख्युन्[1], ग्स्नु:[2], घञ्[3], ङ्वनिप्[4] आदि प्रत्यय बता रहे हैं कि क् ख् ग् घ् ङ् ये सवर्ण हैं, कु कहने से इन सबका ग्रहण होता है, अतः इन सब स्थलों में इनकी इत्संज्ञा हुई तथा कित्, खित्, गित्, घित् और ङित् मानकर विविध कार्य हुए। **नाज्झलौ**[5] का संकेत है कि अच् और हल् भी परस्पर तुल्यस्थान और प्रयत्नवाले हैं। **कुप्वोः**[6] ≍क≍ **पौ च** में कु तथा पु, **चुटू**[7] में चु तथा **न विभक्तौ**[8] **तुस्माः** में तु ग्रहण और **अणुदित् सवर्णस्य**[9] **चाप्रत्ययः** बता रहे हैं कि स्पर्शों में ये पाँच वर्ग हैं। पाणिनिशिक्षा को हम छोड़ भी दें तो केवल अष्टाध्यायी के ही उपर्युक्त प्रकार के सूत्रों के ज्ञापन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वर्णों में निम्नलिखित प्रकार से सजातीयता, स्थानप्रयत्न-तुल्यता थी—

स्वर	अन्तस्थ	स्पर्श	ऊष्म	अयोगवाह
अ	—	कवर्ग	ह	जिह्वामूलीय
इ	य	चवर्ग	श	—
उ	व	पवर्ग	०	०, उपध्मानीय
ऋ	र	टवर्ग	ष	—
ऌ	ल	तवर्ग	स	

लगता है, जैसे स्थान-प्रयत्न के अनुकूल वर्णों की कई श्रेणियाँ हैं, जिस प्रकार पंजाब-दल, गुरखा-दल, जाट-दल, महाराष्ट्र-दल आदि। वर्णों की सेना में सबसे मुख्य स्वर हैं, फिर उनके सहायक अध्यक्ष अन्तस्थ हैं। तब वर्गीय वर्णों की सेना है। तदनन्तर ऊष्मों की रक्षा-पंक्ति है। अन्त में अयोगवाहों का दल है, जैसे फौज के धोबी और हजाम, जो फौज के भीतर रहते हुए भी फौज में नहीं गिने जाते।

ध्वनियों की संख्या :

निगम और आगम की विभिन्न शाखाओं में वर्णित इन वर्णमालाओं को देखकर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

१. प्राचीन वैदिक संस्कृत भाषा में मुखविवर में तालु को स्थान की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा गया था—कण्ठ, तालु तथा मूर्धा। कण्ठ में जिह्वा के स्पर्श से उत्पन्न ध्वनियाँ

---

१. ३।२।५६।
२. ३।२।१३९।
३. ३।३।१६।
४. ३।२।१०३।
५. १।१।१०।
६. ८।३।३७।
७. १।३।७।
८. १।३।४।
९. १।१।६९।

कवर्ग, तालु में जिह्वा के स्पर्श से उत्पन्न ध्वनियाँ चवर्ग तथा मूर्धा में जिह्वा के स्पर्श से उत्पन्न ध्वनियाँ टवर्ग थीं। वैसे तो तालु एक सामान्य शब्द है, जिसका अर्थ है—मुखविवर की अर्धवृत्ताकार छत; परन्तु कण्ठविवर की ओर से इसके प्रथम भाग को कण्ठसान्निध्य के कारण कण्ठ कहते थे, मध्य भाग को तालु तथा अन्तिम भाग को मूर्धा। इसी क्रम से इनसे उत्पन्न ध्वनियों को कवर्ग, चवर्ग तथा टवर्ग कहते हैं। टवर्ग के उच्चारण में जिह्वा मुड़कर आती तो है मध्य तालु के पास, पर फिर उलटकर जाकर तालु के अन्तिम भाग को झटके से मारती है। इसके बाद तवर्ग का स्थान है, इसके उच्चारण में जिह्वा दाँतों की उपरली पंक्ति को छूती है। स्पर्शों का अन्तिम वर्ग है, पवर्ग—जिसमें जिह्वा का संयोग नहीं होता। दोनों होठों के संयोग से ही ये ध्वनियाँ निकलती हैं।

२. प्रत्येक स्पर्श वर्ग के लिए एक अन्तस्थ था। स्पर्श वर्णों में करण (जिह्वा) स्थान का पूरी तरह स्पर्श करता है। अन्तस्थों के उच्चारण में करण स्थान का पूरा नहीं, ईषद् स्पर्श करता है, बीच में थोड़ी विवृतता बनी रहती है। चवर्ग का अन्तस्थ य, टवर्ग का र, तवर्ग का ल तथा पवर्ग का व है। पवर्ग का उच्चारण ओष्ठद्वय के संयोग से होता है। यदि ओष्ठद्वय को विवृत रखा जाय तो ओष्ठ्य व्यंजन की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, अतः ओष्ठद्वय को बिलकुल पास-पास लाकर थोड़ी सहायता दाँतों से भी ली जाती है, इसीलिए 'व' दन्त्योष्ठ्य ध्वनि हो जाता है। इसी भाँति कवर्ग का भी एक अन्तस्थ था, जो ऊष्म ह् से बहुत-कुछ मिलता था। ऊष्म ह् से इसका भेदग्रहण दुष्कर होने से यह क्रमशः विनष्ट हो गया। इन्हीं पाँच अन्तस्थों से पाँच मूल स्वरों की उत्पत्ति हुई है, ह् से अ, य् से इ, र् से ऋ, ल् से ऌ तथा व् से उ। पाँचों अन्तस्थों से पाँचों स्वरों के उच्चारण में सादृश्य है, पर मूर्धन्य तथा दन्त्य अन्तस्थ का तो थोड़ा अंश भी स्पष्ट ही अपने स्वरों के साथ जुड़ा हुआ है।

३. अन्तस्थों की भाँति प्रत्येक वर्ग का एक ऊष्म भी था। कवर्ग का ह्, चवर्ग का श्, टवर्ग का ष् तथा तवर्ग का स्। ऊष्मों के उच्चारण में अन्तस्थ से भी ज्यादा करण और स्थान के बीच की विवृतता हो जाती है, और हवा कुछ वेग से निकलती है। यह सुविधा अधिक तालव्य, मूर्धन्य तथा दन्त्य ध्वनियों के उच्चारण में है, अतः इनसे ही श्वासवाले श ष स की उत्पत्ति होती है। ओष्ठद्वय अधिक खुलें तो ओष्ठ्य व्यंजन उत्पन्न ही नहीं हो सकता, और कम खुलें तो वह ध्वनि स्पर्श या अन्तस्थ हो जायगी। अतः यहाँ से ऊष्म का उच्चारण कुछ कठिन है। इसीलिए यहाँ अधिक वायुवेग लगाकर झटके के साथ अयोगवाह ऊष्म का उच्चारण करना पड़ता है, जिससे फूँकने की-सी ध्वनि होती है। इसे ही उपध्मानीय कहते हैं। जिह्वामूल-रूप करण तथा कण्ठ-रूप स्थान के संयोग में भी यही कठिनता है। उन दोनों में अधिक विवृतता रखना, साथ ही वायुवेग भी रखना कठिन है। अतः यहाँ दो उपाय सम्भव हैं—(क) गलविवर या स्वरयन्त्रमुख को ही संवृत रखकर वायु में थोड़ा वेग रखना, पर तब यह ध्वनि श्वासवान् नहीं नादवान् होगी; (ख) अथवा यदि गलविवर को विवृत रखना है तो वहीं ओष्ठ्य ऊष्म की भाँति कुछ अधिक वायु का झटका देना, इससे श्वासवान् विसर्ग तथा जिह्वामूलीय रूप दो अयोगवाहों का उच्चारण हो सकता है। इन तीनों ऊष्मों विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय में औरों से अधिक वायुवेग का

झटका है । प्रतीत होता है कि श ष स की भाँति ओष्ठद्वय से भी कोई विना झटके की व्यंजन-रूप ऊष्म ध्वनि निकाली जाती थी । याज्ञवल्क्य-शिक्षा में सम्भवतः इसे ही ओष्ठ्य वर्णों के साथ छ कहकर गिना गया है; क्योंकि चवर्ग के साथ अलग भी एक छ पढ़ा गया है । सम्भव है, यह किसी वर्गीय ऊष्म का ही अवशेष हो, जिसका उच्चारण कुछ छ्व की तरह होता हो । वैष्णव तथा शैव-शाक्त तन्त्रों ने श ष स ह के साथ क्ष को भी मिलाकर ५ ऊष्म माने हैं । अवश्य ही यह क्ष क्+ष संयोगजन्य नहीं है, अन्यथा यह मौलिक नहीं, संयोगवर्ण हो जायगा । तब तो वर्णमाला में त्र, ज्ञ आदि की भी गिनती करनी पड़ेगी । आश्चर्य है, अँगरेजी में भी इस क्ष की क्स, एक्स [x] वर्ण के रूप में सत्ता है । अँगरेजी-वर्णमाला में भी किसी संयुक्त व्यंजन का ग्रहण नहीं है । यह पवर्गीय ऊष्म व्यंजन न 'क्ष' था, न 'छ', दोनों से भिन्न, पर दोनों के सदृश था । क्ष का भी उच्चारण कठिन होने से लोगों ने उसे छ या ख बना दिया, जैसे क्षुर—छुरा, क्षत्रिय—छत्री, रक्ष्—रख, लक्ष—लाख आदि । कहीं अर्थभेद से एक ही शब्द के दो विकार हो गये, क्षार—छार, राख; क्षत्रिय—छत्री, खत्री आदि । पर पवर्गीय ऊष्म व्यंजन का उच्चारण तो और भी कठिन था । जैसे ऊष्म ह् से पृथक्ता का ग्रहण नहीं होने के कारण अन्तस्थ ह् लुप्त हो गया, वैसे ही चवर्गीय छ से पृथक्ता का ग्रहण नहीं होने के कारण पवर्गीय ऊष्म व्यंजन भी गायब हो गया ।

वैदिक काल में ळ एक ध्वनि थी, जिसका उच्चारण जिह्वामूल तथा तालु से होता था । पर यह कठिन उच्चारण था । क्रमशः इसका उच्चारण दन्त्य हो गया, या मूर्धन्य ड । कोई 'अग्निमीले' कहता था, कोई 'अग्निमीडे' । साहित्यिक परिनिष्ठित भाषा में 'ळ' ध्वनि को स्थान नहीं मिला, अतः पाणिनि ने कहीं इसकी चर्चा नहीं की । पर लोकभाषा में यह 'ळ' तथा इसका महाप्राण-रूप 'ळ्ह' दोनों कुछ विकार के साथ अपना स्वतन्त्र पृथक् अस्तित्व बनाये रहे । हिन्दी में आज भी ड़ और ढ़ सम्भवतः उन्हीं के पररूप होकर प्रयुक्त हैं; क्योंकि ळ और ळ्ह का ही नियम इसके साथ भी लागू है । ड के स्थान में ळ तथा ढ के स्थान में ळ्ह तब होते थे, जब इनके दोनों ओर स्वर रहते थे । आज भी डमरू का ड़मरू तथा ढोल का ढ़ोल कोई नहीं कहता । गड़हा या गढ़ा होता है । यह ड़ सीधे संस्कृत के ड के स्थान में होता है; जैसे क्रीडा—क्रीड़ा, आलोडन—आलोड़न, ताडन—ताड़न, मूढ—मूढ़, गाढ—गाढ़, रूढ—रूढ़ अथवा तद्भव शब्दों में, जैसे पाटयति—फाड़ता है, कटक—कड़ा, वट—बड़, लोष्ट—लोढ़ा, दंष्ट्रा—दाढ़ आदि में । यह प्रवृत्ति बिहार के पूरबी भाग में बहुत है । उधर र का भी ड़ हो जाता है और शब्द के आदि में भी । राम को ड़ाम, रात को ड़ात कहनेवाले लोग अशिक्षितों में काफी पाये जाते हैं । उधर के छात्रों को बचपन से काफी अभ्यास कराने के बाद राम और रात का उच्चारण सिखाया जाता है, और बड़ी कठिनाई से । कोई-कोई तो अति सावधानी से घोड़ा को घोरा, सड़क को सरक भी कहते हैं । ये दोनों क्षेत्रीय उच्चारण-से हो गये हैं । संस्कृत में ड ळ बनकर ल बन रहा था, लड् धातु से लल् धातु भी निकल आई और लाडन की जगह लालन तत्सम रूप भी तैयार हुआ । पर

हिन्दी में यह परिवर्त्तन र ड़ में भी शुरू हुआ। उत्तरप्रदेश ने इस ड़ को प्रायः कम आने दिया है, वहाँ पूरी-कचौरी कहते हैं, बिहार में पूड़ी-कचौड़ी, किन्तु घबराना—घबड़ाना दोनों सर्वत्र चल रहे हैं। हाँ, अर्थभेद के कारण सारी—साड़ी, नारी—नाड़ी, खारी—खाड़ी तथा खाढ़ी (भोजपुरी) का अन्तर हर जगह सावधानी से रखा जाता है।

यही कहानी ऋ और ष् की भी हो रही है। हम दोनों का उच्चारण भूल चुके हैं। ऋषि को कोई रिशि कहता है, कोई रिखी। हमने ऋण को रिन या रुन किया। अँगरेजी ने इसे 'लोन' कर दिया। बिहार ने तो असंयुक्त ष् को ही ख किया—षष्ठी का खष्टी, ईर्ष्या का ईर्खा, पर फारसी ने तो पुष्ट को भी पुख्ता, तष्ट को भी तख्ता कर दिया। ष् की मूर्धन्यता गायब हुई तो त् भी प्रकृतिस्थ हो गया—शुष्त का सोख्ता बन गया (शुष्त से ही संस्कृत शुष्क बन जाता है)। इस प्रकार ऋ और ष् के उच्चारण वास्तव में कठिन हैं, अतः किसी भी वर्णमाला में उनका स्थान नहीं था, भारतीय आर्य उन्हें हजारों वर्षों तक लाये। पर अब ये लुप्त हो रहे हैं। वर्णमाला से भी इनके निष्कासन के लिए बहुत तर्क दिये जा रहे हैं।

अँगरेजी में विवरण से उच्चारण की भिन्नता का मुख्य कारण यही है—मूल उच्चारण का विस्मृत होना। Daughter का gh मूल दुहितर के ह् का रूप ही है, जैसे कामदुहा का कामदुधा। ज् ञा का रूप ज् के कुत्व से ग्ना बना और चर्त्व से क्ना बना, और यही अँगरेजी के Know में अनुच्चरित क् का उत्स है, यह सब भाषावैज्ञानिक जानते हैं। इधर हिन्दी ने अनुस्वार का उच्चारण भुला दिया है, उसका उच्चारण कहीं ङ् कहीं न् तथा कहीं म् की तरह होता है, परन्तु हिन्दी में अङ्क, वञ्चित, पण्डित, अन्त, कम्पन लिखने में गौरव से बचने के लिए सर्वत्र अनुस्वार ही लिखने का प्रवाह बढ़ता जा रहा है। फलतः ङ् और ञ् स्थानहीन होते जा रहे हैं। किन्तु अंक को कोई विदेशी अन्क या अम्क नहीं, अंक ही पढ़े, इसलिए ङ लिखना ही ठीक है।

४. अधिकांश शास्त्रकार चार यम मानते हैं—कुँ खुँ गुँ घुँ। पिछले पृष्ठों में कई जगह चर्चा हो चुकी है कि यम वर्ण २० होते हैं। सभी वर्णों के आरम्भ के चार वर्ण किसी भी पंचम वर्ण के पूर्व आने पर उसके सामीप्य के प्रभाव से अनुनासिक बनकर यम नाम से पुकारे जाते हैं। सभी शास्त्रकारों ने क च ट त प के यम को कुँ, ख छ ठ थ फ के यम को खुँ, ग ज ड द ब के यम को गुँ तथा घ झ ढ ध भ के यम को घुँ कहा है। अर्थात् कुँ वर्गीय प्रथम वर्णस्वरूप यमों का उपलक्षक है, खुँ द्वितीय वर्णरूप यमों का, गुँ तृतीय वर्ण-रूप यमों का और घुँ चतुर्थ वर्णरूप यमों का। पर वैदिकाभरणकार ने पाँच यम माने हैं। वे सम्भवतः क च ट त प के यमों के लिए एक नाम कुँ न देकर क ख ग घ के यमों के लिए कुँ नाम देते हैं, जो अधिक वैज्ञानिक लगता है, तब पाँच यम कुँ चुँ टुँ तुँ पुँ होंगे। इस तरह हर वर्ग के लिए एक अन्तस्थ और ऊष्म की भाँति एक यम भी हो जायगा। ये यम अनु-नासिक होते हैं। पंचम वर्ण तो पूर्णतः अनुनासिक हो जाते हैं; जैसे दिग्+मण्डल=दिङ्+

मण्डल, पर यमों में भी कुछ अनुनासिकता रहती है, जैसे वाग्मी—वाग्ँग्मी आदि। जिस प्रकार प्रत्येक स्वर तथा अन्तस्थ (र् को छोड़कर) के दो रूप होते हैं—अननुनासिक तथा अनुनासिक, उसी भाँति सभी वर्गीय प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ स्पर्श वर्णों के भी दो रूप होते हैं। इसीलिए स्वामी दयानन्द यमों को पृथक् वर्ण नहीं मानते। पाणिनि का भी यही मत प्रतीत होता है। अगले या पिछले वर्णों के प्रभाव से उच्चारण-परिवर्त्तन तो सब वर्णों में होता है, तो कहाँ तक इस उच्चारण-भेद के कारण वर्णों की संख्या बढ़ाते रहेंगे? कई शास्त्रकारों ने, स्वयं पाणिनिशिक्षा ने भी, विभिन्न वर्णों के योग से ह् को उरस्य अथवा कण्ठ्य माना है, पर यह सूक्ष्मता ह् के ही लिए क्यों, और वर्णों के लिए भी तो हो सकती है? अतः यमों को वर्णमाला में पृथक् स्वतन्त्र स्थान नहीं मिलना चाहिए।

५. क्या प्रत्येक वर्ग के लिए अयोगवाह अर्थात् कोई सहायक ध्वनि भी रहना सम्भव है? कवर्ग के लिए विसर्जनीय और जिह्वामूलीय दो अयोगवाह हैं। पवर्ग के लिए एक उपध्मानीय। अथवा अनुस्वार भी ओष्ठ्य नासिक्य अयोगवाह ही है। शेष वर्गों के लिए कोई भी अयोगवाह उपलब्ध नहीं। किसी-किसी ने तो इन चारों को भी सहायक नहीं, पूर्ण ध्वनि ही मानकर व्यंजन माना है, तथा इन्हें श ष स ह से मिलाकर आठ ऊष्म वर्ण मान लिये हैं। पर इन चारों अयोगवाहों की अब स्वतन्त्र लिपि ही रह गई है, स्वतन्त्र उच्चारण सर्वथा लुप्त हो चुका है। शेष वर्गों के लिए संभवतः अयोगवाह रहे ही नहीं होंगे। कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ तथा उरस् (स्वरयन्त्रमुख), जिह्वामूल और नासिका—इनमें से आरम्भ के उरस्, कण्ठ और जिह्वामूल के पास अयोगवाह की ध्वनि उच्चरित हो सकती है, या अन्त के ओष्ठ के पास, या पृथक् ही नासिका की सहायता से; क्योंकि अयोगवाह वे ध्वनियाँ हैं, जो अपूर्ण ही रहती हैं। ये न तो स्वरत्व ग्रहण कर पाती हैं न व्यंजनत्व, इसीलिए इन्हें अ और श ष स दोनों के साथ रखा गया है। वास्तव में ये दोनों के बीच की ध्वनियाँ हैं। इनमें कुछ ऊष्मत्व भी है, कुछ स्वरत्व भी, किन्तु पूर्ण कोई नहीं। जब ध्वनिजनक प्राणवायु उरस् (स्वरयन्त्रमुख) या काकल से मुखविवर में प्रविष्ट होती है, और जब वह ओष्ठविवर से बाहर निकलती है तब ही, आदिभाग कण्ठ और अन्तभाग ओष्ठ इन्हीं दोनों के पास, ऐसी ध्वनि पैदा की जा सकती है, जो स्वर और व्यंजन दोनों से भिन्न हो; क्योंकि इन दोनों सीमास्थलों में श्वास पर ऐसा नियन्त्रण पाया जा सकता है। मध्य स्थिति में, अर्थात् तालु, मूर्धा और दन्त के पास श्वास-वायु का प्रवाह नियन्त्रित नहीं हो सकता। इन तीनों से, स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्म और स्वर ध्वनियाँ ही निकल सकती हैं। अयोगवाह के लिए करण और स्थान के बीच विवृतता भी चाहिए और वायुवेग भी, जो आदि और अन्त में ही सम्भव है, बीच में नहीं।

वर्णों का परस्पर सादृश्य : स्थान

यदि हम इन पंचविध वर्णों—स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्म, अयोगवाह और स्वर को क्रम से सजाना चाहें तो एक वृत्त बनाना पड़ेगा, जो इस तरह का होगा—

अर्थात् स्पृष्टता स्वर से शून्य विन्दु से चलकर क्रमशः बढ़ती-बढ़ती स्पर्श वर्णों तक पूर्णता पाती है, फिर घटने लगती है और घटती-घटती अयोगवाह से स्वर पर आकर फिर शून्य पर पहुँच जाती है, और विवृतता स्वर से पूरी इकाई से प्रारम्भ होकर क्रमशः घटती-घटती स्पर्श वर्णों के पास शून्य विन्दु तक पहुँच जाती है, और वहाँ से बढ़ती-बढ़ती फिर स्वरों पर आकर पूरी इकाई तक पहुँच जाती है। इस प्रकार स्वर और स्पर्श एक-दूसरे के पूर्ण विपरीत हैं। अन्तस्थ स्वर और स्पर्श के बीच हैं, तथा ऊष्म भी विपरीत दिशा में स्पर्श और स्वर के बीच हैं। अयोगवाह ऊष्मों और स्वरों के बीच हैं, अतः ये ऊष्मों की तुलना में स्वरों के निकटतर हैं। अयोगवाहों में विसर्जनीय और जिह्वामूलीय तथा ऊष्मों में ह् स्थान की दृष्टि से अ के बिलकुल पास[1] हैं, अतः पाणिनि की वर्णमाला अ से शुरू होकर ह् पर समाप्त होती है।

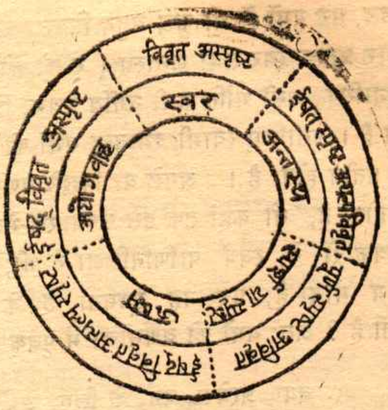

वर्णवृत्त-चक्र

अयोगवाहों में अनुस्वार शुद्ध नासिका से उत्पन्न होता है। जब मुँह बन्द कर केवल नासिका से ध्वनि निकाली जाती है, तब वह शुद्ध अनुस्वार ध्वनि होती है, किन्तु ऐसी हालत में दोनों ओठ भी सट ही जाते हैं। इसीलिए कुछ आचार्य अनुस्वार को ओष्ठ्य भी मानते हैं, यद्यपि इसमें मुख्यता नासिका की ही रहती है, ओष्ठद्वय स्पर्श गौण रहता है। इस प्रकार दो अयोगवाह उच्चारण-स्थानों के आरम्भ में (विसर्जनीय तथा जिह्वामूलीय) तथा दो अन्त में (उपध्मानीय तथा अनुस्वार) उत्पन्न होते हैं। इन अयोगवाहों के उच्चारण में इतनी निपुणता है कि ये ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल और संस्कृति के चरम शिखर पर पहुँची आर्य-जाति के ही वश की बात थी। ज्यों-ज्यों काल या देश की दूरी बढ़ती गई, यह उच्चारण की सूक्ष्मता भी लुप्त होती गई। रोमन या अरबी लिपि में न इनका उच्चारण है, न संकेत। इधर आधुनिक भारतीय भाषाओं में इसकी लिपि तो बची हुई है, पर उच्चारण सर्वथा विस्मृत हो गया।

६. पाँच वर्गों के लिए स्वर भी पाँच ही हैं—कण्ठ्य स्पर्श के लिए अ, तालव्य के लिए इ, मूर्धन्य के लिए ऋ, दन्त्य के लिए ऌ तथा ओष्ठ्य के लिए उ। स्वर ध्वनियाँ

१. बर्नार्ड ब्लॉख ने २-१०-४ में ठीक ही कहा है—"The consonant h, which we have described in 2. 5. 5 as a glottal spirant and which we shall so classify in 2. 11 can be alternatively regarded as a voiceless vowel or rather as a cover term for all voiceless vowels (Outlines of Linguistic Criticism).

उत्पन्न करने में स्पर्श को सर्वथा बचाना है। स्पर्श होते ही वर्गीय व्यंजन या अन्तस्थ ध्वनियाँ पैदा हो जायेंगी। जैसाकि ऊपर कहा गया है, अयोगवाह ध्वनि पैदा करना मुखविवर के पूर्वभाग में सम्भव है या अन्त भाग में, मध्यभाग में वायु-प्रवाह पर उचित नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। लगभग वही स्थिति स्वर ध्वनि के साथ भी है। जीभ यदि कण्ठ का स्पर्श करती है तो कवर्ग पैदा होता है, बिलकुल पास जाकर थोड़ा अवकाश छोड़ देती है तो अन्तस्थ ह ध्वनि, यदि कुछ और अवकाश छोड़कर वायुवेग को जोर से जाने देती है तो ऊष्म ह ध्वनि, तथा और अवकाश छोड़कर कुछ और अधिक वेग से जाने देती है तो विसर्जनीय और जिह्वामूलीय रूप अयोगवाह ध्वनि पैदा होती है। फिर जब जीभ कण्ठ की ओर ऊपर उठकर भी इतना अधिक अवकाश छोड़ देती है कि हवा का वेग और ऊष्मता शान्त-समाप्त हो जाती है, हवा इतमीनान से बाहर निकलती है, तब अ यह पूर्ण स्वर ध्वनि पैदा होती है, क्—ह् [अन्तस्थ]—ह् [ऊष्म]—विसर्जनीय या जिह्वामूलीय—अ इस प्रकार। यह स्थिति, ऐसा नियन्त्रण केवल मुखाकाश के आरम्भ-द्वार पर और समाप्ति-द्वार पर ही सम्भव है। आरम्भ-द्वार की भाँति समाप्ति-द्वार पर भी पवर्ग—व—ह्व [ओष्ठ्य ऊष्म]—उपध्मानीय तथा अनुनासिक ओर→उ यह स्वर, ये पाँच स्तर सम्भव हैं। इन दोनों स्थानों में भी अन्तस्थ ह तथा ऊष्म ह का विवेक नहीं हो पाता, अतः अन्तस्थ ह लुप्त हो गया [तेल अन्न—तेलहन; शीत—शीतन>सिअरन>सिहरन; शुक्तिका—सितुहा, अत्र—hither आदि में आगम रूप में सुरक्षित]। एक और बात है। ह का उच्चारण तालु के आरम्भ-बिन्दु से भी नीचे ही काकल के पास होता है, इसलिए इसे उरस्य कहा गया है। वहाँ तो स्पर्श की कल्पना-मात्र ही की जाती है, जिह्वा के मूल भाग से भी पहले इसका स्थान है, अतः यह जिह्वामूलीय की भाँति ही है। अन्तस्थ अर्थात् ईषत्स्पृष्ट ह का उच्चारण वास्तव में कठिन है। यही कठिनाई ओष्ठ्य ऊष्म ध्वनि में भी है। वहाँ कुछ-न-कुछ स्पर्श हो ही जाता है। जब स्पर्श से बचने की चेष्टा की जाती है तब हवा वेग से निकल पड़ती है और उपध्मानीय ध्वनि पैदा हो जाती है। इसलिए पवर्गीय ऊष्म भी कल्पना में ही रह जाता है। इस प्रकार मुखाकाश के आरम्भ तथा अन्त में सिद्धान्ततः और कठिनाई से ५ ध्वनि-जातियों की उत्पत्ति की जाती थी, पर सरलता से यहाँ चार ही ध्वनि-जातियाँ पैदा की जा सकती हैं। मुखाकाश के आरम्भ अथवा कण्ठ से अन्तस्थ की उत्पत्ति तथा समाप्ति अथवा ओष्ठ से ऊष्म की उत्पत्ति कठिन है। कण्ठ से आगे बढ़ने पर तालु के पास कठिनाई से भी ५ ध्वनियाँ नहीं पैदा की जा सकतीं, अतः सिद्धान्त से भी वहाँ चार ही ध्वनियाँ मानी गई हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत। ऊष्म और स्वर अर्थात् ईषद्विवृत और विवृत के बीच अयोगवाह ध्वनि पैदा करना असम्भव माना गया।

इसके आगे मूर्धा के पास तो चार ध्वनियाँ भी ठीक से पैदा नहीं हो पातीं, स्पर्श का सर्वथा शत-प्रतिशत परित्याग सम्भव नहीं हो पाता। पहले ईषत्स्पृष्ट र् से भी न्यूनतर स्पर्श कर किसी भाँति ऋ यह विवृत स्वर पैदा किया जाता था। पर यह परम्परागत कुशलता भी हम खो बैठे हैं, फलतः अब वह ऋ रि बन चुका है। जिस प्रकार इस स्थान में

हम स्पर्श से पिण्ड नहीं छुड़ा सके, उसी प्रकार ऊष्म से अधिक विवृतता भी सम्भव नहीं हो सकी, अतः ऊष्म ष के बाद मूर्धन्य अयोगवाह की ध्वनि कभी सम्भव नहीं हो सकी। पहले मूर्धा-स्थान से चार ध्वनियों का उत्पादन सिद्धान्ततः सम्भव माना गया था—स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्म और स्वर। किन्तु, अब इस स्थान से सर्वथा विवृत स्वर निकालना सम्भव नहीं रह गया। बल्कि अब तो मूर्धन्य ऊष्म ध्वनि भी पैदा करना कठिन होने लगा है। रोमन और अरबी लिपि में तो ष ध्वनि कभी रही ही नहीं, पर आज भारतीय भाषाओं में भी ष ध्वनि किसी तद्भव शब्द में नहीं पाई जाती। षष्टि का अँगरेजी ने 'सिक्सटी' किया, हिन्दी ने 'साठ'। मूर्धा से ऊष्म ष ध्वनि पैदा ही नहीं हो पाती, प्रायः आगे दन्त के पास जाकर वायु स ध्वनि पैदा करती है। जो बड़ी सावधानी बरतते हैं, उनसे पीछे ही तालु के पास श ध्वनि पैदा हो जाती है। जो शुद्ध उच्चारण के उत्साही हैं, वे स ध्वनि से तो बच जाते हैं, पर श ध्वनि से नहीं बच पाते। फलतः वे षट् को शट् कहते हैं। तालु में ईषत् विवृतता होने पर श् की उत्पत्ति होती है, पर जब यह विवृतता नहीं रह पाती, स्पर्श हो ही जाता है, तब चवर्ग की उत्पत्ति हो जाती है। इसी कारण अशिक्षितों से 'शकट' की जगह 'छकड़ा', 'शिक्य' की जगह 'छींका', 'शल्क' की जगह 'छिल्का' आदि उच्चारण होते हैं। पर चूँकि ष् भी श् के ही स्थान से उच्चरित होने लगा था, इसलिए स्पर्श होने पर ष् का विकार ठ नहीं छ होने लगा, षट् का छह। अब तो सभी तद्भव शब्दों में श् और ष् दोनों की जगह स् या छ् हो गये हैं। तात्पर्य यह कि अशिक्षित लोगों के लिए मूर्धन्य ही नहीं, तालव्य ऊष्म ध्वनि भी पैदा करना दुष्कर है। वे यदि तालव्य ध्वनि पैदा करना चाहते हैं, तो वह ऊष्म न होकर स्पर्श छ हो जाता है, और ऊष्मत्व की ओर अधिक ध्यान देते हैं, तो वह तालव्य न होकर दन्त्य स हो जाता है। इतनी निपुणता उनमें नहीं आ पाती कि वे तालु के पास ऊष्म ध्वनि निकाल सकें, जैसे अनभ्यस्त लोगों के दोनों हाथ तबले पर एक साथ नहीं जाते। अतः जैसे श्वशुर से ससुर, श्याल से साला, दश से दस, शक् से सकना, शोण से सोन हो जाता है, उसी भाँति शावक से छौआ, शिम्बि से छीमी, मशक से मच्छड़ बनता है। इसी भाँति षष्टि से साठ, षोडश से सोलह, मूषक से मूसा, यूष से जूस, चूष् से चूस होता है, षट् से छह, षट्षष्टि : से छाछठ हो जाता है। कभी-कभी तो ष् का उच्चारण भी पीछे हटकर तालव्य छ के बदले कण्ठ्य ख तक पहुँच जाता है; चष् का चख, शुष् का सूख, पुरुष का पुरखा आदि। अँगरेजी में भी 'मूष' का माउस (mouse), यूष का जूस (Juice) हुआ। मूर्धन्य ष की रक्षा कोई नहीं कर सका। इस प्रकार मूर्धा-स्थान से अयोगवाह ध्वनि निकालना असम्भव था ही, स्वर तथा ऊष्म ध्वनि भी पैदा करना कठिन हो गया। अब वहाँ से केवल दो ही ध्वनियाँ निकलती हैं—स्पृष्ट टवर्ग तथा ईषत्स्पृष्ट र। चूँकि यह मुखाकाश के मध्य में पड़ता है, इसलिए यहाँ नादोत्पादक श्वास-वायु के प्रवाह पर इतना अधिक नियन्त्रण नहीं किया जा सका।

फिर दन्त-स्थान में पहुँचने पर कुछ अधिक सुविधा है। यहाँ से स्पृष्ट तवर्ग, ईषत्स्पृष्ट ल तथा अस्पृष्ट ऊष्म स—तीन ध्वनियाँ सुगमता से निकलती हैं। अयोगवाह ध्वनि यहाँ से नहीं पैदा हो सकती; क्योंकि उसके उच्चारण के लिए वायु-वेग पर सर्वाधिक

निपुणतापूर्ण अधिकार चाहिए। दन्त से तो स्वर का भी उच्चारण ठीक से नहीं हो पाता, अयोगवाह का क्या होगा? इषद्विवृतता से तनिक भी अधिक विवृतता हुई कि पूरी वायु विना नाद के ही बाहर निकली और अधिक विवृतता रोकी गई, तो या तो ईषत्स्पृष्ट ल् मिश्रित ऌ का उच्चारण होगा या घर्षणयुक्त स् का। पहले के निपुण विद्वान् सम्भवतः दन्त्य विवृत स्वर की ध्वनि भी निकाल लेते थे, पर अब तो हम ऌ कहते हैं, जिसमें ल्+र्+इ का योग-सा रहता है, जिसमें दन्त्य के साथ मूर्धन्य और तालव्य ध्वनियाँ भी चिपकी हैं। शुद्ध दन्त्य स्वर का उच्चारण नहीं हो पाता। फिर भी मूर्धा से यहाँ हवा पर अधिक नियन्त्रण रहता है, अतः तीन ध्वनियाँ सुविधा से निकलती हैं।

ओष्ठ के पास पहुँचकर फिर हमारा वायु पर अधिकार उतना ही हो जाता है, जितना कण्ठ के पास। फलतः चार ध्वनियाँ सुविधा से उत्पन्न होने लगती हैं—स्पृष्ट पवर्ग, ईषत्स्पृष्ट व, अयोगवाह उपध्मानीय तथा स्वर उ। हाँ, ईषत्स्पृष्ट व् के उच्चारण में दन्त की भी सहायता लेनी पड़ती है, अन्यथा विवृतता बढ़ जाने से स्वर का उच्चारण हो जायगा, और यदि वायु में धक्का देंगे तो उपध्मानीय हो जायगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन पाँचों स्थानों में सर्वाधिक नाद कण्ठ के पास, फिर ओष्ठ के पास, फिर तालु के पास, तब दन्त के पास और न्यूनतम नाद मूर्धा के पास होते हैं, जो मुखाकाश में इन चारों के बीच पड़ता है। यह तालिका ऐसी होगी :—

स्थान

	कण्ठ	तालु	मूर्धा	दन्त	ओष्ठ
१. स्पृष्ट (स्पर्श)	कवर्ग	चवर्ग	टवर्ग	तवर्ग	पवर्ग
२. ईषत्स्पृष्ट (अन्तस्थ)	ह ?	य	र	ल	व
३. ईषद्विवृत (ऊष्म)	ह	श	ष	स	छ्व ?
४. विवृतसम (अयोगवाह)	:, ≈,	—	—	—	उपध्मानीय
५. विवृत (स्वर)	अ	इ	ऋ	ऌ	उ

दो स्थानों के सहयोग से भी कुछ ध्वनियाँ निकलती हैं—कण्ठ और तालु के संयोग से ए तथा ऐ, कण्ठ तथा ओष्ठ के संयोग से ओ तथा औ, और दन्त तथा ओष्ठ के संयोग से व। मूर्धा से अकेले भी कम ही ध्वनियाँ निकलती हैं, दूसरे के सहयोग में तो और भी कठिनाई हो जाती है। ड़ तथा ढ़ में मूर्धा ने दन्त का भी सहयोग लिया है, यद्यपि 'वेदमित्र' ने इनका स्थान केवल तालु बताया है।

नासिका का सहयोग ओष्ठ्य-दन्त्य ध्वनियों को औरों की तुलना में अधिक मिलता है। अतः नासिक्य ध्वनियाँ सर्वाधिक ओष्ठ्य हैं, अनुस्वार, म्, वँ, उँ; दन्त्य दो हैं न तथा लँ; मूर्धन्य केवल एक ण है। तालव्य इँ, यँ, और ञ हैं, पर यँ और ञ के उच्चारण में

अन्तर नहीं, यज्ञ को यज्यँ-सा और सयँ्यन्ता को सञ्ञ्यन्ता-सा बोलते हैं। अतः अँगरेजी में ञ नहीं है। हिन्दी में ञ लिखा तो जाता है, पर उच्चारण यँ-सा होता है; और अकेला असंयुक्त यह कहीं नहीं आता। वञ्चित आदि को वंचित आदि की भाँति लिखते हैं। कण्ठ्य नासिक्य भी दो ही हैं—अँ तथा ङ्। हिन्दी-संस्कृत में ङ ध्वनि की स्थिति पर पहले प्रकाश डाल चुके हैं। अँगरेजी में (रोमन लिपि में) यह ध्वनि नहीं है, पर विलियम जोन्स ने n+g का उच्चारण ङ् ही माना है, जैसे Long = लौङ् आदि। ध्वनियों में सर्वाधिक सरल उच्चारण स्वरों का है; क्योंकि इनमें जीभ को वह स्थान छूना भी नहीं पड़ता, अतः शिक्षित या अशिक्षित, बालक या बूढ़ा सभी इसका उच्चारण कर लेते हैं, इनकी संख्या भी अधिक नहीं है। इसके बाद सरल उच्चारण स्पर्शों का है, इनमें जीभ को वह स्थान छूना है। इसीलिए सभी भाषाओं, लिपियों में स्पर्शों की संख्या अधिक है। इसके बाद अन्तस्थों या ईषत्स्पर्श वर्णों का उच्चारण है। इनमें जीभ को कुछ अधिक साधना पड़ता है; क्योंकि यह मध्यम मार्ग है, न छूना, न नहीं छूना। इसके बाद ऊष्मों का उच्चारण है। इनमें जीभ उस स्थान की ओर उठी रहती है, और बीच के विवर से घर्षण के कारण हवा ऊष्म हो जाती है। यह एक कठिन प्रक्रिया है। सबसे कठिन प्रक्रिया तो है—अयोगवाहों का उच्चारण, जो केवल संस्कृत में ही थे, अँगरेजी-फारसी में ये बिलकुल नहीं हैं। हिन्दी-तद्भवों में भी अब अयोगवाहों का उच्चारण भूल चुका है, हम यह कह आये हैं। ऊष्मों में भी ष् को अँगरेजी-फारसी-हिन्दी सबने छोड़ दिया। श को अरबी-वर्णमाला में स्थान प्राप्त है, पर रोमन में नहीं; हाँ, अँगरेजी ने श का उच्चारण कायम रखा है। परन्तु साधारणतः अँगरेजी तथा फारसी दोनों को ऊष्म संघर्षी वर्णों के उच्चारण में कठिनाई पड़ी। स्पर्श करके घर्षण करना सरल है, अतः इनमें संघर्षी वर्ण अधिक कण्ठ्य तथा ओष्ठ्य स्पर्श ही हैं। इन स्थानों में तो संघर्ष से बचना ही कठिन है। इसीलिए अरबी-फारसी में कण्ठ्य क़ ख़ ग़ का खूब प्रयोग है और ओष्ठ्य फ़ का। तालव्य संघर्षी ज़ का भी अरबी में इतना ही प्रचार है। अँगरेजी में कण्ठ्य संघर्षियों का प्रयोग नहीं के बराबर है; बल्कि तालव्य ज़ तथा ओष्ठ्य फ़ के अलावा व़ का भी खूब प्रयोग है। अरबी में तो असंघर्षी कवर्ग है ही नहीं। हाँ, ज के संघर्षी तथा असंघर्षी, दोनों रूप रोमन तथा अरबी वर्णमालाओं में उपलब्ध हैं। यद्यपि अँगरेजी के संघर्षहीन ज का उच्चारण विलियम जोन्स ने अन्तस्थ य-सा माना है, Jesus का हिन्दी-रूप यीशू लिखा जाता है।

परन्तु, ऊष्म संघर्षी का उच्चारण कुछ अधिक कठिन था; क्योंकि इसमें विना स्पर्श के ही घर्षण पैदा करना था। अतः फारसी आदि ने अधिकांश ऊष्म संघर्षियों को असंघर्षी ऊष्म ह् में परिणत कर दिया। फारसी ने संस्कृत के सप्त का हफ़्त, सम का हम, सिन्धु का हिन्दु, पाषाण का पहाड़ कर दिया; अँगरेजी ने श्वेत का ह्वाइट (white), शत का हण्ड्रेड (hundred), शिर का हेड (head) और श्रु का हियर (hear) कर दिया। हिन्दी में भी एकादश इग्यारह बन गया, युष्माकम्—तुम्हारा आदि। दन्त के पास यह अस्पर्श संघर्ष अपेक्षाकृत सरल है, अतः अँगरेजी में यह प्रायः बच गया है। संस्कृत का 'सप्तन्' अँगरेजी में

'सेवेन' (Seven), सद्—सिट् (Sit), स्विद्—Sweat बन जाता है। बल्कि दन्त्य स्पर्श ध्वनियों में ही त को अँगरेजी ने गँवा दिया है। ऊपर के सभी उदाहरणों में जहाँ-जहाँ संस्कृत में त था, वहाँ-वहाँ अँगरेजी में ड या ट हो गया है। त ध्वनि अँगरेजी से लुप्त है, इससे विपरीत रूसी भाषा में सर्वत्र त ही है, ट कहीं मिलता ही नहीं। रूसी ने संस्कृत के तत्र का तुत् (TyT), मातर् का मात्य (MaTb), भ्रातर् का ब्रात (6PaT), प्लुत का फ्लोत (ФЛОТ), एतत् का एतो (ЭTo), तव का त्वोया (TBOЯ), पा त्वोय (TBOИ) आदि किया है। इनमें कहीं भी त का ट नहीं किया। इसी भाँति इसने सब जगह द उच्चारण रखा है। ड का नहीं, संस्कृत का दम (घर) यहाँ दोम (ДOM), उदक वोदा (BoДa) 'ददाति दायोत (ДaëT) बनता है, पर हर जगह द सुरक्षित रहता है। हाँ, अन्त में इसका वावसाने वाले नियम से त् उच्चारण हो जाता है, जैसे संस्कृत का रद रूसी में रोत् (PoT) बन जाता है। अँगरेजी के साथ यह विचित्रता है कि कहीं भी T का त या D का द उच्चारण नहीं है, दोनों का क्रमशः ट तथा ड उच्चारण ही सार्वत्रिक है। ये दोनों उच्चारण यदि शुद्ध मूर्धन्य न भी हों तो भी मूर्धन्यता-विहीन तो किसी हालत में नहीं हो सकते। अतः यह कहना ठीक नहीं कि 'पहले मूर्धन्य ध्वनियाँ आर्यभाषा में नहीं थीं, संस्कृत की भी मूर्धन्य ध्वनियाँ द्रविड़ प्रभाव से आई हैं।' ऐसी स्थिति में अँगरेजी की मूर्धन्य ध्वनियाँ ट और ड कहाँ से आई हैं? अँगरेजी में ट ड की भरमार है, पर आश्चर्य है कि अँगरेजी में T के साथ h जुड़ने पर उसका उच्चारण ठ नहीं थ् या द् होता है, जैसे तनु का thin, त्रि का Three आदि और तत्र का There, तत् का That आदि। रूसी में अँगरेजी के T तथा D का भी क्रमशः त और द ही उच्चारण होता है, अँगरेजी का पोर्ट रूसी में पोर्त, स्पोर्ट—स्पोर्त, स्टूल—स्तूल, फुटबॉल—फुतबॉल, और स्टुडेण्ट—स्तुदेन्त बन जाता है।

अँगरेजी ने श् को वर्णमाला में नहीं रखा है, पर श् उच्चारण को रखा है। संस्कृत का विनश् अँगरेजी में वैनिश (Vanish), और इष् या वश् विश् (Wish) बन जाता है। अरबी ने तो अन्तस्थ ह भी बचा रखा है। आइन्दः, रोजानः आदि में लिखा 'हमज़ा' या 'हे' अन्तस्थ ह ही है, जिसका उच्चारण हिन्दी में संप्रसारित होकर आ हो जाता है—आइन्दा, रोज़ाना। संप्रसारण-स्थल में संस्कृत में भी दीर्घ देखा जाता है, ज्या से जीन, ह्वे से हूत आदि स्थलों में।

अशिक्षित लोग ध्वनिजनक प्रक्रिया में अनिपुणता से किस प्रकार ईषत्स्पृष्ट य, व तथा र को पूर्णस्पृष्ट ज, ब तथा ड़ कर देते हैं, इसके प्रचुर उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। इसी भाँति कुछ लोग घर्षण पर भी अधिकार नहीं रहने से अनवसर घर्षण कर शुद्धस्पर्श को स्पर्श संघर्षी कर देते हैं—फल का फ़ल, खाना को ख़ाना, चन्दन को सैंडल, अपशोच को अफ़सोस आदि बोलते हैं, और कभी अवसर पर भी घर्षण छोड़ देने से ऊष्म-संघर्षी को स्पर्श बना देते हैं, जैसे शाबाश को चाबस, लालसा को लालच, शीशम को फीफम आदि।

इस प्रकार वर्णोच्चारण की शिक्षा के विना जिह्वा से विभिन्न स्थानों में स्पर्श और घर्षण का अन्दाज नहीं रहने के कारण वर्णों के उच्चारण में परस्पर व्यत्यय हो जाता है। इसीलिए शिक्षा की आरम्भिक सीढ़ी के उच्चारण शिक्षा से ही शुरू होने के कारण इस शाखा का नाम शिक्षा पड़ा है। कोई कितना भी ज्ञानी हो; पर यदि अशुद्ध उच्चारण करता है तो जनता पर बड़ा कुप्रभाव पड़ता है। इसीलिए माता-पिता बालक को बचपन से ही बड़ी सावधानी से उच्चारण करना सिखाते हैं—रोती नहीं, रोटी; दूद नहीं, दूध। किसी पिता ने ठीक ही अपने पुत्र को सीख दी है कि और कुछ नहीं पढ़ रहे हो तब भी कम-से-कम व्याकरण[1] तो पढ़ ही लो, अन्यथा तुम अपने भ्रष्ट उच्चारण से स्वजन (आत्मीय व्यक्ति) को श्वजन (कुत्ते), सकल (सम्पूर्ण) का शकल (खण्ड) और सकृत् (एक बार) का शकृत् (मल, विष्ठा) बना दोगे और उपहास के पात्र बनोगे।

आधुनिक दृष्टि से ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया

प्राचीन भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने वर्णों का विश्लेषण करते समय चार बातों की चर्चा की है—स्थान, करण, आभ्यन्तर प्रयत्न तथा बाह्य प्रयत्न। इन्हें समझने के लिए ध्वनियन्त्र का थोड़ा विश्लेषण[2] कर लेना आवश्यक है।

शरीर के जिन अवयवों से हम कुछ और कामों के अतिरिक्त बोलने का भी काम लेते हैं, उन्हें हम ध्वनि, उत्पत्ति की दृष्टि से एक शब्द में ध्वनियन्त्र कहते हैं। इसका आरम्भ फेफड़ों से होता है, जिनसे हम निरन्तर शुद्ध श्वास-वायु लेते हैं तथा अशुद्ध श्वास छोड़ते हैं। बाहर फेंकी गई इस अशुद्ध श्वास-वायु की विचित्र विकृतियों से ही अनन्त ध्वनियों की सृष्टि होती है। ये फेफड़े ही धोंकनी की भाँति फूँक मारते हैं, जो बाँसुरी की फूँक की तरह अन्त में ध्वनि बनकर निकलती है। फेफड़ों की धौंकनी से बाहर निकली यह प्रश्वास की फूँक श्वास-नलियों द्वारा हमारे गले की मुख्य श्वास-नालिका (wind-pipe) में पहुँचती है। इस श्वास-नालिका के पीछे उसी के समानान्तर एक भोजन-नालिका (gullet) है, जिसका सम्बन्ध आमाशय तक है। इस आमाशयगामी भोजन-नालिका से ही हम अन्न और पानी आमाशय में पहुँचाते तथा वहाँ की वायु को डकार के रूप में बाहर निकालते हैं। इन दोनों नालिकाओं को पृथक् रखने के लिए एक मजबूत झिल्ली या दीवार है। वैसे तो अन्न या पानी का स्वाभाविक मार्ग मुँह द्वारा होता हुआ भोजन-नालिका में है और श्वास-वायु का स्वाभाविक पथ नासिका-विवर से होते हुए श्वास-नालिका में। किन्तु मध्य में कुछ दूर तक चौराहा भी है। इसीलिए जुकाम होने पर नाक के बदले मुँह से साँस लेते तथा कफ फेंकते हैं। बोलते समय भी अधिक श्वास-वायु नाक से नहीं, मुँह से ही बाहर फेंकते हैं। दूसरी ओर, कुछ लोग नाक से भी पानी पीते हैं। किन्तु चौराहे की इस प्रक्रिया से यदि अन्न का कोई कण

---

१. यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत्, सकलं शकलं, सकृत् शकृत्॥

२. सामान्य भाषाविज्ञान, अ० ७। भाषाविज्ञान, अ० ५। ऐन आउटलाइन ऑफ इंगलिश फोनेटिक्स, अ० ३ तथा ५।

आमाशय के बदले फेफड़े में पहुँच जाय तो श्वास-मार्ग अवरुद्ध होने से तत्काल मृत्यु हो जाय, अतः इस चौराहे पर भोजन-नालिका के विवर के साथ श्वास-नालिका की ओर झुकी हुई, सिपाही-सी तैनात एक छोटी-सी जीभ है, जिसे अभिकाकल (Epiglottis) या स्वरयंत्र-मुख-आवरण कहते हैं। भोजन या पानी जब मुँह के रास्ते भोजन-नालिका के मुख के पास पहुँचता है तब यह अभिकाकल नीचे की ओर झुककर श्वास-नालिका को बन्द कर देता है। स्वरयन्त्र (Larynx) इस श्वास-नालिका में ही ऊपर की तरफ है। चूँकि यह कण्ठ-पिटक या स्वरयन्त्र कण्ठविवर (Pharynx) के निचले हिस्से में पड़ता है, इसलिए यह सुविधा है कि अभिकाकल नीचे की ओर झुककर स्वरयन्त्र-मुख को ढक लेता है। कण्ठविवर (Pharynx) मुख के ठीक पीछे स्थित गले के छिद्र को कहते हैं। इसके उपरले भाग में अलिजिह्वा (Urula), मध्यभाग में स्वरयन्त्र-मुखावरण या अभिकाकल तथा स्वरयन्त्र-मुख या काकल (Glottis) अवस्थित हैं और निचले भाग में स्वरयन्त्र या कण्ठपिटक (Larynx) है। यह स्वरयन्त्र ही ध्वनि उत्पन्न करनेवाला प्रधान अवयव है।

स्वरयन्त्र के पास श्वास-नालिका कुछ मोटी होती है। स्वरयन्त्र स्वरतन्त्रियों का समूह है। इसमें बहुत महीन-महीन तन्त्रियाँ होती हैं, मनुष्य-निर्मित बढ़िया-से-बढ़िया और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बाजे के भी तारों से कई गुना महीन। ये तन्त्रियाँ श्वास-नालिका के ऊपरी हिस्से के दो कोनों में आमने-सामने दो हिस्सों में बँटी हुई रहती हैं। आपेक्षिक दृष्टि से ये तार बचपन में छोटे होते हैं, आयु में वृद्धि के साथ ये भी बढ़ते हैं। पुरुषों के तार स्त्रियों के तारों से बड़े रहते हैं। इसीलिए स्त्रियों से पुरुषों की तथा बालकों से बड़ों की आवाज मोटी होती है। इन सूक्ष्म तन्त्रियों से बने आमने-सामने स्थित ओष्ठद्वय-सदृश दोनों लचीले परदों को ही स्वरतन्त्री (Vocal chords) कहते हैं। परदों के बीच का खुला भाग ही काकल या स्वरयन्त्र-मुख है। जब फेफड़े से फूँकी गई हवा श्वास-नालिका से चलकर स्वरयन्त्र से होती हुई स्वरयन्त्र-मुख के पास पहुँचती है तब उसे ध्वनिरूप में परिणत करने के लिए सबसे पहली प्रक्रिया ये स्वरतन्त्रियाँ ही करती हैं। डॉ० सक्सेना[1] तथा डॉ० तिवारी[2] ने अपनी पुस्तकों में स्वरतन्त्री के इन परदों की चार अवस्थाएँ मानी हैं :—

(१) जब हम साधारण रूप से साँस लेते हैं तब ये दोनों परदे शिथिल सिकुड़े पड़े रहते हैं, बीच में काकल में त्रिभुजाकार स्थान खाली रहता है, जिससे हवा निर्बाध निकलती है, अघोष ध्वनियों के उच्चारण में यही स्थिति रहती है।

(२) दूसरी स्थिति वह है, जिसमें उक्त दोनों परदों के अधर इतने समीप आ जाते हैं कि वायु को रगड़ खाकर जाना पड़ता है। इस स्थिति में दोनों स्वरतन्त्री-समूह आमने-सामने से आकर वीणा के तारों की भाँति आपस में टक्कर मारते हैं, जिससे इन स्वरतन्त्रियों में कम्पन होता है और इस कम्पन से ही गाने के स्वरों, ध्वनि के गुण सुर अथवा ध्वनि के घोष की सृष्टि होती है।

---

१. पृ० ५१, अ० ७ का अनु० ३।

२. पृ० १८४, अ० ५ का अनु० ७।

इस प्रकार स्वरतन्त्रियों के परस्पर सट जाने से श्वास-मार्ग के अवरुद्धप्राय होने की स्थिति का प्राचीन नाम है संवार (बन्द होना, सँकरा होना)। संवार होने पर घोष भी जरूर होगा और जिस ध्वनि में संवार तथा घोष (गूँज) होगा, उसमें स्वन (Sonority) अर्थात् अनुरणन भी अवश्य होगा, इसी का प्राचीन नाम है नाद। अतः जहाँ संवार होगा वहाँ घोष और नाद भी होगा। इसके विपरीत, प्रथम स्थिति का प्राचीन नाम है विवार, अर्थात् हवा के निकलने के लिए स्वरयन्त्रमुख-रूपी द्वार का खुला रहना। इस स्थिति में चूँकि विना रुकावट के श्वास निकल रहा है, इसलिए उसमें ध्वनि नहीं होगी, श्वास-वायु का वेग रहेगा। स्वरतन्त्रियाँ मार्ग रोककर वायु के आघात से कोई कम्पन नहीं करतीं, अतः कोई घोष (Vibration) नहीं होगा। इस प्रक्रिया का पूरा नाम है विवार, श्वास, अघोष। चूँकि यह प्रक्रिया स्वरयन्त्र-मुख के पास होती है और स्वरयन्त्र-मुख कण्ठविवर (Pharynx) का ही एक भाग है, इसलिए प्राचीन भाषाओं[1] ने श्वास-वायु के लिए कण्ठविवर के विवृत रहने को विवार तथा संवृत रहने को संवार कहा।

(३) तीसरी अवस्था में स्वरतन्त्रियों के दोनों अधर तनकर इतने मिल जाते हैं कि रास्ता पूर्णतया बन्द हो जाता है और श्वास के निकलने में एक क्षण के लिए पूरी तरह बाधा उपस्थित हो जाती है। ऐसा करने पर एक प्रकार की अन्तर्मुखी ध्वनि-सी (Click) आवाज होती है। अरबी का हमज़ा या स्वरतन्त्रीय व्यंजन (ह्) इसी श्रेणी की ध्वनियाँ हैं।

(४) चौथी अवस्था[2] में दोनों अधर मिलते तो हैं, पर नीचे पूरे काकल का लगभग चौथा भाग श्वास के निर्गम के लिए खुला रहता है। ऐसी ही अवस्था में फुसफुसाहटवाली ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं। इस स्थिति में छिद्र छोटा होने के कारण ही ध्वनि धीमी हो जाती है।

इस तरह ध्वनि की सृष्टि के प्रथम उपकरण स्वरयन्त्र-मुख पर स्वरतन्त्रियों की चार ही अवस्थाएँ इन लोगों ने मानी हैं। ध्वनि की उत्पत्ति के लिए तो वस्तुतः ये ही चार अवस्थाएँ हैं। बल्कि प्राचीन भारतीयों ने क्लिक तथा फुसफुसाहट को अपनी भाषा में स्थान नहीं देने के कारण ध्वनिजनक स्थितियाँ दो ही मानीं—विवार और संवार। परन्तु सक्सेनाजी का यह कहना ठीक नहीं लगता कि "प्रथम अवस्था जब हम साधारण रीति से साँस लेते हैं या अघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं तब की है।" डॉ० भोलानाथ तिवारी भी यही बात दुहराते हैं। वस्तुतः प्रथम अवस्था केवल अघोष ध्वनि के उच्चारण की है।

१. ऋक्प्रातिशाख्य से सिद्धान्त-कौमुदी तक सभी ग्रन्थों में।

२. जोन्स ने फुसफुसाहट के एक प्रकार के लिए यह भी कारण दिया है कि स्वरतन्त्रियों के दोनों परदों के ठीक ऊपर स्वरयन्त्र में ही उन्हीं की भाँति तथा उन्हीं के समानान्तर दो और नकली स्वरतन्त्रियों के परदे होते हैं, उन्हीं के सटने से फुसफुसाहट पैदा होती है। वस्तुतः इन नकली स्वरतन्त्रियों की मुख्य आवश्यकता की ओर खोज होनी चाहिए। (अनु० ७५)।

यदि हम स्वरतन्त्रियों की सभी दशाओं का उल्लेख करें तो उनकी ६ दशाएँ होनी चाहिए। उपर्युक्त चार के अतिरिक्त दो निम्नलिखित होंगी :

(५) एक अवस्था वह है, जब प्रश्वास फेंकते समय दोनों परदे द्वार के दो किवाड़ों की भाँति सम्भवतम दूरी तक परस्पर पृथक् हटकर मार्ग को सर्वथा अनावृत छोड़ देते हैं, श्वास के किसी भी अंश को इस स्थिति से कहीं भी तनिक भी रुकना या मुड़ना नहीं पड़ता, वह निर्बाध आता-जाता है। ऐसी स्थिति में मुँह खोलने पर भी कोई ध्वनि नहीं निकलती, केवल शुद्ध हवा की एक सायँ-सायँ आवाज-सी सुनाई पड़ती है। इस निर्बाध प्रवाह में एक अव्यक्त ह् सदृश ध्वनि होती है, इसीलिए हम ऐसी अव्यक्त ध्वनियों के लिए प्रयोग करते हैं—हवा ह-ह-ह-ह बह रही है। पानी ह-ह-ह-ह बह रहा है। हारमोनियम की भाथी चलाई जाय और पटरी नहीं दबाई जाय तो ऐसी ही अवाज होती है।

(६) दूसरी वह है, जब ये दोनों परदे एक-दूसरे से सटकर इस प्रकार भिड़ जाते हैं कि श्वास का एक कण भी बाहर नहीं निकल सकता। इसे प्राणायाम-प्रक्रिया कहते हैं। यह स्थिति जीवितावस्था में सामान्य जन एक-दो ही मिनट रख पाते हैं, शीघ्र ही साँस का वेग आकर झटके से द्वार खोल देता है। इसमें हवा बाहर नहीं निकलती, अतः कोई आवाज नहीं हो सकती; जैसे हारमोनियम की भाथी तो चलाई जाय, पर उसकी खूँटियाँ नहीं खींची जायँ, अतः हवा भीतर ही रह जाय।

इस प्रकार स्वरतन्त्रियों की छह अवस्थाएँ हुईं। परन्तु आधुनिक भाषावैज्ञानिक छठी को ध्वनि की उत्पत्ति में अनुपयुक्त समझकर अपने शास्त्र में उसका वर्णन नहीं करते और पाँचवीं को पहली में ही गतार्थ कर लेते हैं। पर यह ठीक नहीं। पहली तथा पाँचवीं अवस्थाओं में अन्तर है। पाँचवीं में दोनों परदे इतनी दूर रहते हैं कि श्वास विना तनिक भी बाधा के पूरे वेग से निकलता है, इस दशा में ध्वनि पैदा ही नहीं हो सकती। पहली में वे इतने पास-पास आ जाते हैं कि श्वास को थोड़ी बाधा होती है, जिससे ध्वनि की सृष्टि हो जाती है, किन्तु चूँकि मार्ग अधिक संकीर्ण नहीं होता, इसलिए न तो वायु को रगड़ खाकर निकलने की जरूरत पड़ती है, न वायु के दबाव से स्वरतन्त्रियों में कम्पन होता है। इसलिए इस ध्वनि में घोष नहीं पैदा होता। डॉ० सक्सेना ने स्वयं अगले अनुच्छेद[1] में कहा है कि 'श्वासनालिका में विकृत हुई या अविकृत इस प्रकार की साँस मुख-विवर या नासिका-विवर में आती है। इन विवरों की दीवारों में, यदि स्वरयन्त्र द्वारा विकृत होकर आई है तो उसकी प्रतिध्वनि करने की सामर्थ्य होती है।' इस उक्ति से स्पष्ट है कि वे प्रथम स्थिति में भी श्वास-वायु में स्वरयन्त्र द्वारा विकृति मानते हैं। पूर्वोक्त चार अवस्थाओं में प्रश्वास-वायु स्वरयन्त्र-मुख के पास आते ही विकृत, ध्वनि का बीज-रूप बन जाती है, तथा अन्तिम दो अवस्थाओं में वह अविकृत रहती है। अतः डॉ० सक्सेना का कथन पूर्वापर[2]-विरुद्ध है। डॉ० भोलानाथ तिवारी भी डॉ० सक्सेना का ही समर्थन करते हैं, पर ऐसी ही अस्पष्टता वहाँ भी बनी रहती है।

१. अ० ७, अनु० ४।

२. अनुच्छेद ३ तथा ४।

वे स्वरतन्त्री के परदों की प्रमुख[1] रूप से वे ही चार स्थितियाँ मानते हैं, इसका स्पष्ट संकेत है कि कुछ और भी स्थितियाँ हैं, जो गौण हैं। पाँचवीं और छठी स्थिति ध्वन्युत्पत्ति की दृष्टि से गौण ही तो है। और आगे चलकर[2] फिर वे भी स्वीकार करते हैं कि 'ध्वनियन्त्र ही वह पहला स्थान है, जहाँ ध्वनि-वैभिन्न्य होता है। यहाँ दो बातें सम्भव हैं, या तो स्वर-तन्त्रियाँ ढीली पड़ी रहती हैं और बिना किसी प्रकार की रुकावट के श्वास निकल जाता है; या फिर स्वरतन्त्रियाँ कड़ी होकर रोकती हैं और श्वास को संघर्ष करके निकलना पड़ता है। पहले प्रकार के असंघर्षी श्वास से जो ध्वनि पैदा होती है, उसे अघोष कहते हैं; क्योंकि संघर्ष न होने से घोष नहीं होता। दूसरा संघर्षी श्वास संघर्ष के कारण घोष करता है, अत: उससे उत्पन्न ध्वनि को घोष कहते हैं।' यहाँ ग्रन्थकार पूर्णतः प्राचीन भारतीयों की भाँति मुख्य द्विविध ध्वनियों के लिए स्वरयन्त्र की द्विविध स्थितियों का ही वर्णन करता है, चतुर्विध नहीं। यह स्पष्ट है कि पहले प्रकार में भी संघर्ष भले ही नहीं हो, पर उस श्वास से ध्वनि पैदा होने लायक मार्गावरोध होता है। जोन्स ने भी इन्हीं दो[3] मुख्य स्थितियों का प्रधानतः उल्लेख किया है।

यहाँ एक बात विचारणीय है। स्वरतन्त्रीय प्रयत्नों में आधुनिक पाश्चात्त्य विद्वान् उपर्युक्त दोनों स्थितियों में केवल घोषवान् (Voiced) तथा श्वासवान् (Breathed)—इन्हीं रूपों की चर्चा करते हैं। सभी स्वर घोषवान् बताये गये हैं। किन्तु संस्कृत-विद्वानों ने प्रत्येक पक्ष के लिए तीन-तीन रूपों का उल्लेख किया है—विवार, श्वास, अघोष तथा संवार, नाद, घोष। स्वरतन्त्रियों की ऊपर बताई गई दोनों स्थितियों में से प्रथम में काकल के विवार से श्वास अल्पतम अवरोध से आयगा, अतः घोष नहीं, श्वास ही सुनाई देगा। द्वितीय में काकल के संवार से श्वास अधिक अवरोध से आयगा, इसलिए वायु में रगड़ तथा स्वरतन्त्रियों में कम्पन से घोष और नाद पैदा होंगे, श्वास नहीं सुनाई पड़ेगा। इसलिए, तर्कसंगत यही लगता है कि जिसमें घोष होगा उसमें संवार और नाद भी अवश्य होंगे और जिसमें अघोष होगा, उसमें विवार तथा श्वास रहेंगे ही। पाश्चात्त्यों ने सब स्वरों को एक-मत से घोष घोषित किया है। परन्तु भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने स्वरों का बाह्य प्रयत्न कुछ दूसरे ढंग का बताया है।

भारतीय परम्परा से उसकी तुलना :

पाणिनि तथा याज्ञवल्क्य-शिक्षाओं ने स्वरों के काकलीय प्रयत्न का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। ऋक्प्रातिशाख्य ने भी विधेय-रूप में इसकी ये ही दो कोटियाँ[4] रखी हैं : (क) श्वासवान् तथा (ख) नादवान्। विवृतता तथा संवृतता (विवार-संवार) क्रमशः इनका उद्देश्य रखा है। इसी प्रकार अघोष घोष भी उद्देश्य ही रखे गये हैं। परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि स्वर इनमें से किस कोटि में है। हाँ, यदि 'अघोष भिन्न वर्णों का नाद-प्रयत्न है',

१. अध्या० ५, अनु० ७।

२. पृष्ठ १६१ : 'ध्वनियों का वर्गीकरण—घोष और अघोष।'

३. अनु० ७४ तथा ८२।

४. ऋक्प्रा० प० १३, सू० १—६ तथा प० १, सू० ११-१२।

इस वाक्य में अघोष-भिन्न वर्णों से व्यंजनों के साथ स्वरों का भी ग्रहण किया जाय तो तात्पर्य से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि स्वरों का भी नाद प्रयत्न है। यही उवट ने किया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[१] ने भी मुख्य कोटियाँ दो ही रखी हैं—नाद और श्वास, संवार और घोष तथा विवार और अघोष क्रमशः दोनों के उद्देश्य-मात्र रखे गये हैं, किन्तु यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि स्वरों और घोषवानों का नाद प्रयत्न है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि स्वर संवारवान् नादवान् हैं, तथा दूसरी यह कि ये घोषवान् नहीं हैं। चतुरध्यायी[२] ने भी ठीक ऐसा ही वाक्य कहा है : "अघोषवानों में श्वास अनुप्रदान है, तथा घोषवानों और स्वरों में नाद"। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय ध्वनिविज्ञानी स्वरों में घोष नहीं, केवल नाद मानते थे। यह स्थिति तो विचित्र है। एलेन का तो यह कहना[३] है कि लोग अँगरेजी के voiced और unvoiced के लिए संस्कृत के शब्द क्रमशः घोषवान् और अघोष का प्रयोग चला रहे हैं, परन्तु तथ्य यह है कि voice का अर्थ नाद है, घोष नहीं; बाद के वैयाकरणों (भट्टोजिदीक्षित आदि) का नाद और घोष दोनों को दो भिन्न प्रक्रियाएँ मानना भी भ्रममूलक ही है। यह तो उचित प्रतीत होता है कि voiced का अर्थ नादवान् किया जाय, घोषवान् नहीं; क्योंकि ऊपर दिखाये गये सभी प्रातिशाख्य वचनों में श्वास का विपरीतार्थक नाद ही प्रयुक्त हुआ है और पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री भी श्वास (Breath) के विपरीतार्थक[४] रूप में ही voice का प्रयोग करते हैं। किन्तु यह भी सही है सभी प्रातिशाख्य घोष को नाद से भिन्न प्रक्रिया मानते हैं। हर जगह ऐसा ही वाक्य मिल रहा है कि अघोषवानों में श्वास प्रयत्न है तथा घोषवानों (और स्वरों) में नाद। इसका स्पष्ट अर्थ है कि दोनों शब्द नाद और घोष वस्तुतः हैं ही दो विभिन्न प्रक्रियाओं के सूचक, इसमें कोई भ्रम नहीं है। पतंजलि ने भी इन दोनों को भिन्न प्रक्रियाएँ[५] ही माना है तथा नाद और श्वास को विपरीतकोटिक। बल्कि प्रातिशाख्यों ने काकलीय प्रयत्न में पूर्वोक्त दो की जगह तीन या चार स्थितियाँ बताई हैं। इनमें मुख्य तो वे ही दो हैं, शेष दोनों उनकी शाखाएँ। अर्थात् सामान्यतः दो कोटियाँ हैं, जो परस्पर-विरोधी हैं—विवार, श्वास, अघोष तथा संवार, नाद, घोष। प्रथम में क ख च छ ट ठ त थ प फ तथा हकार को छोड़ शेष ६ ऊष्म (श ष स विसर्जनीय,

---

१. १।१ के सूत्र १२,१४ तथा १।२ के सू० ४,५,८,१०।

२. १।१ के सूत्र १२,१३।

३. Whilst ghosawat and aghos are generally used for voiced and voiceless the usual term for voice is nad and not ghos. This fact leads to misunderstanding on the part of later writers, who list nad and ghos as separate processes, e. g. Siddhanta Kaumudi—*'Phonetics in Ancient India.'*

४. जोन्स : अ० ५ पूरा तथा ६ का १७३।

५. तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम् में भाष्य ने बाह्य प्रयत्न के ८ भेद गिनाते समय घोष और नाद को पृथक्-पृथक् धर्म माना है : **"विवारसंवारौ, श्वासनादौ, घोषवदघोषता, अल्पप्राणता, महाप्राणतेति"** (१।१।९)

जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) हैं तथा द्वितीय में ग ङ, ज ञ, ड ण, द न, ब म, य र ल व हैं। पर कुछ ऐसे वर्ण हैं, जिनमें श्वास और नाद, जो परस्पर विरोधी धर्म हैं, साथ रहते हैं; क्योंकि उनके उच्चारण में काकल संवार-विवार की मध्यस्थिति में रहता है; ये हैं—घ, झ, ढ, ध, भ तथा ह। और कुछ ऐसे भी वर्ण हैं, जिनमें नाद तो रहता है, पर घोष नहीं, यद्यपि ये दोनों सदा सहचरित गुण हैं। ऐसे सभी स्वर हैं। चौथी स्थिति कुछ आश्चर्यप्रद लगती है, किन्तु सभी प्रातिशाख्यों का यहाँ ऐकमत्य है। हाँ, छान्दोग्य उपनिषद् स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि सभी स्वर घोषवान्[१] हैं। ऐतरेय आरण्यक का **'यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम् यो घोषः स आत्मा'** यह वाक्य भी व्यञ्जन और घोष दोनों को दो कोटियों में रखकर यही अर्थ प्रकट कर रहा है कि स्वर घोषवान् हैं, यह पहले कह आये हैं। पतंजलि की दृष्टि में बाह्य प्रयत्न की अष्टविधता पर टिप्पणी करते हुए 'छाया' टीकाकार का कहना[२] है कि यद्यपि घोष और अघोष तथा अल्पप्राण और महाप्राण इन्हीं चार धर्मों को मानने से प्रक्रिया का निर्वाह हो जायगा, फिर भी शिक्षाशास्त्र के अनुरोध से आठों प्रकारों की यहाँ गणना की गई है। इस दृष्टि से तो यही लगता है कि उपयुक्त चार कोटियों का विवेचन अनुपयुक्त सूक्ष्मता तक पहुँच गया है। सम्भवतः घ झ ढ ध भ तथा ह में नाद की मात्रा अधिक, श्वास की कम है; काकल मध्यस्थिति में होते हुए भी संवार की तरफ कुछ अधिक झुका है। अतः सबने इनमें संवार तथा नाद ही मान लिया, विवार तथा श्वास की उपेक्षा कर दी। इसी प्रकार स्वरों में नाद तो है, पर घोष इतना कम है कि प्रातिशाख्यों ने उन्हें घोषवानों में नहीं गिना। किन्तु छान्दोग्य-उपनिषद् ने इनमें अत्यल्प वर्तमान घोषवत्ता की भी चर्चा कर दी। इस प्रकार दो कोटियों से ही विश्लेषण का निर्वाह हो सकता है। जोन्स ने भी यद्यपि आरम्भ में दो ही कोटियाँ रखी हैं, breath और voice, पर बाद में ग, ड, ब का एक ऐसा भी रूप माना है, जिसमें न breath है, न voice[३]। तात्पर्य यह है कि इन भेदों में voice अत्यल्प है, फिर भी हम उन्हें जाति-धर्म से voice की ही श्रेणी में रख सकते हैं। इसीलिए सिद्धान्त-कौमुदी में यद्यपि शब्दतः स्वरों का बाह्य प्रयत्न नहीं वर्णित है, पर पं० शिवदत्त[४] ने 'अन्य' शब्द से स्वरों का भी ग्रहण कर उनके भी तीनों प्रयत्न बताये हैं—संवार, नाद तथा घोष। किन्तु यह किसी ने स्पष्ट नहीं किया कि यदि नाद और घोष दो भिन्न गुण हैं तो अँगरेजी में घोष का प्रतिशब्द क्या होगा। धीरेन्द्र[५] वर्मा तथा विश्वनाथ दिनकर नरवणे[६] ने भी voiced का अर्थ घोषवान् ही किया है।

प्राणवत्ता भी स्वरतन्त्रीय प्रयत्न ही है। शिक्षा और प्रातिशाख्य ने कहीं भी प्राण शब्द का (अल्पप्राण-महाप्राण) प्रयोग नहीं किया है। दयानन्दीय पाणिनि-शिक्षा में

१. "सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः", २।२२।३।५।
२. "यद्यपि घोषाघोषाल्पप्राणमहाप्राणेति प्रयत्नचतुष्टयेनैव प्रक्रियांशनिर्वाहः सुकरस्तथापि शिक्षानुरोधेनान्येषामुक्तिः"।
३. अनु० ५०८, ५२८ तथा ५४४।
४. अन्येषामिति—अचां हशां तद्यमानां चेत्यर्थः (संज्ञाप्रकरण)।
५. हिन्दी-भाषा का इतिहास—पारिभाषिक शब्द-संग्रह।
६. भारतीय व्यवहार-कोष—ध्वनि-विचार।

इसका प्रयोग है भी, तो यह विचार केवल व्यंजनों के लिए है। ऋक्प्रातिशाख्य ने वर्गीय द्वितीय, चतुर्थ वर्णों को सोष्मा कहा[1] है, अर्थात् यह विचार स्पर्शों के लिए ही रह गया। हाँ, सोष्म वर्णों में कोई-कोई शीघ्रतर प्राण भी मानते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने वर्गीय द्वितीय वर्णों में प्रथम से अधिक[2] श्वासवत्ता बताई है और ऋक्तन्त्र[3] ने द्वितीय से प्रथम में कम श्वासवत्ता। एक ही बात हुई। पर चतुर्थ वर्ण में किसी ने अधिक श्वासवत्ता नहीं बताई। तृतीय से चतुर्थ वर्ण में यह अन्तर कहा कि तृतीय शुद्ध नादवान् हैं, चतुर्थ में नाद तथा श्वास दोनों[4] हैं।

जोन्स का प्राणवत्ता-विचार भी ठीक इसी प्रकार का है। वे भी केवल स्पर्श[5] वर्णों में ही अल्पप्राणता-महाप्राणता मानते हैं, और इसे सोष्मता अनूष्मता कहते हैं। उनकी दृष्टि में ये एक ही ध्वनितत्त्व (Phoneme) के दो रूप हैं—सोष्म रूप (Aspirated) है ख् तथा अनूष्म रूप (Unaspirated) है क्। इससे ऐसा आभास मिलता है कि जिस वर्ण में सोष्मता का सम्पर्क सम्भव है, उसी में यह विचार है कि यह सोष्म रूप है या अनूष्म रूप। अँगरेजी में ऊष्म वर्णों को spirant कहते हैं तथा महाप्राण वर्णों को aspirate। इससे पता चलता है कि अँगरेजी के वैयाकरणों ने भी महाप्राण का अर्थ सोष्मता ही समझा है। जोन्स ने aspiration का तात्पर्य एक हल्का ह (a slight h) बताया है, साथ ही इसे श्वास का एक तीव्र झोंका (a noticeable puff of breath) कहा है। ऐतरेय आरण्यक ने भी वर्णों का प्राण ऊष्म ही माना[6] है, यह कह आये हैं, अर्थात् प्राणवान्=सोष्म। जोन्स ने भी यह सोष्मता खास तौर पर अघोष स्पर्श में ही मानी है, घोषवानों में इसे नगण्य[7] बताया है। यह दृष्टि ठीक तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा ऋक्तन्त्र

---

१. युग्मौ सोष्माणौ—१।१३ तथा पटल १३ के सूत्र १६, १७।

२. १।२।११।

३. प्रथम प्रपाठक।

४. ऋक्प्रा० १३।६।

५. अनु० ४६७—"In Southern English when p is followed by a stressed vowel as in pardon, payment, it is pronounced with considerable force and a noticeable puff of breath or aspiration (i. e. a slight h) is heard after the explosion of the p and before the beginning of the vowel. The pronunciation might be shown thus p^h a : du. p^heiment........They are members of the same phoneme.' अनु० ५६४—"When we pronounce a voiceless plosive e. g. P' 'by itself' it is generally followed by a short breathed sound which may be represented by h, thus p^h.

६. 'य ऊष्माण: स प्राण:'—दे० पिछले पृष्ठों में।

७. अनु० ५०६—"As the chief members of the b phoneme are wholly or partially voiced they cannot have aspiration in the ordinary sense of the term."

से मिलती है, जिन्होंने प्रथम वर्णों में कम और द्वितीय वर्णों में अधिक श्वास माना है तथा चतुर्थ में केवल नाद के साथ श्वास की भी सत्ता स्वीकार की है। जोन्स ने स्पर्शसंघर्षी, संघर्षी तथा अर्धस्वर, अनुनासिक और पार्श्विक वर्णों में प्राणवत्ता का विचार नहीं किया है। भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त-कौमुदी में बताया[1] है कि पाँचों वर्गों के प्रथम-द्वितीय वर्ण, तथा उनके यम, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग, श ष स इनका विवार, श्वास, अघोष तथा शेष वर्णों का संवार नाद, घोष प्रयत्न हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पंचम वर्ण, प्रथम तृतीय यम वर्ण, तथा य र ल व अल्पप्राण हैं, शेष महाप्राण हैं। तत्त्वबोधिनीकार इसकी व्याख्या में लिखते[2] हैं : "किसी ने बालकों को समझाने के लिए बाह्यप्रयत्नों को सुगमता से कह दिया है कि क ख च छ ट ठ त थ प फ श ष स का विवार-श्वास अघोष प्रयत्न है, तथा ह, य र ल व, ज झ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म का संवार नाद घोष है। इसी प्रकार वर्गों के प्रथम, तृतीय, पंचम तथा य र ल व अल्पप्राण हैं और द्वितीय, चतुर्थ तथा श ष स ह महाप्राण हैं। आश्चर्य है कि दीक्षित ने अपनी कौमुदी में बाह्यप्रयत्न-प्रकरण में स्वरों की चर्चा ही नहीं की। उन्होंने बताया कि ये वर्ण विवार श्वास अघोषवाले तथा ये वर्ण अल्पप्राणवाले हैं, शेष संवार नाद घोष तथा महाप्राणवाले हैं। चूँकि परिगणितों में स्वरों का स्थान नहीं है, इसलिए परिशेष से इन्हें संवार नाद घोषवाला और महाप्राणवाला समझ सकते हैं। परन्तु तत्त्वबोधिनीकार ने तो दोनों कोटियाँ स्पष्टतः गिना दी हैं, जिनमें केवल व्यंजनों का ही उल्लेख है, अतः स्वरों के स्वरतन्त्रीय प्रयत्न के अनुमान का भी रास्ता बन्द कर दिया है। किन्तु यह भ्रमजनक है। सभी प्रातिशाख्यों ने स्वरों को संवार नादवान् माना है, घोषवत्ता का उल्लेख नहीं किया है। शिवदत्त मिश्र ने अपनी टिप्पणी में दीक्षित की उक्ति के **अन्येषाम्[3] तु संवारो नादो घोषश्च** से स्वरों का संग्रह भी कर लिया है। यह तो उचित प्रतीत होता है। किन्तु प्राणवत्ता-विधायक वाक्यों में वे **'यरलवाश्चा-ल्पप्राणाः'** के च से स्वरों का भी संग्रह कर स्वरों का भी अल्पप्राण[4] ही मानते हैं, इसमें **'अन्ये महाप्राणा इत्यर्थः'** के 'अन्ये' से स्वरों का संग्रह नहीं करते। यह तो अर्धजरतीय न्याय है। स्वरों का दोनों प्रसंगों में 'अन्ये' से ही ग्रहण करना उचित है। ऐसी स्थिति में दीक्षित का मत तो यही मालूम होता है कि स्वरों का बाह्य प्रयत्न संवार नाद घोष तथा महाप्राण है। जोन्स ने केवल स्पर्शों में ही प्राणवत्ता का विचार सम्भवतः इसलिए किया है कि उन्हीं में

---

१. "वर्गाणां प्रथम द्वितीयाः खयस्तथा तेषामेव यमाः, जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ, विसर्गः शषसाश्चेत्येतेषां विवारः श्वासोऽघोषश्च; अन्येषां तु संवारो नादो घोषश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीय पञ्चमाः प्रथमतृतीय यमौ यरलवाश्चाल्पप्राणाः, अन्ये महाप्राणा इत्यर्थः।"

२. बालबोधनाय बाह्य प्रयत्नाः कैश्चित्सुगमोपायेनोपनिबद्धाः, तद्यथा "खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च, हशः संवारा नादा घोषाश्च, वर्गाणां प्रथमतृतीय पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः, वर्गाणां द्वितीय चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः" इति।

३. अन्येषामिति—अचां हशां तद्यमानां चेत्यर्थः।

४. चेति—अचां चेन संग्रहः।

ये दो भेद सम्भव हैं। उदाहरणार्थ क् अल्पप्राण (Unaspirated) भी हो सकता है और महाप्राणता (Aspiration) से ख् रूप भी धारण कर सकता है। शेष वर्णों की प्राणवत्ता सुनिश्चित है। अन्तस्थ अल्पप्राण ही होंगे, ऊष्म महाप्राण ही होंगे आदि। अतः नहीं कहा जा सकता कि जोन्स स्वरों को क्या मानते हैं, अल्पप्राण या महाप्राण। छान्दोग्य-उपनिषद् ने सब स्वरों को घोषवान् के साथ बलवान्[1] भी बताया है। डॉ० बाबूराम सक्सेना कहते हैं :"प्राण अन्दर[2] से आती हुई श्वास-वायु के बल का ही दूसरा नाम है"। पर वे तथा डॉ० भोलानाथ तिवारी, मनमोहन गौतम—सभी अल्पप्राण-महाप्राण का भेद स्पर्शों में ही समझते हैं। दीक्षित ने स्वरों को भले ही शब्दतः कुछ नहीं कहा, पर अन्तस्थों को अल्पप्राण और ऊष्मों को महाप्राण तो स्पष्ट ही बताया है। अतः प्रत्यक्ष है कि हिन्दी-भाषावैज्ञानिक बाह्यप्रयत्नों, विशेषतः प्राणवत्ता के लिए, संस्कृत-भाषावैज्ञानिकों को प्रमाण नहीं मानकर अँगरेजी-भाषावैज्ञानिकों को मान रहे हैं। एलेन ने वर्णों की तालिका में जैसे अनुनासिकों का अल्पप्राण नहीं दिखाया है, वैसे स्वरों की घोषता भी नहीं दिखाई है।

श्री एलेन द्वारा संस्कृत-ध्वनियों का विश्लेषण

Consonants			Glottal	Velar	Palatal	Retroflex	Dental	Labial.
Stops	Voiceless	Unaspirated	×	k	c	t	t	p
		Aspirated	×	kh	ch	ṭh	th	ph
	Voiced	Unaspirated	×	g	j	ḍ	d	b
		Aspirated	×	gh	jh	ḍh	dh	bh
Nasals			×	ṅ	ñ	ṇ	n	m
Semivowels			×	×	y	r	l	v
Fricatives.	Voiceless		ḥ	(ẖ)	ś	ṣ	s	(ḫ)
	Voiced		h	0	—	—	—	×
Vowels								
	Short		a		i	ṛ	ḷ	u
	Long		ā		ī,e	ṝ	x	ū
	Diphthongs				ai	×	×	au

इस तालिका से स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत होता है कि ङ ञ ण न म की गिनती स्पर्श, अल्पप्राण तथा संवार, नाद घोष सबसे हट गई, बस वे केवल अनुनासिक रह गये और अपने-अपने मुखस्थ स्थानों से उच्चार्य। अन्तस्थों में भी आभ्यन्तर, बाह्य किसी प्रयत्न की चर्चा

१. 'सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः' (२।२२।३।५५।

२. सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० ६३ (ध्वनियों का वर्गीकरण)।

नहीं। ऊष्मों में भी आभ्यन्तर प्रयत्न तथा महाप्राणता का नाम नहीं लिया। और स्वरों में तो स्थान, आभ्यन्तर, वाह्य प्रयत्न किसी भी बात का उल्लेख नहीं किया। किन्तु, स्पष्ट है कि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में स्वरतन्त्रियों की स्थिति क्या रहती है, यह देखना पड़ेगा; उनमें संवार रहता है या विवार—यह बताना पड़ेगा। साथ ही, प्राणवायु का वेग अधिक रहता है या कम—यह भी दिखाना पड़ेगा। अतः सब व्यक्त वर्णों को अल्पप्राण या महाप्राण तथा संवार नाद घोष या विवार श्वास अघोष किसी एक कोटि में रखना पड़ेगा। इस प्रसंग में तीन बातें विचारणीय हो जाती हैं :—

१. क्या नाद और घोष में अन्तर है ? वह क्या है ?
२. स्वरों में प्रातिशाख्यों ने घोष क्यों नहीं दिखाया ?
३. स्वरों में अल्पप्राण है या महाप्राण ?

यहाँ स्वरों का थोड़ा और विश्लेषण कर लिया जाय तो शायद इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश पड़े। भारतीयों ने स्वरवर्णों के दो मुख्य लक्षण माने थे : (क) जो अपने उच्चारण में अन्य निरपेक्ष हैं वे स्वर हैं, जो अनुयायी हैं वे व्यंजन[१] हैं; (ख) और जो अक्षर (Syllable) बनाने में समर्थ हों, वे स्वर हैं; जो उस अक्षर के अंग बनें, वे[२] व्यंजन हैं। 'ध्वनिविज्ञान' के आधुनिक अनुसन्धान से पता चलता है कि स्वर और व्यंजन के ये लक्षण सर्वांश में ठीक नहीं।[३] व्यंजन का भी स्वतः विना किसी स्वर की सहायता के उच्चारण संभव है, यह प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है। स्, ल् आदि अकेली ध्वनियों को यदि हम सावधानी से बोलें तो विना स्वर की किंचित् भी मात्रा लिये इन्हें बोल सकते हैं, यह और बात है कि इन अकेली ध्वनियों का कोई अभिप्राय न हो। संयुक्त व्यंजन अक्षर भी बना सकते हैं, यथा अँगरेजी के गॉड्न (Garden) और बॉट्ल (Bottle) शब्दों के द्वितीय अक्षर (ड्न् और ट्ल्) में कोई स्वर नहीं है, तब भी वे अक्षर बन गये हैं। इनमें न् और ल् वर्णों ने अक्षर बनाने में सहायता दी है।

जोन्स ने स्वर और व्यंजन के बीच मुख्य अन्तर 'आपेक्षिक दूरतर श्रव्यता' का माना[४] है। एक ही मात्रा, बलाघात तथा तारता रहने पर भी कुछ वर्ण अधिक दूर तक

१. 'अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं, स्वयं राजन्ते इति स्वराः, अन्वग् भवति व्यञ्जनमिति।'
—महाभाष्य (सू० १।२।२९)।

२. ऋक्प्रा० सू० १।१६ तथा २२।

३. सामान्य भाषाविज्ञान, अ० ८, अनु० ३।

४. अध्याय ६ : "The distinction between vowels and consonants is not an arbitrary physiological distinction. It is in reality a distinction based on acoustic considerations namely on the relative sonority or carrying power of the various sounds. Some sounds are more sonorous than others, that is to say they carry better or can be heard at a greater distance, when pronounced with the same length, stress and voice-pitch. Thus the sound a pronounced in the normal manner can be heard at a much greater distance than

सुनाई पड़ते हैं। किसी भी शब्द में सभी स्वर व्यंजनों से अधिक दूरतर श्रव्य तथा महत्त्वपूर्ण होते हैं, व्यंजनों में भी घोषवान् घोषहीन से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। घोषहीन व्यंजन घोषवानों की तुलना में महत्त्वहीन हैं। घोषवानों में भी अनुनासिक (न् म् आदि) व्यंजन तथा ल शेष से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यह महत्त्व[१] भी मात्रा (ह्रस्वत्व आदि), बलाघात (मुख्य तथा द्वितीय) तथा सुर (उदात्तत्व आदि) और इनमें भी विशेषत: बलाघात की वृद्धि से ही होता है। महत्त्व बढ़ाने की सर्वप्रचलित और प्रभावशाली विधि है बलाघात बढ़ा देना, और जब बलाघात बढ़ता है तब साधारणत:

---

the sound P or the sound F pronounced in the normal manner. It so happens that the sounds defined as vowels in §97 are on the whole more sonorous than any other speech sounds (when pronounced in the normal manner) ; and that is the reason why these sounds are considered to form one of the two fundamental classes.

The relative sonority or carrying power of sounds depends on their inherent quality (tamber) and must be distinguished from the relative prominence of sounds in a sequence; prominence depends on combinations of quality with length, stress and (in the case of voiced sounds) intonation. When length and stress (degree of push from the chest wall) are constant and the intonation is level, the sounds defined as vowels, are more prominent than the sounds defined as consonants; open vowels (§153) are mostly more prominent than close vowels (§153); voiced consonants are more prominent than voiceless consonants; l sounds and voiced nasal consonants are more prominent than other voiced consonants. The voiceless consonants have very little prominence in comparison with the voiced sounds."

१. "The prominence of a given sound may be increased or diminished by means of any one of the three sound attributes, length, stress, or intonation or by combination of these. A common and effective means of increasing prominence is to increase the stress. In English increase of stress is generally accompanied by a modification of intonation and sometimes by an increase of length."

—अनु० ६११

सुर और मात्रा भी बढ़ जाती है। बलाघात का अर्थ[१] है शक्ति अथवा वेग की वह मात्रा, जिससे कोई ध्वनि या अक्षर (syllable) उच्चरित होता है। इस शक्ति के लिए फुप्फुस को एक प्रबल धक्का देना पड़ता है और परिणामतः एक अधिक बलवाला निःश्वास फेंकना पड़ता है, जिससे प्रायः ध्वनि में उच्चता की प्रतीति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी घोषवान् वर्ण में तथा विशेषतः स्वरों में ये दो गुण शेष वर्णों से अधिक रहते हैं—दूरतर श्रव्यता तथा महत्त्वशालिता। विश्लेषण से यह भी प्रमाणित हो गया है कि संगीतात्मक ध्वनियों में दूरतर श्रव्यता कोलाहलात्मक ध्वनियों से अधिक[२] होती है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि स्वर व्यंजनों की अपेक्षा अधिक संगीतात्मक होते हैं, व्यंजन कोलाहलात्मक। जोन्स की इन बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय आचार्यों ने 'घोष' के अतिरिक्त नाद को भी जो एक पृथक् गुण बताया है, उस (नाद) से ध्वनि की इसी दूरतर श्रव्यता तथा गीतात्मकता का संग्रह होता है।

कोई भी ध्वनि कुछ-न-कुछ कम्पन से पैदा होती है। तन्त्रवाद्य वीणा आदि में तारों का कम्पन, घनवाद्य तबला आदि में चमड़े का कम्पन तथा सुषिर वाद्य वंशी आदि में वायु का कम्पन ही ध्वनि पैदा करता है। जब इन कम्पनों या आन्दोलनों की संख्या प्रति सेकेण्ड समान ही रहती जाती है, तब इन्हें नियमित कहते हैं, प्रति सेकेण्ड आन्दोलन-संख्या बदलने पर उन्हें अनियमित कहते हैं। जो आन्दोलन कुछ देर तक जारी रहते हैं, उन्हें स्थिर कहते हैं; जो आरम्भ होते ही एकाएक रुक जाते हैं, उन्हें अस्थिर। नियमित और स्थिर आन्दोलनों द्वारा उत्पन्न ध्वनि मधुर तथा संगीतोपयोगी होती है, इसे ही नाद कहते हैं। विपरीत ध्वनि को कोलाहल कहते हैं।[३] किसी एक नाद से लेकर उसके दुगुने ऊँचे नाद तक के क्षेत्र

---

१. "Stress may be described as the degree of force with which a sound or syllable is uttered....it involves a strong 'push' from the chest-wall and consequently strong force of exhalation. This generally gives the objective impression of loudness."—अनु० ६०६

२. दे० पृ० ४४७

३. "Since speech sounds which consist wholly or in part of 'noise' (as distinguished from musical sound) are less sonorous than those which contain no perceptible 'noise', a logical classification into vowels and consonants might be based on the presence or absence of perceptible 'noise'. If this classification were adopted, the voiced sounds m, n etc. and the voiced l sounds would have to be classed as vowels, because in normal pronunciation they are not accompanied by any perceptible 'noise' or audible friction."

—अनुच्छेद १०० पर पाद-टिप्पणी।

को एक स्थान कहते हैं। एक स्थान में असंख्य नाद हो सकते हैं, पर इनमें २२ ही ध्वनियाँ स्पष्ट, एक-दूसरे से पृथक्, सुनी-समझी जा सकती हैं, जिन्हें श्रुतियाँ कहते हैं। किन्तु इनमें भी ७ ही मुख्य श्रुतियाँ स्वर कहलाती हैं, जो संगीत में षड्ज आदि सप्तस्वर से प्रसिद्ध हैं। इन सातों से ही ५ विकृत स्वर भी निकलते हैं। यदि इस संगीत-सिद्धान्त को हम शिक्षाशास्त्र से जोड़ दें तो कोलाहलात्मक अघोषवर्ण तथा नादात्मक घोषवर्ण होंगे। इन नादवानों में भी श्रुतियाँ हैं—ञ म ङ ण न, य र ल व, तथा सभी स्वर। इन श्रुतियों में भी सप्तविध मूल मुख्य स्वर हैं अ, इ, उ तथा ऋ और विकृत पंचविध स्वर हैं सन्धिस्वर। यह समानान्तर रूपक बड़ा सटीक है। अतः घोष और नाद पर्याय नहीं, भिन्न दो सोपान हैं।

जोन्स ने ह् (h) ध्वनि का वर्णन करते हुए कहा है कि यह मुख्यतः[१] श्वासवान्, उरस्य (glottal) संघर्षी (ऊष्म) व्यंजन है। स्वरों[२] के जितने प्रकार हैं उतने ह् के भी, बल्कि ह् ध्वनियों को श्वासवान् (घोषहीन) स्वर ही मानना चाहिए। ह् की ध्वनि आगे[३] आनेवाले स्वर की ध्वनि के अनुरूप ही रहती है; जैसे हिट् (hit) का ह् श्वासवान् इ, हाड (hard) का ह् श्वासवान् आ, हुक (hook) का ह् श्वासवान् उ है, इत्यादि। बल्कि दो घोषवान् ध्वनियों के बीच में पड़ने पर ह् भी श्वासवान् से घोषवान् ही बन[४] जाता है; जैसे—बिहाइण्ड (behind), ब्वायहूड (boyhood) आदि में घोषवान् ह् का भी प्रयोग होता है।

---

१. अनु० ७७६—"The different varieties of h are known as breathed glottal fricative consonants."

२. अनु० ७७७—"There are as many varieties of h as there are vowels. In fact *h* sounds may be regarded as breathed (devoiced) vowels, and they might in very narrow rotation be represented by i, a, u, d etc."

३. अनु० ७७८—"The English *h*-phoneme comprises a great many members, the variety used in any particular case being that which corresponds to the vowel immediately following. Thus the h in hit is a breathed i, the h in hard is a breathed a, the h in hook is a breathed u and so on."

४. अनु० ७८०—"Voiced h occurs in the speech of many English people as a subsidiary member of the *h*-phoneme when voiced sounds both precede and follow. Thus voiced h may often be heard in such words as behind, boyhood."

स्फोटक स्पर्शों के वर्णन के प्रसंग में जोन्स ने कहा[१] है कि जब अघोष स्पर्श का अकेला उच्चारण किया जाता है तब उसके बाद प्रायः एक संक्षिप्त श्वासवान् ध्वनि का उच्चारण हो जाता है, जिसे h से निर्दिष्ट कर सकते हैं। इसी प्रकार जब घोषवान् स्पर्श का अकेला उच्चारण किया जाता है तब उसके बाद एक संक्षिप्त स्वर का उच्चारण हो जाता है, जिसे ə से निर्दिष्ट कर सकते हैं। अर्थात् प् (p) कहने पर (p^h) फ् जैसा उच्चारण हो जाता है और ब् (b) कहने पर ब (b) जैसा। उससे पहले ब, ड, ग का वर्णन करते समय यह भी बताया गया है कि चूँकि ये घोष ध्वनियाँ हैं, इसलिए प्रचलित अर्थ में इनमें महाप्राणता नहीं आ सकती।

इससे इतनी बातें निकलती हैं :—(क) जैसे ह् में महाप्राणता की चर्चा नहीं की जाती है (चूँकि वह तो है ही प्राण-स्वरूप), उसी भाँति स्वरों में भी महाप्राणता की चर्चा नहीं की जाती है, पर ह् स्वरों के समान है और स्वर ह् के समान, अतः स्वर भी महाप्राण हैं। (ख) जोन्स ने श्वासवानों में महाप्राणता मानी है, घोषवानों में 'प्रचलित अर्थ में' महाप्राणता हो ही नहीं सकती[२], अतः घोषवान् स्वरों में भी महाप्राणता का उल्लेख निरर्थक है। यह महाप्राणता श्वासवानों की महाप्राणता से न्यूनबल है। (ग) तभी तो बलाघात रखने पर भी प् का उच्चारण जैसे फ् की तरह होता है, वैसे ब् का उच्चारण महाप्राणवान् नहीं हो पाता, ह् से युक्त नहीं, स्वर से युक्त उच्चारण होता है। (घ) और स्वयं ह् भी स्वरों के बीच पड़ने पर घोषवान् बन जाता है। (ङ) प्रातिशाख्यों ने भी ख छ ठ थ फ श ष स में जहाँ क च ट त प से अधिक श्वास (सोष्मता) माना है, वहाँ घ झ ढ ध भ ह में अधिक श्वास का प्रश्न तो दूर रहे, केवल श्वास भी नहीं, नादसंयुक्त[३] श्वास माना है। अर्थात् इनमें कम सोष्मता है। जोन्स ने भी फ, ठ, ख के मुकाबले इनमें महाप्राणत्व (aspiration) नगण्य माना, जहाँ प्रथम वर्णों के साथ h श्रुति लगाई, वहाँ तृतीय वर्णों के साथ ə श्रुति। इससे यह प्रतीत होता है कि इस श्वास-नादवान् अथवा घोष-नादवान् ह् की तरह ही सभी स्वर नादवान् के साथ गौण रूप से महाप्राणवान् हैं। अर्थात् इन्हें यदि अल्पप्राणवान् और महाप्राणवान् वर्णों की दो ही कोटियों में से किसी एक में रखना आवश्यक ही हो जाय तो ये महाप्राण वर्णों की ही कोटि में रखे जायेंगे, यद्यपि इनमें वस्तुतः महाप्राण वर्णों की तुलना में कम प्राणवत्ता है, जिस प्रकार ह् में शेष ऊष्मों से कम महाप्राणवत्ता है। दीक्षित की यही सम्मति प्रतीत होती है। अतः एलेन के अनुसार नाद और घोष को एक ही

1. "When we pronounce a voiceless plosive, e. g. P 'by itself' it is generally followed by a short breathed sound which may be represented by ^{h}, thus p^h, when we pronounce a voiced plosive e.g. 'by itself' it is generally followed by a short vowel, which may be represented by ə, 'thus b.ə"—अनु० ५६४।
२. अनु० ५०६, ५२४ तथा ५४५ : "........They cannot have aspiration in the ordinary sense of the term."
३. ऋक्प्रा० १३।६; तै० प्रा० २।२।८; ऋक्तन्त्र—प्रथम प्रपाठक।

वस्तु नहीं मानना चाहिए और स्वरों का भी अन्तस्थों तथा ऊष्मों की ही भाँति प्राणवत्ता-निर्धारण करना चाहिए। इस विषय पर ध्वनिविशेषज्ञों का मार्ग-प्रदर्शन आवश्यक है।

ध्वनिगुण :

स्थिर और नियमित आन्दोलनों (कम्पनों) वाली ध्वनि को नाद कहते हैं। इस नाद में तीन विशेषताएँ होती हैं :—

(१) एक तो नाद का लघुत्व-महत्त्व (Intensity), जो आन्दोलनों की चौड़ाई पर निर्भर है। यदि हम तानपूरे के तार को अधिक जोर से छेड़ेंगे तो वह दोनों ओर दूर तक कम्पन करता हुआ जायगा अर्थात् आन्दोलन की चौड़ाई अधिक हो जायगी और यह नाद बड़ा कहा जायगा; जब तार धीरे से छेड़ा जायगा, तब चौड़ाई कम होगी और वह नाद छोटा कहा जायगा। बड़ा नाद दूर तक और अधिक स्पष्ट सुनाई देगा और छोटा नाद कम दूर तक और धीमा सुनाई देगा। बलाघात (Accent) इसी श्रेणी का गुण है। "किसी[1] विशेष ध्वनि पर वाक्य अथवा पद की अन्य ध्वनियों की अपेक्षा उच्चारण में अधिक प्राणशक्ति लगाना बलाघात कहलाता है।" "अघोष[2] ध्वनियों पर सघोष ध्वनियों की अपेक्षा कुछ अधिक बलाघात होता है।" जोन्स ने भी इन दोनों तथ्यों को स्वीकार किया है। जोन्स स्वीकार करते हैं कि वृक्ष से प्रबल धक्का देने तथा परिणामतः बहिर्गामी श्वास[3] की प्रबल शक्ति से ही बलाघात पैदा होता है, और यह बलाघात प, ट, क पर जितना अनिवार्य रूप से और जितनी मात्रा से पड़ता है, उस भाँति ब द[4] ग पर नहीं। यह बात पिछले पृष्ठों में दिखा आये हैं। इस प्रकार दूरतर श्रव्यता ध्वनि के महत्त्व पर निर्भर करती है, महत्त्व आन्दोलनों की चौड़ाई पर, और आन्दोलनों की चौड़ाई अधिक जोर से छेड़ने अर्थात् आघात पहुँचाने पर। इसलिए जहाँ बलाघात होगा वहाँ ध्वनि में महाप्राणता रहेगी, साथ ही दूरतर श्रव्यता होगी। जोन्स ने स्पष्ट कर दिया है कि बलाघात (Stress) की जगह[5] ही प्रायः महाप्राणता (Aspiration) होती है। इस सिद्धान्त से दूरतम श्रव्य स्वरों (Vowels) को महाप्राण ही मानना समुचित है। साथ ही, चूँकि यह बलाघात सघोष की अपेक्षा अघोष पर ही अधिक होता है, इसलिए प्राचीन भारतीयों ने स्वरों को और वर्णों की भाँति पूर्ण सघोष नहीं माना है; क्योंकि दूरतम श्रव्यता और महाप्राणता के साथ पूर्णसघोषता का मेल बैठता नहीं। अँगरेजी के उच्चारण से हम देखते हैं कि किसी भी पद में सभी ध्वनियाँ नहीं सुनाई पड़तीं, जिस खण्ड (Syllable) पर बलाघात होता है, उस खण्ड की ही ध्वनियाँ स्पष्टतर रहती हैं, बाकी का अनुमान-सा करना पड़ता है। यह भी स्पष्ट है कि यह बलाघात मुख्यतः किसी स्वर[6] (Syllable) पर ही दिया जाता है, पर उससे लिपटे उसके अंगभूत व्यंजन भी उसके प्रभाव से महाप्राण बन जाते हैं। इस तरह ध्वनि का यह गुण, बलाघात, महाप्राणत्व

---

१. सामान्य भाषाविज्ञान, अ० ६, अनु० १।
२. वही, अनु० ८।
३. वही, अनु० ६०६।
४. वही, अनु० ५०६, ५२४, ५४५।
५. जोन्स : अनु० ४६७, ५१२ तथा ५३४।
६. वही, : अध्याय २६ तथा अनु० ४६७, ५१२, ५३४ आदि।

का ही रूप है, ध्वनि की महानता है, जिसका प्रयोग अँगरेजी में अधिक होता है, और आजकल हिन्दी में भी होता है।

(२) ध्वनि का दूसरा गुण है तारता-मन्द्रता (या ऊँचाई-निचाई)। इसे ही सुर (Pitch) कहते हैं। जिस प्रकार अँगरेजी में किसी अक्षर (Syllable) को अधिक महत्त्वपूर्ण (Prominent) या दूरश्रव्य (Sonorous) बनाने के लिए बलाघात का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार संस्कृत में किसी अक्षर को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए स्वराघात[१] (Intonation) का प्रयोग करते थे। स्वराघात के लिए नाद में विशालता (Magnitude) या तार के आन्दोलनों की चौड़ाई की नहीं, निम्नलिखित तीन बातों की आवश्यकता है :— (क) तार छोटा हो, (ख) पतला हो, (ग) कसा हो। इन तीनों में ज्यों-ज्यों वृद्धि होगी त्यों-त्यों आन्दोलनों की संख्या बढ़ेगी और आन्दोलनों की संख्या में वृद्धि से ही नाद का सुर (Pitch) भी बढ़ेगा।

(३) और तीसरी विशेषता है लम्बाई या मात्रा, जिसका सम्बन्ध काल से है, अर्थात् वह तार कितनी देर तक कम्पन करता रहता है। लम्बाई या मात्रा से यह पता चलता है कि कोई भी ध्वनि कितनी देर तक कायम रहती[२] है। भारतीय आचार्यों ने सभी व्यंजनों को अर्धमात्रिक माना है, मात्रा के न्यूनाधिक्य का वर्णन केवल स्वरों में ही किया है। किन्तु, जोन्स ने कुछ व्यंजनों में भी मात्रा की सत्ता स्वीकार की है।

पतंजलि ने '**तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्**' के भाष्य में काकलीय प्रयत्न के केवल आठ भेद माने हैं, यह हम पीछे कह आये हैं। उनमें स्वराघात नहीं है। बल्कि '**वृद्धिरादैच्**' सूत्र के भाष्य में स्वराघात को वर्णों का गुण माना है। किन्तु कैयट ने तथा उनके ही अनुरोध से दीक्षित[३] ने, स्वराघातों को भी बाह्यप्रयत्न का ही भेद माना है। पाणिनि ने ह्रस्व-

---

१. "Intonation may be defined as the variations which take place in the pitch of the voice in connected speech i.e. the variations in the pitch of the musical note produced by the variation of the vocal chords (Jones, para 1007)". "Intonation is thus quite a different thing from stress (अनु० १००८)." "There can be no objective intonation when voiceless sounds are pronounced." (अनु० १००९).

२. "Sounds which can be held on without alteration during a longer or a shorter period of time are called continuants. The chief continuant sounds are the vowels, the nasal, lateral, rolled and fricative consonants, the frictionless continuants and the stops of plosive consonants." "The length or quantity of a sound is the length of time during which it is held on continuously in a given word or phrase. Vowels and continuant consonants have length. Vowel glides also have length."

३. संज्ञाप्रकरण :—बाह्यप्रयत्नास्त्वेकादशधा—विवारः संवारःश्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोनुदात्तः स्वरितश्चेति।

दीर्घ-प्लुत संज्ञाविधायक सूत्र के बाद[1] ही उदात्त, अनुदात्त, स्वरित विधायक सूत्र रखे हैं, इससे पाणिनि यही प्रकट कर रहे हैं कि ये नाद के गुण हैं, बाह्यप्रयत्न नहीं। जोन्स ने अध्याय ६ से २५ तक के २० अध्यायों में सभी ध्वनियों का वर्णन समाप्त कर दिया है। फिर अध्याय २६ तथा २७ में ध्वनिविकार के दो मुख्य मार्गों—समीकरण तथा लोप का विश्लेषण है। इसके बाद २८ में मात्रा, २९ में बलाघात, ३० में विराम, ३१ में स्वराघात का वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि ये तीनों ध्वनि के गुण ही हैं, बल्कि आघात (Accent) का, स्वराघात, बलाघात के अलावा, एक तीसरा भेद भी है रूपात्मक आघात। यह मुख्य नाद के ही साथ स्वयं उत्पन्न होनेवाले अन्य सहायक नादों की संख्या, क्रम और जोर पर निर्भर है। अधिकतर कोई भी नाद अकेला नहीं निकलता, उसके साथ स्वयं ही कुछ अन्य ऊँचे नाद भी उत्पन्न होते हैं, जिन्हें स्वयंभू स्वर या सहायक नाद कहते हैं। यह स्वरतन्त्री की बनावट पर आधारित है। रूपात्मक आघात के कारण ही हम विना देखे भी केवल सुनकर समझ जाते हैं कि अमुक वाद्य बज रहा है या अमुक आदमी बोल रहा है।

इनमें मात्रा, बलाघात तथा स्वराघात के बहुत-से भेद किये जा सकते हैं, पर संस्कृत में एकवचन, द्विवचन, बहुवचन की तरह प्रत्येक के तीन भेद माने गये। मात्राएँ तीन प्रकार की होती हैं—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत या एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक। वैसे वृद्धिरादैच् में चतुर्मात्रिक की भी चर्चा है और प्रातिशाख्यों में तो और भी लम्बी मात्राओं (निनर्द, न्यूङ्ख) का वर्णन है, पर अन्त में विश्राम तीन संख्या पर ही है, तीन या तीन से अधिक संख्या की सभी मात्राओं को प्लुत ही कहेंगे। जोन्स ने भी अँगरेजी-ध्वनियों में ५-६ मात्राएँ मानकर फिर उनका तीन ही में उपसंहार[2] किया है—दीर्घ (Long), ह्रस्व (Short) तथा अर्धदीर्घ (Half-long)। और, फिर इनमें से अर्धदीर्घ को भी दीर्घ मानकर दो मात्राओं से काम चलाया है। वस्तुतः मात्राओं का अधिक उपयोग छन्द (Rhythm) के लिए होता है और छन्द में दो ही भेदों से काम चलाया जाता है। पाणिनि ने भी छन्द की दृष्टि से दो ही कोटियाँ रखी हैं—लघु (ह्रस्व) तथा गुरु[3] (दीर्घ)।

स्वराघात के पाणिनि ने तीन भेद किये हैं—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। पाणिनि के लक्षण-सूत्र हैं : 'उच्चैरुदात्तः', 'नीचैरनुदात्तः', 'समाहारः स्वरितः'। इनका अर्थ भी सन्दिग्ध

---

१. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७, उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः १।२ के २९, ३० तथा ३१।

२. अ० २८, अनु० ८६ : "It is easy to distinguish many degrees of length, say five or six, but for practical purposes it is sufficient to distinguish two or sometimes three degrees. When two degrees are distinguished, they are called long and short. When it is desired to distinguish an intermediate degree, this intermediate degree is termed medium or half-long."

३. सू० १।४ के १०, ११, १२।

लगता है। महाभाष्य में शंका आई[१] है कि उच्चता-नीचता तो सापेक्ष शब्द हैं, अतः उदात्त-अनुदात्त के ये लक्षण तो अस्पष्ट ही रह गये, **'उच्चनीचस्यानवस्थितत्वात् संज्ञाऽप्रसिद्धिः'**? इसका उत्तर दिया है कि **सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात्**। इस पर स्वयं शंका उठाई है कौन-से प्रक्रम हैं, और स्वयं उत्तर दिया है उरस्, कण्ठ और शिरस्[२]। इससे स्पष्ट है कि यहाँ प्रक्रम का अर्थ है मन्द्र, मध्यम और तार-रूप त्रिविध नाद[३]-श्रेणी। अर्थात् इनमें से किसी एक में, जो अपेक्षाकृत उच्चनाद है वह उदात्त, जो नीच है वह अनुदात्त तथा जो दोनों का मिश्रित रूप है वह स्वरित है। अन्यथा मन्द्र का उदात्त, तार के अनुदात्त से नीचे का नाद हो सकता है। कैयट ने 'प्रक्रम' शब्द का अर्थ 'स्थान' कर व्याख्या की है कि वर्णों के तालु आदि प्रत्येक स्थान में भी तीन-तीन भाग किये जाते हैं। इन तीनों में से उपरले भाग में जिह्वा के स्पर्श से जिसका उच्चारण हो वह उदात्त, निचले भाग में स्पर्श से उच्चारण होने से अनुदात्त, तथा मध्यभाग में स्पर्श से स्वरित होता है। इस प्रकार 'उच्चैः' का अर्थ हुआ उच्च भाग, 'नीचैः' का निम्न भाग[४]। दीक्षित ने भी उन्हीं का अनुसरण किया[५] है। यह संगत नहीं लगता। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, उदात्तत्व आदि स्वर मुखविवर की नहीं, स्वरयन्त्रमुख की विकृतियाँ हैं। स्वर-तन्त्रियों[६] के तनाव के कारण सुर उत्पन्न होता है। इसका[७] सीधा सम्बन्ध स्वर-तन्त्रियों से है। जब स्वर-तन्त्रियाँ ढीली रहेंगी तब संगीतात्मक स्वराघात नहीं हो सकता, जैसे तार के ढीले रहने पर वीणा आदि बाजे व्यर्थ हो जाते हैं। जोन्स[८] ने भी इनमें ये ही तीन भेद और उनके ये ही कारण माने हैं। महाभाष्य में बताया है कि गात्रों का तनाव, स्वर की रूक्षता, तथा स्वरयन्त्रमुख की संवृतता से नाद उच्च होता है, और गात्रों की शिथिलता, स्वर की मृदुता, तथा स्वरयन्त्रमुख की विवृतता से नाद नीच होता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने

१. सू० १।२।२९ पर।

२. कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठः शिर इति।

३. पा० शि० श्लोक ७, ८; तै० प्रा० २।१०।११ तथा ऋक्प्रा० १३-४६ और २।११ का १०, ११, १२।

४. प्रक्रमन्तेऽस्मिन् वर्णा इति प्रक्रमः स्थानमुच्यते। तेनायमर्थः एकस्मिँस्तात्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागे ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः अधरभागे निष्पन्नोऽनुदात्तः। एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते नीचैरित्यधर भागः।

५. दे० 'सिद्धान्तकौमुदी' में इन सूत्रों का अर्थ।

६. सामान्य भाषाविज्ञान, अ० ६, अनु० १।

७. भाषाविज्ञान : ध्वनिविचार-स्वराघात।

८. "When the pitch of the voice rises we have a rising intonation; when it falls we have a falling intonation; when it remains on one note for an appreciable time, we have level intonation." —Jones : अनु० १०१०।

भी नाद के उच्चत्व-नीचत्व के ठीक ये ही कारण[1] बताये हैं। या तो पतंजलि ने तैत्तिरीय प्रा० के ये दो सूत्र प्रत्यक्षर अपने भाष्य में उद्धृत किये हैं (जिसकी अधिक सम्भावना दीखती है) या तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने ही ये दो सूत्र महाभाष्य के गद्य से लिये हैं। बल्कि माहिषेय की व्याख्या भी थोड़ी भिन्न है। माहिषेय ने शरीर का फैलाव, अंगों की दृढ़ता तथा कण्ठ-विवर (स्वरयन्त्रमुख) की संकीर्णता, उदात्तत्व का और शरीर का संकोचन, अंगों की शिथिलता तथा कण्ठ-विवर की स्थूलता अनुदात्तत्व का कारण बताया है। ऋक्प्रातिशाख्य ने शरीर का आयाम अर्थात् वायु (अन्तर्गामी श्वास) के कारण ऊपर उठना, विश्रम्भ अर्थात् वायु (बहिर्गामी श्वास) के कारण नीचे झुकना तथा आक्षेप (मध्यावस्था में रहना ही उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ध्वनियों का क्रमशः कारण[2] माना है। जोन्स के rising, falling तथा level के लिए सक्सेना[3] जी ने तीन प्रतिशब्द दिये हैं—उच्च, नीच, सम। ये भी प्रायः उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के समानार्थक ही हैं।

इनके भी बहुत-से भेद सम्भव हैं। पाणिनिशिक्षा में बताया[4] गया है कि उदात्त के दो भेद हैं—निषाद और गान्धार, अनुदात्त के भी दो भेद हैं—ऋषभ और धैवत तथा स्वरित के तीन भेद हैं—षड्ज, मध्यम और पंचम। ऋक्प्रातिशाख्य ने इन्हीं तीनों का यम षड्ज आदि सप्तस्वरों[5] को बताया है। बल्कि तै० प्रा०[6] से पता चलता है कि सामवेद में इन्हें क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य कहते थे। सामवेद[7] के उपवेद गान्धर्ववेद ने बाद में इन्हें क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद नाम दिये। यह[8] भी स्पष्ट कर दिया कि मन्द्र, मध्यम तथा तार—इन तीनों स्थानों में ये सात-सात यम होते हैं, इस प्रकार वाणी के २१ स्थान हो गये।

वस्तुतः कैयट ने पतंजलि के 'प्रक्रम' शब्द का अर्थ जो स्थान किया, वह ताल्वादि अर्थ में तो संगत नहीं है, पर उरस्, कंठ, शिरस्—इन तीनों के अर्थ में वह संगत हो जाता है। संगीतशास्त्र में भी यह शब्द गृहीत है। किसी एक नाद से लेकर उसके दुगुने ऊँचे नाद तक के क्षेत्र को एक 'स्थान' कहते हैं, जिसका शरीर के उच्चारण-अवयवों से घनिष्ठ संबंध है। साधारणतया शरीर के तीन अवयव—हृदय, कण्ठ और मस्तक ही उच्चारण के स्थान

---

१. आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य, २।१०।९। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता स्वस्येति नीचैः कराणि, २।१०।१०।
२. आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते, ३।१।
३. नवाँ अध्याय।
४. श्लोक, १२।
५. १३।४२।४४।
६. २।११।१३।
७. ऋक्प्रा० १३।४४ पर उवट की टीका।
८. तै० प्रा० २।१०।१२।

माने गये हैं और इन्हीं के सम्बन्ध में स्थान के तीन भेद कहे गये हैं—मन्द्र स्थान, मध्य स्थान तथा तार-स्थान। मन्द्र स्थान के नादों के उच्चारण में हृदय पर जोर पड़ता है, मध्य स्थान के नादों के उच्चारण में कण्ठ पर जोर पड़ता है और तार-स्थान के नादों के उच्चारण में मस्तक पर जोर पड़ता है। संगीत-क्षेत्र में 'स्थान' शब्द का प्रयोग करते समय उसकी सीमाएँ निर्धारित कर दी गई हैं और वे सीमाएँ यही हैं कि प्रत्येक स्थान का क्षेत्र किसी एक नाद से लेकर उसके दुगुने ऊँचे नाद तक होगा और साथ ही जहाँ मन्द्र स्थान समाप्त होगा, वहाँ से मध्य स्थान प्रारम्भ होगा और जहाँ पर मध्य स्थान समाप्त होगा, वहाँ से तार-स्थान प्रारम्भ होगा। इस प्रकार मन्द्र से दुगुना ऊँचा मध्य और मध्य से दुगुना ऊँचा तार-स्थान होता है।

एक स्थान के भीतर एक-दूसरे से ऊँचे असंख्य नाद हो सकते हैं, पर इनमें २२ ही एक-दूसरे से स्पष्ट प्रत्यक्ष-योग्य होते हैं, जिन्हें श्रुति कहते हैं। इन २२ श्रुतियों में से ही पहले ७ मुख्य श्रुतियाँ चुनी गई, जिन्हें ऊपर षड्ज आदि कहा गया है। इन्हें ही शुद्ध स्वर भी कहते हैं। सात स्वरों के कारण ही एक स्थान का नाम सप्तक पड़ा है। एक षड्ज स्वर और उसके दुगुने ऊँचे दूसरे षड्ज स्वर के बीच का क्षेत्र, जिसमें सात शुद्ध स्वर होते हैं, सप्तक कहलाता है। पर केवल सात स्वरों से संगीत का काम पूरा नहीं हो सका, अतः ५ और श्रुतियाँ चुनी गई, जिन्हें विकृत स्वर कहते हैं। इस प्रकार एक सप्तक में अब इतने स्वर हो गये—शुद्ध षड्ज, कोमल ऋषभ, शुद्ध ऋषभ, कोमल गान्धार, शुद्ध गान्धार, शुद्ध मध्यम, तीव्र मध्यम, शुद्ध पंचम, कोमल धैवत, शुद्ध धैवत, कोमल निषाद और शुद्ध निषाद। इस भाँति आधुनिक उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत में ७ शुद्ध, ४ कोमल, और १ तीव्र, कुल मिलाकर १२ स्वर (श्रुतियाँ) प्रयुक्त होते हैं। इन्हीं १२ स्वरों पर सम्पूर्ण संगीत आधारित है। षड्ज और पंचम स्वर केवल शुद्ध होते हैं, इसीलिए उन्हें अचल स्वर भी कहते हैं। इस प्रकार एक सप्तक के भीतर अब शुद्ध या प्राकृत ७ स्वर और विकृत ५ स्वर, कुल १२ प्रयुक्त होते हैं। सप्तक भी तीन होते हैं—मन्द्र, मध्य तथा तार। मन्द्र से दुगुना ऊँचा मध्यसप्तक, और मध्य से दुगुने से ऊँचा तारसप्तक होता है। वास्तव में एक सप्तक में षड्ज से निषाद तक ही नहीं, दूसरे षड्ज तक का स्थान लेना चाहिए, तभी वह सप्तक पूरा कहा जाएगा। परन्तु ऐसी स्थिति में इसे सप्तक नहीं कहकर अष्टक कहना अधिक शुद्ध होगा। इसीलिए अँगरेजी संगीत में इसे ऑक्टेभ (octave) ही कहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संगीतात्मक स्वराघात उदात्तादि संगीत के अधिक उपयोगी हैं।

इस प्रकार का विश्लेषण रूपात्मक स्वराघात का नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें अनन्तविधता है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी[१] ने लहरों की तसवीरें देकर इन तीनों स्वराघातों को स्पष्ट किया है। तीनों प्रकार के स्वराघातों में स्वरतन्त्रियों की कम्पन-शैली का ही अन्तर है।

१. अध्याय ५ : स्वराघात।

संगीतात्मक स्वराघात में एक क्षण की कम्पन-संख्याओं का अन्तर रहता है, बलात्मक स्वराघात में संख्याओं का नहीं, कम्पन की ऊँचाई-निचाई का अन्तर होता है और रूपात्मक स्वराघात में लहरों की संख्या या ऊँचाई में नहीं, रूप में परिवर्त्तन हो जाता है। यदि तीनों की तसवीरें बनायें तो ऐसी होंगी :—

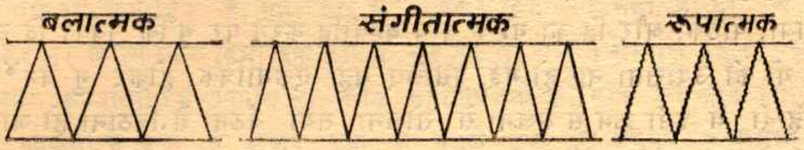

यदि इन त्रिविध आघातों के कम्पन के साथ हम नाद की लम्बाई की तुलना करें तो बड़ा रोचक होगा। संगीतात्मक उदात्तादि स्वराघातों से कम्पन-संख्या बढ़ जाती है, अर्थात् एक क्षण में अनुदात्त ध्वनि में जितने कम्पन होंगे उनसे अधिक कम्पन उदात्त ध्वनि में होंगे। मात्रा बढ़ाने से भी कुछ इसी ढंग का काम होता है, अर्थात् उदाहरण के लिए यदि अनुदात्त इ ध्वनि एक क्षण में १०० बार कम्पन करती है, तो उदात्त इ ध्वनि एक क्षण में २०० बार कम्पन करेगी और अनुदात्त ई (द्विमात्रिक या दीर्घ इ) ध्वनि २ क्षणों में २०० बार। चूँकि क्षण-संख्या दुगुनी हो गई, इसलिए २०० कम्पन रहने पर भी इसका स्थान (pitch) या श्रुति वही रहेगी, पर उस उच्चारण में स्वरतन्त्रियों को २०० बार कम्पन करना पड़ेगा। इनमें रूपात्मक स्वराघात तो अनन्तविध होने से विश्लेषण-योग्य नहीं है, पर मात्रा, बलाघात तथा स्वराघात का वर्णन सभी भाषाविज्ञानियों ने किया है। इन[1] तीनों से ही स्वरों का गुणभेद होता है, बल्कि चौथा भी सहायक हो जाता है। ये चारों ध्वनि के गुण हैं। यदि चाहें, तो इन्हें भी बाह्य प्रयत्न कह सकते हैं। स्वरयन्त्रमुख के संवार तथा विवार से जिस प्रकार घोष-अघोष, नाद और श्वास उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार स्वरयंत्रों के कम्पन के भेद से ही मात्रात्मक, बलात्मक, संगीतात्मक तथा रूपात्मक अंतर भी आता है। एक और बात है। वैसे तो ये चारों नाद की ४ विशेषताओं को प्रकट कर रहे हैं, पर प्रत्येक गुण का शेष तीन से बड़ा निकट-सम्पर्क है। एक में परिवर्त्तन दूसरे में भी परिवर्त्तन ला देता है।

१. "The prominence of a given sound may be increased or diminished by means of any one of the three sound-attributes, length, stress or intonation or by combination of these. A common and effective means of increasing prominence is to increase the stress. In English, increase of stress is generally accompanied by a modification of intonation and sometimes by an increase of length (Jones: अनु० ६११). The prominence of a syllable is its degree of general distinctness, this being the combined effect of the tamber, length, stress and (if voiced) intonation of the syllabic sound (Jones: अनु० ६१२)."

एक में अंतर लाने के लिए दूसरे में भी अन्तर लाना पड़ जाता है। अक्सर स्वर में महत्त्व बढ़ाने-घटाने के लिए अनेक या सबकी आवश्यकता पड़ जाती है। जिस अक्षर में बलाघात लाना चाहते हैं, उसमें स्वराघात भी आ जाता है, मात्रा भी बढ़ जाती है। पठ् से अक (ण्वुल्) करने पर चूँकि प्रत्यय से पूर्व का अक्षर उदात्त[1] हुआ, इसलिए प का पा[2] हो गया, पाठक; और द्वि का गो के साथ बहुव्रीहि करने पर चूँकि पूर्वपद द्वि उदात्त[3] रह गया, गो की उदात्तता नष्ट हो गई, इसलिए वह एकमात्रिक होकर गु बन[4] गया, द्विगु। हिन्दी में इसी क्रम से सूखना से सोखना तथा बैठना से बिठाना हो जाता है। बलाघात और स्वराघात तो इतनी निकटता[5] से संबद्ध हैं कि स्वयं पाणिनिसूत्र कृत उदात्तादि गुण किसका संकेत कर रहे हैं, निश्चयपूर्वक कहना कठिन हो जाता है, यह अभी बता आये हैं। **'उच्चैरुदात्तः'** की भाषा स्वराघात से अधिक बलाघात की ओर संकेत करती-सी दीखती है।

पतंजलि ने यह शंका की है कि यह स्वराघात उदात्तत्वादि व्यंजनात्मक नादों में भी दीखता है, **'इषे त्वोर्जे त्वा'** आदि में। इसका उत्तर दिया है कि वस्तुतः[6] यह व्यंजन में नहीं, स्वरों में ही होता है, किन्तु स्वर-सामीप्य-मात्र से व्यंजनों में प्रतीत होता है, जैसे दो लाल कपड़ों के बीच उजला कपड़ा भी लाल दीखता है, या बेर के साथ रखी लोहे की कटोरी बेर के ही रंग की दीखती है। इससे स्पष्ट है कि स्वराघातों का मात्रा से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत्यल्पमात्रिक व्यंजनों में कम्पन का भेद-निर्धारण कठिन है। जोन्स ने जहाँ प्, ट्, क् का बलाघात के कारण महाप्राणत्व बताया है, वहाँ स्वयं इनपर नहीं अग्रवर्त्ती[7] स्वर पर ही बलाघात माना है। ये चारों ध्वनिगुण आघात या स्वराघात के ही चार रूप हैं। मात्रा या मात्रात्मक स्वराघात यह बताता है कि इस नाद के उच्चारण में स्वरतन्त्रियों का कम्पन कितनी देर तक चलता रहता है। बलात्मक स्वराघात यह प्रकट करता है कि इस नाद के उच्चारण में ध्वनिजनक कम्पनों का आयाम या ऊँचाई कितनी दूर तक पहुँचती है, और संगीतात्मक स्वराघात इन कम्पनों की तीव्रता की ओर संकेत करता है, और रूपात्मक

१. अष्टा० सू० ६।१।१९३।
२. अष्टा० सू० ७।२।११५।
३. अष्टा० सू० ६।२।१।
४. अष्टा० सू० १।२।४८।
५. "Some phoneticians have expressed the view that stress is not independent of pitch and have shown by experiments with a dead larynx that an increase of stress involves a raising of pitch."
६. "नैते व्यञ्जनस्य गुणाः, किं त्वच एव। तत्सामीप्यात्तु व्यञ्जनमपि तद्गुणमुपलभ्यते। तद्यथा द्वयो रक्तयोर्वस्त्रयोर्मध्ये शुक्लं वस्त्रं तद्गुणमुपलभ्यते। बदरपिटके रिक्तको लोहकंसस्तद्गुण उपलभ्यते"—अष्टा० सू० १।२।२९।
७. अनु० ४९७, ५१२, ५३४।

स्वराघात यह निर्देश करता है कि मुख्य कम्पनों के सहयोगी कम्पन (स्वयम्भू-श्रुतियों के जनक कम्पन) कितने, किस प्रकार और क्रमवाले हैं। वस्तुत: ये चारों प्रकार के कम्पन मुख्यत: स्वरों में और साधारणत: सभी नादवान् ध्वनियों में ही होते हैं। व्यंजन सभी एकमात्रिक से कम ही होते हैं। 'पक्का' शब्द में 'क्क' एकमात्रिक[1] है, यह कहना सही नहीं है। यहाँ आधी-आधी मात्रा के दो 'क' हैं, एक मात्रा का एक नहीं[2]। 'आकाश' शब्द में एक आ द्विमात्रिक है; यहाँ दो अ मिलकर द्विमात्रिक नहीं है; हाँ, 'अ अवद्यम्, में दो निरन्तर अ मिलकर द्विमात्रिक होंगे। पर यह तो संयुक्त सम्पत्ति हुई। छन्दविचार में ही मात्रा का सर्वाधिक उपयोग है, और वहाँ व्यंजनों की मात्रा की कोई स्वीकृति नहीं है, अत: व्यंजनों में आधे से लेकर एक के पहले तक ही अनेकविध मात्राएँ माननी चाहिए, एक मात्रा पूरी केवल एक व्यंजन में नहीं हो सकती। क्क, त्त आदि ऐ, औ आदि की भाँति सन्धि-अक्षर भी नहीं, दो निरन्तरोच्चारित सदृश वर्णमात्र हैं, जिनका पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व है। ऐ औ में दोनों खण्ड पथक् हो ही नहीं सकते, दोनों अधूरे रहते हैं, उनका संयोग ही एकत्व पाता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने तो 'ज्योत्स्ना' शब्द में त् स् न् तीन अर्धमात्रिकों के मेल को भी (द्विमात्रिक व्यंजन) दीर्घ स्वीकार किया है, कहा है कि यह (द्विमात्रिक) दीर्घ सन्धिव्यंजन है? वस्तुत: यह विश्लेषण ठीक नहीं। संयोग और सन्धि का अन्तर रखना और समझना चाहिए। त्स्न संयुक्त व्यंजन-समुदाय है, एक सन्धिव्यंजन नहीं। ऊष्म व्यंजनों का उच्चारण एक से भी अधिक मात्रा तक किया जा सकता है, पर कहीं किया जाता नहीं है। शेष व्यंजन कहीं कम, कहीं अधिक देर तक भले ही बोले जायँ, और उस आधार पर उन्हें ह्रस्व-दीर्घ भी कह दिया जाय, पर उनका दीर्घ रूप भी एकमात्रिक से कम ही रहेगा।

यहाँ एक बात पर विचार कर लेना आवश्यक है। सभी ध्वनिशास्त्रियों की मान्यता है कि सभी नादवान् वर्णों में स्वरतन्त्रियों का कम्पन होता है, चाहे उनमें किसी प्रकार का भी स्वराघात करें। अर्थात् वे वर्णात्मक मानव-ध्वनि को तन्त्रवाद्य मानते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी विचारक हैं, जो इन्हें तन्त्रवाद्य नहीं, सुषिर वाद्य समझते हैं। जिस प्रकार वंशी की ध्वनि वीणा की ध्वनि की तरह किसी तार के कम्पन पर नहीं, वायु-स्तम्भ के कम्पन पर आधारित है, उसी प्रकार मानव-ध्वनि भी। इसमें ध्वनिजनक छिद्र की आकृति महत्त्वपूर्ण है। मानव-ध्वनि में भी स्वरतन्त्रियों का कम्पन नहीं, स्वरतन्त्रियों के फैलने-सिकुड़ने से काकल-विवर की विविध स्थितियाँ महत्त्वपूर्ण हैं; इनमें स्वरतन्त्रियों का कम्पन नहीं, स्वरयन्त्रमुखस्थ वायु का कम्पन ध्वनि में विविधता का जनक है। स्वरतन्त्रियों के तनाव-मात्र से तीन सप्तक तक के नाद का निकलना सम्भव नहीं है, स्वरतन्त्रियाँ इतनी बड़ी नहीं हैं कि उनमें तनाव का इतना लम्बा क्षेत्र हो। भारतीय विद्वानों ने भी स्वरतन्त्रियों के कम्पन या

१. भाषाविज्ञान, अध्याय५—ध्वनियों के गुण।
२. 'न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति'—महाभाष्य—"ऐ औच्" का भाष्य, १।१।१
३. V. E. Negus की पुस्तक 'The Mechanism of the Larynx' का प्रमाण देते हुए F. C. Field-Hyde ने अपनी पुस्तक 'The Art and Science

तनाव की चर्चा नहीं कर, केवल काकल (कण्ठविवर) की विवृतता-संवृतता का उल्लेख किया है, इसका यही रहस्य प्रतीत होता है। वे भी ध्वनि को सम्भवतः सुषिरवाद्य[1] मानते थे।

इन ध्वनिगुणों में अंतर से अर्थ में भी अन्तर पड़ जाता है। मात्रात्मक स्वराघात के भेद से 'दिन' का अर्थ दिवस और 'दीन' का दरिद्र है। बलात्मक स्वरघात के भेद से conduct कभी संज्ञा, कभी क्रिया बन जाता है तथा संगीतात्मक स्वराघात में भ्रम से 'इन्द्रशत्रु' शब्द का जप वृत्र को इन्द्र का घातक बनाने की जगह इन्द्र का वध्य बना देता है—यह पहले कह आये हैं।

स्वरयन्त्र में ठीक स्वरतन्त्रियों के ऊपर इन्हीं स्वरतन्त्रियों से मिलती-जुलती, इन्हीं के समानान्तर दूसरी दो स्वरतन्त्रियाँ भी अवस्थित हैं। इन्हें नकली स्वरतन्त्रियाँ (false[1] vocal cords) कहते हैं। जिस प्रकार स्वरतन्त्रियों के द्वारा काकल के संवृत होने पर नादवान् ध्वनियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार नकली स्वरतन्त्रियों के द्वारा काकल के संवृत होने पर फुसफुसाहटवाली ध्वनियाँ निकलती हैं। इसके बाद एक स्वरयन्त्र-आवरण होता है, जो भोजन-नाल से आते हुए अन्नकण को श्वास-नाल में जाने से रोकने के लिए श्वास-नाल-मुख को ढक लेता है। यह जीभ की शकल का होता है, अतः इसे उपालिजिह्वा भी कहते हैं। यह सम्भवतः[2] किसी वर्ण के उच्चारण में सहायक नहीं होती। परन्तु सम्भव है, यह नकली स्वरतन्त्री तथा यह उपालिजिह्वा भीतर से आते वायुवेग को कुछ कम करने में तथा परिणामतः स्वरतन्त्रियों के कम्पन में कुछ अन्तर पैदा करती[3] हों।

प्राणवायु को वर्णात्मक नाद में परिणत करने के लिए प्रथम विकृति स्वरयन्त्रमुख के पास करनी पड़ती है, यही वर्ण का बीज-रूप है। यह ध्वनि फिर ऊपर बढ़कर श्वासमार्ग से अलिजिह्वा या कौआ (Urula) के पास पहुँचती है, जहाँ इसमें दूसरी प्रक्रिया होती है। यह कौआ कोमल तालु का ही अधस्तन भाग है, जो तीन अवस्थाएँ ग्रहण करता है :—

---

of Voice Training' के अ० १३ में Breath-control और working for power के विषय में लिखा है—"The important factor in the mechanism of phonation is the Thyro-arytenoid muscle, not the so-called vocal chords. The thyro-arytenoid folds of man execute regular movements during phonation, alternately separating and coming into contact. The sound is produced, not by the simple vibrations of the muscle itself, but by cutting the air current into regular puffs, as in a siren. The form of this muscle varies greatly in animals, and this variation has a marked influence upon the quality of the voice, both in animals and in man."

१. जोन्स, अनु० ७५।

२. जोन्स, अनु० ७०।

३. दि आर्ट ऐण्ड साइन्स ऑव भ्वायस ट्रेनिग—एफ० सी० फिल्ड-हाइड के अध्याय १४ का आरम्भिक अंश।

१. शिथिल भाव से लटका रहता है और सारी साँस नासिका-विवर से आती-जाती है। पर ऐसी स्थिति के लिए ओष्ठविवर का बन्द रहना आवश्यक है। यदि ओष्ठविवर खुला रहेगा तो कौआ इतना शिथिल हो ही नहीं सकता, वह कुछ तन ही जायगा। कौआ के इस प्रकार शिथिल पड़े रहने पर शुद्ध साँस आय-जायगी, या केवल नासिक्य ध्वनि पैदा होगी, जैसे अनुस्वार। जब गवैये मुँह बन्द कर गुनगुनाते हैं तब केवल इस अनुस्वार-ध्वनि का ही श्रवण होता है। वैसे इसे ओष्ठ-नासिक्य भी कह सकते हैं; क्योंकि शुद्ध अनुस्वार के उच्चारण के लिए दोनों ओठों का सटा रहना आवश्यक है, अन्यथा वह ध्वनि 'अँ' इस प्रकार की मुख-नासिक्य हो जायगी।

२. कौआ इतना तनकर खड़ा हो जायगा कि श्वास का कोई भी अंश नासिका-विवर से जाने ही नहीं पायगा। नासिका-विवर बंद हो जायगा और सारी साँस मुखविवर से ही निकलेगी। साधारणतः सभी वर्ण क ख ग घ, अ आ इ ई आदि इसी प्रक्रिया से उच्चरित होते हैं।

३. कौआ मध्यस्थिति में रहेगा, जिससे साँस पूरी तरह से किसी एक मार्ग से नहीं निकलेगी, कुछ मुखविवर से तथा कुछ नासिका-विवर से निकलेगी। ऐसी ध्वनि को ही पाणिनि ने अनुनासिक कहा है। मुखविवर और नासिका-विवर दोनों का इस नाद के निर्माण में योग होता है, जैसे ङ, ञ, ण, न, म, अँ, आँ आदि। इन्हें केवल नासिक्य (nasal) कहना ठीक नहीं। ङ, ञ, ण, न, म स्पर्श होते हुए नासिक्य हैं।

फेफड़े से लेकर यहाँ तक की सारी चेष्टाओं-प्रक्रियाओं का एक नाम संस्कृत ध्वनिविज्ञानियों ने दिया है 'बाह्यप्रयत्न'। 'बाह्य' का अर्थ है मुखविवर से बाहर का, अर्थात् वर्णों को स्पष्ट आकार-प्रकार तो मुखविवर ही देता है। इसके पूर्व वर्ण की सत्ता नहीं रहती, वायु में कुछ वर्णगुणों का जन्म होता है। ये ही कारणस्थ गुण कार्य में आ जाते हैं। पीछे[1] महाभाष्य का प्रमाण देकर यह बताया जा चुका है कि बाह्यप्रयत्न से इन पन्द्रह गुणों का संग्रह हो जाता है—विवार-संवार, श्वास-नाद, अघोष-घोष, अल्पप्राण-महाप्राण, उदात्त-अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत तथा आनुनासिक्य। इनमें प्रथम १४ स्वरयन्त्रमुख के पास के प्रयत्न हैं, अन्तिम एक नासिका-विवर के पास का प्रयत्न है। ये सब मुखविवर के बहिर्वर्त्ती हैं, अतः इन्हें बाह्यप्रयत्न कहते हैं। नासिक्यता की चर्चा प्रयत्न तथा स्थान दोनों प्रकरणों में है। जिन वर्णों का उच्चारण विना नासिका की सहायता के भी हो सकता है, उनके लिए यह एक गुणमात्र है, जैसे अँ मँ आदि। पर ङ ञ ण न म का तो यह स्वरूप-निर्वर्त्तक ही है, अतः गुण या बाह्यप्रयत्न नहीं, स्थान है।

प्रातिशाख्यों में श्वास, नाद आदि को अनुप्रदान कहा गया है। अनुप्रदान का अर्थ उवट[2] ने किया है : जो वायु में बाद में समाविष्ट किया जाय। अर्थात् फेफड़े से वायु

१. पृ० ३७२।

२. "वायुमनु प्रदीयते इत्यनुप्रदानम्। किं च तत्। श्वासनादोभयम्। केन प्रयत्नेन किमनुप्रदानमापद्यते........"—ऋक्प्रा० १३।१

ध्वनित्वहीन रहकर ही ऊपर श्वासनली में आती है, वहाँ स्वरयन्त्र में ही सर्वप्रथम इसमें ध्वनिगुण, श्वास, नाद आदि का समावेश किया जाता है। अनुप्रदान की यही सही व्याख्या है। क्षितीश[1] जी ने अनुप्रदान का अनुवाद किया है—'after effort' इसका अर्थ भी वही है। प्रथम प्रयास है वायु का फेफड़े से ध्वनियन्त्र में आना, दूसरा प्रयत्न है उसमें नाद आदि गुणों का आना। किसी भी स्थिति में नाद, घोष आदि को वर्णोत्पत्ति के बाद होनेवाला गुण मानना संगत नहीं लगता। आपिशलि शिक्षा[2] ने अनुप्रदान शब्द तथा तत्त्वबोधिनीकार[3] ने 'बाह्यप्रयत्न' शब्द की व्याख्या भ्रामक ढंग से की है, जिससे यह आभास मिलता है कि नाद, घोष आदि गुण वर्णों के उत्पन्न हो जाने के बाद उत्पन्न होते हैं। जब कि वस्तुस्थिति इससे ठीक विपरीत है, वर्णों में पहले श्वास-नाद (बाह्यप्रयत्न) की उत्पत्ति होती है, फिर संवृतता-विवृतता (स्पर्श, आभ्यन्तर प्रयत्न) की और अन्त में कण्ठ्यता-तालव्यता (स्थान) आदि की। अतः उचित यह है कि 'अनुप्रदान' शब्द तथा बाह्यप्रयत्न शब्द की व्याख्या दूसरे ढंग से की जाय। वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन विपरीत क्रम से करने पर पहले स्थान, फिर आभ्यन्तर प्रयत्न तथा अन्त में बाह्यप्रयत्न की चर्चा होती है। ऐसी स्थिति में बाह्यप्रयत्न का अर्थ है कि यह प्रयत्न मुखविवर से बाहर का है तथा अनुप्रदान का अर्थ है कि विपरीत क्रम से चलने पर पहले स्थान का महत्त्व है, फिर करण या आभ्यन्तर प्रयत्न का और अन्त में अनुप्रदान का। उवट ने करण को प्रदान कहा है। स्थान वर्ण का स्वरूप-निष्पादन करता है, आभ्यन्तर प्रयत्न उसे आकार प्रदान करता है तथा बाह्यप्रयत्न उसमें गुण का अनुप्रदान करता है। किसी भी भाँति व्याख्या की जाय, यह बात ठीक नहीं जँचती कि वर्णों की उत्पत्ति के पश्चात् श्वासवायु मूर्धा से टकराकर लौटने के बाद स्वरयन्त्रमुख का विवार या

---

१. पृष्ठ २०१।

२. "स इदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन् मूर्ध्नि प्रतिहतो निवृत्तः कोष्ठमभिहन्ति। तत्र कोष्ठेऽभिहन्यमाने कण्ठविलस्य विवृतत्वाद विवारः, संवृतत्वात् संवारः। तत्र यदा कण्ठविलं विवृतं भवति तदा श्वासो जायते, संवृते तु नादः। तावनुप्रदानमाचक्षते। अन्ये तु ब्रुवते। अनुप्रदानम् अनुस्वानो घंटादिनिह्लदिवत्। तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते, यदा तु श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गादघोषो जायते।"

३. "स्पृष्टादीनाम् आभ्यन्तरत्वं वर्णोत्पत्ति प्राग्भावित्वात्। तथा हि नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुः प्राणो नाम ऊर्ध्वमाक्रामन्नुरः प्रभृतीनि स्थानान्याहन्ति ततो वर्णस्य तदभिव्यञ्जक ध्वनेर्वा उत्पत्तिः। तत्रोत्पत्तेः प्राग्यदा जिह्वाग्रोपाग्रमध्य मूलानि तत्तद्वर्णोत्पत्तिस्थानं तात्वादि सम्यक् स्पृशन्ति तदा स्पृष्टता, ईषद् यदा स्पृशन्ति तदा ईषत्स्पृष्टता, समीपावस्थानमात्रे संवृतता, दूरत्वे विवृतता। विवारसंवारादयस्तु वर्णोत्पत्तेः पश्चात् मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्ते प्राणाख्ये वायावुत्पद्यन्ते इति बाह्या इत्युच्यन्ते, गलविलस्य संकोचात् संवारः तस्यैव विकासाद् विवारः। एतौ च संवृतविवृतरूपाभ्यामाभ्यन्तराभ्यां भिन्नावेव।"

संवार करती है। यह बाह्यत्व और पश्चात्त्व (पश्चिमता) दोनों स्थानकृत ही हैं, कालकृत नहीं। ध्वनि की उत्पत्ति में पहली प्रक्रिया स्वरयन्त्रमुख का संवार-विवार ही है। जोन्स[1] ने भी विपरीत क्रम से ही ध्वनियन्त्रों का विवरण दिया है, पहले मुखविवर की छत का, फिर जिह्वा की स्थिति तथा चेष्टा का और अन्त में स्वरयन्त्रमुख का वर्णन है।

मानव के ध्वनियन्त्र का वर्णन करते हुए बर्नार्ड ब्लोख ने अपनी पुस्तक 'ऐन आउटलाइन ऑव लिंग्युइस्टिक अनालिसिस' के दूसरे अध्याय के चौथे अनुच्छेद में ठीक ही लिखा है (The formation of speech sounds) : "In its simplest terms the human speech mechanism may be compared to a wind instrument such as a clarinet or a flute. In both, sounds are produced by stopping, obstructing or otherwise interfering with the free flow of a column of air through an enclosed passage. In the human mechanism, the column of air is furnished by the lungs from which it is expelled by controlled action of the diaphragm. As this air passes upward through the larynx and the pharynx, and then forward and out through the mouth or the nose or through both its flow may be stopped or impeded at various points along the way and the shape of the chambers through which it passes may be variously modified. It is by this kind of playing on the column of air as it flows from the lungs to the nostrils or the lips (sometimes also as it is drawn back into the lungs) that we produce all the sounds of human speech."

काकल का वर्णन करते हुए Bloch ने बताया है (2. 5. 5.) : "All air expelled from the lungs or drawn into them must pass through the larynx, a complex structure of cartilage, muscles and membranes at the top of the trachea or wind-pipe. The front edge of the larynx forms the Adams apple. For our purpose the most interesting parts of the larynx are two parallel transverse banks or bands of muscle extending from front to back the so called vocal cords. (The name is a poor one, since there is nothing cord-likeabout these muscles; vocal lips has been suggested as a better name, but the other is established in usage.) The space between the vocal cords is called the glottis; for ordinary breathing, therefore, we say that the glottis is open."

१. अध्याय ३, अनु० ६६—७४।

इस प्रकार स्पष्ट ही ब्लोख भी नेगस की ही भाँति (पृ० ४६४) मानव-ध्वनि को तारवाद्य नहीं सुषिर वाद्य ही मानते हैं।

अलिजिह्वा से द्वार पाकर जब प्रश्वास मुख-विवर में आता है तब वहाँ इतनी बातों का विचार किया जाता है :—

१. जीभ उस वर्ण के उच्चारण के लिए कितनी दूर ऊपर उठती है, उसके ऊपर उठने से मुखविवर सँकरा हो जाता है या नहीं ? इस विचार को ही आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। इसके ४ रूप हैं—संवृत, अर्धसंवृत, अर्धविवृत तथा विवृत।

२. जीभ का कौन-सा भाग ऊपर उठता है ? जीभ को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जाता है : **पश्चिम भाग** (back), अग्रभाग (front) तथा अन्त्य भाग (flade), जिसमें नोंक (tip या point) भी गतार्थ हो जाता है। बल्कि पश्चिम भाग तथा अग्रभाग के सन्धिस्थल को मध्य भाग भी कहते हैं, जैसे अन्त्यभाग के अगले हिस्से को नोंक कहते हैं, वैसे ही जिह्वा के पश्चिम भाग के पिछले हिस्से को जिह्वामूल। किसी वर्ण के उच्चारण में जिह्वा के पूर्व भाग का पार्श्विक संकोचन या प्रसारण भी होता है; किसी में जिह्वा तनती है, किसी में शिथिल रहती है। इस प्रकार के विचारों को ही करण कहा गया है।

३. जिह्वा का कोई भी भाग मुखविवर की छत के किस भाग को छूता है या उसके पास जाता है ? मुखविवर की छत को मुख्यतः तीन भागों में बाँटते हैं—वर्त्स्व, कठोर तालु (मूर्धा) तथा कोमल तालु। वर्त्स्व जिह्वा के सामने उन्नतोदर (Convex) रूप में रहता है, तथा शेष भाग अर्थात् पूरा तालु अवनतोदर (Concave) रूप में। कठोर तालु के ही पिछले भाग को मूर्धा कहते हैं तथा कोमल तालु के पिछले भाग को कण्ठ। वर्त्स्व के आगे भी दो स्थान हैं, जहाँ से वर्णों का उच्चारण होता है—दाँत तथा ओठ। दाँत के भी दो भाग किये जाते हैं—अग्र और मूल। ओठ भी उच्चारण में कई प्रकार से काम करते हैं। किसी में एक ही ओठ दाँत से मिलकर उच्चारण करता है। कभी दोनों ओठ सट जाते हैं। जब दोनों ओठ सटते नहीं, तब उनकी तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं (स्वरों के उच्चारण में)—दोनों फैले रह सकते हैं, या गोलाकार हो सकते हैं या तटस्थ स्वाभाविक रूप में रह सकते हैं। गोलाकार भी दो प्रकार से हो सकते हैं—विवृत होकर या संवृत रहकर। इसे ही स्थान-विचार कहते हैं।

अँगरेजी ध्वनियाँ :

जोन्स के अनुसार अँगरेजी ध्वनियों की तालिका तथा वर्गीकरण

[List of English Speech sounds with key-words (P. xvi)]

मूल स्वर	—	—	—
१. I: (ई)	See	SI:	सी
२. i (इ)	it	it	इट्
३. e (ए)	get	get	गेट
४. ae (ऐ)	Hat	Hat	हैट्

मूल स्वर :

५. a: (आ)	father	fa:əə	फ़ाद्
६. ɔ (ऑ)	Hot	hɔt	हॉट
७. ɔ: (औ)	Saw	Sɔ:	सौ
८. u (उ)	good	gud	गुड
९. u (ऊ)	food	fu:d	फ़ूड
१०. o' (ओ)	November	No'vembe	नोवेम्ब
११. ə (अʃ)	Bird	Bə:d	बऽड
१२. ʌ (अ)	Cup	C ʌ p	कप
१३. ə (अँ)	Above	əbav	अँबव्

सन्धि-स्वर :

१. ɛ (एअ)	fair	ɛə	फ़ेअ
२. ou (ओउ)	go	gou	गोउ
३. ei (एइ)	day	dei	डेइ
४. a (आइ)	fly	flai	फ्लाइ

व्यंजन :

१. P (प)	Pay	Pai	पेइ
२. B (ब)	Boat	Bout	बोउट
३. T (ट)	Tea	Ti:	टी
४. d (ड)	day	dei	डेइ
५. K (क)	cold	could	कोउल्ड
६. g (ग)	good	gud	गुड
७. M (म)	Make	Meik	मेइक
८. n (न)	No	Nou	नोउ
९. ʒ (ङ)	long	loʒ	लौङ
१०. f (फ़)	food	fud	फ़ूड
११. v (व्)	vain	vein	वेइन
१२. θ (थ्)	Thin	θin	थिन
१३. ə (द्)	Then	əen	द् न
१४. S (स)	Sun	Sn	सन्
१५. Z (ज़्)	zeal	zil	ज़ील
१६. r (र)	red	red	रेड
१७. ʃ (श)	Show	ʃou	शोउ
१८. Z (झ़)	Measure	MeZd	मेझ़
१९. L (ल)	Leaf	li:f	लीफ़्

२०. h	(ह)	Hard	Ha:d	हाड
२१. w	(व)	wine	wain	वाइन
२२. j	(य)	Yes	Jes	येस

यहाँ मूल स्वर १३, सन्धि स्वर ४ तथा व्यंजन २२, कुल ३६ वर्ण गिनाये गये हैं (ध्वनियाँ)।

Letters		Labial Bi-labial	Labio-dental	Dental	Alveol.	Post-Alv.	Palato-alv	Palatal.	Velar.	Glottal.
CONSONANTS	Plosive	P, B	×	×	t,d	×	×	×	k,g	×
	Affricate	×	×	×	×	tr, dr,	tʃ dʒ,	×	×	×
	Nasal	m	×	×	n	×	×	×		×
	Lateral	×	×	×	L	×	×	×	(l)	×
	Fricative	×	f,v	θə	S,Z	r	ʃʒ	×	×	h
	Semi-vowel	w	×	×	×	×	×	j	(w)	×

			Front	Central	Back.
VOWELS	Close	(u:) (u)	I: I		u: u
	Half close (o)		e	ə:.	o
	Half open (ɔ:)		ɛ	ə	ɔ:
	o open (ɔ)		ae a	ʌ	ɔ a

यहाँ १३ मूल स्वर हैं, तथा २ ही सन्धि स्वर गिनाये गये हैं ɛ और a। २ छोड़ दिये गये हैं ei तथा ou। इस प्रकार कुल स्वर १५ ही हैं, १७ नहीं। व्यंजन यहाँ २६ गिनाये गये हैं। पूर्वोक्त २२ के अतिरिक्त ४ स्पर्शसंघर्षी, जिन्हें पूर्वकथित वर्णमाला में छोड़ दिया गया है :—

f∫ (च), dʒ, (ज), tr तथा dr । इनका विस्तार से वर्णन किया जा चुका है।

ब्लौख ने केवल अँगरेजी ध्वनियों का वर्णन नहीं किया है, सभी सम्भव स्वरों, अर्धस्वरों तथा व्यंजनों का वर्णन करते हुए पहले ३६ स्वर बताये हैं, फिर उनमें भी नासिक्यता (nasalization), उत्क्षिप्तता या मूर्धन्यता (retroflection), आयाम (tension) तथा घोष (voice) से और भी प्रभेद माने हैं। फिर अर्धस्वरों के कई भेद गिनाकर व्यंजनों के ३६ भेद गिनाये हैं। किन्तु अन्त में यह भी स्वीकार किया है कि इनके सारे भेद गिनाना कठिन है, कुछ ध्वनितत्त्व मानकर सब शाखा-ध्वनियों को उनमें गतार्थ करना ही होगा—"It must be understood that the categories we set up will always include an indefinite number of distinct varieties and that no matter how far we divide and subdivide each category, the smallest one we arrive at will still be susceptible for further division. No phonetic alphabet can be devised with a separate symbol for every separate sound." (2. 11)

इसीलिए पाणिनि ने भी अपने प्रत्याहार-सूत्रों में कम-से-कम ध्वनितत्त्वों को स्थान दिया।

रूसी ध्वनियाँ :

रूसी भाषा में निम्नलिखित ध्वनियाँ तथा वर्ण (लिपि) हैं :—

मूल व्यंजन—क ख़ ग। च ज़ झ़। त द न। प फ़ ब म। य र ल व। श स।—१९

मूल स्वर—आ इ ई उ। ए ओ।—६

सन्धि व्यंजन—त्स श्च,—२

सन्धि-स्वर—इआ, इउ, इए, इओ—४

कुल—३१।

इनके अतिरिक्त उर्दू के ज़ेर, ज़बर, पेश की तरह दो अयोगवाह चिह्न हैं :—कठोर चिह्न (त्व्योर्दी ज़्नाक) और कोमल चिह्न (म्याग्कीज़्नाक), जिनकी सहायता से कई शाखा-ध्वनियाँ बनाई जाती हैं। इस प्रकार रूसी वर्णमाला में ३३ वर्ण हैं। अँगरेजी में दन्त्य स्पर्श नहीं हैं, रूसी में मूर्धन्य स्पर्श। महाप्राण स्पर्श किसी में पृथक् नहीं गिने जाते; क्योंकि वहाँ अल्पप्राण वर्ण कम ही हैं।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का विश्लेषण :

धीरेन्द्र वर्मा जी ने अपने 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' के प्रथम अध्याय में ही हिन्दी-ध्वनि-समूह का तुलनात्मक[1] अध्ययन किया है। उन्होंने मैकडॉनल के 'वैदिक ग्रामर' के आधार पर निम्नलिखित १३ स्वर तथा ३९ व्यंजन वैदिक भाषा में माने हैं :—

१. नौ मूल स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ—९

२. चार संयुक्त स्वर— ए (अ इ), ओ (अ उ), ऐ (आइ), औ (आउ)—४

३. सत्ताईस स्पर्श व्यंजन :—

---

१. पृ० ९१—१२७।

(क) कण्ठ्य—क् ख् ग् घ् ङ् ।
(ख) तालव्य—च् छ् ज् झ् ञ् ।
(ग) मूर्धन्य—ट् ठ् ड् ढ् ण् ।
(घ) दन्त्य—त् थ् द् ध् न् ।
(ङ) ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ् म् ।

४. अन्तस्थ—इँ (य्), र, ल्, ळ्, ळ्ह, उँ (व्) ।

५. अघोष ऊष्म—श्, ष्, स् विसर्जनीय :, जिह्वामूलीय≍, उपध्मानीय≍ ।

६. एक सघोष ऊष्म ह् ।

७. एक शुद्ध अनुस्वार ∸ । =५२ ध्वनियाँ ।

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने २७ स्पर्श लिखे हैं, पर २५ ही गिनाये हैं । वस्तुत: ळ् और ळ्ह को स्पर्श माना जा सकता था; क्योंकि इन्हीं दोनों के वर्त्तमान विकसित रूप हैं ड़ तथा ढ़ । परन्तु वर्माजी ने तो ६ अन्तस्थ कहकर इन्हें अन्तस्थों में गिनाया है । फिर २ स्पर्श और कौन हैं ?

२. इसकी पादटिप्पणी में कहा है कि "स्पर्श ध्वनियों को स्फोटक भी कहते हैं ।" यह उक्ति ठीक नहीं है । जोन्स ने पंचम वर्णों को स्फोटक नहीं माना है, उनकी गणना स्फोटक (plosive) से भिन्न श्रेणी में है । वस्तुत: स्फोटक (plosive) तथा स्पर्श (stop) दोनों दो प्रक्रियाओं की ओर संकेत करते हैं । ङ ञ ण न म के उच्चारण में करण से स्थान का स्पर्श तो होता है, पर चूँकि अधिकांश हवा नासिका-मार्ग से निकल जाती है, इसलिए इनमें मौखिक स्फोट उस प्रकार नहीं हो पाता, जिस प्रकार प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्णों के उच्चारण में होता है । अत: स्पर्श में २५ वर्ण होंगे, पर स्फोटक में २० ही (ळ ळ्ह को मिलाकर २२) ।

३. वर्माजी ख छ[1] ठ थ फ—इन अघोष ध्वनियों में अघोष ह् की ध्वनि का मिश्रण, तथा घ झ ढ ध भ—इन घोषवान् ध्वनियों में घोषवान् ह् ध्वनि का मिश्रण मानते हैं । इसका खण्डन किया जा चुका है ।

४. अन्तस्थ में वे केवल य् व् को[2] ही अर्धस्वर कहते हैं, र् को केवल लुण्ठित, तथा ल्, ळ् और ळ्ह को पार्श्विक कहते हैं, अर्थात् र् ल् को अर्धस्वर नहीं मानते । यह पाश्चात्त्य भाषाविद् जोन्स आदि की रीति है । संस्कृत भाषाविदों ने ल् को र् य् व् की भाँति ही अर्धस्वर समझा है । बल्कि ळ् और ळ्ह क्रमश: ड् और ढ् के ही रूपान्तर हैं, यह प्रातिशाख्य-प्रकरण में कह आये हैं । अत: इन्हें अन्तस्थ नहीं, स्पर्श कहना चाहिए था । अन्तस्थों में कहीं इनकी गणना नहीं की गई है । हाँ, ऋक्प्रातिशाख्य ने य् र् ल् व् को ईषत्स्पृष्ट के बदले दुःस्पृष्ट कहा है, और पाणिनि-शिक्षा ने ळ् को दुःस्पृष्ट कहा है । अत: इनकी संगति से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि ये भी अन्तस्थवत् माने जाते थे, पर

१. पृ० ६२ की पादटिप्पणी ।
२. वहीं, तथा पृ० ६४ पर ।

कहीं इनसे स्वर का काम नहीं लिया गया है, जबकि इ उ ऋ ऌ को य् व् र् ल् का सम्प्रसारण माना गया।

५. "चैटर्जी के मतानुसार ऌ का उच्चारण अँगरेजी के 'लिट्ल' (little) शब्द के दूसरे ल से मिलता-जुलता रहा होगा[1]", शायद इसलिए कि यह ल यहाँ अक्षर (syllable) का निर्माण कर रहा है, इस तर्क से ऋ का उच्चारण अँगरेजी के एक्र् (acre) के र के अनुसार होना चाहिए। इस प्रकार अक्षर-निर्माण-योग्यता से ऋ ऌ को स्वर तथा र् ल् को अर्धस्वर होना चाहिए।

६. वर्माजी कहते हैं : "वैदिक[2] काल में आते-आते ही 'आइ', 'आउ' का पूर्वस्वर ह्रस्व हो गया था। इन संयुक्त स्वरों का यह रूप 'अइ', 'अउ' संस्कृत में अबतक मौजूद है।" यह कथन संगत नहीं। पतंजलि की उक्ति से यह स्पष्ट है कि ऐ औ में अवर्ण की मात्रा अल्पतर थी, इवर्ण उवर्ण की ही अधिकतर थी, इसीलिए इनका ह्रस्व इ उ ही होता है, अ कदापि नहीं। हाँ, ऐ औ का खण्डभूत अ सामान्य अ से अधिक विवृत था, इसी से किसीने इसे भ्रम से आइ, आउ समझ लिया। आज भी संस्कृत में अइ अउ ही ऐ औ का उच्चारण है, यह कथन चिन्तनीय है, कोई भी कैलाश, गौरी को क्रमशः कइलाश, गउरी आदि नहीं कहता। तितउ को तितौ नहीं बोलता। आधुनिक विश्लेषण-पद्धति के अनुसार वर्माजी ने चैटर्जी की सम्मति से वैदिक स्वरों को इस प्रकार विभाजित किया है :—

	अग्र	पश्च
संवृत	इ ई	उ ऊ
अर्धसंवृत	ए	ओ
विवृत	—	अ आ
संयुक्त स्वर	— अ इ (ऐ ?),	अ उ (औ ?)—
विशेष स्वर	— ऋ ॠ ऌ	—
शुद्ध अनुस्वार	— ं	—

और व्यंजनों का विभाजन इस भाँति है :—

व्यंजन	द्व्योष्ठ्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	कण्ठ्य	स्वरयन्त्रमुखी
स्पर्श अल्पप्राण	प् ब्	त् द्	ट् ड्	च् ज्	क् ग्	
स्पर्श महाप्राण	फ् भ्	थ् ध्	ठ् ढ्	छ् झ्	ख् घ्	
अनुनासिक		न्	ण्	ञ्	ङ्	

१. पृ० ६३।
२. पृ० ६४

व्यंजन	द्व्योष्ठ्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	कण्ठ्य	स्वरयन्त्रमुखी
पार्श्विक अल्पप्राण		ल्	ळ्			
पार्श्विक महाप्राण			ळ्ह्			
उत्क्षिप्त		र्				ह्
संघर्षी	⌣उपध्मानीय	स्	ष्	श्	⌣ जिह्वामूलीय	: विसर्जनीय
अर्धस्वर	उँ (व्)			इँ (य्)		

इस तालिका में निम्नलिखित बातें विवेचनीय हैं :—

१. स्वरतालिका में अ को अग्र और पश्च श्रेणियों के केन्द्र में रखना चाहिए था, अँगरेजी के तीनों केन्द्रीय स्वर ह्रस्वतर अ (ə), ह्रस्व अ (ʌ) तथा ईषद्दीर्घ अ (əː) प्रायः इसी श्रेणी के हैं।

२. ऐ को अग्रस्वर में तथा औ को पश्च स्वर में रखना चाहिए था, यह ऐ सन्ध्यक्षर (diphthong) का तथा औ संध्यक्षर əː का ही संस्कृत-रूप है, यह निरन्तरागत अइ, अउ नहीं।

३. अनुनासिकों में म् की गिनती छूट गई, शायद मुद्रणाशुद्धि है। ऊपर जैसे स्पर्श अल्पप्राण, स्पर्श महाप्राण लिखा, वैसे इन्हें स्पर्श अनुनासिक लिखना चाहिए था। पहले तो सत्ताईस स्पर्श व्यंजनों को स्फोटक भी कह दिया, और यहाँ इन्हें स्पर्श भी नहीं माना।

४. य् व् इन दो ही को अर्धस्वर माना, र् ल् को नहीं। इँ उँ ने बाद को म् तथा व् का रूप धारण कर लिया था, यह कहना ठीक नहीं। इँ तथा उँ रूप कब थे, इसमें कोई प्रमाण नहीं।

५. अनुनासिक पंचम वर्णों, अर्धस्वर य् व् तथा उत्क्षिप्त र् को अल्पप्राण तथा सभी संघर्षियों को महाप्राण बताना चाहिए था, यही सभी संस्कृत-भाषाविदों की सम्मति है।

पालि तथा प्राकृत ध्वनि-समूह

पालि में दस स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ (ह्रस्व एकमात्रिक), एँ, ए, ओँ (एकमात्रिक), ओ पाए जाते हैं; ऋ ॠ ऌ ऐ तथा औ का प्रयोग पालि में नहीं होता। ऋ ध्वनि अ, इ या उ में परिवर्तित हो जाती है। ॠ तथा ऌ का प्रयोग तो संस्कृत में भी कम ही है। ऐ औ के स्थान में क्रम से ए ओ हो जाते हैं। पालि में दो स्वर नये मिले हैं—ह्रस्व एँ तथा ओँ। पतंजलि के समय से ही ये प्रयोग में आते थे, पर परिनिष्ठित संस्कृत में इन्हें मान्यता नहीं मिली थी, ये दोनों बोलियों की ध्वनियाँ मानी जाती थीं। पालि ने इन्हें मान्यता दे दी।

व्यंजनों में श तथा ष का प्रयोग पालि में नहीं मिलता। दोनों का स हो जाता है। विसर्ग का भी प्रयोग नहीं होता। यदि पहले ह्रस्व अ है तो दोनों मिलकर ओ हो जाते हैं, अन्यथा विसर्ग का लोप हो जाता है।

प्राकृत और पालि के ध्वनि-समूह में विशेष अन्तर नहीं है। मागधी में ज का भी य तथा स का भी श हो जाता है। ष् का मागधी में प्रयोग कभी मिल जाता है; जैसे चिष्ठदि (तिष्ठति)। न का प्रायः हर जगह ण ही हो जाता है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी में ये ध्वनियाँ मानी हैं—(१) मूल स्वर—अ, आ, ऑ, ओँ), (औँ), (ओ), ओ, उ, (उ॰), ऊ, ई, इ, (इ॰), ए, (एँ), (ए), (एँ), (एँ), (अ) = १९। कोष्ठक में दी गई ध्वनियाँ केवल बोलियों में प्रयुक्त होती हैं। (२) स्पर्श—क़, क् ख् ग् घ्। ट ठ ड ढ। त थ द ध। प़ प फ ब भ = १८। (३) स्पर्श संघर्षी—च छ ज झ = ४। (४) अनुनासिक—ङ, (ञा), ण्, न्, न्ह्, म्, म्ह् = ७। (५) पार्श्विक—ल्, (ल्ह्) = २। (६) लुण्ठित—र्, (र्ह्) = २। (७) उत्क्षिप्त—ड़् ढ़् = २। (८) संघर्षी—ह्, ख़्, ग़्, श्, स्, ज़्, फ़्, व़् = ८। (९) अर्धस्वर—य्, व् = २। कुल ४५। स्वर तथा व्यंजन का योग—१९ + ४५ = ६४।

नरवणे का विश्लेषण :

संस्कृत-ध्वनियों की अँगरेजी ध्वनियों से तुलना के बाद उर्दू-ध्वनियों का एक संक्षिप्त परिचय देकर भारत की वर्त्तमान मुख्य भाषाओं तथा उन सबसे समृद्ध राष्ट्रभाषा हिन्दी की ध्वनियों का परिचय देना लाभप्रद होगा। इस दृष्टि से विश्वनाथ दिनकर नरवणे द्वारा सम्पादित 'भारतीय व्यवहार-कोश' से विभिन्न भाषाओं की सर्वमान्य ध्वनियाँ तथा लिपियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं (पृष्ठ २६७—७०) :

(१) हिन्दी, मराठी तथा संस्कृत की लिपि एक ही है, कहीं-कहीं नाममात्र का अन्तर है, जैसे झ-झ, अ-**अ**, ण-ण आदि। ध्वनियों में भी थोड़ा ही हेरफेर है।

(२) **उर्दू की ध्वनियाँ**—अ (अलिफ़), ब (बे), प (पे), त (ते), ट (टे), स (से), ज (जीम्), च (चे), ह (हे), ख़ (खे), द (दाल्), ड (डाल्), ज़ (ज़ाल), र (रे), ड़ (ड़े), ज़ (ज़े), झ़ (झ़े), स (सीन्), श (शीन्), स (स्वाद्), ज़ (ज़्वाद्), त (तोय्), ज़ (ज़ोय्), अ (ऐन्), ग़ (ग़ैन्), फ़ (फ़े), क़ (क़ाफ़्), ग (गाफ़्), ल (लाम्), म (मीम्), न (नून), व (वाओ), ह (हे), ह (दो चश्मी छोटी हे), ए या य (छोटी ये या ए), ए या य (बड़ी ये या ए), हमज़ा, मद्दा, लाम अलिफ = ४०। इस प्रकार उर्दू में कुल ४० वर्ण माने गये हैं। यदि हम इन्हें भारतीय क्रम से सजायें तो इनका यह रूप होगा—अ, अ, ए। क क़ ख़ ग ग़। च ज ज़ ज़ ज़ झ़ (ज्ह़)। ट ड ड़। त त द न। प फ़ ब म। य र ल व। श, स, स, ह, ह, ह।

(३) उर्दू पर आधारित सिन्धी-ध्वनियाँ (लिपि भी उर्दू पर आधारित) :

(क) अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ = १०। (ख) कवर्ग—क ख ख़ ग ग॒ ग़ घ ङ। (ग) चवर्ग—च छ ज ज॒ ज़ झ ञ। (घ) ट ठ ड ड़ ढ ढ़ ण। (ङ) त थ द॒ (ड॒) ध न। (च) प फ फ़ ब ब॒ भ म। (छ) अन्तस्थ—य र ल व। (ज) ऊष्म—श स ह। = ५३।

(४) **पंजाबी**—गुरुमुखी : अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अनुस्वार अनुनासिक विसर्ग। क ख ख़ ग ग़ घ ङ। च छ ज ज़ झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ फ़ ब भ म। य र ल ळ व। श स ह। = ५० (लिपि नागरी से कुछ मिलती)

(५) कश्मीरी—४३ वर्ण, उर्दू वर्णमाला पर आधारित हैं। नरवणे ने यहाँ लिपि उद्धृत की है, पर समानान्तर हिन्दी-ध्वनियाँ नहीं दी हैं। पता नहीं, सब भाषाओं की ध्वनियाँ देकर भी उन्होंने कश्मीरी की ध्वनियाँ क्यों नहीं दी हैं।

(६) गुजराती—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ अनुस्वार, विसर्ग। क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म। य र ल व। श ष स ह। ळ क्ष ज्ञ। =५१ (नागरी से मिलती, ब्राह्मी पर)

(७) बाङ्ला (ब्राह्मी-नागरी पर)—अ (ऑ) आ इ ई उ ऊ ऋ ऌ ए ऐ (ओइ) ओ औ अनुस्वार, विसर्ग, चन्द्रविन्दु। क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म। ज य र ल व। श ष स ह। क्ष। =५०।

(८) असमिया में यही लिपि तथा ध्वनि-समूह है, केवल ऌ नहीं है=४९।

(९) ओड़िया में भी ऌ नहीं है, शेष वे ही ध्वनियाँ हैं; हाँ, लिपि दूसरी है दाक्षिणात्य-प्रभावित=४९।

इन तीनों में अ को ऑं, तथा कॉ खॉ गॉ घॉ ऐसे बोलते हैं।

(१०) तेलुगु—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ए ऐ ओ ओ औ अनुस्वार विसर्ग। क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म। य र ल व। श ष स ह। ळ क्ष। =५३।

(११) कन्नड में लिपि तेलुगु से ही मिलती-जुलती। व्यंजन वे ही हैं, स्वरों में ऌ ॡ नहीं हैं, व्यंजनों में एक ज्ञ भी जोड़ा गया है=५२।

(१२) मलयालम में लिपि स्वतन्त्र है। स्वरों में ऌ ॡ के साथ ॠ भी नहीं है, व्यंजनों के एक ऱ तथा एक दन्तमूलीय ट और एक ऴ भी जोड़ा गया है, क्ष और ज्ञ नहीं हैं=५२।

(१३) तमिल : स्वतन्त्र लिपि—अ आ इ ई उ ऊ ए ए ऐ ओ ओ औ=१२

क ङ। च। ट ण। त न ऩ। प म। य र ऱ ल व। ळ ऴ। ज। ष स ह।
ग ज ड द ब
क्ष। ज्ञ। =४१।

इसकी वर्णमाला में महाप्राण स्पर्श वर्ण, अनुस्वार, चन्द्रविन्दु तथा विसर्ग नहीं हैं।

इस लिपि में सबसे विशेषता और विचित्रता यह है कि अघोष और घोषवान् स्पर्शों के लिए अलग-अलग संकेत नहीं हैं अर्थात् क और ग, च और ज, त और द, ट और ड तथा प और ब के लिए एक ही संकेत है। अँगरेजी में जैसे अल्पप्राण तथा महाप्राण के लिए लिपि अलग नहीं है, एक ही लिपि से दोनों ध्वनियों का बोध कराया जाता है, वैसे ही तमिल में एक ही लिपि से सघोष तथा अघोष दोनों स्पर्श ध्वनियों का बोधन होता है। रूसी ध्वनियों में सघोष तथा अघोष स्पर्शों के लिए पृथक् लिपियाँ हैं, परन्तु अन्त में सघोष ध्वनिवाले वर्ण के लिखने पर भी उसका उच्चारण अघोष का ही करते हैं, जैसे लिखेंगे ज़ू ब् (3γ6), पर पढ़ेंगे ज़ू प् (दाँत)। किन्तु तमिल में तो दोनों ध्वनियों के लिए स्थायी रूप से एक ही लिपि रख ली गई, अर्थात् दोनों ध्वनियों में कम ही अन्तर माना गया।

अँगरेजी ने क ख को एक ही ध्वनितत्त्व समझा, तमिल ने क ग को। इसलिए तमिल में ध्वनियाँ ४१ हैं, किन्तु लिपियाँ ३६ ही।

भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त समस्त प्रामाणिक ध्वनियों का विश्लेषण

व्यंजन—

(१) क	अघोष,	अल्पप्राण,	स्पर्श	(स्फोटक),	कोमल तालव्य (Velar)
(२) ख	,,	महाप्राण	,,	,,	,,
(३) ग	घोष	अल्पप्राण	,,	,,	,,
(४) घ	,,	महाप्राण	,,	,,	,,
(५) ङ	,,	अल्पप्राण	,,	,,	,,

पूरे कवर्ग को नरवणे ने कोमल तालव्य कहा है। डॉ० वर्मा ने लिखा है: "कवर्ग का स्थान कण्ठ माना जाता था, आजकल का स्थान कुछ आगे हट आया है।"

(६) वर्माजी तथा नरवणे दोनों ने क़ इस उर्दू-ध्वनि को भी मान्यता दी है। यह क का ही एक विशिष्ट रूप है। वर्माजी कहते हैं: "क़ का उच्चारण जिह्वामूल को कौवे के निकट कोमल तालु के पिछले भाग से छुलाकर किया जाता है", यह अल्पप्राण, अघोष, जिह्वामूलीय, स्पर्श व्यंजन है और इसका स्थान जीभ तथा तालु दोनों की दृष्टि से सबसे पीछे है। नरवणे इसे अघोष अल्पप्राण पश्चात् कोमल तालव्य स्फोटक स्पर्श कहते हैं। अर्थात् दोनों क और क़ में केवल इतना ही अन्तर बताते हैं कि क़ का स्थान क से पीछे पड़ता है। वस्तुतः क को पहले भी कई आचार्यों ने मतभेद से कण्ठ्य या जिह्वामूलीय बताया है। क से क़ का भेद केवल स्थानकृत नहीं, संघर्षकृत है। क में जिह्वा का तालु से संघर्ष नहीं होता, क़ में होता है। इसकी चर्चा किसी ने नहीं की। (७) ख़ तथा (८) ग़ की चर्चा वर्माजी ने पृ० ९८ में की है, पर पृ० ९९ में हिन्दी-ध्वनियों में इन्हें मान्यता नहीं दी है। जब पृ० ९९ में हिन्दी-ध्वनियों में उर्दू-ध्वनि क़ तथा अँगरेजी ध्वनि ऑ को स्थान दिया गया है तब तुल्यन्याय से ख़ और ग़ को भी स्थान प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा अर्धजरतीय न्याय हो जायगा। नरवणे ने ख़ और ग़ दोनों को स्फोटक स्पर्श नहीं, केवल संघर्षी लिखा है। यह भी जोन्स का अनुकरण है। वस्तुतः इन्हें स्पर्शसंघर्षी लिखना चाहिए था। संघर्ष होने से इनकी स्पर्शता कैसे मिटेगी?

(९) ग॒—नरवणे ने ग जातीय एक और ध्वनि को मान्यता दी है ग॒। सामान्य ग से इसमें इतना ही अन्तर है कि यह अन्तःस्फुटित (Implosive)[१] है। यह ध्वनि केवल सिन्धी भाषा में है।

ऊपर के सभी वर्ण कवर्ग हैं।

(१०) च—वर्माजी के अनुसार इसका उच्चारण जीभ के अगले हिस्से को ऊपरी मसूड़ों के निकट कठोर तालु से कुछ रगड़ के साथ छूकर किया जाता है। अतः यह

१. पृ० ११८।

स्पर्शसंघर्षी ध्वनि मानी जाती है। तालु के स्थान की दृष्टि से चवर्गीय व्यंजनों का स्थान टवर्गीय व्यंजनों की अपेक्षा आगे की ओर होने लगा है। प्राचीन काल में संभवतः पीछे की ओर होता था। तभी तो चवर्ग को टवर्ग के पहले रखा जाता था। च् अल्पप्राण अघोष स्पर्शसंघर्षी व्यंजन है। नरवणे ने इसे कठिनतालव्य (कठोरतालव्य) कहा है।

(११) छ्— अघोष	महाप्राण	स्पर्शसंघर्षी	कठोरतालव्य
(१२) ज—सघोष	अल्पप्राण	,,	,,
(१३) झ— ,,	महाप्राण	,,	,,
(१४) ञ— ,,	अल्पप्राण	स्फोटकस्पर्श	,,

नरवणे ने च छ ज झ को तो स्पर्शसंघर्षी कहा है, पर ञ को शुद्ध स्फोटकस्पर्श माना है। ञ की ही भाँति पहले च छ ज झ भी शुद्ध स्फोटकस्पर्श[1] ही थे। इन्होंने कठोरतालव्य च, छ, ज, झ का एक-एक रूप दन्तमूलीय भी माना है :

(१५) च़—जैसे मराठी चोर।

(१६) छ़—जैसे कश्मीरी ळछ़ (धूल)।

(१७) ज़—जैसे उर्दू ज़माना।

(१८) झ़—जैसे मराठी झाड़ (पेड़)। ज का एक और रूप है।

(१९) ज—यह अन्तःस्फुटित है, जैसे सिन्धी अजु (आज)। यह केवल सिन्धी में है, और कठोरतालव्य चवर्गीय ज का ही अन्तःस्फुटित रूप है। दन्तमूलीय च़ छ़ ज़ झ़ भी तालव्य चवर्ग के ही रूपान्तर हैं, कवर्ग की तरह चवर्ग का भी स्थान आगे बढ़ा है। इस प्रकार चवर्ग में १० वर्ण हैं।

(२०) ट—"समस्त[2] टवर्गीय ध्वनियों का उच्चारण जीभ की नोक को उलटकर उसके निचले हिस्से से कठोरतालु के मध्यभाग के निकट छुआकर किया जाता है, प्राचीन परिभाषा के अनुसार ट् आदि मूर्धन्य व्यंजन कहलाते हैं। ट् अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यंजन है........"

मूर्धन्य व्यंजन ध्वनियाँ भारत-यूरोपीय काल की नहीं हैं, बल्कि आर्यों के भारत में आने पर अनार्यों के सम्पर्क से इनका व्यवहार प्रा० भा० आ० में होने लगा था। मूर्धन्य ध्वनिवाले शब्दों की संख्या वेदों में अपेक्षित रूप से कम अवश्य है। नरवणे ने ट् को मूर्धन्य स्फोटक स्पर्श लिखा है, अँगरेजी का टवर्ग वर्त्स्य माना गया है।

---

१. बेली ने पंजाबी च् ज् को स्पर्शसंघर्षी नहीं मानकर स्पर्श व्यंजन ही माना है (बेली पंजाबी फोनेटिक रीडर, पृ० ११)। अँगरेजी के प्रभाव से ही सम्भवतः हिन्दी चवर्ग भी स्पर्शसंघर्षी माना जा रहा है।

२. पृ० ११५।

(२१) ठ—महाप्राण	अघोष	मूर्धन्य	स्पर्श	(स्फोटक)
(२२) ड—अल्पप्राण	सघोष	,,	,,	,,
(२३) ड़— ,,	,,	,,	उत्क्षिप्त	,,
(२४) ढ—महाप्राण	,,	,,	स्पर्श	
(२५) ढ़— ,,	,,	,,	उत्क्षिप्त	
(२६) ण—अल्पप्राण	,,	,,	अनुनासिक	स्पर्श

पहले हम बता आये हैं कि टवर्ग-ध्वनियाँ आर्यभाषाओं में भी थीं, इसलिए ये ध्वनियाँ अँगरेजी में भी मिलती हैं। हाँ, इनका स्थान अवश्य बदल गया है। पर स्थान तो कवर्ग, चवर्ग का भी बदल गया है।

वर्माजी लिखते[1] हैं: "ड़ का उच्चारण जीभ की नोक को उलटकर नीचे के हिस्से को कठोर तालु को झटके के साथ कुछ दूर तक छूकर किया जाता है। ड़ न तो ड की तरह स्पर्श ध्वनि है, न र की तरह लुण्ठित। ड़ अल्पप्राण सघोष मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि है। हिन्दी में यह नवीन ध्वनियों में से एक है। ड़ शब्दों के मध्य या अन्त में प्रायः दो स्वरों के बीच में ही आता है........ड़ और ढ़ का उच्चारण-स्थान एक ही है, किन्तु ढ़ महाप्राण, सघोष, मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि है। ढ़ वास्तव में ड़ का रूपान्तर है, ढ का नहीं। यह ध्वनि भी हिन्दी में नवीन है और शब्दों के मध्य या अन्त में प्रायः दो स्वरों के बीच में पाई जाती है।" इस उक्ति में कई बातें असंगत लगती हैं। उत्क्षिप्तता के साथ स्पर्श का विरोध नहीं है। वर्माजी स्वयं कहते हैं—ड़ का उच्चारण कठोर तालु को....छूकर किया जाता है, और फिर कहते हैं—यह ड की तरह स्पर्श ध्वनि नहीं है? यह तो परस्पर विरुद्ध है। नरवणे ने भी ड ढ को स्पर्श माना है, पर ड़ ढ़ को स्पर्श नहीं, केवल उत्क्षिप्त लिखा है। अर्थात् वे भी यह समझते हैं कि उत्क्षिप्त वर्ण स्पर्श नहीं हो सकते। वस्तुतः ये दोनों वर्ण उत्क्षिप्त स्पर्श हैं। यह भी ठीक नहीं कि हिन्दी में ये नवीन ध्वनियाँ है। ये दोनों वैदिक ध्वनियाँ हैं, ऋक्प्रातिशाख्य में इनका वर्णन पीछे कर आये हैं। वैदिक ळ तथा ळ्ह के ही ये क्रमशः विकसित रूप हैं। ड़्, ढ़् के ही ळ्, ळ्ह होते थे और ड् ढ् के ही ड़्, ढ़् होते हैं। इसलिए यह कथन भी असंगत है कि ढ़ ढ का नहीं ड़ का रूपान्तर है। वास्तव में ढ के ही स्थान में क्रम से ळ्ह और ढ़ हुए हैं। ये सातो वर्ण टवर्ग हैं।

(२७) त—त का उच्चारण जीभ की नोक से दाँतों की ऊपरी की पंक्ति को छूकर किया जाता है। यह अल्पप्राण, अघोष, स्पर्श दन्त्य स्फोटक स्पर्श है।

(२८) थ—महाप्राण	अघोष	दन्त्य	स्फोटक	स्पर्श	
(२९) द—अल्पप्राण	सघोष	,,	,,	,,	
(३०) ध—महाप्राण	,,	,,	,,	,,	
(३१) न—अल्पप्राण	,,	,,	,,	,,	अनुनासिक

नरवणे ने द का भी एक अन्तःस्फुटित (Implosive) भेद माना है।

---

१. पृ० १२२।

(३२) द—जैसे डे़र (डेड़र)—मेढ़क। यह केवल सिन्धी में है। यहाँ अन्तःस्फुटित ड का भी उल्लेख है (३३)। अतः तवर्ग में ६ वर्ण तथा टवर्ग में ८ वर्ण मानने चाहिए।

(३३) प—प का उच्चारण दोनों ओठों को छुआकर होता है। ओष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में जीभ से सहायता बिलकुल नहीं ली जाती। प् अल्पप्राण, अघोष द्व्योष्ठ स्फोटक स्पर्श है।

(३४) फ—महाप्राण अघोष द्व्योष्ठ्य स्फोटक स्पर्श।

(३५) ब—अल्पप्राण सघोष द्व्योष्ठ्य स्फोटक स्पर्श
(३६) भ—महाप्राण ,, ,, ,,
(३७) म—अल्पप्राण ,, ,, ,, अनुनासिक।

(३८) फ़—इसे नरवणे ने अघोष दन्त्योष्ठ्य संघर्षी लिखा है। यह भी तुल्य न्याय से क़, ख़, ग़, ज़ की तरह केवल संघर्षी नहीं, बल्कि स्पर्शसंघर्षी ही है।

(३९) ब—ब का भी एक अन्तःस्फुटित (Implosive) रूप होता है, जिसका प्रयोग केवल सिन्धी में होता है, जैसे बचो (बच्चों)।

इस प्रकार पवर्ग में ७ वर्ण है।

वैदिक ध्वनियों में २५ ही स्पर्श वर्ण थे, पर उनके भेद-प्रभेद से अब उपर्युक्त ३९ रूप हो गये हैं। इनमें पंचम वर्णों के विश्लेषण में कुछ अन्तर दीखता है। जोन्स ने इन्हें स्पर्श से बाहर रखा है। वर्माजी ने इसी का अनुसरण किया है, परन्तु इन सबमें करण और स्थान के स्पर्श का भी स्पष्ट उल्लेख किया है; उदाहरणार्थ "ङ का उच्चारण जीभ के पिछले भाग को कोमल तालु से छुआकर होता है", "म का उच्चारण भी दोनों होठों को छुआकर होता है" आदि। अतः इन्हें केवल 'अनुनासिक' नहीं कहकर स्पर्श संघर्षी की भाँति स्पर्श 'अनुनासिक' कहना चाहिए था। इसके विपरीत नरवणे ने इन्हें स्पर्श ही नहीं, स्फोटक स्पर्श माना है। वस्तुतः पंचम वर्णों में अन्य वर्णों की अपेक्षा अत्यल्प स्फोट (Plosion) है। वर्माजी ने इन सबको सघोष अल्पप्राण लिखा है, पर नरवणे ने न जाने क्यों, किसी भी पंचम वर्ण को सघोष अल्पप्राण नहीं लिखा। केवल अनुनासिक कहकर संतोष कर लिया है। यह भ्रामक है। हिन्दी में वर्माजी को ङ ञ ण के प्रयोग अत्यल्प मिले हैं, पर नरवणे ने तीनों के उदाहरण दिये हैं :—ङ्—हिन्दी अङ् (अङ्ग), रङ् (रङ्ग); ञ—कश्मीरी ञञिमंडुर—मेढ़क, मलयालम ञान—में; ण—हिन्दी गुण, मराठी मण (मन), तमिल कण् (आँख) आदि। यह ठीक है कि 'ञ' 'यँ' से तथा 'ण' 'ड़ँ' से मिलता है, पर इससे क्या? वैसे तो न भी लँ से मिलता है। परन्तु हैं ये स्वतन्त्र पृथक् वर्ण। न को नरवणे ने दन्त्य, वर्माजी ने वर्त्स्य माना है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भी मतभेद से इसे दन्तमूलीय कहा है। वर्माजी ने न् का महाप्राण-रूप न्ह् तथा म् का महाप्राण-रूप म्ह् बताया है, इसके लिए उन्होंने कादरी के 'हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स'[१] को उद्धृत किया है। किन्तु हिन्दी में ये मूलध्वनि नहीं, संयुक्त व्यंजन माने जाते हैं। नरवणे ने इसीलिए इनका उल्लेख ही नहीं

१. कादरी का 'हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स', पृ० ८७—९४।

किया है। कादरी ने तो व का भी महाप्राण रूप व्ह माना है, पर उसे वर्माजी ने भी मान्यता नहीं दी है।

(४०) य—सघोष तालव्य (कठिनतालव्य) अर्धस्वर

(४१) व—सघोष अर्धस्वर। इसे नरवणे ने दन्त्योष्ठ्य लिखा है, वर्माजी ने इसके दो रूप और माने हैं—द्व्योष्ठ्य तथा कण्ठोष्ठ्य। व् कण्ठोष्ठ्य है।

(४२) ल्—ल् के उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के मसूड़ों को अच्छी तरह छूती है, किन्तु साथ ही जीभ के दाहिने-बाएँ जगह छूट जाती है, जिसके कारण हवा पार्श्वों से निकलती रहती है। ल् पार्श्विक अल्पप्राण, सघोष वर्त्स्य ध्वनि है।

(४३) र—वर्माजी ने लिखा है कि र् के उच्चारण में जीभ की नोक दो-तीन बार वर्त्स या ऊपर के मसूड़े को शीघ्रता से छूती है। र लुण्ठित अल्पप्राण वर्त्स्य सघोष ध्वनि है।

(४४) नरवणे ने र को लुण्ठित नहीं, उत्क्षिप्त ध्वनि माना है। साथ ही एक दूसरी र जातीय ध्वनि ऱ मानी है, जिसे लुण्ठित कहा है। यह केवल तमिल में मिलता है, जैसे—अऱै—कमरा। वास्तव में यह र् र् का संयोग है।

नरवणे ने य र ल व चारों को अन्तस्थ या अर्धस्वर माना है, किन्तु वर्माजी ने केवल य व को ही अर्धस्वर माना है, र् को अलग लुण्ठित (rolled) तथा ल को अलग पार्श्विक (lateral) घोषित किया है। यह जोन्स का अनुकरण है। य् के विश्लेषण के समय वर्माजी ने लिखा है : "य् का उच्चारण जीभ के अगले भाग को कठोर तालु की ओर ले जाकर किया जाता है, किन्तु जीभ न चवर्गीय ध्वनियों के समान तालु को अच्छी तरह छूती ही है और न इ आदि तालव्य स्वरों के समान दूर ही रहती है। अतः य् को अन्तस्थ या अर्धस्वर अर्थात् व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनि माना जाता है।" वस्तुतः व् भी इसी भाँति उकार तथा पवर्ग के बीच का, र ऋकार तथा टवर्ग के बीच का और ल ऌकार तथा तवर्ग के बीच का अन्तस्थ या अर्धस्वर ही है। वर्गीय वर्णों को जैसे स्पर्श कहकर उनका आभ्यन्तर प्रयत्न प्रकट किया गया था, वैसे ही इन्हें भी ईषत् स्पृष्ट कहना चाहिए। ईषत्त्व का अन्तर अवश्य बताया जा सकता है कि य् व् में पूरा स्पर्श होता ही नहीं, ल् में मध्य का स्पर्श होता है, किन्तु दोनों पार्श्व विवृत रहते हैं और र् के उच्चारण में जिह्वा वर्त्स का हलका-सा स्पर्श करती है। नरवणे ने र को तो अल्पप्राण लिखा है, पर य, ल, व में प्राणवत्ता का उल्लेख ही नहीं किया है। यह ठीक नहीं, चारों को अल्पप्राण बताना चाहिए। इसी भाँति य को अन्तस्थ लिखा है, र ल व को अन्तस्थ नहीं, केवल अर्धस्वर। वस्तुत. चारों ही अन्तस्थ हैं। वर्माजी ने य व को जोन्स की भाँति स्वरप्रवाह (glide) भी माना है और इसका उच्चारण ए अ, ओ अ की भाँति बताया है। यह ठीक नहीं लगता। इन दोनों को अल्पप्राण नहीं कहा, र ल को अल्पप्राण कहकर इनके महाप्राण भेद भी माने हैं—र्ह, ल्ह। यह कादरी की मान्यता है। नरवणे ने वर्णमाला में अनुनासिक तथा अन्तस्थ के महाप्राण रूप को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया है। र्ह. ल्ह वर्णद्वय सयोग-मात्र हैं, एक वर्ण नहीं।

(४५) श—अघोष, कठिनतालव्य, संघर्षी।
(४६) ष— ,, मूर्धन्य ,, ।

वर्माजी ने अब इसकी सत्ता समाप्त मानी है, पर नरवणे ने आज भी संस्कृत में इसका उच्चारण स्वीकार किया है। वर्माजी पोषक का उच्चारण अब पोशक मानते हैं, पर यह ठीक नहीं। दोनों में अन्तर है।

(४७) स—अघोष दन्तमूलीय संघर्षी।
(४८) ह—सघोष कण्ठ्य ,, ।

ये चारों प्राचीन ऊष्म ध्वनियाँ हैं। इन्हें ही आज संघर्षी कहते हैं। इन चारों को महाप्राण बताना चाहिए था, पर किसी ने यह नहीं लिखा। वर्माजी ने ह को कण्ठ्य नहीं, स्वरयन्त्रमुखी कहा है।

(४९) ळ—सघोष मूर्धन्य पार्श्विक, जैसे ओड़िया तथा मराठी डोळा—आँख, तमिल तथा मलयाळम्—मकळ—पुत्री।

(५०) ळ—सघोष मूर्धन्य संघर्षी—जैसे तमिळ या मलयालम पळम्-फल। यह ध्वनि केवल तमिळ और मलयालम में है। ये सम्भवतः वैदिक ळ ध्वनि के ही विकास हैं।

(५१) विसर्ग — अघोष कण्ठ्य संघर्षी। वर्माजी ने इसे कण्ठ्य नहीं, स्वरयन्त्रमुखी बताया है। इसे श ष स ह के बाद ही ऊष्मों में स्थान देना चाहिए था।

वर्माजी ने संघर्षी वर्णों में ह, विसर्जनीय, श तथा स के साथ ही ख़, ग़, ज़, फ़ तथा व् को भी गिना[१] है। जब वर्माजी ने क़ को स्पर्श माना है तो ग़ ज़ को क्यों नहीं माना, यह स्पष्ट नहीं है। साथ ही शब्द के मध्य में स्वरहीन व्यंजन के बाद आये व को वे द्व्योष्ठ्य या कण्ठोष्ठ्य अर्धस्वर[२] (अन्तस्थ) मानते हैं, जैसे क्वारा, स्वाद, स्वर आदि; और शब्द के आरम्भ में या स्वर के बाद आये व को दन्त्योष्ठ्य संघर्षी[३] (ऊष्म)। यह विचित्र प्रतीत होता है। जैसे वन, चावल, यादव आदि। नरवणे ने एक ही दन्त्योष्ठ्य अर्धस्वर व माना है। वस्तुतः व् अँगरेजी की ध्वनि है, जो v से व्यक्त होती है और इसका उच्चारण थोड़ा भ की तरह है। व़न, चावल आदि का व अन्तस्थ ही है, ऊष्म नहीं। अँगरेजी वर्णों की संगति से इसे वन (भन) बताना वैसा ही है जैसे फल को फ़ल कहना। किन्तु, नरवणे ने ख़ ग़ ज़ फ़ को ख ग ज फ का ही एक विकार मानकर जैसे मान्यता दी है, वैसे ही व़ को भी मान्यता देनी चाहिए थी।

(५२) अनुस्वार तथा (५३) अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु) ध्वनियों का नरवणे ने विश्लेषण नहीं किया, केवल इनकी लिपि ं तथा ँ दिखा दी है। किन्तु वर्माजी ने तो इनकी गिनती न प्राचीन ध्वनियों[४] में की है, न आधुनिक[५] ध्वनियों में।

---

१. पृष्ठ १२३—१२६।
२. पृष्ठ १२७।
३. पृ० १२६।
४. पृ० ६८।
५. पृ० ६६।

नरवणे ने लिपि की दृष्टि से (५४) क्ष, (५५) ज्ञ तथा (५६) -् यह हल् चिह्न भी वर्णमाला में गिना दिये हैं, किन्तु ये स्वतन्त्र ध्वनियाँ नहीं।

स्वर

(१) अ—प्रसारित ओष्ठ अर्धविवृत मध्य स्वर, जैसे अमर। वर्माजी ने इसके दो भेद माने हैं, शब्दांश के अन्त में आनेवाला अ कुछ दीर्घ और कुछ अधिक खुला तथा पीछे की ओर हटा होता है। इसी से यह अर्थतः आ गया कि आदि या मध्य में आनेवाला कुछ ह्रस्व, बन्द तथा आगे की ओर बढ़ा होता है। अमर में म का अ पहले प्रकार का तथा आदि का अ द्वितीय प्रकार का है। किन्तु दोनों का ध्वनि-तत्त्व वर्माजी ने एक ही माना है। अवधी, पंजाबी आदि में एक ह्रस्वार्ध रूप (neutral vowel) भी मिलता है, जिसे उदासीन स्वर कहते हैं। इसे वर्माजी एक पृथक् ध्वनि मानते हैं। वस्तुतः यह भी ह्रस्व अ का ही ह्रस्वतर रूप है।

नरवणे ने इस जाति के और दो भिन्न ध्वनि-तत्त्व माने हैं।

(२) अं—प्रसारित ओष्ठ पश्च अर्धविवृत, जैसे कश्मीरी अंथ्- हाथ। यह केवल कश्मीरी में प्राप्त है।

(३) अॅ—प्रसारित ओष्ठ अग्र अर्धविवृत, जैसे हिन्दी, पंजाबी, उर्दू—मॅहल—महल्, हिन्दी बॅल्—बैल, बँगला—अॅक्टा (एकटा)। यह स्वर केवल ध्वनि-लेखन में काम आता है।

वास्तव में ये दोनों भी प्रथम अ ध्वनितत्त्व के ही रूपान्तार हैं।

(४) आ—प्रसारित ओष्ठ, मध्य, विवृत, जैसे आवाज़। वर्माजी ने इसे पश्च स्वर माना है, और उदाहरण दिया है—आदमी, काला। यह दीर्घ है।

(५) आं—प्रसारित ओष्ठ, पश्च, संवृत। यह स्वर केवल कश्मीरी में आता है, जैसे कांशुर— कश्मीरी भाषा।

(६) ऑ—गोलाकार ओष्ठ, पश्च, अर्धविवृत। यह प्रायः अँगरेजी शब्दों में ही व्यवहृत होता है, जैसे कॉङ्ग्रेस, लॉड। नरवणे ने हिन्दी में भी और का उच्चारण ऑर् लिखा है। यह भी दीर्घस्वर है, परन्तु इसका एक ह्रस्व रूप भी मिलता है, खासकर अँगरेजी में, किन्तु कभी-कभी बँगला, असमिया, उड़िया में भी।

वस्तुतः आं तथा ऑ दोनों आ के ही अवान्तर भेद हैं।

(७) इ—प्रसारित ओष्ठ, अग्र, संवृत, ह्रस्व। वर्माजी ने इसका एक फुसफुसाहटवाला रूप भी माना है, जो व्रज तथा अवधी आदि बोलियों में कुछ शब्दों के अन्त में आता है। चूँकि इ घोषवान् है, इसलिए इस इ॰ को वर्माजी ने पृथक् ध्वनि माना है। नरवणे ने इसे स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया है। वस्तुतः यह इ॰ भी, इ ध्वनितत्त्व का ही प्रकार भेद है।

(८) ई—प्रसारित ओष्ठ, अग्र, संवृत दीर्घ।

(९) उ—गोलाकार ओष्ठ, पश्च, संवृत, ह्रस्व। वर्माजी ने इसकी भी एक फुसफुसाहटवाली स्वतन्त्र उ॰ ध्वनि मानी है, जो व्रजभाषा तथा अवधी में प्रयुक्त होती है, जैसे व्र० आवतउ॰। अव० मोरउ॰ आदि। नरवणे ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

(१०) उँ—प्रसारित ओष्ठ, पश्च, संवृत, ह्रस्व; जैसे कश्मीरी में कतरु॑ बूँद, तमिळ में अदु॑—वह ।
वस्तुतः उ॰ तथा उँ दोनों ही उ ध्वनितत्त्व के ही भेद हैं ।

(११) ऊ—गोलाकार ओष्ठ, पश्च, संवृत दीर्घ ।

(१२) ऊँ—प्रसारित ओष्ठ ,, ,, ,, जैसे कश्मीरी में सू॑त्य्—साथ । यह स्वर केवल कश्मीरी में उँ के दीर्घ रूप में मिलता है । वस्तुतः यह ऊ का ही एक प्रकारान्तर है ।

(१३) ऋ—वर्माजी अब इसे हिन्दी-ध्वनियों में स्थान नहीं देना चाहते । उनके अनुसार आज ऋण, प्रकृति आदि का उच्चारण रिण, प्रक्रिति आदि ही है । नरवणे ने स्थान तो दिया, पर इसका और स्वरों की तरह विश्लेषण नहीं किया । अग्र-पश्च, संवृत-विवृत, प्रसारित गोलाकार ओष्ठ आदि का निर्देश नहीं किया । इसका उच्चारण भी भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न ही माना है, जैसे दृश्य का हिन्दी में द्रश्श, बँगला में द्रिश्शा; गुजराती-मराठी में द्रुश्श, कन्नड में द्रुँश्श आदि ।

(१४) ए—प्रसारित ओष्ठ, अग्र, अर्धसंवृत, दीर्घ ।

(१५) ए̆—प्रसारित ओष्ठ, अग्र, अर्धसंवृत, ह्रस्व । यह ए का ही ह्रस्व रूप है । पीछे बताया जा चुका है कि पतंजलि ने इसे परिनिष्ठित संस्कृत में स्थान नहीं दिया है, किन्तु सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखा के लोग अ को ही ए̆ की तरह बनाकर बोलते थे, जैसे सुजाते एश्वसूनृते (अश्व का एश्व) । नरवणे ने केवल कश्मीरी, तेलुगु, तमिळ, मलयालम और कन्नड में ह्रस्व ए का प्रयोग माना है; जैसे कश्मीरी ववतस् पे̆ठ्—समय पर, मलयालम—ते̆न—दक्षिण आदि । इसका आशय है कि नरवणे हिन्दी में इसकी सत्ता से अपरिचित हैं । किन्तु वर्माजी के अनुसार "इसका व्यवहार साहित्यिक (खड़ी बोली) हिन्दी में तो नहीं है, किन्तु हिन्दी की बोलियों में बराबर मिलता है"; जैसे— 'अवधेस के द्वारे सकारे गई'[1] आदि ।

वर्माजी ने इस ए का भी एक फुसफुसाहटवाला रूप माना है और इसे घोष ए से भिन्न बताया है, जैसे अवधी का 'कहे॰सए' । वस्तुतः ये तीनों ए के ही रूपान्तर हैं ।

(१६) ओ—गोलाकार ओष्ठ, पश्च; अर्धसंवृत, दीर्घ ।

(१७) ओ̆— ,, ,, ,, ,, ह्रस्व । यह ओ का ही ह्रस्व रूप है । ह्रस्व ए̆ की तरह ही पतंजलि ने इसे भी परिनिष्ठित संस्कृत में स्थान नहीं दिया है, सात्यमुग्रि राणायनीय आदि ही अद्रि को ओद्रि बोलते थे । नरवणे ने इसके उदाहरण कश्मीरी तथा द्रविड़ भाषाओं से दिये हैं; जैसे कश्मीरी—तो̆मुल—चावल; तमिळ—को̆डि—झंडा । वर्माजी ने इसका व्यवहार हिन्दी की कुछ बोलियों में भी माना है, जैसे व्रजभाषा में 'पुनि लेत सोई जेहि लागि[2] अरै' । बँगला में भी टिकट को टिकॉट कहते हैं ।

---

१. कवितावली, बाल० १ ।

२. वही, ४ ।

(१८) ऐ—तथा (१९) औ को नरवणे ने संयुक्त स्वर (अ+इ तथा अ+उ) स्वीकार किया और इनका विश्लेषण नहीं किया है, उदाहरण क्रमशः दिये हैं—मराठी पैसा तथा औत (हल)।

वर्माजी ने संयुक्त स्वरों को पृथक् गिनाया है, पर मूल स्वरों में ऐ के दो विकृत उच्चारणों को भी बताया है। एक है अर्धविवृत दीर्घ अग्रस्वर, जैसे व्रजभाषा का ऐंसो, कैंसो। यह ऐ की जगह ही एँ उच्चारण हो गया है। दूसरा है अर्धविवृत ह्रस्व अग्र स्वर। यह भी व्रजभाषा में ही मिलता है, जैसे 'सुत[1] गोद में भूपति लै निकसे'। कादरी ने ऐब, कैंद आदि के ऐ को संयुक्त नहीं, मूल स्वर माना है। चटर्जी ने भी बँगला ऐ को मूल स्वर ही माना है। वर्माजी भी कहते हैं : "वास्तव में हिन्दी ऐ साधारणतः संयुक्त स्वर है, किन्तु जल्दी बोलने में कभी-कभी मूल ह्रस्व स्वर एँ के समान इसका उच्चारण हो जाता है। वास्तव में ये दोनों ऐ के ही विकृत अपूर्ण रूप हैं।"

औ को भी वर्माजी ने पृथक् संयुक्त स्वरों में रखा है। किन्तु, उसके दो भेदों को मूल स्वरों में गिनाया है। एक ओ, यह अर्धविवृत ह्रस्व पश्च स्वर है, जैसे 'हों नाथ न नाव चढ़ाइहों जू'—यहाँ हौं का हों तथा चढ़ाइहौं का चढ़ाइहों उच्चारण होता है। दूसरा ओं यह अर्धविवृत दीर्घ पश्च स्वर है, जैसे व्रजभाषा के ऐसों, गायों, खायों आदि। ये भी ऐसौ, गायौ, खायौ के ही विकृत रूप हैं। वास्तव में ये दोनों औ के ही विकृत रूपान्तर हैं।

वर्माजी ने ऐ तथा औ के अतिरिक्त दो स्वरों के संयोग के साहित्यिक हिन्दी में १७ तथा बोलियों में २५ स्थल और तीन स्वरों के संयोग के साहित्यिक हिन्दी में ३ तथा बोलियों में १४ स्थल गिनाये हैं। इस प्रकार वर्माजी ऐ औ की श्रेणी मे इन्हें मिलाकर कुल ६१ संयुक्त स्वर मानते हैं। उदाहरणार्थ गए, गई, खाओ, खाई, खाऊ, खोए, खोआ आदि में द्विस्वर संयोग तथा गाइए आदि में त्रिस्वर संयोग है।

नरवणे ने केवल दो ही संयुक्त स्वर ऐ तथा औ माने हैं—यह अभी ऊपर बताया गया है। वस्तुतः संयुक्त स्वर भ्रामक शब्द है। ऐ औ संयुक्त नहीं सन्धिस्वर हैं, जिस प्रकार ए ओ सन्धिस्वर हैं। सन्धि और संयोग का अन्तर नहीं समझ पाने के कारण ही ये मत-मतान्तर दीख पड़ते हैं। कोई इन्हें मौलिक स्वर कहता है, कोई संयुक्त। 'तितउ' के 'अ उ' की तरह 'औ' के 'अ उ' नहीं हैं। इन चारों सन्ध्यक्षरों में वर्त्तमान अ इ तथा उ एकाकी अ, इ, उ से कम या अधिक मात्रावाले तथा अधिक विवृत हैं। अतः ये चारों सन्धिस्वर हैं। संयुक्त स्वर का अर्थ है अव्यवहित रूप से आये अनेक स्वतन्त्र, पूर्ण स्वरों का समूह। सन्ध्यक्षर निरन्तरागत स्वर-समूह-मात्र नहीं है। उनका मिश्रण परस्परानुविद्ध ससृष्टि है, संकर नहीं। अतः सन्ध्यक्षरों को वर्णमाला में स्वतन्त्र स्थान है। गई, खाओ, खोए आदि स्थलों के स्वरद्वय संयोग क्ष, त्र, ज्ञ, क्य आदि की भाँति एक वर्ण नहीं, वर्णसंयोग-मात्र हैं। उनकी संख्या ढूँढ़ने से और भी बढ़ जायगी। वर्माजी ने भी ऐ में अ+ए का तथा औ में अ+ओ का संयोग माना है, तथा क्रमशः उदाहरण कैसा, बौना आदि दिये हैं। इसके अलावा

१. कवितावली, बाल० १।

अ ए तथा अ ओ के संयोग के पृथक् उदाहरण गए, गओ आदि दिये हैं। यह स्पष्ट है कि गए का उच्चारण कैसा की तरह गै, और गओ का उच्चारण बौना की भाँति 'गौ' नहीं होता। वर्माजी भी इस स्थिति को स्वीकार करते हुए कहते हैं : "संयुक्त स्वर को दो भिन्न स्वरों का संयुक्त रूप मनाना ठीक नहीं है। संयुक्तस्वर एकाक्षर हो जाता है। किन्तु निकट आनेवाले दो भिन्न स्वर वास्तव में दो अक्षर हैं। यदि ठीक उच्चारण किया जाय तो ऐ (अए) और अ-ए में प्रथम संयुक्त स्वर है और दूसरा दो स्वरों का समूह-मात्र है।" इसी लिए काबरी, चटर्जी तथा बेली आदि ने भी इन्हें मौलिक स्वर माना। इन सबके साथ कठिनाई यह है कि ये सन्ध्यक्षर तथा संयुक्ताक्षर का भेद नहीं समझ पाते, दोनों को एक ही मान लेते हैं, पर्याय समझते हैं और भ्रम में पड़ जाते हैं। सन्ध्यक्षर के खण्ड वर्ण नहीं; वर्णाभास होते हैं।

वर्णविकार

यद्यपि प्रातिशाख्यों में सन्धि का उल्लेख करते समय पाणिनि के भी सन्धि-नियमों का उल्लेख किया गया है, तथापि पाणिनि ने जिन ध्वनि-विकारों की चर्चा सैकड़ों सूत्रों में की है, उनका एक जगह कुछ आभास देना लाभदायक होगा, अतः यहाँ संक्षेप में बताया जा रहा है कि पाणिनि ने किस वर्ण के विषय में क्या विकार बताया है :

(१) अवर्ण के स्थान में :

(क) अ के स्थान में आ—पठ् + अकः[१] = पाठकः, बालक + भ्याम् = बालकाभ्याम्[२], पठ् + मि = पठामि[३], दशरथ = दाशरथि[४]। शम् से शान्त[५]।

(ख) आ के स्थान में अ—दादा + ति = ददाति[६], खट्वाका = खट्वका[७], प्रह्लाद् + त = प्रह्लन्न[८], छाद् + त = छन्न[९], गोशाला[१०] = गोशाल।

(ग) अ और आ दोनों के स्थान में प्लुत हो जाता है, देवदत्त३[११], राइम[१२] :

(घ) अ आ दोनों का लोप – जगम् + अतुः – जग्मतुः[१३], नामन् + अः = नाम्नः[१४],

१. ७।२।११६।
२. ७।३।१०२।
३. ७।३।१०१।
४. ७।२।११७।
५. ६।४।१५।
६. ७।४।५९।
७. ७।४।१३।
८. ६।४।९५।
९. ६।४।९६।
१०. २।४।२५।
११. ८।२।८४।
१२. ८।२।८६।
१३. ६।४।९८।
१४. ६।४।१३४।

हरे + अव = हरेव[1], वन से वन्य[2], ददा + तः = दत्तः[3], पपा + अतुः = पपतुः[4], द्वि + पा + अ = द्विपः, नि + धा + इ = निधिः । अस्तः = स्तः[5] । पृथा से पार्थः[6] । तुला से तुल्य ।

(ङ) अ तथा आ दोनों का इ हो जाता है, पपासा – पिपासा[7], अतिष्ठपत् – अतिष्ठिपत्[8], पाठका – पाठिका[9], स्थात – स्थित[10], शास् + य = शिष्य[11], अ स्था स् त = अस्थित[12], हात्वा > हित्वा[13] ।

(च) अ तथा आ दोनों का ई होता है – पुत्र + य + ति – पुत्रीयति[14], वाष्प + करण = वाष्पीकरण[15], ज्ञप् सति – ज्ञीप्सति[16], अन्तर आप > अन्तरीप[17], पा + त = पीत[18], आस् + आन = आसीन[19], आप्सति = ईप्सति[20] । घ्रा + य + ते > जेघ्रीयते[21], (छ) अ का उ—करुतः > कुरुतः[22], सख्यः > सख्युः[23], चञ्चरोति > चञ्चुरीति[24], अ का ऊ – अनु + अप > अनूप[25] ।

(ज) अ तथा आ का ए – राम + भ्यः – रामेभ्यः[26], पठ्य + अतुः – पेठतुः[27], तृनह् + ति > तृणेढि[28], दा + हि – देहि[29], राज् + अतुः – रेजतुः[30], हे रमा – हे रमे[31] ।

(झ) अ का ओ – सह् + त = सोढ[32], वह् + त = वोढ । अवचत् > अवोचत्[33] ।

---

१. ६।१।१०६ ।
२. ६।४।१४८ ।
३. ६।४।११२ ।
४. ६।४।६४ ।
५. ६।४।१११ ।
६. ६।४।१४८ ।
७. ७।४।७९ ।
८. ७।४।५ ।
९. ७।३।४४ ।
१०. ७।४।४० ।
११. ६।४।३४ ।
१२. १।२।१७ ।
१३. ७।४।४३ ।
१४. ७।४।३३ ।
१५. ७।४।३२ ।
१६. ७।४।५५ ।
१७. ६।३।९७ ।
१८. ६।४।६६ ।
१९. ७।२।८३ ।
२०. ७।४।५५ ।
२१. ७।४।३१ ।
२२. ६।४।११० ।
२३. ६।१।१११ ।
२४. ७।४।८८ ।
२५. ६।३।९८ ।
२६. ७।३।१०३ ।
२७. ६।४।१२० ।
२८. ७।३।९२ ।
२९. ६।४।११९ ।
३०. ६।४।१२५ ।
३१. ७।३।१०६ ।
३२. ६।३।११२ ।
३३. ७।४।२० ।

(ञ) अ का औ—पपा + अ (णल्) = पपौ[१] ।

(ट) अ तथा आ का आगम – अपठत्[२], अस्वपत्[३], हनानि[४] ।

(२) इवर्ण :

(क) इ के स्थान में ई—कृषि + वल > कृषीवल[५], अग्नि + सोमौ > अग्नीषोमौ[६], क्षि + त > क्षीण[७], जिजि + स > जिगीषा[८] । ष्ठिव् से ष्ठीवति[९], निर् + रोग – नीरोग[१०] ।

(ख) ई के स्थान में इ—विदुषी + तरा > विदुषितरा[११], हे नदी > हे नदि[१२], नोनी + स + ति – निनीषति[१३] । भी + हि > बिभीहि[१४] ।

(ग) इवर्ण के स्थान में अवर्ण—अग्नि + औ > अग्न[१५] + औ = अग्नौ । अ + श्विव + अत् > अश्वत्[१६], अग्नि + मरुतौ – अग्नामरुतौ[१७], शिंशपा से शांशप:[१८], दीर्घसूत्र से दार्घसत्रम्, जि से जापयति[१९], सिध् से साधयति[२०], क्री से क्रापयति, भी से भापयते[२१], द्विदश – द्वादश[२२] ।

(घ) इवर्ण के स्थान में उवर्ण—पठति से पठतु[२३], (किञ्चित्—कुछ) ।

(ङ) इवर्ण से ए[२४]—जेता, नेता, देव:, लेख: ।

(च) इवर्ण से ऐ—नैतिक, धैर्य, दैनिक, स्थैर्य ।

(छ) इ का औ[२५]—सख्यौ, पत्यौ (सखि + इ > सखि + औ > सख्यौ) ।

(ज) इवर्ण का लोप[२६]– नदी से नादेय, अतिथि से आतिथेय, मुनि से मौन, कवि से काव्य, सखि से सख्य, सरस्वती से सारस्वत आदि ।

(झ) इवर्ण का आगम—पत्[२७] + त = पतित, पठ् + तव्य – पठितव्य, पठिष्यति, ग्रहीष्यति[२८], अरोदीत्[२९], आसीत्[३०] आदि ।

---

१. ७।१।३४ ।
२. ६।४।७१ ।
३. ७।३।९९ ।
४. ३।४।९२ ।
५. ६।३।११८ ।
६. ६।३।२७ ।
७. ६।४।६० ।
८. ६।४।१६ ।
९. ७।३।७५ ।
१०. ६।३।१११ ।
११. ६।३।४५ ।
१२. ७।३।१०७ ।
१३. ७।४।५९ ।
१४. ६।४।११५ ।
१५. ७।३।११९ ।
१६. ७।४।१८ ।
१७. ६।३।२६ ।
१८. ७।३।१ ।
१९. ६।१।४८ ।
२०. ६।१।४९ ।
२१. ६।१।५६ ।
२२. ६।३।४७ ।
२३. ३।४।८६ ।
२४. १।१।३ ।
२५. ७।३।११८ ।
२६. ६।४।१४८ ।
२७. ७।२।३५ ।
२८. ७।२।३७ ।
२९. ७।३।९८ ।
३०. ७।३।९६ ।

(ञ) इ का य्[1] – अति + आचार = अत्याचार, नदी + अम्बु – नद्यम्बु ।

(३) **उवर्ण :**

(क) उवर्ण का अ—भूभू + अ>बभूव[2], स्फुर से स्फारयति[3], अप + गुर् + णमुल्> अपगारम्[4], गुरिष्ठ>गरिष्ठ[5], युविष्ठ>यविष्ठ[6], लघु से लघौ[7] ।

(ख) उवर्ण का इ—पू से पिपविषति[8], (जुह्वा से जिह्वा) ।

(ग) उ का ऊ तथा ऊ का उ—दुष् से दूषण[9], गुह् से गूहयति[10], स्तु से तुष्टूषति[11], गुह से गूढ[12], सु + दत्त से सूत्त[13], भानु से भानूनाम्[14], भू से बुभूषति[15], पू से पुनाति[16], ऊह् से समुह्यात्[17] ।

(घ) उवर्ण का ऋ—क्रोष्टु से क्रोष्टृ[18] (वस्तुतः दोनों भिन्न-भिन्न शब्द हैं)

(ङ) उवर्ण का लोप—लघु से लघिष्ठ[19], पटु से पटयति, कुरुवः से कुर्वः[20], कुरुयात् से कुर्यात् ।

(च) उवर्ण का व्[21],—सु + आगत>स्वागत, वधू + आगमन>वध्वागमन ।

(छ) उ से ऐ – मनु से मनायी[22], पूतक्रतु से पूतक्रतायी[23] ।

(ज) उवर्ण से ओ तथा औ—भुज् से भोग[24], रुज् से रोग, स्तु से स्तोता[25], स्तोत्र; गुरु से गौरव[26], मुनि से मौन, शुचि से शौच ।

४. (क) ऋ वर्ण से अवर्ण—मातृ + पितरौ>मातापितरौ[27] । ववृते>ववृते[28] ।

(ख) ऋ से इवर्ण—भृ + भृ + ति>बिभर्ति[29], पृ + पृ + ति>पिपर्त्ति[30] ।

---

१. ६।१।७७ ।
२. ६।४।८८ ।
३. ६।१।५४ ।
४. ६।१।५३ ।
५. ६।४।१५७ ।
६. ६।४।१५६ ।
७. ७।३।११९ ।
८. ७।४।८० ।
९. ६।४।९० ।
१०. ६।४।८९ ।
११. ६।४।१६ ।
१२. ६।३।१११ ।
१३. ६।३।१२४ ।
१४. ६।४।३ ।
१५. ७।४।५९ ।
१६. ७।३।८० ।
१७. ७।४।२३ ।
१८. ७।१।९५ ।
१९. ६।४।१५५ ।
२०. ६।४।१०८ ।
२१. ६।४।७७ ।
२२. ४।१।३८ ।
२३. ४।१।३६ ।
२४. ७।३।८६ ।
२५. ७।३।८४ ।
२६. ७।२।११७ ।
२७. ६।३।२५ ।
२८. ७।४।६६ ।
२९. ७।४।७६ ।
३०. ७।४।७७ ।

(ग) ऋ से अर्—कृ + तव्य – कर्त्तव्य[१], सृप् से सर्प[२], वृष से वर्ष।

(घ) ऋ से इर्[३]—कॄ से किरति, गॄ से गिरति, गीर्ण; जॄ से जीर्ण।

(ङ) ऋ से उर्—पॄ से पूर्ण[४], पूर्त्ति, दातृ से दातुः[५], द्वैमातुर[६] आदि।

(च) ऋ से र्–दृश् से द्रक्ष्यति[७], सृज् से स्रष्टा, मृदु से म्रदिमा[८], दातृ + अ –दात्रा[९]।

(छ) ऋ से आर्[१०]—कृत्तिका से कार्त्तिक, वृष्णि से वार्ष्णेय, पृथा से पार्थ।

(झ) ऋ से रि[११]—क्रिया।

(ञ) री—मात्रीयते[१२]।

(ट) ऋ का लोप—मातुल[१३]।

५ ए :

(क) ए का ऐ—देव से दैविक[१४], केवल से कैवल्य, सेना से सैन्य।

(ख) ए का इ[१५]—सेव् से सिषेवे।

(ग) ए का अवर्ण[१६]—देविका से दाविक, श्रेयस् से श्रायस

(घ) ए का अय्[१७]—नयन, जय आदि।

(ङ) ए का अइ—हे अग्निभूते >हे अग्निभूतइ[१७क]।

(च) ए का आ[१८]—ह्वाता (ह्वे से), दाता ('दे' धातु से), माता (मेङ्)।

६. ऐ :

(क) ऐ का इ[१९]—अतिरि।

(ख) ऐ का आय्[२०]—नायक, चायक।

(ग) ऐ का आ—गै से गाता[२१], म्लै से म्लान, रै से राभ्याम्[२२]।

---

१. ७।३।८४।
२. ७।३।८६।
३. ७।१।१००।
४. ७।१।१०२।
५. ६।१।१११।
६. ४।१।११५।
७. ६।१।५८।
८. ६।४।१६१।
९. ६।१।७७।
१०. ७।२।११७।
११. ७।४।२८।
१२. ७।४।२७।
१३. ४।२।३६।
१४. ७।२।११७।
१५. ७।४।५९।
१६. ७।३।१।
१७. ६।१।७८।
१७क. ८।२।१०७।
१८. ६।१।४५।
१९. १।२।४७।
२०. ६।१।७८।
२१. ६।१।४५।
२२. ७।२।८५।

७. ओ :

(क) ओ से औ—लोक से लौकिक[1], गो से गौ[2]।

(ख) ओ से उ—लोक् से लुलोके[3], गो से द्विगु[4] आदि

(ग) ओ से अव्[5]—भवन, पवन। (ग१)—ओ का अउ,—पटो>पटउ[5]क।

(घ) ओ से आ—गो+अम्—गाम्[6], शो से शाता[7]।

(ङ) ओ का लोप—शो से श्यति[8]।

८. औ :

(क) औ का उ[9]—अतिनु

(ख) औ का आव्[10]—पावक, नाविक

९. कवर्ग :

(क) कवर्ग का चवर्ग[11] हो जाता है—कु से चकार आदि।

(ख) क् का आगम[12] भी होता है—प्राङ्क् षष्ठः।

(ग) लोप—तष्ट[13]

(घ) ङ[14] का आगम—प्रत्यङ्ङात्मा

१०. चवर्ग :

(क) चवर्ग का कवर्ग हो जाता है—चि से काय[15], भुज् से भोग[16], पच् से पाक, रुज् से रोग, जि से जिगीषा[17], पच् से पक्व[18], वाक्।

(ख) कहीं ष्[19] भी होता है—भ्रस्ज्+त=भ्रष्ट, सृज्+ति=सृष्टि, यज्+ति =इष्टि, मृज्+त=मृष्ट आदि (सर्वत्र ज्>ष्)

(ग) कहीं श्[20] भी होता है—प्रच्छ्+न–प्रश्न (छ्>श्)

(घ) कहीं आगम[21] भी होता है—वाजयति (ज् का), वि+छेद=विच्छेद (च् का)

---

१. ७।२।११७।
२. ७।२।११५।
३. ७।४।५९।
४. १।२।४८।
५. ६।१।७८।
५क. ८।२।१०७।
६. ६।१।९३।
७. ६।१।४५।
८. ७।३।७१।
९. १।२।४७।
१०. ६।१।७८।
११. ७।४।६२।
१२. ८।३।२८।
१३. ८।२।२९।
१४. ८।३।३२।
१५. ७।३।५८।
१६. ७।३।५२।
१७. ७।३।५७।
१८. ८।२।३०।
१९. ८।२।३६।
२०. ६।४।१९।
२१. ७।३।३८।

११. टवर्ग :

(क) ट्[१] का आगम होता है—सुगण् ट् षष्ठः ।

(ख) ण्[२] का आगम होता है—सुगण्णीशः ।

१२. तवर्ग :

(क) तवर्ग का चवर्ग[३] होता है—उत् + चारण = उच्चारण, सद् + जन = सज्जन, यज् + न = यज्ञ ।

(ख) तवर्ग का टवर्ग[४]—उत् + टङ्कन = उट्टङ्कन, इष्ट (इष् + त), तुष्ट (तुष् + त), उद् + डयन = उड्डयन, षड् + नाम् = षण्णाम् ।

(ग) तवर्ग का ल्[५] होता है—उत् + लास = उल्लास, तद् + लीन = तल्लीन, विद्वान् + लिखति = विद्वल्लिँखति ।

(घ) त् का क[६]—शुष्त > शुष्क ।

(ङ) त् का व[७]—पच् + त > पक्व ।

(च) त् का म[८]—क्षि + त > क्षाम ।

(छ) त् का न[९]—छिद् + त > छिन्न । एत से एनी ।

(ज) त् का र्[१०]—अभिनद् > अभिनः ।

(झ१) ध् का ह्[११]—धित > हित

(झ२) त् का स—बृहस्पति (बृहत् + पति), तस्कर (तत् + कर)

(झ३) न् का र्—शर्वरी[१२], सुत्वरी (सुत्वती) । अहन्[१३] > अहर्भाति ।

(ञ) न् का आ—अष्टन् + दश > अष्टादश[१४], जन् + ति > जाति, खन् + त > खात[१५] ।

(ट) त् का आ—महत् पुरुष > महापुरुष[१६] ।

(ठ) न् का त—हन् से घात[१७], हत्या ।

(ड) न् से ङ्—प्राङ्[१८] ।

(ढ) त् का आगम—आगत्य[१९], दिनकृत्, षट्त्सु[२०] ।

---

१. ८।३।२८ ।
२. ८।३।३२ ।
३. ८।४।४० ।
४. ८।४।४१ ।
५. ८।४।६० ।
६. ८।२।५१ ।
७. ८।२।५२ ।
८. ८।२।५३ ।
९. ८।२।४२ ।
१०. ८।२।७५ ।
११. ७।४।४२ ।
१२. ४।१।७ ।
१३. ८।२।६९ ।
१४. ६।३।४७ ।
१५. ६।४।४२ ।
१६. ६।३।४६ ।
१७. ७।३।३२ ।
१८. ८।२।६२ ।
१९. ६।१।७१ ।
२०. ८।३।२९ ।

(ण) थ् का आगम—आस्थत्[१] ।

(त) न् का आगम—वनानि[२], बालकानाम्[३], मुञ्चति[४], मधुने[५], पति-पत्नी[६], गच्छन्ती[७], आनर्च[८] आदि ।

(थ) न् का अनुस्वार[९]—हंसि (=हन्+सि)

(द) न् का लोप—हन्+त–हत[१०] ध्वस्त[११], (ध्वंस्+त), दष्ट (दंश्+त)। राजकुमार[१२] (राजन्+कुमार)।

(ध) द् का त—शादयति>शातयति[१३] ।

(न) न् का इवर्ण[१४]—खन्+य=खेयम् ।

(प) त्, थ्, द् का ध्—दुह्+त[१५]=दुग्ध, विध्+त=विद्ध, लभ्+त>लब्ध; दुह्+थः—दुग्धः ; दुह्—सि—धोक्षि[१६] ।

(फ) द् का ग्[१७], दम् से दिग्ये ।

(ब) न् का ण[१८]—रामायण, स्मरण ।

(भ) त् द् का स—तः=सः[१९], एतः>एषः । अदस् का असौ ।

१३. पवर्ग :

(क) प् का त्[२०]—अप्+भ्याम्–अद्भ्याम् ।

(ख) प् का आगम—दा से दापयति[२१], पत् से अपप्तत्[२२] ।

(ग) म् का अनुस्वार—रिरंसा[२३], संहार[२४] ।

(घ) म् का स्—पुंस्कोकिल[२५] ।

(ङ) म् का न्—प्रशान्[२६], अगन्म[२७], शम्+त>शान्त ।

---

१. ७।४।१७ ।
२. ७।१।७२ ।
३. ७।१।५४ ।
४. ७।१।५९ ।
५. ७।१।७३ ।
६. ४।१।३२ ।
७. ७।१।८० ।
८. ७।४।७१ ।
९. ८।३।२४ ।
१०. ६।४।३७ ।
११. ६।४।२४ ।
१२. ८।२।७ ।
१३. ७।३।४२ ।
१४. ३।१।१११ ।
१५. ८।२।४० ।
१६. ८।२।३७ ।
१७. ७।४। ।
१८. ८।३।२ ।
१९. ७।२।१०६ ।
२०. ७।४।४८ ।
२१. ७।३।३६ ।
२२. ७।४।१९ ।
२३. ८।३।२४ ।
२४. ८।३।२३ ।
२५. ८।३।६ ।
२६. ८।२।६४ ।
२७. ८।२।६५ ।

(च) म का व—धनवान्[१] ।

(छ) म् का आगम—भुजंगम[२], वर्त्तमान ।

(ज) ब् का भ्—बुभुत्सा[३], भोत्स्यसि ।

१४. अन्तस्थ :

(क) य् व् र् का इ, उ, ऋ—व्यध्+त—विद्ध, स्वप्+त—सुप्त, ग्रह्+त—गृहीत ।

(ख) अन्तस्थ का आगम : य का—दिदी+ए—दिदीये[४] । भू+इष्ठ—भूमियष्ठ । ह्वा+इ>ह्वायि=ह्वाययति[५] । दा+अक>दायक[६] । व का—बभू+अ>बभूव[७] । र् का—कृ से—चर्कर्त्ति[८] । ल् का—ला से विलालयति[९] । पा से पालयति[१०] (कात्यायन) ।

(ग) अन्तस्थ-लोप—य का—हरे+इह=हरयिह=हर इह[११]; बेभिदिता[१२], पचेत्[१३], सौर[१४], व् का विष्णो+इह=विष्णविह=विष्ण इह; ह्लसिष्ठ[१५] । र् का—निर्+रोग=नीरोग[१६]; दूर से दविष्ठ । ल् का—स्थूल से स्थविष्ठ ।

(घ) य् का व्—स्फाय् से स्फावयति[१७], सरयू से सारव[१८] ।

(ङ) र् का विसर्ग[१९]—पुनः, बालकः ।

(च) व् का उ—दिव् से द्युभ्याम्[२०], ऊ[२१]—दिव् से द्यूत, सिव् से स्यूत । व का औः[२२]—दिव् से द्यौः ।

(छ) र् का ल्—गिलति[२३], गलः, पल्यङ्कः[२४] ।

---

१. ८।२।९ ।
२. ६।२।६७ ।
३. १।१।४५ ।
४. ६।४।६३ ।
५. ७।३।३७ ।
६. ७।३।३३ ।
७. ६।४।८८ ।
८. ७।४।९१ ।
९. ७।३।३९ ।
१०. ७।३।३७ ।
११. ८।३।१९ ।
१२. ६।४।४९ ।
१३. ६।१।६६ ।
१४. ६।४।१४९ ।
१५. ६।४।१५६ ।
१६. ६।३।१११ ।
१७. ७।३।४१ ।
१८. ६।४।१६९ ।
१९. ८।३।१५ ।
२०. ६।१।१३१ ।
२१. ६।४।१९ ।
२२. ७।१।८४ ।
२३. ८।२।२१ ।
२४. ८।२।२२ ।

१५. ऊष्म :

(क) श् का ष्—दृश् + त – दृष्ट[1]; नश् + त – नष्ट।

(ख) श् का क्—दिक्[2]।

(ग) श् का छ्[3]—उत् + श्वास = उच्छ्वास।

(घ) श् का ज्—सज्जति[4] (सस्ज् से)

(ङ) ष् का ट् या[5] ड्—षष् > षट्, षड्भ्याम्।

(च) ष् का क्—शुष् से शोक्ष्यति[6], धृष् से दधृक्[7], कृष् से कर्क्ष्यति।

(छ) ष् का ड[8]—षोडश। (ज) ष् का आगम—भीषयते[9]।

(झ) ष् का छ्—इच्छति[10]।

(ञ) स् का त्—वत्स्यति[11], अचकात्[12], उत्थान[13]।

(ट) स् का ष्[14]—रामेषु, पठिष्यति, परिष्कार।

(ठ) स् का श्[15]—निस् + चल = निश्चल, हरिश्चन्द्र।

(ड) स् का आगम—सर्वासाम्[16], सर्वेषाम्, उपस्कार[17], अश्वस्यति[18]।

(ढ) स् का लोप—मस्ज् + त—मग्न[19], कुर्यात्[20], शाधि[21], कर्त्तारो[22], अकृत[23]।

(ण) स् का र्[24]—अग्निरिह, निर्गमन, आविर्भाव।

(त) स् का द्[25]—विद्वद्भ्याम्। (थ) स् का ह्[26]—एधिताहे।

(द) ह् का ढ्[27]—गूढ, लीढ।

(ध) ह् का क्[28]—वह् + स्यति > वक्ष्यति।

---

१. ८।२।३६।
२. ८।२।६२।
३. ८।४।६३।
४. ८।४।५३।
५. ८।२।३९।
६. ६।२।४१।
७. ८।२।६२।
८. ६।३।१०९ पर वार्त्तिक।
९. ७।३।४०।
१०. ७।३।७७।
११. ७।४।४९।
१२. ८।२।७३।
१३. ८।४।६१।
१४. ८।३।५९।
१५. ८।४।४०।
१६. ७।१।५२।
१७. ६।१।१३९।
१८. ७।१।५१।
१९. ८।२।२९।
२०. ७।२।७९।
२१. ६।४।३५।
२२. ७।४।५१।
२३. ८।२।२७।
२४. ८।२।६६।
२५. ८।२।७२।
२६. ७।४।५२।
२७. ८।२।३१।
२८. ८।२।४१।

(न) ह् का घ्—दुह् + त> दुग्ध[१], कामदुघा[२], घात[३]।
(प) ह् का झ—अज्झल्[४]।
(फ) ह् का ध्—नद्ध[५], तद्धित, उद्धार।
(ब) ह् का भ्—अप् + हरण> अभ्भरण।
(भ) ह् का द्[६]> अनडुद्भ्याम्।
(म) ह् का थ्[७]—आह् + थ> आत्थ।
(य) ह् का प्[८]—रोहयति> रोपयति।
(र) ह् का चवर्ग[९]> जघान, जहार।
(ल) स् का न्[१०]—बालकान्।

सामान्य नियम—१. वर्गीय प्रथम वर्णों का तृतीय वर्ण[११] होता है, वाग्भ्याम्, षड्भ्याम्, चिद्भ्याम्, अब्भ्याम्।

२. प्रथम या तृतीय वर्ण का पंचम[१२] वर्ण—वाङ्मय, षाण्मातुर, जगन्नाथ, अम्मय।

३. प्रथम वर्ण का द्वितीय[१३] वर्ण (कात्यायन) = वथ्सर, अफ्सर आदि।

४. तृतीय वर्ण[१४] का चतुर्थ वर्ण—बुध् + स = भुत्स से बुभुत्सा, दुह् + सि = धोक्षि आदि।

५. संयोग के अन्त का लोप[१५] महान्त् स्—महान्, प्राञ्च् = प्राङ्।

६. स्वर के बाद यदि र् या ह् आवे तो उसके बाद आनेवाले यर् का द्वित्व[१६] होता है—सूर्य्य, अर्क्क, स्वर्ग्ग, ब्रह्म्मा।

७. स्वर के बाद यदि यर् प्रत्याहार आता है तो उसका द्वित्व[१७] होता है, यदि बाद में स्वर नहीं आता है—शक्क्नोति, चक्ष्नतुः, अग्ग्निः, जघ्घ्नतुः।

८. हल् के बाद यदि यम् आ रहा हो और बाद में फिर यम् आ रहा हो तो पूर्व यम् का लोप[१८] होता है (विकल्प से)—शय्य्या, शय्या; आदित्त्य—आदित्य।

---

१. ८।२।३२।
२. ३।२।७०।
३. ७।३।५५।
४. ७।४।६२।
५. ८।२।३४।
६. ८।२।७२।
७. ८।२।३५।
८. ७।३।४३।
९. ७।४।६२।
१०. ६।१।१०३।
११. ८।२।३९।
१२. ८।४।४५।
१३. ८।४।४८ पर वार्त्तिक।
१४. ८।२।३७।
१५. ८।२।२३।
१६. ८।४।४६।
१७. ८।४।४७।
१८. ८।४।६४।

९. हल् के बाद यदि झर् आ रहा हो और बाद में सवर्ण झर हो तो प्रथम झर्[1] का लोप होता है—प्रदत्त, प्रत्त>प्रत्त ।

१०. कुछ वर्ण-विकार ऐसे हैं, जिनका शृंगग्राहिकया उल्लेख नहीं कर केवल एक शब्द कहकर बता दिया गया है कि इस प्रकार के अनेक वर्ण-विकार होते हैं; जैसे—पृषोदरादीनि[2] यथोपदिष्टम् से पृषोदर आदि शब्दों की सिद्धि बताई गई। पृषोदर शब्द पृषत् + उदर में त् के लोप से बना है। पृषोदरादि द्वारा ही हन् धातु से स् का आगम कर हंस, हिंस् धातु से वर्णविपर्यय द्वारा सिंह, गूढात्मा से वर्णविकार द्वारा गूढोत्मा आदि शब्द बनाये जाते हैं।

११. कुछ वर्णविकार ऐसे भी हैं, जिनकी पाणिनि ने कहीं चर्चा नहीं की, किन्तु स्वयं ऐसे प्रयोग किये हैं, जिनसे उनका समर्थन हो रहा है; जैसे—'प्रैषातिसर्गप्राप्त[3] कालेषु कृत्याश्च' में प्रैष प्रयोग से प्रतीत होता है कि प्र+एष, में पररूप नहीं, वृद्धि होती है। 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु[4] च' से मालूम होता है कि स्व+ईरी यहाँ गुण नहीं वृद्धि होकर स्वैरी रूप बन जाता है, 'क्तेनाहोरात्रावयवाः'[5] से निश्चय होता है कि अहन् + रात्रि, यहाँ समास होने पर अहर्गणः की भाँति रोऽसुपि से न का रेफादेश होकर अहारात्र नहीं, अहन् से रुत्व और हशि च से उत्व होकर अहोरात्र बनेगा। 'कुलटाया वा'[6] बता रहा है कि कुल +अटा =कुलाटा नहीं, पररूप से कुलटा बनेगा। 'अप्तृन्तृच्०'[7] से प्रमाणित हो रहा है कि आप् धातु से क्विप् करने पर आ का ह्रस्व हो जायगा। 'व्रीहेः[8] पुरोडाशे' से पुरोदाश में द के डादेश का अनुमान होता है।

१२. पाणिनि ने निपातन तथा निर्देश से कुछ ऐसे स्थल भी बताये हैं, जहाँ एकाधिक वर्ण का विकार हुआ है; जैसे—सरयू से अण् प्रत्यय करने पर अय् के लोप से सारव, मित्रयु शब्द से अण् होने पर यु के लोप से मैत्रेय और हिरण्य शब्द से मय प्रत्यय होने पर य का लोप होने से हिरण्मय बना[9] तथा चतुर्[10] शब्द से यत् प्रत्यय करने पर च का लोप होने से तुर्य बना। बल्कि तृ का[11] लोप शब्दतः बताया है, इसी भाँति अन्, इन् आदि टि[12] का भी। ति[13] का भी लोप विहित है।

पाणिनि के बाद कात्यायन ने भी वर्णविकार के बहुत-से स्थल दिखाये हैं। इनमें इतनी श्रेणियाँ हैं—

१. कुछ ऐसे स्थल लगते हैं, जो बहुत सम्भव है, पाणिनि को अभीष्ट हों, परन्तु सम्भवतः पाणिनि इन्हें नहीं गिना सके। इनमें भी दो प्रकार हैं—

---

१. ८।४।६५।
२. ६।३।१०९।
३. ३।३।१६३।
४. ३।१।११९।
५. २।१।४६।
६. ४।१।१२७।
७. ६।४।११।
८. ४।३।१४८।
९. ६।४।१७४।
१०. २।२।३।
११. ६।४।१५४।
१२. ६।४।१४३।
१३. ६।४।१४२।

(क) कुछ तो ऐसे हैं, जिनके लिए पाणिनि ने कोई विधान नहीं किया, पर स्वयं कहीं ऐसा प्रयोग कर दिया है, जिससे उसका स्पष्ट समर्थन हो जाता है; जैसे—पाणिनि ने ऋ से परवर्त्ती न का णत्व नहीं बताया है, कात्यायन ने 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' कहा है। अनेक प्रातिशाख्यों ने उसकी स्पष्ट चर्चा की है, किन्तु पाणिनि ने उसे छोड़ दिया। फिर भी अप्तृन्तृच्स्वसृ० सूत्र में प्रशास्तॄणाम् निर्देश में णत्व दिखाकर इसकी स्वीकृति दी है। पाणिनि ने प्रैष[1], स्वैरी[2], कुलटा[3], अहोरात्र[4], तुर्य[5] आदि बहुत-से शब्दों का अष्टाध्यायी में प्रयोग किया है, पर स्वयं इनका विश्लेषण नहीं किया है। कात्यायन ने इनमें वर्णविकार की व्याख्या अपने वार्त्तिकों से की है, पूर्वपृष्ठों में इनके सूत्र दिखाये जा चुके हैं।

(ख) परन्तु कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जिनके लिए पाणिनि का कोई निर्देश आदि परोक्ष सकेत भी नहीं है; जैसे त्यज्+ण्यत्>त्याज्य[6]—यहाँ कुत्व का अभाव, षट्+नवति> षण्णवति[7]। यहाँ ष्टुत्व, निर्+विद्+त>निर्विण्ण[8] यहाँ णत्व, संस्कार[9] यहाँ सलोप, परिव्राट्[10] यहाँ षादेश, मुहुः कामा[11] में षत्व का अभाव, प्रातःकल्पम्[12] में सत्व का अभाव, मनीषा[13] में अस् भाग का पररूप, पालयति[14], धूनयति[15] प्रीणयति[16] आदि में वर्णागम आदि। ये अभिप्रेत होते हुए भी सम्भवतः पाणिनि के दृष्टिपथ में नहीं आ सके।

२. रम्ययूना[17], परिपक्वानि[18], आचार्यानी[19], द्वारिकावन[20] आदि में णत्व का

---

१. प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु।
२. स्वादीरेरिणोः, सू० ६।१।८९ पर।
३. शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यं तच्च टेः, ६।१।९४ पर।
४. रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्, ८।२।५८ पर।
५. ५।२।५१ पर चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च।
६. त्यजेश्च ७।३।६६ पर।
७. अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्, ८।४।४२ पर।
८. निर्विण्णस्योपसंख्यानम्, ८।४।२९।
९. समो वा लोपमेके इति भाष्यम्, ८।३।५ पर, पाणिनि का संस्कृतंभक्षाः, ४।२।१६ निर्देश भी।
१०. परौ व्रजेः षः पदान्ते, ८।२।३६ पर।
११. मुहुसः प्रतिषेधः, ८।३।४१ पर।
१२. अनव्ययस्येति वाच्यम्, ८।३।३८ पर।
१३. शकन्ध्वादिषु।
१४. पातेर्णौ लुग् वक्तव्यः, ७।३।३७ पर।
१५. तथा १६. वहीं धूञ्प्रीञोर्नुग् वक्तव्यः।
१७. तथा १८. युवादे र्नं, ८।४।११ पर।
१९. आचार्यादणत्वं च, ४।१।४९ पर।
२०. इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः, ८।४।६ पर।

अभाव तो क्षुभ्नादि[१] के आकृतिगणत्व से भी सिद्ध हो सकता है। उल्का, स्त्गाली आदि में वर्णद्वित्व[२] तथा वथ्सर, अप्सराः आदि में प्रथम वर्ण का द्वितीय वर्णादेश[३], अन्तस्थ आदि में विसर्गलोप[४] आदि यद्यपि प्रातिशाख्यों में वर्णित हैं, तथापि बहुत सम्भव है कि पाणिनि के समय इन्हें शिष्ट समाज में पूरी मान्यता ही नहीं मिली हो।

३. म्लान, लून के सादृश्य से लूनि[५], ग्लानि आदि प्रयोगों में क्तिन् के त् का नत्व, स्फीत के सादृश्य से स्फीतिकाम[६] आदि में धात्वादेश, ईप्सति, लिप्सते रिप्सते के सादृश्य से रित्सति[७] में आ के स्थान में इकारादेश, अश्वस्यति, क्षीरस्यति के सादृश्य से दधिस्यति[८] या दध्यस्यति में स् या अस् का आगम, बहुत सम्भव है, पाणिनि के बाद शुरू हुआ हो, जिनका संग्रह कात्यायन ने अपने नियमों में कर लिया।

४. उरग[९] तथा अर्णव[१०] में स लोप, आज्य[११], रजन[१२], रजक आदि में न् लोप षोडश[१३] आदि में ष्टुत्व तथा गव्यूतिः[१४] में अवादेश और औपयिक[१५] में आ का ह्रस्वत्व आदि सम्भवतः पाणिनि के दृष्टिपथ में नहीं आये या उन्होंने इन सब छिटफुट लक्ष्यों का साधन पृषोदरादि[१६] को आकृतिगण मानकर किया हो।

५. दार्वाघाट, पदसंघाट, वर्णघाट आदि[१७] में ष्टुत्व तो प्राकृत भाषा का प्रभाव है। कात्यायन ने इसे शिष्ट भाषा में भी मान्यता दी। तरुणी की जगह तलुनी[१८] प्राकृत का

१. क्षुभ्नादिषु च, ८।४।३९।

२. यणो मयो द्वे वाच्ये, तथा—शरः खयः, ८।४।४७।

३. चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः, ८।४।४८ पर।

४. खर्परे शरि वा विसर्गलोपः, ८।३।३६ पर।

५. ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् वाच्यः, ८।२।४४।

६. इसका संग्रह कात्यायन ने भी नहीं किया है, अतः भट्टोजिदीक्षित ने इसे प्रामादिक ही कहा है (स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४ की व्याख्या में)।

७. रावो हिंसायां सनीस् वाच्यः, ७।४।५४ पर।

८. सर्वप्रातिपदिकानां लालसायां सुगसुकौ, ७।१।५१ पर।

९. उरसो लोपश्च, ३।२।४८ पर।

१०. ५।२।१०९ पर।

११. आङ्पूर्वादञ्जेः संज्ञायाम्, ३।१।१०९ पर।

१२. असि अकेऽने च रञ्जेर्नलोपो वाच्यः, ६।४।२४।

१३. षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च, ६।३।१०९।

१४. अध्वपरिमाणे च, ६।१।७९ पर।

१५. उपायाद्ध्रस्वत्वं च, ५।४।३४ पर।

१६. ६।३।१०९।

१७. दारावाहनोणन्तस्य च टः संज्ञायाम्, तथा, कर्मणि समि च, ३।२।४९ पर।

१८. नञ स्नञीकक्ख्युँस्तरुण तलुनानामुपसंख्यानम्, ४।१।१५ पर।

प्रयोग भी संस्कृत में आ गया था। वार्त्तिककार ने यहाँ ङीप् प्रत्यय का तो विधान किया, परन्तु यह नहीं बताया कि तरुण का ही विकृत रूप तलुन है। इसी प्रकार मानव का ही प्राकृत रूप माणव हुआ था, जिसे ब्राह्मणमाणववाडवाद्यत्[१] कहकर पाणिनि ने स्वीकृति दी है। वार्त्तिककार का यह कहना[२] कि मनु से कुत्सित तथा मूढ अपत्य के अर्थ में अण् तथा न का मूर्धन्य होता है, ठीक नहीं। माणव का प्रयोग छोटे विद्यालय-प्रविष्ट बच्चे के लिए जनता की प्राकृत भाषा में था, अक्सर इससे अल्पार्थक क प्रत्यय कर माणवक कहते थे, इसमें अनादर नहीं, प्यार का भाव था। इसी तरह प्राकृत के प्रभाव से ही 'भीलुक' शब्द का प्रयोग शिष्ट भाषा में प्रवेश पा गया था। भी धातु से रु प्रत्यय करने पर भीरु शब्द बना। इससे स्वार्थिक या कुत्सितार्थक क प्रत्यय करने पर भीरुक। इसी शब्द में र् के लत्व से भीलुक प्रयोग जनभाषा में चला होगा, पर क्रमशः यह नाटक आदि के माध्यम से परिनिष्ठित संस्कृत में भी स्थान पा गया। पाणिनि ने इसकी ठीक व्याख्या न कर 'भी' धातु से क्रु तथा क्लुकन् दो प्रत्यय कर भीरु तथा भीलुक दो प्रयोग सिद्ध[३] किये। कात्यायन ने देखा कि इससे तो भीरुक की व्याख्या नहीं हुई, तो उन्होंने एकवार्त्तिक कहकर क्रुकन् प्रत्यय की भी अनुमति[४] दे दी। परन्तु, किसी ने यह नहीं बताया कि यहाँ रेफ का लादेश मात्र हुआ है।

पाणिनि के बाद संस्कृत के वैयाकरणों ने पाणिनि के मार्ग का ही अनुसरण किया। पदविज्ञान में कहीं कोई कुछ नवीनता दीख भी पड़ी, किन्तु ध्वनिविज्ञान पर कोई नया तथ्य सामने नहीं आया। पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि—ये तीन मुनि संस्कृत के सभी वैयाकरणों के आदर्श बने रहे, चाहे वे वैयाकरण पाणिनि की ही अष्टाध्यायी की व्याख्या कर रहे हों, या अपना कोई स्वतन्त्र व्याकरण बना रहे हों। वस्तुतः संस्कृत-भाषा इस प्रकार बद्धमूल हो गई थी कि उसमें कोई परिवर्त्तन, विशेषतः ध्वनिविकार, क्षम्य ही नहीं माना जाता था, उसे शिष्टों की स्वीकृति नहीं मिल सकती थी।

परन्तु परिनिष्ठित संस्कृत-भाषा के बाद जिन वैयाकरणों ने प्राकृत-भाषा का व्याकरण बनाया, उन्होंने संस्कृत के बाद जनता के उच्चारण-प्रवाह से परिवर्त्तित सभी ध्वनि-विकारों को प्राकृत भाषा में मान्यता दे दी। संस्कृत तो सारे भारत की शिष्ट भाषा थी, अतः उसमें प्रायः ध्वनि की एकरूपता अनिवार्य रूप से रखी जाती थी, किन्तु प्राकृत तो अनपढ़ लोगों की बोली थी, इसलिए उसमें क्षेत्रभेद से कई शाखाएँ हो गईं और सब शाखाओं में ध्वनि-परिवर्त्तन की दिशाएँ भी परस्पर भिन्न हुईं। साथ ही वर्णोच्चारण-शिक्षा का अध्ययन नहीं होने से प्राकृत-जनों ने ध्वनियों को खूब विकृत किया। अतः प्राकृत-भाषा

---

१. ४।२।४२।

२. "अपत्येकुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः॥"

३. भियः क्रुक्लुकनौ, ३।२।१७४।

४. इसी सूत्र पर—क्रुकन्नपि वाच्यः।

का ध्वनि-विकार ध्वनिविज्ञानियों के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है, पर यहाँ संक्षेप में इसका भी दिग्दर्शन कराया जायगा; क्योंकि वर्त्तमान उत्तर-भारतीय भाषाओं और राष्ट्रभाषा हिन्दी के सभी ध्वनि-विकार या वर्ण-परिवर्त्तन के उत्स में विविध प्राकृत प्रवृत्तियाँ ही हैं। माणव, भीलुक, तलुन आदि शब्दों से त्रिमुनि ने भी इन्हें मान्यता देना आरम्भ[१] कर दिया था। प्राकृत के वैयाकरण वररुचि, हेमचन्द्र आदि सभी आचार्यों के मत पिशेल के 'कम्परेटिव ग्रामर ऑव द प्राकृत लेंग्वेजेज' में संगृहीत हैं, जिसका डॉ० हेमचन्द्र जोशी-कृत हिन्दी-रूपान्तर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना ने प्रकाशित किया है। इसमें निम्नलिखित ध्वनि-परिवर्त्तन[२] बताये गये हैं :

(१) सभी प्राकृत बोलियों में ऋ, लृ, ऐ, औ प्रायः नहीं होते :—ऋक्ष = रीक्ष, कैवर्त्त = केवट, गौर = गोरा आदि। विसर्ग और बिना स्वर के व्यंजन भी नहीं मिलते। न के स्थान में ण, य के स्थान में ज (शय्या = सेज) तथा श के स्थान में स (दश = दस); (यादृश = जैसा) प्राप्त होते हैं। नई ध्वनियों—ह्रस्व एँ तथा ओँ और स्वतन्त्र ञ का प्रयोग देखा जाता है। संस्कृत से विलक्षण श्त, श्ट, श्क आदि संयुक्त ध्वनियाँ भी उदित होती गई हैं। किन्तु, इतनी परस्पर भिन्न प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं कि इनका निर्धारण कठिन है।

(२) ऋ के स्थान में अ, इ या उ हो जाता है। वृषभ का बसह (भोजपुरी बसहा), मृगाङ्क का मयंक, गृध्र का गिद्ध, शृगाल का सियाल (हिन्दी में सियार), ऋक्ष का रिच्छ (हिन्दी रीछ), पृच्छति का पुच्छदि (हिन्दी में पूछता है) रूप मिलते हैं। अकेले पृष्ठ शब्द के ही अपभ्रंश में पट्ठि, पुट्ठि और पिट्ठि—तीनों रूप मिलते हैं। आज की हिन्दी में इन्हीं से पीठ, पुट्ठा तथा फट्ठा रूप होते हैं। कहीं इस इ उ का ए ओ भी दीखता है, जैसे वृन्त का विण्ट—वेण्ट (हिन्दी बेंट)।

---

१. जोशीजी ने पाणिनि की इन धातुओं को प्राकृत धातु ही माना है—(क) 'अड्ड' अभियोगे—हिन्दी-रूप अड़ना; (ख) 'कड्ड' कार्कश्ये—हिन्दी रूप कड़ा; (ग) 'घिणि' ग्रहणे—प्राकृत-रूप घेण्णई; (घ) 'चक' तृप्तौ—हिन्दी-रूप छकना; (ङ) चप् सान्त्वने—हिन्दी रूप चुप; (च) चुट छेदने—हिन्दी-रूप चूँटी; (छ) जमु अदने—हिन्दी-रूप जीमना; (ज) जुड् बन्धने—हिन्दी-रूप जुड़ना; (झ) टङ्क बन्धने—हिन्दी-रूप टाँकना, टङ्ग गत्यर्थे—हिन्दी-रूप टाँग, टाँगना; धोर् गतिचातुर्ये—हिन्दी-रूप दौड़ना आदि। इस प्रसंग में पीड अवगाहने से बूड़ना, मङ्क मण्डने से माँगना तथा घुण भ्रमणे से घूमना का निर्वचन असंगत लगता है। वस्तुतः ब्रुड् निमज्जने से बूड़ना, मार्ग् से माँगना तथा घूर्ण से घूमना बना होगा। (पृ० ६५-६६) मैथिली में स्थान से ठाम बनता है। अर्थात् न् का म् हो जाता है, यहाँ ण् का म् हो गया।

२. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—अध्याय २ तथा हिन्दी-भाषा का इतिहास अध्याय २ पर आधारित।

(३) ऐ का ए तथा औ का ओ हो जाता है, जैसे कैवर्त्त का केवट, तैल का तेल, मौक्तिक का मोत्तिय (हिन्दी मोती), यौवन का जोव्वण (हिन्दी जोबन), सौभाग्य का सोहग्ग (हिन्दी सोहाग या सुहाग), गौर का गोरा आदि उच्चारण हैं।

(४) प्रायः संयोग के आदि में मात्रपूर्त्ति के लिए अ इ उ का दीर्घ करके संयोग में से एक वर्ण को हटा देते हैं, जैसे श्वश्रू—सासू, फल्गुन—फागुण (हिन्दी फागुन), वल्कल का वागल (हन्दी बाकल), जिह्वा का जीहा (हिन्दी जीभ), दुग्ध का दूध आदि। कभी इ उ का दीर्घ नहीं करके गुण द्वारा भी मात्रा-पूर्त्ति कर लेते हैं; जैसे—कुष्ठ—कोढ़, कुक्षि—कोख, बिल्व—बेल, शिम्बा—सेम आदि। कभी तो दीर्घ ई ऊ का भी ए ओ कर देते हैं, जैसे नीति का नेत (बिहारी), मूल्य का मोल आदि। क्रीड् का खेल सम्भवतः ऐसे ही बना, जिसे पाणिनि ने बाद में धातुपाठ में ले किया।

पिशेल ने अर्धमागधी तथा जैन-महाराष्ट्री शब्द सेढ़ि (हिन्दी सीढ़ी) का मूल सं० श्लिष्ट[1] माना है। मेरी समझ से सीढ़ी का मूल शब्द श्लिष्ट नहीं, श्रेणि है। ण का ड़ की तरह उच्चारण होता ही था, इसीलिए पाषाण से तद्भव पहाड़ बन गया। यह ड़ ही स् के सामीप्य से ढ़ बन गया है। अमरकोश में नि:श्रेणि शब्द सीढ़ी का पर्याय माना गया है, जिसका तद्भव रूप 'नसेनी' ब्रजभाषा में उपलब्ध है। 'श्रेणि' के साथ सीढ़ी का, ध्वनि तथा अर्थ दोनों का साम्य है, श्लिष्ट के साथ नहीं, स्ल का भी नहीं। इसी भाँति संस्कृत में दृक्षति की कल्पना व्यर्थ है। दृश्यते का दृष्यते से अभेद होकर दृक्खइ> दिक्खई बना होगा, इससे देक्ख बन सकता है। कुछ लोगों के विचार से दृश् पर प्रेक्ष् धातु के प्रभाव से यह मिश्रित रूप बन गया है।

अन्तिम अ, इ, उ के स्थान में भी सम्बोधन की प्लुति के लिए, बलाघात के कारण या विसर्ग की क्षतिपूर्त्ति के लिए दीर्घत्व हुआ है। जैसे हे हरे की जगह हे हरी, हे प्रभो की जगह हे पहू, हे पुत्र का हे पुत्ता हो गया है। प्रथमा एकवचन में भी भ्रमर का भमरा, भिक्षुः का भिक्खू, गुरुः का गुरू रूप मिलता है। अश्रु का अंसू (महाराष्ट्री प्रा०), आँसू (हिन्दी) यही प्रवृत्ति हिन्दी में संस्कृत के सभी अकारान्त पुंल्लिंगों को आकारान्त बना देती है।

कहीं संयोग नष्ट करने पर पूर्व स्वर का दीर्घत्व नहीं कर अनुस्वार से भी मात्रा-पूर्त्ति कर लेते हैं, जैसे पक्ष—पंख, शर्करा का कंकड़ आदि; और कहीं अनुस्वार की जगह भी दीर्घत्व कर देते हैं; जैसे दंष्ट्रा का प्राकृत दाढ़ा (हिन्दी दाढ़), त्रिंशत् का तीस आदि।

(५) कहीं दीर्घ स्वर के ही स्थान पर ह्रस्व हो जाता है, जैसे कुमार का कुमर (हिन्दी कुँअर), आभीर का अहीर, शनैश्चर का सणिच्चर (हिन्दी सनीचर) आदि।

कभी दीर्घस्वर हटाकर वहाँ ह्रस्व कर दिया जाता है और आगे के वर्ण का द्वित्व कर संयोगपूर्ववर्त्ती का गुरुत्व सुरक्षित रखा जाता है। सम्भवतः यह शुद्ध उच्चारण के भ्रम से किया जाता है। जैसे पीठ का पूर्व रूप पिट्ठ, पूछ का पुच्छ तथा भात का भत्त होता है।

१. पृ० १२८, अनुच्छेद ६६।

है, वैसे ही लोगों ने समझा होगा कि खात का पूर्व रूप खत्त है (हिन्दी खड्डा)। उसी भाँति क्रीडा का किड्डा, स्थूल का थुल्ल आदि प्रयुक्त हुए होंगे।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ संयोग का प्रयोग शुरू हुआ, वहाँ पूर्वाक्षर को ह्रस्व कर दिया गया; जैसे दीयते—दिज्जई, मही + इति – महीति—महित्ति, मही + इव – महीव – महिव्व, एषा खलु – एसाखु या एसक्खु आदि।

(६) अ का इ हो जाता है; जैसे उत्तम>उत्तिम, मध्यम>मज्झिम, शल्क>छिलका, चटका>चिड़िया, लवण>नमक>निमक, गणना>गिनना, पञ्जर>पिञ्जर, ललाट>लिलार आदि। पिशेल का यह कहना[1] ठीक नहीं कि छतिवन का मूल सप्तपर्ण नहीं छत्रि पर्ण है। जैसे शकट से छकड़ा, शावक से छौआ, शिम्बि से छीमी, शल्क से छिलका आदि में श् का छ् हुआ है वैसे ही यहाँ सप्त>सत्त>छत बना है। बच्चे सात को छात, सब को छब बोलते हैं। इसके विपरीत फारसी में छाया का साया हो गया है। षट्षष्टि को कोई छासठ कहता है तो कोई छाछठ। अतः सप्तपर्ण का ही स् का छ् होकर तथा उत्तम से उत्तिम की भाँति त का ति होकर छतिवन बना है, कोई छतवन भी कहता है। संस्कृत में 'सप्तपर्ण' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है, 'छत्रिपर्ण' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं, अतः इसकी कल्पना निरर्थक ही नहीं, अनैतिहासिक भी है।

(७) अ का उ भी हो जाता है; जैसे—प्रथम—पुढम, पलाल का पुआल आदि। रामचरितमानस में (विना—बिन—) बिनु, (पद— पग—) पगु, (यस्य—जस्स—), जासु आदि प्रयोग तथा प्रनामू, नामू आदि प्रयोग खूब मिलते हैं।

(८) कभी अ के स्थान में इ उ के गुणरूप ए ओ भी हो जाते हैं; जैसे नकुल—नेवला, कर्कट—केंकड़ा, धनुष—धेनुखा (बिहारी), कञ्चुक—केंचुल, मञ्जर—मोजर, मह्य—मोहि, वद्—बोल आदि। इसी भाँति कन्दुक शब्द से गंदुक, गेंदुक, गेन्दुक, गिन्दुक, गेण्डुक आदि सभी शब्द निकले हैं। इन शब्दों के लिए पिशेल[2] की संस्कृत में कहीं भी नहीं प्राप्य गिद् तथा गिड् धातुओं की कल्पना उपहासास्पद है। हेमचन्द्र ने इन्हें कन्दुक का ही अपभ्रंश माना है, और परम्परा के ज्ञान के लिए पिशेल से अधिक हेमचन्द्र ही विश्वसनीय हैं। धातुपाठ में कन्द् प्राप्य है, और पद् से पादुका की भाँति कन्द् से कन्दुक की निष्पत्ति सुलभ है।

(९) अ की भाँति आ का भी इ या एँ तथा उ या ओँ हो जाता है। मात्र का अपभ्रंश कहीं मत्त, कहीं मित्त तथा कहीं मेत्त मिलता है; जैसे वितस्तिमात्र—विहत्थिमित्त, स्वादनमात्र—सायणमित्त; अतिमात्रम् का अदिमेँत्तं। पृच्छामि का पुच्छिमि, तासाम् का तासि आदि। सास्ना का सुण्हा, आर्या का अज्जू आदि। इस प्रसंग में पिशेल 'सेमल' को संस्कृत 'शाल्मली[3]' से नहीं, वैदिक 'सिम्बल' से उद्भूत मानते हैं तथा 'परेवा' को संस्कृत

---

१. पृ० १८८, अनुच्छेद १०३।
२. पृ० १९४, अनु० १०६।
३. पृ० १९७, अनु० १०८।

'पारावत[१]' से नहीं, 'पारेवत्त' से। आ का विकार ए सिद्धान्ततः स्वीकार कर लेने के बाद भी उनका यह आग्रह है। पता नहीं क्यों, ऐसी प्रवृत्ति पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों में पाई जाती है कि क्षेत्रीय बोलियों का उत्स वे परिनिष्ठित संस्कृत से दूर-दूर ही ढूँढ़ना, प्रमाणित करना चाहते हैं। इसी तरह वे शौरसेनी उल्ल, महाराष्ट्री ओ॑ल्ल, संस्कृत आर्द्र[२] से नहीं, बल्कि उद् या उन्द् धातु से निष्पन्न उद्र शब्द से उद्भूत मानते हैं। यह पारेवत या उद्र कहीं संस्कृत में प्रयुक्त नहीं मिलता, उद्र का समुद्र में प्रयोग है, और पारे का पारेगङ्ग में। हिन्दी में छागो का छेरी, दायाद का देयाद, अन्धकार—अन्धेरा, सकाले—सकेरे (बिहारी) आदि; संस्कृत में राज् का रेजतुः, तथा देय, गेय, मेय, पेय आदि में आ का एकारादेश बहुत उपलब्ध है। इसी तरह हिन्दी में धावी का धोबी, खाद का खोर, भात (प्रभात) का भोर, संस्कृत में भी सह्+त्वा > साढ्वा का सोढ्वा, सह्+ता > साढा का सोढा हो जाता है। इस भाँति आर्द्र का भी ओद (बिहारी) बन सकता है। संस्कृत के सामि का ही लैटिन में सेमि (semi) तथा ग्रीक में हेमि (hemi) हो जाता है। संस्कृत द्वार का अंगरेजी में डोर (door) तथा रूसी में द्वोर हो जाता है। भोजपुरी में एक शब्द है 'बिदोरना', जो बिदारना (विदारयति) से बना है। संस्कृत में ए तथा ओ का आ होना भी आह्वे से आह्वान, सो से सान (अवसान), गो से गाम् आदि में पीछे दिखाया जा चुका है। यथा, तथा के अपभ्रंश जठ्, तठ् भी मिलते हैं, जिठ्, तिठ् भी। हेमचन्द्र[३] ने यदा, तदा का अपभ्रंश जइ, तइ बताया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जइ सम्भवतः यदि का अपभ्रंश है और उसीके आधार पर तब, कब के लिए तइ, कइ शब्द बन गये हैं। संस्कृत में यदि की भाँति तदि, कदि नहीं हैं। इस प्रसंग में पिशेल का यह कहना संगत नहीं लगता है कि महाराष्ट्री तथा अर्धमागधी जइआ, तइआ तथा कइआ के मूल हैं, क्रमशः ययिदा, तयिदा तथा कयिदा, जो स्वयं यया+दा, तया+दा और कया+दा से क्रम से उद्भूत हैं। यह दूरारूढ कल्पना पाश्चात्यों की एक बीमारी-सी हो गई है। पिछले पृष्ठों में हम दिखा आये हैं कि संस्कृत में स्वरों तथा अर्धस्वरों का मध्यागम खूब होता था। और इ तो इन आगमों का शिरोमणि ही था, जिसके व्यापक प्रयोग के कारण धातुओं में दो विभाग ही हो गये—सेट् और अनिट्। इनमें सेट् धातुओं की संख्या अनुपात में अत्यधिक है, यहाँ तक कि अनिट् धातुओं कृ, गम् आदि को भी करिष्यति, गमिष्यति आदि में इ के आगम का स्वागत करना पड़ता है। यहाँ भी यदा, तदा, कदा में मध्यागम इ के कारण ही जइआ, तइआ, कइआ रूप बन गये हैं, जिनका बिहारी रूप है जहिआ, तहिआ, कहिआ। बिहार में इ का आगम अधिक प्रचलित भी है। मिथिला में पानी को पाइन कहते हैं, आज को आइ, कल को काइल, दाल को दाइल। छोटानागपुर में भी इ का आगम आदिवासियों की भाषा में पाया जाता है।

---

१. पृ० १६६, अनु० १११।
२. पृ० १६८, अनु० ११०।
३. पृ० २०१, अनु० ११२।

वैसे खड़ी बोली में तरना—तइरना—तैरना, पाद—पाइर—पैर आदि में भी यह प्रक्रिया देखी जाती है।

एक और बात है। यदा, तदा, कदा अर्थ में यहि, तहिं, कहिं शब्द भी संस्कृत में प्राप्त हैं, इनके भी विकार जइ या जइया आदि हो सकते हैं।

(१०) इ का अ भी हो जाता है। प्राकृत-व्याकरणकारों ने इसके बहुत-से उदाहरण दिये हैं। पर पिशेल[१] इस विकार को स्वीकृति नहीं देते, उनका कहना है कि 'इ का अ में परिणत हो जाने का व्याकरणकारों ने उल्लेख किया है। (वररुचि १, १३-१४, हेमचन्द्र १, ८८—९१ आदि)। इस प्रकार के बहुत कम शब्द ग्रन्थों में मिलते हैं और जो मिलते हैं, उनपर दूसरा नियम लागू होता है'। उदाहरणार्थ पिशेल का विचार है कि बहेडह की उत्पत्ति बिभीतक से नहीं, बल्कि बहेटक से हुई है। इसी प्रकार शिथिल से नहीं, शृथिल से सढिल बना है। आश्चर्य है कि पिशेल संस्कृत में अतिप्रचलित बिभीतक तथा शिथिल शब्दों से बहेडह तथा सढिल शब्दों की उत्पत्ति क्यों नहीं मानते? निरुक्त में भिद् धातु से विभीतक[२] बनाया गया है, उसका सरलता से बहेडह—बहेड़ा बन जायगा। इ से अ बनने के बहुत-से उदाहरण हैं। पिशेल समझते हैं कि हरिद्रा से हलद्दा इसलिए बना है कि रि का उच्चारण ऋ की तरह होता है, और ऋ के स्थान में अ, इ, उ कई वर्ण होते हैं। किन्तु भगिनी से बहन, पहिन से पहन, गभीर से गहरा, वधिर से बहरा, बहिर से बाहर, शिर से सर आदि किस प्रकार बने हैं? इसी भाँति दुगुना से दुगना, समुझना (सम् बुध्) से समझना, उनइस (उन्नीस) से अनइस (भोज०), बिजुली से बिजली, कबुँर से कबरा (चितकबरा) आदि में उ का भी अ आदेश देखा जाता है। बल्कि इ का उ तथा उ का इ भी देखा जाता है; जैसे वृश्चिक > बिच्छुअ, पुरुष > पुलिस।

(११) कहीं-कहीं समीकरण (assimilation) के कारण भी एक स्वर के स्थान में दूसरा स्वर हो जाता है; जैसे इक्षु[३]—उच्छु, शिशु—सुसु, इषुकार—उसुगार। इसी भाँति कहीं विषमीकरण (dissimilation) के कारण भी स्वर-परिवर्त्तन होता है; जैसे पुरुष—पुलिस[४], मुकुल—मउर[५], गुरुक—गरुअ, विहीन—विहूण[६], नुपूर—नेउर आदि। विषमीकरण के कारण भी बिभीतक का बहेड़ा तथा शिथिल का सढिल हो सकता है। पर बिना समीकरण या विषमीकरण के भी इ का उ, तथा उ का इ होना देखा जाता है; जैसे किछ का कुछ, पुनः का फिर आदि।

१. पृ० २०३, अनु० ११४।
२. " " ९—१।
३. पृ० २०४, अनु० ११६।
४. पृ० २१५, अनु० १२३।
५. पृ० २१३, अनु० १२२।
६. पृ० २०६, अनु० ११६।

(१२) विप्रकर्ष से संयोग टूट जाने पर स्वर का आगम (anaptyxis) भी होता है; जैसे ग्रहण—गरहण[१], मूर्ख—मुरुख[२], नग्न—नगिण[३], स्निग्ध—सिणिद्ध, स्नुषा—सुनुसा आदि। कहीं यह स्वरागम शब्द के आदि में (prothesis) भी हुआ है; जैसे स्नान—असिणाण।[४]

(१३) इसी स्वरलोप (elision) के भी स्थल बढ़ते गये हैं; जैसे संस्कृत में भागुरि ने अपिधान[५]—पिधान, अवगाह—वगाह की ओर ध्यान आकृष्ट किया था (और पाणिनि ने स्तः, सन्ति आदि की ओर)। उसी से अपिनद्ध—पिनद्ध—पिनह—पिहन—पहिन—पहन बना। परन्तु प्राकृत-काल में अव तथा अपि उपसर्ग के अ से भिन्न भी आकार का, साथ ही इकार-उकार का भी लोप (aphesis) होने लगा; जैसे अपक्रामति[६]—वक्कमइ, अरघट्ट[७]—रहट्ट (रहट), उपानहो—पाणहाओ[८](पनही), उपवसथ[९]—पोसह, उदक—दक[१०], अरिष्ट—रिठ्ठ,[११] इदानीम्—दाणि[१२], लभेयम् इति—लहेअंति[१३], पुत्रम् इव—पुत्तं व आदि। यह स्वरलोप मध्य में भी खूब मिलता है (sincope); जैसे—कलत्र—कल्त्र[१४]—कत्त, सुरभि—सुब्भि आदि। पाणिनि ने भी जगमतुः>जग्मतुः, वृत्रहन>वृत्रघ्न आदि में इसका संकेत किया है। पर अक्सर मध्यस्वरलोप के साथ मध्यवर्ती व्यंजनों का भी लोप हो जाता है; जैसे पितृष्वसृका, मातृष्वसृका से पिउस्सिया—माउस्सिया>पुप्फिआ, मासिया आदि रूप आये हैं, भ्रातृजाया से भाउज्जा, उदूखल से उक्खल आदि। यह लोप कभी-कभी पूरे अक्षर (syllable) का भी हो जाता है; जैसे—दुहिता—धीया, शिथिल—ढिल्ल, दुर्गादेवी—दुग्गावी[१५] आदि। मज्झण्ण मध्याह्न का ही विकृत रूप है, मध्यंदिन का नहीं।

(१४) संप्रसारण[१६]—संस्कृत में ही संप्रसारण का खूब प्रचलन था, पर प्राकृत काल में इसमें भी अत्यधिक वृद्धि हुई; जैसे—त्वरित—तुरिद, स्वप्न—सुविण, स्वर्णकार—सोणार, अवश्याय—ओसा, सलावण्य—सलोण, नयतु—णेदु आदि।

(१५) अनुस्वार[१७] कभी विसर्ग की जगह कभी किसी व्यंजन की जगह आ जाता है; जैसे देवेभिः—देवेहि, अग्निः—अग्गिं, यावत्—जावं आदि। कभी न् की जगह भी,

---

१. पृ० २२३, अनु० १३१।
२. पृ० २२२, अनु० १३०।
३. पृ० २२५, अनु० १३२।
४. पृ० २२५, अनु० १३२।
५. "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः। आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥"
६. पृ० २२७, अनु० १३४।
७. वही
८. पृ० २२६, अनु० १३३।
९. वही।
१०. वही।
११. पृ० २२८, अनु० १३४।
१२. पृ० २३०, अनु० १३६।
१३. पृ० २२६, अनु० १३५।
१४. पृ० २३३, अनु० १४०।
१५. पृ० २३७, अनु० १४१।
१६. पृ० २३९—२४४, अनु० १४३—४७।
१७. पृ० २७३—२७९, अनु० १७०—१७५।

जैसे दधीनि—दहीइं, मधूनि—महूईं। कभी तो अकारण भी अनुस्वार आ जाता है; जैसे अद्य—अज्जं, इह—इहं, प्रभृति—पभिइं, उपरि—उवरिं आदि। न् म् की जगह कभी अनुनासिक भी होता है; जैसे कमल—कवँलु, यानि—जाइँ आदि। प्राकृत-काल में स्वरों की तरह व्यंजनों में भी विकारों के रूप और स्थल काफी बढ़ गये हैं।

१. न् कहीं भी आये तो उसका ण् हो जाता है; जैसे निम्बफल—णिंबफलु[१], अनङ्ग—अणंग[२], प्रश्न—पण्ह[३]। इसी भाँति श् या ष् कहीं भी आवे तो उसका स् हो जाता है; जैसे वंशपत्र[४]—वंसवत्त, शुक—सुक[५], दश—दस, पुरुष—पुलिस। पर मागधी में स् का ही श् हो जाता है। बँगला पर इसी का प्रभाव पड़ा है। श् का छ् भी होता है, शाव—छाव।

२. आदि में प्रायः सभी शेष व्यंजन अपरिवर्त्तित[६] रहते हैं, पर य का ज हो जाता है। जैसे आर्यपुत्र—अज्जपुत्त[७], यः—जो, यादृश—जैसा। र् का प्रायः ल् होता है (मागधी में), तरुण—तलुन, पुरुष—पुलिश आदि।

३. प्रथमाक्षर का तृतीयाक्षर (vocalization)—नायकः>णाअगु (शाक> साग), आगतः>आगदो (तात—दादा), प्रभूत>बहुत। बल्कि यह प्रवृत्ति सम्भवतः वैदिक काल से ही आ रही है; जैसे कर्त्त[८]> गर्त्त, लोक>लोग[९], तादुर[१०]>दादुर, तटाक[११] >तडाग, नाभाक[१२]>नाभाग, कपाट>कवाट, पणिक्>वणिक्, प्रभूत>बहुत्त[१३] आदि शब्दों में दोनों रूप मिल रहे हैं।

४. प्रथमाक्षर का द्वितीयाक्षर, जैसे कर्पर>खप्पर[१४], कील>खील, कट्टु>खट्टा, तृप्यते<थिप्पइ[१५], तृम्पति>थिम्पइ, परशु>फरसु[१६], परुष>फरुस, परिखा>फलिहा, शेप> शेफ[१७] (शुनः शेप)। फाड़ना भी पाटयति से बना है। हेमचन्द्र ने १-१९८ से पाटयति का ही फाडेइ रूप बनाया (पृ० ३१२, अनु० २००) है। पिशेल का स्फाटयति से इसे बनाना ठीक नहीं, स्फट् धातु इस अर्थ में नहीं पढ़ा है, पट् धातु विशरण अर्थ में पठित है, साथ ही महाभारत, शान्तिपर्व में ३६४। १३ में पाटयन् (फाड़ते हुए) शब्द प्राप्त भी है।

---

१. पृ० २८०, अनु० १७६।
२. पृ० २८२, अनु० १७७।
३. पृ० २८३, अनु० १७७।
४. पृ० २८०, अनु० १७६।
५. पृ० २८४, अनु० १७८।
६. पृ० २८०, अनु० १७६।
७. पृ० २८९, अनु० १८४।
८. कर्त्तम् अन्वस्य—ऐ० ब्रा०, ३७।७।
९. इमं लोगम्—ऋग्०, १०।१८।१३।
१०. अथर्व०, ४।१५।१४।
११. महाभारत, अनु० ९६।
१२. ऋ०, ६।३।२६।
१३. पृ० २८१, अनु० १७६।
१४. पृ० ३०५, अनु० १९८।
१५. पृ० ३०९, अनु० १९९।
१६. पृ० ३११, अनु० २००।
१७. महा०, शान्ति०, ३५।२०।

५. कभी प्रथमाक्षर तृतीयाक्षर से होता हुआ चतुर्थाक्षर में भी परिणत हो जाता है; जैसे चिपिट—चिमिढ[1], सटा—सढा, भरत—भरध, कपाल—कमल्ल[2], कच्छप—कच्छभ।

६. प्रथमाक्षर का पंचमाक्षर तो संस्कृत-काल से ही आ रहा है। जैसे चिपिट—चिमिढ, आपीड—आमेठ[3] आदि। कभी पंचमाक्षर भी प्रथमाक्षर हो जाता है; जैसे रुक्म—रुप्प, कुड्मल—कुम्पल[4]।

७. द्वितीयाक्षर का भी प्रथमाक्षर होता है—शृङ्खल—संकल[5], छुबुक[6]—चिबुक, स्वादिष्ठ—स्वादिष्ट आदि।

८. तृतीयाक्षर[7] का भी प्रथमाक्षर होता है; जैसे गगन—ककन, जीमूत—चीमूत, डमरुक—टमरुक, दामोदर—तामोतर, छर्दि—छत, बिस—पिस। इसी रीति से बिभीदक से बिभीतक हुआ है[8]। पाणिनि ने भी शादयति से शातयति बनाया है।

९. द्वितीयाक्षर का चतुर्थाक्षर[9] होता है—सुख—सुघ, कथित—कधित, सफलकम्—सभलउँ, पिठरक—पिढरग, पठ्—पढ़।

१०. चतुर्थाक्षर का भी द्वितीयाक्षर[10] होता है—घर्म—खम्म, झर्झर—छच्छर, धूली—थूली, भगवती—फकवती आदि।

११. क ग च ज त द प ब य व का तो प्रायः लोप[11] ही हो जाता है; जैसे लोक—लोअ, तुरग—तुरअ आदि।

१२. तृतीयाक्षर भी चतुर्थाक्षर में परिवर्त्तित[12] होता है; जैसे गायन—घायण, शृंगाटक—सिंघाडग, बुवक्—भुक्क आदि।

१३. चतुर्थाक्षर का भी तृतीयाक्षर होता है; जैसे भीषण[13]—बीहण, भगिनी—बहिन आदि।

१४. कवर्ग का चवर्ग[14] तथा चवर्ग का कवर्ग भी हो जाता है; जैसे किरात—चिलाअ। —त्याज—त्याग।

१५. कवर्ग का पवर्ग[15] तथा व भी होता है; जैसे किसलय—पिसल, युगल—जुवल आदि।

---

१. पृ० ३०६, अनु० १९९।
२. पृ० ३१२, अनु० २००।
३. पृ० २१२, अनु० १२१।
४. पृ० ३९८, अनु० २७७।
५. पृ० ३१६, अनु० २०५।
६. ऐ० आ०, १।२।४।
७. पृ० २८७, अनु० १८३।
८. निरुक्त, ६।८।
९. पृ० २८६, अनु० १८४।
१०. पृ० २८७, अनु० १८३।
११. पृ० २८४, अनु० १७८।
१२. पृ० ३१३, अनु० २०१।
१३. पृ० ३१६, अनु० २०५।
१४. पृ० ३३६, अनु० २२२।
१५. पृ० ३२१, अनु० २०७।

१६. तवर्ग का चवर्ग[1] तथा चवर्ग का तवर्ग होता है; जैसे चिकित्सा—तेइच्छा, ज्योत्स्ना>दोसिणा तथा तिष्ठति>चिट्ठइ, विद्याधर—विज्जज्झर, जुगुप्सा>दुगुंछा। इसी भाँति जामाता से दामाद बन गया है।

१७. इसी भाँति दन्त्य[2] से मूर्धन्य तथा मूर्धन्य से दन्त्य भी हो जाता है; जैसे पतन—पडण, दश्—डंस, दाह—डाह, दंड—डंड, दोला—डोला, दर—डर तथा कुटुम्बक—कुतुम्बक, तरुणी—तलुनी, तडाग—तळाव, क्रोड—गोद आदि।

१८. तालव्य[3] का भी मूर्धन्य रूपान्तर होता है; जैसे प्रतिज्ञा—पइण्णा आदि।

१९. द्वितीय[4] और चतुर्थ अक्षरों का ह भी होता है, तथा ह् का भी द्वितीय या चतुर्थ अक्षर होता है; जैसे मुख—मुह, मेघ—मेह, यूथ—जूह, वधू—बहू, शफर—सहर, सभा—सहा आदि तथा सिंह—सिंघ, गुहा>गुफा आदि।

२०. श ष स[5] का कभी ह् कभी चवर्ग (छ्) हो जाता है; जैसे एकादश—एगारह, पाषाण—पहाड़, धनुष—धनुही, एकसत्तर—ऍकहत्तर आदि तथा शावक—छौआ, शल्क—छिल्का, षष्—छह, सप्तपर्ण—छतिवन, सहृदय—छइल्ल आदि। फारसी में इसके विपरीत छाया का ही साया हो गया है।

वस्तुतः समीकरण, विषमीकरण, ऊष्मीकरण, अनूष्मीकरण, घोषीकरण, अघोषीकरण तथा अनुनासिकीकरण आदि रीतियों से मुख-सुखार्थ अथवा अज्ञानवश किस वर्ण का कौन-सा वर्ण हो जायगा, कहना कठिन है (यष्टि>लट्ठी आदि)। संयुक्त[6] व्यंजनों में कहीं पूर्वगामी समीकरण, कहीं पश्चगामी समीकरण की पद्धति है—

१. पूर्वगामी : अग्नि—अग्गि, चक्र—चक्क, नक्तंचर—नक्कंचर, त्रुट्यति—तुट्टइ, छत्र—छत्ता आदि।

२. पश्चगामी : सप्त—सत्त, भक्त—भत्त, सर्प—सप्प, भद्र—भद्द, दुग्ध—दुद्ध, उत्पल—उप्पल, शब्द—सद्द आदि।

३. इस समीकरण से सम्भवतः अनजान लोगों को यह भ्रम हुआ कि जहाँ दो समान व्यंजन हैं, वहाँ वस्तुतः एक विजातीय का रहना ही शुद्ध रूप है, इससे विषमीकरण शुरू हुआ, जैसे भट्टारक—भश्टालअ, पट्ट—पस्ट।

४. कभी दोनों संयुक्त मिलकर एक भिन्न ही संयुक्त ध्वनि बनाते हैं; जैसे पञ्च—

---

१. पृ० ३२१-२२, अनु० २०७-२०८।
२. पृ० ३२२, अनु० २१० तथा पृ० ३३५, अनु० २१७।
३. पृ० ३२७, अनु० २१२।
४. पृ० २८५, अनु० १८०।
५. पृ० ३७७, अनु० २६२।
६. संयुक्त व्यंजन-सम्बन्धी सभी विकार पृ० ३८४ से ४७० तक वर्णित हैं (अनुच्छेद २६८ से ३३४ तक)।

पण्ण, यज्ञ—जण्ण, आत्म—अप्प, नेपथ्य—नेवच्छ, मध्य—मज्झ, गर्त्त—गड्ड, मिष्ट—मिट्ठ आदि।

५. कभी इनमें से एक का लोप कर दिया जाता था; जैसे च्युत—चुव, ग्राम—गाम, द्वादश—बारह, स्खलित—खलिय आदि।

६. कभी दोनों संयुक्त ध्वनियों के स्थान में एक असंयुक्त ध्वनि भी हो जाती है; जैसे स्तन—थण, स्कम्भ—खम्भ, वेष्टन—वेढण, स्थित—ठिद, स्पृशति—फुसइ आदि।

७ और कभी बीच में स्वरागम कर संयोग ही नष्ट कर देते हैं; जैसे भक्त—भगत, सर्प—सरप, दीर्घ—दीरघ, शब्द—सबद आदि।

८. जहाँ समीकरण से एक ही वर्ण दो बार आ जाता है, वहाँ एक का लोप कर पूर्ववर्त्ती स्वर का, क्षतिपूर्त्ति के लिए (गुरुत्वार्थ) दीर्घ कर देते हैं; जैसे अद्य—अज्ज—आज, सत्य—सच्च—साँच, भक्त—भत्त—भात, कर्म्म—कम्म—काम, अग्नि—अग्गि—आग आदि।

९ कुछ लोग अज्ञान से शुद्ध उच्चारण के भ्रम से इससे विपरीत क्रिया कर देते हैं; जैसे वानर—वन्नर—बन्दर, सुनर>सूनर>सुन्नर>सुन्दर; खात—खत्त—खत्ता—खड्डा; दादुर—दर्दुर।

१. प्राकृत में कभी आदि में किसी वर्ण का आगम[1] भी होता है; जैसे इव—विव, एव—येव, ऊढ—वूढ, ओष्ठ—हुट्ठ आदि।

२. कभी आदि[2] के वर्ण का लोप भी हो जाता है, जैसे यूका—ऊका; इव—व, अपि—वि आदि।

३. अन्तिम स्वरहीन व्यंजन का प्रायः[3] अवश्य लोप होता है; जैसे मनाक्—मणा, यावत्—जाव, पश्चात्—पच्छा आदि।

४. प्राकृत में स्थान[4]-परिवर्त्तन भी वर्णों में खूब होता है; जैसे ह्रद—द्रह—दह; महाराष्ट्र—मरहट्ठ; वाराणसी—वाणारसी, लघुक—हलुअ, ऊष्म—ऊमस, अभ्रक—अबरख। भरत मुनि ने भी अपने नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में ध्वनिविकारों की चर्चा करते हुए कहा है : "आपानम् आवाणं भवति पकारेण वत्वयुक्तेन, परुषं फरुषं विद्यात् पकार वर्णोऽपि फत्वमुपयाति।"

पिशेल-लिखित तथा हेमचन्द्र जोशी-अनूदित 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' में पृ० ९५ से ५०२ तक (अनु० ४५ से ३५४ तक) ध्वनि-विकारों का बड़े विस्तार से वर्णन है। वर्माजी ने भी 'हिन्दी-भाषा का इतिहास', अध्याय २ में 'हिन्दी-ध्वनियों का इतिहास' देकर ध्वनि-विकार का अच्छा संग्रह प्रस्तुत किया है।

●

---

१. पृ० ४७६, अनु० ३३५।
२. पृ० ४७६, अनु० ३३५।
३. पृ० ४८०, अनु० ३३९।
४. पृ० ५००, अनु० ३५४।

पद-विज्ञान
निरुक्ति-विज्ञान

पहले कह आये हैं कि वेदों की व्याख्या के लिए ही वेदाङ्गों का प्रणयन हुआ था। अति प्राचीन वैदिक वाङ्मय के लिए दो समस्याएँ थीं—एक यह कि जो इन्हें पढ़े वह इनका अर्थ समझे और दूसरी यह कि जो इनका उच्चारण करे वह इतना शुद्ध करे कि श्रोता भी शब्दों का ठीक तात्पर्य और ध्वनि ग्रहण कर सके। शुद्ध उच्चारण के लिए जहाँ **'मन्त्रोहीनः**[1] (या दुष्ट शब्दः) **स्वरतो वर्णतो वा०'**, **'आहिताग्निरपशब्दं**[2] **प्रयुज्य०'**, **'यस्तु प्रयुङ्क्ते**[3] **कुशलो विशेषे०'** आदि घोषणाओं से लोगों को जागरूक किया जा रहा था, वहाँ शुद्ध अर्थ-बोध के लिए **'स्थाणुरयम्**[4] **भारहार.'**, **'यदगृहीतमविज्ञातं०'**,[5] **'उतत्वः**[6] **पश्यन्०'**, **'उत त्वं सख्ये०'**[7] आदि उक्तियाँ लोगों को प्रेरित कर रही थीं। शुद्ध उच्चारण के लिए ध्वनियों का अध्ययन आवश्यक था और उसके लिए शिक्षा (तथा प्रातिशाख्य) का विशाल वाङ्मय निर्मित हुआ। इसी प्रकार अर्थज्ञान के लिए भी एक नया वेदाङ्ग स्थापित हुआ—निरुक्त। शिक्षा और प्रातिशाख्य ने एकाकी ध्वनियों की उच्चारण-विधि के लिए जहाँ उनका स्थान प्रयत्नादि बताया, वहाँ आगे-पीछे की दूसरी ध्वनियों के सम्पर्क से उत्पन्न विकारों की भी चर्चा की। ये सन्धिविकार तथा उदात्तादि स्वर एकाकी ध्वनियों में नहीं हो सकते थे, इनके अध्ययन के लिए ध्वनि-समुदाय, रूप, शब्द का ज्ञान और विश्लेषण आवश्यक था। इधर पदपाठ ने पदों को पृथक्-पृथक् कर दिया था, उनमें सन्धि-समास हटाकर उनका मूल दिखा दिया था, पर उनका अर्थ जाने विना यह सब वेदार्थ-बोध में विशेष सहायक नहीं हो सका। इस प्रकार शिक्षा, वेदाङ्ग तथा पदपाठ आदि ने भी अपने अगले सोपान के लिए निरुक्त वेदाङ्ग को आवश्यक बना दिया।

निरुक्त का अर्थ :

निरुक्त का अर्थ है निर्वचन अर्थात् किसी शब्द का अर्थ क्या है और कैसे है—यह बताना। लाघव से अर्थबोध कराने के लिए अनेक शब्दों में रहनेवाले (अनेकनिष्ठ) तुल्य

---

१. महाभाष्य का पस्पशाह्निक।
२. वहीं।
३. वहीं।
४. निरुक्त, १।१८।
५. महाभाष्य का पस्पशाह्निक।
६. ऋ०, १०।७१।४।
७. ऋ०, १०।७१।५।

आदिभाग तथा अन्तभाग की पहचान की गई। कोई भी सोने का हार, कर्णभूषण, अंगूठी आदि देखकर यह समझ जाता है कि इन सबमें एक ही धातु है सोना; केवल आकृति का भेद है, यह विकार-मात्र है। इसी तरह सोने की अंगूठी, चाँदी की अंगूठी और पीतल की अंगूठी देखकर वह समझ लेता है कि इनमें केवल आकृति ही एक है, मूल वस्तु सबमें भिन्न-भिन्न है। इसी भाँति लोगों ने देखा होगा कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्निम्, अग्निः, अग्निना, अग्ने—इन चारों में आदिभाग एक ही है अग्नि; इसी भाँति देवम्, देवान्, देवेषु, देवः, देवेभिः—इन सबका आदिभाग एक ही है देव। साथ ही, यह भी देखा होगा कि पुरोहितम्, देवम्, ऋत्विजम्, पोषम्, यज्ञम्, भद्रम् आदि में एक ही अन्तभाग है अम् और पूर्वेभिः, ऋषिभिः, देवेभिः में एक ही अन्तभाग है भिः। ऐसे सैकड़ों उदाहरण देखकर शीघ्र ही लोगों ने सोच लिया होगा कि किसी भी शब्द में दो खण्ड हैं—आदिभाग तथा अन्तभाग। आदि को ही प्रकृति कहा गया; क्योंकि यह सांख्य की प्रकृति की भाँति मूल रूप था, और अन्तभाग को प्रत्यय कहा गया; क्योंकि इसी से उसकी आकृति की पहचान होती थी। फिर लोगों ने यह भी देखा होगा कि अन्तभाग के दो रूप हैं—'वक्षति', 'गच्छति' आदि क्रियापदों में अन्त में ति दीखता है; असि, करिष्यसि में सि। ये शब्द भी भिन्न प्रकार के हैं और इनके आदि तथा अन्त दोनों भाग भी। अतः इन क्रियापदों के आदिभाग को धातु कहा गया। ये प्रत्यय कुण्डल, हार आदि की भाँति आकार हैं तथा ये आदिभाग सोना, चाँदी आदि की तरह मूल धातु। इस प्रकार क्रमशः लोगों को शब्दों में दो प्रकारों—वस्तुवाचक तथा व्यापारवाचक और शब्दखण्डों में दो प्रकारों—प्रकृति या धातु तथा प्रत्ययों का ज्ञान होने लगा। इन शब्दों में अग्नि के इ का कहीं इ रहना कहीं ए हो जाना, देव के अ का कहीं अ, कहीं आ, कहीं ए हो जाना भी इनके अर्थभेद का ही सहचर दीखने लगा। अतः इसके अध्ययन के लिए एक अलग वेदाङ्ग चलाना पड़ा, जिसमें यह विचार हो कि यह शब्द किस प्रकार का है—वस्तुवाचक या व्यापारवाचक, इसमें प्रकृति क्या है और प्रत्यय क्या है, क्या विकार हो गया है, इसका अर्थ क्या है आदि।

निघण्टु :

इसके लिए सबसे पहला काम था प्रत्येक नये शब्द का संग्रह कर एकत्र रखना, तभी तो उनमें एक प्रकृति-भाग अथवा प्रत्यय-भाग का अध्ययन हो सकता था। इस प्रकार कोशग्रन्थों का निर्माण आरम्भ हुआ। यह भी भाषाविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वैदिक कोश को 'निघण्टु' कहते हैं तथा उसके शब्दों का निर्वचन, अर्थ-निर्धारण ही 'निरुक्त' कहलाता है। आजकल तो अँगरेजी-हिन्दी में जितने भी कोशग्रन्थ हैं, सबमें शब्दकोश (Vocabulary) तथा अर्थ दोनों ही दिये रहते हैं। साथ ही उनका मूल, निर्वचन, लिंग आदि भी लिखा रहता है। परन्तु, संस्कृत-कोशकार केवल पर्यायों का संग्रह कर देते थे, बाद में उनके टीकाकार अपने भाष्य में उनकी व्युत्पत्ति, अर्थ आदि देते थे। अमरकोश, हलायुधकोश आदि इसी ढंग के कोश हैं। इसी प्रकार का वैदिक कोश निघण्टु कहलाता था और उसकी व्याख्या निरुक्त।

आज हमें एक ही निघण्टु प्राप्त है, जिस पर यास्क ने अपनी टीका लिखी है। यह निघण्टु महाभारत के प्रमाणानुसार कश्यपकृत माना जाता है। किन्तु, स्वामी दयानन्द और उनके अनुसरणकर्त्ता भगवद्दत्तजी वर्त्तमान निघण्टु और निरुक्त दोनों को यास्ककृत ही मानते हैं। भगवद्दत्तजी ने आथर्वण परिशिष्ट को कौत्सव्याकृत[1] निघण्टु माना है तथा एक तीसरा निघण्टु भी पूना के 'पाठक-स्मारक ग्रन्थ' में छपवाया है, जिसे उन्होंने शाकपूणि-रचित बताया है। भगवद्दत्त जी की मान्यता है कि जिन आचार्यों का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त में किया है, वे सब स्वतन्त्र निघण्टुकार भी थे। इस तरह १५-२० निघण्टुओं की रचना का उन्होंने अनुमान लगाया है। मैकडोनल के अनुसार यास्क के समय में ऐसे पाँच निरुक्त थे। किन्तु भगवद्दत्तजी ने आचार्य दुर्ग की निरुक्तवृत्ति १—१३[2] तथा १—२०[3] के अनुसार, जो निरुक्त के १४ भेद का यह अर्थ लगाया है कि 'दुर्ग से पहले भारत में न्यून-से-न्यून चौदह निरुक्त सुप्राप्त[4] थे', यह ठीक नहीं लगता। प्रसंग से वहाँ यह अर्थ प्रतीत होता है कि निरुक्त के चौदह ग्रन्थों का नहीं, अपितु इस निरुक्त के १४ अध्यायों का ही दुर्ग ने वर्णन किया है। धनराज सूरि के अनुसार तो गणेश-निरुक्त में ३६० सूत्र, निरुक्त-सूत्र में ५२,०००, गार्ग्य निरुक्त में १०,००० तथा अथर्णिव में ६२,००० और शब्दप्रभा में १ लाख ३२ हजार सूत्र हैं। पर सूरिजी के अतिरिक्त और किसी ने इसका उल्लेख नहीं किया है। हाँ, यह सुनिश्चित है कि निरुक्त वेदाङ्ग में एकमात्र यही निरुक्त नहीं था, यह वाङ्मय भी शिक्षा, प्रातिशाख्य तथा व्याकरण आदि की भाँति ही अवश्य ही विस्तृत था। यास्क ने अपने निरुक्त में औदुम्बरायण, शाकटायन, शाकपूणि, गार्ग्य, आग्रायण, और्णनाभ, स्थौलाष्ठीवि, औपमन्यव, कौत्स, वार्ष्यायणि, गालव, तैटिकि, क्रौष्टुकि, कात्थक्य, शतबलाक्ष, मौद्गल्य तथा चर्मशिरा के मत की चर्चा की है। बहुत सम्भव है, इन सबका अपना निरुक्त रहा हो, पर पाणिनि के व्याकरण के सामने जैसे इन्द्र, आपिशलि, काशकृत्स्न आदि के व्याकरण अस्त हो गये, वैसे ही यास्क के निरुक्त के सामने और निरुक्त अस्त हो गये हों।

संस्कृत-वाङ्मय में निरुक्ति का बाहुल्य :

ऐसा प्रतीत होता है कि भाषाविज्ञान में निरुक्तिविज्ञान का भारत में विशेष प्रचार तथा आदर था। पिछले पृष्ठों में दिखा आये हैं कि वैदिक वाङ्मय में प्रत्येक ग्रन्थ में आनुषङ्गिक रूप से यत्र-तत्र निरुक्तियाँ की गई हैं। शास्त्र कोई भी हो, सबको उत्सुकता रहती थी कि इस शब्द का क्या अर्थ है, कैसे यह अर्थ हुआ ? इसमें पहेली-सा आनन्द आता था, तर्कशास्त्र और दर्शन की भाँति इससे भी जिज्ञासा की शान्ति होती थी। भगवद्दत्तजी ने एक बृहदाकार वैदिककोश प्रकाशित किया है, जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक,

१. दे० **'वैदिक साहित्य'** : पं० रामगोविन्द त्रिवेदी का अध्याय १४ तथा **'वैदिक साहित्य-परिशीलन'** : रजनीकान्त शास्त्री का पंचम परिच्छेद।
२. निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्।
३. निरुक्तं चतुर्दशधा इति।
४. **निरुक्तशास्त्र** : भगवद्दत्त, पृ० २५ (भूमिका)

उपनिषद् आदि में प्राप्त निरुक्तियों, अर्थों का संग्रह है। बल्कि निरुक्तियों की यह परम्परा पुराण, रामायण, महाभारत और स्मृतिग्रन्थों में भी कम नहीं हुई है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

१. **पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्तासि भरणाच्च मे** (अश्वमेध० ९०।५२)

२. **ततः प्रदध्मौ स करं प्रादुरासीत् ततो बलम्।**
एतस्मात् कारणाद् राजन्, विश्रुतः स करन्धमः॥ (अश्वमेधपर्व, ४।१६)

३. **कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः।** (महाभारत)

४. **रावयामास लोकान् यत् तस्माद् रावण उच्यते।** (महा०, वनपर्व, २७५।४०)

५. **ज्येष्ठो रामोऽभवत् तेषां रमयामास हि प्रजाः।** (महा०, वन०, २७७।६)

६. **यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः।**
ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः॥ (भागवतपुराण, ३।१२।१०)

७. **आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।**
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ (मनुस्मृति, १।१०)

८. **धारणाद् धर्म इत्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः**

९. **लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः रामस्य लोकरामस्य।** (बालकाण्ड, १८।२९)

१०. **सह तेन गरेणैव सञ्जातः सगरोऽभवत्** (बालकाण्ड, ७०।३७)

११. **सुग्रीवः संहतग्रीवः** (किष्किन्धाकाण्ड, १३।३)

महाभाष्य में भी यत्र-तत्र निर्वचन मिलते हैं : **अक्षरं न क्षरं विद्याद् अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्**—१।१।२। बल्कि यह परम्परा महाकाव्यों तक चली आई है। कालिदास ने रघुवंश के द्वितीय सर्ग में दिलीप के मुख से सिंह को कहलवाया है : **क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः**—२।५३। तुलसीदास भी कहते हैं :

सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिस्रामा॥
बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन वेद प्रकासा॥
लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुण बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार॥
(रा० मानस, बाल०, १९७)

इनमें बहुत-सी व्युत्पत्तियाँ अशुद्ध या सन्दिग्ध भी हैं, जैसे—

'यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते,
यस्मिन् विलीयते धर्म स्तं देवा वृषलं विदुः'—शान्ति० ९०।१५।
न कुर्यां कर्म बीभत्सं युध्यमानः कथंचन।
तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति विश्रुतः—विराट्पर्व, ४४।१८।

बल्कि कहीं-कहीं यह व्युत्पत्ति उपहासास्पद भी हो गई है; जैसे—

मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन् मांसस्य मांसत्वम् अनुबुद्ध्यस्व भारत॥—अनु० पर्व, ११६।२५।

इस प्रकार समस्त भारतीय वाङ्मय में निर्वचनों की भरमार है, तो अवश्य ही निर्वचन-विज्ञान का अपना वाङ्मय भी विशाल ही रहा होगा।

यास्क का निरुक्त :

परन्तु प्रचलित निघण्टु एक ही है, जिसपर यास्क ने अपना निरुक्त लिखा है। इस निघण्टु में तीन काण्ड हैं और पाँच अध्याय। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड हैं, जिनमें केवल पर्यायवाचक शब्दों का संग्रह है। इनमें क्रमशः ४२१, ४६३ तथा ४३८ शब्द हैं, कुल मिलाकर १३५२। चौथा अध्याय नैगम काण्ड है, जिसमें वेद के अनेकार्थक ऐकपदिक २८१ कठिन शब्द हैं, जिनका अर्थ स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। और, पाँचवाँ अध्याय दैवत-काण्ड है, जिसमें १६३ शब्द हैं। इस प्रकार कुल १७९६ शब्दों का इस निघण्टु में उल्लेख है।

इस निघण्टु पर यास्क का निरुक्त १४ अध्यायों में विभक्त है। निघण्टु के प्रथम तीन अध्याय अर्थात् नैघण्टुक काण्ड की व्याख्या के लिए निरुक्त के प्रथम तीन अध्याय हैं। चौथे अध्याय नैगम काण्ड की व्याख्या निरुक्त ने अपने चौथे, पाँचवें, छठे—इन तीन अध्यायों में की है तथा अन्तिम और पाँचवें अध्याय दैवतकाण्ड के विश्लेषण के लिए व्याख्या में निरुक्त के ६ अध्याय लिखे गये हैं—७वें से १२वें तक। अन्त में २ अध्याय परिशिष्ट हैं। इस प्रकार निरुक्त में १४ अध्याय हैं। सायण के मत से १२ अध्याय ही यास्ककृत हैं, अन्तिम दो परिशिष्ट-अध्याय अन्यकृत हैं। इस निरुक्त के दो पाठ हैं—लघु (गुर्जर-पाठ) तथा बृहद् (महाराष्ट्र-पाठ)। बृहद्देवता आदि लघु पाठ को ही विश्वसनीय मानते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि निरुक्त एक वेदाङ्ग है, ग्रन्थ-विशेष नहीं; परन्तु यास्क के निरुक्त के अतिरिक्त अन्य निरुक्त अप्रसिद्ध हैं, इसलिए निरुक्त कहने से यास्क के निरुक्त का ही बोध होता है। इसी प्रकार निरुक्त से निघण्टु भिन्न है, दोनों दो वस्तुएँ हैं, किन्तु जहाँ-कहीं निघण्टु मिला है, वहाँ निरुक्त भी साथ ही मिला है, और निरुक्त भी जहाँ-कहीं मिला है, उसके साथ निघण्टु भी मिला है। इसलिए निघण्टुकार और निरुक्तकार को बहुधा लोग एक ही व्यक्ति मानते हैं। सायणाचार्य ने भी निघण्टु को ही निरुक्त कहा है और लाक्षणिक रूप से उसकी व्याख्या को भी निरुक्त माना है। "परन्तु यास्क ने तो "**समाम्नायः[1] समाम्नातः स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते**" कहकर स्पष्ट ही कर दिया है कि समाम्नाय अर्थात् शब्द-समूह को निघण्टु कहते हैं, और व्याख्या उससे भिन्न वस्तु है, जिसे लोग निरुक्त कहते हैं। पर सायणाचार्य के कहने का यह अर्थ सही है कि वस्तुतः निघण्टु और निरुक्त दोनों मिलकर ही भाषाविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा, शब्दकोशविज्ञान की पूर्त्ति करते हैं।

निर्वचन के लिए यास्क ने शब्दों को चार भागों में बाँटा है—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात[2]। यह वर्गीकरण ऋक्प्रातिशाख्यकाल में ही हो चुका था, इसीलिए यहाँ इनका कथन विधि-रूप में नहीं, अनुवाद-रूप में है।

---

१. निरुक्त का प्रथम अनुच्छेद।

२. "तद् यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति" (प्रथम अध्याय)।

निरुक्त का लक्ष्य :

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। संस्कृत प्रायः श्लिष्ट अन्तयोगात्मक भाषा है, जिसमें अर्थतत्त्व पहले रहता है और सम्बन्ध-तत्त्व बाद में, साथ ही दोनों तत्त्वों के योग से अर्थतत्त्वात्मक ध्वनि में कुछ ऐसा परिवर्त्तन हो जाता है कि दोनों का पृथक्करण कठिन हो जाता है, दोनों तत्त्व प्रायः श्लिष्ट रहते हैं। जैसाकि अभी कहा गया है, अर्थतत्त्व के मुख्यतः दो भेद हैं —प्रातिपदिक और धातु। इन दोनों से दो प्रकार के प्रत्यय हो सकते हैं—अन्त्य प्रत्यय (सुप् और तिङ्) तथा मध्यवर्त्ती प्रत्यय (शेष सभी)। सुबन्त और तिङन्त शब्दों को ही पद कहते हैं, अर्थात् वाक्य के चरण ये ही है, इन्हीं से वाक्य चलता है, वाक्य में इनका ही प्रयोग सम्भव है। शिशु से प्रथमा एकवचन स् लायेंगे तो शिशुः पद बन जायगा, इसका वाक्य में प्रयोग होगा—शिशुः पठति। शिशु से त्व प्रत्यय करने पर भी विना (प्रथमा एकवचन आदि) सुप् विभक्ति लाये **'शिशुत्व दुर्लभम्'** ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता। इसी भाँति पठ् से ति प्रत्यय करके पठति प्रयोग होगा, पठ् से इच्छार्थक सन् प्रत्यय कर शिशुः पिपठिष ऐसा प्रयोग नहीं होगा। 'अपदं न प्रयुञ्जीत', जो पद नहीं बना है, उसका वाक्य में प्रयोग नहीं होगा, यह पतंजलि ने स्पष्ट कर दिया है। व्याकरण मुख्यतः पदविज्ञान (Morphology) है। वह दो अर्थतत्त्वों के बीच के सम्बन्धतत्त्व की व्याख्या पर ही अधिक बल देता है। निरुक्त उससे भिन्न है। अर्थतत्त्व दो प्रकार के हो सकते हैं—मौलिक अखण्ड तथा यौगिक खण्डयुक्त। जैसे शिशु अखण्ड अर्थतत्त्व है, शैशव खण्डयुक्त, पठ् अखण्ड अर्थतत्त्व है, पिपठिष, पापठ्य् आदि खण्डयुक्त। निरुक्त में प्रायः यौगिक अर्थतत्त्व के मूल अर्थतत्त्व की खोज है। इसी दृष्टि से यास्क ने इसे व्याकरण का खिल (पूरक) भी कहा[1] है। इस प्रकार निरुक्त यौगिक प्रकृतियों का निर्वचन (Etymology) है। साथ ही यह वेदों के मन्त्रों की व्याख्या[2] भी करता है। इसलिए यह व्युत्पत्ति-विज्ञान के साथ अर्थविज्ञान भी है। कारण यह है कि ये दोनों विज्ञान परस्पर सम्बद्ध हैं, विना अर्थज्ञान के सही निर्वचन नहीं हो सकता और विना निर्वचन के अर्थज्ञान नहीं हो सकता।

निरुक्त का उद्देश्य चूँकि अर्थ-व्याख्या के साथ मूल प्रकृति की खोज है, इसीलिए इसमें प्रत्यय की व्याख्या पर कम ही ध्यान दिया गया है। जहाँ भी क्रियावाचक शब्द आये हैं, केवल अर्थ बता दिया गया है, जैसे **कान्तिकर्माण[3] उत्तरे धातवोऽष्टादश····अत्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश··· क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवोदश** आदि। यहाँ न तो इन धातुओं के पर्यायों की चर्चा है, न इनके तिङन्त रूपों की। पर्याय देना निघण्टु का काम है, तिङन्त रूप की व्याख्या करना व्याकरण का। इसी प्रकार **यद् देवापिः शन्तनवे**[4] इस मन्त्र में शन्तनवे

१. तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं, स्वार्थसाधकं च—१।१५

२. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतीयतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः —वहीं।

३. ३।६।

४. ऋ०, १०।९८।७।

इस चतुर्थ्यन्त का विश्लेषण नहीं किया, सिर्फ प्रकृतिभाग शन्तनु का (यौगिक प्रकृति होने के कारण) निर्वचन कर दिया—"**शन्तनोरित्वति**[1] **वा, शमस्मै**[2] **तन्वा अरित्वति वा**"।

विभिन्न आचार्य तथा शाखाएँ :

यास्क ने निर्वचन के प्रसंग में प्रमाण-रूप से पूर्वोक्त आचार्यों के अतिरिक्त एके, अपरे, अन्ये, आचार्याः आदि कहकर विना नाम दिये और भी अनेक निर्वचनविशेषज्ञों के विचार दिये हैं। कई मत ऐसे भी हैं, जो किसी एक आचार्य के नहीं, अपितु किसी परम्परा या सम्प्रदाय के हैं, जिसे अँगरेजी में स्कूल (School) कहते हैं। इनका उल्लेख अधिदैवत, अध्यात्म, याज्ञिक, पूर्वयाज्ञिक, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, वैयाकरण, परिव्राजक आदि शब्दों से किया गया है।

निरुक्त का क्षेत्र :

वैसे निरुक्त का क्षेत्र लोक-प्रसिद्धि में अति संकुचित है— **वर्णागमो**[3] **वर्णविपर्ययश्च द्वौचापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्** में पूर्वार्ध इसकी पदविज्ञानता तथा उत्तरार्ध अर्थविज्ञानता को सूचित कर रहा है। किन्तु यास्क के निरुक्त में वर्ण का आगम, वर्ण का विपर्यय, वर्ण का विकार, वर्ण का विनाश तथा धातु का अर्थविस्तार इतनी ही बातें नहीं हैं। इसमें पदविज्ञान तथा अर्थविज्ञान दोनों के पूर्वरूप निहित हैं। दोनों ही क्षेत्रों में यास्क की तुलनात्मक दृष्टि सराहनीय है। भले ही उनमें ऐतिहासिक दृष्टि की पूर्णता न हो, परन्तु वेदों का अर्थ करने में ऐतिहासिक सम्प्रदाय का मत पद-पद में देकर उन्होंने उसका पर्याप्त संकेत कर दिया है।

निर्वचनीय शब्द :

निघण्टु के कुल ७६६ शब्दों में प्रायः ५३६ का ही अपनी जगह में निर्वचन किया गया है। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य सैकड़ों प्रसंगागत शब्दों का निर्वचन है। निघण्टु में जलने के ११, चमकने के १६, खाने के ११, क्रोध करने के ११, जाने के १२२, व्याप्त होने के ११, शासन करने के ५, परिचर्या करने के ११, देखने के, पूजा करने के ४४, माँगने के १८, दान देने के १०, अध्येषण के ५ और सोने के २ पर्याय दिये हैं। इस प्रकार २८९ शब्द तो क्रियावाचक ही हैं, जिनमें निर्वचन की नहीं, केवल अर्थ बताने की आवश्यकता है। शेष शब्दों में भी कम के ही निर्वचन हैं। बल्कि निरुक्त में निघण्टु के शब्दों से अधिक प्रसंगागत शब्दों की ही निरुक्तियाँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ निरुक्तकार को गौः की

---

१. २।१२।

२. महाभारत में भी यही व्युत्पत्ति दी है—"यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमश्नुते पुनर्युवा च भवति तस्मात् तं शन्तनुं विदुः"—आदिपर्व, ९५।४६।

३. वैदिक साहित्य, चौदहवाँ अध्याय।

व्याख्या करनी है। यहाँ पहले तो यह बताया[1] कि गौ पृथ्वी को कहते हैं, फिर बताया कि गौ एक पशु का नाम भी है। इसमें एक ऋचा प्रमाण-रूप में उद्धृत की। यहाँ बताया कि गो का अर्थ तद्धित प्रत्यय से पयस् हो गया है। फिर पयस् शब्द को ही पकड़कर उसकी व्युत्पत्ति की, ऋचा में आये मत्सर शब्द की भी व्युत्पत्ति कर दी। इतना ही नहीं, पय के एक पर्याय क्षीर का भी निर्वचन कर दिया। इस प्रकार गो शब्द के अर्थ के स्पष्टीकरण के प्रसंग में ७ और ऋचाएँ उद्धृत हैं तथा इसी प्रकार शाखा-प्रशाखा पकड़कर बीसों शब्दों का निर्वचन दे दिया है।

महाभाष्य में भी इसी प्रकार सोपानक्रम से व्याख्या मिलती है। व्याकरण अध्ययन का प्रयोजन दिखाने के लिए एक ऋचा उद्धृत करते हैं "सक्तु[2] मिव तितउना०" और फिर इसमें आये शब्दों का निर्वचन भी लगे हाथों करने लग जाते हैं—"सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीतात्, विकसितो भवति·········तितउ परिपवनं भवति, ततवद्वा, तुन्नवद्वा·········लक्ष्मीर्लक्षणाद् भासनात्" आदि। बल्कि संस्कृत-टीकाकारों का ही यह तरीका है।

इस प्रकार यास्क ने सैकड़ों शब्दों का निर्वचन कर दिया है। डॉ० सिद्धेश्वर[3] वर्मा के अनुसार इस निरुक्त में कुल १२९८ शब्दों का निर्वचन है। इनमें ८४९ तो प्रायः अशुद्ध हैं, २२४ ठीक हैं और २२५ अस्पष्ट हैं। बल्कि राजवाड़े[4] तो निरुक्त को वैज्ञानिक ग्रन्थ भी मानने को तैयार नहीं हैं, उनके अनुसार इसकी निरुक्तियाँ वैज्ञानिक हैं ही नहीं। इसके विपरीत डॉ० सरूप का कहना[5] है कि भले ही इसमें पूर्णता नहीं हो, परन्तु यह निर्वचन का प्रथम वैज्ञानिक प्रयास तो है ही। वैसे मेरी गणना से यास्क ने मुख्य रूप से

---

१. अथातोऽनुक्रमिष्यामः। गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वौकारो नामकरणः। अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन् निगमा भवन्ति गोभिः श्रीणीत मत्सरम् (ऋ० ९।४६।४) इति पयसः। मत्सरः सोमः मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः मत्सर इति लोभनाम। अभिमत्त एनेन धनं भवति। पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा। क्षीरं क्षरतेः। घसेर्वेरो नामकरणः, उशीरमिति यथा।

२. पस्पशाह्निक, ऋ० १०।७१।२।

३. "According to our calculation Yask has offered 1298 etymologies of which 849 are more or less primitive, 224 would be entirely acceptable to modern etymologists, and 225 are obscure."—'Critical Studies in the Phonetic observation of Indian Grammarians' by Siddheshwar Varma.

४. "The Nirukta does not deserve these high compliments, it is not a science but a travesty of Science."—V. K. Rajwade.

५. "The first to claim the scientific foundation and also the first to formulate the general principles for etymology."

इससे भी कम शब्दों का निर्वचन दिया है, किन्तु आनुषंगिक रूप से १५०० से भी अधिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखा दी है। इनमें प्रायः ५० प्रतिशत व्युत्पत्तियाँ वैज्ञानिक हैं। आज भी जितने हिन्दी-कोश प्राप्त होते हैं, उनमें ७५ प्रतिशत व्युत्पत्तियाँ ही सही मिलती हैं; क्योंकि संस्कृत शब्द-भाण्डार इतना विशाल और इतना प्राचीन है कि कौन-सा वर्त्तमान शब्द किस प्राचीन शब्द का विकार या विकास है, कहना कठिन है। इस दृष्टि से तो मुझे निरुक्त की सफलता आश्चर्यप्रद प्रतीत होती है। वस्तुतः स्कोल्ड का कहना[1] सर्वथा उचित है कि हमें तो इसी का आश्चर्य होना चाहिए कि आज से तीन हजार बरस पहले भी यास्क ने इतने शब्दों का सही निर्वचन बताया।

यद्यपि यास्क के समय ऐतिहासिक तुलनात्मक निर्वचन या भाषाविज्ञान का नाम भी नहीं था, फिर भी "शवतिर्गति[2] कर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति, दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु" ऐसे कई स्थल बताते हैं कि यास्क की दृष्टि तुलनात्मक थी, भले ही वह अपूर्ण हो। असुर का अर्थ एक जगह अच्छा, दूसरी जगह बुरा देखकर उन्होंने इसका ऐतिहासिक कारण नहीं ढूँढ़ा, ऐसी न्यूनताएँ उनमें ही नहीं, आज के भी सभी भाषावैज्ञानिकों में वर्त्तमान हैं। यही क्या कम है कि 'असुर' शब्द को यास्क ने 'सुर' का निषेधार्थक नहीं समझकर अस्[3] धातु या असु शब्द से निष्पन्न बताया। सब 'क्यों' का उत्तर किस भाषावैज्ञानिक को प्राप्त है? वेद में बहुप्रशंसित व्रात्य मनुस्मृति में निन्दनीय कैसे बन गये? रुलानेवाले रुद्र को ही 'शिव' सम्बोधन क्यों करना पड़ा? महाभारत में जुगुप्सति, शुश्रूषते[4] घृणा[5] के क्रमशः अर्थ हैं—'रक्षा करना चाहता है', 'सुनना चाहता है' और दया, परन्तु कबसे और क्यों इनके अर्थ क्रम से 'घृणा करता है', 'सेवा करता है', तथा घिन हो गये, कौन बता सकता है? स्वयं यास्क के उपेक्षितव्यम्[6] अर्थात् 'समीप से परीक्षा करनी चाहिए' का 'उपेक्षा करनी चाहिए' अर्थ कैसे हुआ? तिक्त का प्रयोग संस्कृत में नीम के स्वाद के लिए है, बिहारी बोलियों में तीता मिर्च के स्वाद के लिए कैसे प्रयुक्त होने लगा? 'दार' शब्द स्त्रीवाचक होते हुए भी पुंलिंग क्यों बना? इन परिवर्त्तनों के पीछे कौन-से सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक कारण हैं, कहना कठिन है; क्योंकि सम्प्रदायों और परम्पराओं की कड़ियाँ बीच से गायब होती रहती हैं।

---

१. "We ought rather to be astonished because the Nirukta contains so many good and true etymologies."

२. २।२

३. ३।१ तथा १०।४

४. महाभारत, अनुशासन-पर्व १२३।३, उद्योग ४७।३।

५. उद्योग, ३७।३०, उद्योग अध्याय १६३, अश्वमेध १८।१७।

६. प्रथमाध्याय के तृतीय पाद की समाप्ति, प्रथम अध्याय के पंचम पाद में, २।२ में।

यही क्या कम आश्चर्य की बात है कि यास्क ने अपने निरुक्त में गुण, वृद्धि, अयादि तथा सम्प्रसारण[1] आदि वर्ण-विकारों (vowel gradations) को पहचाना और बताया है। उन्होंने निघण्टु का, वैदिक शब्दकोश का, केवल अर्थ ही नहीं बताया, यह भी स्पष्ट करने का सम्भवतम प्रयास किया कि किसी विशेष शब्द का कोई विशेष अर्थ कैसे हुआ। निर्वचन के लिए उन्होंने जिन दिशाओं[2] का संकेत किया है, वे उनकी व्यापक दृष्टि का परिचय देती हैं। उन्होंने शब्दों की इतने प्रकार से सिद्धि बताई है :

निर्वचन की दिशाएँ :

(१) आदिशेष—प्र + दत्तम्—प्रत्तम।
(२) आदिलोप—अस् + तः—स्तः।
(३) अन्तलोप—गम् + त्वा—गत्वा।
(४) उपधालोप—जगम् + अतुः—जग्मतुः।
(५) उपधाविकार—राजन् + स्—राजा।
(६) वर्णलोप—याचामि—यामि।
(७) द्विवर्णलोप—त्रिऋच—तृच।
(८) आदिविपर्यय—द्युत् से ज्योति, हन् से घन।
(९) आद्यन्तविपर्यय—कत्तु—तर्कु, कसिता – सिकता।
(१०) अन्तव्यापत्ति—मेह—मेघ, मदु—मधु।
(११) वर्णोपजन—वार—द्वार, भ्रस्ज—भरूजा।
(१२) अन्तस्थ मध्य धातुओं की द्विप्रकृतिता—अवति—ऊति, प्रथते-पृथुः।
(१३-१४) लौकिक धातु से छान्दस तथा छान्दस धातु से लौकिक शब्द का निष्पादन—दम् से दमूनाः, तथा उष् से उष्ण, घृ से घृत।

(१५) देशप्रसिद्धि के कारण एक ही धातु से बने दो शब्दों में से एक जगह एक शब्द का प्रयोग दूसरी जगह दूसरे शब्द का—शव, दाति, दात्र आदि। धातु एक ही है शव, पर कम्बोज में इसका अर्थ होता है गमनशील और आर्य लोग इसका व्यवहार लाश के अर्थ में करते हैं, वह भी तो परलोक जा रहा है! एक ही दा धातु से ति प्रत्यय जोड़कर पूर्व दिशा के लोग संज्ञा शब्द बनाते हैं, त्र प्रत्यक्ष जोड़कर उत्तर के लोग।

निर्वचन में ध्वनिसाम्य से अधिक अर्थसाम्य महत्त्वपूर्ण है, इसे यास्क ने स्पष्ट कर दिया है—'अर्थनित्यः[3] परीक्षेत, केनचिद् वृत्तिसामान्येन' अर्थ पर ध्यान रखकर किसी भी

---

१. तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत् तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। तद् यथैतत् ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः कुणाएम् इति—(२।५)

२. अध्याय २, पाद १।

३. २।१।

प्रकार के वर्णविकार से अभिलषित शब्द की व्युत्पत्ति ढूँढ़नी चाहिए। स्वयं यास्क ने भी नाध और गाध शब्द नाध् और गाध् धातुओं से नहीं बनाकर नह् और गाह् धातुओं[1] से अन्तव्यापत्ति द्वारा बनाये हैं। कुछ लोग शाकटायन की इस निर्वचन-पद्धति का उपहास कर सकते हैं कि उन्होंने दो धातुओं के योग से सत्य शब्द का साधन किया है (अस् धातु[2] का सत् तथा इ धातु का य), पर यह शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया में कोई अनहोनी बात नहीं है। कहते हैं, यष्टि से लट्ठी बनने में लकुट के ल् का तथा दृश् से देक्ख् बनने में पेक्ख (प्रेक्ष) के क्ख का भी प्रभाव है। इतिहास शब्द तो पूरे एक वाक्य का ही संक्षेपण है— 'इति ह आस' और यास्क की वैज्ञानिकता तो यह है कि उन्होंने शाकटायन की इस निरुक्ति तथा उसके उपहास में किसी का भी पक्ष न लेकर यह घोषित किया कि यदि कोई ऐसा करता है कि अर्थ का सादृश्य नहीं मिलने पर भी कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा लेकर शब्द-निष्पत्ति करता है तो यह निरुक्ति-विज्ञान की नहीं, उस व्यक्ति-विशेष की गर्हा[3] की बात होगी। साथ ही स्वयं सत्य शब्द की दूसरी अच्छी व्युत्पत्ति दी, 'सत्प्रभवं भवति'[4] अर्थात् सत्+य—सत्य (तत्र भवः या तत आगतः या प्रभवति[5])।

यास्क का यह कहना कि 'अर्थ-सामान्य की प्राप्ति होने पर वृत्ति-सामान्य नहीं मिलने पर भी वर्णसामान्य-मात्र से निर्वचन कर दे, संस्कार का भी आदर[6] न करे, शब्द का कुछ-न-कुछ निर्वचन अवश्य कर दे, यूँ ही कभी न छोड़े', हँसने की नहीं विचारने की बात है। इस उक्ति से केवल निर्वचन के सोत्साह अनुसन्धान की आवश्यकता लक्षित होती है, और कुछ नहीं। आज के भी कोशकार शब्दों का निर्वचन ढूँढ़कर देना अपना कर्त्तव्य मानते हैं, भले हो वह अभ्रान्त न हो। अन्यथा विवादमुक्त निर्वचन की तलाश में बहुत-से शब्दों का निर्वचन छोड़ ही देना पड़ेगा। इस प्रसंग में बनारस के ज्ञानमण्डल लिमिटेड से प्रकाशित 'बृहत् हिन्दी-कोश' की भूमिका का 'व्युत्पत्ति क्यों नहीं ?' शीर्षक द्रष्टव्य है। इस कोश में भ्रान्ति-भय से ही शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं दी गई है। उदाहरणार्थ, 'लंगोट' शब्द की सिद्धि दो तरह से हो सकती है—लिङ्ग+पट या नग्न+पट। नग्न के नंगा और लंगा अपभ्रंश प्रचलित ही हैं और लिङ्ग का भी लंग होना सरल है। अब यहाँ यह बताना कठिन है कि लंगोट का मूल शब्द वस्तुतः था क्या ? इसकी ऐतिहासिक व्युत्पत्ति क्या है ? संस्कृत

---

१. २।१।

२. १।४।

३. यथो एतत् पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कारेति। योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः। सैषा पुरुषगर्हा, न शास्त्रगर्हा (१।४)।

४. ३।२।

५. सूत्र ४।३ के ५३, ७४, ८३।

६. अविद्यमाने सामान्येऽप्य क्षरवर्णसामान्यान्निब्रूयान्नत्वेव न निब्रूयात्। न संस्कार माद्रियेत—२।१।

में वशिष्ठ और वसिष्ठ, कोश और कोष, वेश और वेष—दोनों विवरण मिलते हैं, कहना कठिन है कि किसने किस रूप को जन्म दिया है। पहले कह आये हैं कि कुमारिल भट्ट ने दक्षिण में प्रयुक्त ओदनार्थक 'चोर' (चावल) शब्द को संस्कृत के तस्करार्थक 'चोर' शब्द का अर्थ-विकार माना; पर यह ठीक नहीं, 'तन्दुल' का ही अपभ्रंश 'चोर' (चाउर) बन गया है। भाषा-विज्ञान के इस समुन्नत युग में भी पिशल हिन्दी की 'फाड़ना' क्रिया का मूल शब्द 'स्फाटयति' मानते हैं, जबकि धातु पाठ में कहीं स्फट् या स्फाट् का उल्लेख नहीं है, और महाभारत आदि ग्रन्थों में फाड़ने के अर्थ में पाटयति का प्रयोग बहुशः प्राप्त है। इसी भाँति डॉ० हेमचन्द्र जोशी ने 'विधवा' शब्द धव शब्द की सहायता से नहीं, विध् धातु से बनाया है। वियुक्त होने में धातुपाठ में कहीं विध् का उल्लेख नहीं है, और धव शब्द पति अर्थ में संस्कृत-साहित्य में खूब प्रचलित[1] है, इस तथ्य की उन्होंने उपेक्षा कर दी है। इसी प्रकार उन्होंने 'डोल', 'डोली' आदि शब्द फारसी के 'दुल्' धातु से बनाये हैं, संस्कृत के 'दुल्' से नहीं। आज के ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान के युग में जब शब्दों के निर्वचन में ऐसे व्यक्तियों को भी ऐसा सन्देह हो सकता है, तो आज से तीन हजार बरस पहले तो इसकी गुंजाइश और भी थी। यास्क ने स्वयं घोषणा की है कि 'विशयवत्योहि[2] वृत्तयो भवन्ति' अर्थात् निर्वचन संशयपूर्ण होता ही है। वर्मा और रजवाड़े ने जो यास्क के निर्वचन में त्रुटियाँ दिखाई हैं, उनके समाधान के लिए भगवद्दत्तजी ने निर्वचन और व्युत्पत्ति में अन्तर माना[3] है। किन्तु, इस पलायनवाद से क्या लाभ है? शत-प्रतिशत सही निर्वचन किसी मानव के वश की बात नहीं है। यास्क के बाद के ऋषि कात्यायन, पतंजलि आदि से भी भ्रम हुआ है, 'मुनीनां च मतिभ्रमः', और आज भी बड़े-बड़े भाषावैज्ञानिकों से भ्रम हो रहा है।

भ्रान्त व्युत्पत्तियाँ निरुक्त में ही नहीं, आज भी :

नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनका निर्वचन सन्दिग्ध या भ्रान्त है—

(१) पहिरना[4]—इसे **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा** ने परि + धा से बनाया है, पर यह अपि + नह् (पिनह् = पहिन = पहिर) से भी बन सकता है।

(२) कसैला—इसे धीरेन्द्रजी ने कषाय से व्युत्पन्न किया है, पर यह कषाय नहीं

---

१. 'धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद् विधवा—निरुक्त अ० ३, पा० ३। वेद में भी ऋ० १०।१२१।१ आदि में विध् का अर्थ निरुक्त ने 'विधतिः दानकर्मा' (१०।२) लिखा है, वियुक्त होना अर्थ कहीं प्राप्त नहीं है।

२. २।१

३. पृ० ७२ तथा 'निरुक्तम्'।

४. धीरेन्द्र वर्मा : **हिन्दी-भाषा का इतिहास**—हिन्दी ध्वनियों का इतिहास, पृ० १४६—१८४।

कषायिल (तुन्दिल की भाँति) का अपभ्रंश है। कषाय संज्ञा है और कसैला तथा कषायिल विशेषण।

(३) अहेरी—आखेटिक, बाड़ी—वाटिका, पीढ़ा—पीठिका आदि[1] रूपों में क प्रत्ययान्त संस्कृत मूल से अपभ्रंश मानना न आवश्यक है, न सही। संस्कृत में क प्रत्यय-रहित भी ये शब्द उपलब्ध हैं—आखेटी, वाटी, पीठ। इसी तरह फटकरी का मूलशब्द पटकरी (पट् का अर्थ फटना होता है) हो सकता है, तो स्फटकारिका[2] की क्यों कल्पना करें? रूप्य से ही रुपया बन सकता है, फिर रुप्यक की शरण में क्यों जायँ? बिपत् भी विपद् से ही बन जाएगा, विपत्ति से बनाने की जरूरत नहीं। क्या दही, दूध आदि शब्दों की सिद्धि सीधे दधि, दुग्ध आदि से नहीं हो सकती कि इनके लिए दधिक, दुग्धक आदि क प्रत्ययान्त रूपों की कल्पना करें?

(४) विनती विज्ञप्ति[3] से भी बन सकता है, जैसे राज्ञी से रानी बनता है, परन्तु विनति से तो और सुगमता से बन सकता है, जैसे दधि से दही। अर्थसादृश्य तो स्पष्ट ही विज्ञप्ति की तुलना में विनति से ही अधिक है।

(५) इसी भाँति धीरेन्द्रजी ने वनजारा वाणिज्यकार से तथा कटहल काष्ठफल से बनाया है, यह ठीक नहीं, ये क्रमशः वनचर तथा कण्ट (कण्टक)-फल से बने हैं।

(६) **डॉ० भोलानाथ तिवारी** ने अपने **भाषाविज्ञान**[4] में गुह (पुरीष) का मूल गुह्य शब्द माना है, यह ठीक नहीं। यह वस्तुतः गूथ शब्द से बना है, जैसे यु+थ=यूथ, यूथी से जूही; वैसे ही गु+थ=गूथ से गूह। गुथ गु धातु से उणादि थ प्रत्यय द्वारा निष्पन्न संस्कृत शब्द है। पलत्थी भी पर्यस्ती से बनना चाहिए, पर्यङ्कग्रन्थि से तो इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं दीखता।[5] इसी प्रकार खिचड़ी के लिए कुछ लोगों ने खिच्चटिका शब्द गढ़ लिया, जबकि वह कृसरी[6] का अपभ्रंश है।

भगवद्दत्त जी ने भी **भाषा का इतिहास** में कुछ ऐसी व्युत्पत्तियाँ दी हैं, जो सन्देह-मुक्त नहीं कही जा सकतीं। जैसे खलिहान[7] निश्चय ही खल शब्द से नहीं बन सकता, मूल शब्द खल स्थान या खलधान जैसा कुछ मानना पड़ेगा। चौगाठ[8] या चौखट तो स्पष्ट ही

---

१. वहीं।

२. पट धातु है, स्फट् कोई धातु नहीं। अतः फाड़ना आदि भी पट् धातु से ही बनते हैं, स्फट् धातु की पिशेल द्वारा कल्पना उचित नहीं।

३. वहीं। ये सब व्युत्पत्तियाँ धीरेन्द्र जी ने इसी अध्याय में दी हैं।

४ पृ० २५६।

५. वहीं, पृ० २२६।

६. अनुशासन-पर्व में १०४—४१।

७. पृ० २६२ (भाषाविज्ञान)

८. वहीं, पृ० २६२।

चतुष्काष्ठ का अपभ्रंश होगा, चतुष्किका से यह नहीं बन सकता। फोन (Phone) का मूल संस्कृत भण है, ध्वनि शब्द नहीं[१]। खड्ड का मूल भी खात सही है, गर्त्त[२] नहीं। खन् (खात) से खोद[३] तथा कीनाश से किसान[४] भी बनतो सकता है, परन्तु क्षोद तथा कृपाण से इनकी सिद्धि अधिक उचित प्रतीत होती है। क्षुद् धातु खोदने अर्थ में ही धातुपाठ में प्राप्त है। कृष् धातु से ताच्छील्य अर्थ में कृषाण रूप बड़ा सुन्दर होगा, कीनाश का तो मुख्य[५] अर्थ क्लेश देने या सहनेवाला है। कठिनाई यह है कि संस्कृत-कोषों में भी कृषाण शब्द का उल्लेख नहीं है। यही हालत है सोंठ शब्द की। धीरेन्द्रजी ने इसे शुण्ठि शब्द से बनाया है, अमरकोष में भी शुण्ठी तथा शुण्ठि शब्द उपलब्ध हैं[६]। परन्तु तथ्य यह है कि इनका मूल शब्द है 'शुष्टि' (वह पदार्थ, जो सुखाने से बने)। जैसे शिष्टि (अवशेष) से सिठी, वैसे ही शुष्टि से शुण्ठी; इसी भाँति हस्त से हैण्ड भी बना है। किन्तु संस्कृत-भाषाविदों ने भी शुष्टि शब्द भूलकर शुठ्[७] धातु की कल्पना कर ली। आगे और भी ऐसे बहुत-से उदाहरण दिये जायेंगे।

किशोरीदास वाजपेयी ने बहु[८]+त से बहुत, नासिका[९] से नाक, शुद्ध[१०] से सुथरा तथा सुधरा, गढ़ना[११] से सुघड़, हिम[१२] से मिहिर, स्तम्भ[१३] से खम्भा बनाया है, जबकि ये क्रमशः प्रभूत, नासा, सुस्थल शब्दों तथा सु+घर्, सु+घट्, मिह् तथा स्कम्भ धातुओं से बने हैं। स्कम्भ् का स्तम्भ् अर्थ में प्रयोग ऋ० ८।८।७, १०।१४९।१ आदि में प्राप्त है, पाणिनि के भी सूत्र ८।३।७७ में इस धातु की चर्चा है। न तो बिथरना बिखरना से बना है, न बिथुरना विधुर से, दोनों वि+स्तृ – विस्तर (फैल जाना) से बने हैं। तिरपन में प् का तथा बावन में व् का आगम नहीं, ये पञ्चाशत के प के अवशेष[१४] हैं। अराति भी अरि+ताति[१५] से नहीं बना है, ताति भाववाचक प्रत्यय है और अराति का अर्थ शत्रुता नहीं, शत्रु है[१६]। निरुक्त ने इसकी व्युत्पत्ति की है अरातयः = अदानकर्माणः अर्थात् अ+राति[१७] (रा दाने)।

---

१. वहीं, पृ० २६०।
२. वहीं, पृ० २९२ की पाद-टिप्पणी।
३. वहीं, पृ० १५६।
४. वहीं, पृ० २९१।
५. कृतान्ते पुंसि कीनाशः क्षुद्रकर्षकयोस्त्रिषु— अमरकोश ३।२१५ तथा महाभारत, अनुशासन-पर्व में कृपण अर्थ में प्रयुक्त।
६. अथ शुण्ठी महौषधम् २।९।३८।
७. भ्वा० प० से०।
८. पृ० ३९।
९. पृ० ५६।
१०. पृ० ६४।
११. पृ० ५३।
१२. पृ० ५३।
१३. पृ० ५८।
१४. पृ० ८५।
१५. पृ० २४।
१६. ऋ० २।२३।९।
१७. ३-२।

इसी भाँति संस्कृत धातु 'ब्रुड् निमज्जने' है, इससे बुड़ना या बूड़ना ही सीधा है, किन्तु डॉ० भोलानाथ तिवारी ने इसे डूबना का विपरीत रूप माना[1] है। वस्तुत: मूल शब्द बूड ही होना चाहिए और विपरीत डूब। इसी तरह कृत् (काटना) से कर्तु—से विपरीत रूप तर्कु—चक्कू है, और सीधा रूप कर्तु—कच्चू। भोजपुरी में काटा, काचा तथा कच्चा तीनों टुकड़े के अर्थ में व्यवहृत हैं। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने जहीहि का अक्षर-लोप से जहि रूप माना[2] है, यह कैसे संभव है? जहीहि हा धातु का रूप है और जहि हन् धातु का। हन्+हि>हहि>जहि बन गया; जैसे हा+ति—हाहा+ति—जहाति, हा+औ>हाहा+औ>जहौ बनता है। दो ह् के पास आने पर विषमीकरण के नियम से एक का ज हो जाता है। इसी भाँति, फिर और पुनि के संयोग से फिन नहीं बना[3] है, ये तीनों ही पुनः के विकृत रूप हैं; पुनः>पुनह् पिह् न>फिन्>फिर। न् का र् अहन्>अहर् आदि में पहले बताया जा चुका है।

कुछ सुन्दर निर्वचन :

(क) निरुक्त में बहुत-से वैज्ञानिक निर्वचन प्राप्त हैं, उनके कुछ नमूने यहाँ दिखा देना लाभप्रद होगा, जैसे :—

(१) चित् से चित्र[4], (२) वृ से वर[5], (३) भज् से भग[6], (४) प्रथ् से पृथिवी[7], (५) स्था से स्थाणु[8], (६) धा से धातु[9], (७) दंश् से दंश[10], (८) भी से भीम तथा भीष्म[11], (९) पर्व से पर्वत[12], (१०) राज् से राजा[13], (११) व्रश्च् से वृक्ष[14], (१२) वृ से वर्ण[15], (१३) दम् से दण्ड[16], (१४) पद् से पाद[17], (१५) अश् से अश्व[18] आदि।

ये तो बड़े स्पष्ट निर्वचन हैं, कुछ ऐसी भी निरुक्तियाँ हैं जो टेढ़ी हैं, फिर भी यास्क ने

---

१. पृ० २३१ तथा बाबूराम सक्सेना का **सामान्य भाषाविज्ञान**, पृ० ४४ (विकास का मूल कारण)
२. पृ० ४५।
३. पृ० ४७।
४. १।३।
५. १।३।
६. १।३।
७. १।४।
८. १।६।
९. १।६।
१०. १।६।
११. १।६।
१२. १।६।
१३. २।१।
१४. २।१।
१५. २।१।
१६. २।१।
१७. २।२।
१८. २।७।

उन्हें पकड़ा है; जैसे—(१) अञ्ज् से अक्षि[१], (२) कृ से कर्ण[२], (३) अस् से आस्य[३], (४) भिद्[४] से बिल्व, (५) वार से बाल[५], ५(क) गृ से ग्रीवा[६], (६) गृ से गिरि[७], (७) हृ से हिरण्य[८], (८) शृ[९] से शरीर, (६) शद् से शत्रु[१०], (१०) वृ से व्रत[११], (११) सु से सुरा[१२], (१२) अश्रिमत् – अश्लील[१३] (अश्रीर), (१३) विरुह् – वीरुध[१४], (१४) तृन्न[१५] – तृण।

(ख) कुछ निरुक्तियाँ ऐसी हैं, जिनसे निर्वचन-विद्या पर बहुत प्रकाश पड़ता है—

(१) हस्त हन् धातु[१६] से बना है, हन्त – हस्त ? क्या इसीलिए अँगरेजी में हाथ के लिए हैण्ड शब्द बना है ?

(२) ऋक् अर्च्[१७] धातु से बना है ? तब तो अर्च् की जगह ऋच् धातु ही मानना ठीक लगता है।

(३) रुच्[१८] धातु से ही रूप भी बना है और रुशद् भी ? च् का प् भी हो सकता है और श् भी ?

(४) पण्[१९] धातु से पाणि बनता है; क्योंकि उससे पूजाकर्म करते हैं, हाथ का कितना सुन्दर उपयोग है। नम्[२०] से नाम, अभिवादन में कहना पड़ता है इसलिए ?

(५) प्रतम से प्रथम[२१] बना है ? क्या संस्कृत में भी प्रथमाक्षर का द्वितीयाक्षर हो जाता था ? जैसे प्राकृत या आधुनिक काल में तथा अँगरेजी में होता है ? कट्ट से खट्टा, पट् से फट, पितर से फादर आदि ?

---

१. १।३।
२. १।३।
३. १।३।
४. १।४।
५. १।६।
६. २।७।
७. १।६।
८. २।३।
६. २।५।
१०. २।५।
११. २।४।
१२. १।३।
१३. ६।५।
१४. ६।१।
१५. १।४।
१६. १।३।
१७. १।३।
१८. २।१ तथा ६।३।
१६. २।७।
२०. ४।४।
२१. २।६।

(६) मद् धातु से द् का ध् होकर मधु[१] बनता है ? और स्यन्द् से सिन्धु[२], अर्थात् प्रथमाक्षर तथा तृतीयाक्षर कहीं-कहीं महाप्राण बन जाते हैं और कहीं विपरीत प्रक्रिया भी होती है, रोधसी[३] से रोदसी बनता है ?

(७) जिह्वा हु अथवा[४] ह्वे धातु से बना है, अर्थात् जोहुवा या जुह्वा की जगह जिह्वा प्रयोग होता है। अर्थात् यहाँ उ का इ विकार हो गया है। जैसे कालुष्य से कालिख, पुनः से फिर, भू से बी (Be)। तभी रूसी में ज़ूब् (ज़ूप्) दाँत को कहते हैं; क्योंकि वर्णों की उत्पत्ति में जीभ की तरह दाँतों का भी महत्त्व है।

(८) मण्डूक[५] मज्जूक (मस्ज् शुद्धौ), अथवा मन्दूक (मदि कल्याणे सुखे च) से बना है। अर्थात् तवर्ग की भाँति चवर्ग का मूर्धन्य के सम्पर्क के बिना भी टवर्ग हो सकता है ?

(९) गुह् धातु से कुहू[६] बना है। अर्थात् संस्कृत में भी तीसरे वर्ण का पहला वर्ण भी हो जाता था, जैसे संस्कृत लगुड से हिन्दी लकुट, या संस्कृत पीड से अँगरेजी बीट (Beat)।

(१०) कण्टक कृत्[७] धातु से बना है, अर्थात् कर्त्तक—कण्टक, त् का ट तथा र् का न् या ण् हो गया है। ठीक है। शर्कर से कंकड़, वक्र से वंक, मर्कट से मंकी ऐसे ही बना होगा। या पिबः, जिघ्रः की भाँति पहले कृन्तः-कण्टः बना है, फिर स्वार्थिक क से कण्टः—कण्टकः (कृन्तः—कण्टः—कण्टकः)।

(११) आत्मा[८] अत् धातु से भी बन सकता है और आप् धातु से भी, अर्थात् गमनशील या व्यापक दोनों ही इसके अर्थ हो सकते हैं। जहाँ निर्वचन सन्दिग्ध है, वहाँ यास्क ने अनेक निर्वचन दिये हैं, यह कोई दोष नहीं है, सचाई प्रकट कर देनी है; जैसे क्षीर क्षर् धातु[९] से भी बन सकता है, घस् धातु से भी। पय पा धातु से भी, प्याय् धातु से भी (२।२)।

(१२) अतिथि को कोई न+तिथि से बनाता है, परन्तु यास्क ने इसे अत् धातु से बनाया है (४।१), देवर कुछ लोग द्वि+वर से बनाते हैं, किन्तु यास्क ने इसे दिव् धातु से बनाया है (३।३)।

निरुक्त में और भी कई भाषावैज्ञानिक महत्त्व की बातें आ गई हैं।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रसंग:

(अ) शब्दों के चार विभाग—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात तो ऋक्प्रातिशाख्य

१. २—१।
२. ६—३।
३. ६—१।
४. ५—४।
५. ९—१।
६. ११—३।
७. ९—३।
८. ३—३।
९. २—२।

ने भी कर दिये थे, परन्तु ये चार विभाग पदों के, वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के, थे। निरुक्तकार ने इनकी मूल प्रकृति की खोज की। निरुक्त ने आख्यात से धातु तथा नाम से प्रातिपदिक का बोध कराया : "सभी नाम आख्यात से ही उत्पन्न[1] हैं", "नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च" का स्पष्ट ही यह अर्थ है कि सभी प्रातिपदिक धातु से निष्पन्न होते हैं। और कोष में कहीं भी उल्लेख धातुरूपों, प्रातिपदिक रूपों का नहीं, केवल धातु तथा प्रातिपदिक का होता है। निघण्टु में भी धातु संगृहीत हैं, जिनके लिए निरुक्त कहता है, 'एतावन्तः समानकर्माणो[2] धातवः' (ये समान क्रिया को प्रकट करनेवाली धातुएँ हैं), अत्तिकर्माण उत्तरे दश धातवः (अगली १० धातुएँ भोजनार्थक हैं) आदि। इस प्रकार निरुक्त का आशय है कि सभी प्रातिपदिक धातु से ही बनते हैं, तभी तो उसका नाम धातु है, जो धारण करे (सब शब्दों को)। पर उपसर्ग और निपात अव्युत्पन्न होते हैं। अतः मूल (root) शब्द चार प्रकार के हैं।

(आ) यह विवाद भी बड़ा रोचक है कि क्या सभी शब्द धातुज ही हैं, या कुछ मूल धातु की भाँति मूल प्रातिपदिक भी हैं ? कुछ क्रियावाचक कुछ वस्तुवाचक ? प्रथम पक्ष के समर्थक शाकटायन तथा निरुक्त सम्प्रदाय हैं, दूसरे के गार्ग्य तथा वैयाकरणों की एक शाखा[3]। 'धातु' का 'धा' धातु से निर्वचन[4] यही प्रकट कर रहा है कि सब शब्दों का धारण ये ही करते हैं। यास्क ने इस प्रश्न पर अपनी ठीक ही सम्मति दी है कि जहाँ निर्वचनीय शब्द के स्वर, ध्वनिविकार, अर्थ सब निर्वचन-साधन धातु के तुल्य दीख रहे हैं, वे तो स्पष्ट ही पहचान में आ जाते हैं, जैसे गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती (तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेण अन्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि, १।४)।

पर 'काक[5] इति शब्दानुकृतिः', कृकवाकु में 'पूर्वं शब्दानुकरणम्[6] वचेरुत्तर-पदम्', 'दुन्दुभिः शब्दानुकरणम्' (९।२) आदि से यह भी पता लगता है कि बहुत-से शब्द अनुकरण के आधार पर भी गढ़ लिये जाते थे।

(इ) पाद[7] और पद शब्द मूलतः पशुओं के पाँव के बोधक हैं, उनके सादृश्य से श्लोक के पाद कहे गये, उनके भी सादृश्य से अध्याय आदि के पाद कहे गये। इस उक्ति से सादृश्यमूलक लक्षणा से बने शब्दों पर प्रकाश पड़ता है। इसी तरह गोभिः श्रीणीत मत्सरम् (ऋ० ९।४६।४) में गोविकार अर्थ में गोदुग्ध के लिए तद्धितान्त 'गव्य' की जगह मूलशब्द

---

१. १।४।
२. १।६ तथा ३।२।
३. १।४।
४. १।६।
५. ३।४।
६. १२।२।
७. पादः पद्यतेः, तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपाद—सामान्यादितराणि—२।२।

'गो' का व्यवहार हो गया। यह भी लक्षणा का ही उदाहरण है, अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि (ऋ० १०।९४।९) में गो का अर्थ अधिषवणार्थ गोचर्म है, गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व (ऋ०६।४६।२६) में गो का अर्थ गोस्नायु है, गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता (ऋ० ६।७५।११) में गो का अर्थ ज्या (प्रत्यंचा) है। सब तद्धितार्थक लक्षणा के उदाहरण हैं।

(ई) यास्क ने बहुत-सी ऐसी धातुओं को माना है, जिनका उल्लेख पाणिनि के नाम से प्राप्त धातुपाठ में नहीं है, जैसे नक्ष् से नक्षत्र[1], तुक् से सुतुक[2], श्नथ् से शिश्न[3], व्रन्द् से व्रन्दी[4], लत् से लता[5] आदि की सिद्धि की है। इनमें केवल नक्ष् (णक्ष) भ्वादि में प्राप्त है, पर पाणिनि ने नक्ष्[6] धातु से नक्षत्र नहीं बनाया है, निषेधार्थक न के साथ क्षर् धातु के योग से नक्षत्र का निपातन किया है। इससे सन्देह होता है कि यह पाठ बाद का है।

(उ) साथ ही कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनके निर्वचन के लिए यास्क को धातु टटोलनी पड़ी है; जैसे मृग को यास्क ने मृज्[7] से बनाया है जबकि धातुपाठ में 'मृग[8] अन्वेषणे' प्राप्त है। संग्राम शब्द सम्+ग्राम[9] से बनाया है, पर धातुपाठ से संग्राम[10] एक धातु ही है। ऊर्णा शब्द वृ धातु या ऊर्णु धातु से बनाया[11] गया है, जबकि धातुपाठ में स्पष्ट ही ऊर्णु धातु प्राप्त[12] है और अर्थ भी दोनों का एक ही है। 'पशुः[13] पश्यतेः' से लग रहा है कि कोई दिवादि पश् धातु था; क्योंकि दृश् से पश् कैसे होगा। दोनों में कोई अर्थसाम्य नहीं। परन्तु आज दिवादि में कोई पश् धातु नहीं है, चुरादि में बन्धनार्थक पश् धातु है, जिसका पाशयति रूप बनता है, पर यह प्रक्षेप लगता है। रुशत् को रुच् धातु से बनाया गया है (२।६) जबकि रुश् धातु वर्त्तमान है। चन्द्रः को चन्द् धातु से बनाया है, किन्तु इसका अर्थ यास्क ने दिया है कान्ति, जबकि इसका अर्थ भ्वादि गण में लिखा है आह्लाद; और फिर चन्द् धातु की सत्ता में ही सन्देह से इसे दूसरे प्रकारों से बनाने की चेष्टा की है। स्त्री का निर्वचन यास्क ने दिया है—स्त्यायतेः अपत्रपणकर्मणः (३।४) अर्थात् स्त्यै का अर्थ है लजाना, पर भ्वादि में यह 'स्त्यै ष्ट्यै[14] शब्दसंघाते' रूप में पढ़ा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क के समय कोई सुव्यवस्थित धातु-पाठ नहीं था, भाषाविज्ञानी स्वयं प्रयोग देखकर, आवश्यकता के अनुरूप धातुओं और उनके अर्थों का अनुसन्धान कर रहे थे।

---

१. ३।४।
२. ४।३।
३. ४।३।
४. ५।३।
५. ५।४।
६. ६।३।७५।
७. १।६ तथा १३।१।
८. चुरादि।
९. ३।२।
१०. चुरादि।
११. ५।४।
१२. अदादि।
१३. ३।३।
१४. १।१।

निरुक्ति के विविध मार्ग :

(ऊ) जैसाकि अभी कहा गया है कि यास्क का उद्देश्य यह दिखाना नहीं था कि किसी भी प्रातिपदिक रूप में या धातुरूप में कौन-सा सुप् प्रत्यय तथा तिङ् प्रत्यय है, उन्होंने विश्लेषण से केवल उनकी प्रकृति अर्थात् प्रातिपदिक (नाम) तथा धातु (आख्यात) को ही पृथक् करके दिखाया है। इतना ही नहीं, यदि वह प्रातिपदिक यौगिक है तो उसकी प्रायः मूल धातु ही बताई है या समास का उल्लेख किया है। उसमें कौन-सा प्रत्यय जुड़ा है, उसका क्या अर्थ है, यह विरल स्थलों में ही प्रदर्शित किया गया है। नीचे इस प्रकार के स्थल उद्धृत किये जा रहे हैं—

(क) राजा राजतेः, वर्णः वृणोतेः, रूपं रोचतेः, दण्डो ददतेधरयतिकर्मणः दमनादित्यौपमन्यवः (२।१)।।

पशुः पश्यतेः, ह्रस्वः ह्रसतेः खम् खनतेः, देवरः दीव्यतिकर्मा (३।३)।।

पवित्रम् पुनातेः, तोदः तुद्यतेः, अरिः ऋच्छतेः (५।२)।।

छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात्, यजुः यजतेः (७।३)।।

इस प्रकार अधिकांश शब्दों में धातु-मात्र दिखाई गई है, प्रत्ययों तथा उनके अर्थों की उपेक्षा कर दी गई है। इससे कहीं-कहीं सन्देह पैदा होता है। मन्त्राः मननात् (७।३) तथा मनुः मननात् (१२।३) से यह स्पष्ट नहीं हुआ कि मन्त्र तथा मनुः शब्द के अर्थों में क्यों अन्तर पड़ा? हाँ, जहाँ धातु का ही अर्थ स्पष्ट नहीं है, वहाँ उसे स्पष्ट कर दिया है; जैसे मत्सरः मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः (२।२) शुक्रम् शोचतेः ज्वलतिकर्मणः (अ० ८), त्वष्टा त्वक्षतेर्वा करोतिकर्मणः (अ० ८), हासमाने हासतिः स्पर्धायां हर्षमाणी (९।४) आदि।

(ख) वर्णः वृणोतीति सतः (५।२), पुरुषः पूरयति यः (२।१), तडित् ताडयति (३।२), दुहिता दोग्ध्री (३।१), मन्मभिः मननीयैः (१०।१), चित्रम् चायनीयम् (१२।१) माता निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (२।२), जग्मिः गन्ता (५।३) जक्षिवांसः पपिवांसः खादितवन्तः पीतवन्तश्च (१२।४) आदि के द्वारा धातु-निष्पन्न शब्दों में प्रत्यय के अर्थ तथा प्रकृतिभूत धातु का भी संकेत कर दिया। इसी प्रकार दण्ड्यः पुरुषःदण्डमर्हति, दण्डेन सम्पद्यते (२।१), आर्ष्टिषेणः ऋष्टिसेनस्य पुत्रः (२।४), अग्रिया अग्रगमनेन (६।३) केशी केशाः रश्मयः तैस्तद्वान् भवति (१२।३), रजिष्ठैः ऋजुतयैः (८।४), ग्रसिष्ठः ग्रसितृतमः (६।२), वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी (१२।१), दवीयः दूरतरम् (६।२) अप्यम् अद्भिः संस्कृतम् (११।४) इदंयुः इदं कामयमानः (६।६) आदि नामज यौगिक शब्दों में मूलप्रातिपदिक का तथा प्रत्यय के अर्थ का भी संकेत कर दिया। इन धातुज तथा नामज शब्दों में प्रत्यय तो नहीं बताये, किन्तु जो समुदायार्थ बताये वे ही प्रत्ययार्थ हैं, अतः प्रत्ययों के अर्थ भी व्यक्त कर दिये।

(ग) पर कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ यास्क ने प्रकृति के साथ प्रत्यय का भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, जैसे गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद्दूरं गता भवति, यच्चास्यां

भूतानि गच्छन्ति, गातेर्वौकारो नामकरणः (२।२)। यह सर्वांगपूर्ण निरुक्ति है। इसमें पहले गौ शब्द का अर्थ दिया, फिर इसकी प्रकृति दे दी 'गम्' या 'गा' और प्रत्यय भी बता दिया 'औ'। इसी भाँति 'क्षीरं क्षरतेः घसेर्वेरो नामकरणः उशीरमिति यथा' (२।२) कहकर क्षीर में 'घस्' धातु और 'ईर' प्रत्यय भी बता दिया, साथ ही 'उशीर' का उदाहरण देकर 'ईर' प्रत्यय की सत्ता में प्रमाण भी दिया, और 'पय' शब्द के बाद 'क्षीर' शब्द की व्याख्या देकर उसका अर्थ 'पय' (दूध) भी स्पष्ट कर दिया। इसी प्रकार कक्ष में कष् धातु से क्स प्रत्यय मानकर प्रकृति-प्रत्यय दोनों दे दिये (२।१)।

(घ) जहाँ केवल समास दिखाना है, वहाँ केवल दोनों पदों को तोड़कर पृथक्-पृथक बता दिया है, जैसे सुशेवः सुसुखः (१०।२), महिव्रतः—महाव्रतः (३।३), सोमपीतये सोमपानाय (६।४), इन्द्रशत्रुः इन्द्रोऽस्य शमयिता शातयिता वा (२।५), प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा (३।३), हिरण्यरूपम् हिरण्यस्येवास्य रूपम् (३।३), शिपिविष्टः शेप इव निर्वेष्टितः (५।२), विश्पतिम् सर्वस्य पातारम् (४।४), उभयाहस्ति उभाभ्यां हस्ताभ्याम् (४।१) आदि। इनमें कहीं दोनों पद दिये हैं, कहीं एक पद देकर दूसरे पद का अर्थ ही दिया है। कभी दोनों पदों के बदले दोनों का पर्याय भी देकर अर्थ और समास बता दिया है; जैसे रत्नधातमम् रमणीयानां धनानां दातृतमम् (७।४), विश्पतिम्, शिपिविष्टः आदि।

(ङ) जहाँ उपपदतत्पुरुष हुआ है, वहाँ ऐसा विग्रह किया है कि पहला खण्ड नाम और दूसरा खण्ड धातु भी स्पष्ट हो जाता है तथा यह भी पता चल जाता है कि प्रत्यय किस अर्थ में हुआ; जैसे क्रव्यादे क्रव्यमदते (६।३), उर्वशी उरु अश्नुते (५।३), कच्छपः कच्छेन पिबति (४।३), नाराशंसः येन नराः प्रशस्यन्ते स मन्त्रः (६।१) इत्यादि।

निरुक्ति-सिद्धान्त :

यास्क ने निरुक्ति-सिद्धान्त के विवेचन के प्रसंग[1] में निम्नलिखित बातें कही हैं—

(क) जिस शब्द का निर्वचन ढूँढ़ना है, उसके लिए ऐसी प्रकृति और प्रत्यय ढूँढ़ें, जिसका अर्थ इस शब्द के अर्थ के साथ मिलता हो; साथ ही मूल शब्द (प्रकृति) की ध्वनियों में वह स्वर (उदात्तादि) और विकार स्वाभाविक और प्रचलित हो, जो इस निर्वचनीय शब्द में मिल रहा है; जैसे राज् से राजन्—राजा, द्युत से ज्योति, हन् से घन आदि। अर्थात् सन्देहयुक्त प्रामाणिक निर्वचन वह है, जहाँ आधार तथा आधेय शब्दों में अर्थ-सादृश्य के साथ ध्वनि-सादृश्य भी हो (अथ निर्वचनम् तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणन्वितौ स्याताम् तथा तानि निब्रूयात्)।

(ख) यदि बहुत ढूँढ़ने पर भी ऐसा आधार शब्द नहीं मिले, जिसमें आधेय (निर्वचनीय) शब्द के साथ अर्थ-सादृश्य तथा ध्वनि-सादृश्य दोनों मिलते हों, तो ऐसी स्थिति में ध्वनि-सादृश्य की उपेक्षा कर अर्थ-सादृश्य ढूँढ़ें; क्योंकि ध्वनिविकार की दिशा अनन्त है। कहना कठिन है कि इस ध्वनि के स्थान में यह ध्वनि नहीं हो सकती, सभी ध्वनि-

१. अध्याय २, पाद १।

विकार-नियम अपूर्ण हैं; जैसे वधू का निर्वचन वध् धातु से नहीं वह् धातु से, गाध का गाध् से नहीं गाह् से, ओघ का ऊह् से नहीं वह् से करना चाहिए (अर्थानन्वितेर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत, केनचिद् वृत्तिसामान्येन)।

(ग) यदि अर्थ-सादृश्य ठीक से नहीं प्राप्त हो सके, तो भी ध्वनि-सादृश्य-मात्र से कोई-न-कोई निर्वचन (आधार शब्द) अवश्य बतावे ऐसा न करे कि स्पष्ट सम्बन्ध के अभाव में किसी शब्द की निरुक्ति देना ही छोड़ दे। भाषा (व्याकरण) के नियमों की बहुत परवाह न करे; क्योंकि भाषा-सम्बन्धी नियम (वृत्तियाँ) सदा अनिश्चयात्मक होते हैं। जहाँ तक सम्भव हो, अर्थ के अनुकूल प्रकृति और प्रत्यय दोनों भागों की (विभक्तीः) ध्वनियों में परिवर्त्तन मान ले; जैसे सृज् से रज्जु, कसिता से सिकता, भिद् से बिन्दु आदि (अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निब्रूयात्। न त्वेव न निब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्)।

(घ) जैसे ध्वनिविकार के लिए इतनी दिशाएँ हैं—(१) धात्वादि शेष, (२) धात्वादि-लोप, (३) धात्वन्त-लोप, (४) उपधा-लोप, (५) उपधा-विकृति, (६) एकवर्णलोप, (७) वर्णद्वयलोप, (८) आदिविपर्यय, (९) आद्यन्तविपर्यय, (१०) वर्ण का आगम आदि। इन सबों के उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं।

(ङ) इसी प्रकार[१] धातुओं में इस बात का खयाल रखना चाहिए कि कुछ धातुएँ ऐसी होती हैं कि उनमें दो धातुएँ घुसी रहती हैं। प्रायः जिन धातुओं में स्वर के अनन्तर अन्तस्थ रहता है, सब ऐसे ही होते हैं। जब कोई शब्द ऐसी धातु के एक रूप से सिद्ध नहीं हो, तो उसके दूसरे रूप से उसे सिद्ध करने की चेष्टा करनी चाहिए। उन दोनों रूपों में एक ही से अधिकांश शब्द सिद्ध होते हैं, दूसरे से कम ही शब्दों की निष्पत्ति होती है; जैसे अव्, प्रथ्, यज् आदि में दो-दो प्रकृतियाँ संश्लिष्ट हैं, अव्—ऊ, प्रथ्—पृथ्, यज्—इज् और दोनों से विविध शब्द बनते हैं; जैसे अवन—ऊति, प्रथा—पृथु, यज्ञ—इज्या आदि। यह सम्प्रसारण-नियम का संकेत है।

(च) कभी ऐसा[२] भी होता है कि एक भाषा की प्रकृति से दूसरी भाषा के प्रत्यय हो जाते हैं, जैसे वैदिक घृ धातु से लौकिक घृत शब्द तथा लौकिक दम् धातुओं से वैदिक दमूनाः शब्द सिद्ध होता है। (जैसे हिन्दी में किताब से किताबात की जगह किताबें बहु-वचन बनाते हैं।)

---

१. तद् यत्र स्वराद् अनन्तरा अन्तस्था अन्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायाम् अनुपपद्यमानायाम् इतरथा उपपिपादयिषेत्। तत्राप्येके अल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। तद्यथैतत् ऊतिः, मृदुः पृथुः पृषतः कुणारुम् इति।

२. अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते, दमूनाः क्षेत्रसाधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः, उष्णम्, घृतमिति।

(छ) कभी ऐसा[1] होता है कि किसी धातु का शुद्ध रूप एक भाषा में व्यवहृत होता है, और उसका विकारयुक्त रूप दूसरी भाषा में प्रयुक्त होता है, अथवा एक प्रत्यय-वाला एक भाषा में और दूसरे प्रत्ययवाला दूसरी भाषा में। इस प्रकार का निर्वचन उस शब्द का करना चाहिए, जो पूरा, आदिम से अन्त्य ध्वनि तक केवल एक पद बनता हो।

(ज) तद्धित में, जहाँ एक ही पर्व रहता है और समास में, जहाँ दो पर्व रहते हैं, निर्वचन कुछ दूसरे ढंग से करना चाहिए। वहाँ पूर्वभाग को परभाग से पृथक् कर निरुक्ति देनी चाहिए। जैसे दण्ड्यः की व्युत्पत्ति होगी—दण्डम् अर्हति। यहाँ एक ही पर्व है दण्ड, और उससे 'य' यह तद्धित प्रत्यय जुड़ा है, जो एक स्वतन्त्र पर्व नहीं है। पर राजपुरुषः की व्युत्पत्ति होगी राज्ञः पुरुषः, यहाँ दो पर्व हैं, जिनमें राज्ञः पूर्व-पर्व और पुरुषः उत्तर-पर्व है, और दोनों स्वतन्त्र हैं। तद्धित[2] और समास-स्थल में जहाँ कहीं भी निर्वचन करना हो, वहाँ इसी प्रकार यथासम्भव पूर्व-पर्व (खण्ड) तथा पूर्व और उत्तर दोनों पर्वों का विभाजन अवश्य कर लेना चाहिए। एक पर्ववालों का निर्वचन इस प्रकार नहीं करना चाहिए।

भला इससे अधिक सर्वांगपूर्ण और व्यापक निर्वचन की कसौटी आज भी कौन बता सकता है? निरुक्ति-विज्ञान के महारथी यास्क ने निर्वचन की कौन-सी दिशा इसमें नहीं बताई? वस्तुतः जिस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण या पदविज्ञान से लोगों को आश्चर्य में डाल दिया है, वैसे ही यास्क ने अपने निरुक्ति-विज्ञान से।

इस पूरे सन्दर्भ से इतनी बातों पर आनुषंगिक रूप से प्रकाश पड़ता है:

(अ) निरुक्तकार के समय तक यह स्पष्ट हो गया था कि स्वरों (अकारादि) को अक्षर तथा व्यंजनों को वर्ण कहते थे, इसीलिए अक्षर और वर्ण दोनों के सादृश्य की चर्चा की गई है (दे०—पृ० ५६१ का ग)।

(आ) ध्वनिसादृश्य के साथ स्वर (उदात्तादि) सादृश्य भी देखा जाता था (वही)।

(इ) ध्वनि-विकार केवल प्रकृति-भाग में नहीं, प्रत्यय-भाग में भी ढूँढे गये थे; जैसे पच्+त=पक्व, छिद्+त=छिन्न आदि में दोनों में, वप्+त्=उप्त, स्वप्+त=सुप्त आदि में केवल प्रकृति में तथा शुष्+त=शुष्क, लू+त=लून आदि में केवल प्रत्यय में विकृति हुई है ('विभक्तीः' शब्द का यही स्वारस्य है; दे०—पृ० ५६१ का ग)।

(ई) यास्क के समय भी शब्दसिद्धि के साधन कृत्, तद्धित तथा समास-रूप वृत्तित्रय का पूरा अनुसन्धान और निश्चय हो चुका था। ये चारों पारिभाषिक शब्द भी वृत्ति, कृत्,

---

१. अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते.........विकारमस्यार्या भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

२. "अथापि तद्धित समासेष्वेकपर्वसु वाऽनेकपर्वसु पूर्वम् पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्" "एवं तद्धित समासान्निर्ब्रूयात्"।

तद्धित तथा समास खूब प्रचलित हो चुके थे। इनका उल्लेख यास्क ने इसी प्रसंग में कर दिया है, 'विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति', 'अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते' [सन्ति अल्पप्रयोगाः कृतः अपि एकपदिका— १।४], 'अथापि तद्धित समासेष्वेक पर्वसु वानेक पर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निब्रूयात्, एवं तद्धित-समासन्निब्रूयात्' आदि)।

(उ) सबसे आश्चर्य तो यह लगता है कि यास्क ने कृत् प्रत्ययान्त को एक पद तथा तद्धित प्रत्ययान्त को एक पर्व अर्थात् पद से युक्त दूसरा पद कैसे समझा था ? जैसे दातिः, दात्रम्, शवः, दमूनाः, उष्णम्, घृतम् आदि को उन्होंने एक पद घोषित किया; क्योंकि कृत्-प्रत्ययान्त होने पर इनकी प्रातिपदिक संज्ञा होगी, फिर सुप् विभक्तियाँ आयेंगी, और सुबन्त की पद-संज्ञा होगी। परन्तु दण्ड्यः कक्ष्या आदि तद्धितान्त शब्दों में दण्डम् अर्हति, कक्षं सेवते (या कक्षे भवा) आदि विग्रहों में दण्ड अम् तथा कक्ष अम् (या कक्ष इ) से य (यत्) प्रत्यय होता है और तद्धितान्त समुदाय[1] की प्रातिपदिक संज्ञा तथा मध्यवर्त्ती सुप् विभक्ति के लोप[2] के बाद समुदाय से फिर से नई सुप् विभक्ति आती है, यही प्रक्रिया[3] है। अतः दण्ड्यः, कक्ष्या आदि शब्दों में समुदाय तो पद है ही; अन्तर्वर्त्ती प्रातिपदिक-खण्ड दण्ड, कक्ष आदि भी सुबन्त होने से पद[4] ही हैं, इन्हीं को यास्क ने पर्व कहा है। दातिः, दात्रम्, घृतम् आदि में तो दा धातु घृ धातु से कृत् प्रत्यय होता है, तिङन्त से नहीं। अतः दाति, घृत आदि में दा, घृ रूप धातुखण्ड पद नहीं कहे जा सकते। इसीलिए कृत् प्रत्ययान्त में पर्व का प्रश्न ही नहीं उठाया, वे सब एकपद हैं। केवल कृदन्त-समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा हुई तथा सुप् विभक्ति आई, और समुदाय एक पद बना। समास में तो एक पद के भीतर दो पर्व या पद हैं, राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः में दोनों अलग-अलग भी सुबन्त, इसलिए पद हैं, इस कारण इस पद में दो पर्व (या अनेक पर्व) हैं। दण्ड्य, कक्ष्या आदि तद्धितान्त स्थलों में दो पद पृथक्-पृथक् नहीं, बल्कि एक समुदाय-रूप पद के भीतर दूसरा अंग-रूप पद प्रविष्ट है, इसलिए यहाँ पर्व एक ही माना जायगा, दो नहीं।

पाणिनि ने सम्भवतः मन में यह बात रखकर ही 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः[5] प्रातिपदिकम्' कहा था। इतनी लम्बी संज्ञा साभिप्राय ही होगी। जिन्हें प्रातिपदिक कहते हैं, उनमें दो

---

१. कृत्तद्धित समासाश्च।

२. सुपो धातुप्रातिपदिकयोः।

३. सुबन्तात् तद्धितोत्पत्तिः।

४. पाणिनि ने यकारादि तथा स्वरादि तद्धितों के पूर्ववर्त्ती प्रातिपदिक को पदत्व-निषिद्ध कर 'भ' संज्ञा की है, पर यह तो शास्त्रनिर्वाह के लिए है, 'यचि भम्' १।४।१८।

५. १।२।४५।

विशेषताएँ होती हैं, वे अर्थवान् अवश्य होंगे तथा जहाँ भी रहेंगे, प्रत्येक जगह पद बनकर ही रहेंगे। प्रातिपदिक की तीन ही स्थितियाँ हो सकती हैं : (क) उनसे सुप् विभक्तियाँ आयेंगी, जैसे दण्ड से स् विभक्ति आई, दण्डः, यहाँ दण्ड: सुबन्त होने से पद हुआ; (ख) उनसे तद्धित होंगे, जैसे दण्ड + मतुप्—दण्डवान्, यहाँ यह तद्धित भी सुबन्त से ही होगा, अतः यहाँ भी दण्ड पद होगा; (ग) उनसे क्यच् आदि प्रत्यय होंगे, जैसे दण्डकाम्यति, यहाँ यह काम्यच् प्रत्यय भी सुबन्त से ही होगा, अतः यहाँ भी दण्ड पद ही रहेगा। अर्थात् कहीं भी किसी भी प्रातिपदिक का प्रयोग होगा तो उसके बाद सुप् अवश्य आयगा, सुप् प्रत्यय को छोड़कर प्रातिपदिक[1] अकेला रह ही नहीं सकता। धातुओं में ऐसी स्थिति नहीं कि वे हर जगह तिङन्त ही बनकर रहें, 'दा दाति, दातः, दान्ति'- आदि में तो तिङ्न्त बनता है, परन्तु दाति, दात आदि में तिङ् से वियुक्त भी रहता है।

वृत्तिपञ्चक और निरुक्ति :

ये तीन वृत्तियाँ मुख्य हैं—कृत्, तद्धित तथा समास। निर्वचन के लिए एकशेष और सनाद्यन्त धातु[2]-रूप वृत्तियों की अपेक्षा नहीं। एकशेष में प्रातिपदिक से सुप् विभक्ति आती है, और सनाद्यन्त धातुरूपों से तिङ् विभक्ति; और सुप् या तिङ् की वृत्तियों में गणना नहीं है। वृत्ति का अर्थ है कुछ नया अर्जन करना[3]। धातु के लिए तिङ् तथा प्रातिपदिक के लिए सुप् विभक्तियाँ कुछ नया अर्जन नहीं, ये तो उनका विभाग, एक अवयव-सी हैं, विना इनके योग के उनमें पूर्णता ही नहीं रहती। पाणिनि ने भी इसीलिए इन तीन वृत्तियों का एक जगह उल्लेख किया है, कृत्तद्धित समासाश्च। शेष दो वृत्तियाँ गौण हैं। उनमें भी वृत्तित्व अवश्य है, पर वह गौण है।

ये चारों नाम भी कितने सार्थक हैं ?

क. वृत्ति अर्थात् जीविका-अर्जन, धन-अर्जन—इन पाँच वृत्तियों से धातु और प्रातिपदिक कुछ नया अर्थ अर्जन करते हैं।

ख. कृत् अर्थात् करनेवाला। धातु से किये गये प्रत्यय के लिए कितना सार्थक नाम है यह ! 'करोति' सभी धातुओं में वर्त्तमान क्रिया-अंश को बताता है और 'कृत्' धातुओं से किये गये सभी प्रत्ययों को। कृत् प्रत्यय सदा कर्त्ता में होता ही है और 'कर्त्ता' तथा 'कृत्' का एक ही अर्थ भी है—करनेवाला। चाहे दाता कहें, या दायकः, या दायः या

---

१. स्त्री-प्रत्यय असुबन्त से वृत्तयः ही होते हैं, किन्तु प्रातिपदिक ग्रहण से लिंग विशिष्ट का भी ग्रहण होता है, अतः 'बुद्धिमत् + ई + सुप् यहाँ भी प्रातिपदिक के अव्यवहित बाद ही सुप् हुआ। बुद्धिमती शब्द बुद्धिमत् से भिन्न नहीं समझा जाता।

२. कृत् तद्धित समास एकशेष सनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः।

३. परार्थाभिधानं वृत्तिः।

दः (गोदः), या दावा (भूरिदावा), गन्ता, या गमकः, या गः (खगः) या गमः (भुजङ्गमः), या गत् (अंङ्गगत्), या गामी (दूरगामी), सब जगह एक अर्थ है देनेवाला, और जानेवाला। कृत् प्रत्यय करने पर धातु क्रिया नहीं संज्ञा बन जाती है, अतः यास्क ने कृत् प्रत्ययों को एक और नाम भी दिया है, 'नामकरण' अर्थात् नाम या संज्ञा बना देनेवाला; जैसे 'क्स इतिनामकरणः' —२।१। 'कष्' धातु से जब 'क्स' प्रत्यय कर दिया गया, तब यह 'कक्ष' ऐसा संज्ञावाचक बन गया, क्रिया शब्द नहीं रहा। कृत् धातुप्रत्यय है, अतः यह शब्द भी कृ धातु से ही बनाया गया।

ग. तद्धित प्रातिपादिक प्रत्यय है, अतः यह शब्द प्रातिपादिक से बनाया गया। तद्धित का अर्थ है उनके लिए हितकर। 'उनके लिए' से चाहे प्रातिपदिकों के लिए समझें, चाहे प्रयोगों के लिए। तद्धित प्रत्ययों से प्रातिपदिकों की अच्छी वृत्ति चलती है। एक ही 'लघु' प्रातिपदिक से लघुतरः, लघीयान्, लघिष्ठः, लघुतमः, लघुत्वम्, लाघवम्, लघुता आदि अनेक शब्द तद्धित की ही सहायता से होते हैं।

घ. समास अर्थात् पृथक्-पृथक् वर्त्तमान खण्डों को एक जगह संक्षेप से रखना। व्यास का विपरीतार्थक है समास, वेदों में जो समास से कहा गया था, उसे ही पुराणों में व्यास से (विस्तार से) कहा गया। निरुक्त ने एक उद्धरण दिया है (४।४ : पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणम (शतपथ १।५।२।१६) हेमन्तशिशिरयोः समासेन (ऐ० ब्रा० १।१।१), अर्थात् हेमन्त और शिशिर दोनों को मिलाकर एक शीतऋतु कर दें, तो ऋतुएँ ५ ही कही जायेंगी। यास्क ने स्वयं भी समास का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः (गो० ब्रा० १।५।५) इति च ब्राह्मणं समासेन, सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः (ऐत० ब्रा० २।७) इति च ब्राह्मणं विभागेन।

(ऊ) इस प्रसंग में यास्क ने दो और भाषावैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे यह स्पष्ट है कि ये दो संज्ञाएँ उस समय भी प्रचलित थीं—(१) कर्म अर्थात् क्रिया (क्रियते इति ३।१)। यास्क ने जहाँ किसी धातु का अर्थ बताया है, वहाँ कर्म शब्द का ही प्रयोग किया है; जैसे 'दण्डो ददतेर्धारयति कर्मणः'[1] अर्थात् दण्ड दद् धातु से बन सकता है, जो धारयति क्रिया (को कहने) वाला है। पाणिनि ने भी 'न कर्मव्यतिहारे'[2] आदि स्थलों में क्रिया-अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग किया है। (२) अभ्यास अर्थात् आवृत्ति। 'ख्यातेर्वाऽद्रनर्थकोऽभ्यासः', 'कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः' से यास्क धातु के द्वित्व को ही प्रकट कर रहे हैं। 'ख्या' (कशा) का द्वित्व कर 'ख्या ख्या' = 'कक्ष' बना सकते हैं, तथा 'कद्राति' का द्वित्व कर 'क कद्राति'—'चकद्राति' बना सकते हैं। यह भी ध्यातव्य है कि ख्या की

१. यहाँ ऐसा लगता है कि 'ददतेः' नहीं, 'दधाते' या 'दधतेः' पाठ होना चाहिए। धारण अर्थ 'धा' या 'दध्' का हो सकता है, 'दद्' का अर्थ देना होगा।

२. ७।३।६।

तरह कद्राति में जब धातु का द्वित्व करते हैं तब तीनों अक्षरों का नहीं, केवल प्रथम अक्षर 'क' का ही। अर्थात् यह तथ्य भी यास्क के सामने पूर्ण प्रचलित था कि जब धातु का अभ्यास किया जाता है, तब अनेकाच् में प्रथम एकाच्[1] का ही। याद रहे कि पाणिनि के बहुत पहले यास्क ने यह निरुक्त लिखा था। हाँ, एक बात है। यास्क ने अभ्यास का प्रयोग द्वित्व के पर्याय के रूप में किया है, तथा अभ्यस्त का अभ्यास के विशेषण (अभ्यास-युक्त) के रूप में[2], लेकिन पाणिनि ने शास्त्र-प्रक्रिया में अपनी सुविधा के लिए धातु के द्वित्व-स्थल में पूर्व खण्ड को अभ्यास[3] तथा उत्तर खण्ड को अभ्यस्त[4] कहा है।

(३) निरुक्त में कुछ और भी पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। संहिता का लक्षण 'परः सन्निकर्षः[5] संहिता' दिया है, जिसे पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी[6] में अक्षरशः ले लिया है। प्रेरणार्थक के लिए कारित[7] शब्द आया है, जो प्रातिशाख्यों में तो प्रसिद्ध है, पर पाणिनि-शास्त्र में नहीं रखा गया है। प्रेरणार्थ की तुलना में मूल धातु को 'शुद्ध' कहा गया है। इसी प्रकार यङन्त का नाम चर्करीत 'चोष्कूयमाण इति चोष्कूयतेः चर्करीतवृत्तम् ६।६, आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीत वृत्तम् २।७' भी पाणिनिगृहीत नाम नहीं है। किन्तु ये तीनों संज्ञाएँ अन्वर्थ और प्रयोग में लाने योग्य हैं। कारित और चर्करीत क्र के ही क्रमशः प्रेरणार्थक तथा यङन्त रूप हैं।

(४) तद्धित

(क) तद्धित प्रत्ययों में बहुतों के अर्थ स्पष्ट हो चुके थे, जैसे दण्ड्यः पुरुषः दण्डमर्हति आर्ष्टिषेणः ऋष्टिसेनस्य पुत्रः, केशी रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति, मेधावी कस्मात् मेधया तद्वान् भवति (३।४), अप्यम् अद्भिः संस्कृतम्, पाश्या पाशसमूहः (४।१), दिव्यः दिविजः (७।४), जालं जले भवम् (६।५) देवत्रा कृणुहि देवं[8] गमय (८।२)। किन्तु, कुछ जगहों में अभी यह अस्पष्टता है, जैसे यज्ञियानाम् यज्ञसंपादिनाम् (७।४), यहाँ यज्ञ शब्द से इय प्रत्यय पाणिनि ने अर्ह[9] अर्थ में स्वीकृत किया है, संपादी[10] अर्थ में तो इक प्रत्यय बताया है, अतः यज्ञिय का

१. एकाचो द्वे प्रथमस्य ६।१।१।
२. रराणो रातिरभ्यस्तः २।३, ररिवान् रातिरभ्यस्तः ४।४।
३. ६।१।४।
४. ६।१।५।
५. १।६।
६. १।४।१०९।
७. 'एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणम्, अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च' १।४।
८. इन सबकी चर्चा पीछे आ चुकी है।
९. तदर्हति·········यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ ५।१।६३ तथा ७१।
१०. सम्पादिनि ५।१।९९।

अर्थं होगा यज्ञ योग्य; यज्ञ-सम्पादक के लिए याज्ञिक शब्द होगा। इसी भाँति कक्षं सेवते अर्थ में कक्ष्या नहीं हो सकता, कक्षे भवाः विग्रह लिखना चाहिए, भव अर्थ में ही य प्रत्यय[१] पाणिनि ने बताया है। इसी प्रकार अग्रिया अग्रगमनेन (६।३) ठीक नहीं, अग्रे भवाः उचित था; ऋतुथा काले काले (१२।३) भी उपयुक्त नहीं; यथा, तथा, अन्यथा, सर्वथा की भाँति ऋतुथा का अर्थ होगा ऋतु के प्रकार से अर्थात् ऋतु के अनुकूल। वैसे फलितार्थंकथन से तो सब ठीक ही है। 'पुरुत्रा बहुधा' (६।२) तो और भी ठीक नहीं लगता, त्रा का अर्थ प्रकार नहीं है। पाणिनि ने त्रा का अर्थ देय लिखा[२] है।

(ख) बल्कि यजीयान् यष्टृतरः (८।२), दवीयः दूरतरम् (६।२), वरीयः वरतरम् (१८।२), वहिष्ठः वोढृतमः (५।१), ग्रसिष्ठः ग्रसितृतमः (६।२), पिष्टतमया सुरूपतमया (८।४) आदि प्रयोगों से ऐसा पता चलता है कि यास्क को यह पता था कि तुलना अर्थ में तर और ईयस् तथा तम और इष्ठ प्रत्यय होते हैं, और इनके योग में प्रकृति में कई विकार होते हैं, दूर के स्थान में दव्[३] हो जाता है, अन्त में आये तृ का[४] लोप भी होता है, परन्तु इसमें भी अभी स्थिरता नहीं आई थी। वनीयान् की वनयितृतमः व्याख्या (१२।१) तथा नेदीयः की अन्तिकतमम् (५।४) व्याख्या से यह भी पता चलता है कि अभी यह निश्चय नहीं हुआ था कि अनेक में से एक को पृथक् करने में ही तम और इष्ठ होंगे। अन्तिक का नेद आदेश[५] तो पता था, किन्तु 'रजिष्ठैः ऋजुतमैः (८।४) रजस्वलतमैः वा' तथा 'तपिष्ठैः तप्ततमैः' (६।३) से यह भी पता चलता है कि ध्वनि-विकार में अधिक स्वच्छन्दता थी, अन्यथा आज की संस्कृत में ऋजु के ऋ का[६] र् नहीं होगा और तप्त के त का या रजस्वल के वल का इष्ठ के पूर्व लोप नहीं होगा।

आदघनासः आस्यदघ्ना आस्यम् अस्यतेः आस्यन्दते एनदिति वा दघ्नम् दध्यतेः स्रवतिकर्मणः दस्यते र्वा (१।३), विकटः विक्रान्तगतिः (६।६) से पता चलता है कि यास्क के समय 'दघ्न'[७] और 'कट'[८] प्रत्यय-रूप में नहीं समझे जाते थे, ये स्वतन्त्र शब्द थे। 'था'[९] को तो यास्क स्पष्ट कहते ही हैं 'था इति च उपमायाम् स्वतन्त्र शब्दः (३।३)। किन्तु पाणिनि ने तीनों को प्रत्यय माना है। साथ ही इदंयुः इदं कामयमानः (६।६), अश्वयुः गव्युः वसूयुः (ऋ० १।५१।१४), अस्मयुः अस्मान् कामयमानः (६।४) आदि से यह सन्देह होता है कि पाणिनि को अहं शुभमोर्युस् बनाने की आवश्यकता नहीं थी, इदंयुः की भाँति अहंयुः शुभंयुः भी हो सकते थे।

---

१. तत्र भवः········शरीरावयवाच्च ४।३ के ५३ तथा ५५।

२. देव मनुष्य पुरुष पुरु मर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् ५।४।५६
पुरून् गच्छति पुरुषु वा वसति पुरुत्रा (तत्त्वबोधिनी)।

३. ६।१।१५६ (अष्टाध्यायी)।

४. ६।४।१५४।

५. ५।३।६३।

६. ६।४।१६१।

७. ५।२।३७।

८. ५।२।२६।

९. ५।३।२३।

(५) कृत् :

(क) गृहाः कस्माद् गृह्णन्ति (३।३) पविः पुनाति यः (५।१), कच्छपः कच्छेन पिबति (४।३), रोधः कूलं निरुणद्धि यः (६।१)।

(ख) मद्यम् मदनीयम् (५।१), अर्कः अर्चन्ति यम् (५।१), वरः वरयितव्यः (१।३), कर्म क्रियते इति (३।१);

(ग) नाराशंसः येन नराः प्रशस्यन्ते स मन्त्रः (६।१), प्रतिमानानि यैरेनं प्रतिमिमते (५।२), स्तोमः स्तवनात् (७।३), बाहू प्रबाधते आभ्यां कर्माणि;

(घ) भीमः बिभ्यत्यस्मात्, भीष्मोप्येतस्मादेव (१।६), समुद्रः समभिद्रवन्ति अस्मादापः (२।३), रक्षः रक्षितव्यं यस्मात् (४।३);

(ङ) माता निर्मीयन्ते अस्मिन् (२।२), जामिः जनयन्ति अस्याम् (३।१), धामानि येषु एना दधाति (६।३), आदि निरुक्तियों से लगता है कि सभी कारकों में कृत् प्रत्यय हो सकते हैं, यह बात और धनम् धिनोति (३।२), जनमाने जनिष्यमाणे (६।२), दाशुषे दत्तवते (११।१) आदि निरुक्तियों से लगता है कि कृत् प्रत्यय तीनों कालों में हो सकते हैं, यह बात सर्वविदित थी। साथ ही चरिष्णू सर्वदा सहचारिणौ (७।४) से तच्छील और तद्धर्म अर्थ में इष्णु आदि कृत्प्रत्यय, जात एव जायमान एव (१०।१) से वर्त्तमान में भी क्त प्रत्यय, पूषा यद् रश्मिपोषं पुष्यति (१२।२) से अनुप्रयोग का प्रचार आदि और भी बातें विदित होती हैं।

(६) समास :

सोमपीतये सोमपानाय[१] से षष्ठी तत्पुरुष, श्मश्रु श्मनि श्रितम्[२] से सप्तमी तत्पुरुष, पुरोगाः पुरोगामी[३], क्रव्यादे क्रव्यमदते[४] आदि से उपपद तत्पुरुष, हिरण्यरूपः हिरण्यवर्णस्येवास्यरूपम्[५], अरातयः अदानकर्माणः[६] आदि से बहुव्रीहि तथा उषासानक्ता उषाश्च नक्ता च[७] से द्वन्द्व समास का संकेत होता है, पर नाम किसी का नहीं दिया है, केवल अथातोऽष्टौ द्वन्द्वानि[८] से द्वन्द्व का उल्लेख है। अव्ययीभाव का तो संकेत भी नहीं है। निरुक्त को वैदिक शब्दों का ही निर्वचन बताना था और वेदों में अव्ययीभाव विरल दीखा होगा! सजोषाः सहजोषणः[९], सजात्यं समान जातिता[१०] आदि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समान और सह का सादेश भी ज्ञात था।

इस प्रकार कृत्, तद्धित और समास-रूप तीन वृत्तियों का पूरा विश्लेषण निरुक्तकाल में हो चुका था। देवयन्तः देवान् कामयमानाः[११] आदि से नामधातु-रूप सनाद्यन्तधातु तथा दैव्या होतारा दैव्यौ होतारौ, अयं चाग्निरसौ च मध्यमः तयोरेषा भवति[१२], चरिष्णू

१. ६।४।
२. ३।१।
३. ८।४।
४. ६।३।
५. ३।३।
६. ३।२।
७. ८।२।
८. ६।४।
९. ८।२।
१०. ६।३।
११. ८।४।
१२. ८।४।

सर्वदा सहचारिणौ, उषाश्चादित्यश्च[१] आदि से एकशेष रूप वृत्ति का भी संकेत मिल जाता है।

(७) निरुक्त की वैज्ञानिकता :

निरुक्त ने कुछ वेदप्रयुक्त शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन किया है, पर पाणिनि ने उन्हें आदेश मानकर उनका प्रयोग स्थान-विशेष में नियमित कर दिया है; जैसे—

(क) कनीना शब्द ऋग्वेद ४।३२।२३ में प्रयुक्त है और यास्क ने इसे स्वतन्त्र शब्द मानकर इसकी व्युत्पत्ति दी है, कन् धातु से इसकी निष्पत्ति बताई है, परन्तु पाणिनि ने इसका प्रयोग केवल कानीन प्रयोग में सीमित कर इसे कन्या शब्द का आदेश[२]-मात्र माना है।

(ख) धन्वन् का अकेला प्रयोग ऋग्वेद ६।७५।२ तथा ३ में आया है और यास्क ने इसे धन्व् धातु से निष्पन्न बताया है, पर पाणिनि ने इसे केवल शार्ङ्गधन्वा आदि बहुव्रीहि-स्थल में ही सीमित कर धनुष का आदेश[३]-मात्र कहा है।

(ग) धर्मन् का स्वतन्त्र पुंलिंग में प्रयोग ऋ० १।१८७।१ में तथा नपुंसक में प्रयोग ऋ० १०।८८।१ और १।१६४।५० में आया है। यास्क ने इसे धृ धातु से सिद्ध किया है, जैसे कर्मन्, जन्मन्, दामन्, धामन् आदि इसका नपुंसक प्रयोग भी मिलता है, 'धर्मं यो बाधते धर्मः न स धर्मः कुधर्म तत्' (महाभारत)। किन्तु पाणिनि ने इसे भी कल्याणधर्मा आदि बहुव्रीहि समास-स्थल में ही सीमित कर धर्म का एक आदेश-मात्र[४] कहा है।

(घ) मनुष् का अकेला प्रयोग ऋ० १०।११०।१, १।८०।१६, १०।११०।८ आदि में प्राप्त है, पर पाणिनि ने इसका प्रयोग केवल मनुष्य और मानुष इन दोनों में ही सीमित कर दिया है, तथा इनमें मनु शब्द से य तथा अ प्रत्यय कर बीच में ष् का आगम[५] बताया है। यास्क ने इसे स्वतन्त्र शब्द माना[६] है और मनुष्य की सिद्धि मनुष् शब्द से की[७] है। वपुष्, यजुष्, धनुष् की भाँति मनुष् भी स्वतन्त्र शब्द है।

(ङ) नु का स्वतन्त्र प्रयोग भी वेदों में बहुशः आया है, 'नु च पुरा च[८]' में तो पुरा की विरोधिता से स्पष्ट ही इसका अर्थ है अब (नु>नउ>नाउ now) पर कात्यायन[९] ने 'नव' के स्थान में 'नू' आदेश कर इसका प्रयोग केवल नूतन, नूत्न, नवीन आदि यौगिक शब्दों में ही स्थिर कर दिया है। यास्क ने 'नूनं'[१०] का अर्थ अद्यतन किया है, निश्चित नहीं।

(८) अग्नायी अग्नेः पत्नी[११], सूर्या सूर्यस्य पत्नी[१२], वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी[१३],

---

१. ७।८।

२. कन्यायाः कनीन च ४।१।११६।

३. धनुषश्च ५।४।१३२।

४. धर्मादनिच् केवलात् ५।४।१२४।

५. मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ४।१।१६१।

६. ८।२।

७. ३।२।

८. ऋ० १।६६।७।

९. पाणिनि सूत्र ५।४।२५ पर पठित वार्तिक 'नवस्य नू आदेशस्त्नप्तनप्खाश्च प्रत्यया वक्तव्याः'।

१०. ऋ० १।१७०।१।

११. ६।३।

१२. १२।१।

१३. १२।१।

की भाँति यास्क ने अरण्यानी अरण्यस्य पत्नी[1] कहकर अरण्यानी का अर्थ अरण्य की पत्नी माना है। परन्तु पश्चाद्वर्त्ती लोगों ने अग्नि और सूर्य को तो देवता समझकर उनकी पत्नी का होना स्वीकार किया, निर्जीव अरण्य के लिए यह कल्पना बालोचित समझकर अपनी विवेकशालिता से उसका अर्थ कर लिया महत् अरण्यम्, महान् वन। पर आश्चर्य है, 'अरण्यानि अरण्यानि असौ या प्रेवनश्यसि; कथा ग्रामं न पृच्छसि नत्वा भीरिव विन्दतीं'[2] इस कविता का प्राण मनुष्यत्वारोपण (personification) इनको नहीं खटका !

(९) यास्क ने कहा[3] है कि जो वैयाकरण तथा निरुक्तज्ञ न हो अर्थात् जो पद-निर्माण तथा शब्द-निर्माण-रहस्य नहीं जानता, और शिष्यभाव या जिज्ञासा नहीं रखता हो, उसे इस शास्त्र का प्रदान नहीं करना चाहिए। इसमें यास्क ने शब्द के ध्वनिपक्ष पर ही अधिक बल दिया है, असाहित्यिक या असहृदय को भी निर्वचनशास्त्र नहीं देना चाहिए। शब्दों के इतिहास में ध्वनि से अर्थों का अधिक महत्त्व यास्क ने भी माना[4] है। और अर्थ की छानबीन में काव्यशास्त्री सहृदय जितने निपुण होंगे, उतना केवल वैयाकरण नहीं होगा। तभी तो कात्यायन ने 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे'[5] कहकर पूर्वकवियों की अरण्यानी की कल्पना ही नष्ट कर डाली।

(१०) निरुक्त की त्रुटियाँ :

द्वितीयाध्याय के द्वितीय पाद के आरम्भ से ही यास्क ने निरुक्त का, निघण्टु के शब्दों के निर्वचन का, वास्तविक[6] आरम्भ किया है, उसके पहले तो भूमिका ही चली है। और पहले ही शब्द गो के अर्थ-निरूपण में 'प्रथमे ग्रासे मक्षिका पातः' हो गया है। जहाँ तक गो शब्द के निर्वचन का, ध्वनि के विश्लेषण का प्रश्न है, यास्क सही हैं। गत्यर्थक गम्[7] या गा से इसकी सिद्धि बताई गई है। वस्तुतः गमन से गवन, कमल से कवल आदि की भाँति गम् >गव् >गउ >गो या गौ हो सकता है। इसका अर्थ गाय भी उचित ही है, गौएँ चरने के लिए कहाँ से कहाँ निकल जाती हैं। कृष्ण को इन्हें वापस बुलाने के लिए कदम्ब के पेड़ पर चढ़कर वंशी टेरनी पड़ती थी। गो का अर्थ गाय का दूध[8], चाम[9], ताँत[10], प्रत्यंचा[11] आदि तद्धित-प्रयोगों की भाँति समझकर किया गया है, अर्थात् इन सब जगहों में गो का अर्थ है गव्य। साथ ही रश्मि[12] आदि अर्थ फिर उसी गम् धातु के अभिधेय अर्थ से ही लिये गये हैं।

---

१. ९।३। २. ऋ० १०।१४६।१।
३. नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे वा २।१।
४. अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत, केनचिद् वृत्तिसामान्येन २।१।
५. पाणिनि के सूत्र ४।१।४९ पर वार्त्तिक।
६. 'अथातोऽनुक्रमिष्यामः'।
७. गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वौकारो नामकरणः। अथापि च पशुनामेह भवति एतस्मादेव।
८. गोभिः श्रीणीत मत्सरम् (ऋ० ९।४६।४)।
९. अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि (ऋ० १०।९४।९)।
१०. गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व (ऋ० ६।४६।२६)।
११. गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता (ऋ० ६।७५।११)।
१२. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै, यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि (ऋ० १।१५४।६)।

परन्तु, किसी साहित्यिक से प्रश्न किया जाय तो वह इस अर्थ-विस्तार का गुर अपनी लक्षणाशक्ति बतायगा, जिसे वैयाकरण मानने तक को तैयार नहीं। अभिधेय अर्थ प्रायः एक ही होता है। योग तथा संकेत ग्राहक व्यवहार आदि से गो शब्द का वस्तुतः एक ही अभिधेय है गाय। किन्तु, अपनी चमत्कारक शक्ति से तात्स्थ्य, ताद्धर्म्य, तत्सामीप्य, तत्साहचर्य, तादर्थ्य आदि से, लक्षणा किसी शब्द का अर्थ कितनी सुन्दरता से और कितना विस्तृत कर देती है, यह नहीं समझ पाने से ही साहित्यिकजन वैयाकरणों को काष्ठ-कुड्य-अश्म-सन्निभ कहकर पुकारते हैं। उपर्युक्त प्रयोगों में तद्धित-प्रत्ययों को स्मरण करने की आवश्यकता नहीं है। अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्यानुपपत्ति से गो के क्रमशः गाय का दूध, गोचर्म, गाय की स्नायु से बनी तन्तु तथा गोतन्तुनिर्मित प्रत्यंचा सभी अर्थ तत्साहचर्यरूप-सम्बन्ध से, तथा किरणरूप अर्थ ताद्धर्म्य रूप-सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा प्राप्य हैं। कितना मनोरम कवित्व-पूर्ण सादृश्य (ताद्धर्म्य) है यह। किरणें गौओं के झुण्ड की भाँति तमाम धरती पर फैल जाती हैं।

वैयाकरण पाणिनि ने भी इस लक्षणा की उपेक्षा कर कितनी परेशानी उठाई है। जम्बू (वृक्ष) शब्द से फल अर्थ में अण्[1] प्रत्यय कर जाम्बव, अण् लुक् कर जम्बू तथा लुप् करके जम्बू शब्द बनाये हैं, हरीतकी[2] (वृक्ष) से अण् का लुप् कर फिर हरीतकी (फल) शब्द सिद्ध किया है। कात्यायन[3] ने इसे अपूर्ण समझकर व्रीहि-वृक्ष का फल व्रीहि, मुद्ग-वृक्ष का फल मुद्ग, जाती-लता का पुष्प भी जाती आदि शब्दों के लिए कई वार्त्तिक बनाये हैं। इसी प्रकार पाणिनि ने पंचाल, कुरु, अंग, वंग, कलिंग आदि देशों के रहनेवालों के लिए तथा अत्रि, भृगु आदि के अपत्यों के लिए इन शब्दों से अण् (आदि) प्रत्यय कर फिर उसका लोप बताया[4] है। यह सब अवैज्ञानिक है। तथ्य यह है कि इन स्थलों में तत्साहचर्य तात्स्थ्य तत्सामीप्य आदि सम्बन्धों से लक्षणा द्वारा मूल शब्द ही इन-इन अर्थों का बोधन कराता है। इसी भाँति चञ्चा के सदृश मनुष्य भी 'चञ्चा', 'शिव' की मूर्त्ति भी शिव आदि शब्दों के लिए भी पाणिनि को क प्रत्यय करके इसका लुप् करना पड़ा[5] है। ऐसे प्रयोग सादृश्य-मूलक लक्षणा के क्षेत्र हैं। पाणिनि ने 'लुब्योगाप्रख्यानात्' तथा 'योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्' कहकर[6] इस लुप् विधि का स्वयं प्रत्याख्यान कर दिया है, यह स्पष्ट ही लक्षणा की स्वीकृति है।

---

१. जम्ब्वा वा (४।३।१६५), लुप् च (४।३।१६६), लुक् तद्धितलुकि (१।२।४९), लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (१।२।५१)।

२. हरीतक्यादिभ्यश्च (४।३।१६७)।

३. पाणिनि सूत्र ४।३।१६६ पर वार्त्तिक 'फलपाकशुषामुपसंख्यानाम्', 'पुष्पमूलेषु बहुलम्'।

४. पा० सूत्र ४।१।१६८ से १७८ तथा २।४।५८ से ७० तक।

५. पा० सूत्र ५।३।९८ से १०० तक।

६. अ० १, पा० २।

(११) उपमा का विवेचन :

परन्तु लक्षणा-वृत्ति की उपेक्षा करके भी लक्षणा के आधारों में अतिप्रसिद्ध सादृश्य पर अवलम्बित उपमा का यास्क ने अच्छा विश्लेषण किया है। सादृश्य एक ओर लक्षणा को जन्म देकर शब्द की शक्ति को अति विस्तृत कर देता है तो दूसरी ओर, उपमा की उद्भावना कराकर वक्तव्य वाक्य को प्रभावशाली और रोचक बना देता है। संयोग से यास्क ने निर्वचन के प्रसंग में जितने मन्त्र उद्धृत किये हैं, उनमें से बहुतों में उपमा आई है।

यास्क को चार प्रकार के पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात के अर्थ देने थे। इनमें सूची-कटाह-न्याय से पहले उपसर्ग और निपात को ही लिया। एक और बात। नाम-शब्दों में तो निर्वचन भी देना था, केवल अर्थ देने से काम नहीं चल सकता था। धातुओं में निर्वचन नहीं देना था, केवल अर्थ ही बताना था। किन्तु, उनकी संख्या बहुत अधिक थी। अतः पहले अव्युत्पन्न तथा परिगणित उपसर्गों का अर्थ बता दिया, फिर अपेक्षाकृत अधिक निपातों का अर्थ-विश्लेषण आरम्भ किया। और यह भी एक विशेष बात है कि प्रादि का अपना कोई स्वतन्त्र अर्थ[1] नहीं होता, वे स्वसम्बद्ध नाम या आख्यात के अर्थ में ही थोड़ा घटाव-बढ़ाव करते हैं। यह बात बिलकुल सही है। पतंजलि ने भी कहा है : "तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह, तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियानिवृत्तिम् [2]" अर्थात् तिष्ठति का अर्थ है ठहरता है और प्रतिष्ठते का अर्थ है चलता है। ये दोनों विरोधी अर्थ स्था के ही हैं, प्र का अर्थ चलना (प्रस्थान) नहीं है, प्र केवल तात्पर्यग्राहक है। यही स्थिति गच्छति में है। गम् का अर्थ जाना और आना दोनों है, आ केवल आना अर्थ का तात्पर्यग्राहक है। यह बात अंग्रेजी में गम् के दो तद्भवों से स्पष्ट हो जाती है, अंग्रेजी के go और come विरोधार्थी हैं, पर दोनों गम् के ही तद्भव हैं। स्था और गम् का तो धातुपाठ ने एक-एक ही अर्थ लिखा है, किन्तु यु के दोनों विरोधी अर्थ लिखे हैं: "यु मिश्रणे चामिश्रणे च"। अर्थात् यु मिलाने और वियुक्त करने—दोनों में प्रयुक्त होता है। सचमुच विना उपसर्ग लगाये ही युत के एक तद्भव 'जुड़ा' और दूसरे तद्भव 'जुला' का अर्थ है संयुक्त, पर तीसरे तद्भव 'जुदा' का वियुक्त। निपातों का अपना अर्थ होता है, यद्यपि उनका अर्थ भी नाम और आख्यात की तुलना में अधिक परिवर्त्तनशील होता है। इसपर भूषण-मञ्जूषा आदि ग्रन्थ पठनीय हैं।

निपातों की तीन[3] कोटियाँ होती हैं—(क) उपमार्थक, (ख) अर्थपूर्त्यर्थक, तथा

---

१. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुः इति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। उच्चावचाः पदार्था भवन्ति इति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामख्यातयोरर्थविकरणम्''''एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः त उपेक्षितव्याः—१।१।

२. महाभाष्य, १।३।१, भूवादयो धातवः।

३. अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे, अपि कर्मोपसंग्रहार्थे, अपि पदपूरणाः''''प्रथमाध्याय का द्वितीय तथा तृतीय पाद।

(ग) पादपूर्त्यर्थक। (क) उपमार्थक जैसे इव, अग्निरिव[1], इन्द्र इव[2], न, चित् और नु ये चार। (ख) अर्थपूर्त्यर्थक—जैसे समुच्चयार्थक च, 'अहं च त्वं च वृत्रहन्'[3]; विचारणार्थक वा, 'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा'[4]; प्रतिषेधार्थक मा 'माकार्षीः', विभागार्थक अह, ह तथा उ—'अयमहेदं करोत्वयमिदम्', 'इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यति', 'मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्ति' आदि। (ग) पादपूर्त्यर्थक—जैसे कम्, ईम्, इद्—'शिशिरं जीवनाय कम्', 'एमेनं (आ+ईम्+एनम्) सृजतासुते'[5], 'तमिद् वर्धन्तु नो गिरः[6]' आदि। उपसर्गों और निपातों के अर्थ-विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि निरुक्ति में अर्थ-विश्लेषण भी आवश्यक है। यहाँ इनका निर्वचन नहीं, केवल अर्थ दिया है।

(१२) यास्क ने उपमा का बड़े विस्तार से वर्णन[7] किया है। गार्ग्य ने उपमा की परिभाषा[8] दी है अतत् (तत् से भिन्न) होते हुए तत्सदृश होना। कहीं प्रकृष्ट से अपकृष्ट की उपमा दी जाती है, कहीं अपकृष्ट से ही प्रकृष्ट की। जैसे 'तनूत्यजेव तस्करा'[9] तथा 'कुह स्विद् दोषो'[10] आदि। इनमें उपमाबोधक 'इव' यह निपात है। कहीं 'यथा' शब्द से क्रिया की उपमा मिलती है; जैसे 'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति[11], भ्राजन्तो अग्नयो यथा'[12] आदि। 'मेषो भूतोऽभि यन्नयः'[13] में मेष यह भूतोपमा है, अर्थात् यहाँ इन्द्र के लिए मेष की उपमानता भूत शब्द वाच्य है। दूसरे शब्दों में, यह उपमाभेद अतिशयोक्ति है, जो साध्यवसाना-लक्षणा-मूलक है। 'हिरण्यरूपः स हिरण्य सन्दृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः', यहाँ अग्नि यह रूपोपमा है, अर्थात् यहाँ अपांनपात् के लिए अग्नि (हिरण्य) की उपमानता रूप-शब्द-वाच्य है। दूसरे शब्दों में यह उपमाभेद रूपक है, जो सारोपालक्षणा-मूलक है। 'था' शब्द भी रूपोपमावाचक ही है, जैसे तंप्रत्नथा पूर्वथा विश्व-

---

१. ऋ० १०।८४।२।
२. ऋ० १०।१७३।२।
३. ऋ० ८।६२।११।
४. ऋ० १०।११९।९।
५. ऋ० १।९।२।
६. ऋ० ९।६१।१४।
७. अध्याय ३, पाद ३ और ४।
८. अथात उपमाः यदतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम् (३।३)।
९. ऋ० १०।४।६।
१०. ऋ० १०।४०।२।
११. ऋ० ५।७८।८।
१२. ऋ० १।५०।३।
१३. ऋ० ८।२।४०।

थेमथा[1] । 'वत्' सिद्धोपमाबोधक है, जैसे प्रियमेधवदत्रिवत्[2] (क्या कोई साध्योपमा भी है ?) ।

यहाँ 'मेषोभूत:' (मेष होकर) से अतिशयोक्ति की तथा 'हिरण्यरूप:' (हिरण्य-स्वरूप) से रूपक की तो प्रतिपत्ति होती है, किन्तु प्रकरण से यह अर्थ प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार 'यथावातो यथावनम्' में कर्मोपमा अर्थात् क्रिया की उपमा, मेषोभूत: में वस्तु की उपमा तथा हिरण्यरूप: में रूप या गुण की उपमा मानकर उपमा के तीन भेद[3] करते हैं—द्रव्योपमा, गुणोपमा और क्रियोपमा ।

अब लुप्तोपमावाले पदों का वर्णन किया जाता है, जिन्हें कुछ लोग अर्थोपमावाला भी कहते[4] हैं । जैसे किसी को प्रशंसा में सिंह, बाघ आदि कहते हैं, और निन्दा में कौआ, कुत्ता आदि ।

वैदिक साहित्य में एक-से-एक सुन्दर उपमाएँ आई हैं, अत: वैदिक भाषा के विश्लेषण में उपमा का भी विश्लेषण आवश्यक था, इसीलिए यास्क ने निपातों में शेष दो विभागों पर उतने विस्तार से नहीं लिखा, जितना उपमा-बोधक निपातों पर । परन्तु अभी वह भाषा-विश्लेषण का आरम्भिक युग ही था, अत: उपमा का उतना सूक्ष्म विश्लेषण कैसे हो सकता था, जितना काव्यप्रकाश या साहित्यदर्पण में है ? बल्कि उपमा के श्रौती, आर्थी, पूर्णालुप्ता का ठीक विवेचन तो दूर रहे, अभी तो रूपक अतिशयोक्ति आदि सादृश्यमूलक शेष अलंकारों से उपमा का स्पष्ट भेद भी नहीं स्थापित हुआ होगा । परन्तु, यास्क का यह उपमा-वर्णन, चाहे वह कितना भी आरम्भिक प्रयास हो, विद्वत्तापूर्ण है, और सबसे बड़ी बात यह कि वह प्रमाणित करता है कि भाषाविज्ञान में भाषा के शब्द-अर्थ के निर्माण का ही नहीं, आकार-प्रकार का ही नहीं, परिष्कार-अलंकार का भी अध्ययन होना चाहिए ।

(१३) क्रिया का विश्लेषण :

निरुक्त में क्रिया की भी अच्छी विवेचना की गई है । यह तो स्पष्ट है कि नाम (संज्ञा या प्रातिपदिक) शब्दों में सत्त्व (वस्तु) की प्रधानता होती है तथा आख्यात (धातु या क्रिया) शब्दों में भाव या व्यापार, चेष्टा[5] की । पर क्रिया शब्दों में भी दो भेद हैं ।

---

१. ऋ० ५।४४।१ । २. ऋ० १।४५।३ ।

३. यथेतिकर्मोपमा ....मेष इति भूतोपमा........अग्निरिति रूपोपमा (वहीं, ३।३) .... वदिति सिद्धोपमा (वहीं, ३।३) ।

४. अथलुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते । सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्, श्वा काक इति कुत्सायाम् (३।४) ।

५. इसीलिए सब सत्त्वों को 'वह', 'अमुक' (अद:), तथा सब क्रियाओं को 'होता है' (भवति) आदि सामान्य शब्दों से प्रकट करते हैं, "अद: इति सत्त्वानामुपदेश:, गौरश्व:, पुरुषो, हस्तीति, भवतीति भावस्य, आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठतीति" (अ० १, पाद १) ।

एक में पूर्वापरीभूत भाव (व्यापार) का अभिधान होता है, जैसे व्रजति, पचति आदि। दूसरे में मूर्त्त सत्त्वभूत भाव का, जैसे व्रज्या, पक्तिः आदि। जब धातु मूर्त्त सत्त्वभूत भाव को कहता है तब सत्त्व-प्रधान नामों से ही। अतः जिस वाक्य में नाम और आख्यात दोनों भाव प्रधान ही हो जाते हैं, जैसे पाकः भवति, पाठः चलति आदि, इनमें आख्यात भवति, पठति आदि पूर्वापरीभूत भाव को कहते हैं और पाक, पाठ आदि मूर्त्त सत्त्वभूत भाव को—"तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः, पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे, व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्; मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरिति"। भगवद्दत्त जी ने इसके प्रथम वाक्य को पृथक् मानकर यह अर्थ किया है कि जहाँ दोनों अर्थात् नाम और आख्यात रहें, वहाँ भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् वाक्य में व्यापार की ही प्रधानता रहती है। यह कथन भले ही तथ्य हो, परन्तु इस यास्क-वाक्य का यह तात्पर्य नहीं लगता। वैसी स्थिति में वाक्य कुछ इस ढंग का होता, 'तद् यत्र उभे, भावः प्रधानो भवति'। अतः यह उत्तर वाक्यों का अंश-वाक्य है, और सीधा अर्थ है : 'तो जहाँ दोनों भावप्रधान होते हैं', अर्थात् इसमें विधेयांश नहीं, पूरा वाक्य उद्देश्यपरक है।

यहाँ स्पष्ट ही क्रिया के दो प्रकारों, साध्यावस्थापन्न तिङ्वाच्य प्रत्यय तथा सिद्धावस्थापन्न कृत्-प्रत्यय-वाच्य का उल्लेख है। चूँकि साध्यावस्थापन्न तिङ्वाच्य क्रिया में पूर्वापर-भाव होता है, अतः उसमें उपक्रम (आरम्भ) से लेकर अपवर्ग (फलप्राप्ति, उपसंहार)-पर्यन्त कई सोपान होंगे, इन्हें यास्क[१] ने छह भागों में बाँटा है और वार्ष्यायणि का प्रमाण दिया है—(क) 'जायते' पूर्व भाव का विधान करता है, यह न अपर भाव का विधान करता है, न प्रतिषेध। (ख) 'अस्ति' यह उत्पन्न वस्तु की स्थिति का निश्चय करता है। (ग) 'विपरिणमते' यह बताता है कि वस्तु अपने तत्त्व से च्युत हुए बिना विकृत हो रही है। (घ) 'वर्धते' यह उपचय बताता है, चाहे वह शरीर आदि स्वांग का उपचय हो अथवा विजय आदि सांयोगिक बाह्य पदार्थों का। (ङ) 'अपचीयते' यह वर्धते का ठीक विपरीत भाव है, अर्थात् अपचय बताता है और (च) विनश्यति यह अपर भाव का प्रारम्भ बताता है, पूर्वभाव का विधिनिषेध कुछ भी नहीं बताता। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया में ये छह सोपान समाविष्ट रहते हैं। इनसे भिन्न सभी सोपान इन्हीं छह विकारों में समाविष्ट हैं।

---

१. "षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः, जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे, नापरभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद् विकारम्। वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयम्, सांयौगिकानां वार्थानाम्। वर्धते विजयेनेति वा, वर्धते शरीरेणेति वा। अपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। विनश्यतीत्यपर भावस्यादिमाचष्टे, न पूर्वभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति। अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह।"

(१४) वर्णध्वनि की क्षणस्थायिता :

नाम और आख्यात के वाच्य अर्थ के इस प्रसंग में ही यास्क ने एक महान् प्रश्न उठा दिया है। शंका यह है कि पदों का चतुर्विध विभाग बताया गया, नाम-आख्यात में अर्थकृत भेद बताया गया, किन्तु प्रश्न यह है कि पद बनते ही कैसे हैं ? पदों की सत्ता कैसे होगी ? पद तो ध्वनियों या वर्णों का समूह ही न होगा ? परन्तु इन ध्वनियों का समूह कैसे होगा ? वाणी तो जबतक उच्चरित या श्रुत होगी तभीतक रहेगी ? जैसे व्रजति— व् र् अ ज् अ त् इ में जब[1] व् के बाद र् कहेंगे तब व् की सत्ता कहाँ होगी, कैसे होगी ? व् तो र् ध्वनि के समय न वाणी में है, न श्रवण में। फिर अ के उच्चारण के समय व् और र् दोनों की सत्ता कहाँ कैसे रहेगी ? ये तो नष्ट हो जायेंगे। अतः व्रजति की अन्तिम ध्वनि इ के उच्चारण के समय पूर्वोच्चरित छह ध्वनियाँ तो वर्त्तमान नहीं रहेंगी, नष्ट हो जायेंगी। फिर इनका संघात रूप पदत्व ही नहीं होगा, इनका चतुर्विध विभाग कैसे होगा ? जब वर्ण एक-एक कर उच्चरित हो रहे हैं, तब उनमें एक-दूसरे के साथ पौर्वापर्य कैसे होगा, इनमें शास्त्रकार लोग प्रकृति, प्रत्यय आदि का योग कैसे करेंगे ?

इसके उत्तर में यास्क ने कहा है शब्द चूँकि व्यापक और अणुतर हैं, इसलिए लोक में व्यवहार के लिए शब्दों से ही अर्थ-प्रतीति कराई जाती है, और जैसे ये शब्द लौकिक मनुष्यों, वस्तुओं की संज्ञा बन जाते हैं, वैसे ही देवताओं की भी। मनुष्य का शब्द ही नहीं, ज्ञान भी अनित्य है, इसीलिए कर्मसम्पादक मन्त्र वेदों में लिखकर रखे गये।

ऐसा विदित होता है कि यास्क ने यहाँ वर्णों की अनित्यता मानकर ही शंका की है और अनित्यता ही स्वीकार कर उत्तर भी दिया है। वर्णों की नित्यता या स्फोट का आश्रयण नहीं किया है। उचित भी यही है। यास्क यदि ध्वनि से व्यतिरिक्त नित्य स्फोटात्मक शब्द मानते भी हों तो वादी की मान्यता के अनुरूप ही उत्तर देना अधिक लाभप्रद है। एक पक्ष मानकर प्रश्न और दूसरा पक्ष मानकर उत्तर देना ठीक नहीं। उत्तर में यह माना गया है कि यद्यपि शब्द क्षणिक है, यह उसमें त्रुटि है, अतः वस्तुतः उसमें अर्थाश्रयता मानने में कठिनाई है, किन्तु तीन कारणों से शब्द में अर्थाश्रयता मानी जाती है—(क) एक यह, कि शब्द व्यापक है, चूँकि यह व्यापक आकाश का गुण है। अन्य कोई भी गुण इतना व्यापक नहीं। (ख) दूसरे, यह सबसे अणुतम है, इतना सूक्ष्म भी कोई गुण नहीं। (ग) और तीसरी सबसे बड़ी बात यह कि लोक में व्यवहार तो करना ही है, और व्यवहार के लिए कोई भी अवलम्ब पकड़ना ही है, तो व्यापकतम और सूक्ष्मतम शब्दों को ही पकड़कर काम चलाना सुविधाप्रद होगा। हाथ, आँख के संकेत आदि से काम अच्छी तरह चल नहीं पायगा। यहाँ तर्क की कसौटी को छोड़कर आवश्यकता पर बल दिया गया है। मालूम होता है कि यह उत्तर आज का कोई स्फोट-सिद्धान्त नहीं माननेवाला भाषावैज्ञानिक दे रहा है।

---

१. "इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः, तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते, अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च। व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्। पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।"

(१५) एक स्थल[1] पर निरुक्त में यह शंका उठाई गई है कि किसी भी वस्तु (रूप) को कोई भी नाम कैसे दिया जाता है ? जैसे घोड़े को 'अश्व' क्यों कहते हैं ? अर्थात् यदि यह मान भी लें कि दूसरा सरलतर उपाय नहीं होने के कारण हस्त-संकेत आदि की तुलना में व्यवहार के लिए शब्द-प्रयोग की ही शरण लेनी पड़ेगी, तब भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि किसी वस्तु के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग स्थिर कैसे हो जाता है ? यदि यह कहें कि सभी नाम किसी-न-किसी आख्यात शब्द से ही बनते हैं तो वह काम जो-जो करता है, वह-वह उस आख्यातज शब्द से क्यों नहीं अभिहित होता ? जैसे मार्ग प्राप्त करनेवाले हर प्राणी को अश्व क्यों नहीं कहते, चुभनेवाले हर पदार्थ को तृण क्यों नहीं कहते[2] ? साथ ही उस वस्तु में जितनी भी क्रियाएँ हैं, सबके बोधक आख्यातज शब्दों से उतने नाम क्यों नहीं बनाये जाते ? जैसे स्थूणा को दरशया और सञ्जनी भी क्यों नहीं कहते[3] ? और फिर यदि किसी-न-किसी क्रिया के बोधक आख्यात शब्द से ही नाम रखना है, तो शब्द में ऐसी वक्रता और विकृति क्यों लाई जाती है कि पहचान में ही नहीं आता कि इसमें मूल धातु क्या है ? क्यों नहीं सीधे-सादे प्रसिद्ध और स्पष्ट प्रकृति प्रत्ययवाले शब्दों से उनका बोध कराया जाता है, जैसे अश्व क्यों कहते हैं, अष्टा (=अश्+तृ) कहें ? पुरुष क्यों कहते हैं, पुरिशय कहें ? तृण क्यों कहते हैं, तर्दन (=तृद्+अन)[4] कहें ? फिर जब व्यवहार चल पड़ता है तब उसके अर्थ का विचार करते हैं, प्रथन (विस्तार) के कारण पृथिवी नाम पड़ा। पर किसने इसका प्रथन किया, किस आधार में प्रथन[5] किया ? पहले ही क्यों नहीं विचार-कर नाम रखते हैं ? फिर शाकटायन तो ऐसा भी कहते हैं कि जहाँ शास्त्रसंगत विकार नहीं दीखता, वहाँ भी वह विकार जबर्दस्ती मान लेते हैं, यहाँ तक कि किसी पद का आधा दूसरी धातु से बनाते हैं, और शेष आधा दूसरी धातु से, यह तो हद हो गई। जैसे सत्य शब्द दो धातुओं से बनाते हैं, अस् धातु से सत् और इण् धातु[6] से य। और सबसे बड़ी बात यह कि सभी जानते हैं कि पहले द्रव्य होता है, तब बाद में उसमें क्रिया होती है, क्रिया

१. १।४।

२. "अथचेत् सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सर्वं तथाचक्षीरन्। यः कश्चाध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः स्यात् यत्किञ्चित् तृन्द्यात् तृणं तत्।"

३. अथापि चेत् सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः संप्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेय प्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं स्थूणा, दरशया, वा सञ्जनी च स्यात्।

४. अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारो तथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन् पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन् अष्टेत्यश्वं, तर्दनमिति तृणम्।

५. अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति, प्रथनात् पृथिवीत्याहुः। क एनाम-प्रथयिष्यत्, किमाधारश्चेति ?

६. अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान्त्संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणम्। अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।

का आधार ही है द्रव्य, फिर क्रिया के आधार पर उस द्रव्य का नामकरण कैसे करेंगे, द्रव्य पूर्ववर्त्ती, क्रिया पश्चाद्वर्त्ती है।

इतनी शंकाओं के बाद यास्क ने उत्तर देना आरम्भ किया है। कहते हैं, ये सारी शंकाएँ गार्ग्य की हैं। यह तो स्पष्ट है कि ये शंकाएँ निरुक्त की उस शाखा पर आक्षेप हैं, जिसकी मान्यता है कि सभी नाम आख्यातज होते हैं। यास्क कहते हैं, 'तदेतन्नोपपद्यते' अर्थात् यह कथन संगत नहीं है।

इन छहो शंकाओं के पहले यास्क ने दोनों पक्षों का प्रतिज्ञावाक्य[1] घोषित किया है। शाकटायन और नैरुक्तपद्धति का कहना है कि नाम आख्यातज होते हैं तथा गार्ग्य और वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि सभी नाम आख्यातज नहीं होते। इसके बाद एक वाक्य है "तद् यत् स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां, संविज्ञातानि तानि, यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति"। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों की मान्यताएँ सुनने के बाद यास्क ने यह अपना मत दिया है। अर्थात् यास्क मध्यममार्गी हैं। शाकटायन तथा निरुक्त-मार्गी डित्थ, डवित्थ आदि सभी नाम-शब्दों को अनिवार्यतः धातुज ही मानते हैं और गार्ग्य तथा वैयाकरण केवल पाठक, दाता, स्नान आदि को ही धातुज मानते हैं, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ के सर्वथा तुल्य ही समुदायार्थ भी है। मध्यममार्गी यास्क का यह कथन है कि जहाँ-जहाँ स्वर (उदात्तादि) तथा संस्कार (ध्वनि-विकार) शास्त्र-समर्थित हैं (साधक धातु और साध्य नाम-शब्द में सादृश्य है) वहाँ-वहाँ शब्द को धातुज मानना चाहिए। जैसे अष्टा और तर्दन ही नहीं, अश्व और तृण शब्द भी धातुज ही मानने चाहिए। इसीलिए उपर्युक्त छहों शंकाओं के बाद जब यास्क ने उत्तर आरम्भ किया है, तब पहले यही बात फिर से कही है, "यथो हि नु वा एतत्। तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारे-णान्वितौ स्यातां सर्वं प्रादेशिकमिति। एवं सत्यनुपालम्भ एष भवति", अर्थात् यह तो कहा ही जा चुका है कि जिनमें स्वर और संस्कार समर्थ हों, शास्त्र-समर्थित विकार से अन्वित हों, वे सब शब्द व्याकरण-सम्मत (धातुज) हैं। यह सिद्धान्त मान लेने पर कोई उपालम्भ नहीं रह जाता।

किन्तु भगवद्दत्त जी ने इन दोनों अनुच्छेदों में से पहले को पहली शंका तथा दूसरे को पहला समाधान लिखा है। इसमें निम्नलिखित आपत्तियाँ दीखती हैं :

(क) 'तद् यत्र' का स्पष्ट अर्थ है, 'तो जहाँ'। इससे यही प्रतीत होता है कि दोनों पक्षों का मत सुनकर यास्क 'तो' कहकर अपना सिद्धान्त कह रहे हैं। जहाँ से शंका शुरू हुई है, वहाँ 'अथ चेत्' कहा है, शेष शंकाओं में 'अथापि' पहला शब्द है। अतः 'अथ चेत्' से भी पहले 'तद् यत्र' शंका की भाषा नहीं लगती है।

---

१. अथापि सत्त्वपूर्वो भाव इत्याहुः। अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते इति।

२. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।

(ख) उपर्युक्त दोनों अनुच्छेद समानार्थक लगते हैं, यास्क अपने सिद्धान्त को दुहरा रहे हैं, ऐसा लगता है। खींचातानी से दोनों का तात्पर्य भिन्न बताना ठीक नहीं।

(ग) 'तद् यत्र' वाले वक्तव्य को गार्ग्य की शंका मानें तो 'अथ चेत्' वाले वक्तव्य से उसकी संगति नहीं बैठती। यदि गार्ग्य ने गोः अश्वः पुरुषः हस्ती में धातुजता स्वयं मान ली तो 'अथचेत्' से अश्वः नाम में आपत्ति क्यों दिखाई ?

इस प्रकार भगवद्दत्त जी ने यहाँ ७ शंकाएँ तथा ७ समाधान भी माने हैं। परन्तु वास्तव में यहाँ ६ शंकाएँ तथा ६ समाधान हैं। भगवद्दत्तजी-कथित प्रथम शंका यास्क का अपना सिद्धान्त है तथा प्रथम समाधान उसी की विश्वास और निश्चयपूर्ण पुनरावृत्ति है।

अस्तु यास्क ने उपर्युक्त प्रश्नों के निम्नलिखित उत्तर दिये[1] हैं—यह शंका उचित नहीं कि एक कर्म करनेवाले सबको एक नाम तुल्य रूप से देना चाहिए। सब मार्ग प्राप्त करनेवालों को अश्व नहीं कहा जा सकता। व्यवहार ही इसमें प्रमाण है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सब काठ छीलनेवालों को तक्षा नहीं कहते, सब पर्यटकों को परिव्राजक नहीं कहते। लोक-व्यवहार ही इसमें प्रमाण है। इसीलिए यह भी कहना अनुचित है कि जितने भी कर्म हों सबके आधार पर नामकरण किया जाय[2], स्थूणा को दरशया और संजनी भी कहा जाय; क्योंकि लोक-व्यवहार इसकी अनुमति नहीं देता। यह जो कहा गया कि नामकरण ऐसा होना चाहिए कि उसमें प्रकृति प्रत्यय स्पष्ट झलकते[3] रहें, तो ऐसे ऐकपदिक कृदन्त अत्यल्प ही हैं, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय स्पष्ट नहीं झलकते हैं, जैसे व्रततिः, दमूना, जाट्यः, आट्णारः, जागरूकः, दर्विहोमी आदि। अधिकांश तो स्पष्टार्थ ही हैं।

इस उत्तर वाक्य में भी भगवद्दत्त जी ने विपरीत अर्थ किया है, "हैं अल्पप्रयोगवाले (ऐसे शब्द) कृतः—कृदन्त शब्द (वे नाम आदि, जिनकी धातुएँ स्पष्ट हैं) तथा च ऐकपदिक (प्रकरण में पढ़े शब्द)। क्या यास्क स्पष्टार्थक कृदन्तों की ही संख्या कम मानते हैं ? यह तो ठीक नहीं जँचता। और क्या व्रतति, दमूना, जाट्य आदि में प्रकृति-प्रत्यय स्पष्ट हैं ? तो अस्पष्ट कहाँ हैं ? और यहाँ ऐकपदिक कृत् से भिन्न नहीं, उन्हीं के स्वरूप-बोधक हैं। प्रायः सभी कृत् ऐकपदिक होते हैं। इसलिए द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में शवः, दातिः, दात्रम् का विश्लेषण कर कहा गया है, 'एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्', इस प्रकार एकपदों का निर्वचन करे। वहाँ पूर्वोक्त सभी शब्द कृत् प्रत्ययान्त ही हैं। भगवद्दत्त जी ने यहाँ 'ऐकपदिक' का

---

१. यथो एतत्, यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथा चक्षीरन्निति, पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां, नैकेषाम्, यथा तक्षा, परिव्राजको जीवनो भूमिज इति।

२. एतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः।

३. यथो एतत्, यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्निति, सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिकाः; यथा व्रततिर्दमूना जाट्य आट्णारो जागरूको दर्विहोमीति।

अर्थ किया है, 'ऐकपदिक प्रकरण में पढ़े शब्द' तथा द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में ऐकपदिक का अर्थ बताया है अनवगत-संस्कार पद। यह उचित नहीं। ऐकपदिक का सीधा और सार्वत्रिक अर्थ है एक पदवाला। और जो यह कहा गया है कि व्यवहार चल जाने के बाद अर्थ की संगति देखी जाती है, अर्थ की संगति देखकर नामकरण नहीं किया जाता, सो ठीक ही है। वास्तव में व्यवहार में जब कोई शब्द स्वीकृत हो जाता है, तभी उसके प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन होता है। पृथिवी इसलिए इसका नाम पड़ा, कि यह देखने में फैली हुई है, चाहे किसी ने भी इसे फैलाया हो या नहीं। सब शब्दों में प्रसिद्धि के बाद ही इसी प्रकार अर्थ-संगति ढूँढ़ी[1] जाती है। यह जो आपत्ति उठाई गई कि एक ही शब्द का एक भाग एक धातु से सिद्ध किया जाता है, दूसरा आधा दूसरी धातु से, यह तो व्यक्ति का दोष है, शास्त्र[2] का नहीं। और, यह जो शंका की गई कि पश्चाद्वर्त्ती क्रिया से पूर्ववर्त्ती द्रव्य का नामकरण तर्कसंगत नहीं लगता, यह ठीक नहीं; क्योंकि व्यवहार में ही हम देखते हैं कि पूर्वोत्पन्न वस्तु या व्यक्ति का भी पश्चादागत क्रिया के आधार पर नाम रखा जाता[3] है; जैसे बिल्वाद (बेल खानेवाला), लम्बचूड (लम्बी चोटीवाला)।

इस प्रसंग के बाद यास्क ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो व्यवहार को जानने-समझनेवाले हैं, उनके लिए यह जानना आवश्यक नहीं कि अमुक शब्द किस प्रकार व्यवहार में आया, अतः सब लोग सब शब्दों का निर्वचन ढूँढ़ेंगे ही क्यों? उन्हें तो शक्तिग्राहक शिरोमणि व्यवहार से ही संकेतग्रह हो जायगा, यह निरुक्त उनके लिए नहीं है। निरुक्तशास्त्र की वास्तविक उपयोगिता यह है कि इसी की सहायता[4] से मन्त्रों का अर्थ जाना जाता है। जो मन्त्रों का अर्थ नहीं जानता है, वह उनके स्वर तथा संस्कार को कैसे जानेगा? अतः यह वेदार्थ को स्पष्ट करनेवाले व्याकरण का ही पूरक है। व्याकरण वाक्यार्थ स्पष्ट करता है, यह शब्दार्थ। वेदों का अर्थ तो विना व्याकरण और निरुक्त की सहायता के हो ही नहीं सकता; क्योंकि उसकी परम्परा नष्ट हो चुकी है, व्यवहार से उनका संकेतग्रह सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार साधारण जनता के लिए निर्वचन-शास्त्र की उपयोगिता यही है कि वह

---

१. अथो एतन्निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्तीति, भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योग परीष्टिः। प्रथनात् पृथिवीत्याहुः, क एनामप्रथयिष्यत् किमाधारश्चेति। अथवै दर्शनेन पृथुः। अप्रथिता चेदप्यन्यैः। अथाप्येवं सर्वं एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते।

२. अथो एतत् पदेभ्यः पदेतरार्धान्संचस्कारेति, योऽनन्वितेर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः सैषा पुरुषगर्हा, न शास्त्रगर्हा।

३. अथो एतत् अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति, पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद् भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम्, नैकेषाम्, बिल्वादो लम्बचूडक इति।

४. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थं प्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतीयतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।

निरुक्ति के द्वारा ही अज्ञात अर्थवाले शब्दों का संकेतग्रह करती है। हाँ, विज्ञ लोग अलबत्ता पूर्णतः ज्ञात अर्थवाले शब्दों के निर्वचन में भी निरुक्ति का रस लेने के लिए वास्तविक व्युत्पत्ति का अनुसन्धान करते हैं, उनके लिए निरुक्त व्याकरण का अंगमात्र नहीं, स्वयं एक विज्ञान की शाखा है।

(१६) किन्तु वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान के लिए निरुक्त की उपयोगिता स्वीकार करने पर एक दूसरा महान् प्रश्न सामने आ जाता है। यदि वेदों में अर्थ माना जाय तो कई आपत्तियाँ आ जाती हैं। अतः मीमांसक मन्त्रों को लौकिक अर्थवाला मानते ही[1] नहीं, वे इसे नित्य तथा अलौकिक फल-मात्र देनेवाला कहते हैं। यहाँ एक मीमांसक विद्वान् कौत्स ने निम्नलिखित आक्षेप अर्थवादियों के सम्मुख रखे हैं, और प्रत्येक का तर्कसंगत उत्तर यास्क ने दिया है—

(क) **प्रश्न**—वैदिक मन्त्रों में शब्दों को कहीं भी घटाया-बढ़ाया या आगे-पीछे क्रम बदलकर रखा नहीं जा[2] सकता। जैसे 'अग्निमीडे पुरोहितम्' को हम 'पुरोहितमग्निमीडे' नहीं कह सकते, और केवल अग्निमीडे या अनलमीडे कहकर पुरोहितम् को छोड़ नहीं सकते। लौकिक वाक्यों में तो हम 'अत्रागच्छ देवदत्त' को 'देवदत्त अत्रागच्छ, अत्रायाहि भोः' आदि भी कह सकते हैं।

उत्तर—लौकिक वाक्यों में भी ऐसा होता है, इन्द्राग्नी, पिता-पुत्री आदि पद-समूहों में भी हम क्रम-परिवर्त्तन नहीं कर सकते।

(ख) **प्रश्न**—जब वैदिक मन्त्रों में 'उरु प्रथस्व'[3] लिखा ही है तब ब्राह्मण में क्यों लिखा रहता है, 'इति प्रथयति'। ऐसा लिखे विना भी लोग प्रथस्व के अर्थज्ञान से प्रथन कर ही लेंगे ?

उत्तर—यह तो अनुवाद-मात्र है, स्पष्टता के लिए एक बार कही गई बात भी फिर दुहराई जाती है।

(ग) **प्रश्न**—इनका अर्थ यदि किया जाय तो वह असंगत[4] ही होगा। कहते हैं, ओषधे त्रायस्वैनम्[5] स्वधिते मैनं हिंसीः[6] और हिंसा करते हैं ?

उत्तर—शास्त्र के वचन से यह हिंसा हिंसा नहीं मानी जाती।

(घ) **प्रश्न**—परस्पर[7] विरुद्ध अर्थ भी मिलते हैं, जैसे 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' तथा 'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्'[8]।

---

१. यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय, अनर्थको भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः।
२. नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।
३. अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते।
४. अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति।
५. मै० सं० ३।९।३।
६. यजु० ४।१।
७. अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति।
८. यजु० १६।५४।

उत्तर—ऐसे प्रयोग तो लोक में भी मिलते ही हैं, जैसे यह ब्राह्मण प्रतिस्पर्धारहित है, यह राजा शत्रु-रहित है, जबकि सुनिश्चित है कि उस ब्राह्मण और राजा के शत्रु रहते हैं।

(ङ) **प्रश्न**—और स्वयं जाननेवाले[1] को भी प्रेरित किया जाता है, जैसे अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि[2], यह तो स्पष्ट ही है कि सामिधेनी ऋचाएँ समिध्यमानं अग्नि के लिए ही बोली जाती हैं, फिर यह प्रेरणावाक्य क्यों है ?

उत्तर—ऐसा तो लोक में भी होता है, नामगोत्रादि जाननेवाले गुरुजनों को भी अभिवादन काल में नामगोत्र कहा जाता है, मधुपर्क देखनेवाले अतिथि को भी तीन बार 'यह मधुपर्क है' कहा जाता है।

(च) **प्रश्न**—यह कथन तो अवश्य[3] ही असंगत है कि अदिति ही सब कुछ है। वही द्यौ है, वही अन्तरिक्ष है 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्[4]।'

उत्तर—ऐसी उक्ति तो लोक में भी मिलती है, जैसे 'पानी में सब रस मिलते हैं।'

(छ) **प्रश्न**—कुछ तो शब्द ही ऐसे मिलते[5] हैं, जिसमें ढूँढ़ने पर भी कुछ अर्थ नहीं प्राप्त होता, जैसे अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका आदि।

उत्तर—यह तो स्थाणु का अपराध नहीं कि उसे अन्धा नहीं देखता, यह तो मनुष्य की अपनी त्रुटि है। अर्थों की स्पष्टता भी आपेक्षिक ही है। सामान्य जनता में जिसे थोड़ी भी विद्या है, वह प्रशंसनीय हो जाता है, और ऋषि-मुनियों के बीच, जो उनसे भी अधिक विद्वान् है, वह प्रशंसा पाता है।

वस्तुत: यास्क के सभी उत्तर सर्वथा उचित ही नहीं हैं, किन्तु मीमांसकों के तर्क के समक्ष उनकी यह स्थापना अवश्य ही श्लाघनीय है कि वेदों के मन्त्र भी शब्दात्मक होने से लौकिक वाक्यों की तरह ही अर्थवान् हैं। बल्कि उन्होंने ब्राह्मण को ही प्रमाण-रूप में उद्धृत कर दिया है 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजुर्वा अभिवदति'। इस ब्राह्मण से स्पष्ट है कि ऋग् और यजुष् कर्म का विधान करते हैं। भला अनर्थक मन्त्र कर्म का विधान कैसे करेंगे ?

(१७) इस प्रश्न-उत्तर से एक और बात सामने आ गई। यास्क ने मीमांसकों की एक बहुत बड़ी शंका उठाई ही नहीं। मीमांसकों का कथन है कि यदि वेद-मन्त्रों में अर्थ मानें तो उनको नित्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनमें बहुत-से ऐतिहासिक राजाओं,

---

१. अथापि जानन्तं संप्रेषयति।

२. तै० सं० ६।३।७।१।

३. अथाप्याह अदितिः सर्वमिति।

४. ऋ० १।८९।१०।

५. अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति।

नगरों का वर्णन, पौराणिक गाथाएँ मिलती हैं। ये नित्य कैसे हो सकते हैं? आर्यसमाजी भी ऐसे मन्त्रों में इतिहास और गाथा का वर्णन नहीं मानते। वे इन सब मनुष्य, नगर आदि वस्तुओं के नाम को यौगिक बनाकर ईश्वर-परक कर लेते हैं और कहते हैं कि इनमें इतिहास और गाथा की प्रतीति भ्रम है। वस्तुतः इनमें ईश्वर की ही विभिन्न सत्ताओं, रूपों, कार्यों का वर्णन है। ऐसा करने में अर्थों की काफी तोड़-मरोड़ की जाती है। आश्चर्य है कि यास्क ने उस युग में भी एक तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति सहर्ष स्वीकार किया है कि वेद में केवल ईश्वर की ही अर्चा नहीं, तीन बातें हैं—(क) ईश्वर की स्तुति, (ख) इतिहास तथा (ग) गाथा 'तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रं ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।'

वस्तुतः मीमांसकों का वेदमन्त्रों को अनर्थक कहना तो उपहासास्पद है, अन्यथा ज्ञान की प्रशंसा तथा अज्ञान की निन्दा का क्या तात्पर्य होगा; जैसे—(क) स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्०, (ख) यद्गृहीतमविज्ञातम्, (ग) उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्०, (घ) उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः आदि। (१८) फिर यदि मन्त्रों में अर्थवत्ता नहीं मानें तो पदविभाग का आधार क्या होगा? पद ही तो परस्पर अत्यन्त संन्निकृष्ट होकर संहिता बनते हैं, वेद की सभी शाखाएँ पदविभाग को मान्यता देती हैं : 'अथापीदमन्त्वेण पदविभागो न दृश्यते........ ....परः सन्निकर्षः संहिता, पदप्रकृतिः संहिता[2], पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि'। 'पदप्रकृतिः संहिता' के दुर्ग ने दोनों अर्थ लिखे हैं, षष्ठीतत्पुरुष से, पद की प्रकृति संहिता है, तथा बहुव्रीहि से संहिता की प्रकृति पद ही हैं। वस्तुतः पिछले तथा अगले वाक्यों के सान्निध्य से यहाँ बहुव्रीहि ही उचित है। अत्यन्त सन्निकर्ष संहिता कहलाता है, जिनका अत्यन्त सामीप्य, पदों का ही तो। अर्थात् पहले पद पृथक्-पृथक् थे, जब परस्पर अत्यन्त सन्निकर्ष हुआ तब संहिता बनी। सभी चरणों के पार्षद पद 'प्रकृति' वाले हैं, यहाँ बहुव्रीहि से ही यह अर्थ हुआ कि सभी चरणों के पार्षद पद को प्रकृति माननेवाले हैं। इस प्रकार यास्क ने भाषाविज्ञानियों के एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का भी संकेत से उत्तर दे दिया है। प्रश्न है, पहले वाक्य या पहले पद? उत्तर है, पहले पद। इसपर फिर वाक्य-विज्ञान तथा अर्थविज्ञान-प्रसंग में विस्तार से विचार करेंगे।

(१९) प्रायः यह आपत्ति उठाई जाती है कि भारत में लिपि-विज्ञान का आरम्भ बहुत बाद में हुआ है, यहाँ यास्क ने अनर्थक निपातों के विश्लेषण में यह कहकर कि "अर्थ की समाप्ति होने पर जो निपात अमिताक्षर (गद्य) ग्रन्थों में वाक्यपूरक माने जाते हैं, वे ही मिताक्षरों (पद्यों) में पादपूरक माने जाते हैं" स्पष्ट कर दिया है कि पहले भी ग्रन्थ थे, और

१. यास्क ने शन्तनु-देवापि के इतिहास का वर्णन, ऋ० १०।९८।५ तथा ७ में (२।१०।३) और विश्वामित्र-सुदास वशिष्ठ के इतिहास का वर्णन, ऋ० ३।३३।५ में माना है। (२।६) ऐसे अनेक स्थल हैं (विश्वकर्मा का इतिहास, ऋ० १०।८१।१,६, १०वें अध्याय में)।

२. ऋक् प्रा० २।१।

खूब प्रचलित थे। ग्रन्थ निश्चय ही मौखिक वाक्य को नहीं कहते होंगे। यह अवश्य लिखित, पुस्तक-निबद्ध वाक्यों और कविताओं का ही वर्णन है[१]।

(२०) यास्क ने उस पद्य तथा सूत्र-युग में भी अपनी कृति गद्य में लिखकर संस्कृत-साहित्य का तथा भाषा-विकास का अध्ययन करनेवाले आज के अनुसन्धित्सुओं का महान् उपकार किया है।

इस प्रकार भाषाविज्ञान में यास्क की उपलब्धि उनके समय की दृष्टि से विस्मयप्रद है। उन्होंने निरुक्तिविज्ञान पर एक महान् और उत्तम ग्रन्थ लिखकर आनेवाले निरुक्ति-विज्ञानियों को सही मार्ग तो दिया ही, उपमा, शब्दों की नित्यता-अनित्यता, वेदमन्त्रों की सार्थकता-अर्थहीनता, क्रिया की या द्रव्य की प्रधानता आदि विविध महत्त्वपूर्ण भाषा-वैज्ञानिक महत्त्ववाले प्रश्न उठाकर भाषाविज्ञान का साहित्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मीमांसा-शास्त्र, व्याकरण-दर्शन आदि से निकट-सम्बन्ध स्थापित कर दिया।

पर दुःख है कि ऐसी उपादेय पुस्तक का भी हम आज तक समुचित अध्ययन नहीं कर पा रहे हैं—अध्ययन तो दूर, सर्वथा शुद्ध संस्करण भी नहीं निकाल पा रहे हैं। इधर प्रो० उमाशंकर शर्मा ऋषि, श्रीभगवद्दत्त जी आदि ने स्पष्टतर व्याख्या के साथ निरुक्त के नये संस्करण निकाले हैं, यह बहुत उत्साहवर्द्धक है। किन्तु, अभी और अध्ययन-विश्लेषण की आवश्यकता है। इसकी भाषा अतिप्राचीन[२] होने से दुर्बोध्य है, और अर्थज्ञान नहीं होने से जिस प्रकार पदविभाग नहीं हो सकता, उसी प्रकार इसका सही अनुच्छेद-विभाग, वाक्य-विभाग, चिह्न-विभाग भी नहीं हो पाया है। फलतः अर्थ की दुर्विज्ञेयता और भी बढ़ गई है, अन्योन्याश्रय से दोनों दोष काफी बढ़े हुए हैं। इसके उन्मूलन के लिए विद्वन्मण्डली के पुनः-पुनः परिमार्जन की आवश्यकता है, यह इन संस्करणों का कोई भी स्थल पढ़कर कोई सहृदय जिज्ञासु मनीषी आज भी अनुभव कर सकता है।

उदाहरणार्थ, द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद की समाप्ति पर भगवद्दत्त जी ने अन्तिम अनुच्छेद यहाँ से शुरू किया है—"नैकपदानि निब्रूयात्" अर्थात् एकपदों का निर्वचन ही न करें। यह तो गलत है, यास्क ने पूरे एक प्रकरण में एकपदों का ही निर्वचन किया है। भगवद्दत्त जी ने इसकी अनुपपत्ति देखकर अपनी ओर से जोड़ा है (विना प्रकरण पर ध्यान दिये); पर प्रकरण की चर्चा तो यास्क ने कहीं चलाई ही नहीं। तथ्य यह है कि उपर्युक्त वाक्य इस अनुच्छेद का है ही नहीं, वह इसके पूर्ववर्त्ती अनुच्छेद का है और 'एवं तद्धित-समासान्निब्रूयात्' का अवशिष्ट वाक्यांश है, 'एवं तद्धित समासान्निब्रूयात्, नैकपदानि निब्रूयात्'। अर्थात् इस विधि से केवल तद्धित और समास का निर्वचन करे, एकपदों का निर्वचन नहीं करने लगे। एकपदों के निर्वचन में दूसरी विधि पीछे बताई जा चुकी है

१. अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेण ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति, पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु अनर्थकाः कमीमिद्विति।

२. यास्क पाणिनि से बहुत पहले हुए थे, अतः पाणिनि ने 'यास्कादिभ्यो गोत्रे' (२।४।६३) कहकर उनके गोत्र का स्मरण किया है।

'तद् येषु पदेषु········एवमेकपदानि निब्रू'यात्'। एकपदों में कोई पर्व (मध्यखण्ड नहीं) होता। इसके विपरीत तद्धित में एक पर्व तथा समास में अनेक पर्व होते हैं, अतः उनकी निर्वचन-विधि भिन्न है "अथ तद्धितसमासेषु········एवं तद्धित-समासान्निब्रू'यात्, नैक-पदानि निब्रू'यात्"। उपसंहार का उपक्रम से अन्वय करना चाहिए था। इसी तरह यथार्थ 'विभक्तीः सन्नमयेत्' में विभक्ति का अर्थ विभक्तियाँ नहीं, प्रकृति-प्रत्यय विभाग है। सुप् तिङ् विभक्तियों में तो सन्नमन की आवश्यकता विरल ही होती है। ऐसे बहुत-से स्थल हैं। कुछ पीछे भी दिखाये जा चुके हैं। दुर्ग की कई भूलों पर तो भगवद्दत्त जी ने ही ध्यान आकृष्ट किया है।

●

पाणिनि और निरुक्ति-विज्ञान

वाक्यपदीय के अनुसार अर्थ-प्रत्यायकता वस्तुतः वाक्य में है। भाषा की वास्तविक प्रथम इकाई वाक्य ही है। यह आगे विस्तार से कहेंगे। परन्तु पाणिनि ने व्याकरणशास्त्र में भाषा की इकाई पद को माना है। पद का अर्थ ही है, जो चल सके, अर्थात् प्रयोग में आ सके। ऐसे प्रयोग योग्य केवल सुबन्त तथा तिङन्त ही हो सकते हैं। जैसे—बालकः खेलति। अतः पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में सुबन्त तथा तिङन्त का विस्तृत विवेचन किया है, इसीलिए व्याकरण का पर्याय ही है—पदविज्ञान, पदविद्या। किन्तु, अष्टाध्यायी में भाषाविज्ञान के बहुत-से तत्त्व हैं। प्रत्याहार-सूत्रों में किस प्रकार ध्वनि-विज्ञान संक्षिप्त रूप से वर्णित है, यह पीछे बता आये हैं। इसी भाँति निरुक्ति-विज्ञान का भी अष्टाध्यायी में अच्छा वर्णन है। तभी तो पतंजलि ने इसे शब्दानुशासन कहा है, 'शब्दानुशासनमिदानीं कर्त्तव्यम्'।[1]

निरुक्ति में प्रत्ययों का महत्त्व :

यास्क ने निर्वचन में केवल प्रकृति पर ही ध्यान दिया है, प्रत्यय का वर्णन विरल है। प्रकृतियों में भी धातुओं के अर्थ कम ही जगह बताये गये हैं, यद्यपि भूमिका में ही यह स्वीकार किया है कि निर्वचन को अर्थ पर आधारित होना चाहिए। पाणिनि ने अर्थविश्लेषण की सुविधा के लिए अपने शास्त्र में पद के साथ पदांश और वर्ण में भी अर्थवत्ता मानी है, चाहे वह प्रकृति हो चाहे प्रत्यय। पतंजलि ने वर्णों की अर्थवत्ता पर ही एक प्रकरण[2] लिखा है और प्रमाणित किया है कि अर्थवान् पदों के प्रत्येक वर्ण में अनिवार्यतः अर्थवत्ता नहीं रहती, पर बहुत-से स्थलों में एक वर्ण भी अर्थवान् होता है। कूप सूप यूप में न तो एक-एक वर्ण क्, स्, य् में अर्थवत्ता है, न वर्णसमूह ऊप में। ऐसी जगहों में समुदाय[3] ही अर्थवान् होता है, किन्तु[4] एक वर्णवाले सार्थक धातु होते हैं, जैसे इ (ण्)—एति, इ (ङ्)-

---

१. महा० १।१।१।

२. किं पुनरिमे वर्णा अर्थवन्तः आहोस्विदनर्थकाः ?—महा० १।१।१।

३. 'संघातान्तराण्येवैतान्येवंजातीयकानि अर्थान्तरेषु वर्त्तन्ते, कूपः सूपो यूप इति।'—इस पर कैयट ने कहीं से एक श्लोक उद्धृत किया है 'न कूपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्य विद्यते। अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते'—महा० १।१।१

४. उभयमिदं वर्णेषूक्तम् अर्थवन्तोऽनर्थका इति च, किमत्र न्याय्यम् ? उभयमित्याह। कुतः ? स्वभावतः। तद्यथा समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते अपरे न। नचेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुम्, कश्चिद्वानर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यम् कर्त्तुम्—यद् धातुप्रत्ययप्रातिपदिक निपाता एकवर्णा अर्थवन्तोऽतोऽन्येऽनर्थका इति स्वाभाविकमेतत्।—वहीं।

अधीते आदि; प्रातिपदिक होते हैं, जैसे आभ्याम्, एषु, इतः, अस्मात्, आदि; प्रत्यय होते हैं, जैसे औपगवः, पाठः आदि और निपात भी होते हैं, जैसे अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ[१] आदि। पाणिनि भी अपने शास्त्र में अच्, अण्, अञ्, अप्, घञ्, क, कि, उण् आदि एकाक्षर कृत्प्रत्ययों में, अण्, अञ् आदि एकाक्षर तद्धितों में तथा ङीप्, ङीष्, ङीन् और टाप्, डाप् इन एकवर्णात्मक स्त्रीप्रत्ययों में अर्थवत्ता मानते हैं; तथा वर्णसमूहात्मक ण्वुल्, तृच्, क्तिन्, क्तवतु, तव्य, अनीय आदि कृतों और इक, ष्यञ्, मतुप्, इन्, विन्, ईय आदि तद्धितों और भ्याम्, भिस् आदि सुप् तथा ति, तः आदि तिङ् प्रत्ययों में भी अर्थ-निर्देश करते हैं। एकाक्षर कोष ने तो 'अकारो वासुदेवः स्यादाकारस्तु पितामहः' आदि कहकर सब वर्णों का कुछ-न-कुछ अर्थ माना है।

पाणिनि ने भी अपनी उक्ति 'अर्थवद्[२] अधातुः अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' से स्पष्ट संकेत कर दिया है कि जो भी धातु या प्रातिपदिक या प्रत्यय है, वह अर्थवान् है, चाहे वह एक वर्णवाला हो या अनेक वर्णवाला। हर शब्द में दो खण्ड हैं—प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति में दो ही श्रेणियाँ हो सकती हैं—धातु और प्रातिपदिक (या निरुक्त की भाषा में आख्यात और नाम)। किन्तु प्रत्यय के कई भेद हैं। पाणिनि ने अपने निरुक्ति-विज्ञान में यास्क से निम्नलिखित अन्तर रखे हैं—

१. यास्क का सिद्धान्त था कि अधिकांश (प्रायः सभी) नाम शब्दों की मूल धातु ही हैं। जिस नामशब्द में तनिक भी किसी धातु से स्वर, संस्कार तथा अर्थ का सादृश्य है, उसे उस धातु से ही निष्पन्न समझना चाहिए। ध्वनि में विकार जो चाहें, जितनी चाहें, कर सकते हैं। ऐसी मान्यता का कारण यह था कि यास्क नैरुक्त थे, जिनके अनुसार प्रत्येक नामशब्द धातु से ही बना है।

धातु की तरह प्रातिपदिक भी मूल शब्द :

परन्तु, पाणिनि इस सिद्धान्त के समर्थक नहीं थे। उन्होंने 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः[३] प्रातिपदिकम्' कहकर धातु से स्वतन्त्र प्रातिपदिकों की सत्ता मानी। यदि वे सभी प्रातिपदिक धातुज ही मानते तो केवल 'कृत्तद्धितसमासाः प्रातिपदिकम्' यही सूत्र बनाते और सभी शब्दों को यास्क की भाँति कृदन्त मानते। पर पाणिनि ने 'कृत्तद्धितसमासाश्च'[४] से पृथक् 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' भी कहा। तभी यास्क ने अश्वः, गौः, पुरुषः, हस्तः, दमूनाः, तृणः, स्थूणा आदि सैकड़ों शब्दों की व्युत्पत्ति किसी-न-किसी धातु से ढूँढ़ी है, अनवगत संस्कार ऐकपदिकों में भी कितनी कठिनाई से मूल धातुओं का अनुसन्धान

---

१. धातव एकवर्णा अर्थवन्ते दृश्यन्तो—एति, अध्येति, अधीते इति। प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति आभ्याम्, एभिः, एषु। प्रत्यया एकवर्णा अर्थवन्तः औपगवः, कापटवः। निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपक्राम।—वहीं।

२. १।२।४५।

३. १।२।४५।

४. १।२।४६।

किया है। पर पाणिनि ने इनमें से एक शब्द की सिद्धि के लिए अपनी अष्टाध्यायी में सूत्र नहीं बनाया। वे बहुत-से नाम-शब्दों को अव्युत्पन्न मानते हैं। पाणिनि की यह दृष्टि अधिक भाषावैज्ञानिक है। कोई कारण नहीं कि सब शब्दों के मूल धातु ही माने जायँ। आरम्भ से ही दोनों प्रकार के मूल शब्द रहे होंगे—क्रियावाचक और द्रव्यवाचक। हाँ, एक बात सही है कि धातु से नाम अधिक बनते हैं, इसकी तुलना में नाम से धातुएँ कम बनती हैं। पर दोनों से दोनों बनते हैं। दोनों की मौलिकता स्वीकार करने के लिए ही पाणिनि ने पूर्वप्रचलित अन्वर्थ महासंज्ञा 'धातु' को अपने शास्त्र में मान्यता दी 'भूवादयो[१] धातवः', किन्तु नाम को भी 'प्रातिपदिक' यह नई अन्वर्थ संज्ञा दी। धातु यदि प्रत्येक शब्द का धारण करती है, तो प्रातिपदिक भी प्रत्येक पद में वर्त्तमान रहता है। वैसे, जिस प्रकार यास्क ने नैरुक्तों की रूढ़ि और अतिवाद छोड़कर यह कहा था कि सब नामों को अनिवार्यतः धातुज नहीं मानना चाहिए, जिनमें किसी-न-किसी धातु से तथा ध्वनि का सादृश्य ढूँढ़ने पर मिलता है, उन्हीं को धातुज मानना चाहिए, ठीक उसी भाँति पाणिनि ने भी नैरुक्तों के विपक्षी वैयाकरणों की उग्रता छोड़कर सच्चे वैज्ञानिक की भाँति यह स्वीकार किया कि जिनमें धातु और प्रत्यय का योग स्पष्ट दीखता है, उनमें धातुजता, कृदन्तता तो माननी ही चाहिए, किन्तु जिनमें आपाततः कोई यौगिकता नहीं दीखती, उनमें भी योग का, धातु और प्रत्यय का अनुसन्धान करना उचित है। इसी उदार दृष्टि का सूचक सूत्र उन्होंने बनाया 'उणादयोबहुलम्'[२] तथा 'ताभ्यामन्यत्रोणादयः'[३] अर्थात् जो कृत् प्रत्यय गिनाये गये, उनके अलावा भी कारु, वायु, स्वादु, साधु आदि में कृ, वा, स्वद्, साध् आदि धातुओं तथा उण् आदि प्रत्ययों की कल्पना[४] भाषाविज्ञान के लिए उपयोगी है। जहाँ तक सरलता से सम्भव हो, नाम-शब्दों की मूल धातु तथा प्रत्यय ढूँढ़ने चाहिए, यही सोचकर उन्होंने उणादि प्रत्ययों को बहुल कहा अर्थात् उनकी संख्या निर्धारित नहीं की, परिगणन नहीं किया और बहुल कहकर अर्थ आदि का भी नियन्त्रण शिथिल कर दिया (पाणिनि का यह संकेत पाकर किसी ने नैरुक्त सिद्धान्त के पोषक प्रसिद्ध वैयाकरण शाकटायन के नाम से एक उणादिपाठ ही बना दिया है), साथ ही भ्वादिगण को आकृतिगण मानकर आवश्यकतानुरूप नई धातुओं के भी अनुसन्धान का मार्ग प्रशस्त[५] किया। किन्तु, वे इस सिद्धान्त पर डटे रहे कि चाहे लाख चेष्टा करें, प्रत्येक नाम की मूल धातु नहीं मिल सकती। यह कल्पना ही अवैज्ञानिक है कि प्रत्येक शब्द का मूल कोई-न-कोई धातु ही होती है।

---

१. १।३।१।

२. ३।३।१।

३. ३।४।७५।

४. कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्—उणादि १।१।

५. संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु।

२. निरुक्त में प्रकृति की तरह प्रत्यय और ध्वनिविकार भी महत्त्वपूर्ण :

यास्क से पाणिनि की निरुक्तिविज्ञान-सम्बन्धी दृष्टि में दूसरा महान् अन्तर यह था कि यास्क ने निर्वचन में प्रत्ययों की उपेक्षा कर दी थी। उन्होंने हर शब्द में केवल मूल धातु ही ढूँढ़ी, उसके अन्त में क्या प्रत्यय जुड़ा, उस प्रत्यय का क्या अर्थ है, इसपर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया। बल्कि उस धातु का भी क्या अर्थ है, इसकी चर्चा नहीं की। पाणिनि ने इसमें भी यास्क से प्रायः विपरीत दृष्टि रखी। पाणिनि ने प्रत्ययों को ही निरुक्ति में मुख्य स्थान दिया। बल्कि 'प्रत्यय'[१] यह अन्वर्थ महासंज्ञा कर यह घोषित किया कि अर्थ की प्रतीति वस्तुतः प्रत्यय ही कराते हैं, प्रत्यय न जुड़ें तो केवल प्रकृति, चाहे वह धातु हो या प्रातिपदिक, कोई अर्थ नहीं बता सकती। प्रत्यय ही तो उन्हें विभिन्न आकार तथा अर्थक्रिया-कारित्व देते हैं। केवल मिट्टी व्यर्थ है, उसे घड़ा, खपड़ा, ईंट आदि आकार देने पर ही उसकी पूरी उपयोगिता है। इसीलिए पाणिनि ने प्रत्ययों को मुख्य स्थान दिया है, प्रकृतियों को गौण। अपनी अष्टाध्यायी के तीसरे अध्याय में धातु से होनेवाले सभी प्रत्ययों को तथा चौथे-पाँचवें अध्यायों में प्रातिपदिक से होनेवाले सभी प्रत्ययों को अर्थ के साथ देकर, तथा सभी धातुओं को धातुपाठ और प्रातिपदिकों को गणपाठ में अष्टाध्यायी के खिल भाग की भाँति रखकर यह दृष्टि स्पष्ट कर दी है। निर्वचन के मुख्य साधन ये प्रत्यय ही हैं, अतः अष्टाध्यायी के मध्यभाग में, तीसरे से पाँचवें अध्याय तक, तीन अध्यायों में केवल इनका ही वर्णन है। इनमें प्रथम सूत्र है 'प्रत्ययः', जिसका अधिकार इन तीनों अध्यायों तक चलता है। इतना लम्बा अधिकार-क्षेत्र अष्टाध्यायी में किसी का नहीं है।

ध्वनि-परिवर्त्तनों का स्थान प्रत्ययों के बाद आता है, अतः इन्हें प्रत्ययों के आगे-पीछे पहले-दूसरे तथा छठे, सातवें, आठवें अध्यायों में विधिशेष रूप में रखा गया है। ध्वनि-परिवर्त्तनों को पतंजलि ने ठीक ही चार भागों में बाँट[२] दिया है, वर्णों का (क) व्यत्यय, (ख) अपाय (लोप), (ग) उपजन (आगम) तथा (घ) विकार। निरुक्तकथित[३] सभी ध्वनिविकार इन चारों के ही प्रपंच हैं, और चारों से काम पाणिनि ने भी लिया है।

३. निरुक्ति की नई सरल प्रक्रिया :

निरुक्त में यास्क ने प्रायः दो हजार शब्दों की व्युत्पत्ति दी है, फिर भी इससे कई गुने अधिक शब्दों का निर्वचन छूट गया; क्योंकि उन्होंने निर्वचन की प्रक्रिया ही गलत चुनी। पतंजलि ने ठीक ही कहा है[४]—प्रतिपदपाठ करके तो इन्द्र जैसे अध्येता और बृहस्पति जैसे

---

१. ३।१।१।

२. वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात्—१।१।२।

३. निरुक्त २।१।

४. "अथ तस्मिन् शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्त्तव्यः, गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः ? नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते-बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां, शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चा-

अध्यापक अमरजन भी दिव्य वर्षसहस्र में शब्द-वारिधि का पार नहीं पा सके, १०० वर्ष ही जीनेवाला मानव कैसे पार पायगा ? और जीवन में केवल पढ़ना ही तो काम नहीं है ? उस का स्वाध्याय, प्रवचन, कार्यान्वयन भी करना है ! प्रतिपद पाठ करने पर तो सारी आयु पढ़ने में ही बीत जायगी, फिर भी शब्दों का अन्त नहीं होगा।

अतः पाणिनि ने बहुत सोचकर शब्दानुशासन की एक नई शैली निकाली। उन्होंने शब्दनिर्वचन के लिए कुछ नियम (सूत्र) बनाये, और उनमें दो कोटियाँ रख दीं, कुछ उत्सर्ग-सूत्र हुए, कुछ उनके अपवाद। उत्सर्ग-सूत्र 'कर्मण्यण्' ने कुम्भकारः, स्वर्णकारः, लौहकारः, नगरकारः, मूर्त्तिकारः, काण्डलावः, वेदाध्यायः, चर्चापाठः आदि अकेले ही सैकड़ों शब्दों का निर्वचन कर दिया, फिर अपवाद-सूत्र 'आतो नुपसर्गे कः' ने गोदः, कम्बलदः, क्षत् त्रः, द्विपः आदि अनेक प्रयोगों की सिद्धि की; इसी प्रकार 'भावे' ने पाठः, पाकः, त्यागः, रागः, लाभः, शोकः, रोधः, शोधः आदि हजारों शब्दों की सिद्धि बताई और उसके अपवाद एरच् ने जयः, क्षयः, चयः, नयः आदि सैकड़ों प्रयोगों की व्युत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह सरल तरीका अपनाकर पाणिनि ने अपनी भाषा के समस्त शब्दों का निर्वचन आनन-फानन में कर दिया। पतंजलि ने अपने पस्पशाह्निक में इस निपुणता की चर्चा करते समय अवश्य ही यास्क के निरुक्त का प्रतिपदपाठ ध्यान में रखा था।

४. एक और बात है, जो पिछली बात की ही शाखा है। प्रतिपदपाठ में यह तो बताया जाता है कि अमुक धातु से अमुक शब्द बना, और उसमें अमुक ध्वनिविकार हुआ। किन्तु इससे शब्दों की किसी प्रवृत्ति का ज्ञान नहीं होता है। प्रकृति के नियमों की भाँति शब्द-विकास के भी अपने नियम हैं। पाणिनि ने शब्दसिद्धि के लिए नियम बनाकर जो शब्द भविष्य में उत्पन्न-विकसित होंगे उनके विकास की दिशा भी बता दी। अतः शब्दानुशासन केवल शब्दों में वर्त्तमान तत्त्वों तथा विकारों का विश्लेषण नहीं, अपितु उनकी दिशाओं का, शब्द-सृष्टि के न्यूनाधिक व्यापक नियमों-प्रवृत्तियों का अनुसन्धान और स्थापना भी है। पाणिनि ने लक्ष्य के साथ लक्षण भी देकर, शब्द-विकास के साथ शब्द-विकास के नियमों-प्रवृत्तियों की भी व्याख्या की। यास्क ने शब्दों की प्रवृत्ति का अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया। पाणिनि से प्रेरणा पाकर ही बाद के संस्कृत-प्राकृत-वैयाकरणों ने ध्वनि-परिवर्त्तन तथा शब्द-विकास की प्रवृत्तियों की खोज जारी रखी। भाषाविज्ञान केवल यह नहीं बताता की सत्कर्म

ध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति, स वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति, आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। कथं तर्हीमें शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ? किंचित्सामान्य विशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्, येनाल्पेन यत्नेन महतोमहतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः कश्चिदपवादः। कथं जातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्त्तव्यः, कथं जातीयकोऽपवादः ? सामान्येनोत्सर्गः कर्त्तव्यः तद्यथा कर्मण्यण्। तस्य विशेषेणापवादः, तद्यथा आतोऽनुपसर्गे कः।''—महाभाष्य-पस्पशाह्निक (आरम्भिक भाग)।

का त् ही सद्भाव में द्, सन्मति में न् तथा सच्चरित्र में च् हुआ है, वह यह भी स्पष्ट करता है कि ऐसा क्यों हुआ है, किस नियम से हुआ है। इससे जगत्पति, जगद्गुरु, जगन्मात्र, जगच्चन्द्र; तत्काल, तद्भव, तन्मय, तच्चिन्ता आदि प्रयोगों की भी व्याख्या हो जाती है। पतंजलि ने ठीक ही कहा है कि केवल लक्ष्य-प्रदर्शन ही व्याकरण, भाषाविज्ञान नहीं है, उसका लक्षण अर्थात् नियम बताना भी आवश्यक[1] है। यास्क ने नियमों की विवेचना साफ छोड़ दी, सारा ध्यान लक्ष्यों पर दिया। किन्तु पाणिनि ने एक-एक कर नियमों की व्याख्या की, लक्ष्य केवल उदाहरण-स्वरूप दिखाये। उदाहरणार्थ 'सुपि[2]च' ने बताया कि अकारान्त, प्रातिपदिक के बाद यदि यञादि सुप् विभक्ति आयगी तो अ का दीर्घ हो जायगा। इसके उदाहरण हजारों हो सकते हैं—रामाय, बालकाय, देवाय, गजाय, अश्वाय, रामाभ्याम्, बालकाभ्याम्, देवाभ्याम्, अश्वाभ्याम्, गजाभ्याम् आदि।

५. अतः पाणिनि का निरुक्ति-विज्ञान या शब्दानुशासन पूर्णता, व्यापकता तथा वैज्ञानिकता में अद्वितीय है। यह भी आरम्भ में ही बताया जा चुका है कि पाणिनि का शब्द-विज्ञान तुलनात्मक है। यास्क में भी तुलना की दृष्टि दिखाई जा चुकी है, पर वह विरल है। पाणिनि पद-पद में भाषा तथा छन्द और उदीच्य, प्राच्य आदि भाषाओं की परस्पर विषमता बताते चलते हैं, जैसे 'अतो रोरप्लुताद[3]प्लुते', 'एङः पदान्तादति'[4] शिवः + अर्च्यः—शिवोऽर्च्यः, किन्तु, 'प्रकृत्यान्तः[5] पादमव्यपरे'—उपप्रयन्तः अध्वरम्—उपप्रयन्तो अध्वरम्; 'सेनान्त-लक्षणकारिभ्यश्च'—[6]हारिषेण्यः, लक्षण्यः, कौम्भकार्यः, किन्तु 'उदीचामिञ्—हारिषेणिः[7], लाक्षणिः, कौम्भकारिः, वृद्धाच्छः[8]—पाटलिपुत्रीयः', किन्तु 'रोपधेतोः[9] प्राचाम्—पाटलिपुत्रकः' आदि।

जिस प्रकार पाणिनि ने लाघव के लिए लक्ष्य से अधिक लक्षण पर ध्यान दिया है, उसी भाँति प्रकृति से अधिक प्रत्यय पर भी, यह पहले कहा गया है। अधिकार सदा प्रत्ययों का चला है, बीच-बीच में विभिन्न प्रकृतियों का उल्लेख है। इसी भाँति निरुक्ति में अर्थ का भी बहुत महत्त्व होने के कारण बहुत जगह अर्थ का भी अधिकार चला है। जहाँ प्रत्यय का अधिकार चला है, वहाँ बीच में विभिन्न प्रकृतियों तथा अर्थों का उल्लेख है तथा जहाँ अर्थ का अधिकार है, वहाँ बीच में प्रत्ययों और प्रकृतियों का उल्लेख। जैसे 'प्राग्दीव्यतोऽण्'[10] से अण् का अधिकार चला; बीच में 'तस्यापत्यम्'[11], 'तेनरक्तं'[12], रागात्(नेत्र), 'दृष्टं साम'[13],

---

१. "लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्। लक्ष्यं च लक्षणं चैतत् समुदितं व्याकरणं भवति। किं पुनर्लक्ष्यं लक्षणं च? शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्—महा० १।१।१।

२. ७।३।१०२।
३. ६।१।११३।
४. ६।१।१०९।
५. ६।१।११५।
६. ४।१।१५२।
७. ४।१।१५३।
८. ४।२।११४।
९. ४।२।१२३।
१०. ४।१।८३।
११. ४।१।९२।
१२. ४।२।१।
१३. ४।२।७।

'सास्य देवता'[१], 'तस्य समूहः[२]' आदि बहुत-से अर्थ गिनाये गये; 'प्राग्वहतेष्ठक्'[३] से ठक् का अधिकार चला; बीच में 'तेन दीव्यति खनति[४] जयति जितम्', 'संस्कृतम्'[५], 'तरति'[६], 'चरति'[७] आदि अनेक अर्थ गिनाये गये; 'प्राग्घिताद्यत्'[८] से यत् का अधिकार चला; बीच में 'तद्वहति रथयुगप्रासंगम्'[९], 'धनगणं लब्धा'[१०], 'नौवयोधर्म०'[११], 'धर्मपथ्यर्थन्याया-दनपेते'[१२] से कितने अर्थ तथा प्रकृति-शब्द गिनाये गये। इसी भाँति 'भावे'[१३] से भाव-अर्थ का अधिकार चला, बीच में 'एरच्'[१४] से अच्, 'ऋदोरप्'[१५] से अप्, 'स्त्रियांक्तिन्'[१६] से क्तिन् आदि अनेक प्रत्यय तथा 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्'[१७] आदि से प्रकृति और प्रत्यय गिनाये गये। प्रकृति का भी अधिकार चला है, जैसे 'धातोः'[१८] धातु का अधिकार, 'ङ्याप्-प्रातिपदिकात्'[१९] से प्रातिपदिक का अधिकार, 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु'[२०] से तीन अर्थों के साथ कञ् इस धातु का अधिकार आदि। परन्तु ऐसे स्थल विरल हैं। इसलिए सूची-कटाह न्याय से पहले पाणिनि-निर्दिष्ट प्रकृतियों की ही समीक्षा की जा रही है।

प्रकृति के विभिन्न रूप :

पाणिनि ने प्रकृति का इन रूपों में वर्णन किया है—(क) मूल धातु, (ख) यौगिक धातु, (ग) मूल प्रातिपदिक, (घ) यौगिक प्रातिपदिक, (ङ) तिङन्त, (च) सुबन्त तथा (छ) अव्यय (उपसर्ग तथा निपात)। यौगिक धातु के दो भेद हैं—धातुज धातु तथा प्रातिपदिकज धातु (नामधातु)। इसी प्रकार यौगिक प्रातिपदिक के भी तीन भेद हैं—प्रातिपदिकज प्राति-पदिक, धातुज प्रातिपदिक तथा समासज प्रातिपदिक। इस तरह प्रकृति की १० श्रेणियाँ हैं। अब आगे एक-एक का विस्तार से वर्णन किया जायगा—

(१) मूलधातु—पाणिनि ने "अदिप्रभृतिभ्यः[२१] शपः, जुहोत्यादिभ्यः[२२] श्लुः, दिवादिभ्यः[२३] श्यन्, स्वादिभ्यः[२४] श्नुः, तुदादिभ्यः[२५] शः, रुधादिभ्यः[२६] श्नम्, तनादि कृञ्भ्य[२७] उः,

---

१. ४।२।२४।
२. ४।२।३७।
३. ४।४।१।
४. ४।४।२।
५. ४।४।३।
६. ४।४।५।
७. ४।४।८।
८. ४।४।७५।
९. ४।४।७६।
१०. ४।४।८४।
११. ४।४।९१।
१२. ४।४।९२।
१३. ३।३।१८।
१४. ३।३।५६।
१५. ३।३।५७।
१६. ३।३।९४।
१७. ३।३।९०।
१८. ३।१।९१।
१९. ४।१।१।
२०. ३।२।२०।
२१. २।४।७२।
२२. २।४।७५।
२३. ३।१।६९।
२४. ३।१।७३।
२५. ३।१।७७।
२६. ३।१।७८।
२७. ३।१।७९।

क्र्यादिभ्यः[1] श्ना, सत्याप पाशरूप वीणा[2] तूल श्लोकसेनालोम त्वच वर्म वर्ण चूर्ण चुरादिभ्यो णिच् तथा कण्ड्वादिभ्यो[3] यक्" कहकर १० धातुगणों का नाम लिये हैं। भ्वादि का कहीं नाम नहीं लिया है, किन्तु इन १० गणों के लिए १० विकरण कहे हैं और शेष स्थलों में कर्त्तरि शप् से शप् विकरण का विधान किया है। बल्कि 'भूवादयो[4] धातवः' से भ्वादि का भी कथन कर ही दिया है। इस प्रकार धातु के कुल ११ गण पाणिनि ने कहे हैं। इनमें कण्ड्वादि को मुख्यतः धातु नहीं, प्रातिपदिक मानते हैं, अतः केवल १० धातुगणों को ही दशगणी कहा जाता है। धातुपाठ को पणिनिमुनिकृत ही मानते हैं, इसलिए तदनुसार धातुओं की संख्या निम्नलिखित है—

भ्वादि में १०३५, अदादि में ७२, जुहोत्यादि में २४, दिवादि में १४०, स्वादि में ३५, तुदादि में १५७, रुधादि में २५, तनादि में १०, क्र्यादि में ६१ और चुरादि में ४४१—इस प्रकार कुल मिलाकर १९७० धातुएँ गिनाई गई हैं। किन्तु इस निदर्शन को बहुल माना गया है अर्थात् इन गणों में परिगणित धातुओं के अतिरिक्त भी धातुएँ मानी गई हैं। धातुपाठ में उपर्युक्त क्रम से धातुओं को पढ़कर अन्त में कहा गया है 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इसका अर्थ किसी ने लगाया है कि चुरादिगण में ऊपर से जो अकारान्त धातुओं का वर्णन आ रहा है, वह बहुल है, अर्थात् उसमें और भी अकारान्त धातुएँ हो सकती हैं। यह कहकर विष्क, क्षप, वस, तुत्थ—ये चार और धातुएँ गिनाई हैं (अर्थात् जैसे निम्नलिखित ये चार धातुएँ)। इस बहुलता के उदाहरणों में यहाँ किसी ने आन्दोल, प्रेङ्खोल, विडम्ब, अवधीर आदि और भी अदन्त चुरादि धातुएँ गिनाई हैं। किसी ने यह बहुलता दसों धातुगणों में मानी है, जिससे और भी सौत्र, वैदिक, लौकिक धातुओं का संग्रह किया जा सकता है। किसी ने नवगणीपाठ को ही बहुल कहकर उनसे स्वार्थ में णिच् कर रामो राज्यमचीकरत् आदि प्रयोग बनाये हैं। किसी ने चुरादि धातुओं से ही बाहुलकात् वैकल्पिक णिच् माना है।[5]

इसी प्रकार भ्वादिगण के अन्त में आये 'वृत्' से किसी ने यजादि की ही समाप्ति मानकर भ्वादि को आकृतिगण मान चुलुम्पति आदि का[6] तथा दिवादि के अन्त में आये

---

१. ३।१।८१। २. ३।१।२५। ३. ३।१।२७। ४. १।३।१।

५. "बहुलमेतन्निदर्शनम्', अदन्तधातुनिदर्शनमित्यर्थः। बाहुलकादन्येऽपि बोध्याः। तद् यथा पर्ण हरितभावे अपपर्णत्; विष्क दर्शने, क्षप प्रेरणे, वस निवासे, तुत्थ आवरणे। एवमान्दोलयति, प्रेङ्खोलयति, विडम्बयति, अवधीरयति इत्यादि। अन्ये तु दशगणीपाठो बहुलमित्याहुः। तेनापठिता अपि सौत्रलौकिकवैदिका बोध्याः। अपरे तु नवगणीपाठो बहुलमित्याहुः। तेनापठितेभ्योपि क्वचित् स्वार्थेणिच्। रामो राज्यमचीकरदिति यथेत्याहुः। चुरादिभ्य एव बहुलं णिजित्यर्थ इत्यन्ये। सर्वे पक्षाः प्राचां ग्रन्थे स्थिताः" —सिद्धान्तकौमुदी।

६. "वृत्। यजादयो वृत्ताः। भ्वादिस्त्वाकृतिगणः। तेन चुलुम्पतीत्यादिसंग्रहः इति भ्वादयः"— सिद्धान्तकौमुदी।

'वृत्' से पुषादि की ही समाप्ति समझ दिवादि को भ्वादि की भाँति आकृतिगण मान क्षीयते, मृग्यति आदि का संग्रह किया है।[१]

पाणिनि ने कहीं धातुओं का गण-रूप में निर्देश किया है, जैसे क्र्यादिभ्यः श्ना, प्वादीनां ह्रस्वः, षिद् भिदादिभ्योऽङ्, और कहीं एक-एक कर, जैसे "मृजेर्वृद्धिः, मिदेर्गुणः, ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः" आदि।

इन दस गणों के कारण धातुओं के तिङन्त रूप १० प्रकार के हो जाते हैं; क्योंकि दसों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विकरण लगकर धातुरूप को भिन्न-भिन्न ढंग से विकृत कर देते हैं। इसी विकरण-भेद से धातु के दस गण हो गये हैं। जैसे भ्वादि में धातु और तिङ् के बीच 'अ' (शप्) आता है और गुण होता है, बुध् से बोधति होता है, अदादि में इस 'अ' (शप्) का लोप हो जाता है, अतः हन् से हन्ति होता है। जुहोत्यादि में इस शप् का श्लु होकर धातु का द्वित्व होता है, अतः दा से ददाति होता है; दिवादि में य् आता है, अतः नृत् से नृत्यति होता है; स्वादि में नु आता है, अतः सु से सुनोति होता है; तुदादि में अ आता है और गुण नहीं होता है, अतः तुद् से तुदति होता है; रुधादि में न् धातु के भीतर ही आता है, अतः भिद् से भिनत्ति होता है; तनादि में उ आता है, अतः तन् से तनोति होता है; क्र्यादि में ना आता है, अतः क्री से क्रीणाति होता है और चुरादि से इ आता है, फिर इस समुदाय की धातुसंज्ञा होकर समुदाय से तिङ् और बीच में अ (शप्) आता है और गुण होता है, जिससे अयादेश द्वारा चोरयति होता है। इस प्रकार चुरादि और भ्वादि दोनों में बीच का विकरण एक ही है अ (शप्)। इन दसो गणों में भी कई अवान्तर गण हैं; जैसे भ्वादि में घटादि, यजादि, द्युतादि; तुदादि में कुटादि, मुचादि, तृम्फादि; अदादि में रुदादि, जक्षित्यादि; दिवादि में पुषादि, रधादि; क्र्यादि में प्वादि; चुरादि में आकुस्मीय, आधृषीय तथा आगर्वीय ये उपविभाग हैं। इनके अतिरिक्त भी भिदादि, पचादि आदि अवान्तर गण हैं।

एक दूसरी दृष्टि से इन दस प्रकार की धातुओं के तीन भेद होते हैं। इनमें कुछ परस्मैपदी हैं। इनमें ति तः अन्ति आदि अन्तप्रत्यय जुटते हैं; जैसे पठ् से पठति, पठतः, पठन्ति। कुछ आत्मनेपदी हैं; जैसे सेव्। इनमें त आताम् अन्त आदि अन्त-प्रत्यय जुटते हैं और सेवते, सेवेते, सेवन्ते आदि रूप होते हैं। कुछ उभयपदी होते हैं; जैसे वह्। इनके रूप दोनों प्रकार से चलते हैं—वहति, वहतः, वहन्ति; और वहते, वहेते, वहन्ते आदि। किन्तु ऐसा नहीं कि सब धातुओं के ये तीन भेद हों। सब गणों में इन तीनों प्रकार की पृथक्-पृथक् धातुएँ हैं। चुरादि की प्रायः सभी धातुएँ उभयपदी होती हैं।

एक और दृष्टि से इन धातुओं का वर्गीकरण किया जाता है, सेट्, अनिट् और वेट्, अर्थात् कुछ में तास्, स्य, सिच् आदि लकारद्योतक प्रत्यय या तव्य, तृ, निष्ठा आदि कृत्

१. "वृत्। पुषादयो दिवादयश्चवृत्ताः। केचित्तु पुषादिसमाप्त्यर्थमेव वृत्करणम्। दिवादिस्तु भ्वादिवदाकृतिगणः। तेन क्षीयते मृग्यतीत्यादिसिद्धिरित्याहुः। इति दिवादयः"—सि० कौ०।

प्रत्यय करने पर धातु और प्रत्यय के बीच इ का आगम हो जाता है, कुछ में नहीं होता है, कुछ में विकल्प से होता है; जैसे पठ् से पठिष्यति और पठितव्य, दा से दास्यति और दातव्य। सू से सविष्यति—सोष्यति, सवितव्य—सोतव्य आदि। गम् और हन् से गमिष्यति, हनिष्यति; पर गन्तव्य, हन्तव्य आदि।

प्रायः सभी धातुएँ एकाक्षर हैं। ऊपर जितनी भी धातुएँ गिनाई गई हैं, सब एकाक्षर हैं, कुछ धातुएँ द्व्यक्षर त्र्यक्षर भी हैं, जैसे जागृ[1], चकास्[2], दरिद्रा[3], चुलुम्प[4], पल्पूल्[5], समाज्[6] आदि। पर ये सब मौलिक धातुएँ नहीं लगतीं। इनमें प्रकृति-प्रत्यय-योग ढूँढ़ना चाहिए।

कण्ड्वादि गण का पाठ गणपाठ में मिलता है, धातुपाठ में नहीं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये मुख्यतः प्रातिपदिक हैं, गौणतः धातु। अतः इन्हें विभाषित धातु कहते हैं। कौमुदी में भी ये चुरादि के बाद नहीं, नामधातु के बाद पठित हैं। इसमें ५० धातुएँ पठित हैं और इ से आकृतिगण माना गया है। भाष्य ने ठीक ही कहा है कि "धातुप्रकरणाद्-धातुः कस्य चासज्जनादपि। आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः", अर्थात् ये सब धातु तथा प्रातिपदिक दोनों हैं। कण्ड्वादि में एक भी धातु एकाक्षर नहीं है। कुछ त्र्यक्षर तथा शेष द्व्यक्षर हैं। त्र्यक्षर हैं, जैसे—कुषुभ क्षेपे, सपर पूजायाम्, गद्गद वाक्स्खलने आदि। वास्तव में इसकी सभी धातुएँ यौगिक हैं। उनमें योग ढूँढ़ना चाहिए। जैसे भिषज् में अभि उपसर्गयुक्त षञ्ज् धातु से क्विप् कर आद्यक्षर का लोप है।

धातुपाठ की समाप्ति में सर्वत्र "इति श्री पाणिनिमुनिप्रणीतो धातुपाठः समाप्तः" लिखा मिलता है, अर्थात् परम्परा इसे पाणिनि-प्रणीत ही मानती है। इनमें प्रायः दो हजार धातुओं का अर्थ-सहित उल्लेख है। यहाँ निम्नलिखित बातें विशेष ध्यातव्य हैं—

(क) कहीं एक धातु के अनेक अर्थ दिये गये हैं, जैसे "दिवु[7] क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु", अव[8]रक्षण-गति कान्ति प्रीतितृप्त्यवगम प्रवेश श्रवण स्वाम्यर्थ याचन क्रियेच्छा दीप्त्यवाप्त्यालिंगन हिंसा दान भाग वृद्धिषु आदि।

(ख) कहीं एक ही अर्थ में अनेक धातुएँ दी गई हैं; जैसे उख[9] उखि, वख वखि, मख मखि, णख णखि, रख रखि, लख लखि, इख इखि ईखि वल्ग रगि लगि अगि वगि मगि तगि त्वगि श्रगि श्लगि इगि रिगि लिगि रिख त्रख त्रिखि शिखि गत्यर्थाः, ककि[10] वकि श्वकि त्रकि ढौकृ त्रौकृ ष्वष्क वष्क मष्क टिकृ टीकृ तिकृ तीकृ रघि लघि गत्यर्थाः; वञ्चु[11] चञ्चु तञ्चु त्वञ्चु मुञ्चु म्लुञ्चु मुचु म्लुचु गत्यर्थाः आदि।

---

१. अदादि।
२. अदादि।
३. अदादि।
४. भ्वादि।
५. चुरादि।
६. चुरादि।
७. दिवादि।
८. भ्वादि।
९. भ्वादि।
१०. भ्वादि।
११. भ्वादि।

(ग) धातुपाठ में बहुत-सी धातुएँ तो सर्वथा सर्वदा अप्रयुक्त लगती हैं, यह ऊपर की ही कुछ धातुओं को देखकर समझा जा सकता है। यद्यपि इनके लिए भी पतंजलि का वही उत्तर है कि इन सबका कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में प्रयोग[1] होगा, इस दृष्टि से सभी अप्रचलित धातुओं का गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए, 'कुड घनत्वे' का संस्कृत में कहीं प्रयोग नहीं मिलता, पर सम्भवतः अँगरेजी का 'कर्ड' (curd) उसी का अवशेष है; 'जजि युद्धे' संस्कृत में कहीं प्रयुक्त नहीं, पर उर्दू का 'जंग' उसी का तद्भव लगता है। अतः संस्कृत-धातुओं की खोज सभी आर्यभाषाओं में होनी चाहिए। इनकी उपयोगिता का पुनः परीक्षण होना चाहिए। यदि इनमें कुछ बाद के अनावश्यक मिश्रण हैं तो इनका परित्याग कर धातुपाठ के निरर्थक भार को कम कर देना चाहिए। सम्भव है, इनमें कुछ धातु नैरुक्तों की कल्पनाएँ हों। यदि किसी का प्रयोग तिङन्त में उपलब्ध नहीं और संज्ञा शब्द भी एक ही बन रहा है तो उसे धातु मानने की आवश्यकता नहीं, मूल प्रातिपदिक ही मान लेना चाहिए।

(घ) उपर्युक्त सभी धातुओं का अर्थ गति बताई गई है। इतना ही नहीं, ढूँढ़ा जाय तो धातुपाठ में कम-से-कम सौ तो और गत्यर्थक धातुएँ मिल ही जायेंगी। यह एक विडम्बना लगती है। क्या गच्छति, भ्रमति, चलति, आप्नोति, शलति, पतति, कूर्दते, वाति, धावति, रिङ्गति, लङ्घति, नयति, वहति सबका एक ही अर्थ है? क्या संस्कृत-ऐसी समृद्ध भाषा में भी इन धातुओं के अर्थभेद को प्रकट करने की क्षमता नहीं थी? यह अनुभव-विरुद्ध है! तब क्यों सबको गत्यर्थक ही कह दिया गया? इसी प्रकार ह्रेषति, कूजति, ध्वनति, नदति, गर्जति, नर्दति सबका एक ही अर्थ बताया गया—अव्यक्त शब्द[2]!

(ङ) बीस से अधिक ही केवल ऐसे धातु-युग्म मिलते हैं, जिनमें एक ही अर्थ तथा विवरण है, केवल र् ल् का अन्तर है। इन जगहों में वास्तव में एक ही धातु है, किन्तु उसका कहीं र् वाला उच्चारण हो रहा है, कहीं ल् वाला; ऐसी जगह युग्म में से कोई एक ही प्रसिद्धतर रूप पढ़कर देशभेद से र् का ल् या ल् का र् उच्चरित होता है, यह तथ्य स्पष्ट कर देना चाहिए था। एक ही शब्द बिहार में र् के साथ तथा उत्तरप्रदेश में ल् के साथ

---

१. "सर्वे देशान्तरे। सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। नचैवोपलभ्यन्ते? उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः, साङ्गाः सरहस्याः, बहुधा भिन्ना, एकशतमध्वर्युशाखा, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोग विषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव। एतस्मिश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्रतत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु गमिमेवत्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु"—१।१।१

२. इन धातुओं में केवल आप् स्वादि गण का है वा अदादि का, शेष सभी भ्वादि के हैं।

बोला जाता है, जैसे डार—डाल, ऊजर—उजला, करिया—काला, पीयर—पीला, गारी—गाली, सार—साला, हर—हल, गोआर—ग्वाला आदि। कभी-कभी तो उत्तरप्रदेश में भी संस्कृत के ल् का र् उच्चरित होता है; जैसे लाला—लार, उल्लेखन—उरेहना, बाल—बार आदि। इसी तरह एक ही धातु के दो रूप हैं : रख—लख, रखि—लखि, रगि—लगि, श्रगि—श्लगि, रघि—लघि, ह्रगे—ह्लगे, ग्रस—ग्लस, प्रु—प्लु आदि।[1] इन धातुओं के बारे में तो कोई यह भी कह सकता है कि वर्त्तमान धातुपाठ पाणिनिकृत नहीं, पाणिनिकृत धातुपाठ पर अवलम्बित है, अथवा पाणिनि के सूत्र के आधार पर शाकटायन-कृत उणादिपाठ-सा ही अन्यकृत है। किन्तु स्वयं पाणिनि-सूत्रों में भी ऐसे कई युग्म हैं, जैसे म्रुचु—म्लुचु, ग्रुचु—ग्लुचु, भ्राश—भ्लाश, स्फुर—स्फुल आदि।[2] क्या इन स्थलों में पाणिनि ने भी ध्वनि-परिवर्त्तन पर ध्यान नहीं दिया था ? उपसर्गों में र् के वैकल्पिक 'ल' भाव को तो उन्होंने परायते—पलायते, परिघ—पलिघ, पर्यङ्क—पल्यङ्क में बताया है ? गॄ धातु में भी गिरति-गिलति के युग्म पर उनका ध्यान गया है, जो बिहार में 'गरा' और उत्तरप्रदेश में 'गला' इस द्विविध उच्चारण का ही (अचि विभाषा[3]) संकेत है। हाँ, जहाँ र् ल् के भेद से अर्थभेद भी है, वहाँ तो उसे पृथक् धातु मानना ही ठीक है; जैसे क्रमु—क्लमु। यहाँ क्रम् का अर्थ है गति, क्लम् का अर्थ है थकना। किन्तु उपर्युक्त सभी धातु-युग्म समानार्थक हैं, अतः उन्हें दो मानना ठीक नहीं लगता। यह स्थिति केवल र् ल् के ही साथ नहीं है। टिकृ-टीकृ, तिकृ-तीकृ गत्यर्थाः में त, ट या ह्रस्व-दीर्घ का कुर्द-खुर्द-गुर्द क्रीडायाम् तथा कर्व खर्व-गर्व-गतौ में क, ख, ग का कुङ्-खुङ्-गुङ्-घुङ् शब्दे में क-ख-ग-घ का, चमु-छमु-जमु-झमु अदने में च-छ-ज-झ का, तुर्वी-थुर्वी-दुर्वी-धुर्वी हिंसार्थाः में त-थ-द-ध का, किट-खिट त्रासे में क-ख का, चुट-छुट[4] छेदने में च-छ का, पेलृ-फेलृ गतौ में प-फ का, श्मील-ष्मील निमेषणे में श-ष का, कृती-चृती (तुदादि) में क्-च् का, रुटि-लुटि, रुठि-लुठि, रुडि-लुडि स्तेये में र् ल् के साथ ट-ठ-ड का, लड-लल में ड-ल का अन्तर स्पष्ट बता रहा है कि यह ध्वनि-परिवर्त्तन के कारण कहीं अघोष का सघोष, कहीं अल्पप्राण का महाप्राण, कहीं दन्त्य का मूर्धन्य उच्चारणभेद-मात्र था। वस्तुतः ये भिन्न-भिन्न धातुएँ नहीं थीं। "पूल संघाते, पूर्ण इत्येके, पुण इत्यन्ये" इस प्रकार के मतभेदों का उल्लेख भी धातुपाठ में कई जगह है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि एक ही धातु के उच्चारण-भेद से कई रूप बन जाते थे। तिपृ-तेपृ (भ्वादि), ऋच् (तुदादि), अर्च (भ्वादि) का भेद भी गुणमात्रकृत ही है। सम्भव है, रख-रखि, लख-लखि आदि सैकड़ों धातुओं में न् के आगम-विकल्पमात्र से ही द्विविधता आई हो। बहुत सम्भव है कि (तुल् से) तोलयति के त् के दभाव से ही दोलयति

१. सभी धातुएँ भ्वादि की हैं।

२. स्फुर और स्फुल तुदादि हैं, शेष भ्वादि हैं। 'जृस्तम्भुम्रुचुम्लुचु ग्रुचु ग्लुचु श्विभ्यश्च' (३।१।५८), 'वा भ्राश भ्लाश भ्रमु क्रमु क्लमु त्रसित्रुटिलषः' (३।१।७०) तथा स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि (६।१।४७) और 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' (८।३।७६)।

३. ८।२।२१

४. चुट छुट तुदादि, पूल चुरादि (तुल् भी) तथा केला खेला कण्ड्वादि हैं, शेष सभी भ्वादि हैं।

बना हो, पर बाद में चुरादि में अलग से दुल् पढ़ दिया गया हो। अब तो इसमें और भी ध्वनि-परिवर्त्तन होकर डुलना, डोलना और झूलना रूप भी बन गये हैं। इसी प्रकार लगता है, क्रीड् का ही कीड्-केड-केड़-केल-केल-खेल हो गया है। केल्-खेल् और केला-खेला के युग्मों को देखकर तो ऐसा ही अनुमान होता है। इसी प्रकार भिद्[1] धातु से ही बिल की निष्पत्ति होगी, यास्क ने भिद् धातु से ही भिद्म[2]-भिल्म-बिल्म तथा बिल्व बनाया है। पर धातुपाठ में बिल भेदने भी पढ़ दिया गया है। इस प्रकार ऐसी धातुओं की संख्या भी धातुपाठ में पर्याप्त है, जो वस्तुतः स्वतन्त्र धातु नहीं, बल्कि किसी दूसरी स्वतन्त्र धातु के विरल प्रयुक्त उच्चारण-भेद मात्र हैं। इनकी पहचान और अध्ययन होना चाहिए।

(च) कुछ ऐसी धातुएँ भी हैं, जिनका व्यवहार कहीं शास्त्र में या लोक-प्रयोग में मिलता है, पर धातुपाठ में उनका उल्लेख नहीं है। पाणिनिसूत्र स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भु[3] स्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च में पठित प्रथम चार धातुएँ, तथा ऋतेरीयङ्[4] में चर्चित ऋत् धातु का धातुपाठ में किसी गण में उल्लेख नहीं है। यह तो विचित्र स्थिति है। अष्टाध्यायी के साथ यदि पाणिनि ने धातुपाठ भी बनाया, तो अष्टाध्यायी-पठित धातुओं का ही परिगणन धातुपाठ में छोड़ दिया! या धातुपाठ किसी दूसरे की कृति है, जिससे यह भ्रम इसलिए हुआ कि ये धातु अल्पप्रयुक्त हैं? स्कम्भु का तो 'वेः स्कम्नातेर्नित्यम्'[5] इस सूत्र में भी ग्रहण है। भ्वादि में 'ष्टभि स्कभि प्रतिबन्धे' पठित है, किन्तु सूत्र-पठित धातु श्नाविकरण (क्र्यादि) है, यह ऊपर 'क्र्यादिभ्यः श्ना'[6] तथा इस सूत्र में पठित 'च' से प्रतीत होता है। निरुक्त-प्रकरण में भी ऐसी कुछ धातुओं की चर्चा है, जिन्हें यास्क ने माना है, पर जो धातुपाठ में नहीं मिलतीं।[7] महाभारत में चीर्ण, चीर्त्वा प्रयोग मिलते हैं, चर्म शब्द भी चर् या चृत् से नहीं बना है। हिन्दी में चीरना क्रिया भी प्रचलित है। अवश्य ही इन सबका मूल कोई चृ धातु भी था, जिसके दो अर्थ थे—करना और चीरना। हिन्दी में एक 'आस्फालन' शब्द प्रचलित है, पर कोई स्फल् धातु प्राप्य नहीं है। महाभारत में पर्यवीजन्त[8] प्रयोग आया है, पर कोई वीज या व्यज् धातु नहीं प्राप्त है। संस्कृत में पंखा अर्थ में व्यजन खूब प्रचलित है, पर यह वि + अज से भी बनेगा। भोजपुरी में एक शब्द है दहना, दाहड़, जिसका अर्थ है बहना, बाढ़। सन्देह होता है कि संस्कृत में बहने के लिए कोई दह् धातु भी थी, जिससे दह्र बनता था। कालियदह उसी दह्र का तद्भव-रूप है। प्रचलित दह् धातु का अर्थ है जलाना।

(छ) कुछ धातुओं की आकृति उनके पीछे छिपे विचित्र इतिहासों की ओर संकेत करती है। आस्वयते,[9] विनिमयते[10] आदि में ह्वे का ह्वय्, मे का मय् रूप देखकर

१. रुधादि।
२. १।५ तथा ६।
३. ३।१।८२।
४. ३।१।२९।
५. ८।३।७७।
६. ३।१।८१।
७. दे०—निरुक्त-प्रकरण, पृ० ५५६, ई।
८. अनु० १६८।१५।
९. भ्वादि।
१०. भ्वादि।

किसी ने दयते[१] में भी दय् की कल्पना की, किसी ने इसे दे[२] ही माना। फलतः समाज में दे और दय् दोनों को मान्यता देनी पड़ी। यही कहानी नी[३] और नय्[४] की भी हुई। ऐसे धातु-युग्मों के सार्वधातुक (लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्) स्थलों में रूप में अन्तर नहीं पड़ता, पर आर्धधातुक स्थलों में अन्तर पड़ता है। इस 'दे' धातु का लुङ् लकार में अदित रूप होगा। इसे देख किसी ने समझा होगा कि दे का गुणनिषेध-स्थलों में चि की भाँति दि रूप बन जाता है, और उसने लिट् लकार में इस दि का द्वित्व कर चि का चिच्ये की तरह दिद्ये रूप बनाया, फिर किसी ने विषमीकरण-नियम से चिच्ये के चिक्ये[५] की तरह दिद्ये का दिग्ये कर दिया। तवर्ग का कवर्ग संस्कृत में शुष् + त— शुष्क, अँगरेजी में रटन्त् का रीडिङ्ग (Reading) तथा हिन्दी में पद् का पग, हृद् का हग मिलता ही है। यह भ्रामक व्युत्पत्ति (Popular etymology) इतनी चल निकली कि पाणिनि को इसके लिए एक समाधान ढूँढ़ना ही पड़ा 'दयतेर्दिगि[६] लिटि'। इसी भाँति किसी ने गोमयेन लिम्पति अर्थ में गोमय शब्द से नामधातु बनाकर गोमयति प्रयोग किया। दूसरे ने सोचा अवश्य ही इसमें गोम् धातु है, जो चुरादिगणीय है। बस, उसने गोम् का चुरादि में प्रवेश करा दिया। यहाँ तक कि लोगों ने संग्रामयति, संकेतयति, निवासयति आदि प्रयोगों में उपसर्ग रहने पर भी इन्हें नामधातु नहीं पहचानकर सबको चुरादि में मूल धातु मान लिया। आजकल भी जब बच्चों को प्रविशति, प्रणमति का लङ् लकार लिखने को कहा जाता है तो वे प्राविशत्, प्राणमत् की जगह अप्रविशत्, अप्रणमत् लिख देते हैं। इसी भाँति सम् + कित् तथा नि + वस् से प्रेरणार्थक णिच् कर संकेतयति, निवासयति बताया गया। इनके भूतकाल में किसी ने भ्रामक व्युत्पत्ति से असंकेतत्, अनिनिवासत् रूप बनाये। इनका प्रयोग इतना बढ़ा कि समाज को अपनी स्वीकृति देनी पड़ी और इसके लिए इन्हें चुरादिगण में पढ़ना पड़ा। संग्राम धातु की भी यही कहानी है। इसी भाँति प्र उपसर्ग तथा ईष् धातु के योग से प्रेष् धातु बन जायगी, पर प्रैषत की जगह अप्रेषत या प्रैषयत् की जगह अप्रेषयत् का भ्रान्त प्रयोग देखकर शिष्ट समाज को पूरे प्रेष् को भी धातुओं में स्थान देना पड़ा। उष् दाहे में वि के योग से व्युष् बन सकता था, किन्तु कहीं अव्युष्यत् यह भ्रान्त प्रयोग देखकर पूरा व्युष् ही दिवादि में रख दिया गया।

उद् + विज्[७], अधि + इङ्[८] आदि कई ऐसी क्रियाएँ थीं, जिनमें उपसर्ग मूल धातु के साथ अवश्य ही सदा जुड़ा रहता था, पर इनका पहचान में भ्रम नहीं हुआ था। संस्कृत के पलाय[९] (ते) का अँगरेजी में फ्लाय (fly), विनश्य[१०] (ति) का वैनिश (vanish)

१. दय दान गति रक्षण हिंसा दानेषु—भ्वादि।
२. देङ् रक्षणे—भ्वादि।
३. णीञ् प्रापणे—भ्वादि।
४. णय गतौ—भ्वादि।
५. ७।३।५८ 'विभाषा चेः'।
६. ७।४।९।
७. तुदादि।
८. अदादि।
९. भ्वादि।
१०. दिवादि।

प्रत्यभिज्ञान का हिन्दी में पहिचान, प्रविश् का पैस, प्रविष्ट का पैठ, विकिर का बिखेर, विक्री का वेच, उपविष्ट का बैठ, अभ्यञ्ज् का भींज या भींग, परिधा का पहिर आदि रूप हुए हैं, जिनमें धातु और उपसर्ग अनिवार्य रूप से जुड़े हुए हैं।

यह अनियमितता धातु-उपसर्गयोग तक ही सीमित नहीं रही। स्मयते में कु इस निपात के योग से कुस्मयते बनता था, इसे भी चुरादि में कुस्म धातु मानकर णिच् द्वारा कुस्मयते बनाया जाने लगा। दुल् धातु से ही आम् जोड़कर आन्दोल, हिम् जोड़कर हिन्दोल आदि बनते हैं। इसी तरह कुमार शब्द से बनी नामधातु चुरादि में मौलिक धातु मान ली गई। क्रमशः निपातयोग से बढ़कर कारकयोग भी धातु में छिप जाने लगा और गो+एष से गवेष् धातु बनाकर चुरादि में रखी गई तथा (नि+द्रा की भाँति) दरि+द्रा से दरिद्रा एक मूल धातु बनाकर अदादि में। पाणिनि को भी 'इद्[१] दरिद्रस्य' कहकर दरिद्रा धातु की स्वीकृति देनी पड़ी।

जिस प्रकार उपसर्ग, निपात तथा कारक के पूर्वयोग से अपरिज्ञात समूहात्मक रूप मूलधातु माने जाने लगे थे, उसी भाँति प्रत्यय के परयोग से भी बने शब्द अपभ्रंश के कारण पहचान में नहीं आने लगे। ध्वनि-परिवर्त्तन से नृत्, वृत् और कृत् के (नृत्>नत्ं>नट, वृत्>वत्त्ं>वट, कृत्>कत्ं>कट) नट, वट (रस्सी बटना) और कट (कटना) (अँगरेजी का भी कट—Cut), आदि प्रयोग चल रहे थे—अतः ये सब धातु मान लिये गये और भ्वादि में रख दिये गये। किन्तु, इनकी ही देखादेखी भृ कृ कष् के निष्ठान्त रूप भृत, कृत, कष्ट के भी अपभ्रष्ट रूप भट, कट और कठ को मूल धातु समझकर भ्वादि में स्थान दिया गया। कृतः का ही कटः विकृत रूप होता है, जिसे हिन्दी में चट या चटाई कहते हैं। इसीलिए भ्वादि में 'कटे वर्षावरणयोः चटे इत्येके' पाठ मिलता है। इसी प्रकार शिष्टि से सिण्ठी (हस्त से hand) की भाँति शुष्टि (शुष्+ति) से शुण्ठि—सुंठी—सोंठ प्रयोग चल रहा था, किसी ने भ्रम से शुण्ठी को संस्कृत माना, दूसरे ने इसकी निष्पत्ति के लिए शुठि धातु को ही भ्वादि में पढ़ दिया[२]। अँगरेजी में तो संस्कृत की धातुओं के प्रत्ययान्त रूप से कई धातुएँ बना ली गई हैं; जैसे—नी+त—नीत—लीड (lead), भृ+त—भृत—बियर (bear), भीत—फियर (fear), श्वि+त (शून)—स्वेल (swell), प्लु+त—प्लुत—फ्लोट (float), मृ+तृ—मतृ—मर्त्तर से मर्डर (murder), जनयत् (जन्+शतृ) से जेनरेट (generate), स्था+शतृ—स्थान्त—स्टैण्ड (stand) आदि रूप बने हैं। ध्वनियों और शब्दों की गतिदिशा कौन पहचान सकता है? हिन्दी में ऐसी क्रियाएँ काफी हैं, जैसे उपविष्ट से बइट्ठ— बइठ—बैठ, सुप्त से सुत (भोज०), क्रीत से खरीद, प्रविष्ट—पैठ, नद्ध—नाध, विच्युत—बिछुड़, भुक्त से भुगत, ष्ठ्यूत—थूक (ना) आदि।

पाणिनि ने मूल धातुएँ पा, घ्रा, स्था ही मानी हैं, पर इनके सार्वधातुक[३] लकारों में इनके स्थान में क्रमशः पिब, जिघ्र तथा तिष्ठ आदेश कर दिया है, पिबति, जिघ्रति, तिष्ठति।

१. ६।४।११४

२. नृत् दिवादि तथा कृत् तुदादि हैं, शेष सभी भ्वादि हैं।

३. तीनों भ्वादि हैं।

थोड़े ही विश्लेषण से ऐसा प्रतीत हो जाता है कि वास्तव में ये रूप जुहोत्यादि गण के भृ के बिभर्त्ति आदि के ढंग से बने हैं; जैसे पा + ति–पा, पा + ति–प, पा + ति–पिब् + ति–पिबति[१], घ्राति—घा घ्राति—घ घ्राति—ज घ्रति—जिघ्रति, स्थाति—स्था स्था ति—थ स्थ ति—त स्थ ति—तिष्ठति। सन् करने पर इनके रूप प्रायः ऐसे ही होते हैं—पिपासति, जिघ्रासति, तिष्ठासति। इसी प्रकार म्ना और ध्मा के सार्वधातुक लकारों में मन और धम (अ) आदेश[२] किये हैं, ये भी मूल धातुओं में स्वरभक्ति के कारण बने रूप हैं, जैसे प्राण का परान (भोज०), स्वाद का सवाद, वैसे ही म्ना—मना—मन, ध्मा—धमा—धम।

(ज) दृश् की जगह पश्य, ऋ का ऋच्छ, शद् का शीय और सद् का सीद (आ) आदेश[३] होता है, इसका यह तात्पर्य है कि इनमें एक रूप सार्वधातुक स्थल में चलता था, दूसरा आर्धधातुक स्थल में। सार्वधातुक और सर्वनाम स्थान संज्ञाएँ महासंज्ञा होने से अन्वर्थ हैं। जिस स्थल में धातु अपने पूर्ण विकसित रूप के साथ रहे उसे सार्वधातुक और जहाँ नाम (प्रातिपदिक) अपने समृद्धतम रूप में रहे, उसे सर्वनामस्थान कहा जाता था। इस दृष्टि से धातु की रूप-समृद्धि के ५ स्रोत थे —

(क) आगम, जैसे[४] (इ) मुच् का मुञ्च्, कृत् का कृन्त, म्ना का मन, ध्मा का धम या स्वप् का स्वपिति आदि वर्णागम-कृत विस्तार ही हैं।

(ख) द्वित्व, जैसे[५] दा का ददा, (ई) हा का जहा। पिब, जिघ्र, तिष्ठ भी इसी कोटि का उपचय था, पर पहचानने में कठिनाई होने से पाणिनि ने इन्हें अलग से बताया।

(ग) वर्ण-विकार (उ) अर्थात् वृद्धि, गुण, अयादेश, संप्रसारण, दीर्घ, इयङ्, उवङ्, इरादेश आदि; जैसे वृद्धि—यु का यौ; स्तु का स्तौ; मृज् का मार्ज्; गुण—द्विष् का द्वेष्; दुह का दोह्[६]; सृप् का सर्प्; अयादेश— ह्वे का ह्वय्, ग्लै का ग्लाय्; गुण, अयादेश दोनों —जि का जय्, द्रु का द्रव्[७]; संप्रसारण—ग्रह् का गृह्णाति (क्र्यादि),

---

१. प्राकृत में प् का प्रायः व हो जाता है, जैसे सप्तपर्ण—छतवन, एकपंचाशत्—एकावन, और व—ब में अभेद है। किशोरीदास जी ने घोषणा की है कि हिन्दी में प् का ब् नहीं मिलता, किन्तु, उपायन—बायन, उपविष्ट—बैठ, दीपिका—डिबिया, कपोत—कबूतर आदि उदाहरण हैं।

२. दोनों भ्वादि।
३. चारों भ्वादि।
४. दोनों तुदादि।
५. दोनों जुहोत्यादि।
६. पाँचो अदादि।
७. पाँचो भ्वादि।

(अ) पाघ्राध्मा० ७।३।७८।
(आ) वही।
(इ) शे मुचादीनाम् ७।१।५९।
(ई) श्लौ० ६।१।१०।
(उ) उतो वृद्धिर्लुकि हलि (७।३।८९), मृजेर्वृद्धिः—७।२।११४, पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६, सार्वधातुकार्धधातुकयोः—७।३।८४, एचोऽयवायावः ६।१।७८, ग्रहि ज्या० ६।१।१६, शमामष्टानां दीर्घः ७।३।७४, क्रमः परस्मैपदेषु ७।३।७६, ष्ठिवुक्लमु ७।३।७५, अचिश्नुधातु० ६।४।७७; ऋतइत् ७।१।१००।

प्रच्छ् का पृच्छति (तुदादि); दीर्घ—शम्—शाम्य—ति, दिव्—दीव्यति (दिवादि), क्रम्—क्रामति, ष्ठिव—ष्ठीवति (भ्वादि); इयङ्, उवङ्—क्षि से क्षियति, धु से धुवति; इर्—कृ से किरति (तुदादि)। कभी-कभी इससे अधिक भी परिवर्त्तन हो जाता था, जहाँ यही भ्रम होने लगता था कि यह वही धातु है या दूसरी[(ऊ)] है, जैसे[१] इष् का इच्छ, गम् का गच्छ्, यम् का यच्छ्।

(घ) पर कभी तो ऐसा परिवर्त्तन होता था कि दूसरा रूप कोई भी नहीं पहचान पाता था कि यह वही धातु है, जो इतनी दुबली-पतली दीखती थी। अतः पाणिनि ने इन्हें केवल ध्वनि-परिवर्त्तन की स्थिति नहीं बताकर आदेश कहा, अर्थात् अपनी जगह अपने एक बलवान् भाई को बिठा देना, जैसे[२] दृश् का पश्य, शद् का शीय, सद् का सीद, ज्ञा और जन् का जा। इन्हीं में पिब, जिघ्र, तिष्ठ को भी और मन, धम को भी रखा। इन सब युग्मों में यह बात स्थिर थी कि सबल रूप सदा सार्वधातुक स्थलों में रहता था और निर्बल रूपों को शेष जगह अर्थात् आर्धधातुक (जहाँ धातु का आधा अर्थात् क्षीण रूप दीखे) स्थलों में रहने का पूर्ण अधिकार दिया जाता था।

(ङ) पर कुछ धातुयुग्म तो स्पष्ट ही ऐसे हैं कि दोनों पृथक् दो धातु हैं, केवल दोनों में ऐसी सन्धि है कि एक धातु का आधिपत्य सार्वधातुक स्थल में रहेगा, दूसरे को आर्धधातुक स्थल में जगह मिलेगी। ऐसे युग्म भी बहुत हैं, जैसे यच्छ्—दा, धाव्—सृ, ऋच्छ—ऋ, हन्[३]—वध, ब्रू[४]—वच्, अस्[५]—भू, चक्ष्[६]—ख्या, अज्[७]—वी, इ (इङ्)[८]—गा (इङ्), अद्[९]—घस्। ऐसी जगहों में धातुपाठ में दोनों को स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् स्थान दिया गया, पर इसका फल यह हुआ कि इन दोनों का आना-जाना कभी-कभी अपने क्षेत्र से बाहर भी होने लगा। ब्रवीति की जगह वक्ति, चष्टे की जगह ख्याति, अत्ति की जगह घसति भी

(ऊ) इषुगमि० ७।३।७७।

१. तीनों भ्वादि।

२. पा घ्रा ध्मा स्था म्ना दाण् दृश्यर्त्तिसर्त्तिशद सदां पिब जिघ्र धम तिष्ठ मन यच्छ पश्यर्च्छं धौ शीय सीदाः ७।३।७८ तथा ज्ञाजनोर्जा ७।३।७९।

३. हनो वध लिङि। लुङि च २।४।४२ तथा ४३।

४. ब्रुवो वचिः २।४।५३।

५. अस्तेर्भूः—२।४।५२।

६. चक्षिङः ख्याञ् २।४।५४।

७. अजेर्व्यघञपोः २।४।५६।

८. गाङ् लिटि—२।४।४९।

९. लुङ्सनोर्घस्लृ—२।४।३७।

प्रयुक्त होने लगा। शिष्टों[1] की स्वीकृति देखकर क्रमशः पाणिनि ने भी चक्षिङ्, अद् तथा इङ् आदि धातुओं में यह सबल-निर्बल रूप-परिवर्त्तन वैकल्पिक कर दिया, जैसे चचक्षे—चख्ये, अध्यगीष्ट—अध्यैष्ट तथा जघास—आदि दोनों रूप स्वीकृत हो गये।

ऐसे कुछ रूप-परिवर्त्तनों में सार्वधातुक में ही कृशतर रूप और आर्धधातुक में सबलतर रूप देखा[2] जाता है, जैसे इण् और इङ् का णिच् तथा सन् प्रत्ययों के पूर्व गम् को स्थान दे देना। लट् में आह[3] का ब्रू को जगह प्रयोग तो और भी विलक्षण है। इस प्रकार प्रथम चार श्रेणियों की तुलना में पञ्चम वर्ग के धातुयुग्म की यह स्पष्ट विशेषता रही कि प्रथम चार वर्गों की धातुएँ अपनी-अपनी जगह कदापि नहीं छोड़ सकती थीं, पञ्चम वर्ग की धातुएँ बहुत-कुछ आपस में स्थान-परिवर्तन भी कर पाती थीं, इसीलिए प्रथम चार श्रेणियों में केवल एक मूल (निर्बल) रूप को ही धातुपाठ में स्थान मिला, उसका उपचित रूप उसी में अन्तर्भूत माना गया, जबकि पञ्चम श्रेणी के युग्मों में दोनों धातुओं को पृथक्-पृथक् मान्यता मिली; क्योंकि उनमें एक-दूसरे का उपचित रूपान्तर-मात्र नहीं, बल्कि उसका मित्र, स्वतन्त्र व्यक्ति था।

(झ) सभी सार्वधातुक स्थलों में मूल धातु तथा तिङ् प्रत्यय के बीच धातु के शरीर-पोषण के लिए एक विकरण[4] भी रखा गया, इससे भी मूल धातु का बहुत उपचय हुआ, जैसे (१) भ्वादि में अ—पठ्+अ+ति—पठति, नी+अ+ति—नयति, हृ+अ+ति—हरति। यहाँ पठ्, नी, हृ की जगह पठ, नय, हर ये समृद्धतर धातुएँ दीखने लगीं। परन्तु इन्हें शास्त्र ने धातु नहीं कहकर अंग कहा, अर्थात् ये पद की धातु नहीं, अंग कहलाये। (२) दिवादि में य—दिव् से दीव्यति, नृत् से नृत्यति में दीव्य, नृत्य आदि धातु से बन गये। (३) तुदादि में अ—तुद् से तुद (ति), क्षि से क्षिय (ति) आदि। (४) स्वादि में नु—सु से सुनु (तः), सुनो (ति) आदि। (५) क्रयादि में ना—क्री से क्रीणा (ति), ज्ञा से जाना (ति) आदि। (६) तनादि में उ—तन् से तनु (तः), तनो (ति) आदि। (७) रुधादि का विकरण न (श्नम्) धातु से सटकर अलग नहीं बैठता, धातु के शरीर में ही प्रविष्ट हो जाता है, जैसे भिद् से भिनद् (भि)

---

१. लिट्यन्यतरस्याम् २।४।४०, विभाषा लुङ् लृङोः—२।४।५० तथा वा लिटि २।४।५५।

२. णौ गमिरबोधने, सनि च, इङश्च—२-४-४६, ४७, ४८।

३. ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ३।४।८४।

४. भ्वादि का शप्, तुदादि का श, दिवादि का श्यन्, स्वादि का श्नु, क्र्यादि का श्ना, रुधादि का श्नम् विकरण शित् होने से 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३।४।११३) के नियम से सार्वधातुक है। यह केवल लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में ही होता है, लिट् तथा आशीर्लिङ् की लिट् च (३।४।११५) तथा लिङाशिषि (३।४।११६) से आर्धधातुक संज्ञा हो जाती है। और लुट् में तासि, लृट् में स्य, लुङ् में च्लि, लृङ् में स्य, शप् आदि विकरणों के बाधक हैं, और ये सब 'आर्धधातुकं शेषः' (३।४।११४) से आर्धधातुकसंज्ञक हो जाते हैं (ये आर्धधातुक विकरण की भाँति माने जा सकते हैं)।

छिद् से छिनत् (ति) आदि। (८) जुहोत्यादि में धातु का पोषण केवल द्वित्व से कर दिया जाता है, यह उपचय स्वतः इतना अधिक हो जाता है कि इसमें कोई विकरण नहीं जोड़ा जाता। (९) अदादि ने अपने यहाँ सार्वधातुक आर्धधातुक के अन्तर के लिए कोई विकरण नहीं रखा, धातु का उपचय गुण, वृद्धि आदि के द्वारा ही किया है, दुह् से दोग्धि, मृज् से मार्ष्टि आदि। कहीं बीच में इ या ई लाकर भी उपचय किया है, जैसे रुद् से रोदिति, स्वप् से स्वपिति, ब्रू से ब्रवीति, स्तु से स्तवीति आदि। और चुरादि की सभी धातुएँ भ्वादि का विकरण अ (शप्) ही लेती हैं। अदादि की तरह चुरादि ने भी सार्वधातुक आर्धधातुक भेद से अपनी धातु में परिवर्त्तन नहीं रखा है। अदादि ने कोई विकरण नहीं रखकर त्याग द्वारा यह साम्यवाद उपस्थित किया है। किन्तु, चुरादि ने सब धातुओं से दोनों स्थलों में इ (णिच) जोड़कर तथा गुण-वृद्धि का अवसर देकर सबको सर्वत्र समृद्ध कर दिया है। तुलना के लिए एक भ्वादि, एक अदादि तथा एक चुरादि की धातु ले लें और सार्वधातुक के लट् लकार तथा आर्धधातुक के लुट् लकार में इनके रूप देखें—

जि से जयति, जेता
हन् से हन्ति, हन्ता
चुर् से चोरयति, चोरयिता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चुरादि ने अपनी धातुओं के लिए सार्वधातुक-आर्धधातुक को तुल्य ही समृद्ध रखा, अदादि ने दोनों को तुल्य असमृद्ध। भ्वादि ने दोनों का अन्तर रखा। शेष ७ गणों ने भ्वादि का ही अनुसरण किया है, जैसे जुहोत्यादि दा—ददाति—दाता। तुदादि—भ्रस्ज्—भृज्जति—भर्ष्टा। दिवादि—विद्—विद्यते—वेत्ता। स्वादि—चि—चिनोति—चेता। रुधादि—भिद्—भिनत्ति—भेत्ता। तनादि—कृ—करोति—कर्त्ता। क्रयादि—क्री—क्रीणाति—क्रेता।

बल्कि जब धातुओं से तिङ्-भिन्न कृत्प्रत्यय किये जाते हैं, तब धातुओं का नग्न रूप सामने आता है। तिङ् प्रत्यय करने पर तो चूँकि तिङ् सार्वधातुक स्थल हैं, इसलिए बीच में स्य, तास्, च्लि आदि आर्धधातुक प्रत्यय होने पर भी धातु-रूप भरा-पूरा दीखता ही है। अतः धातु का कृशतम रूप कृत्प्रत्ययों में स्पष्ट होता है। लिट् में बीच में कुछ नहीं आता तो इसकी क्षतिपूर्त्ति वह जुहोत्यादि की भाँति धातु के द्वित्व से कर लेता है, जैसे गम् का लट् गच्छति, ऌट् गमिष्यति, पर लिट् जगाम। किन्तु कृत् प्रत्यय और धातु के बीच एकमात्र इ या न् आगम और गुणादि के अतिरिक्त शेष पोषक तत्त्वों का अभाव रहता है, जैसे गम् का तिङन्त रूप आर्धधातुक स्थल में भी लिट् में जगाम, ऌट् में गमिष्यति, किन्तु कृत् में गम्य, गमनीय आदि हैं। वैसे कृत् में भी एक निर्बलतर स्थल है एक अपेक्षाकृत सबलतर। निर्बलतर स्थल में धातु और भी सिकुड़ जाती है, जैसे गम्य, गमनीय गन्ता, किन्तु गत, गति, (साम) ग, स्थेय, स्थानीय, स्थाता; किन्तु स्थित, स्थिति, (मध्य) स्थ आदि। इस प्रकार धातु के ४ रूप देखे जा सकते हैं—(१) सार्वधातुक स्थल में पूर्ण समृद्ध तथा आर्धधातुक में कृश रूप। आर्धधातुक में भी (२) तिङ् स्थल में कृश, (३) कित् ङित् भिन्नकृत् स्थल में कृशतर और (४) कित् ङित् कृत् स्थल में कृशतम।

(ञ) किन्तु लोक में अज्ञानादि के कारण धातु के इन समृद्ध या सबल तथा कृश या निर्बल रूपों के व्यवहार का अन्तर ठीक से नहीं निभ सका। इसी भाँति धातु के गणानुसारी रूपरचना में भी बन्धन शिथिल हो गया। इस लोक-व्यवहार की स्वीकृति क्रमशः शास्त्र को भी देनी पड़ी। उदाहरणार्थ ष्ठिव् का दीर्घवान् ष्ठीव् रूप कृत् प्रत्यय में भी चला गया और ष्ठीवन[1] रूप तैयार हो गया तथा शास् का समृद्ध रूप अनुशास्तः[2] आर्धधातुक में अनुशिष्टः की जगह भी बना रहा। इसी भाँति स्वपिमि का स्वपामि[3] और शोचामि का शोचिमि[4] तथा हन्यमानस्य की जगह वध्यतः[5] तव सैन्यस्य प्रयोग होने लगा। त्राण और पाहि की तुलना से लोगों ने त्रायस्व की जगह त्राय भी नहीं, त्राहि कहना शुरू कर दिया। प्राकृत और बाद की भाषाओं में तो इनका और मिश्रण हुआ—ज्ञात का जाणिद, चित का चिणिद, क्रीत का किणिद, गमिष्यति का गच्छिस्सदि, स्थास्यति का चिट्ठिस्सदि, ज्ञास्यति का जाणिस्सदि, श्रोष्यति का सुणिस्सइ, क्रेष्यति का किणिस्सदि, गम्यते का गच्छीअदि, श्रूयते का सुणिज्जइ, इष्यते का इच्छीअदि, पीयते का पिबीअदि, ज्ञायते का जाणीअदि आदि रूप[6] प्राकृत में आने लगे। हिन्दी में जाना (ति) का अपभ्रंश जान(ता), जिघ्र का अपभ्रंश सूँघ, क्राणा(ति) का अपभ्रंश कीन(ता), छिनद् का अपभ्रंश छीन, शृणु का सुन, चिनु का चुन, धुनु का धुन, रुन्ध् का रूँध, नृत्य का नाच, सिध्य का सींझ, बुध्य का बूझ, युध्य का जूझ, प्रस्विद्य का पसीज, क्षीय का छीज आदि चल निकले।

इस प्रकार शनैः-शनैः धातु के इन सबल-निर्बल रूपों का अन्तर मिट गया। हिन्दी पिब, पा, प तीन रूपों की जगह केवल पी और तिष्ठ, स्था, स्थ की जगह केवल ठहर धातु से काम चला रही है, पर समानार्थक दो धातुओं में एक जगह एक धातु और दूसरी जगह दूसरी धातु के प्रयोग का चलन कुछ अवशिष्ट[7] है। अँगरेजी में वर्त्तमान तथा भूतकाल में अस् का रूप चलता है, 'इज' (is—अस्ति), 'वाज' (was—आसीत्), शेष जगह 'भू' का, 'बी', विल बी (be, will be), ऐसे ही 'गो' (go—गम्) से वर्त्तमान में गो, भूतकालिक विशेषण में 'गोन' (go—gone) आदि, परन्तु सामान्यभूत में वेंड से वेंट (wend–went) आदि होता है। हिन्दी में वर्त्तमान और भविष्यत् में या का रूप चलता है, जाता है, जायगा; किन्तु भूतकाल में गम् का गया। इसी प्रकार करता है, करेगा, किन्तु किया

१. ष्ठीवनैश्च समाकिरत् (अश्वमेधपर्व ६।३१)।

२. शान्तिपर्व, ३२८।६४।

३. अनुशासनपर्व ११८।१५।

४. शान्तिपर्व २२७।८८।

५. भीष्मपर्व ७७।३५।

६. दे० पिशेल का 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण', अनु० ५२०-५५०, ५६५।

७. पाणिनि ने पा घ्रा ध्मा धेट् तथा दृश् धातुओं से ही श प्रत्यय कर (३।१।१३७) पिबः, जिघ्रः, धमः, धयः तथा पश्यः बनाया, पर बंगाल में अतिष्ठ शब्द भी चंचल अर्थ में प्रयुक्त है।

आदि। साथ ही अब भी कुछ धातुओं में एक सबल, एक निर्बल दो रूप मिल जाते हैं; जैसे 'देता है'[१]—'दिया' में 'दे' और 'दि'; करता है—'किया' में 'कर' और 'कि' आदि; अँगरेजी में भी know और knew, draw, drew आदि होते हैं।

(ट) चुरादिगणीय धातुओं से स्वार्थ में ही णिच् प्रत्यय का विधान किया गया है, अतः तड् से ताडयति, चुर् से चोरयति, कथ से कथयति आदि रूप बनेंगे। ये सब धातुएँ धातुपाठ में तडि, चोरि, कथि इस भाँति नहीं पढ़ी हुई हैं, परन्तु विना किसी विशेष अर्थ के जुड़े इनसे णिच् प्रत्यय करके ही इनका प्रयोग किया जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि और गणों के विकरणों की तरह णिच् चुरादि का विकरण नहीं है। विकरण केवल सार्वधातुक स्थलों में आते हैं, परन्तु णिच् सार्वत्रिक है, उसके विना वह धातु ही अपूर्ण है। णिच् करने के बाद फिर से धातुसंज्ञा कर लडादि लाये जाते हैं और बिलकुल भ्वादि की भाँति ही यहाँ भी शप् ही विकरण लगता है। जैसे तड् से पहले णिच् कर वृद्धि द्वारा ताडि बनाकर इसकी धातुसंज्ञा कर, भ्वादि क्षि, जि प्रभृति इकारान्त धातुओं की तरह तिङ् प्रत्यय कर सभी रूप बनाये जायँगे। चुरादिगणीय सभी धातुएँ भ्वादि के अन्तर्गत भी मानी जाती हैं। इसका रहस्य यही मालूम होता है कि चुरादि धातु और धातुओं से भिन्न हैं। ये शत-प्रतिशत धातु नहीं, कुछ नाम भी हैं। इसीलिए जिस सूत्र से चुरादि-गणीय धातुओं के लिए णिच् का विधान किया गया है, उसी सूत्र में कुछ प्रातिपदिक भी (सत्याप, पाश रूप आदि[१]) रखे गये हैं, जिनसे नामधातुएँ बनती हैं। पाश इस प्रातिपदिक की भाँति ही चुर् इस धातु से भी विना णिच् किये कहीं मूल रूप में क्रिया का व्यवहार नहीं किया जाता। णिच् करके सनाद्यन्ता[२] धातवः से नामधातुओं की भाँति नई धातुसंज्ञा करने के बाद ही तिङ् या कृत् कोई भी धातुप्रत्यय जोड़ा जाता है। तड् से तडन, तडनीय आदि प्रयोग नहीं बन सकते, ताडन, ताडनीय आदि ही बन सकते हैं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि शुद्ध तड् में पूर्ण धातुत्व नहीं है, णिच् के बाद ही इसमें पूर्ण धातुत्व आता है, जिससे ताडयित्वा, ताडयितुम्, ताडयितव्य, ताडयिता आदि शब्द बनते हैं, केवल तड् से कोई तडित्वा, तडितुम्, तडितव्य तडिता आदि नहीं बना सकता।

वास्तव में चुरादि गण की सूची भी देखने से ही पता चल जाता है कि इसमें अनेक शब्द (जो मूलतः धातु नहीं, किसी मूलधातु से बने प्रातिपदिक हैं) घुसे हुए हैं। साम्ब (मूसल में लगी लोहे की मोटी अँगूठी), शुल्ब (ताँबे का बना एक औजार, जिससे राजगोर नापने का काम करते हैं), शूर्प (सूप), शुल्क, बिल, तिल, कीट, म्लेच्छ, गन्ध, शठ, यक्ष, साम, काल, वात, वास, ऊन, कूट, ग्राम, गुण, गृह, मृग, शूर, वीर, स्थूल, सत्र, वर्ग, तीर, पार, चित्र, स्तोम, छिद्र, दण्ड, व्यय, सुख, दुःख, लाभ, व्रण, मन्त्र (मत्रि रूप में पठित धातु), यन्त्र (यत्रि रूप में पठित) आदि प्रातिपदिक भी चुरादिगण

१. सत्याप पाश रूप वीणा तूल श्लोक सेना लोम त्वच वर्ण चूर्ण चुरादिभ्यो णिच्—३।१।२५।

२. ३।१।३२।

में धातुरूप से पठित हैं। वर्ण, मिश्र तथा चूर्ण चुरादि में भी पठित हैं, और चुरादि से पृथक् सूत्र में भी इनका ग्रहण है। इससे भी सन्देह होता है कि धातुपाठ स्वयं पाणिनिकृत नहीं है।

चुरादि में ऐसी भी अनेक धातुएँ हैं, जो दूसरे गणों में पठित हैं तथा जिनसे प्रेरणा अर्थ में (अथवा पहले अपना प्रेरणांश त्याग कर फिर से प्रयोजक की प्रेरणा की विवक्षा में, स्वार्थ में) णिच् 'हेतुमति च' से ही सम्भव था। इनका भी चुरादि पाठ व्यर्थ है। जैसे ध्वन गद स्तन पत वर (वृ) का पाठ चुरादि में केवल इसलिए है कि इनमें उपधावृद्धि न हो, अन्यथा ये सभी अन्य गणों में पठित हैं। इसी प्रकार प्रीणाति से प्रीणयति, आप्नोति से आपयति, वदति से वादयति, वक्ति से वाचयति, मन्यते से मानयति, भवति से भावयति, मृष्यति मर्षयति, धृष्णोति से धर्षयति, मार्ष्टि से मार्जयति, गर्हते से गर्हयति, वृणुते से वरयति, छिनत्ति से छेदयति, लभते से लाभयति आदि रूप मौलिक प्रेरणा अर्थ रखते हुए प्रयोजक की प्रेरणा के अर्थ में अथवा पहली प्रेरणा छोड़कर केवल एक ही प्रेरणा में बना लेना सरल था, इनका चुरादि पाठ स्पष्ट ही व्यर्थ[1] है। वस्तुतः णिजन्त सभी धातुओं को यौगिक ही मानना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि दशगणी में मध्य के आठ गण अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि तथा क्र्यादि ये ही प्रायः स्थिर हैं। आदि के भ्वादिगण तथा अन्त के चुरादिगण में प्रायः सभी धातु मान लिये गये हैं, इसीलिए इन्हें आकृतिगण कहते हैं। इसीलिए पाणिनि ने भी इन दोनों के लिए अलग से नाम-निर्देशपूर्वक कोई विकरण नहीं बताया है। जहाँ और विकरण नहीं होते, वहाँ शप् होता है। श्वस् धातु यों अदादिगणीय है, परन्तु उसका भ्वादिप्रयोग भी चलता है, 'न विश्वसेदविश्वस्ते'।

(ठ) कुछ धातुएँ एक अर्थ में एक गण में तथा दूसरे अर्थ में दूसरे गण में पठित हैं, अर्थात् विकरण बदल देने से उनका अर्थ भी बदल जाता है। ये विकरण से रहित स्थलों में प्रायः तुल्य ही रहते हैं। जैसे विद्[2] धातु सत्ता अर्थ में दिवादि, ज्ञान अर्थ में अदादि, विचार अर्थ में रुधादि तथा लाभ अर्थ में तुदादि में पठित है। अश् धातु भोजन अर्थ में क्र्यादि तथा व्याप्ति अर्थ में स्वादि का विकरण लेता है। युज् धातु समाधि (समाधान—उपयुक्तता) अर्थ में दिवादि और योग अर्थ में रुधादि है। कृ हिंसा में स्वादि तथा करने अर्थ में तनादि है।

कभी विकरण और अर्थ के भेद से आत्मनेपद परस्मैपद और सेट् अनिट् का भी भेद

---

१. 'आ धृषाद् वा' गणसूत्र बहुत-सी चुरादिपठित धातुओं में वैकल्पिक णिच् बताता है। णिच् के अभाव में इनसे लट् आदि में भ्वादि की तरह केवल शप् होता है। जैसे—मृजू शुद्धौ मार्जयति, मार्जति। इसमें पठित सभी धातुएँ अन्यगणित पठित हैं। उनसे एक पक्ष में भौवादिक तथा एक पक्ष में णिजन्त रूप बनाने के लिए ही उनका यहाँ पाठ है।

२. वेत्ति रूपं विद ज्ञाने विन्ते विद विचारणे। विद्यते विद सत्तायां, विद्लृ लाभे तु विन्दति।

हो जाता है। विद् सत्ता में आत्मनेपदी अनिट् है, ज्ञान अर्थ में परस्मैपदी सेट्, विचार में आत्मनेपदी अनिट् तथा लाभ में उभयपदी अनिट् है। इसी तरह भ्वादिपठित सिध् और बुध् सेट् हैं, सेधिष्यति, बोधिष्यति, पर दिवादिपठित अनिट् हैं, सेत्स्यति, भोत्स्यति।

बहुत-सी ऐसी धातुएँ भी हैं, जो एक ही अर्थ में अनेक गणों में पठित हैं। एक ही अर्थ में क्षिप् के क्षिपति—क्षिप्यति, डी के डयते—डीयते, सृज् के सृजति—सृज्यति, त्रस् के त्रसति—त्रस्यति, कृष् के कृषति—कर्षति, तक्ष् के तक्षति—तक्ष्णोति, स्तम्भ् के स्तभ्नाति—स्तभ्नोति, क्लिश् के क्लिश्नाति—क्लिश्यति, खिद् के खिद्यते—खिन्दत्ति—खिन्ते, पू के पुनाति—पवते दो-दो रूप होंगे। इसी प्रकार[1] धूञ् कम्पने धूनोति (धुञ् भी पाठभेद से धुनोति), धूञ् कम्पने धुनाति, धू विधूनने धुवति, धूञ् कम्पने धूनयति, धवति, धवते आदि भी हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकारों की और भी बहुत-सी धातुएँ हैं।

(ङ) हिंस्, शिक्ष्, भिक्ष्, भूष्, लूष् आदि भी मौलिक धातुओं में ही गिनाये गये हैं, परन्तु ये वस्तुतः यौगिक सन्नन्त धातु हैं। यह आगे स्पष्ट करेंगे।

यौगिक धातु

यौगिक धातु के तीन भेद हैं, धातुज धातु, धातु-द्वय-संयोग तथा नामज धातु। धातुज धातु के निम्नलिखित भेद हैं—

धातुज यौगिक धातु :

(क) स्वार्थ में ही किसी मूल धातु से कोई प्रत्यय कर यौगिक धातु बना ली जाती है। इसके कई रूप हैं :—

(अ) चुरादि—चुरादि धातुओं से किस प्रकार णिच् कर मूल चुर् आदि से यौगिक चोरि आदि धातुएँ बना ली जाती हैं, यह पहले कह आये हैं।

(आ) कण्ड्वादि—कण्ड्वादि में कण्डू आदि धातु भी माने जाते हैं (और प्रातिपदिक भी, कौमुदी में ये नाम धातुओं के अनन्तर ही रखे गये हैं)। इनसे स्वार्थ में ही यक् प्रत्यय कर कण्डूय आदि यौगिक धातुएँ बनाई जाती हैं, जिनसे कण्डूयति, कण्डूयिष्यति, कण्डूयन (सपर् से सपर्या) आदि रूप बनते हैं।

(इ) आय् प्रत्ययान्त—कुछ धातुओं से आय् प्रत्यय कर (स्वार्थ में ही) यौगिक धातु बनाते हैं, जैसे गुप् से गोपाय—गोपायति—गोपायिष्यति, गोपायितव्य, गोपायन आदि।

(ई) ईयङ् प्रत्ययान्त—ऋत् इस सौत्र धातु से ईयङ् प्रत्यय कर ऋतीय यह यौगिक धातु बनाई जाती है, जिससे ऋतीयते, ऋतीयिष्यते, ऋतीयितव्य आदि प्रयोग बनेंगे।

(उ) णिङ् प्रत्ययान्त—कम् धातु से स्वार्थ में ही णिङ् कर कामि धातु से कामयते, कामयिष्यते, कामयितव्य आदि रूप बनते हैं।

चुरादि और कण्ड्वादि से णिच् तथा यक् (क्रमशः) तो नित्य हैं, किन्तु शेष प्रकार की धातुओं में आय् आदि स्वार्थिक प्रत्यय आर्धधातुक स्थल में विकल्प से होते हैं, जैसे—

---

१. धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकं चूतं धुनाति धुवति स्फुटितातिमुक्तम्।
वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून् यत् कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च।

गोपायिता—गोप्ता, कामयिता, कमिता आदि। ये प्रत्यय विकरण-सदृश होते हुए भी विकरण से भिन्न हैं; क्योंकि इनसे बिना अर्थ-परिवर्त्तन के ही मूल धातु की आकार-वृद्धि तो होती है, परन्तु इनका अधिकार-क्षेत्र विकरणों से अधिक है, ये आर्धधातुक स्थल में भी अनुमति पाते हैं। नीचे इनके प्रयोग-क्षेत्र में रूप-वृद्धि दिखाई गई है—

	सार्वधातुक	आर्धधातुक	आर्धधातुक
चुरादि	मण्डयति	मण्डयिता, मण्डित	मण्डन
	रचयति	रचयिता, रचित	रचना
	ताडयति	ताडयिता, ताडित	ताडन (ना)
	अर्चयति (अर्चति)	अर्चयिता, अर्चित	अर्चन
कण्ड्वादि	कण्डूयति	कण्डूयिता—कण्डूयित	कण्डूयन, कण्डू।
आयादि	गोपायति	गोपयिता—गोपिता, गोप्ता, गोपायित गोपित, गुप्त	गोपायन, गोपन,
	कामयते	कामयिता, कामिता कामयित, कान्त	कामना

(ख) णिच्—प्रेरणार्थक (णिजन्त) : किसी भी मूल धातु से प्रेरणा अर्थ में णिच् प्रत्यय कर यौगिक धातु बना लेते हैं, जैसे पठति से पाठयति। यह हिन्दी में भी पाया जाता है; पढ़ता है—पढ़ाता है। संस्कृत में मूल पठ् से यौगिक पाठि धातु बनती है, हिन्दी में पढ से पढ़ा। प्रेरणार्थक बनाने में धातु को निम्नलिखित प्रकार से परिवर्त्तित-परिवर्धित करना पड़ता है—

अ—वृद्धि[1]—चि से चाययति, नी से नाययति, द्रु से द्रावयति, भू से भावयति, धृ से धारयति, तृ से तारयति, पठ् से पाठयति।

आ—गुण[2]—लिप् से लेपयति, बुध् से बोधयति, दृश् से दर्शयति।

इ—धातु और णिच् के बीच प् का आगम[3] कर —जैसे ऋ से अर्पयति आदि। सभी आकारान्त धातुओं से यह प् का आगम होता है, दा से दापयति, स्था से स्थापयति, मा से मापयति, या से यापयति आदि।

निम्नलिखित धातुएँ यद्यपि आकारान्त नहीं हैं, फिर भी उनके अन्तिम स्वर का आ कर दिया जाता है, अतः उनके और णिच् के बीच भी प् का आगम होता है। अर्थात् इस स्थल में आदेश (ध्वनिविकार) और आगम दोनों होते हैं; जैसे—

(१) एजन्त धातु[4]—मेङ् से मापयते, ग्लै से ग्लापयति आदि।

---

१. अचोऽञ्णिति, अत उपधायाः—७।२।११५, ११६।

२. पुगन्त लघूपधस्य च ७।३।८६।

३. अर्तिह्रीब्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातांपुङ्णौ—७।३।३६।

४. आदेच उपदेशेऽशिति—६।१।४५।

(२) क्री, इङ्[१], जि—क्रापयति, अध्यापयति, जापयति।

(३) मीनाति, मिनोति तथा[२] दीङ्—प्रमापयति, निमापयति, दापयति।

(४) ली और[३] लीङ् (वैकल्पिक) लापयति।

(५) चि[४]—चापयति (वैकल्पिक, चाययति)।

(६) वी का गर्भग्रहण[५] अर्थ में वैकल्पिक रूप से—वापयति (या वाययति)।

(७) भी का हेतु[६] से भय अर्थ में वैकल्पिक—भापयते (भाययति)।

(८) स्मि (हेतुभय में ही नित्य)—विस्मापयते[७]।

ई—सिध् से अपारलौकिक[८] अर्थ में तथा स्फुर[९] से णिच् करने पर उपधाभूत इ तथा उ का भी आ विकार हो जाता है, साधयति, स्फारयति (सेधयति और स्फोरयति भी एक पक्ष में होता है)। दुष्[१०] से णिच् करने पर उपधा का दीर्घ होता है दूषयति।

उ—शो, छो, सो ह्वे, व्ये, वे यद्यपि एजन्त हैं, तथापि अन्तिम स्वर का आ हो जायगा, फिर भी इनसे प् का नहीं य् का[११] आगम होगा—शाययति, छाययति, साययति, ह्वाययति, व्याययति, वाययति।

ऊ—पा आकारान्त है, पर इससे प् का नहीं, पीने अर्थ में य्[१२] का और रक्षा अर्थ में ल् का[१३] आगम होता है, पाययति—पिलाता है; पालयति—रक्षा करता है। चुरादि में पाल् रक्षणे का पाठ व्यर्थ है। प्रेरणांश का परित्याग कर नई प्रेरणा रखने पर भी एक ही प्रेरणा में पालयति रूप सिद्ध हो सकता है, अर्थ होगा रक्षा करता है।

ऋ—वा (ओ वै शोषणे, भ्वादि) से णिच् करने पर ज् का आगम[१४] होता है, वाजयति।

ऌ—ली धातु[१५] का आत्व नहीं करने पर बीच में न् का वैकल्पिक आगम तथा आ करने पर या मौलिक ला से भी ल्, तथा प् का आगम होता है—विलीनयति, विलाययति, विलालयति, विलापयति।

ए—भी का[१६] आत्व नहीं करने पर ष् का आगम वैकल्पिक होता है (अर्थात् हेतुभय में ष्, अन्यथा नहीं)—भीषयते, भाययति। आत्व करने पर भापयते। णिच् होने पर

---

१. क्रीङ्जीनां णौ—६।१।४८।

२. मीनाति मिनोति दीङांल्यपि च ६।१।४५।

३. विभाषा लीयतेः, ६।१।५१।

४. चिस्फुरोर्णौ, ६।१।५४।

५. प्रजने वीयतेः, ६।१।५५।

६. बिभेतेर्हेतुभये, ६।१।५६।

७. नित्यं स्मयतेः, ६।१।५७।

८. सिध्यतेरपारलौकिके, ६।१।४९।

९. ६।१।५४।

१०. दोषोणौ, ६।४।९०।

११. शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्, ७।३।३७।

१२. ७।३।३७।

१३. इसी पर वार्त्तिक—पातेर्णौ लुग् वक्तव्यः।

१४. वो विधूनने जुक्, ७।३।३८।

१५. लीलोर्नुग्लुकावन्यतरस्यां स्नेहविपातने, ७।३।३९।

१६. भियोहेतुभयेषुक्, ७।३।४०।

स्वर की तरह व्यंजनों में भी कभी-कभी विकार होता है—

ऐ—स्फाय्[1] के य् का व् हो जाता है—स्फावयति।

ओ—शद् के द्[2] का त् होता है—शातयति।

औ—रुह् के ह् का वैकल्पिक[3] प् होता है—रोपयति—रोहयति वा।

अं—हन् के न् का त् तथा ह् का घ् हो जाता है—घातयति[4]।

कभी पूरी धातु ही पृथक् होकर अपनी किसी भिन्न धातु को स्थान दे देती है, इसे आदेश कहते हैं—

अ—इण् का गम्[5]—गमयति, इक् का भी, अधिगमयति।

आ—अस् का भू—भावयति, ब्रू का वच्—वाचयति, चक्षिङ् का ख्याञ्—ख्यापयति (ते), अज् का वी—वाययति[6]।

इन सब उदाहरणों में णिच् प्रत्यय करने पर अर्थवृद्धि के साथ धातु की शरीर-वृद्धि भी हुई है या रूप-परिवर्तन। परन्तु कभी-कभी यह वृद्धि स्वयं नहीं हो पाती या कभी उन्हें प्राप्ति होने पर भी रोक देते हैं, जैसे चिन्त् से चिन्तयति, घट् से घाटयति नहीं, घटयति, छादि+त्र—छत्र[10] आदि।

हिन्दी में भी प्रेरणार्थक बनाने पर मूल धातु में बहुत परिवर्त्तन होते हैं; जैसे—

अ—अन्त में आ जोड़ना—पढ़ना—पढ़ाना (पढ़ से पढ़ा), चमकना—चमकाना।

आ—उपधा की वृद्धि—मरना—मारना, निकलना—निकालना।

इ—उपधा का गुण—मुड़ना—मोड़ना, फिरना—फ़ेरना, मिटना-मेटना।

ई—उपधा का ह्रस्व और अन्त में आ जोड़ना—जागना—जगाना, नाचना—नचाना, देखना—दिखाना, बैठना—बिठाना, सीखना—सिखाना, डूबना—डुबाना, ओढ़ना— उढ़ाना।

उ—उपधा का कभी ह्रस्व कर ओ भी जोड़ते हैं, डुबोना, भिगोना (डूबना, भींगना से)।

ऊ—अन्तिम दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर ल् का आगम (अन्त में आ जोड़कर)—खाना—खिलाना, पीना—पिलाना, छूना—छुलाना, देना—दिलाना, धोना—धुलाना।

ऋ—कभी उपधा का भी ह्रस्व कर अन्त में आ जोड़कर ल् का आगम। जैसे देखना—दिखाना, दिखलाना; सीखना—सिखाना, सिखलाना, बैठना—बिठाना, बिठलाना; कभी बिना ह्रस्व के भी ल् का आगम—बैठलाना, कभी आ के बाद भी ल् का आगम, बैठालना, बिठालना।

---

१. स्फायो वः, ७।३।४१।
२. शदेरगतौ तः, ७।३।४२।
३. रुहः पोऽन्यतरस्याम्, ७।३।४३।
४. ७।३।३२ तथा ५४।
५. णौ गमिरबोधने, २।४।४६।
६. २।४।५२, ५३, ५४, ५६।
७. मितां ह्रस्वः, ६।४।९२।
८. ६।४।९७।

ॠ—हिन्दी में एक और विशेषता है, जो संस्कृत में भी नहीं है। संस्कृत में चाहे कितनी भी प्रेरणाएँ रहें, एक ही णिच् रहता है। किन्तु हिन्दी में दुहरी प्रेरणा होती है। जहाँ-जहाँ आ हुआ है, वहाँ-वहाँ आ की जगह वा जोड़ने तथा जहाँ-जहाँ गुण-वृद्धि हुई है, वहाँ-वहाँ गुणवृद्धि हटाकर वा जोड़ने से दूसरी प्रेरणा का रूप तैयार हो जाता है, जैसे—पढ़वाना, निकलवाना, मुड़वाना, दिखलवाना, जगवाना आदि।

ऌ—कभी तो प्रेरणार्थ के दो-दो रूप होते हैं और दोनों के अर्थ भिन्न होते हैं, ऐसा संस्कृत में भी होता है, जो पीछे दिखा चुके हैं। जैसे—

दबना—दाबना—दबाना, पटना—पाटना—पटाना
चलना—चालना—चलाना, बँधना—बाँधना—बँधाना
कटना—काटना—कटाना, लुटना—लूटना—लुटाना
पिसना—पीसना—पिसाना, जुटना—जोड़ना—जुटाना
टूटना—तोड़ना—तुड़ाना, घुलना—घोलना—घुलाना

ए—इनमें अधिकांश धातुएँ ऐसी हैं, जिनकी मूल प्रेरणा हटा देने से कर्मकर्त्तृवाच्य में ह्रस्ववाला रूप हुआ है, जैसे काटना, पीसना, बाँधना, लूटना मौलिक धातु हैं, कटना, पिसना, बँधना, लुटना उनके कर्मकर्त्तृ रूप हैं।

ऐ—कभी व्यंजनों में भी कुछ विकार होता है, जैसे टूटना—तोड़ना, जानना, जताना।

ओ—जैसे संस्कृत में कुछ धातुओं के रायन्त में दूसरी धातु का प्रयोग होता है, वैसे ही हिन्दी में आना का जाना, होना का करना, जाना का भेजना, पाना का देना आदि होते हैं। वस्तुतः आना, जाना, होना, सकना, रुचना, पाना आदि का प्रेरणार्थक हिन्दी में है ही नहीं। पाना को साधु लोग भोजन अर्थ में पवाना बोलते हैं।

अँगरेजी में रीड का टीच, ईट का फीड आदि विरल ही प्रेरणार्थक क्रियाएँ होती हैं, और वे भी अपनी मूल धातु बदल लेती हैं। सब जगह 'मेक' धातु लगाकर प्रेरणार्थक क्रिया बनाई जाती है। हिन्दी में भी आना-जाना आदि की प्रेरणा में कहेंगे आने को, जाने को प्रेरित करना।

(ग) सन—

यौगिक धातु बनाने का तीसरा साधन है (स) सन् प्रत्यय। किसी भी धातु से, जब वह इष् धातु का कर्म बनती है और उसका समान कर्तृक भी रहता है तो पाणिनि ने सन् का विधान[1] किया है। जैसे—बालकः पठितुम् इच्छति, यहाँ पठ् इष् का कर्म है तथा दोनों का कर्त्ता एक है बालक, ऐसी स्थिति में पठ् धातु से सन् प्रत्यय हो जायगा। सन् होने पर 'सनाद्यन्ता[2] धातवः' से इस प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय की धातु-संज्ञा हो जाती है। सन् होने पर धातु में इतने परिवर्त्तन होते हैं—

१. धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा, ३।१।७।
२. ३।१।३२।

अ—द्वित्व[1]—यदि धातु व्यंजनादि है तो प्रथम एकाच् का द्वित्व होगा, और स्वरादि है तो द्वितीय का, किन्तु संयोगादि न् द् र् को छोड़कर।

आ—धातु का द्वित्व जहाँ भी होता है, वहाँ प्रथम खण्ड को अभ्यास[2] कहते हैं उसका आदि हल् ही बचता है शेष हल् लुप्त[3] हो जाता है, पर यदि अभ्यास में शर्पूर्वक खय् हो तो खय्[4] वर्ग ही बच जाता है, शेष व्यंजनों का लोप होता है।

इ—अभ्यास के ऋ का अ[5] हो जाता है।

ई—कवर्ग तथा ह का[6] चवर्ग होता है।

उ—अभ्यास के झल् का जश् तथा खय् का चर् हो जाता है (अभ्यासे चर्च, ८।४।५४)।

ऊ—अभ्यास का ह्रस्व[7] हो जाता है।

ऋ—अभ्यास में यदि ह्रस्व अकार रहे तो उसका इ[8] हो जाता है। यदि अभ्यास में उ के बाद अवर्णपरक पवर्ग, यण् ज् आवे, या वह उ[9] णिजन्त स्रवति शृणोति द्रवति, प्रवति, प्लवति, च्यवति का हो तो उस उ का भी इ हो जाता है।

ऋ—यदि वह धातु सेट् है तो बीच में इ[10] आ जाता है।

इन नियमों से पठ् का पिपठिष, अर्ज् का अर्जिजिष, या का यियास, पा का पिपास, स्था का तिष्ठास, भू का बुभूष, स्पर्ध का पस्पर्धिष, श्च्युत् का चुश्च्योतिष, खाद का चिखादिष, पू का पिपविष आदि सन्नन्त यौगिक धातुएँ तैयार होती हैं, जिनसे पठ् आदि मौलिक धातुओं की भाँति ही सभी काल, पुरुष, वचन के तिङ् आकर पिपठिषति आदि रूप बनाते हैं। इतने नियम सन् स्थल में सामान्य हैं। अब कुछ विशेष नियम लिखे जायेंगे—

अ—कुछ धातुओं के बाद आया सन् कित् हो जाता है, अतः वहाँ गुण नहीं[11] होता—जैसे रुद् से सन् करने पर रुरुदिषति, भू से बुभूषति, भिद् से बिभित्सति, किन्तु यु का यियविषति, वृध् का विवर्धिषते।

आ—अजन्त[12] धातु तथा हन् और अजादेश गम् के बाद यदि झलादि सन् हो तो धातु का दीर्घ हो जाता है, जैसे स्तु से तुष्टूषति, कृ से चिकीर्षति, हन् से जिघांसति[13] आदि।

---

१. एकाचो द्वे प्रथमस्य; अजादेर्द्वितीयस्य; नन्द्राः संयोगादयः, ६।१।१, २, ३।
२. पूर्वोऽभ्यासः, ६।१।४।
३. हलादिः शेषः, ७।४।६०।
४. शर्पूर्वाः खयः, ७।४।६१।
५. उरत्, ७।४।६६।
६. कुहोश्चुः, ७।४।६२।
७. ह्रस्वः, ७।४।५९।
८. सन्यतः, ७।४।७९।
९. ७।४।८०, ८१।
१०. आर्धधातुकस्येड् वलादेः, ७।२।३५।
११. १।२।८, ९, १० तथा १।१।५
१२. ६।४।१६।
१३. ७।३।५५।

इ—कुछ धातुओं[1] से सन् के पहले इट् का आगम नहीं होता, कुछ से होता है, जैसे भू से बुभूर्षति, ग्रह् से जिघृक्षति, पर गृ से जिगरिषति । कुछ से वैकल्पिक इडागम होता है, जैसे दिव् से दिदेविषति, दुद्यूषति, भ्रस्ज् से बिभर्जिषति, बिभ्रज्जिषति, बिभ्रक्षति, बिभर्क्षति ।

ई—वैसे तो सन् प्रत्यय करने पर और भी कई ध्वनिविकार यत्र-तत्र होते हैं, परन्तु एक विचित्र स्थिति है, जब कुछ धातुओं में अभ्यास का लोप[2] हो जाता है, अर्थात् वहाँ धातु का द्वित्व नहीं रह पाता और अभ्यास के अ का इ होने की जगह धातु के स्वर के स्थान में इस् हो जाता है । ऐसा केवल अनिट् सन् में ही होता है । जैसे मी से मिमीषति की जगह मित्सति, दा से दित्सति, शक् से शिक्षते, लभ् से लिप्सते । आप्, ज्ञप् और ऋध् से इस् की जगह ईस् होकर ईप्सति, ज्ञीप्सति आदि रूप होंगे । मुच् से अभ्यास-लोप के साथ उ का गुण होगा, मोक्षते । दम्भ् से इस् और ईस् भी वैकल्पिक हैं, धिप्सति, धीप्सति । कात्यायन ने भी इन विकार-परिवर्तनों का नया क्षेत्र दिखाया है, जैसे तन् में वैकल्पिक[3] इट् कर तितनिषति के साथ तितांसति भी बनाया है, राध्[4] में भी हिंसा अर्थ में इस् आदेश कर रित्सति बनाया है, किन्तु इस क्षेत्र में उनका सबसे बड़ा योगदान है—आशंका[5] में भी सन् का विधान । पाणिनि के समय सन् का एक ही अर्थ था—चाहना । किन्तु क्रमशः आशंका अर्थ में भी जनता में सन् का प्रयोग चल निकला । जैसे कूलं पिपतिषति, श्वा मुमूर्षति । आश्चर्य है कि यह प्रयोग हिन्दी में भी ज्यों-का-त्यों चला आया है, अँगरेजी में यह नहीं है । जहाँ कहना है The patient is on the brink of death या The boy is about to fall from the tree, वहाँ संस्कृत में भी कहेंगे—स रोगी मुमूर्षति, स बालकः वृक्षात् पिपतिषति और हिन्दी में भी कहेंगे—वह रोगी मरना ही चाहता है, वह बालक पेड़ से गिरना ही चाहता है ।

यौगिक धातुओं में अर्थ-परिवर्तन :

पाणिनि ने कुछ धातुओं[6] से सन् का विधान किया है, पर उस सन् का अर्थ नहीं दिया है । ये धातुएँ हैं—गुप्, तिज्, कित्, मान्, बध्, दान् तथा शान् । बाद में कात्यायन ने वार्तिक लिखकर प्रत्येक के सन् का भिन्न[7] अर्थ बताया है, गुप् से निन्दा में, तिज् से क्षमा में, कित् से व्याधि के प्रतीकार, निग्रह, अपनयन, नाशन तथा संशय में, मान् से जिज्ञासा में, दान् से आर्जव में, शान् से निशान (तेज करना) में, और बध् से चित्त-विकार में सन् होता है । वस्तुतः एक सन् के अनेक वाच्य नहीं हो सकते । पाणिनि के

---

१. ७।२।१२, ७५, ४६, ४१, ७४ आदि । २. ७।४।५४, ५५, ५६, ५७, ५८ ।

३. तनिपतिदरिद्रातिभ्यः सन इड् वा वाच्यः । ४. राधो हिंसायां सनीस् वाच्यः ।

५. आशंकायां सन् वक्तव्यः ।

६. गुप् तिज् किद्भ्यः सन्, मान् बध् दान् शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य, ३।१।५, ६ ।

७. गुपेर्निन्दायाम् । तिजेः क्षमायाम् । कितेर्व्याधिप्रतीकारे निग्रहेऽपनयने नाशने संशये च । मानेर्जिज्ञासायाम् । बधेश्चित्तविकारे । दानेरार्जवे । शानेर्निशाने ।

अनुसार यहाँ सन् स्वार्थिक है, ठीक जैसे चुर् आदि का णिच् स्वार्थिक है। किन्तु कात्यायन ने उपर्युक्त शब्दों से सबके द्योत्य अर्थ बताये हैं, जो भिन्न हो सकते हैं। इनमें कित् निवास तथा रोगापनयन अर्थ के साथ भ्वादि में पठित है, दान् और शान् भी क्रमशः खण्डन तथा तेजन में भ्वादि हैं। ये चारों केवल भ्वादि में उपलब्ध हैं। गुप् भ्वादि में गोपन तथा चुरादि में भाषा-अर्थ में, बध् भ्वादि में बन्धन तथा चुरादि में संयमन में, मान् भ्वादि में पूजा अर्थ में तथा चुरादि में स्तम्भ अर्थ में और तिज् भ्वादि तथा चुरादि दोनों में निशान अर्थ में पढ़ा गया है। भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है—ये सातो धातु नित्य सन्नन्त हैं और अर्थान्तर में चुरादिगणीय हैं। पर जैसा कि ऊपर बताया गया, कित्, दान् और शान् चुरादि में नहीं प्राप्त हैं।

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि इन धातुओं का ठीक विश्लेषण नहीं किया जा सका है। दान तथा शान का तो दीदांसते, शीशांसते प्रयोग भी विरल है, दीक्षित के अनुसार दानयति प्रयोग कहीं नहीं मिलता, शानयति कहीं मिलता होगा। वास्तव में दिवादि के शो तनूकरणे से अन प्रत्यय कर शान तथा दो अवखण्डने से अन करके दान शब्द बनते हैं। भ्वादि में इनका पाठ भी इन्हीं दोनों अर्थों में है। इसके अनुसार दान का अर्थ हुआ—काटना या काटनेवाला तथा शान का अर्थ तेज करना या तेज करनेवाला। इसी भाँति यह मान भी मन् ज्ञाने का घञन्त रूप ही विदित होता है। इन तीनों के साहचर्य से ऐसा लगता है कि बध भी बन्ध बन्धने इस क्रयादि धातु का क प्रत्यय और उपधा लोपकर निष्पादित कृदन्त-रूप है। कात्यायन ने इन सातो का जो अर्थ दिया है, वह न सही है, न आवश्यक। इन सबके मूल अर्थ आरम्भ में अवश्य ही भिन्न रहे होंगे।

श्यामं जुगुप्सति का अर्थ रहा होगा श्याम की रक्षा करना चाहता है, श्याम दयनीय दशा में है, कुष्ठ, यक्ष्मा आदि किसी रोग से, या दारिद्र्य से उसके अंग-अंग गल रहे हैं, शरीर से गन्दगी के कारण बदबू निकल रही है, या किसी शत्रु, हिंस्र जन्तु के आक्रमण से वह लहूलुहान हो रहा है। यह दृश्य करुणा भी पैदा करता होगा, और घृणा भी। अतः जुगुप्सा दया का पर्याय रहा होगा। किन्तु एक ही आलम्बन से सम्बद्ध होने के कारण क्रमशः जुगुप्सा का अर्थ करुणा के साथ उस दृश्य से अलग हट जाने की इच्छा भी होने लगा। मनोवृत्तियों का विश्लेषण कठिन है। जो महान् हैं वे ऐसी स्थिति देख श्याम की रक्षा करना चाहेंगे, परन्तु असमर्थ, अल्पसत्व या सहानुभूतिशून्य ऐसे दृश्य से अपने को बचाना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में श्यामं जुगुप्सति की तरह श्यामात् (आत्मानं) जुगुप्सते प्रयोग भी चला होगा। इस भाँति जुगुप्सं का अर्थ क्रमशः नापसन्द करना, देखकर नाक-भौं सिकोड़ना होने लगा। स्वयं घृणा शब्द की भी यही कहानी है। घृ का अर्थ है सेचन। घृत और धर्म की तरह ही घृणा भी घृ धातु से ही बना है। इसका अर्थ है द्रवित होना। घृणा पहले दया का पर्याय था 'घृणी कर्णः प्रमादी च', 'घृणी राजा वर्जनीयः'[1] आदि में घृणा का अर्थ दया ही है। अमरकोश ने भी इसे करुणा का पर्याय[2]

---

१. महाभारत। २. कारुण्यं करुणा घृणा।

माना है। किन्तु क्रमशः इसका भी अर्थ जुगुप्सा की भाँति अरुचि हो गया, 'ईर्ष्यी घृणी त्वसंतुष्टः' में घृणा का अर्थ अरुचि ही है। मनोभाववाचक शब्दों में ऐसा परिवर्त्तन और भी देखा गया है। कृपण का अर्थ पहले कृपापात्र, दयनीय था[१], कृपा का भी कायरता अर्थ में भी प्रयोग[२] प्राप्त है। पर अर्थ-परिवर्त्तन से क्रमशः कृपण का अर्थ कंजूस, अल्पव्ययी हो गया[३]। श्रद्धा का अर्थ पहले केवल विश्वास था—'श्रद्धत्स्व वचनं मम', 'श्रद्धत्तां मे भवान्'[४], किन्तु क्रमशः विश्वास के साथ इसका अर्थ आदर और प्रेम भी होता गया 'श्रद्धा सम्प्रत्ययः स्पृहा।' स्मय का अर्थ मुसकान से अभिमान और मद का अर्थ हर्ष से अभिमान भी इसी प्रकार हुआ। साहस का पहले अर्थ था सहने की शक्ति, 'सहोसि सहो मयि[५] धेहि', फिर इसका अर्थ हुआ अनुचित उत्साह 'असत्यं साहसं माया', 'साहसिकश्चोरः' आदि। अब फिर इसका अर्थ अच्छा उत्साह हो गया है, और बुरे के लिए दुःसाहस का प्रयोग चल रहा है। शुश्रूषा का भी पहले अर्थ था सुनने की इच्छा 'शुश्रूषमाणा प्रार्थनां वाचो धर्मार्थसंहिताः'[६], 'शुश्रूषे वचनं तव'[७], लेकिन क्रमशः इसका अर्थ हो गया परिचर्या 'वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासना'; क्योंकि सेवा के लिए सच्चे सेवक को सदा अपने सेव्य की आज्ञा सुनने की इच्छा होती है ('शुश्रूषस्व गुरून्०')।

तिज् का अर्थ है तेज करना। इसी से तिग्म, तीक्ष्ण, तेजस् आदि शब्द बने हैं। जिस प्रकार सान का चक्का अस्त्रों को खरादकर तेज बना देता है, उसी प्रकार विपत्तियाँ मनुष्य को अधिक तेज और समर्थ बनाती हैं। यास्क ने इसका अर्थ उत्साह माना है।[८] अतः आरम्भिक प्रयोग रहा होगा 'श्यामः तितिक्षते' अर्थात् श्याम कठिनाइयों को सहकर तेज (तेजस्वी) बनना चाहता है, किन्तु इसके लिए सहिष्णुता की अपेक्षा है, अतः तितिक्षा का अर्थ हुआ सहिष्णुता। 'कित्' का मौलिक अर्थ था जानना तथा जताना। यास्क ने चिकित्वान् का अर्थ चेतनावान्[९] तथा प्रकेतन का अर्थ प्रज्ञाततम[१०] माना है। इसी से केतन, निकेतन, केतु आदि शब्द बने हैं। इसलिए चिकित्सति का प्रारम्भिक अर्थ रहा होगा—विदित होना या अपने को विदित करना चाहता है। जो किसी भी प्रकार का तीक्ष्णबुद्धि-साध्य कार्य करता होगा, उसी के लिए यह प्रयोग चलता होगा। पर पहले सबसे बड़ा बुद्धि-साध्य कार्य तथा ज्ञान रोगियों को रोगमुक्त करना ही था। मानव की पहली समस्या यही थी—युद्ध और रोग से आक्रान्त शरीर को पुनः स्वस्थ करना। इसीलिए इसका नाम ही पड़ गया 'विद्या', जिससे 'वैद्य' शब्द की निष्पत्ति हुई। पहले वैद्य का अर्थ था विद्या जाननेवाला 'न त्वामभिभविष्यन्ति वैद्या न च तपस्विनः'।[११] किन्तु क्रमशः वैद्य

---

१. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः गीता आदि।
२. उद्योग-पर्व, ४१५।१ में।
३. उद्योग, ३८।३।
४. उद्योग, १९२।१३।
५. ऋग्वेद।
६. उद्योग, ४७।३।
७. अनुशासन, १२१।३।
८. १०।१।
९. २।३।
१०. २।६।
११. अनुशासन, १२०।२७।

तथा चिकित्सक का अर्थ हो गया रोग को दूर करनेवाला । मूल विद्या शब्द ने तो अपना अर्थ कायम रखा, पर चिकित्सक के साथ चिकित्सा का अर्थ भी परिवर्तित हो गया । हाँ, विचिकित्सा शब्द में चिकित्सा का मूल अर्थ ज्ञान कायम है, विविधात्मक चिकित्सा-विरुद्ध कोटिक ज्ञान-सन्देह । कात्यायन द्वारा कित् के अनेक अर्थों का परिगणन ठीक नहीं, ज्वरं चिकित्सति, शत्रुं चिकित्सति, तृणं चिकित्सति आदि उदाहरणों में चिकित्स का एक ही अर्थ है—कष्ट दूर कर ख्याति प्राप्त करना । अपनयन और नाशन में क्या अन्तर है ? अर्थों का छायाभेद लक्षणाकृत है । इसी प्रकार मीमांसते का अर्थ है—मनन की इच्छा करता है, मानयति भी मन् का ही प्रेरणार्थक रूप है । दान शान की निष्पत्ति पहले ही बता आये हैं । इन चारों से सन् प्रत्यय तो वस्तुतः णिच् की भाँति प्रातिपदिक से ही सन् प्रत्यय लग रहा है । ऐसी स्थिति में 'सन्', 'णिच्' की ही भाँति धातु-प्रत्यय तथा नामधातु-प्रत्यय दोनों प्रतीत होता है । जैसे मुण्डं करोति मुण्डयति, वैसे ही मानं अर्थात् मननं करोति मीमांसते । अर्थात् इन सबों से धात्वर्थ में, करोति अर्थ में सन् है । यदि यह सही न प्रतीत हो तो चारों से आचार क्विप् कर नामधातु बनाकर सन् किया जा सकता है, किन्तु इन्हें स्वतन्त्र धातु मानना व्यर्थ है । यह स्पष्ट है कि अब इनमें पिपठिषति की तरह इच्छा अर्थ की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती, इसीलिए पाणिनि ने जानकर इनके सन् का अर्थ-निर्देश नहीं किया ।

धातुपाठ में कुछ ऐसी धातुएँ भी मिलती हैं, जो मौलिक मानी जा रही हैं, पर वस्तुतः ये यौगिक सन्नन्त हैं । जैसे पत् का सन्नन्त पित्स, लभ् का लिप्स आदि बताये गये हैं, ठीक वैसे ही हन् से हिन्स—हिंस भी लगता है । हिंस का अर्थ हनन नहीं, हनन की इच्छा ही है । इसीलिए चिकित्सक द्वारा ऑपरेशन के कारण रोगी का हनन हिंसा नहीं कहला सकता । किसी को नहीं मारे, पर मारने की नीयत रखे, तो वह हनन तो नहीं, परन्तु हिंसा कहलायगा । अतः हिंस अवश्य ही मौलिक धातु नहीं है । इसी तरह भिक्ष् मौलिक नहीं, भज् + स का ही यौगिक रूप है, भिक्ष् का अर्थ है भजने की, सेवा की इच्छा, दीनता । अँगरेजी ने विना स लगाये ही भज् से 'beg' बना लिया । शक् से सन् प्रत्यय कर पाणिनि ने शिक्ष रूप बनाया है, और धातुपाठ में भी शिक्ष मौलिक धातु उपलब्ध है, इसीसे इसका भण्डाफोड़ हो जाता है । शिक्ष का मौलिक अर्थ है शक् + स, सकने की इच्छा, शक्ति पाने की इच्छा । बच्चों को हम शिक्षा देते हैं, अर्थात् हम उनमें अपने विकास की इच्छा पैदा करते हैं । इन स्थलों में अभ्यास का लोप हो जाता है, या तथ्य यह मानें कि द्वित्व होता ही नहीं । इसी आधार पर भूष और लूष धातुएँ भी बन गईं भू + स, होने की इच्छा, सुन्दर बनने की इच्छा, मण्डन; लू + स, काटने की इच्छा, हिंसा । क्या शंस् भी ऐसे ही बना है, शम् + स, शान्त करने की इच्छा, स्तुति, तारीफ ? वेदों में कुपित देवों की प्रशंसा की जाती थी, उन्हें शान्त करने के लिए, रुद्र को शिव बनाने के लिए स्तुति की जाती थी । 'नृशंस' शब्द भी यही संकेत दे रहा है, जो नरों से शंसित हो, वह नृशंस ! इस प्रकार की धातुएँ प्रायः भ्वादि या चुरादि या दोनों में ही पाई जाती हैं, यह भी इसी तथ्य की पुष्टि

करता है। एक अपवाद है हिंस, जो रुधादि में भी है। ऐसी सन्नन्त धातुएँ और भी अनेक ढूँढ़ी जा सकती हैं।

इस प्रकार यौगिक धातु-सन्नन्तों में रचना की दृष्टि से दो भेद हुए—द्वित्ववाले तथा विना द्वित्ववाले, और अर्थ की दृष्टि से तीन भेद, इच्छार्थ, शंकार्थ तथा लुप्तार्थ (या स्वार्थिक)।

हिन्दी और अँगरेजी भाषाएँ इच्छार्थक एक धातु नहीं बनातीं। हाँ, हिन्दी में संस्कृत के पिपासा, बुभुक्षा, जिज्ञासा, शुश्रूषा, जिजीविषा आदि शब्दों का प्रयोग चलता है।

(घ) यङ् प्रत्यय :

पाणिनि ने यङ् प्रत्यय के लिए ये परिस्थितियाँ बताई हैं—

(अ) धातु[1] को एकाच् तथा हलादि होना चाहिए। सन् अनेकाच् (जागृ और दरिद्रा आदि) से भी होता है, जिजागरिषति, दिदरिद्रासति और स्वरादि (अर्च्, अर्ज् आदि) से भी अर्चिचिषति, अर्जिजिषति, पर इनसे यङ् नहीं होगा।

(आ) यङ् सामान्यतः क्रिया-समभिहार अर्थ में होता है, किन्तु गत्यर्थक से कौटिल्य और लुप, सद, चर, जप, जम, दह, दश, गृ से भावगर्हा में ही। क्रिया समभिहार का अर्थ है पुनः-पुनः या अधिक करना। जब कोई काम बुरे ढंग से किया जाता है तब दर्शक उसे कम या कम बार करने पर भी अधिक ही मानता है। जब किसी का कूदना दर्शक को पसन्द नहीं होता तब वह कहता है—क्यों दिन-भर कूदते रहते हो; थोड़ा भी चिल्लाने पर कहता है—क्यों इतना (कारखाने की तरह) चिल्लाते हो। सम्भवतः यही गति की कुटिलता तथा भावगर्हा में भी यङ् प्रत्यय के प्रयोग का मूल है।

यङ् करने पर भी धातु का द्वित्व होता है और सन् की व्याख्या में बताये सामान्य नियम (अ), (आ), (इ), (ई), (उ), (ऊ) इसमें भी लगते हैं। पर नीचे लिखे विशेष परिवर्त्तन भी इसमें होते हैं—

(अ) अभ्यास[2] के इ उ का गुण तथा अ का दीर्घ हो जाता है।

(आ) कुछ धातुओं में अभ्यास के बाद (धातु के प्रथम और द्वितीय खण्ड के बीच) वर्णागम[3] होता है और चर् फल् में द्वितीय खण्ड के अ का उ आदेश भी हो जाता है। आगम निम्नलिखित हैं—

(१) न्, जैसे चर् का चञ्चूर्यते, फल् का पम्फुल्यते, यम्—यंयम्यते, जप्—जंजप्यते आदि।

(२) ऋदुपध धातुओं से री का आगम—नृत्—नरी—नृत्यते, सृप्—सरीसृप्यते (सरीसृप) आदि।

---

१. धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्, नित्यं कौटिल्ये गतौ, लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यो भावगर्हायाम्—३।१।२२, २३, २४।

२. गुणो यङ् लुकोः, दीर्घोऽकितः, ७।४।८२, ८३।

३. दे०—पा० अ०, सू० ७।४।८२—९२ तक।

(३) नी का आगम—वञ्च्—वनीवञ्च्यते, पत्—पनीपत्यते (इसीसे पानीपतः—पानीपत का मैदान बना है, जहाँ बार-बार लाशें गिरती आई हैं ?)।

यङ् होने पर और भी कई ध्वनि-परिवर्त्तन हो जाते हैं; जैसे दा का[1] दी—देदीयते, स्था का स्थी—तेष्ठीयते, ऐसे ही क्री का[2] क्री—चे—क्रीयते, घ्रा का घ्री—जेघ्रीयते[3]। (ह्न् का घ्नी होकर जेघ्नीयते बनता था और जंघन्यते भी चलता था आदि।)

कात्यायन के समय तक यङ् के क्षेत्र का भी विस्तार हो गया था। उन्होंने इस क्षेत्र में भी कुछ परिवर्धन दिखाया है; जैसे—(अ) अनेकाच्[4] होने पर भी सूचि, सूत्रि और मूत्रि तथा स्वरादि होने पर भी अट्, ऋ, अश् तथा ऊर्णु धातुओं से यङ् प्रत्यय होने लगा था, अट् से अटाट्यते, ऋ से अरार्यते, अश् से अशाश्यते तथा ऊर्णु से ऊर्णोनूयते प्रयोग चलते थे।

(ङ) यङ्लुक् :

इस यङ्[5] का लुक् करके भी यौगिक धातुएँ बनाई जाती हैं; जैसे यङ् करके पठ् से 'पापठ्य' बनाया जाता है, उससे आत्मनेपदी प्रयोग चलता है पापठ्यते। परन्तु यङ् का लुक् करके 'पापठ्' धातु बनाते हैं और इससे आत्मनेपद नहीं, परस्मैपद होता है, पापठीति। इसमें भी सभी धातुविकार यङ् के समान ही हैं, बस ऋदुपध धातुओं में अभ्यास के बाद री की भाँति रि तथा र का भी आगम[6] होता है, और ये तीनों आगम ऋकारान्त से भी होते हैं—नृत् से नरीनृतीति, नरिनृतीति नर्नृतीति, कृ से चरीकर्ति, चरिकर्ति, चर्कर्ति तीन-तीन रूप होंगे। यङ्लुगन्त की रूप-रचना बड़ी क्लिष्ट है।

यङ् अथवा यङ्लुक् हिन्दी तथा अँगरेजी में बिलकुल नहीं हैं, संस्कृत में भी णिच् और सन् की भाँति यह कहीं स्वार्थिक या लुप्तार्थ रूप में प्रयुक्त नहीं मिलता।

इस प्रकार विभिन्न धातुओं से किसी विशेष अर्थ में या यों ही णिच् (१) यक्, (२) आय्, (३) ईयङ्, (४) णिङ्, (५) सन् तथा (६) यङ् करके सनाद्यन्ता धातवः से धातुसंज्ञा कर इन्हें यौगिक धातु बनाते हैं। इनमें प्रेरणार्थक णिच्, इच्छार्थक सन् तथा क्रियासमभिहारार्थक यङ्—ये तीन प्रत्यय संस्कृत-साहित्य में खूब प्रचलित हैं।

जब ये तीनों प्रकार के प्रत्यय एक के बाद दूसरे जुड़ते हैं तो धातु का रूप विशाल हो जाता है। जैसे श्रु का प्रेरणार्थक श्रावयति, फिर इसका इच्छार्थक श्रावि से शुश्रावयिषति या शिश्रावयिषति अर्थात् सुनाना चाहता है। यहाँ 'शुश्रावयिष' इतनी बड़ी एक यौगिक धातु बनी। इसी भाँति पू + णिच् + सन् से पुपावयिष—पवित्र कराने की इच्छा, पठ् + णिच् + सन्—पिपाठयिष—पढ़ाने की इच्छा, पठ् + यङ् + सन्—पापठिष, पठ् + सन् + णिच्—पिपठिषि, पठ् + सन् + यङ्—पिपठिष्य, भू + यङ् + सन् + णिच् + सन्—बोभूयिषयिष, भू + यङ् + णिच् + सन् + णिच्—बोभूययिषि आदि। प्रत्ययमाला में दो बातें याद रखनी हैं कि दुबारा धातु का द्वित्व और एक ही प्रकार का प्रत्यय (सन् से फिर सन्) नहीं होता।

१. घुमास्था गापाजहाति सां हलि--६।४।६६।
२. रीङ् ऋतः—७।४।२७।
३. ई घ्राध्मोः—७।४।३१।
४. सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतिभ्यो यङ् वाच्यः।
५. यङोचि च—२।४।७४।
६. रुग् रिकौ च लुकि, ऋतश्च--७।४।९१,९२

(च) आम् :

कुछ धातुओं से लिट् लकार में स्वार्थ में आम् प्रत्यय कर बाद में कृ, भू, अस् का अनुप्रयोग किया जाता है। विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है। 'लिट्' लकार में उसने पढ़ा, कहा आदि का संस्कृत-रूप होगा—पपाठ, जगाद। लिट् में धातु का द्वित्व होता है। पर अभ ऊपर कह आये हैं कि एक बार धातु का द्वित्व हो जाने पर दुबारा द्वित्व नहीं होता, चाहे उसमें कोई भी प्रत्यय जोड़ें; अतः उसने पढ़ना चाहा, जानना चाहा, पीना चाहा अथवा बार-बार पढ़ा आदि में यदि परोक्षता की विवक्षा की जायगी तो लिट् में धातु-द्वित्व तो होगा नहीं। अतः इस असुविधा से बचने के लिए किसी ने इन प्रत्ययान्त धातुओं से भाव में अ प्रत्यय कर इच्छा, क्रिया आदि की भाँति आकारान्त कृदन्त शब्द बनाकर जिज्ञासांचक्रे, पिपासांचक्रे, चिकीर्षांचक्रे, पिपठिषांचक्रे, पापठ्यांचक्रे, लोलूयांचक्रे, कण्डूयांचक्रे, पुत्रीयांचक्रे आदि प्रयोग किये। फिर देखा कि ईहा, ऊहा आदि आकारान्त कृदन्त शब्द भी प्राप्य हैं तो ईह्, ऊह् में भी धातु-द्वित्व का झमेला छोड़ ईहांचक्रे, ऊहांचक्रे प्रयोग शुरू हुआ। यह प्रयोग ऐसा ही हुआ जैसे कोई 'देखा' की जगह 'दर्शन किया', 'खाया' की जगह 'भोजन किया' कहे। क्रमशः यह तरीका सरल होने के कारण और भी धातुओं में चलने लगा। इतनी धातुओं के लिट् के प्रयोग जानने की अपेक्षा उनमें क्रिया सामान्यार्थक कृ, भू, अस् के ही लिट् का रूप जोड़ देना कहीं सुकर था। इस दृष्टि से दयांचक्रे, या ईर्ष्यांचक्रे वस्तुतः एक क्रियावाचक पद नहीं, दया या ईर्ष्या के द्वितीयान्त के साथ जुड़ा कृ धातु का तिङन्त रूप है, पर क्रमशः यह बात लोग भूलने लगे और यह एक पद में ही परिणत हो गया। संस्कृत के 'स गुरुं नमति' के लिए अँगरेजी में (नम् = salute) अनुवाद है : He salutes his teacher; परन्तु हिन्दी में इसका अनुवाद 'वह गुरु को प्रणामता है' नहीं करते, हिन्दी में नम् के अर्थ में कोई भी अयौगिक क्रिया उपलब्ध नहीं। इसी भाँति स गुरुम् आद्रियते का अँगरेजी-अनुवाद होगा—He respects his teachers, किन्तु हिन्दी में आ + दृ के लिए कोई एक मौलिक क्रिया प्राप्त नहीं है, अतः इसका अनुवाद करना होगा—वह गुरु का सम्मान करता है। यदि इस वाक्य का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जायगा कि इनमें क्रिया केवल करना है, प्रणाम और सम्मान करना क्रिया के कर्म हैं, और गुरु प्रणाम तथा सम्मान का सम्बन्धकारक। इसीलिए 'वह गुरु को सम्मान करता है' नहीं होता, जैसे गुरु को साक्षात्कार करता या दर्शन करता है नहीं होता। कर्मवाच्य करने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है : उसके द्वारा गुरु आदर या सम्मान किये जाते हैं नहीं, गुरु का सम्मान या आदर किया जाता है। इसी भाँति पहले प्रयोग होता होगा—तस्य जिज्ञासांचक्रे, ईहांचक्रे, ऊहांचक्र। पर क्रमशः इसमें संयुक्त नहीं, मौलिक क्रिया का भान बढ़ा। हिन्दी में भी होना चाहिए था, 'वह गुरु का प्रणाम करता है', पर एक क्रिया के भ्रम से गुरु में कर्मता आ गई और प्रयोग होने लगा 'गुरु को प्रणाम करता है।' संस्कृत में होगा—गीताम् आरभते, पठितुम् आरभते; अँगरेजी में होगा He begins Gita; He begins to read. इन प्रयोगों में 'आ + रभ्' या 'बिगिन' एक मौलिक क्रिया है, पर हिन्दी के यहाँ 'आरम्भना' कोई क्रिया नहीं। फलतः (इसके लिए) उसे प्रयोग करना पड़ता है—वह गीता आरम्भ करता है, वह पढ़ना आरम्भ करता है। यहाँ स्पष्ट है कि

हिन्दी 'आरम्भ करना' को एक क्रिया मानकर 'गीता पढ़ना' को कर्म मान रही है । अन्यथा प्रयोग होना चाहिए था : वह गीता का आरम्भ करता है, पढ़ने का आरम्भ करता है । ठीक इसी भाँति संस्कृत में भी तम् ईर्ष्यति के परोक्ष भूत में तस्य ईर्ष्यांचक्रे से भ्रमवश तम् ईर्ष्यांचक्रे प्रयोग निकल पड़ा, और यह अब एक मौलिक क्रिया मानी जाने लगी । फिर लोगों ने सोचा, चक्रे तो सकर्मक हो गया, यदि 'वह बढ़ा' कहना है तो इसमें सकर्मकता तो नहीं है ? अतः इसके लिए भू धातु के लिट् बभूव की शरण ली गई । पर एधाम् लगा रह गया, एधा बभूव की जगह 'एधां बभूव' चल पड़ा । पहले आत्मनेपद-परस्मैपद की भाँति दोनों का विषय-विभाग रहा होगा, सकर्मक के लिए कृ का प्रयोग, अकर्मक के लिए भू का । शीघ्र ही अकर्मक में भू के साथ भू का पर्याय अस् भी प्रयुक्त होने लगा । और क्रमशः आत्मनेपद-परस्मैपद की भाँति इन तीनों धातुओं का भी विषय-विभाग लुप्त हो गया । किसी की जगह किसी का प्रयोग होने लगा । बात यह है कि ये तीनों धातुएँ सामान्य क्रियावाचक हैं । 'आरभते', 'ध्यायति' आदि के लिए आरम्भं करोति, ध्यानं करोति आदि अधिक अच्छे अनुवाद हैं, और म्लायति, हृष्यति के लिए म्लानः या हृष्टः भवति अथवा अस्ति । किन्तु इनमें आरम्भः भवति और हर्षं करोति भी छिपा है । इन तीनों के क्रियासामान्यार्थक होने के कारण ही 'च्वि' प्रत्यय[1] में भी कृ, भू तथा अस् तीनों का अनुप्रयोग किया जाता है, शुक्ली करोति, शुक्ली भवति, शुक्ली अस्ति । भू सत्तायाम् और अस् भुवि कहकर यद्यपि धातुपाठ ने दोनों को समानार्थ बताया है, पर भू और अस् दोनों के अकर्मक होने पर भी दोनों के अर्थों में थोड़ा अन्तर है । वह पण्डित है—पण्डित होता है, He is a scholar—becomes a scholar, स पण्डितः अस्ति–भवति में अन्तर स्पष्ट है । अतः परोक्षभूत के लिए स ईर्ष्यां चकार, तस्य ईर्ष्या अभवत् और तस्य ईर्ष्या आसीत्—इन तीनों भिन्न तात्पर्यवाले वाक्यों के लिए तीन अनुप्रयोग चले, स ईर्ष्यां चकार, ईर्ष्यांबभूव, ईर्ष्यांमास । यह स्पष्ट कर चुके हैं कि 'चकार' के सादृश्य या भ्रान्त व्युत्पत्ति (false analogy या Popular etymology) से बभूव और आस के साथ भी ईर्ष्याम् प्रयोग होने लगा । यद्यपि अस् का लिट् में आत, आट, आद की तरह आस प्रयोग शिष्टों में नहीं चलता था, स्वयं पाणिनि ने अस् की जगह आर्धधातुक स्थलों में भू-आदेश बताया है, अतः अस् का लिट् में 'आस' नहीं, 'बभूव' प्रयोग होगा; परन्तु भवति—अस्ति के तात्पर्य का अन्तर रखने के लिए 'आस' की मान्यता दी गई । या सम्भव है, जिन असमर्थ लोगों ने इन प्रत्ययान्त धातुओं का लिट् में रूप नहीं चला पाने के कारण यह संक्षिप्त मार्ग अपनाया, वे 'अस्तेर्भूः' का नियम भी नहीं याद रख सके, अत्, अद्, अट् आदि की भाँति अस् का भी रूप चला दिया । वैसे वैदिक भाषा में अस् के लिट् में 'आस' प्रयोग भी चलता था—'स ह देवरातो वैश्वामित्र आस'[2] । जैसे विष्णु, शिव आदि के विभिन्न नामों में अर्थ-भेद स्पष्ट है, पर बाद में लोगों ने सबको एक-सा समझकर पर्याय घोषित कर दिया, वैसे ही 'श्यामः ईर्ष्यांचकार, श्यामस्य ईर्ष्या बभूव, श्यामस्य ईर्ष्या आस में अन्तर स्पष्ट था । 'चकार' में श्याम का कर्तृत्व विवक्षित है, बभूव बता

---

१. कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः—५।४।५० । २. ऐ० ब्रा० ३३।५ ।

रहा है कि ईर्ष्या अभी पूर्णतः उपजी नहीं थी, अभी जन्म ले रही थी तथा आस का अभिप्राय है कि ईर्ष्या उपज चुकी थी, यद्यपि श्याम ने स्वयं इसे नहीं चाहा था। किन्तु क्रमशः सभी अर्थों तथा अकर्मक-सकर्मक सभी धातुओं के लिए तीनों का अनुप्रयोग धड़ल्ले से चल निकला।

पाणिनि ने कास्[1] तथा प्रत्ययान्त धातुओं, इजादि गुरुमान ऋच्छ भिन्न धातुओं, दय, अय और आस् से लिट् में नित्य तथा उष विद जागृ से वैकल्पिक आम् प्रत्यय और अनन्तर कृ, भू, अस्ति का अनुप्रयोग बताया, अर्थात् इस लम्बी व्याख्या के बदले बालकों की तरह लोगों को कह दिया गया कि यहाँ आम् प्रत्यय है। जैसे प्रणाम करना को जगह प्रणामना नहीं होता, किन्तु दर्शन करना—देखना दोनों चलते हैं, वैसे ही कहीं नित्य आम् बताया गया और कहीं वैकल्पिक। जागरांचकार के साथ जजागार, विदांचकार के साथ विवेद भी होता है।

विद्वानों को तो यह मालूम था कि जागराम् और चकार दोनों दो पद हैं, अतः वे इनका व्यवहित प्रयोग भी करते थे, स दर्शनं करोति या दर्शनं स करोति—दोनों सही हैं। हिन्दी में भी ऐसी क्रियाओं में व्यवधान किया जाता है, 'काम आरम्भ ही नहीं किया' यहाँ संयुक्त क्रिया आरम्भ करना के दोनों खण्डों के बीच 'ही' आ गया है। इस प्रकार 'भी' आदि और पद भी आ जाते हैं। इसी भाँति संस्कृत में भी 'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्', 'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार', 'उक्षां प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्', 'बिभयां प्रचकारासौ', 'ताम्ह राजा मदयामेव चकार' के ढंग के प्रयोग चलते थे। धीरे-धीरे लोग इनकी पृथकपदता भूल गये और अव्यवहित अनुप्रयोग-नियम बन गया। किन्तु एधांचक्रे में चक्रे की सर्वानुदात्तता घोषित कर रही है कि[2] एधाम् एक स्वतन्त्र पृथक् पद है, यह कौमुदी में स्पष्ट है।

जैसे कुछ लोगों ने जागरां चकार के साथ जजागार भी चलाया, वैसे कुछ ने समझा कि लिट् के कारण द्वित्व भले ही छूट जाय, पर जुहोत्यादि धातुएँ तो विना लिट् के भी द्विरुक्त होती हैं, अतः वे भी ह्री, भृ और हु से आम के साथ भी द्विरुक्ति कर विभयां चकार, बिभाय, बिभरांचकार, बभार आदि रूप बनाने लगे।

कृ, भू, अस् से परस्मैपद-आत्मनेपद की विचिकित्सा में यह निर्णय हुआ कि भू और अस् चूँकि परस्मैपदी हैं, इसलिए इनका बभूव और आस ही रूप रहेगा, चाहे ये आत्मनेपदी, परस्मैपदी या उभयपदी धातु के साथ अनुप्रयुक्त हों। परन्तु उभयपदी होने से कृ का मूल धातु[3] के अनुसार चक्रे, चकार या दोनों रूप चलेंगे। एधांचक्रे होगा, एधांचकार नहीं, जागरांचकार होगा, जागरांचक्रे नहीं। किन्तु बिभरांचकार, बिभरांचक्रे दोनों होंगे। बभूव और आस सब स्थितियों में एक ही बने रहेंगे।

किसी ने इस नये प्रयोग के फैशन में विदांचक्रुः की तरह विदां कुर्वन्तु कहा और शिष्ट-सम्मत हो जाने से पाणिनि ने इसे वैकल्पिक रूप मान लिया। फिर तो पूरे लोट् लकार में इसका एक वैकल्पिक रूप विदांकरोतु यह चल निकला। दीक्षित आदि वैयाकरणों ने

१. सूत्र ३।१।३५ से ४२ तक। २. तिङ्ङतिः ८।१।२८। ३. १।३।६३।

विद् के लोट् के सभी रूपों में वैकल्पिक आम् और कृ का अनुप्रयोग माना है। हाँ, विदामस्तु, विदां भवतु नहीं चला। वास्तव में विद् धातु में कुछ ज्यादा लचीलापन था ही। किसी ने देखा कि सन् में भी लिप्सते, शिक्षते में द्वित्व नहीं हुआ, लिट् में भी विद् का बिना द्वित्व किये विदां चकार बना लिया जा सकता है, फिर तो उसने बिना आम् और कृ का अनुप्रयोग किये भी विवेद की जगह वेद[1], विविदतुः की जगह विदतुः प्रयोग शुरू किया। और, शिष्ट सम्मति पा जाने से पाणिनि को इसे भी मान्यता देनी पड़ी, हालाँकि उन्होंने इसे लट् ही कहा, लिट् नहीं। धीरे-धीरे आम् का प्रयोग लिट् और लोट् से और जगह भी फैला—विदामक्रन्, पावयां क्रियात्, अभ्युत्सादयामकः, प्रजनयामकः, चिकयामकः, रमयामकः (रमयाम् अकः) आदि। पाणिनि के बाद यह प्रयोग और लकारों में तो रुक गया, पर केवल प्रत्ययान्त धातुओं की जगह यह सभी अनेकाच् धातुओं में चलने लगा, जैसे दरिद्रांचकार, असूयां चकार आदि। अतः कात्यायन ने इन्हें स्वीकृति दी। पर लोकभाषा का क्षेत्र-विस्तार कौन बाँध सकता है? जहाँ धातुएँ स्वयं एकाच् होकर भी उपसर्ग से संयुक्त हैं, वहाँ भी आम् होने लगा आस्वयामास[2]। बल्कि अवगल्भांचक्रे, क्लीबांचक्रे, होडांचक्रे प्रयोग होने लगे, जिनकी सिद्धि के लिए कात्यायन को भौवादिक अवगल्भ्, क्लीब्, होड् से पचाद्यच् कर फिर आचार-क्विप्[3] कर इन्हें नामधातु बनाना पड़ा।

तो संयुक्त या यौगिक क्रिया का एक रूप यह भी है, जहाँ मुख्य क्रिया कृ, भू, अस् से जुड़ी है। यहाँ मुख्य धातु के साथ किसी प्रत्यय का नहीं, एक सामान्य धातु का ही योग है। चाहें तो इसे यौगिक की जगह संयुक्त धातु कह सकते हैं। क्या हिन्दी की संयुक्त क्रियाओं का मूल यह कृ, भू, अस् का अनुप्रयोग ही है? वैसे यदि विश्लेषण किया जाय तो अँगरेजी की सभी संयुक्त क्रियाएँ निमित्तवाचक, वर्तमानकालिक कृदन्त और भूतकालिक कृदन्त की तथा हिन्दी की सभी संयुक्त क्रियाएँ इन तीनों के अतिरिति भाववाचक क्रियात्मक संज्ञा के योग से निष्पन्न होती हैं [गच्छन्—going, गन्तुम्—to go, गतः गतवान्—gone तथा गमन—going से]।

प्रातिपदिकज यौगिक धातु :

कुछ यौगिक धातुएँ प्रातिपदिक से भी बनती हैं, इन्हें नामधातु कहते हैं। नाम से धातु बनाने के लिए पाणिनि ने निम्नलिखित प्रत्यय बताये हैं—

(क) **णिच् और णिङ्**—सूत्र ३।१।२० में तीन शब्दों से णिङ्, तथा २१।२२ में २२ शब्दों से णिच् प्रत्यय बताया गया है। पर किस अर्थ में यह प्रत्यय होगा, यह नहीं बताया गया। ये सब धातु नहीं, कि स्वार्थ में ही इन्हें मान लें। सभी प्रातिपदिक हैं। अतः कात्यायन ने सबके लिए पृथक्-पृथक् अर्थ बताया है। णिङ् करने से आत्मनेपद होता है और णिच् करने से परस्मैपद। जैसे—पुच्छम् उदस्यति—उत्पुच्छयते; पाशं विमुञ्चति—विपाशयति आदि।

किन्तु ऐसे नाम २२ ही नहीं रह गये, क्रमशः हजारों हो गये, जिनसे णिच् करके

---

१. ३।४।८३। २. अश्वमेधपर्व ७५।८।

३. आचारेऽवगल्भक्लीबहोडेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः—३।१।११ पर।

नामधातुएँ बनाई जाने लगीं, उनके अर्थ की व्याख्या के लिए चुरादि गण में अनेक गणसूत्र[1] बनाने पड़े। जैसे—अश्वेन अतिक्रामति–अश्वयति। इतना ही नहीं, अन्त के इ, उ तथा टि कालोप आदि भी होने लगा, अतः उस णि के परे इष्ठन् प्रत्यय के सारे कामों की स्वीकृति देनी पड़ी। जैसे—पटुम् आचष्टे–पटयति, असिना हन्ति—असयति, हस्तिना अतिक्रामति—हस्तयति। अँगरेजी में He horsed the distance; motorable road; cycling आदि तेन अतिक्रामति के ही उदाहरण हैं। यह णिच् अव्यय से भी हो सकता है; क्योंकि वे भी तो प्रातिपदिक हैं ही। उपरि आगच्छति या भवति में उपरि शब्द से णिच् होकर उपरयति बनेगा, जिसका हिन्दी-तद्भव 'उपलाना' क्रिया है; बल्कि टि का ही नहीं, अश्वतरमाचष्टे अश्वयति आदि में उत्तरखण्ड का ही लोप होने लगा। 'कंसं घातयति' प्रयोग हुआ तो प्रकृति-प्रत्यापत्ति का विधान करना पड़ा। वास्तव में यहाँ प्रकृति-प्रत्यापत्ति की कोई आवश्यकता नहीं। यह तो एक भिन्न ही प्रयोग-शैली है, जो हिन्दी में भी चलती है। यदि पूछना है कि रामायण-कथा में आपने सेतुबन्धन प्रकरण समाप्त किया कि नहीं, तो पूछते हैं, अभी आपने पुल बाँधा कि नहीं; लङ्का-दहन समाप्त किया कि नहीं की जगह लङ्का जलाई कि नहीं। वैसे ही कंसवध की कथा कह दी की जगह कंस को मार दिया। णिच् के इष्ठवद्भाव से कई आदेश भी होने लगे, जैसे दृढ से द्रढयति, स्थूल से स्थवयति, दूर से दवयति, युवन् से कनयति, अन्तिक से नेदयति आदि।

पाणिनि ने आप् का आगम 'सत्य' शब्द[2] से ही माना था—सत्यापयति, पर इसका प्रचार भी बढ़ा। अर्थापयति, वेदापयति प्रयोग देख कात्यायन को अर्थ और वेद से भी आप् आगम की स्वीकृति[3] देनी पड़ी [वस्तुतः आप् भी प्रकृति की वृद्धि करने पर किया गया प् (पुक्) का आगम ही है]। हिन्दी में जो सुहावना, लुभावना, डरावना, लजावन आदि प्रयोग मिलते हैं. उनका मूल यह आप् वाला शोभापयति, लोभापयति, दरापयति, लज्जापयति आदि नामधातु प्रयोग ही है। भोजपुरी में सभी प्रेरणार्थक आव लगाकर बनते हैं, देखावता, सुनावता, हँसावता आदि। कारण यह है कि प्राकृत-काल में बहुत-सी धातुओं से प् का आगम होने लगा था—लिख् से लिखापयति, धाव् से धावापयति, जीव् से जीवापयति[4], क्षमापयत[5] आदि।

(ख) काम्यच्[6]—इसका अर्थ है अपने लिए कोई वस्तु चाहना, जैसे आत्मनः पुत्रं कामयते, पुत्रकाम्यति। चूँकि यह सुबन्त से (कर्मकारक से) होता है, इसलिए पुत्र की पद-संज्ञा भी होती है। फलतः, आत्मनः अध्वानं कामयते विग्रह में अध्वन् के न के लोप से अध्वकाम्यति प्रयोग बनेगा। यहाँ पुत्र + अम् से काम्य प्रत्यय होता है। फिर इस समुदाय 'पुत्र अम् काम्य' की सनाद्यन्ता धातवः से धातु संज्ञा होती है, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः[7]

---

१. इनमें सर्वप्रमुख हैं प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च।
२. ३।१।२५।
३. इसी पर वार्त्तिक।
४. दे० पिशेल का 'प्राकृत व्याकरण', अनु० ५५१।५२।
५. भागवतपुराण—४।२०।२।
६. ३।१।९।
७. २।४।७१।

मे धात्ववयव सुप् का लुक् हो जाता है, तब पुत्रकाम्य धातु से पठ् आदि की भाँति सभी तिङ् तथा कृत् प्रत्यय होते हैं। नामधातुओं का लिट् भी 'आम्' जोड़कर बनता है—पुत्रकाम्यांचक्रे, कृत् प्रत्यय 'अ' आदि कर पुत्रकाम्या आदि बनाते हैं।

(ग) **क्यच्**[1]—क्यच् भी ठीक काम्यच् जैसा ही है, क्यच् से पूर्ववर्त्ती अ का ई तथा ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है। क्यच् के दो अर्थ हैं—अपने लिए कोई वस्तु चाहना, जो काम्यच् का भी अर्थ है; और एक को दूसरे की भाँति समझना। जैसे—आत्मनः पुत्रम् इच्छति—पुत्रीयति, शिष्यं पुत्रम् इव आचरति, पुत्रीयति शिष्यम्। इस प्रकार मुनि से मुनीयति, भानु से भानूयति, राजन् से राजीयति, गो से गव्यति, दातृ से दात्रीयति आदि। यहाँ पुत्रीय आदि नामधातु हैं। यहाँ भी काम्यच् की भाँति धातुसंज्ञा, मध्यवर्त्ती सुप् (अम्) का लोप आदि प्रक्रियाएँ हुई हैं। करोति अर्थ में भी क्यच् होता है—नमः करोति नमस्यति आदि।

कात्यायन ने इसमें दो वार्त्तिक पढ़े हैं, मान्त प्रकृति इदम् आदि तथा अव्ययों से क्यच् नहीं होगा, जैसे इदम् या स्वर इच्छति—यहाँ क्यच् नहीं होगा तथा अधिकरण-उपमान[2] से भी क्यच् होगा, जैसे प्रासादे इव आचरति प्रासादीयति कुट्यां भिक्षुः। यहाँ धात्ववयव सप्तमी का लोप हुआ है।

(घ) कुछ जगहों में पाणिनि ने **क्यङ्**[3] बताया है, वहाँ सलोप भी कहा है। क्यङ् के ङित् होने से यह नामधातु आत्मनेपदी होगी; जैसे—कृष्ण इव आचरति कृष्णायते; अप्सरा इव आचरति अप्सरायते। यह अभूततद्भाव अर्थ में भी होता है, अभृशो भृशो भवति भृशायते, असुमनाः सुमनाः भवति सुमनायते। क्रमशः क्यङ् का और धात्वर्थों में भी प्रचार हुआ, कष्टाय क्रमते कष्टायते, रोमन्थं वर्त्तयति रोमन्थायते, वाष्पम् उद्वमति वाष्पायते, शब्दं करोति शब्दायते, सुखं वेदयते सुखायते आदि।

कात्यायन के समय तक इसके प्रयोग में जो वृद्धि हुई, उसे उन्होंने अपने वार्त्तिकों से बताया। सत्राय क्रमते सत्रायते, कृच्छ्राय क्रमते कृच्छ्रायते आदि। यहाँ धात्ववयव चतुर्थी का लुक हुआ है। करोत्यर्थ में भी सुदिनं करोति सुदिनायते, उद्वमति अर्थ में फेनम् उद्वमति फेनायते आदि होने लगे। हिन्दी में फेनाता है, धुआँता है आदि का मूल यही है। लालायित का मूल है लालां करोति लालायते, पर धूमायते, लालायते आदि के लिए सूत्र या वार्त्तिक का कोई संकेत नहीं है। महाभारत में चिरायितः (चिरायते का क्तप्रत्ययान्त) का आदिपर्व ७६।२९ में तथा कृपायीत (कृपायते का विधिलिङ्) का आदिपर्व के १३९वें अध्याय में प्रयोग मिलता है। छान्दोग्य ७।४।१ में मनस्यति प्रयोग प्राप्त है।

(ङ) **क्यष्**[4]—लोहितादि और डाच् प्रत्ययान्त शब्दों से अभूततद्भाव में क्यष् होता है, इससे आत्मनेपद-परस्मैपद दोनों होते हैं। अलोहितो लोहितो भवति—लोहितायते, पटपटायति—पटपटायते।

---

१. सूत्र ३।१।८ से २१ तक।
२. अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्।
३. कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च—३।१।११
४. लोहितादि डाज्भ्यः क्यष्—३।१।१३।

(च) कात्यायन ने सब प्रातिपदिकों से आचार-अर्थ में क्विप् बताया है; जैसे कृष्ण इव आचरति कृष्णति। यह क्विप् सुबन्त से नहीं, शुद्ध प्रातिपदिक से होता है, अतः राजा इव आचरति राजति नहीं, राजानति होगा। प्रसिद्ध प्रयोग कवयित्री आदि आचार क्विप् से ही बने हैं। इस प्रत्यय में यह विशेषता है कि क्विप् के प्रत्यक्षर-लोप होने से कुछ बचता नहीं, अतः प्रातिपदिक अपने शुद्ध रूप में, विना अन्त में कोई वर्ण जोड़े धातु बन जाता है।

हिन्दी में हाथ से हथियाना, लात से लतियाना, बात से बतियाना, तेल से तेलाना आदि प्रयोग धात्वर्थ में क्यङ् के अवशेष हैं और दुःख से दुखना आदि क्विप् के। परिनिष्ठित हिन्दी ऐसी नामधातुओं को प्रोत्साहित नहीं करती, पर बोलियों में इनकी भरमार है। अँगरेजी में सभी नामधातु क्विप् के ही उदाहरण हैं; क्योंकि सभी नाम विना कोई प्रत्यय जोड़े ही धातु बन जाते हैं—house से housed, book से booked, lodge से lodged, tin से tinned आदि शुद्ध नामधातु के उदाहरण हैं।

वस्तुतः नामधातु शब्द से कात्यायनोक्त आचार क्विबन्त धातुओं का ही ग्रहण होना चाहिए; क्योंकि केवल ये ही नाम या प्रातिपदिक से होते हैं, सुबन्त से नहीं। क्यच्, काम्यच्, क्यष् और क्यङ् सब सुबन्त पद से विहित हैं, प्रातिपदिक से नहीं। बल्कि सूत्र ३।१।८ से 'सुपः' का जो अधिकार चला है, उसके बाद धातोः का अधिकार ३।१।६ में आया है। अतः ३।१।२० से पुच्छ आदि शब्दों से विहित णिङ् तथा ३।१।२१ से मुण्ड आदि शब्दों से विहित णिच् भी सुबन्त से ही समझना चाहिए। ये दोनों धात्वर्थ में होते हैं, जैसे भाण्डानि समाचिनोति सम्भाण्डयते (क्या इसी से सम्हालना बना है? सम्भाण्ड—सम्हाड—सम्हाल ?), श्लक्ष्णं करोति श्लक्ष्णयति आदि, यह अभी कह आये हैं। अतः क्यङ् की तरह ये भी सुबन्त से ही होंगे। सूत्र ३।१।२५ सत्यापपाश आदि में तो धातोः से व्यवहित सुपः की अनुवृत्ति नहीं जायगी, पर यहाँ गिनाये प्रातिपदिकों से भी धात्वर्थ में ही णिच् देखकर तथा सूत्र ३।१।२० और २१ से इसका लक्ष्यभेद नहीं पाकर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहाँ भी सुबन्त से ही णिच् होता है। एक बात और। चुरादिगण में गणसूत्र-रूप में पठित 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' ने यद्यपि स्पष्ट ही सभी प्रातिपदिकों से णिच् का विधान किया है, फिर भी वैयाकरणों ने वहाँ सुबन्त से ही णिच् माना है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कात्यायनोक्त इस क्विप् को छोड़कर पाणिनिविहित जितने भी क्यच् आदि प्रत्यय हैं, सभी सुबन्त से ही होते हैं, णिच् भी चुरादि धातुओं से स्वार्थ में तथा शेष धातुओं से प्रेरणा में विहित है। अवशिष्ट स्थलों में णिच् (या णिङ्) सुबन्त से ही होता है, शुद्ध प्रातिपदिक से नहीं। इसलिए नामधातु शब्द से वास्तव में कात्यायनोक्त क्विप् प्रत्ययान्त का ही ग्रहण होना चाहिए। शेष को सुबन्त पदधातु ही कहना चाहिए। फिर भी लाघव से सबको नामधातु कहते हैं।

कण्ड्वादि भी नामधातु की तरह ही हैं, यह कहा जा चुका है। इसीलिए ये कौमुदी में धातुओं की दशगणी में नहीं, नामधातुओं के बाद ही रखे गये हैं।

प्रातिपदिक :

धातुओं से जैसे तिङ् प्रत्यय, सनादि प्रत्यय और कृत् प्रत्यय होते हैं, वैसे ही प्राति-

पदिकों से सुप् स्त्रीप्रत्यय और तद्धित । प्रातिपदिकों के भी दो भेद हैं—मौलिक और यौगिक। पहले कह आये हैं कि 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' उक्ति प्रमाणित कर रही है कि प्रातिपदिक सभी धातुज (आख्यातज) ही नहीं होते, कुछ मौलिक भी होते हैं। पतंजलि ने जिन्हें यदृच्छा शब्द कहा है (लृतक डित्थ, डवित्थ आदि) उनकी भी धातु से व्युत्पत्ति ढूँढ़ना दुराग्रह है। ये अव्युत्पन्न शब्द ही मौलिक प्रातिपदिक हैं। प्रायः संख्यावाचक तथा सर्वनामों में अधिक अव्युत्पन्न ही प्रातिपदिक हैं।

यौगिक प्रातिपदिक तीन प्रकार के होते हैं—

(अ) कृदन्त—धातु से कृत् प्रत्यय करने पर वह प्रातिपदिक बनता है। जैसे पठ् से अक (ण्वुल्) करने पर पाठक, अनीय करने पर पठनीय, अ (घञ्) करने पर पाठ आदि अनेक प्रातिपदिक बनते हैं। बहुत-से ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनमें धातु और प्रत्यय का विभाग स्पष्ट नहीं है, अथवा वह प्रत्यय पाणिनि की अष्टाध्यायी में नहीं है, वहाँ उणादि प्रत्यय तथा तदनुकूल धातु की खोज करनी चाहिए। इसकी अनुमति पाणिनि ने भी दी है[1]; जैसे वायु में वा धातु से (उण्) छद्म में छद् से मन् आदि। ये सब भी कृदन्त प्रातिपदिक ही हैं। इन्हें धातुज प्रातिपदिक कहेंगे।

(आ) तद्धितान्त—प्रातिपदिक से तद्धित प्रत्यय करने पर फिर से उनकी प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है, जैसे शिव से शैव, मनु से मानव, पटु से पटुता, पटुत्व, पाटव आदि। इन्हें प्रातिपदिकज प्रातिपदिक कहेंगे। सभी तद्धित प्रत्यय सुबन्त से होते हैं, अतः इन्हें सुबन्तज प्रातिपदिक कहना चाहिए।

(इ) समास—कभी-कभी कई प्रातिपदिक एक साथ मिलकर एक प्रातिपदिक बन जाते हैं; जैसे राजन् और कुमार का समास हो गया, और इससे एक प्रातिपदिक बना राजकुमार, उसी भाँति रामः च लक्ष्मणः च रामलक्ष्मणौ; यहाँ राम और लक्ष्मण पृथक्-पृथक् प्रातिपदिक थे, किन्तु दोनों मिलकर एक प्रातिपदिक बन गये रामलक्ष्मण। बीच के सुप् प्रत्यय का लुक् हो जाता है; जैसे राज्ञः कुमारः = राजन् + ङस् + कुमार + सु, यहाँ समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर अवान्तर सुप् विभक्तियों का लोप होकर राजकुमार यह प्रातिपदिक रह जाता है। राजन्—ङस् के सुबन्त होने के कारण ही पद होने से राजन् के न् का लोप होता है; जैसे राजीयति, राजकाम्यति में बताया गया है। इसी भाँति तद्धित में भी राज्ञः अयम् – राजकीयः में राजन् ङस् से ही ईय प्रत्यय हुआ है, इसीलिए वहाँ भी न् लोप हुआ है। राजवत्, राजत्व आदि भी ऐसे ही बने हैं।

प्रातिपदिकों से रूप-रचना में प्रातिपदिकों के ६ भेद किये जाते हैं, जैसे धातुओं से रूप-रचना में १०-११ भेद बताये जा चुके हैं। किन्तु धातुओं की तरह प्रातिपदिकों में रूप-रचना के लिए गण-विभाग नहीं है। इनमें पहले तीन भाग किये जाते हैं, पुंल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक; फिर तीनों को स्वरान्त और व्यंजनान्त में बाँट देते हैं। इस प्रकार धातुओं की दशगणी की भाँति इसे षड्लिंग-प्रकरण कहते हैं। यद्यपि स्वरान्तों में अकारान्त बालक आदि, आकारान्त विश्वपा आदि, इकारान्त मुनि आदि तथा व्यंजनान्तों में तकारान्त गच्छत् आदि,

१. उणादयो बहुलम्—३।३।१

थकारान्त अग्निमथ् आदि ऐसे विभाग करें तो और भी बहुत से विभाग हो सकते हैं, पर मुख्य भेद से इसे षड्लिंग ही कहते हैं।

प्रातिपदिकों में भी दूसरी दृष्टियों से बहुत-से गण हैं। इनका एक गणपाठ मिलता है। यह भी पाणिनि के ही नाम से है 'इति श्रीपाणिनिमुनिप्रणीतो गणपाठः समाप्तः' से यही सूचित किया जाता है। किन्तु, इसमें बहुत से गण कात्यायन-निर्दिष्ट भी हैं। कुल २५६ गण गणपाठ में पाये जाते हैं। पाणिनि ने गणों से बहुत-से काम लिये हैं; जैसे 'सर्वादीनि[1] सर्वनामानि' सर्वादि को सर्वनाम कहते हैं। अकारान्त रहने पर भी सर्व का रूप बालक की तरह नहीं होगा, बालकाः के समानान्तर सर्वाः की जगह सर्वे होता है। सूत्रों में पाणिनि ने तीन प्रकार से गण का निर्देश किया है—१. आदि कहकर, जैसे चाद्यो[2]ऽसत्त्वे; २. प्रभृति कहकर, जैसे साक्षात्प्रभृतीनि[3] च; और ३. बहुवचन-निर्देशमात्र से, जैसे सप्तमी[4] शौण्डैः। इस प्रकार के बहुत-से गणों की चर्चा कात्यायन ने भी की है; जैसे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम्, प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् आदि। इन गणों में बहुत-से आकृतिगण हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि गणपाठ में कुल कितने प्रातिपदिकों का उल्लेख है; जैसे चादि, साक्षात्प्रभृति, पात्रेसमितादि, व्याघ्रादि, कृतादि, मयूरव्यंसकादि, आहिताग्न्यादि आदि सभी आकृतिगण हैं।

सूत्रों में गणों के अतिरिक्त एक-एक प्रातिपदिक का भी उल्लेख है; जैसे 'कुलटाया[5] वा, गोधाया[6] ढ्रक्, सख्युरसम्बुद्धौ[7], श्वयुवमघोनामतद्धिते'[8] आदि। कहीं प्रातिपदिक-समूह का ग्रहण है, जैसे 'जानपद कुण्डगोण[9]।' कहीं अन्तिम खण्ड की दृष्टि से जैसे 'ऋन्नेभ्योङीप्[10], कहीं अर्थ की दृष्टि से जैसे 'वयसि प्रथमे[11]', कहीं समास की दृष्टि से जैसे 'द्विगोः[12]' (आदि) प्रातिपदिकों का उल्लेख पाया जाता है।

सबसे बड़ी बात यह कि कृत् और तद्धित तथा समास के द्वारा असंख्य प्रातिपदिक बनाये जा सकते हैं।

पीछे कह आये हैं कि सभी नामधातु-प्रत्यय और तद्धित वस्तुतः सुबन्त से होते हैं, शुद्ध प्रातिपदिक से नहीं। अतः इन स्थलों में सुबन्त को ही प्रकृति मानना चाहिए। अमुष्य पुत्रः आमुष्यायणः तव[13] अयं तावकः, युष्माकम् अयम् यौष्माकीणः तावकीनम्, मामकीनम्, आस्माकम्, आस्माकीनम्, आमुष्मिकम्; ममता[14] आदि शब्दों में तो प्रकृति की यह सुबन्तता अलुक् आदि के कारण स्पष्ट दीखती है।

---

१. १।१।२७।
२. १।४।५७।
३. १।४।७४।
४. २।१।४०।
५. ४।१।१२७।
६. ४।१।१२९।
७. ७।१।९२।
८. ६।४।१३३।
९. ४।१।४२।
१०. ४।१।५।
११. ४।१।२०।
१२. ४।१।२१।
१३. ४।३।२,३।
१४. भागवतपुराण— कः कुर्यान्ममताम्बुधः ४।२०।६।

इसी तरह तिङन्त शब्दों से भी प्रत्यय होते हैं। पचति से प्रकर्ष की विवक्षा में पाणिनि ने तमप् प्रत्यय[1] का विधान किया है, अयम् एषाम् अतिशयेन पचति इति पचतितमाम्। यहाँ पटु से पटुतम की भाँति पचति से पचतितम बनाकर नित्य आम्[2] प्रत्यय किया गया है। इसी भाँति तिङन्त से अकच्[3] भी विहित है, पचति से पचतकि।

अव्यय से भी प्रत्यय होते हैं; जैसे सम् से कट प्रत्यय कर संकट। ऐसे ही प्रकट, उत्कट[4] आदि। वि से नञ् प्रत्यय कर विना[5]। अमा से त्य प्रत्यय कर अमात्य[6], नि से त्य कर नित्य आदि बनाये जाते हैं। सुतराम्, नितराम् में तर और आम् प्रत्यय स्पष्ट हैं।

अव्यय भी अनेक प्रकार के[7] होते हैं—

१. **मौलिक**—जैसे अधिकांश स्वरादि और निपात। स्वरादि, जैसे पुनर्, श्वः, ह्यः, शम् आदि। स्वरादि में बहुत-से शब्द यौगिक भी हैं; जैसे उच्चैः (उत्+च+भिस्), स्वस्ति (सु+अस्ति), चिराय (चिर+ङे), पृथक् (प्रथ्+अक्) आदि। चादि के अधिकांश अव्यय मौलिक हैं; जैसे च, वा, ह, हा, धिक्, तु, नु, हि, वै, अथ, अथो, हे, भोः, अरे, चेत्, चित्, मा, न आदि तथा वर्णप्रतिरूपक अ, इ, उ आदि। पर इनमें भी कुछ यौगिक हैं; जैसे भूयस् (बहु+ईयस्), सुष्ठु (सु+स्था+उ), नूनम् (नु+न) आदि।

२. **कृदन्त** (अथवा धातुज)—जैसे, पठ्+तुम्—पठितुम्, पठ्+त्वा—पठित्वा, स्मारं स्मारम् आदि।

३. (नामज अथवा) **तद्धितान्त**—जैसे ततः, तत्र, तदा, ब्राह्मणवत्, यथा, एकैकश; आदि।

४. **समासज**—जैसे यथाशक्ति, अधिहरि, प्रतिदिन, उपाग्नि आदि।

५. **तिङन्त प्रतिरूपक**—अस्ति, स्वस्ति, मन्ये असि, बृहि आदि

६. **सुबन्त प्रतिरूपक**—चिरेण, चिरात्, स्थाने, अन्तरेण, हेतौ, प्रातः-सायम्, पश्चात् आदि। इन दोनों का एक नाम **विभक्ति-रूपक** है।

७. **समासप्रतिरूपक**—जैसे चिररात्राय, साक्षात्, सुष्ठु आदि।

किसी भी शब्द के निर्वचन में प्रथम खण्ड धातु (या तिङन्त), प्रातिपदिक (या सुबन्त) अथवा अव्यय ही होता है, जिसका वर्णन यहाँ तक किया गया। निर्वचन में दूसरा खण्ड प्रत्यय होता है। कहा जा चुका है कि यास्क ने इसकी अपेक्षा की है, और पाणिनि ने प्रकृति की तुलना में प्रत्यय का ही अधिक विस्तार से वर्णन किया है।

प्रत्ययों का विवेचन :

प्रत्यय के इतने रूप हो सकते हैं— (१) पदत्वसाधक अथवा सुप् और तिङ्, (२) प्रातिपदिकत्व-साधक, (३) धातुत्व-साधक, (४) स्त्री-प्रत्यय, तथा (५) सहायक प्रत्यय। दूसरी दृष्टि से दो भेद भी हो सकते हैं—(१) विशेषार्थक तथा (२) स्वार्थिक। इनमें सुप् और तिङ् का विश्लेषण बाद में करेंगे। ये अन्त्य प्रत्यय हैं और इनसे ही कोई शब्द पद बनकर सार्थक होता है। पहले शेष प्रत्ययों की, जो मध्यवर्त्ती हैं, समीक्षा करें।

---

१. तिङश्च ५।३।५६। ३. ५।३।७१। ५. ५।२।२७।
२. ५।४।११। ४. संप्रोदश्च कटच् ५।२।२९। ६. अव्ययात् त्यप्—४।२।१०४।
७. १।१।३७ से ४१ तक।

धातु-प्रत्यय :

धातु से चार तरह के मध्यवर्त्ती प्रत्यय हो सकते हैं— १, कृत्, २. सनादि, ३. गण-विकरण या धातु-विकरण तथा ४. लकार-विकरण। इनमें सनादि की व्याख्या पीछे हो चुकी है। वे ये हैं—(क) सन्—पठ् से पिपठिषति। (ख) यङ्—पठ् से पापठ्यते। (ग) णिच्—पठ् से पाठयति। (घ) आय्—गुप् से गोपायति। (ङ) ईयङ्—ऋत् से ऋतीयते। (च) णिङ्—कम् से कामयते। ये सब धातुत्वसाधक हैं। हम पीछे कह आये हैं कि यङ् सदा किसी अर्थ में, सन् और णिच् प्रायः विशेष अर्थ में, पर कहीं-कहीं स्वार्थ में भी, तथा शेष प्रत्यय सदा स्वार्थ में ही होते हैं। गणविकरण शप्, श्नम्, श्नु, श, श्यन्, उ, श्ना, णिच् तथा यक् की भी पीछे विस्तार से चर्चा हो चुकी है। इन प्रत्ययों का कोई पृथक् अर्थ नहीं, ये धातु के शरीर-पोषक-मात्र हैं, और भिन्नगणीय धातु के भिन्न प्रकार के बिल्ले (बैज) जैसे लगे रहते हैं। किन्तु ये सब बिल्ले कर्त्ता में लकार होने पर ही काम में आते हैं। भाव या कर्म में लकार होने पर साम्यवाद आ जाता है और सभी गणों की धातुओं से केवल एक ही पोषक प्रत्यय होता है, यक्—जैसे पठ्यते, अद्यते, दीयते, लिख्यते आदि।

ठीक इसी प्रकार कुछ प्रत्यय लकार-विकरण होते हैं। इन प्रत्ययों का भी कोई अर्थ नहीं होता, पर ये विभिन्न लकारादेश तिङ् प्रत्ययों के बिल्ले-से लगकर उस लकार की सूचना-मात्र देते हैं। इन्हें भी सहायक अर्थहीन प्रत्यय ही समझना चाहिए। जैसे—(१) लृट् लकार में तिङ् का सहायक स्य, पठ् से पठिष्यति; (२) लुट् का सहायक तास्, जैसे पठ् से पठिता; (३) लिङ् में परस्मैपद में यासुट्, जैसे पठेत् या पठ्यात् और आत्मनेपद में सीयुट्, जैसे एधेत या एधिषीष्ट आदि; (४) लेट् में सिप्, जैसे पठिषति; (५) लृङ् में भी स्य, जैसे अपठिष्यत्; (६) लिट् में आम्, जैसे एधांचकार आदि; (७) लुङ्—सबसे अधिक सहायक या विकरण प्रत्यय लुङ् को प्राप्त हैं। ऊपर के सभी लकार-विकरण हर हालत में होते हैं, चाहे प्रत्यय कर्त्ता में हो या कर्म में या भाव में। जैसे—पठिष्यति कर्त्ता में, पठिष्यते कर्म में, भविष्यते भाव में। किन्तु लुङ् में कर्त्ता के लिए पृथक् विकरण हैं और भावकर्म के लिए भिन्न।

कर्त्ता के विकरण—जब लकार कर्त्ता में होता है तो लुङ् के सहायक विकरण ये प्रत्यय होते हैं—(१) सिच्—यह सामान्य प्रत्यय है; जैसे चि से अचैषीत्, अचेष्ट आदि। (२) क्स—शलन्त इगुपध धातुओं से, जैसे लिह् से अलिक्षत्, दुह् से अधुक्षत्, श्लिष् से अश्लिक्षत् आदि। (३) चङ्—ण्यन्त तथा श्रि द्रु आदि से। चङ् के कारण धातु का द्वित्व होता है; जैसे कारयति से अचीकरत्, श्रयति से अशिश्रियत् आदि। (४) अङ्—सभी पुषादि, द्युतादि तथा लृदित् इरित् धातुओं और वच् आदि से; जैसे—अपुषत्, अद्युतत्, अगमत् अभिदत्, असिचत् आदि। (५) चिण्—पद्, दीप्, जन् आदि से—अपादि, अदीपि, अजनि आदि। किन्तु यह चिण् केवल अन्यपुरुष एकवचन आत्मनेपद त के पूर्व ही आता है। द्विवचन से इन सब स्थलों में सिच् ही प्रत्यय होता है, जो उत्सर्ग है। अपादिषाताम्, अपादिषत्, अदीपिषाताम् अदीपिषत्, अजनिषाताम् अजनिषत् आदि।

ये सभी च्लि प्रत्यय के स्थान में आदेश किये गये हैं। लुङ् का एकमात्र विकरण च्लि ही रखा गया है, और धातुभेद से इस च्लि के स्थान में उपर्युक्त ५ आदेश किये गये

हैं। ये पाँचो आदेश कर्त्ता में लुङ् करने पर होंगे। कर्म या भाव या कर्म-कर्त्ता में लुङ् करने पर सब धातुओं में अन्यपुरुष एकवचन त के पूर्व च्लि का चिण् होगा, शेष जगह सिच् यह सामान्य आदेश, जैसे अकारि घटः कुलालेन, अभावि, अकारि कटः स्वयमेव आदि। शेष जगह अकारिषाताम्, अकारिषत; अभाविषाताम् अभाविषत आदि। इन सभी विकरणों[1] को लकार का विकरण इसलिए कहा गया कि ये धातु के विभिन्न गणों के अनुसार नहीं होते, विभिन्न लकारों के अनुसार होते हैं; जैसे भ्वादि पठ् से पठिष्यति, अदादि हन् से हनिष्यति, जुहोत्यादि मृ से मरिष्यति, दिवादि दिव् से देविष्यति। इसी भाँति भ्वादि नी से अनैषीत्, अदादि या से अयासीत्, जुहोत्यादि हु से अहौषीत्, तनादि कृ से अकार्षीत् आदि।

इनके अतिरिक्त भी कुछ विकरण होते हैं; जैसे अस् (दिवादि) से भूत में आस्थत्[2]। यहाँ अङ् विकरण के अलावा बीच में थ् का आगम हुआ। पत् में पुम् के आगम से अपप्तत् बना। वच् के भूतकाल में अङ् के अलावा उ आगम होकर अवोचत् बना। धातु से पूर्व लुङ्, लङ्, लृङ् में तथा धातु और तिङ् के बीच लेट् में अट और आट् का आगम होता है। अपठत्, ऐधत, पठिषति, पठिषाति आदि[3]। लोट् में सर्वत्र उत्तमपुरुष एकवचन में आट् का आगम होता है; जैसे अद से अदानि,[4] कृ से करवाणि तथा मध्यमपुरुष एकवचन में श्ना की जगह शानच् प्रत्यय; जैसे बधान, गृहाण[5]। बहुत जगह अट्, इट् या ईट् का आगम होता है—पठिष्यति, स्वपिति, अरोदत्, अरोदीत्, आसीत्, अनैषीत् आदि[6]। कहीं र् का, कहीं न् का आगम होता है, शेरते[7], मुञ्चति[8] आदि—इन सभी प्रत्ययों या आगमों में कोई धातु का अंग हो जाता है, कोई तिङ् प्रत्यय का। इनका स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता। ऐसे विकरणों को भी अनर्थक सहायक प्रत्ययों में ही गिनना चाहिए।

कृत् :

धातुओं के मध्यवर्त्ती प्रत्ययों में सबसे विशाल भाण्डार है कृत् प्रत्ययों का। सम्पूर्ण तृतीय अध्याय में ६३१ सूत्र हैं, इनमें विभिन्न धातुओं से विभिन्न अर्थों में बहुत-से प्रत्यय बताये गये हैं। ये सभी धातुविहित हैं, केवल नामधातुप्रत्यय सुबन्त-विहित हैं। धातुप्रत्यय प्रायः सवा सौ हैं और प्रत्ययों के अर्थ भी प्रायः इतने ही हैं। इनमें से यदि तिङ् और सनादि प्रत्ययों को पृथक् कर दें तो प्रायः १०० प्रत्यय और १०० ही अर्थ बच रहते हैं। इन्हीं को कृत् कहते हैं। ऐसा विभाग नहीं है कि एक प्रत्यय के लिए एक अर्थ है, कभी एक प्रत्यय के अनेक अर्थ मिलते हैं, और कभी एक अर्थ में अनेक प्रत्यय। जैसे भाव में घञ् (पाकः), अच् (जयः), अप् (करः), क्तिन् (नीतिः), अ (इच्छा) आदि और चानश् के अर्थ[9] ताच्छील्य (भोगं-भुञ्जानः), वयोविशेष (कवचं बिभ्राणः), शक्ति (शत्रून् निघ्नानः) आदि।

---

१. ३।१।४३ से ८३ तक।
२. ७।४।१७ से २० तक।
३ ६।४।७१-७२ तथा २३।४।९४।
४. ३।४।९२।
५. ३।१।८३।
६. ७।२।३५, ७।३।९८, ९९, ९६, ७।२।७६ आदि।
७. ७।१।६।
८. ७।१।५९।
९. ३।२।१२९।

नीचे कृत् प्रत्ययों के मुख्य अर्थ दिये जाते हैं :

कृत् प्रत्यय का विधान साधारणतः कर्त्ता में किया गया है। किन्तु कृत् के ही अन्तर्गत कुछ कृत्य प्रत्यय भी हैं। वे सदा भाव या कर्म में होते हैं। साथ ही कृत्य और ल्युट् बहुल प्रकार से होते हैं, अतः वे कर्म और भाव से भिन्न स्थलों में भी हो सकते हैं। कृत्य-भिन्न कृत् प्रत्यय भी अपवाद-रूप से और कारकों में बताये गये हैं। जैसे—

(१) कर्त्ता[1]—तृच्—नेता, ण्वुल्—नायकः, अण्—कुम्भकारः, णिनि—ब्रह्मचारी, इष्णुच्—जिष्णुः, शतृ—पठत्, क्तवतु—पठितवान्, क्त—गतः आदि।

(२) कर्म[2]—तव्य—नेतव्यम्, यत्—नेयम्, ष्ट्रन्—धात्री, ण्यत्—पाठ्यम्, शानच्—पठ्यमानः, क्त—पठितम् आदि।

(३) करण[3]—ष्ट्रन्—दात्रम्, इत्र—खनित्रम्, अनीय—स्नानीयम्, ल्युट्—इध्म—प्रव्रश्चनः, घ—परिघः, अयोघनः, दन्तच्छदः, क्यप्—विद्या आदि।

(४) सम्प्रदान[4]—अनीय—दानीयो विप्रः, अच्—दाशः, टक्—गोघ्नः आदि।

(५) अपादान[5]—म—भीमः, भीष्मः, ल्युट्—प्रस्कन्दनः, अस्—रक्षति अस्मादिति रक्षः, अच्—प्ररक्षति अस्मादिति प्ररक्षः आदि।

(६) अधिकरण[6]—कि—जलधिः, घञ्—रामः, क्यप्—शय्या, ल्युट्—गोदोहनी स्थाली, घ—आलयः, गोचरो देशः, क्त—शयितम्, वुन्—सरकः आदि।

इस प्रकार कृत् प्रत्यय सभी कारकों में होते हैं। इसी भाँति ये तीनों कालों में भी होते हैं—

(१) वर्त्तमान[7]—शतृ—पठन्, शानच्—वर्धमानः, क्तः—राज्ञां मतः, उर—विदुरः, इष्णु—भविष्णुः आदि।

(२) भविष्यत्[8]—शतृ, शानच्—करिष्यन्, करिष्यमाणः, इनि—गमी, णिनि—भावी, तव्य—त्वया कटः कर्त्तव्यः आदि।

(३) भूत[9]—क्त, क्तवतु—गतः, गतवान्, क्विप्—वृत्रहा, शास्त्रकृत्, ड—सरसिजम्, क्वनिप्—पारदृश्वा आदि।

भाव में तो बहुत-से कृत्प्रत्यय विहित हैं, जैसे घञ्[10]—पाठः, क्तिन्[11]—नीतिः, कि[12]—विधिः, अन[13]—स्नानम् आदि।

---

१. ३।१।१३३, ३।२।१, ३।२।७८, ३।२।१३९, ३।२।१२४, ३।२।१०२।

२. ३।१।९६, ९७, १२४। ३।२।१८१, १२४, १०२।

३. ३।२।१८२, १८४, ३।१।११३, ११७, ८२, ८४, ९९, ११८।

४. ३।२।११३, ३।४।७३।

५. ३।४।७४।

६. ३।३।९३, ९९, ११७, ११८, ११९, १२१। ३।४।७६। ३।१।१४९।

७. ३।२।१२४, १३८, १६२, १८८।

८. ३।३।१४, ३, १६३।

९. ३।२।१०२, ८७, ८९, ९४, ९७।

१०. ३।३।१८।

११. ३।३।९४।

१२. ३।३।९२।

१३. ३।३।११४।

कृत् प्रत्ययान्त शब्द तीनों लिंगों में हो सकते हैं; जैसे घञ् प्रत्ययान्त पुंल्लिग में पाठः, क्तिन् प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग में नीतिः; ल्युट् प्रत्ययान्त नपुंसक में स्नानम्; और तव्य प्रत्ययान्त तीनों लिंगों में; पठितव्यः ग्रन्थः, पठितव्यं पुस्तकम्, पठितव्या गीता।

कृत् प्रत्ययान्त शब्द जातिवाचक संज्ञा, जैसे कुम्भकारः; भाववाचक संज्ञा, जैसे पाठः, नीतिः, विद्याः; समूहवाचक संज्ञा, जैसे समज्या[1] समजः[2], परिषद्[3]; विशेषण, जैसे पाठक आदि तो बनते ही हैं, बहुत जगह क्रियाओं का काम भी देते हैं; जैसे--सः अगच्छत—स गतः, यहाँ क्त, त्वया कटः कर्त्तव्यः[4] त्वं कटं कुर्याः, यहाँ तव्य, स अतीव सहिष्णुः—स अतीव सहते, यहाँ इष्णु प्रत्यय क्रमशः भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान काल की क्रियाओं का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। क्त और क्तवतु, शतृ और शानच् तथा स्यतृ और स्यमान सभी प्रकार की भूतकालिक, वर्त्तमानकालिक तथा भविष्यत्कालिक क्रियाओं का निर्माण कर सकते हैं; जैसे स गतः अस्ति, गतः भविष्यति, गतः स्यात् या भवेत्, गतः आसीत्, गतः अभविष्यत्। इसी प्रकार गतः की जगह गच्छन् तथा गमिष्यन् लग सकता है, यह आगे स्पष्ट करेंगे।

इन (कारक आदि) के अतिरिक्त भी कृत् प्रत्ययों में कई और अर्थ होते हैं, कुछ के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) संज्ञा या[5] रूढि—अर्यः, भिद्यः, भृत्यः।

(२) आवश्यकता[6]—ण्यत्:—लाव्यम्, अवश्यपाव्यम्।

(३) समभिहार[7]—वुन्—सरकः, णच्—व्यावक्रोशी।

(४) आशीर्वाद[8]—वुन्—जीवकः।

(५) ताच्छील्य[9]—अच्—पुष्पाहरः, णिनि, उष्णभोजी।

(६) हेतु[10]—ट—यशस्करी विद्या।

(७) आनुलोम्य[11]—ट—वचनकरः।

(८) लक्षण[12]—टक्—जायाघ्नो ना।

(९) व्यर्थ[13], अभूततद्भाव—खिष्णु च—आढ्यं भविष्णुः, णमुल् और क्त्वा—नाना कृत्य, नानाकारम्।

(१०) व्रत[14]—णिनि—स्थण्डिलशायी, पयोहारी।

(११) उपमान[15]—णिनि—उष्ट्रकोशी, णमुल्—घृतनिधायं निहितं जलम्।

---

१. ३।३।९९।
२. ३।३।६९।
३. ३।२।६१।
४. ३।४।१६३।
५. ३।१।१०३, ११५, ३।३।९९।
६. ३।१।१२५।
७. ३।१।१४९, ३।३।४३।
८. ३।१।१५०।
९. ३।२।११, ७८।
१०. ३।२।२०।
११. ५।३।२०।
१२. ३।२।५२।
१३. ३।२।५६, ३।४।६२।
१४. ३।२।७९, ३।४।४५
१५. ३।२।८०।

(१२) आभीक्ष्य[1] —णिनि—क्षीरपायिण उशीनराः ।
(१३) शक्ति[2]—टक्—हस्तिघ्नः ।
(१४) वयोवचन[3]—अच्—कवचहरः कुमारः ।
(१५) तद्धर्म तथा[4] तत्साधुकारी—षाकन्-लुण्टाकः, भिक्षाकः ।
(१६) अकृच्छ्रता[5]—शतृ—अधीयन् पारायणम् ।
(१७) आक्रोश[6]—अनि—अजीवनिस्ते शठ भूयात् ।
(१८) पर्याय[7]—ण्वुच्—भवतः शायिका, घञ्—तव विशायः ।
(१९) अर्ह[8]—ण्वुच्—इक्षुभक्षिकाम् अर्हति भवान्, तव्य—भवता कन्या वोढव्या ।
(२०) शक्यता[9]—तव्य—त्वया भारो वोढव्यः आदि ।

कुछ कृत् प्रत्यय केवल यौगिक धातुओं से ही होते हैं, जैसे अ[10]—चिकीर्षा, जिज्ञासा, पुत्रकाम्या कण्डूया, पुत्रीया ; युच्[11]—कारणा , गणना, रचना ; उ[12]—चिकीर्षु पिपासु; वर[13]—यायावर ; युच्—चङ्क्रमणः ; ऊक[14]—यायजूकः आदि ।

कृत् प्रत्ययों की संख्या वस्तुतः इतनी ही नहीं है । बहुत-से उणादि प्रत्यय हैं, जिनकी गणना पाणिनि ने नहीं की है, पर उणादयो[15] बहुलम्, भूतेऽपि दृश्यन्ते, भविष्यति गम्यादयः, दाशगोघ्नौ[16] सम्प्रदाने, भीमादयोऽपादाने, ताभ्यामन्यत्रोणादयः कहकर यह स्वीकार किया है कि बहुत-से उणादि प्रत्यय हैं, जो तीनों कालों में तथा सम्प्रदान, अपादान को छोड़ शेष सभी कारकों में होते हैं । सच पूछा जाय तो सम्प्रदान और अपादान में भी होते हैं, यास्क ने रक्ष् धातु से अपादान[17] में ही अस् प्रत्यय किया है, और पाणिनि-पठित कृत् प्रत्ययों में अस् की गणना नहीं है, यह उणादि ही है ।

उणादि प्रत्यय ५ पादों तथा ७५८ सूत्रों में वर्णित है । मेरी गणना से इसमें २८९ प्रत्यय हैं, किन्तु ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने अपनी तत्त्वबोधिनी में इनकी संख्या सवा तीन सौ[18] मानी है, अर्थात् पाणिनि के कृत् प्रत्ययों की तिगुनी । मैंने अनुबन्धभेद से प्रत्ययभेद नहीं माना है, अतः संख्या कुछ घट गई है । उणादि प्रत्ययों के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी की भाँति अर्थ नहीं निर्दिष्ट हैं ।

उणादि में ऐसे अनेक प्रत्ययों द्वारा सुन्दर बहुप्रयुक्त शब्दों की सिद्धि दिखाई गई है, जिन्हें पाणिनि ने अपने कृत् प्रत्ययों में क्यों नहीं स्थान दिया, यह सोचकर आश्चर्य होता है । उणादि प्रत्ययों की ओर सम्भवतः अभी विद्वानों का पूरा ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है । पाणिनि ने

---

१. ३।२।८१ ।
२. ३।२।५४ ।
३. ३।२।१० ।
४. ३।२।११५ ।
५. ३।२।१३० ।
६. ३।३।११२ ।
७. ३।३।१११, ३।२।३९ ।
८. ३।३।१११, १६९ ।
९. ३।३।१७२ ।
१०. ३।३।१०२ ।
११. ३।३।१०७ ।
१२. ३।२।१६८ ।
१३. ३।२।१७६ ।
१४. ३।२।१५०, ३।२।१६६
१५. ३।३।१ से ३
१६. ३।४।७३ से ७५ ।
१७. ४।३ ।
१८. उणादि प्रत्ययाः सन्ति पादोत्तर-शतत्रयम् ।

अप्,[१] शब्द,[२] तीर्थ,[३] तृण,[४] स्तोम,[५] सोम, व्याघ्र,[६] श्लोक,[७] लोम, वर्म, वर्ण, वृक्ष,[८] धान्य, पशु, अश्व, कर्म[९], धर्म,[१०] उदक,[११] ओदन, उदर,[१२] जङ्घा, दन्त, कर्ण, शृङ्ग, नासिका, ओष्ठ, क्रोड,[१३] मुख,[१४] जिह्वा, इन्द्र,[१५] वरुण, शर्व, रुद्र; युवन्,[१६] सखि,[१७] पति, गुण[१८], धातु[१९], समुद्र[२०], असुर[२१], पुत्र[२२], मन्त्र, इष्टका[२३], प्रशस्य[२४] आदि ऐसे बहुत-से शब्दों का अष्टाध्यायी में ही प्रयोग किया है, पर इनकी व्युत्पत्ति नहीं दी है। और इनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट है (यहाँ तक कि गमी, दाश, गोघ्न, भीम, भीष्म का उल्लेख करके भी इनका उणादि प्रत्यय नहीं लिखा)। इनमें से दो-एक शब्दों का निर्वचन कात्यायन ने कर दिया है; जैसे शंस् धातु से क्यप् कर उन्होंने शस्य[२५] बनाया है, पाणिनि के अनुसार ण्यत् से केवल शंस्य होगा, शस्य नहीं। पाणिनि ने 'तितुत्रतथ सिसुसरकसेषु च'[२६] कह इन प्रत्ययों के पूर्व इडागम का निषेध किया है। इनमें ति, त्र दो ही अष्टाध्यायी में उपलब्ध हैं (दीप्तिः, पत्त्रम्), शेष तु (सक्तुः), त (पोतः), थ (कुष्ठम्), सि (कुक्षिः), सु (इक्षुः), सर (अक्षरम्), क (शल्कः) तथा स (वत्सः) केवल उणादि में ही मिलते हैं। 'अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्' कहकर पतंजलि ने भी औणादिक सर-प्रत्यय स्वीकार किया[२७] है।

उणादि ने ऐसे सैकड़ों शब्द बनाये हैं, जिनकी व्युत्पत्ति पाणिनि ने नहीं दी। वा से वायु, कृ से कारु, स्वद् से स्वादु, साध् से साधु, बन्ध् से बन्धु में उ[२८]प्रत्यय, मद् से मदिरा, रुच् से रुचिर, अज् से अजिर में इर[२९] प्रत्यय कितना स्पष्ट है? 'मिह् सेचने' से इर प्रत्यय कर सूर्य-अर्थ में मिहिर बनाना कितना युक्तियुक्त है। यास्क ने इसे हिम शब्द से हिमनाशक अर्थ में बनाया था। अन् प्राणने से इल करके अनिल की निष्पत्ति कितनी सुन्दर है? इत्[३०] प्रत्यय द्वारा हृ से हरित् सृ से सरित्, ताडि से तडित्; अज्[३१] से प्रथ् का पृथक्, म[३२] प्रत्यय से हु से होम, धृ से धर्म, घृ से घर्म, व[३३] प्रत्यय से अश् से अश्व, गृ से ग्रीवा[३४], अन् प्रत्यय से राज् से राजन्, यु से युवन्, थ[३५] प्रत्यय द्वारा यु से यूथ, वच् से उक्थ, गु से

१. ६।४।११।
२. ३।१।१७।
३. ६।३।८७।
४. ६।३।१०३।
५. ८।३।८२।
६. २।१।५६।
७. ३।१।२५।
८. २।४।१२।
९. ३।२।२२।
१०. ४।४।४१।
११. ६।३।५७,६०।
१२. ४।१।५५।
१३. ४।१।५६।
१४. ४।१।५८, ५९।
१५. ४।१।४९।
१६. ६।४।१३३।
१७. १।४।७,८।
१८. १।१।३।
१९. १।१।४।
२०. ४।४।११८।
२१. ४।४।१२३।
२२. ४।१।१५९।
२३. ४।४।१२५।
२४. ५।३।६०।
२५. शंसिदुहिगुहिभ्योवेतिवक्तव्यम्।
२६. ७।२।९।
२७. पश्पशाह्निक।
२८. उणादिसूत्र-सं० १।
२९. ५४-५५।
३०. १०२-३।
३१. १४२।
३२. १४५—१५४।
३३. १५७।
३४. १६२।
३५. १७७।१७२।

गूथ, र[1] प्रत्यय द्वारा शक् से शक्र, शुच् से शुक्र और शुक्ल, छिद् से छिद्र, इक द्वारा व्रश्च्[2] से वृश्चिक, मूष् से मूषिक, पण्[3] से इज् करके प के व आदेश से वणिज्, अन[4] प्रत्यय कर यु से यवन, भू से भुवन, कॄ से किरण, दुह्[5] से तृच् इडागम और गुणागम कर दुहितृ, अनि[6] प्रत्यय से सृ का सरणि, तॄ का तरणि, धृ का धरणि, वृत् का वर्त्तनी और कृष् के क का च कर चर्षणि, इस्[7] प्रत्यय कर हु से हविष्, सृप् से सर्पिष् और द्युत् का श्चुत्व कर ज्योतिष्, उस्[8] प्रत्यय कर जन् से जनुष्, वप् से वपुष्, आ+इ से आयुष्, चक्ष् से चक्षुष, न[9] प्रत्यय कर जि से जिन, दी से दीन, उष् से उष्ण, नु[10] प्रत्यय कर भा से भानु, सू से सूनु, विष् से विष्णु, अर[11] प्रत्यय कर भ्रम् से भ्रमर, दिव् से देवर, भ[12] प्रत्यय कर दृ से दर्भ, गॄ से गर्भ, ईक्[13] प्रत्यय कर यङन्त चर् से चञ्चरीक, ईष[14], प्रत्यय कर कॄ से करीष, शॄ से शिरीष, पॄ से पुरीष, ईर[15] प्रत्यय कर शॄ से शरीर, घस् से क्षीर, सब धातुओं से इ[16] का विधान कर यत् से यति, बुध् से बोधि, हृ से हरि, वृत् से वर्त्ति, कीर्त् से कीर्त्ति[17], कृष् से कृषि, शुच् से शुचि, मन् से मुनि, खन् से खनि, गॄ से गिरि आदि तथा मन्[18] का विधान कर कृ से कर्मन्, धृ से धर्मन्, चर् से (चॄ से) चर्मन्, जन् से जन्मन्, छद् से छद्मन्, वृह् से ब्रह्मन्, लू से लोमन्, अत् से आत्मन् आदि की सिद्धि कितनी मनोरम है ?

अवश्य ही किसी अच्छे निर्वचन-विशारद ने पाणिनि तथा कात्यायन के बाद उनसे छूटे प्रयोगों की सिद्धि के लिए उणादि सूत्र बनाये हैं। निम्नलिखित प्रयोग पाणिनि ने भी किये थे, किन्तु संभवतः भ्रम से या मतभेद से उणादिकार ने फिर से दिये हैं—

(१) विशाल—पाणिनि ने वि उपसर्ग से शाल[19] प्रत्यय कर इसकी सिद्धि की थी, उणादि ने विश् से आल[20] प्रत्यय किया है। वस्तुतः यह शल् धातु से घञ् प्रत्यय द्वारा सिद्ध हुआ है।

(२) क्रयिक—क्रयिक और आपणिक पाणिनि ने क्रय और आपण शब्द से तद्धित इक कर[21] बनाया है। उणादि ने क्री और पण् से कृत् इक[22] कर। सम्भवतः पाणिनि की ही रीति वैज्ञानिक है।

---

१. १७८—१९६।
२. २०७—९।
३. २३८
४. २४२—४८।
५. २६०।
६. २६७—७१।
७. २७३—७५।
८. २८०—८४।
९. २८९।
१०. ३१९—२६।
११. ४१९।
१२. ४३९—४०।
१३. ४६८।
१४. ४७४—७५।
१५. ४७८—८३।
१६. ५६७।
१७. वस्तुतः कीर्त् धातु की ही कल्पना व्यर्थ है, कॄ से क्तिन् कर कीर्त्ति बनाकर इसी से नामधातु प्रत्यय णिच् किया जा सकता है, जिससे कीर्त्तयति बनेगा, जैसे कवि से कवयति, और कीर्त्ति तो कृ से बन ही जायगा।
१८. ५९४।
१९. ५।२।२८।
२०. १२३।
२१. ४।४।१३, ५०।
२२. २११-१२।

(३) स्वप्न—पाणिनि ने भी इसे सिद्ध[१] किया था, उणादि ने पुनरावृत्ति[२] की है।

(४) नक्षत्र—पाणिनि ने इसमें नञ् समास[३] माना है, न+क्षत्र ; पर उणादि ने इसे नक्ष् धातु से अत्र प्रत्यय कर सिद्ध किया है। यास्क[४] भी इसे नक्ष् से ही निष्पन्न मानते हैं। पर नक्ष् धातु का कहीं प्रयोग नहीं मिलता, धातुपाठ में गणना-मात्र है।

(५) दात्र, शस्त्र—पाणिनि ने दा और शस् से ष्ट्रन्[५] कर इसकी सिद्धि की है। उणादि[६] ने भी इन्हें दा और शस् से त्र प्रत्यय कर ही बनाया है, किन्तु पाणिनि ने यह प्रत्यय जहाँ अति सीमित रखा है, वहाँ उणादि ने इस प्रत्यय से वस्—वस्त्र, अस्—अस्त्र, छद्—छत्र, भ्रस्ज्—भ्राष्ट्र, षिव्—सूत्र, चित्—चित्र, मिद्—मित्र, पू—पुत्र, वच्—वक्त्र, यम—यन्त्र, या—यात्रा, श्रु—श्रोत्र, पा—पात्र आदि भी बनाये हैं। पुत्र की यही व्युत्पत्ति ठीक है—पुनाति इति पुत्रः। पुत् नाम्नः नरकात् त्रायते यह अवैज्ञानिक है।[७]

(६) नख—पाणिनि[८] ने इसमें नञ् समास बताया है न+ख, पर उणादि[९] ने इसे नह् धातु से ख प्रत्यय और ह् लोप कर सिद्ध किया है।

(७) अवद्य—पाणिनि[१०] ने भी इसकी सिद्धि दिखाई है, और उणादि[११] ने भी, अ+वद्+य, कोई अन्तर नहीं।

(८) ईश्वर—पाणिनि ने ईश्[१२] से वर प्रत्यय किया है, शासन करनेवाला; उणादि[१३] ने अश् से वर करके अ का ई किया है, व्यापक। यहाँ पाणिनि का ही निर्वचन ऐतिहासिक है।

(९) नगः—पाणिनि ने यहाँ नञ्[१४] समास माना है, न+गः, नहीं चलनेवाला; उणादि[१५] ने यहाँ दह् धातु से ग प्रत्यय कर द् का न तथा ह् का लोप बताया है, जलानेवाला। यह अवैज्ञानिक है।

ऐसे और भी प्रयोग ढूँढ़ने से मिल जायेंगे। शर्वरी पाणिनि के वनो रच[१६] से बन जायगा, पर उणादि[१७] ने शॄ से वर प्रत्यय कर बनाया है। पाणिनि का एक पूरा सूत्र भी उणादि में ज्यों-का-त्यों मिलता है : 'न रपरसृपिसृजिस्पृशिस्पृहिसवनादीनाम्'[१८]। पाणिनि ने शुष् से निष्ठोक्त कर त का क[१९] कर शुष्क बनाया है, उणादि[२०] ने शुष् से क प्रत्यय ही किया है।

---

१. ३।३।९०।
२. २९७।
३. ६।३।७५।
४. ३।४।
५. ३।२।१८२।
६. ६०८—१९
७. यास्क २—३।
८. ६।३।७५।
९. ७११।
१०. ३।१।१०१।
११. ७४२।
१२. ३।२।१७५।
१३. ७४५।
१४. ६।३।७७।
१५. ७४९।
१६. ४।१।७।
१७. २८६।
१८. अष्टाध्यायी ८।३।११० तथा उणादि १७९।
१९. ८।२।५१।
२०. ८।२।५१।

कात्यायन द्वारा निष्पादित भी बहुत-से शब्दों की दुबारा सिद्धि उणादि ने दिखाई है—

(१) रजकः—इसे पाणिनि ने 'शिल्पिनि ष्वुन्'[१] कहकर तथा कात्यायन ने 'नृति-खनिरञ्जिभ्य एव' परिगणन कर सिद्ध किया है। उणादि में पुनरुक्ति[२] है।

(२) वाक् तथा श्रीः—कात्यायन और उणादि की विधि भी एक है, और सूत्र भी प्रायः एक ही—कात्यायन—क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रु जुश्रीणां[३] दीर्घोऽसम्प्रसारणं च—उणादिसूत्र[४]-क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च।

(३) परिव्राट्—कात्यायन और उणादि की विधि भी एक है और सूत्र भी। कात्यायन—परौ व्रजेः षः[५] पदान्ते ; उणादि—परौ व्रजेः षश्च[६] पदान्ते।

(४) पर्वतः—कात्यायन[७] ने पर्वन् शब्द से मतुबर्थक त प्रत्यय कर बनाया है; उणादि[८] ने पर्व धातु से अत प्रत्यय कर। शायद कात्यायन की ही निरुक्ति अधिक ऐतिहासिक है।

(५) हानि तथा ग्लानि – कात्यायन[९] ने भी हा तथा ग्ला (ग्लै) से नि प्रत्यय कर सिद्ध किया है, उणादि[१०] ने भी।

(६) व्याघ्रः—कात्यायन[११] ने भी घ्रा से क किया है, उणादि[१२] ने भी।

(७) भीरुकः—कात्यायन[१३] और उणादिकार[१४] ने एक ही प्रकार से सिद्ध किया है।

(८) पचेलिम—दोनों[१५] ने पच् से एलिम किया है। इत्यादि।

उणादि ने कई जगह परम्परा का त्याग कर नई व्युत्पत्ति दी है। जैसे—परम्परा कहती है 'सिंहो वर्णविपर्ययात्' अर्थात् 'हिंस्' से सिंह बना है, किन्तु उणादि ने इसे सिच्[१६] धातु से सिद्ध किया है। पर यह अनैतिहासिक लगता है।

कई जगह तो इसने पाणिनि और कात्यायन की साधन-पद्धति का ही विस्तार-मात्र कर दिया है। अभी कह आये हैं कि पाणिनि का त्र प्रत्यय (ष्ट्रन) कम ही धातुओं से विहित था, उणादि ने इसका क्षेत्र-विस्तार किया, इसी भाँति उणादि ने पाणिनि का इत्र[१७] प्रत्यय वह् से भी कर वहित्र[१८], धृ से भी कर धरित्री, अक[१९] प्रत्यय यङन्त वद् से भी कर वावदूक[२०] आदि सिद्ध किया। कात्यायन ने पाणिनि के अन्तगः, दूरगः आदि[२१] का विस्तार कर

१. ३।१।१४५ तथा इसी पर वार्तिक।
२. २००।
३. ३।२।१७८ पर।
४. २२५।
५. सूत्र ८।२।३६ पर वार्तिक।
६. २२७।
७. पाणिनिसूत्र ५।२।१२१ पर वार्तिक।
८. ३९७।
९. सूत्र ३।३।९५ पर।
१०. ५००।
११. ३।१।१३७ पर वार्तिक।
१२. ७५१।
१३. ३।२।१७४ पर वार्तिक।
१४. १९९।
१५. ३।१।९६ पर वार्तिक तथा ४८५ उणादिसूत्र।
१६. ७५०।
१७. ३।२।१८४।
१८. ६२१।२२।
१९. ३।२।१६६।
२०. ४८९।
२१. ३।२।४८ तथा इसपर वार्तिक।

उरस् से उरगः आदि भी बनाया, किन्तु पतत् से पतङ्ग नहीं सिद्ध किया, उणादि[1] ने इसकी पूर्त्ति की। पाणिनि ने भी धातु से क्रुक्[2] और क्लुकन् कर भीरुः और भीलुकः बनाया है। यह नहीं सोचा है कि यहाँ भीरु से ही स्वार्थिक क प्रत्यय कर भीरुक बनायेंगे और उसी र का प्राकृत प्रवृत्ति से ल उच्चरित होकर भीलुक बनेगा। बल्कि पाणिनि ने भीरुक प्रयोग का उल्लेख ही नहीं किया। कात्यायन ने यह क्षतिपूर्त्ति कर भीरुक[3] की सिद्धि दिखा दी। उणादि ने भी पिष्टपेषण[4] ही किया। उणादि ने जो स्यन्द् से उ प्रत्यय कर द् का ध् कर सिन्धु[5] बनाया, ताडयति[6] से तडित्, गृ से ग्रीवा, प्रथ् से पृथक्, नक्ष् से नक्षत्र, भ्रम् और दिव् से भ्रमर तथा देवर, अत् से अतिथि, शॄ और घस् से शरीर तथा क्षीर, दुह् से दुहिता, कृष् से चर्षणि आदि इन सबमें पहले से यास्क का संकेत था। यह पिछले पृष्ठों में निरुक्त-प्रकरण देखने से स्पष्ट हो जायगा। बल्कि उणादि के अधिकांश शब्द यास्क की व्युत्पत्ति पर ही आधारित हैं। हाँ, यास्क ने वणिक् की व्युत्पत्ति ठीक[7] नहीं दी थी, उसे उणादि ने सँभाला पण्+इज्[8], किन्तु यास्क[9] ने मन्द् या मज्ज् से मण्डूक बनाकर सही व्युत्पत्ति दी थी, उणादि ने इसे मण्ड्[10] से बनाकर अनैतिहासिक कर दिया। पाणिनि[11] ने मृद् शब्द से तिकन् तद्धित प्रत्यय किया है। उणादि ने भिद् और कृत् से तिकन् कृत्[12] प्रत्यय किया। किसी ने यह नहीं सोचा कि मृद्, भिद् तथा कृत् धातु से भाव में क्तिन् कर पहले मृत्ति, भित्ति, कृत्ति बना लेंगे, फिर स्वार्थ में क करके मृत्तिका, भित्तिका, कृत्तिका बन जायेंगे। 'मृत्ति' का ही तद्भव मिट्टी है।

उणादि का कार्य प्रशंसनीय है, इसमें सन्देह नहीं। पर उणादि ने ताडुर का विकार नहीं समझकर दर्दुर की नई विचित्र व्युत्पत्ति दी, और कपोल, कपोत, कुबेर, युष्मद्, अस्मद्, त्यद्, तद् आदि का भी निर्वचन करने का मोह नहीं छोड़ा, 'न त्वेव न निर्ब्रूयात्' का अनुसरण किया, यह दोष है। निद्रा भी नि+द्रा से ही सिद्ध करना ठीक है। पाणिनि ने नि+द्रा[13] धातु मानी है, निन्द्[14] से इसकी निष्पत्ति उचित नहीं।

उणादि की यह सूची अपूर्ण भी है। पाणिनि से उल्लिखित दाश और गोघ्न का ही निर्वचन छूट गया है। अतः 'संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद् विद्यादनुबन्धम् एतच्छास्त्रमुणादिषु' का कथन सत्य है। किसी भी शब्द में नई धातु और नये उणादि प्रत्यय की कल्पना (तलाश) की जा सकती है।

प्रातिपदिक प्रत्यय

प्रातिपदिकों से निम्नलिखित प्रकार के प्रत्यय हो सकते हैं—

(१) **नामधातु प्रत्यय**—पहले बताया जा चुका है कि कात्यायन के अनुसार केवल एक क्विप् ही शुद्ध प्रातिपदिक से होता है, कृष्ण इव आचरति, कृष्णति। प्रातिपदिक से

---

१. १२४।
२. ३।२।१७४।
३. ३।२।१७४ पर वार्त्तिक।
४. १९९।
५. ११, यास्क ९।३।
६. १०३ तथा यास्क ३।२ आदि।
७. पण्यं नेनेक्ति २।५।
८. २३८।
९. ९।१।
१०. ४९१।
११. ५।४।३९।
१२. ४३५।
१३. ३।२।१५८।
१४. १८४।

होनेवाला णिच् भी वस्तुतः सुबन्त से ही होता है। और शेष क्यच् आदि प्रसिद्ध नामधातु प्रत्यय तो सभी सुबन्त से ही होते हैं। फिर भी वहाँ सुप् रहता नहीं, लुप्त हो जाता है, अतः लोग इन्हें प्रातिपदिक-प्रत्यय ही मान लेते हैं।

(२) शुद्ध प्रातिपदिक से होनेवाले महत्त्वपूर्ण प्रत्यय सुप् हैं, जिनका विचार पद-विज्ञान-प्रसंग में किया जायगा।

(३) स्त्री-प्रत्यय—सभी स्त्री-प्रत्यय भी शुद्ध प्रातिपदिक से ही होते हैं, ये संक्षेप से नीचे सोदाहरण दिये जा रहे हैं—

(क) टाप—अजादि तथा अकारान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में टाप् होता है, जैसे अज—अजा, अश्व—अश्वा, बाल—बाला, कुब्ज—कुब्जा आदि।

(ख) डाप्—मन्नन्त शब्द तथा अन्नन्त बहुव्रीहि से—सीमन्—सीमा, दामन्—दामा, बहुयज्वन्—बहुयज्वा।

(ग) चाप—ञ्यङ् तथा ष्यङ् प्रत्ययान्त शब्दों से—आम्बष्ठ्या, कारीषगन्ध्या आदि।

(घ) ङीप—ऋवर्णान्त, नकारान्त, उगितप्रत्ययान्त आदि से—दातृ—दात्री, योगिन्—योगिनी, भवत्—भवती, प्राच्—प्राची आदि। ङीप् के साथ कहीं-कहीं कुछ ध्वनि-परिवर्तन भी होता है; जैसे पति—पत्नी, अग्नि—अग्नायी, रोहित—रोहिणी आदि।

(ङ) ङीष्—षित् प्रत्ययान्त से, गौरादि शब्दों से तथा पुंयोग में—नर्त्तक—नर्त्तकी, गौर—गौरी, गोप—गोपी आदि। जातिवाचक शब्दों से भी ङीष् ही होता है; सूकर—सूकरी आदि। ङीष् के साथ भी कुछ ध्वनि-परिवर्त्तन होता है; इन्द्र—इन्द्राणी, भव—भवानी आदि।

(च) ङीन्—शार्ङ्गरवादि शब्दों तथा अञन्त शब्दों से—शार्ङ्गरवी, बैदी आदि।

(छ) ऊङ्—उकारान्त मनुष्य जाति, ऊरु शब्दान्त, गुणवचन आदि से कुरु—कुरूः, करभोरु—करभोरूः, पङ्गु—पङ्गूः आदि।

(ज) ति—युवन् शब्द से युवन् + ति—युवतिः।

(झ) ष्यङ्—कौड्या।

इनमें से केवल ति और ष्यङ् प्रत्यय ही तद्धित के अधिकार में हैं, शेष उससे बहिर्भूत हैं। अतः शेष स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती, फलतः उनसे सुप् या तद्धित आदि नहीं हो सकेंगे, यही सोचकर पाणिनि में चतुर्थाध्याय का प्रथम सूत्र बनाया है 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' अर्थात् आगे आनेवाले सभी प्रत्यय ङी प्रत्ययान्त, आप् प्रत्ययान्त तथा प्रातिपदिक संज्ञक शब्दों से होंगे। सूत्र में ङी से ङीप्, ङीष् ङीन् का तथा आप् से टाप्, डाप्, चाप् का ग्रहण हो जायगा, किन्तु ऊङ् का ग्रहण किसी से नहीं होगा। उससे तद्धित या सुप् प्रत्यय करने के लिए 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' करना ही पड़ेगा, अतः उपर्युक्त सूत्र में ङ्याप् ग्रहण व्यर्थ है।

(४) चौथे अध्याय से पाँचवें अध्याय तक केवल प्रातिपदिक-विहित प्रत्यय हैं। पहला सूत्र तो अभी कहा ही गया है। दूसरा सूत्र सुप् विभक्तियों का विधान करता है। तीसरे से सूत्र ८१ तक विहित सभी प्रत्यय स्त्रीप्रत्यय ही हैं। **तद्धित-प्रत्ययों** का आरम्भ

सूत्र ७६ से होता है, ति और ष्यङ् स्त्री-प्रत्यय भी हैं और तद्धित भी। यद्यपि सभी तद्धित प्रत्यय सुबन्तों से ही होते हैं, यही सिद्धान्त है; फिर भी नामधातु-प्रत्ययों की भाँति इन्हें भी प्रातिपदिक प्रत्यय कहते हैं; क्योंकि समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होकर मध्यवर्त्ती सुप् का लोप हो जाता है। जैसे उपगोः अपत्यम्—इस विग्रह में उपगु+ङस् से अण् प्रत्यय होगा, फिर उपगु+ङस्+अ इस समुदाय की 'कृत् तद्धित समासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा होगी और मध्यवर्त्ती सुप् का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से लुक् होकर समुदाय से नया सुप् प्रत्यय आयगा।

तद्धित-प्रत्यय

तद्धित-प्रकरण में प्रायः २०० प्रत्यय और ३०० अर्थ दिये गये हैं। इतने प्रत्यय अनुबन्ध छोड़कर हैं, अर्थात् जब ठक्, ठञ्, ठन् को एक इक प्रत्यय माना गया है। कृत् प्रत्ययों की तुलना में तद्धित-प्रत्ययों में यह अन्तर है कि कृत् प्रत्ययों में अपेक्षाकृत धातु सीमित हैं, प्रत्यय असीम हैं, उणादि में कल्पना से प्रत्यय बढ़ाये जा सकते हैं। परन्तु तद्धितों में प्रत्यय की संख्या ही प्रायः सीमित है, प्रातिपदिकों का अन्त नहीं है। विभिन्न धातुओं के साथ विभिन्न प्रत्ययों के योग से अनन्त प्रातिपदिक बन सकते हैं।

तद्धित-प्रत्यय भी कृत् प्रत्ययों की भाँति सभी कारकों में हो सकते हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनमें तद्धित-प्रत्यय और अर्थ भी आदर्श (नमूने के) के रूप में मिल जायेंगे—

(क) कर्त्ता

(१) तेन जीवति—वेतनेन जीवति, ठञ् वैतनिकः[१], आयुधेन जीवति, ठञ् तथा छ—आयुधिकः आयुधीयः।

(२) सहसा वर्त्तते—ठक्—साहसिकः, चौरः आदि।[२]

(३) तत्र भवः[३]—मथुरायां भवः, अण्—माथुरः, मिथिलायां भवः—मैथिलः।

(४) तद् गच्छति[४]—मथुरां गच्छति, अण्—माथुरः, पन्थानं गच्छति[५], ष्कन—पथिकः ण—पान्थः।

(५) तदधीते और तद्वेद[६]—व्याकरणम् अधीते वेद वा, अण्—वैयाकरणः, ठक्—न्याय से नैयायिकः।

(७) प्रभवति[७]—हिमवतः प्रभवति, अण्—हैमवती गङ्गा (स्त्रीलिङ्ग में ङीप्)।

(८) शब्दं[८] करोति—ठक्—शाब्दिकः।

(९) बदराणि उञ्छति, ठक्—बादरिकः,

(१०) समाजं रक्षति—ठक्—सामाजिकः,

(११) शकुनीन् हन्ति—ठ्क—शाकुनिकः।

---

१. ४।४।१२।
२. ४।४।२७।
३. ४।३।५३।
४. ४।३।८५।
५. ५।१।७५-७६।
६. ४।२।५९-६०।
७. ४।३।८३।
८. ४।४।३२, ४१।

(१२) धर्मं चरति—धार्मिकः ।

(१३) निकटे वसति—ठक्—नैकटिकः ।

(१४) नावा तरति—ठन्—नाविकः[१] ।

(१५) स्थण्डिले शेते—अण्—स्थाण्डिलो[२] भिक्षुः ।

(१६) दण्डम् अर्हति—यत्—दण्ड्यः[३] ।

(१७) चन्द्रायणं वर्त्तयति—ठक्—चान्द्रायणिकः आदि। इस प्रकार कर्त्ता में होनेवाले बहुत-से प्रत्यय तथा उनके अर्थ हैं।

(ख) कर्म :

(१८) तेन प्रोक्तम्—पाणिनिना प्रोक्तम्, छ—पाणिनीयं[४] व्याकरणम् ।

(१९) तेन रक्तम्—कषायेण रक्तम्—अण्—काषायं वस्त्रम्[५] ।

(२०) गृहपतिना संयुक्तः—ण्य—गार्हपत्यः[६] अग्निः ।

(२१) नावा तार्यम—नाव्यं[७] जलम् । (२२) तेन निर्वृत्तम्—कुशाम्बेन निर्वृत्ता, अण्—कौशाम्बी[८] नगरी (स्त्रीलिंग में ङीप्)। (२३) तत्रोद्धृतम्—शरावे उद्धृतः, अण्—शाराव[९] ओदनः । (२४) संस्कृतम्—दध्ना संस्कृतम्—ठक्—दाधिकम्[१०] । (२५) दृष्टं साम—वामदेवेन दृष्टम्, ड्य्—वामदेव्यम्[११] । (२६) वस्त्रेण परिवृतः रथः—अण्—वास्त्रो[१२] रथः । (२७) देयमृणेः—मासेन देयम् ऋणम्, ठञ्—मासिकम्[१३] । (२८) कृते ग्रन्थे—वररुचिना कृताः, अण्—वाररुचाः[१४] श्लोकाः । (२९) षष्टिरात्रेण पच्यन्ते—कन्—षष्टिकाः[१५] । (३०) तत्रविदितः—सर्वभूमौ विदितः, अण्—सार्वभौमः[१६] आदि।

(ग) अधिकरण :

(३१) तदस्यां प्रहरणम्—दण्डः प्रहरणम् अस्यां क्रीडायाम्, ण—दाण्डा[१७] क्रीडा ।

(३२) तदस्मिन् अस्ति—उदुम्बरोस्ति अस्मिन् देशे, अण्—औदुम्बरो[१८] देशः ।

(३३) तदस्तिअस्मिन[१९]—गुणाः सन्ति अस्मिन, इनि—गुणी; माया अस्ति अस्मिन् विन्—मायावी; बुद्धि से बुद्धिमान् (मतुप्), तुन्द से तुन्दिलः (इलच्) आदि। (३४) पुत्रेइव—पुत्रवत्[२०] (वति)। (३५) तस्मिन् काले[२१]—दा—तदा । (३६) तस्मिन् स्थाने—त्र—तत्र[२२] । (३७) पदमस्मिन् दृश्यम्—य—पद्याः[२३] कर्दमाः

(घ) सम्बन्ध में भी बहुत-से प्रत्यय होते हैं—(३८) सास्य[२४] देवताः—शिवः देवता अस्य, अण्—शैवः । (३९) तदस्य[२५] पण्यम्—अपूपाः पण्यमस्य, ठक्—आपूपिकः ।

---

१. ४।४।७ ।
२. ४।२।१५ ।
३. ५।१।६३ ।
४. ४।३।१०१ ।
५. ४।२।१ ।
६. ४।४।९० ।
७. ४।४।९१ ।
८. ४।२।६८ ।
९. ४।२।१४ ।
१०. ४।२।१८ ।
११. ४।२।९ ।
१२. ४।२।१० ।
१३. ४।३।४७ ।
१४. ४।३।११६ ।
१५. ५।१।९० ।
१६. ५।१।४३ ।
१७. ४।२।५७ ।
१८. ४।२।६७ ।
१९. ५।२।९४—१४० ।
२०. ५।१।११६ ।
२१. ५।३।१५ ।
२२. ५।३।१० ।
२३. ४।४।८७ ।
२४. ४।२।२४ ।
२५. ४।४।५१ ।

(४०) शीलम्[1]—छत्त्रं शीलमस्य, ण—छात्त्रः। (४१) प्रहरणम्[2]—धनुः प्रहरणमस्य, ठक्—धानुष्कः, (४२) अस्ति नास्ति[3] दिष्टं मतिः—अस्ति इति मतिः यस्य ठक्—आस्तिकः। (४३) पुत्रस्य इव[4]—वति—पुत्रवत्। (४४) तदस्य[5] परिमाणम्—अष्ट परिमाणम् अस्य, कन्—अष्टकम् पाणिनीयम्। (४५) तदस्ति[6] अस्य—प्रशस्ता चूडा अस्य, ल—चूडालः, प्रभूतानि लोमानि अस्य, श—लोमशः, उन्नता दन्ता अस्य—उरच्—दन्तुरः, प्रशस्या वागस्य, ग्मिन्—वाग्मी।

(ङ) सम्प्रदान

(४६) तदस्मै[7] दीयते, अग्रभोजनं दीयते अस्मै, ठक्—आग्रभोजनिकः। (४७) हितं[8] भक्षाः; अपूपभक्षणं हितमस्मै, ठक्—आपूपिकः।

(च) अपादान

(४८) कस्मात् स्थानात्; तसिल—कुतः[9]। (४९) पूर्वस्याः दिशः—अस्ताति—पुरस्तात्[10]; दक्षिणस्याः; अतसुच्—दक्षिणतः[11]। (५०) कृष्णात् प्रति, तसि—कृष्णतः[12] प्रति। (५१) ग्रामात् आगच्छति, तसि—ग्रामत आगच्छति। (५२) अल्पानि ददाति, शस्—अल्पशः ददाति।

(छ) करण

अल्पेन ददाति, शस्—अल्पशः ददाति।

(५३) तृतीया अर्थ में—वृत्तेन हीयते, तसि—वृत्ततो[13] हीयते आदि।

चूँकि सभी तद्धित प्रत्यय सुबन्त से ही होते हैं, इसलिए इस दृष्टि से भी इसके सात भेद हो सकते हैं। कोई प्रत्यय प्रथमान्त सुबन्त से होगा, कोई द्वितीयान्त से। सबके उदाहरण ऊपर ही मिल सकते हैं, फिर भी नीचे कुछ नये भी दिखाये जा रहे हैं—

(क) प्रथमान्त से—सोस्य निवासः (५४) मिथिला निवासः अस्य, अण्—मैथिलः[14]। (५५) पौषी पौर्णमासी अस्मिन् मासे, अण्—पौषो मासः[15], सास्य देवता—शुक्रः देवता अस्य, घन्—शुक्रियं हविः, अग्निः देवता अस्य, ढक्—आग्नेयः आदि।

(ख) द्वितीयान्त से—(५६) रथं वहति[16], यत्—रथ्यः। (५७) वशं गतः, यत्—वश्यः[17]। (५८) संशयम् आपन्नः[18], ठक्—सांशयिकः आदि।

(ग) तृतीयान्त से—(५९) तेन तुल्यं क्रिया चेद्, पुत्रेण तुल्यम्, वति—पुत्रवत्[19]। (६०) तेन निर्वृत्तम्, अह्ना निर्वृत्तम्, ठक्—आह्निकम्[20]। (६१) हस्तिना चरति, ठक्—हास्तिकः[21],

१. ४।४।६२।
२. ४।४।५७।
३. ४।४।६०।
४. ५।१।११६।
५. ५।१।५८।
६. ५।२।९४—१४०।
७. ४।४।६६।
८. ४।४।६५।
९. ५।३।७।
१०. ५।३।२७।
११. ५।३।२८।
१२. ५।४।४२—४७।
१३. ५।४।४७।
१४. ४।३।८९।
१५. ४।२।२१—३३।
१६. ४।४।७६।
१७. ४।४।८६।
१८. ५।१।७३।
१९. ५।१।११५।
२०. ५।१।७९।
२१. ४।४।८।

(६२—६५) तेन दीव्यति खनति[१] जयति जितम्, अक्ष, ठक्—आक्षिकः; तेन क्रीतम्, प्रस्थेन क्रीतम्, ठक्—प्रास्थिकम् आदि ।

(घ) चतुर्थ्यन्त से—(६६) सन्तापाय प्रभवति, ठक्—सान्तापिकः[२] । (६७) तस्मै हितम्[३], शङ्कवे हितम्, यत्—शङ्कव्यम् । (६८) तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ, अङ्गारेभ्य एतानि, छ—अङ्गारीयाणि काष्ठानि । (६९) अतिथये इदम्, ढञ्—आतिथ्यम्[४] आदि ।

(ङ) पञ्चम्यन्त से—(७०) हिमवतः अदूरभवम्[५] नगरम्, अण्—हैमवतम्, (७१) तत आगतः[६], मथुराया आगतः, अण—माथुरः, (७२) तन्त्रात्[७] अचिरापहृतः, क—तन्त्रकः पटः, (७३) कस्मात् स्थानात् इति, तः[८]—कुतः आदि ।

(च) षष्ठ्यन्त से—(७४) तस्य अपत्यम्, दितेः अपत्यम्, ण्य—दैत्यः[९], कुन्त्याः अपत्यम्, ढक्—कौन्तेयः[१०], गर्गस्य अपत्यम्, यञ्—गार्ग्यः[११], नडस्य अपत्यम्, आयन—नाडायनः[१२], भ्रातुः अपत्यम्, व्य—भ्रातृव्यः[१३], कुलस्य अपत्यम्, ख—कुलीनः[१४] आदि । (७५) तस्य इदम्—भारतस्य अयम्, छ—भारतीयः[१५] । (७६) तस्य समूहः, वातानां समूहः, य—वात्या[१६] । (७६) तस्य विकारः, अश्मनः विकारः, मयट्—अश्ममयम्[१७] । (७७) तस्यभावः—मृदोः भावः, त्व, तल्, अण्, इमन्—मृदुत्वम्, मृदुता, मार्दवम्, म्रदिमा[१८]; सख्युः भावः—ष्यञ्—सख्यम् आदि ।

(छ) सप्तम्यन्त से—(७८) तत्र कुशलः, पथि कुशलः, वुन्—पथकः[१९] । (७९) कर्मणि घटते, अठच्—कर्मठः[२०] । (८०) समानोदरे शयितः, यत्—सोदर्यः[२१] । (८१) तत्र साधुः, कर्मणि साधुः, यत्—कर्मण्यः, सभायां साधुः, य—सभ्यः[२२] आदि ।

तद्धित-प्रत्यय भी तीनों काल में होते हैं : वर्त्तमान में; जैसे—धर्मं चरति—धार्मिकः, भविष्यत् में, जैसे—(८२) विषेण वध्यः—विष्यः[२३] । (८३) मासेन सुकरः—मासिकः[२४]; भूत में, जैसे—(८४) धर्मात् अनपेतम्—धर्म्यम्[२५] । (८५) शतेन क्रीतः[२६]—शत्यः, शतिकः आदि ।

तद्धित में बहुत-से प्रत्यय स्वार्थिक हैं, उनका कोई अर्थ नहीं । तिङन्त से तम करने पर उसमें यों ही आम्[२७] प्रत्यय नित्य जुट जाता है, उसका कोई अर्थ नहीं, पचतितमाम् । कृत् प्रत्यय त्रि करने पर म[२८] यों ही नित्य जुटता है—कृत्रिमम्, दात्रिमम् । इनुण्[२९]प्रत्ययान्त कृदन्त से भी यों ही अण् जुटता है, संराविन् से सांराविणम् । ये तीनों प्रत्यय अर्थहीन और

---

१. ४।४।२ ।
२. ५।१।१०१ ।
३. ५।१।५ ।
४. ५।४।२६ ।
५. ४।२।७० ।
६. ४।३।७४ ।
७. ५।२।७० ।
८. ५।३।७ ।
९. ४।१।८५ ।
१०. ४।१।१२१ ।
११. ४।१।१०५ ।
१२. ४।१।९९ ।
१३. ४।१।१४४ ।
१४. ४।१।१३९ ।
१५. ४।२।११४ ।
१६. ४।३।४९ ।
१७. ४।३।१४३ ।
१८. ५।१।११९—१३६ ।
१९. ५।२।६३ ।
२०. ५।२।३५ ।
२१. ४।४। १०९ ।
२२. ४।४।९८ ।
२३. ४।४।९१ ।
२४. ५।१।९३ ।
२५. ४।४।९२ ।
२६. ५।१।२१ ।
२७. ५।४।११ ।
२८. ४।४।२० ।
२९. ५।४।१५ ।

नित्य भावी हैं। और भी बहुत-से स्वार्थिक प्रत्यय हैं; जैसे[१], तल्—देव एव देवता; ठक्—विनय एव वैनयिकः; अण्—ओषधिरेव औषधम्, प्रज्ञ एव प्राज्ञः; स और स्न—मृत् एव मृत्सा, मृत्स्ना; शस्—बहु इति बहुशः आदि। तद्धित में ही समासान्त प्रत्यय हैं। चारों समासों से समासान्त प्रत्यय विहित हैं; जैसे—अव्ययीभाव से टच्—उपशरदम्, उपनदम् प्रत्यक्षम् आदि। तत्पुरुष से टच्, जैसे—देवराजः; अच्, जैसे—पूर्वरात्रः आदि। बहुव्रीहि से क जैसे अनर्थकः, इच् जैसे केशाकेशि आदि। द्वन्द्व से टच्, जैसे छत्रोपानह आदि। ये सभी स्वार्थिक हैं।

तद्धित-प्रत्ययों में भी सब प्रकार के ध्वनि-परिवर्त्तन पाये जाते हैं—

(१) **वर्णादेश**—जैसे, गुण[२] और वृद्धि[३]—लघु से लाघव, रघु से राघव आदि। ऋ का र[४]—पृथु से प्रथिमा; अ के स्थान में इ[५]—कस्येदं कायं हविः, संप्रसारण—विद्वस् से वैदुष्य आदि।

(२) **वर्णलोप**[६]—अ का—दशरथ से दाशरथि, आ का—पृथा से पार्थ; इ का—अवन्ति से आवन्त्य, ई का—कुन्ती से कौन्तेय; उ का—गुरु से गरिष्ठ; य् का—सूर्य से सौर, टि का—राजन् से राज्य, ति का—विंशति से विंश, य का हिरण्य से हिरण्मय विन्, मतुप्, तृच् प्रत्ययों का—जैसे, स्रग्वी से स्रजिष्ठ, त्वग्वान् से त्वगिष्ठ, दोग्धृ से दोहीयसी आदि।

(३) **वर्णागम**—श्वस् से इक प्रत्यय करने पर त्[७] का शौवस्तिक, बहु से इष्ठ, ईयस् करने पर य्[८] का—भूयिष्ठ, भूयस् आदि।

(४) **प्रकृति का ही आदेश**[९]:—जैसे अन्तिक से इष्ठ करने पर—नेद; बाढ से करने पर—साध, नेदिष्ठ, साधिष्ठ; प्रशस्य का श्र और ज्य तथा वृद्ध का भी ज्य—श्रेष्ठ, ज्येष्ठ आदि। वस्तुतः इन आदेशों की भी स्थिति कृत्-प्रकरण के आदेशों की ही भाँति है। यह समझना ठीक नहीं कि प्रशस्य शब्द से इष्ठ या ईयस् करने पर प्रशस्य की जगह में श्र का आदेश हो गया। दोनों पृथक्-पृथक् शब्द हैं, दोनों के प्रयोगस्थल नियत हैं। कहीं-कहीं यह ऐच्छिक भी है, जैसे युवन् और अल्प से ईयस् या इष्ठ करने पर यवीयस् यविष्ठ भी होते हैं और कनीयस्, कनिष्ठ भी; अल्पीयस्, अल्पिष्ठ भी, तथा कनीयस्, कनिष्ठ भी। वस्तुतः कन् स्वतन्त्र शब्द है, कन्+अङ्गुलिका—कनगुरिया शब्द क्षेत्रज बोलियों में खूब चलता है। पाणिनि ने तो कन्या से अण् प्रत्यय करने पर ही कन्या के स्थान में कनीन आदेश बताया है-कानीनो व्यासः कर्णश्च, किन्तु 'कनीना' का पृथक् स्वतन्त्र प्रयोग भी चलता है, यह निरुक्त-प्रकरण में दिखाया जा चुका है। अतः ऐसे सभी आदेशों का अर्थ दोनों शब्दों की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता रहते हुए प्रयोगस्थल का थोड़ा निर्धारण-मात्र समझना चाहिए। दन्त का दतृ[१०] आदेश, धर्म से अनिच् प्रत्यय, त्रपु जतु से ष[११] तथा धनुष् से अनङ् आदि आगम अवैज्ञानिक हैं। वास्तव में दत्, धर्मन्, त्रपुष्, जनुष् आदि शब्द स्वतन्त्र और पृथक् हैं। अँगरेजी

१. ५।४।२७—४२।
२. ६।४।१४६।
३. ७।२।११७—११८।
४. ६।४।१६१।
५. ४।२।२५।
६. ६।४।१४८—७५।
७. ४।३।१५।
८. ६।४।१५९।
९. ५।३।६०—६४।
१०. ५।४।१२२, २४, २५, २९, ३१, ३२, ३४, ४१ आदि।
११. ४।३।१३८।

में भी संस्कृत दत् से टुथ, टीथ और दन्त से डेण्टल (दन्त्य) बना है। सं० लप्—लिप् से लेबियल (लप्प), होता है, परन्तु सं० मुख—माउथ से 'माउथल' नहीं, 'ओरल' हो जाता है।

पाणिनीय व्याकरण में प्रत्ययों की इतनी बड़ी संख्या के कई कारण हैं। विभिन्न अनुबन्ध लगाकर विभिन्न ध्वनि-विकारों का दिशा-नर्देश किया गया है; जैसे—

(१) क् लगाने से कृत् में—(क) गुण[१] का निषेध, जैसे क्यप्—स्तु से स्तुत्य, तुक्[२]—स्तु से स्तुत्यः ; (ख) आ[३]—लोप, कि—निधा से निधि; (ग) उपधालोप[४], टक्—कपाटहन् से कपाटघ्न, (घ) (तद्धित में) वृद्धि[५], ठक्—दधि से दाधिकम्, (ङ) स्वर[६]—दाधिक में अन्तोदात्तता आदि।

(२) ख् अनुबन्ध से—म् का आगम[७]—वश+वद=वशंवद। वस्तुतः इन स्थलों में द्वितीया विभक्ति का अलुक् ही वास्तविक प्रक्रिया लगती है।

(३) ञ् अनुबन्ध लगाने से कृत् और तद्धित दोनों[८] स्थलों में वृद्धि, घञ् पाकः, ष्यञ्—शठ से शाठ्यम् आदि। स्वर भी—दोनों जगह आद्युदात्तता।[९]

(४) ण् लगाने से भी वृद्धि—उपगु से औपगवः।

(५) न् तथा त् लगाने से स्वर, जैसे शुक्र से घन्—शुक्रिय में आद्युदात्तता[१०], गो यत्—गव्य में स्वरितान्तता[११] आदि।

कभी अनुबन्ध लगाकर नये प्रत्यय भी किये जाते हैं; जैसे—ट्, चर् से ट प्रत्यय करने पर स्त्रीलिंग में ङीप्[१२] होगा, कुरुचरी, अच् करने पर नहीं होगा, अंशहरा बालिका आदि।

यदि इन अनुबन्धों को हटा दिया जाय तो नग्न (वास्तविक) प्रत्ययों की संख्या बहुत कम हो जायगी।

कुछ प्रत्ययाभास

साथ ही बहुत-से प्रत्यय ऐसे हैं, जो किसी मूल शब्द के, या किसी दूसरे प्रत्यय के ही विकृत रूप हैं। नीचे कुछ उदाहरण हैं—

कृत् प्रत्ययाभास—जैसे वस्तुत: एक मूल प्रत्यय है तु, जिससे निमित्तवाचक क्रिया (Infinitive mood) बनती है। अँगरेजी में इसी का रूप है 'टु' (to go)। दा धातु से तु प्रत्यय होगा और इच्छति, गच्छति का कर्म होने से इसमें द्वितीया विभक्ति हो जायगी; जैसे—दातुम् इच्छति, या गच्छति (he wants or goes to give)। यहाँ तुम् प्रत्यय नहीं, दातु का द्वितीयान्त रूप है दातुम्। अँगरेजी में भी 'ही वाण्ट्स टु गो' में 'टु गो' को वाण्ट्स का कर्म (औबजेक्ट) माना जाता है। चूँकि द्वितीया विभक्ति क्रियाविशेषण में भी होती है, जैसे शोभनं पचति, अतः यह अकर्मक धातु के योग में भी होती है, जैसे दातुं शक्नोति, अस्ति

१. १।१।५।
२. ६।१।७१।
३. ६।४।६४।
४. ६।४।९८।
५. ७।२।११८।
६. ६।१।१६५।
७. ६।३।६७।
८. ७।२।११५—१७।
९. ६।१।१९७।
१०. वही।
११. ६।१।१८५।
१२. ४।१।१५।

आदि[1]। इसीलिए वक्तुं कामः अथवा मनः यस्य इस प्रयोग में बहुव्रीहि समास से विभक्ति-लोप होकर वक्तुकामः, वक्तुमनाः आदि होता है। दग्धुकामम्[2], वक्तुकामम्[3] आदि ऐसे ही बने हैं। यह तु प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग है, अतः इसकी तृतीया का एकवचन धेनु से धेन्वा की भाँति पठितु से पठित्वा होगा। हाँ, स्वराघात के परिवर्त्तन से कुछ ध्वनि-विकार भी होगा, जैसे श्रोतु—श्रुत्वा आदि। स्वराघात-परिवर्त्तन दिखाने के लिए ही तुमुन् में न है, क्त्वा में नहीं। अतः क्त्वा पृथक् प्रत्यय नहीं। इसी प्रकार तु की चतुर्थी में (धेन्वे, धेनवे की तरह) तवै तथा तवे होंगे, जो वेदों में खूब प्रयुक्त हैं, षष्ठी तोः होगा। पाणिनि ने इन्हें भी तवै, तवे, तथा तोसुन् कहकर अलग प्रत्यय[4] माना है। तव्य भी तु का ही रूप है, पठितवे हितम्—पठितव्यम्, ठीक जैसे शङ्कवे हितम्—शङ्कव्यम् अर्थात् उवर्णान्त पठितु शब्द से, जो कि भाववाचक तथा पठन का समानार्थक है, हित अर्थ में यत्[5] प्रत्यय होकर पठितव्य बनता है। इसी भाँति अनीय पृथक् प्रत्यय नहीं, अन प्रत्ययान्त से हित, अर्ह आदि अर्थों में छ (ईय) प्रत्यय से सिद्ध रूप है, पठन से पठनाय हितम् या पठनमर्हति आदि अर्थों में ईय होकर पठनीय बनेगा, जैसे वत्स से वत्सीय[6] आदि।

णमुल्[7] भी मौलिक प्रत्यय नहीं, स्मारं स्मारं वस्तुतः घञ् प्रत्ययान्त का क्रिया-विशेषण-रूप है, ठीक जैसे तु प्रत्यय से तुम् वैसे ही अ (घञ्) प्रत्यय से अम्। हाँ, ध्वनि-विकार में अवश्य अन्तर पड़ेगा; क्योंकि स्वराघात का दोनों में अन्तर पड़ जाता है। स्वरा-घात-परिवर्त्तन दिखाने के लिए ही णमुल् में ल् है, घञ् में ञ्। 'काम्य' तो स्वतन्त्र शब्द है, 'काम्या' का स्वतन्त्र प्रयोग प्राप्त है, यह प्रत्यय नहीं 'न काम्यया'[8]। 'पृष्टो ब्राह्मण-काम्यया'[9] में ब्राह्मणकाम्या कर्त्तृ अर्थ में ब्राह्मणों को चाहना, 'ब्राह्मणों की कामना' है। गीता में दूसरे के लिए चाहने में भी काम्य का प्रयोग मिलता है, जबकि पाणिनि ने केवल अपने लिए चाहने में ही काम्य का विधान किया है "यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया" १०।१ लुकन् का विश्लेषण पहले हो चुका है, यह रु प्रत्यय+क प्रत्यय तथा रेफ का आदेश-मात्र है; भीरुः—भीरुकः—भीलुकः। जैसे, युवा—युवकः, बालः—बालकः। तवत् की कल्पना भी व्यर्थ है। यह त प्रत्ययान्त का मतुबन्त रूप है—गत+मत्=गतवत्=गतवाला, पठितवत्=पठितवाला जैसे गतिमत्=गतिवाला।

तद्धित प्रत्ययाभास :

तद्धित में तो ऐसे यौगिक प्रत्यय और भी भरे हुए हैं। कृत्व[10] सुच् कोई प्रत्यय नहीं, कृ धातु से त्वस् प्रत्यय कर बनाया गया स्वतन्त्र शब्द है। इसके साथ समास कर ही तावत्कृत्वः आदि प्रयोग बनते हैं। चतुरध्यायी ने ऐसे स्थल में समास ही दिखाया है, यह पहले दिखाया जा चुका है। विशाल शब्द न तो विश् धातु से आल प्रत्यय, न वि उपसर्ग से शाल प्रत्यय से बनता है। वह तो वि उपसर्ग से शल् के घञन्त रूप शाल के योग से बना है, यह पीछे

१. ३।४।६५।
२. अरण्य काण्ड ६५।२।
३. अश्वमेधपर्व १०।४।
४. ३।४।९।१६।
५. ५।१।२।
६. ५।१।१,५।
७. ३।४।१२ तथा २६।६४।
८. अनुशासनपर्व १।३६।
९. अश्वमेध ९०।२३।
१०. ५।४।१७।

दिखाया जा चुका है। दघ्न को तो निरुक्तकार ने ही स्वतन्त्र शब्द माना है, इसका भी पीछे उल्लेख हो चुका है। पतंजलि ने स्वयं द्वयस, मात्र, तिथ आदि का पृथक् प्रयोग कर इनको स्वतन्त्र शब्द माना है; जैसे जानुमात्र[1]। हिन्दी में अब 'मात्र' का प्रयोग 'केवल' अर्थ में पृथक् हो रहा है। यह 'मा' धातु से 'त्र' प्रत्यय कर बनेगा। मात्रा का स्वतन्त्र प्रयोग सर्वविदित है। इससे भी बहुव्रीहि कर उपसर्ग-ह्रस्वत्व हो सकता है। इसी भाँति 'त्रा' भी प्रत्यय नहीं, 'त्रा' (त्रैङ् पालने) धातु से निष्पन्न स्वतन्त्र शब्द है, गवां समूहः गोत्रा[2] का अर्थ है गाः त्रायते इति गोत्रा, और देवाधीनं करोति = देवत्रा[3]। करोति का अर्थ है देवैः त्रातव्यः (जैसे श्रद्धा आदि)। देवसात् करोति में भी सात्, सद् धातु से निष्पन्न रूप है, देवान् सीदति गच्छति इति देवसात्[4] (जैसे अंशभाक्)। विधल्[5] का मूल है वि उपसर्गपूर्वक धा धातु से क (जैसे प्रदः, विज्ञः आदि), विधा का पृथक् प्रयोग खूब होता है, पाणिनि ने भी प्रयोग किया है (५।३।४२)। चाहें तो विधा के साथ बहुव्रीहि कर उपसर्जन-ह्रस्वत्व से भी विध बना सकते हैं—भौरिकि विधम् आदि। विधल् का सहयोगी भक्तल्[6] तो झूठ-मूठ 'ल्' का चोगा पहनकर प्रत्ययों की पाँति में जा बैठा है, इससे भला इसकी जाति छिपेगी ? यह तो स्पष्ट ही भज् + क्त = भक्त है, ऐषुकारिभक्तम् आदि। जातीय देशीय भी स्पष्ट ही जाति तथा देश से छ प्रत्यय कर बनाये हुए रूप हैं। पटुजातीय[7] का अर्थ है–पटु की जाति का ही है, भले ही पूरा पटु न हो। पाणिनि ने स्वयं ब्राह्मण-जाति शब्द से ब्राह्मण-जातीय बनाया है।[8] पटुदेशीय[9] का भी यही अभिप्राय है, पटु के क्षेत्र का ही है भले ही पूरा पटु न हो। कहते हैं न, कमजोर भी है तो पंजाबी है न ? देश्य[10] में 'देश' शब्द से य प्रत्यय है, अर्थ यही है। कल्पप् क्लृप् धातु से अच् प्रत्यय कर बना कल्प शब्द है, अर्थात् कल्पित रूप, थोड़ा कम रूप। पटुकल्पः[11] अर्थात् इसमें पटुता की कल्पना की जा सकती है। रूप्य तो स्वयं पाणिनि ने ही प्रशंसा अर्थ में यप् प्रत्यय कर बनाया[12] है। रूप्य का अर्थ है सुन्दर रूपवाला। आजकल यह शब्द चाँदी (रूपा) तथा सिक्का (रुपया) अर्थ में रूढ हो चला है। यही समरूप्य[13] तथा देवदत्तरूप्य आदि में समस्त होकर आ रहा है। प्रशस्तः पटुः पटुरूप[14] का रूप तो स्पष्ट ही स्वतन्त्र रूप शब्द है, अर्थ है, पटु का साक्षात् मूर्त्त रूप है यह अथवा पटु है रूप जिसका। और पाश[15] भी स्वतन्त्र शब्द ही है। पुत्रपाश का अर्थ है बुरा पुत्र, पुत्र का जाल-मात्र। दक्षिणतः[16] में तसि और दक्षिणात्[17] में पंचमी एकवचन ही है, इनके लिए अलग अतसुच् और आति प्रत्ययों की कल्पना भी व्यर्थ है। चर भी चर् धातु से निष्पन्न स्वतन्त्र शब्द है, आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यचरः[18] का अर्थ है आढ्य की तरह ही चलनेवाला, धनी की भाँति ही आचार-

---

१. ५।२।३७।
२. ४।२।५१।
३. ५।४।५५।
४. ५।४।५२ से ५५।
५. ४।२।५४।
६. वही।
७. ५।३।६९।
८. ५।४।९।
९. ५।३।६७।
१०. वही।
११. वही।
१२. ५।२।१२०।
१३. ४।३।८१।
१४. ५।३।६६।
१५. ५।३।४७।
१६. ५।३।२८।
१७. ५।३।३४।
१८. ५।३।५३।

विचार रखनेवाला। रस्सी जल गई पर ऐंठ न छुटी। तिकन्[1] वस्तुतः ति + क दो प्रत्ययों का योग है, मृद् धातु से क्तिन् कर मृत्ति (मिट्टी) बना, फिर इससे स्वार्थ में क प्रत्यय और टाप् कर मृत्तिका। यही हालत त्यकन्[2] की भी है, यह त्य + क है। उप तथा अधि उपसर्गों से नि + त्य = नित्य की भाँति अव्यय-लक्षण त्यप् प्रत्यय कर त्यबन्त से स्वार्थ में क और स्त्रीत्व-लक्षण टाप् कर उपत्यका, अधित्यका तैयार हुए। तन[3] (ट्यु + तुट् का आगम) 'तन्' से 'अच्' कर और 'धा[4]' 'धा' धातु से 'अङ्' कर तैयार किये गये रूप हैं। सायंतन का अर्थ है शाम में फैला हुआ, चिरन्तन = दूर तक (काल में) फैला हुआ, अद्यतन = आजतक फैला हुआ आदि। इसी भाँति द्विधा अर्थात् दो प्रकार से धारित है द्विधा का ही स्वार्थिक अण् से द्वैधम् हुआ है। 'वय' भी वी धातु से अच् कर निष्पादित रूप[5] है। कट्य[6] सम्भवतः कृत्य का विकृत रूप है। इसी प्रकार विकृत, उत्कृत आदि का प्राकृत रूप है विकट[7], उत्कट; कट प्रत्यय की कल्पना व्यर्थ है। बहुच्[8] की कहानी विलक्षण है; ईषदूनः पटुः बहुपटुः का अर्थ है कम चालाक। यहाँ वस्तुतः बहु शब्द के साथ पटु का कर्मधारय है, और बहु का विपरीत लक्षणा से अर्थ है कम, जैसे 'उपकृतं बहु०'। इस बहु शब्द ने 'च्' का अनुबन्ध पहनकर प्रत्ययत्व पाने का प्रयास किया, पर इसे प्रकृति से पर में स्थान नहीं ही मिला, कर्मधारय की भाँति यह विशेषण और पूर्वप्रयुक्त बना ही रहा। लगता है, जैसे यह प्रत्यय बड़ा शक्तिशाली है, और प्रत्ययः परश्च के सामान्य सिद्धान्त का उल्लंघन कर एक असामान्य स्थान पर बैठा है, पर इसका राज यह है कि यह प्रत्यय है ही नहीं। तद्धितों में ऐसे और भी यौगिक प्रत्यय कई मिल जायेंगे, खोज होनी चाहिए। तुलनार्थक तर, तम भी स्वतन्त्र शब्द लगते हैं, तभी तारतम्य प्रयोग चलता है।[9] ये क्रमशः तॄ और तम् से अच् करके बनाये गये हैं।

कात्यायन ने पाणिनि से भी आगे बढ़कर ऐसे प्रत्ययों के ढेर लगा दिये हैं, जो वस्तुतः स्वतन्त्र शब्द हैं। खण्ड, स्कन्ध, काण्ड तो स्पष्ट ही प्रत्यय नहीं, स्वतन्त्र शब्द हैं। धेय, धा धातु से यत् प्रत्यय कर बनता है, अर्थ है धारण करने योग्य, नामधेय—धारण योग्य नाम। गो उपपद स्था धातु से क प्रत्यय कर गोष्ठ बना है। गोष्ठ का अर्थ है जहाँ गौएँ रहें। पर जहाँ गौएँ रहती थीं, वहाँ और पशु भी रहते थे, अतः लक्षणा से गोष्ठ का अर्थ हुआ—किसी एक जाति का झुण्ड, फिर तो अविगोष्ठ, अजगोष्ठ आदि भी होने लगे—मानवों की भी गोष्ठी होती है। बस, कात्यायन ने गोष्ठच् प्रत्यय का आविष्कार कर दिया! इसी भाँति दिन से दिनण्, पट से पटच्, तैल से तैलच् प्रत्यय बना लिये! गोयुग षड्गव का अर्थ क्रमशः कुशल और प्रवीण आदि की भाँति अर्थ-विस्तार से दो और छह का समूह ही रह गया, फिर क्या था, ये भी प्रत्यय बना लिये गये गोयुगच्, षड्गवच्! अश्वगोयुगम्, अश्वषड्गवम् आदि। इक्षुशाक से इन प्रत्यय कर लोगों ने इक्षुशाकिन प्रयोग किया होगा, फिर किसी ने तर्क किया,

१. ५।४।३९। ४. ५।३।४२,४३। ६. ४।२।५१। ८. ५।३।६८।
२. ५।२।३४। ५. ४।३।१६२। ७. ५।२।२९। ९. दशरूपक।
३. ४।३।२३,२४।

इक्षु तो शाक नहीं, निदान यह तय हुआ कि शाकिन को ही क्यों न प्रत्यय मान लिया जाय (ये सभी वार्तिक सूत्र ५।२।२९ पर पठित हैं) ?

संस्कृत में निभ, संकाश, नीकाश आदि का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं चलता; सम्भव है, लोग इन्हें भी तुल्यार्थक वति की भाँति प्रत्यय ही मान लें।

समास की भाँति तद्धित में भी अलुक् होता है ममता, तावकीन, यौष्माकीण, आमुष्मिक, आमुष्यायण आदि अलुक् तद्धित के ही उदाहरण हैं। कामता प्रसाद गुरु ने अपह (शोकापह), अर्ह (पूजार्ह), आवह (सुखावह), आढ्य (धनाढ्य), कर (दिनकर), कार (स्वर्णकार), कालीन (समकालीन), ग (खग), गम (हृदयंगम), घ्न (कृतघ्न), चर (जलचर), ज (जलज), द (सुखद), शाली (भाग्यशाली) आदि को प्रत्ययवत् ही माना है। कार (काश्तकार-कृषिकार), गार (मददगार), गर (सौदागर), दान (इत्रदान) को तो पूरा फारसी प्रत्यय ही कहा है। ये बिचारे कृ+अण्>कार, कृ+ट>कर, धा+अन=धान के ही तद्भव-रूप हैं (बागीचा तो वाटिका—बाकिटा—बागिचा, इस प्रकार विपर्यय और मूर्धन्य वर्ण की तालव्यता से बना है : जैसे वोढ़—बोझ)। और 'चमस' का तो 'स्' के 'चत्व' से चमचा बनता है; जैसे लालसा—लालच, इनमें चा प्रत्यय नहीं।[1] उपर्युक्त संस्कृत प्रत्यय भी इसी भाँति किसान से मजदूर की तरह स्वतन्त्र शब्द से प्रत्यय-मात्र बन गये।

अँगरेजी में भी धातु-प्रत्यय तथा प्रातिपदिक-प्रत्यय संस्कृत की तरह मिलते हैं। धातु से तृच्>तर् होकर er हो गया है, give से giver, दा से दातर की तरह ही है। पठ्+शतृ >पठन्त् की भाँति ही read+ing—reading है। शी से शयित की तरह sleep से slept है। भिद् से भिन्न की भाँति take से taken और चि से अचैषीत् की तरह swim से swam। इसी भाँति तद्धित-प्रत्यय भी मिलते हैं। त्वम् का विकार ही dom लगता है, राजत्वम्—kingdom; तुलनार्थक तर er और इष्ठ est हो गया है—hot, hotter, hottest। जैसे श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर का प्रयोग होता है वैसे ही less से lesser भी चलता है।

१. पृष्ठ ४६९, अध्याय ४ (हिन्दी व्याकरण, का० प्र० गुरु)।

षष्ठ अध्याय

पद-विज्ञान

ध्वनि-विज्ञान तथा निरुक्ति-विज्ञान पद-विज्ञान के सोपान-मात्र :

पीछे कह आये हैं कि ध्वनि-विज्ञान तथा निरुक्ति-विज्ञान पर पाणिनि ने अधिक बल नहीं दिया है; क्योंकि इन दोनों के लिए अलग-अलग वेदाङ्ग बने थे—ध्वनि-विश्लेषण के लिए शिक्षा तथा शब्द-विश्लेषण के लिए निरुक्त। ये दोनों अंग पदविज्ञान-रूप व्याकरण के पोषक माने गये थे। वैसे, अंगों से सामंजस्य-स्थापन के लिए अष्टाध्यायी में वर्णसमाम्नाय का वैज्ञानिक क्रम से पाठ कर सन्धिस्थल भी दिखा दिये गये हैं; क्योंकि सन्धि वाक्यों और पदों को भी जोड़ती है; जैसे युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो—युयोधि + अस्मत् + जुहुराणम् + एनः आदि। साथ ही कृत् तद्धित आदि का दिग्दर्शन कराकर निर्वचनशास्त्र का भी समावेश कर लिया गया है। किन्तु, सभी शब्दों का शब्दकोश की भाँति पाठ कर उनका निर्वचन देने का प्रयास नहीं किया गया। एक तो यह क्षेत्र ही व्याकरण का नहीं; दूसरे, प्रतिपदोक्त शब्द-पाठ संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा के लिए सुकर भी नहीं। निरुक्तों ने सारी शक्ति प्रकृति के अनुसन्धान में लगा दी, पर प्रत्ययों तथा उनके अर्थों की उपेक्षा कर दी। अतः पाणिनि ने धातुओं के साथ कृत् प्रत्ययों और उनके अर्थों तथा प्रातिपदिकों के साथ तद्धित प्रत्ययों एवं उनके अर्थों का भी कुछ विस्तार से वर्णन कर दिया। परन्तु इतना करके भी पाणिनि ने केवल यही प्रमाणित किया कि प्रकृति के साथ प्रत्ययों का भी अध्ययन निरुक्ति-विज्ञान के लिए अनिवार्य है। शब्दरूप सन्तान के लिए प्रकृति माता है और प्रत्यय पिता, दोनों का समान महत्त्व है।[1] शब्द या पद में निर्णायक तत्त्व प्रत्यय ही है। प्रत्यय से ही निश्चय होता है कि इस शब्द में स्वर क्या होगा, लिंग क्या रहेगा, रूप-रचना कैसे होगी आदि। कृत् तथा तद्धित प्रत्ययों का इतने विस्तार से वर्णन करके भी पणिनि ने केवल मार्ग-प्रदर्शन ही किया है। यह संकेत उन्होंने स्पष्ट दे दिया कि न तो धातुओं और न प्रातिपदिकों का और न प्रत्ययों और उनके अर्थों का इस व्याकरणशास्त्र में अशेषता से वर्णन हो सकता है। 'उणादयो बहुलम्' से कृत् प्रत्ययों की, 'ताभ्याम् अन्यत्रोणादयः' से उनके अर्थों की तथा भ्वादि, चुरादि आदि गणों को आकृति-गण मान और 'भूवादयो धातवः' से 'भू के आकारवाले एवं वा की तरह क्रियावाचक शब्द धातु होते हैं'—यह कहकर धातुओं की अनन्तता का संकेत किया; साथ ही कृदन्त, तद्धितान्त और समास ही नहीं, और भी 'जो धातु और प्रत्यय तथा प्रत्ययान्त से भिन्न अर्थवान् शब्द-स्वरूप हैं, सब प्रातिपदिक हैं,

---

१. 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न च केवलः प्रत्ययः'—महाभाष्यः—"सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ—१।२।६४।

यह कहकर प्रातिपदिकों की, और 'तस्येदम्', 'शेषे'[1] आदि द्वारा तद्धितार्थों की भी अनन्तता को स्वीकार किया है। गणपाठ के भी अधिक गण आकृतिगण ही हैं।

पाणिनि के बाद कात्यायन ने भी कृत् तथा तद्धित दोनों क्षेत्रों में बहुत-से नये अर्थों में नये प्रत्ययों को बताकर पाणिनि के संकेत की पुष्टि कर दी है।

पद के दो विभाग :

इसलिए पाणिनि ने अपना मुख्य लक्ष्य रखा है पदों का वर्णन। बल्कि व्याकरण का मुख्य प्रतिपाद्य पद-व्याख्यान ही है; न्यायभास्कर ने कहा है "समयज्ञानार्थं चेदं पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणं, वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थलक्षणम्"; क्योंकि ये पद ही वस्तुतः प्रयोग योग्य शब्द हैं। अपद का वाक्य में प्रयोग नहीं होता। बल्कि पद अकेला भी रहकर पूरे वाक्य का आक्षेप कर लेता है; जैसे 'पठ' यह आज्ञावाक्य हो गया, 'पठामि' यह उत्तरवाक्य; 'कुतः' यह प्रश्नवाक्य हो गया और 'ग्रामात्' यह उत्तरवाक्य। इसीलिए पाणिनि ने रचना की दृष्टि से शब्दों के ये ही दो विभाग किये हैं। यदि तैयार वाक्य-प्रयुक्त शब्दों का वर्गीकरण किया जाय तो दो ही प्रकार के शब्द होंगे—सुबन्त और तिङन्त। तिङन्त क्रियावाचक शब्द हैं और सुबन्त संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा अव्यय। तुमुण्णमुलौ[2] क्रियायां क्रियार्थायाम्, संज्ञायाम्[3], सर्वादीनि सर्वनामानि[4], विशेषणं विशेष्येण[5] बहुलम्, अव्ययादाप्सुपः[6] आदि सूत्रों में उल्लेख कर उन्होंने अर्थ की दृष्टि से किये गये शब्द के इन सब भेदों को भी मान्यता दी है, परन्तु रचना की दृष्टि से उनका यह समस्त शब्द-भाण्डार का केवल दो श्रेणियों, सुबन्त और तिङन्त में, वर्गीकरण[7] प्रशंसनीय है। अव्यय भी सभी सुबन्त ही हैं, उनमें सुप् का लुक् हो गया है। अयं पाटलिपुत्रं गन्ता, या त्वया गीता पठनीया में गन्ता और पठनीया को क्या कहेंगे—क्रिया या विशेषण? किन्तु, दोनों सुबन्त हैं, यह स्पष्ट है। मूल शब्दों के भी पाणिनि ने दो विभाग कर दिये हैं—धातु और प्रातिपदिक।[8] अव्यय भी प्रातिपदिक ही हैं, अव्युत्पन्न प्रातिपदिक। शब्दों का यह विभाग कितना वैज्ञानिक है! आज यही विभाग सभी भाषावैज्ञानिकों का अभिमत हो रहा है। अतः अगले पृष्ठों में दोनों प्रकार के पदों की रचना के कारणभूत प्रत्ययों सुप् और तिङ् का विवेचन किया जायगा। इनका विवेचन इतना व्यापक है कि अब इनसे भिन्न एक भी सुप् या तिङ् प्रत्यय की कल्पना कोई नहीं कर सकता। इनका कोई भी विषय पाणिनि की क्रान्तदृष्टि से नहीं छूटा है। यही पाणिनि की पद-विज्ञान में पूर्णता है। इनका आकृतिगण की भाँति संकेतमात्र नहीं, व्यापकतम सम्भव विश्लेषण है।

किसी भी लम्बे-से-लम्बे वाक्य में जितने भी पद हैं, सभी दो ही श्रेणियों में अन्तर्भूत हैं—सुबन्त और तिङन्त, और छोटे-से-छोटे वाक्य में इन दोनों की सत्ता अनिवार्य

---

१. ४।२।९२।
२. ३।३।१०।
३. २।१।४४ आदि।
४. १।१।२७।
५. २।१।५७।
६. २।२।८२।
७. १।४।१४।
८. १।२।४५।

है । जहाँ एक ही है, जैसे पठ, पठामि; वहाँ भी दूसरे का आक्षेप है—त्वम्, अहम् । 'कुतः' के बाद आगच्छति भवान् छिपा है । वाक्य न इन दोनों से अधिक फैल सकता है, न कम सिकुड सकता है । इनमें प्रायः सुबन्त उद्देश्य है, तिङन्त विधेय—जैसे, रामः गच्छति । सुप् और तिङ प्रत्याहारों के नाम हैं—सु से लेकर प् तक सुप्, ति से लेकर ङ तक तिङ् । दोनों सूत्रों में पहला अक्षर क्रम से सु और ति तथा अन्तिम अक्षर क्रम से प् और ङ् हैं । पहले सुप् प्रत्ययों का वर्णन किया जायगा ।

सुबन्त :

सुप्[1] प्रत्यय केवल २१ हैं । स् औ अस्; अम् औ अस्; आभ्याम् भिस्; ए भ्याम् भ्यस्; अस् भ्याम् भ्यस्; अस् ओस् आम्; इ ओस् सु—इन इक्कीस का एक संक्षिप्त नाम सुप् है । इन्हें विभक्ति कहते हैं; क्योंकि ये ही शब्दों में अर्थविभाग करते हैं । इनके विना प्रातिपदिक अकेला विभाग-शून्य है । चाहे वह प्रातिपदिक अव्युत्पन्न लूतक आदि हो, चाहे कृदन्त पाठक आदि, चाहे तद्धितान्त औपगव आदि, चाहे समास राजकुमार आदि सबसे केवल ये ही २१ सुप् प्रत्यय होते हैं, सबमें अर्थविभाग बस इतने ही सुप् करते हैं। प्रकृतियाँ चाहे लाखों हों, उनसे मिलकर शब्द या पद-निर्माण केवल इतने ही सुप् करते हैं, इनकी संख्या में एक की भी वृद्धि नहीं हो सकती, चाहे कोई कितना भी अनुसन्धान कर ले । हाँ, नई प्रकृतियों का अनुसन्धान सदा होता रहेगा, उनकी संख्या भी बढ़ती जायगी ।

वचन तीन, किन्तु द्विवचन की गौणता :

इन इक्कीस प्रत्ययों को तीन-तीन की पंक्ति में बैठाकर सात श्रेणियों में बाँट दिया गया है—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तियाँ ।[2] पाणिनि ने ये संज्ञाएँ नहीं की हैं, परम्परा से लेकर इनका व्यवहार[3] किया है । प्रत्येक त्रिक में पहला एकवचन, दूसरा द्विवचन, तीसरा बहुवचन कहा जाता है । ये संज्ञाएँ[4] पाणिनि ने स्वयं की हैं । जो एक का बोध कराये वह एकवचन, दो का बोध करानेवाला द्विवचन तथा तीन या तीन से अधिक का बोध करानेवाला (बहुत का बोध करानेवाला) बहुवचन होता है । कई भाषाओं में दो ही वचन होते हैं । आजकल हिन्दी तथा अँगरेजी आदि में भी दो ही वचन हैं, एक को कहनेवाला एकवचन और अनेक को कहनेवाला बहुवचन । किन्तु प्राचीन भाषाओं—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में तीन वचन हैं । किसी-किसी भाषा में तो पाँच तक वचन होते हैं । परन्तु थोड़ी ही सूक्ष्मता से देखने पर पता चल जाता है कि इन सुप् विभक्तियों में भी द्विवचन गौण दृष्टि से देखा गया है । एकरूप विभक्तियाँ बता रही हैं कि वहाँ शब्दों का एक ही रूप रहता है । जैसे बहुत्र, सर्वत्र चतुर्थी तथा पंचमी का बहुवचन, प्रथमा तथा द्वितीया का बहुवचन और पंचमी तथा षष्ठी का एकवचन एक ही रूप-वाला है । बल्कि वेधस् आदि शब्दों के लिए प्रथमा बहुवचन, द्वितीया बहुवचन, पंचमी एकवचन तथा षष्ठी एकवचन एक ही है अस्, चारों जगह वेधस् का रूप होगा वेधसः । लेकिन द्विवचन में तो सभी शब्दों के केवल तीन ही रूप होंगे, सात विभक्तियों में केवल

---

१. ४।१।२ ।
२. १।४।१०४ ।
३. ३।३।४६, २।३।१, ३, ७, १२, २६ आदि ।
४. १।४।१०३ ।

तीन रूप, इसका एक भी अपवाद नहीं। प्रथमा, द्वितीया दोनों में औ; तृतीया, चतुर्थी, पंचमी तीनों में भ्याम् और षष्ठी, सप्तमी दोनों में ओस्। द्विवचन की यह कृपणता स्पष्ट ही घोषित कर रही है कि संस्कृत में भी द्विवचन का प्रयोग अपेक्षाकृत कम था।

प्रकृति की दृष्टि से सुप् प्रत्यय :

रूप-रचना की दृष्टियों से हम इन २१ विभक्तियों को दो श्रेणियों में रख सकते हैं—स्वरादि और व्यंजनादि। स्वरादि में भी दो खण्ड हैं। प्रथमा का द्विवचन तथा बहुवचन, और द्वितीया का एकवचन तथा द्विवचन, ये चारों एक जगह, शेष स्वरादि विभक्तियाँ एक ओर। प्रथमा का एकवचन स् व्यंजनादि होकर भी प्रथम चारों स्वरादि विभक्तियों के साथ मिलकर सर्वनामस्थान[1] बनता है। इन पाँचों, अर्थात् प्रथमा की तीनों विभक्तियाँ, तथा द्वितीया के एकवचन और द्विवचन को सर्वनामस्थान कहते हैं। इस प्रकार इन २१ सुप् प्रत्ययों का ७ भागों या विभक्तियों तथा तीन वचनों में वर्गीकरण के अतिरिक्त तीन और श्रेणियों में विभाजन हो सकता है : (क) सर्वनामस्थान (ख) शेष स्वरादि विभक्तियाँ तथा (ग) शेष व्यंजनादि विभक्तियाँ। बल्कि सर्वनामस्थानों में भी दो विभाग हैं—स्वरादि तथा व्यंजनादि। इस प्रकार सुप् विभक्तियों की ४ श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं। प्रथम पाँच को सर्वनामस्थान इसलिए कहते हैं कि यहाँ नाम का सम्पूर्ण रूप ठहरता है, नाम अर्थात् प्रातिपदिक अपनी समस्त कलाओं, विकास-दशाओं के साथ विराजता है। इस दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि प्रातिपदिकों के पूर्णतम विकसित रूप अन्तिम चार सर्वनामस्थानों में, इससे थोड़ा खण्डित रूप प्रथम सर्वनामस्थान में, उससे छोटा रूप शेष व्यंजनादि विभक्तियों में और सबसे छोटा रूप शेष स्वरादि विभक्तियों में रहता है। जैसे विद्वस् के स्वरादि सर्वनामस्थानों में विद्वांस्[2] (विद्वान्स) व्यंजनादि सर्वनामस्थान में विद्वान्[3], शेष व्यंजनादि में विद्वस् तथा शेष स्वरादि में विदुष्[4] रूप रहते हैं। इसी क्रम से इन स्थलों में राजन् के रूप राजान्[5], राजा[6], राज तथा राज्ञ्[7]; युवन् के युवान्, युवा, युव तथा यून्[8]; जग्मिवस् के जग्मिवांस्, जग्मिवान्, जग्मिवस् और जग्मुष्। सखि का सखाय्[9], सखा, सखि तथा सख्य्; दातृ का दातार्[10], दाता[11], दातृ, दात्र आदि होते हैं। कभी-कभी प्रथमा एकवचन ही शेष सर्वनामस्थानों से सबलतर हो जाता है; जैसे भवत् का प्रथमा एकवचन भवान्[12], शेष सर्वनामस्थानों में भवन्त् होगा। ऐसे ही श्रीमान् श्रीमन्त, वेधाः वेधस् आदि हैं। किसी शब्द में सर्वनामस्थानभिन्न स्वरादि तथा व्यंजनादि दोनों विभक्तियों में एक ही रूप रह जाता है, अर्थात् उसके तीन ही रूप

---

१. १।१।४३।
२. ७।१।७० से न आगम तथा ६।४।१० से उपधा दीर्घ।
३. ८।२।२३ से संयोगान्त लोप।
४. ६।४।१३१ से संप्रसारण।
५. ६।४।८ से उपधा दीर्घ।
६. ८।२।७ से न लोप।
७. ६।४।१३४।
८. ६।४।१३३।
९. ७।१।९२।
१०. ६।४।११।
११. ७।१।९४।
१२. ७।१।७३।

रहते हैं, जैसे महत् के स्वरादि सर्वनामस्थान में महान्त, व्यंजनादि सर्वनामस्थान में महान्, तथा शेष जगह महत् रूप रहते हैं; गो के इसी क्रम से गाव्[1], गौ तथा गो होते हैं। सर्वनामस्थानभिन्न स्वरादि-व्यंजनादि विभक्तियों में कभी स्वरादि ही अधिक सबल तथा व्यंजनादि निर्बल पड़ जाता है, जैसे तृतीया से सप्तमी विभक्तियों तक स्वरादि में मधु का मधुन्[2] रूप रहेगा, व्यंजनादि में मधु। सर्वनामस्थानों में प्रथमा बहुवचन तथा असर्वनामस्थानों में द्वितीया बहुवचन प्रबलतम विभक्तियाँ हैं, इसीलिए मुनि, साधु आदि इकारान्त, उकारान्त शब्दों में भी इन स्थलों में विकास हो जाता है—मुनय्, मुनी; साधव्, साधू। इसीलिए नपुंसक शब्दों में इन दोनों को ही सर्वनामस्थान कहते हैं, जैसे नपुंसक में महत् के दो ही रूप होंगे, प्रथमा-द्वितीया बहुवचन में महान्त्, शेष जगहों में महत्। पुंल्लिग तथा स्त्रीलिंग में अकारान्त, आकारान्त शब्दों में सर्वनामस्थान के रूप शेष स्थलों से अधिक विकसित नहीं होते; बालक, लता एक ही रूप में आदि से अन्त तक रहेंगे। कहीं इनमें समृद्धि-असमृद्धि नहीं होगी। बल्कि इकारान्त, उकारान्त में भी सर्वनामस्थान की विशेषता नहीं रह पाती; मतय्, मुनय्, साधव् आदि प्रथमा बहुवचन में ही नहीं, चतुर्थी एकवचन आदि में भी मिलते[3] हैं। परन्तु नपुंसक में प्रथमा बहुवचन के साथ मिलकर द्वितीया बहुवचन ऐसा सर्वनामस्थान बनता है कि इन सूखे भावुकता-विहीन शब्दों में भी अंकुर फूट आते हैं, वन का वनान्[4], दधि का दधीन्, मधु का मधून् आदि हो जाते हैं। गुणिन्[5] आदि के रूप सभी सर्वनामस्थानों में भी नहीं, केवल व्यंजनादि सर्वनामस्थान प्रथमा एकवचन में ही दीर्घ होकर गुणी होता है, शेष सभी स्वरादि स्थलों में गुणिन् ही रहता है, पर नपुंसक के सर्वनामस्थान इनमें भी परिवर्त्तन कर गुणीन् बना देते हैं। और तो और, सबसे ठूँठ शकृत्, जाग्रत्, ददत् आदि भी, जो करीर की भाँति सर्वनामस्थान, असर्वनामस्थान, स्वरादि-व्यंजनादि सर्वत्र निर्लेप-निर्विकार बने रहते हैं, नपुंसक सर्वनामस्थान[6] में खिलकर शकृन्त्, जाग्रन्त्, ददन्त् बन जाते हैं।

प्रत्ययों में विकृति :

सुप् विभक्तियों में भी बहुत परिवर्त्तन, आगम तथा आदेश होते हैं। कुछ जगहों में द्वितीया बहुवचन का स् न्[7] बन जाता है, बालकान्, सुप् विभक्तियों में मुनीन्, साधून्। अकारान्त पुंल्लिग में तो बहुत परिवर्त्तन[8] होते हैं। भिस् का ऐस्, आ का इन, ए का य, पंचमी एकवचन अस् का अत् तथा षष्ठी एकवचन अस् का स्य हो जाता है। स्वरादि विभक्तियों में अधिक परिवर्त्तन होता है, व्यंजनादि विभक्तियाँ प्रायः बच जाती हैं। चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी के एकवचन में स्त्रीलिंग[9] इकारान्त, उकारान्त (नदीसंज्ञक) शब्दों में विभक्ति के पहले आ आ जाता है, आकारान्तों में सप्तमी एकवचन के भी पूर्व या आता है और सर्वनामों में स्या। इन स्थानों में सप्तमी एकवचन 'इ' भी आम् में परिवर्तित हो जाता है। फलतः इन स्थलों में विभक्तियाँ क्रमशः ए, अः, अः, इ की जगह ऐ, आः, आः, आम्; यैं,

---

१. ६।४।१४।
२. ७।१।६० तथा ६।१।७८।
३. ६।१।१०२।
४. ७।१।७२।
५. ६।४।११,१२।
६. ७।१।७२ तथा ७६।
७. ६।१।१०३।
८. ७।१।९,१२,१३।
९. ७।३।११२—११६।

याः या, याम्, और स्यै, स्याः स्याः, स्याम् बन जाती हैं।[1] सर्वनामों में चतुर्थी, पंचमी, सप्तमी एकवचन पुंल्लिग तथा नपुंसक में क्रम से स्मै, स्मात् तथा स्मिन् बन जाते हैं; पुंल्लिग में प्रथमा बहुवचन का इ हो जाता[2] है। इकारान्त-उकारान्त शब्दों में सप्तमी एकवचन इ का पुंल्लिग में औ तथा स्त्रीलिंग में आम् हो जाता है, सख्यौ, मुनौ, वायौ मत्याम्, धन्वाम् आदि और इकारान्त, उकारान्त पुंल्लिगों में तृतीया आ ना बन[3] जाता है; जैसे मुनिना, वायुना प्रथमा द्वितीया द्विवचन का आकारान्त स्त्रीलिंग और नपुंसक शब्दों में सर्वत्र ई तथा बहुवचन का केवल नपुंसक शब्दों में इ हो जाता[4] है। षष्ठी बहुवचन आम्[5] के आदि में सभी सर्वनाम शब्दों में स् तथा अधिकांश स्वरान्त शब्दों में न् जुट जाता है, जिससे इसके रूप क्रमशः साम् तथा नाम् हो जाते हैं। षष् तथा नान्त संख्यावाचक व्यंजनान्तों में भी न् जुटता है, षण्णाम् पञ्चानाम्। षत्व तथा णत्व के निमित्तों के बाद आये विभक्तिस्थ स का ष तथा न का ण हो जाता है, जैसे—बालकेषु, मुनिषु आदि तथा नराणाम्, रविणा आदि।

प्रकृति में परिवर्त्तन :

सुप् प्रत्ययों के योग में प्रकृतिभूत प्रातिपदिकों में भी खूब परिवर्त्तन[6] होता है; जैसे—(१) गुण—मुनि से मुनये, मातरौ; (२) वृद्धि—सखि + औ = सखायौ; गो + औ —गावौ; (३) संप्रसारण—श्वन् + अः—शुनः; (४) सवर्णदीर्घ—बालक + अस्—बालकाः; (५) अन्तदीर्घ—बालक + भ्याम्—बालकाभ्याम्, मुनि + नाम्—मुनीनाम्[7]; (६) उपधादीर्घ—राजन् + औ—राजानौ; (७) अयादि—गो + आ—गवा; (८) जश्त्व—महत् + भ्याम्—महद्भ्याम्; (९) चर्त्व—सुहृद् + सु—सुहृत्सु; (१०) अन्य—अहन् + भ्याम्—अहोभ्याम्[8], विद्वस् + भ्याम्—विद्वद्भ्याम्[9], उपानह् + भ्याम्—उपानद्भ्याम्[10], वेधस् + भ्याम्—वेधोभ्याम्[11] आदि। ऋकारान्तों में पंचमी-षष्ठी एकवचनों में ऋ का उ हो जाता है, दातुः[12]। बहुत-से शब्दों के अन्त या उपधा में स्वरादि विभक्तियों के पूर्व न् जुट जाता है, फलानि मधुने भवन्तौ आदि। संप्रसारण का उदाहरण दिया जा चुका है। श्वन्, युवन्, मघवन्, विद्वस् आदि द्वितीया बहुवचन प्रभृति स्वरादि विभक्तियों में शुन्, यून्, मघोन्, विदुष् आदि बन जाते हैं। व्यंजनादि विभक्तियों में प्रातिपदिकान्त न् का लोप हो जाता है, राजभ्याम्। कहीं-कहीं प्रकृति में अधिक परिवर्त्तन[13] दीखता है, पथिन् आदि का पन्थन्, पुन्स् का पुमस् आदि हो जाता है। पाणिनि ने पाद का पद्, दन्त का दत्, नासिका का नस्, हृदय का हृत् आदि आदेश द्वितीया बहुवचन से अन्त तक स्वरादि विभक्तियों में बताये[14] हैं। यह केवल प्रयोग का स्थान-निर्धारण-मात्र है, दोनों स्वतन्त्र शब्द

१. ७।३।१०६, १११।
२. ७।१।१४,१७।
३. ७।३।११७—२०।
४. ७।१।१८—२०।
५. ७।१।५२,५४,५५।
६. ७।३।१०२—१११।
७. ६।४।३।
८. ८।२।६८।
९. ८।२।७२।
१०. ८।२।३४।
११. ८।२।६६।
१२. ६।१।१११।
१३. ७।१।८४—९८।
१४. ६।१।६३।

हैं। सुप् के अलावा भी इन लघुतर रूपों का व्यवहार होता है, यह स्वयं पाणिनि ने ही बताया[1] है। त्रि का तिस्, जरा का जरस आदि भी इसी प्रकार[2] समझना चाहिए।

सर्वनामों के रूप में सुप् विभक्तियों तथा उनकी प्रकृतियों में इतना परिवर्त्तन हो जाता है, कि इन्हें पहचानना ही कठिन हो जाता है। यत तत एतत किम् में तो पूर्वोक्त सर्वनाम-रूपों से केवल यही विलक्षणता है कि इनका यह व्यंजनान्त रूप केवल नपुंसक एकवचन में ही सुरक्षित रहता है, शेष जगह ये सर्व की तरह अकारान्त हो जाते हैं य, त, एत, क। त का प्रथमा एकवचन में स हो जाता[3] है—सः, एषः। यत तत् की देखादेखी कतर, कतम, अन्य, अन्यतर, इतर आदि में भी नपुंसक एकवचन में अत जट[4] जाता है—कतरत्, अन्यत् आदि। परन्तु इदम्, अदस्, युष्मद् और अस्मद् के रूप तो विचित्र हैं। युष्मद्-अष्मद् में तो लिंगभेद नहीं है, पर इदम्, अदस् में तो लिंगभेद के कारण भी रूपभेद है। इदम् में तीनों लिंगों में प्रथमा एकवचन लुप्त रहता है, और पुंल्लिंग में इद् का अय् होता है, स्त्रीलिंग में इय् (अयम्, इयम्); शेष सर्वत्र द् का म् हो जाता है (इमौ, इमे आदि); तृतीया से सप्तमी तक सभी स्वरादि में इदम् का अन तथा व्यंजनादि में अ हो जाता[5] है (अनेन—आभ्याम्)। अदस् में प्रथमा एकवचन में पुंल्लिंग तथा स्त्रीलिंग में स् होकर कुछ अनियमित रूप असौ[6] बनता है, नपुंसक में अदः रह जाता है। शेष सभी विभक्तियों, वचनों में सभी लिंगों में द का म हो जाता है, और द् के बाद् अ का उ, आ का ऊ तथा ए का ई बनता[7] है। युष्मद् अस्मद् के प्रथमा, द्वितीया के सभी वचनों (शस् को छोड़) तथा चतुर्थी के एकवचन में अम् यह एक ही विभक्ति लगती है, चतुर्थी भ्यस् का भ्यम्, पंचमी भ्यस् तथा ङसि का अत्, ङस् का अ तथा आम् का आकम् रूप हो जाता[8] है। इधर युष्मद्, अस्मद् इन प्रकृतियों का द्विवचन में सर्वत्र युव, आव होता है। बहुवचन में प्रथमा में यूय, वय होता है, शेष विभक्तियों में युष्म, अस्म बना रहता है। एकवचन में युष्मद् का प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, पंचमी तथा सप्तमी में त्व हो जाता है; अस्मद का प्रथमा एकवचन में अह तथा द्वितीया, तृतीया, पंचमी तथा सप्तमी में म हो जाता है। चतुर्थी षष्ठी के एकवचन कुछ अनियमित हैं, युष्मद् के तुभ्यम् तव, अस्मद् के मह्यम् मम[9]। इनका भाषावैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। सर्वनामों का व्यंजनान्त रूप विरल है, फिर क्यों न इन्हें अकारान्त ही मान लें? अस्म के स का ही ह् होकर अहम् बना है? अमु शब्द ही मुख्य और व्यापक लगता है, जिससे स्वार्थिक क प्रत्यय होकर अमुक शब्द बनता है। अमुक नामाहम् यह संकल्प में पढ़ाया जाता है। बहुत सम्भव है, पाद-पद् की भाँति एक ही प्रकृति के ये दो-तीन रूपभेद हों। साधारणतः प्रत्येक शब्द के इन सातों विभक्तियों और तीनों वचनों में मिलकर २१ रूप होते हैं। पर सम्बोधन की प्रथमा के एकवचन में यह प्रायः कुछ परिवर्त्तन कर कर्त्ता में प्रथमा से कुछ भेद दिखाया जाता है। जैसे रामः गच्छति—राम जाता है; 'राम[10], गच्छति'—अर्थात् हे राम,

१. ५।४।११८ तथा १३८—५०।
२. ७।२।९९—१०१।
३. ७।२।१०२,१०६।
४. ७।१।२५।
५. ७।२।१०८—११३।
६. ७।२।१०७।
७. ८।२।८०-८१।
८. ७।१।२७—३३।
९. ७।२।८९—९८।
१०. ६।१।७९।

बढ़ जाता है। अतः एक रूप बढ़कर ३२ रूप हो जायेंगे। सम्बोधन के द्विवचन, बहुवचन कभी किसी शब्द में नहीं बदलते। बहुत लोग सम्बोधन को भिन्न ही विभक्ति समझकर ८ विभक्तियाँ मानते हैं, यह भ्रम है। विभक्तियाँ पाणिनि ने स्पष्टतः सात ही गिनाई हैं, और सम्बोधन में स्पष्ट ही प्रथमा का विधान किया है। इस प्रकार सामान्यतः बालक, मुनि, साधु, दातृ आदि सभी के २२-२२ सुबन्त रूप होंगे। परन्तु एक बात है। कई जगह विभक्तियाँ बिलकुल एक आकृतिवाली हैं। द्विवचन में तो कुल ७ की जगह ३ ही रूप सर्वत्र मिलते हैं और चतुर्थी-पंचमी बहुवचन सर्वत्र एक ही है, अतः वास्तव में बालक शब्द (अकारान्त पुंलिंग) के १७ ही रूप होते हैं, सम्बोधन मिलाकर एकवचन में ८, बहुवचन में ६ तथा द्विवचन में ३। मुनि, नदी, साधु, वधू, सखि, पति आदि में १६ ही रूप होंगे; क्योंकि इनमें पंचमी और षष्ठी विभक्तियों के एकवचन में एक ही रूप होते हैं। लता, वेधस् आदि में १५ ही रह जायेंगे, इसके प्रथमा तथा द्वितीया बहुवचन एक से ही होंगे। इसी प्रकार गो आदि के भी १५ ही रहेंगे; क्योंकि उनमें सम्बोधन एकवचन में भी कोई परिवर्त्तन नहीं होता। श्रीमत्, महत् के रूप १५ ही होंगे; क्योंकि उनमें सम्बोधन एकवचन का भेद[1] तो रहता है, पर द्वितीया बहुवचन, पंचमी एकवचन, षष्ठी एकवचन समान ही होते हैं। गच्छत्, धावत्, पथिन् आदि के कुल १४ रूप होंगे, इनमें सम्बोधन एकवचन का भेद भी नहीं रहता। सुधी, ग्रामणी, खलपू, वर्षाभू, पपी, नी, भू आदि के रूप १३ ही होते हैं। इनमें सम्बोधन एकवचन का भी भेद नहीं रहता और प्रथमा, द्वितीया बहुवचन तथा पंचमी-षष्ठी एकवचन एक[2] ही होते हैं। नपुंसकों में रूप-संख्या और भी कम हो जायगी; क्योंकि उनकी प्रथमा और द्वितीया विभक्ति तुल्य रहती है, अतः फल आदि किसी के भी रूप १५ से अधिक नहीं होंगे। किन्तु कम होकर भी यह संख्या १३ से नीचे नहीं आयगी; क्योंकि इसमें प्रथमा, द्वितीया का बहुवचन न् के आगम और दीर्घत्व के कारण[3] सदा पंचमी-षष्ठी के एकवचन से भिन्न बना रहेगा। पर संख्यावाचक शब्दों के रूप अवश्य सदा अल्पसंख्यक रहेंगे; क्योंकि उनमें एक ही (कोई भी) वचन रहता है। हाँ, विकारभेद से जैसे मत्यै मतये, शुचिनः शुचेः या वाक् वाग् और आदेश-भेद से जैसे जरायाः[4] जरसः, पादान्—पदः[5] आदि इनकी संख्या १७ से ऊपर भी बढ़ सकती है। कौमुदी में एक गवाक् शब्द के नपुंसक में सुबन्त रूप सन्धि और आगम-भेद से १०६ गिनाये गये हैं।

द्विवचन की भाँति नपुंसक लिंग की गौणता :

जिस प्रकार सुबन्त-रूपों में द्विवचन की संख्या गौण थी, सात विभक्तियों में केवल तीन ही रूप किसी भी शब्द के प्राप्त थे, उसी प्रकार नपुंसक लिंग में भी केवल प्रथमा

१. सम्बोधन में उपधादीर्घ नहीं होता, ६।४।१४।

२. सर्वत्र यण् हो जाता है—६।४।८२-८३, अथवा इवङ् उवङ् ६।४।७७ और नदी संज्ञा नहीं होने से सम्बोधन में ह्रस्व नहीं होगा।

३. ७।१।७२ तथा ६।४।८,१०,१२।

४. ७।२।१०१। ५. ६।१।६३।

और द्वितीया में स्वतन्त्र रूप थे। शेष तृतीया से सप्तमी तक प्रायः पुंल्लिग ही की भाँति रूप होते थे। और प्रथमा, द्वितीया दोनों विभक्तियों में भी एक ही रूप थे। तृतीया से सप्तमी तक सभी शब्दों के रूप बिलकुल पुंल्लिग से थे, केवल इ, उ, ऋ से समाप्त होने-वाले शब्दों में नपुंसक का चिह्न न् जुट जाता[1] था, जैसे पुंल्लिग में मुनये; नपुंसक में वारिणे; साधवे—मधुने; दात्रे—धातृणे आदि। इसीलिए धीरे-धीरे द्विवचन समाप्त होकर उसकी जगह बहुवचन और नपुंसक समाप्त होकर उसकी जगह पुंल्लिग का ही प्रयोग चल पड़ा।[2]

वैदिक भाषा में सुबन्त रूप में बहुविधता थी, सभी सुप् प्रत्ययों का लुक् तथा सु, पूर्वसवर्ण, ए, आ आदि[3] आदेश किये जा सकते थे। प्रथमा के बहुवचन में अकारान्त शब्दों के बाद अस्[4] जुटता था, जैसे देव का देवासः, ब्राह्मण का ब्राह्मणासः। यह रूप इतना व्यापक था कि फारसी में कागज से कागजात, मकान से मकानात, आदि सभी अकारान्त शब्दों का बहुवचन इसी रीति से बनने लगा; अँगरेजी ने यह स् सब प्रकार के संज्ञा-शब्दों में स्वीकार किया, Boy—Boys, Cow—Cows, Mango—Mangoes; छोटानागपुरी उराँव में भी महतो का महतोस् आदि इसी भाँति बने होंगे।

तिङन्त :

तिङन्त रूप तो सुबन्त रूप से भी अधिक जटिल है। तिङ् में मूलभूत तो कुल[5] १८ ही प्रत्यय हैं, सुप् की तरह इन्हें भी विभक्ति[6] कहते हैं। इन्हें पहले दो खण्डों में बाँटा गया[7] है—परस्मैपद और आत्मनेपद। फिर प्रत्येक ६ को तीन-तीन खण्डों में विभक्त किया गया है। क्रम से प्रथपुमरुष, मध्यमपुरुष, उत्तमपुरुष। और ये त्रिक फिर एकवचन, द्विवचन, बहुवचन कहलाते हैं। ति तः झि (अन्ति या अति), सि थः थ, मि वः मः; और त आताम् झ (अन्त या अत), थाः आथाम् ध्वम्, इ वहि महि—इन अठारहों का एक संक्षिप्त नाम तिङ् है, और केवल आत्मनेपदी ६ को तङ् कहते हैं। पर इन १८ प्रत्ययों से क्या हुआ? ११ लकारों में बँटकर इनके रूप बहुत अधिक हो जाते हैं। सुप् प्रत्यय तो कुल २१ ही हैं, इनमें कोई प्रभेद नहीं, उनमें भी कई प्रत्यय सदृश ही हैं, विशेषतः द्विवचन की संख्या कम है। पर तिङ् प्रत्यय में कोई भी प्रत्यय किसी दूसरे से नहीं मिलता, अतः पूरे १८ प्रत्ययों के रूप ११ लकारों से गुणित होकर शिक्षार्थियों के लिए सिरदर्द बन जाते हैं। लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ, विधिलिङ, आशीर्लिङ, लुङ् तथा लृङ् ये ११ लकार होते हैं। इनमें लेट् केवल वैदिक भाषा में प्रयुक्त है, शेष लकार लोक और वेद दोनों की भाषाओं में। यदि धातु परस्मैपदी है, जैसे पठ्, तो उससे केवल परस्मैपद के ६ प्रत्यय होंगे, यदि आत्मनेपदी है, जैसे सेव्, तो केवल आत्मने पद के ही ६ प्रत्यय; किन्तु उभयपदी होने पर, जैसे राज्, उससे अठारहो प्रत्यय होंगे। परस्मैपद में ये अन्त्य-प्रत्यय केवल ६ ही हैं, पर

---

१. ७।१।७३।
२. दे० पिशेल का प्राकृत व्याकरण, अनुबन्ध ३५५—६२
३. ७।१।३९।
४. ७।१।५०।
५. ३।४।७८।
६. १।४।१०४।
७. १।४।९९, १००, १०१, १०२।

विभिन्न लकारों में विभिन्न परिवर्त्तनों से रूप-भेद हो जाता है। यही स्थिति आत्मनेपद में भी होती है। प्रत्येक लकार के रूपभेद के कारण नीचे स्पष्ट किये जा रहे हैं :—

(१) **लट्**—यह धातु का सार्वधातुक स्थल है। लट् सदा वर्त्तमान में होता है। धातु से परस्मैपद में ति तः आदि नव प्रत्यय अन्त में जुटेंगे और बीच में गणचिह्न विकरण[1] आयगा, जैसे पठ् से पठ्+अ+ति—पठति; नृत् से नृत्+य+ति—नृत्यति; चि से चि+नु+ति—चिनोति आदि। आत्मनेपद में पूर्वोक्त नव प्रत्ययों के ये रूप हो जायेंगे, ते आते (इते) अन्ते; से, आथे (इथे), ध्वे; ए, वहे, महे। जैसे भ्वादि खन् से खनते, दिवादि युध् से युध्यते; स्वादि चि से चिनुते आदि। आश्चर्य है यहाँ मूल प्रत्यय 'थाः' से 'से' इस आदेश का कोई साम्य नहीं। यह विकार नहीं, प्रत्ययान्तर प्रतीत होता है।

(२) **लिट्**—धातु से ति, तः आदि के जुटने पर प्रकृति और प्रत्यय दोनों में विकार हो जायगा। धातु में हर जगह द्वित्व[2] हो जायगा, जैसे पठ् का पठ् पठ्—पपठ्। कहीं आम् का आगम[3] होकर कृ भू अस् का अनुप्रयोग हो जायगा; जैसे दय् का दय्+आम्+कृ—दयांकृ; कहीं पूरी धातु ही बदल[4] जायगी, जैसे अस् का भू आदि। प्रत्यय तो नवो बदलकर दूसरे[5] आकार ही धारण कर लेंगे, अ (णल्) अतुः उः, थ अथुः अ, अ (णल्) व म। आत्मनेपद में नवों प्रत्ययों के रूप रहेंगे ए आते इरे, से आथे ध्वे, ए वहे महे। प्रकृति में पूर्वोक्त प्रक्रियाएँ ही होंगी। यहाँ भी मूल प्रत्यय 'त' से ए, अन्त से इरे थाः से से का कोई साम्य नहीं, ये तीनों प्रत्ययान्तर दीखते हैं। लिट् में कोई गण-विकरण नहीं आता। यह आर्धधातुक[6] स्थल है। लिट् प्रायः अनद्यतन परोक्ष भूत[7] में आता है।

(३) **लुट्**—परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों के मध्यम तथा उत्तम पुरुषों में ठीक लट् की भाँति ही तिङ् प्रत्यय आयेंगे। परन्तु अन्य या प्रथम[8] पुरुष में दोनों से आ (डा) रौ रः ही आयेंगे। इधर प्रकृति और तिङ् प्रत्यय के बीच एक लकार-विशेषसूचक विकरण आयगा तास्[9]। यह आर्धधातुक है, अतः यह आर्धधातुक स्थल माना जाता है। जैसे परस्मैपद या का भी प्रथमपुरुष याता यातारौ यातारः और आत्मनेपदी गा (ङ) का भी गाता गातारौ गातारः। कोई अन्तर नहीं। हाँ, मध्यमपुरुष से अन्तर शुरू हो जायगा, यातासि यातस्थः यातास्थ, पर गाता से गातासाथे, गाताध्वे आदि। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मूल धातु के तृजन्त रूप के साथ परस्मैपद में अस् धातु का और आत्मनेपद में आस् धातु का वर्त्तमानकालिक रूप जोड़ा जा रहा है। इसका यही वैज्ञानिक ऐतिहासिक विश्लेषण होना चाहिए। इसीलिए 'तिङ्ङतिङः'[10] से विधीयमान अतिङन्त के परवर्त्ती तिङन्त की सर्वानुदात्तता लुट् लकार में नहीं होती; क्योंकि बीच में तृजन्त से क्रिया-रूप का व्यवधान हो जाता है। पाणिनि के निषेध-सूत्र 'न लुट्' का यही स्वारस्य है। भविष्य में अनद्यनता दिखाने के लिए यही उपाय सोचा गया। सामान्य भविष्य में लृट् होता है।

१. ३।१।६८—८४।
२. ६।१।८।
३. ३।१।३५—४०।
४. २।४।४०—५६।
५. ३।४।७६—१०१।
६. ३।४।११५।
७. ३।२।११५।
८. २।४।८५।
९. ३।१।३३।
१०. ८।१।२८ तथा २९।

परस्मैपदी या आत्मनेपदी धातु से तृच्[1] प्रत्यय कर माता-पिता की तरह प्रथमा विभक्ति के एकवचन में या + तृ—याता, गा + तृ—गाता बना लेंगे और इसे एधांचक्रे के एधाम् की तरह अव्ययवत् अविकृत रखेंगे। बाद में परस्मैपद में अस् तथा आत्मनेपद में आस् का अनुप्रयोग[2] कर वर्त्तमान काल का रूप जोड़ देंगे। पर प्रथमपुरुष में इन अनुप्रयुक्त धातुओं का रूप नहीं जोड़ेंगे; क्योंकि यह अनावश्यक है। संस्कृत में अस्ति स्तः सन्ति का प्रयोग प्रायः अन्तर्हित (understood) ही रहता है। स अतीव चतुरः; तौ अतीव चतुरौ; ते अतीव चतुराः—ये ही प्रयोग सुन्दर (idiomatic) माने जाते हैं, यहाँ अस्ति स्तः सन्ति का प्रयोग नहीं किया जाता। यद्यपि त्वम् अतीव चतुरः में भी यही स्थिति है, पर तृच् प्रत्यय से लुट् लकार का अन्तर रखने के लिए कुछ तो परिवर्त्तन आवश्यक था, अतः मध्यमपुरुष उत्तमपुरुष में अस् और आस् के वर्त्तमानकालिक रूप अवश्य जोड़ने तथा अन्यपुरुष में कभी न जोड़ने का निश्चय कर लिया गया। हाँ, एक और परिवर्त्तन कर दिया गया, ताकि यह यौगिकता और भी अधिक छिप जाय। गाता आस्से को गातासे कर दिया गया और गाता + आसे को गातासे से पृथक् दिखाने के लिए गाताहे बना दिया गया। इस तरह लिट् की तरह लुट् में भी क्रिया यौगिक-सी हो जाती है। लुट् अनद्यतन[3] भविष्य में होता है।

(४) **लृट्**—यह लकार सामान्य[4] भविष्य में होता है। इसमें तिङ् और तङ् दोनों ठीक लट् की भाँति मूल अविकृत ही रहते हैं, पर बीच में स्य[5] यह लकार-विकरण आता है, गणविकरण नहीं आता। यह 'स्य' आर्धधातुक होता है, अतः यह धातु का आर्धधातुक स्थल है। यहाँ लट् से रूपभेद का कारण केवल लकार-विकरण स्य है।

(५) **लोट्**—यहाँ लट् की ही भाँति गणविकरण होते हैं, पर तिङ् और तङ् के रूप विकृत हो जाते हैं, अतः रूपभेद होता है। परस्मैपद में मौलिक तिङ् की जगह तु, ताम्, अन्तु; ० (अथवा हि), तम्, तः आनि आव आम हो[6] जाते हैं; और तङ् की जगह ताम् आताम् अन्ताम्, स्व आथाम् ध्वम्, ऐ, वहै, महै हो जाते हैं। यहाँ 'थाः' का 'स्व' रूप-विकार मात्र नहीं, स्वतन्त्र प्रत्ययान्तर मालूम पड़ता है, थः का तम् भी ऐसा ही दीखता है। थ का त विकार सरल है—द्वितीयाक्षर का प्रथमाक्षर। 'सि' का 'हि' भी 'स्' के 'ह्' होने से होता है। यह विकार बहुत प्राप्त है। ऊपर ही गातासे का गाताहे होना दिखाया जा चुका है। यह सार्वधातुक स्थल है। यह भविष्यत् में आज्ञा[7] आदि में प्रयुक्त होता है।

(६) **लङ्**—यहाँ भी गणविकरण होते हैं, यह भी सार्वधातुक स्थल है। किन्तु लोट् की ही भाँति यहाँ भी प्रत्ययों में ही विकृति कर रूपभेद कर लेते हैं। तिङ् के विकृत रूप त् ताम् अन्, स् तम् त, अम् व म बना[8] लिये जाते हैं, और तङ् को अविकृत रखकर लट् के तङ् से थोड़ा भिन्न रखा जाता है। तङ् का शुद्ध रूप भूतकाल में ही मिलता है, वर्त्तमान और भविष्यत् में नहीं। लङ् के तिङ् प्रत्ययों का रूप थोड़ा लिङ् से मिलता-

---

१. ३।१।१३३।
२. दोनों अदादि हैं।
३. ३।३।१५।
४. ३।३।१३।
५. ३।१।३३।
६. ३।४।८५—९३।
७. ३।३।१५७—६६।
८. ३।४।९९—१०१।

जुलता है, अतः उसमें रूपभेद रखने के लिए यहाँ व्यंजनादि धातु से पहले अ तथा स्वरादि धातु से पहले आ भी जोड़कर[1] धातु में थोड़ा रूपभेद भी कर लेते हैं। यह लकार अनद्यतन[2] भूत में होता है।

(७) **विधिलिङ्**—यहाँ तिङ का रूप[3] त् ताम उः, स् तम् त; अम्, व म रहता है, और तङ् का त आताम्, रन्, थाः, अथाम्, ध्वम्; अ, वहि, महि। इनमें परस्मैपद में उः, तथा आत्मनेपद में रन् और अ को छोड़कर शेष सभी बिलकुल लङ के ही रूप हैं, अतः उससे अन्तर रखने के लिए बीच में लकार विकरण परस्मैपद में या और आत्मनेपद में ईय् रखा जाता है। यह लकार विचित्र है, यह गणविकरण भी लेता है और लकार विकरण भी। जैसे चि से चि + नु + या + त्—चिनुयात्, चिनुयाताम्, चिनुयुः परस्मैपद में और चि + नु + ईय् + त—चिन्वीत, चिन्वीयाताम्, चिन्वीरन आत्मनेपद में। यह लोट् के अर्थ[4] में होता है।

(८) **आशीर्लिङ्**—यहाँ भी विधिलिङ् के ही अठारहो तिङ् प्रत्यय ज्यों-के-त्यों आते हैं। यहाँ तक कि लकार-विकरण भी वे ही रहते हैं। दोनों में रूप रचना का अन्तर रखने के लिए लकार-विकरण में परस्मैपद में अन्त में और आत्मनेपद में आरम्भ में स्[5] जोड़ देते हैं। अर्थात् परस्मै पद का ल विकरण यास् रखते हैं और आत्मनेपद का सीय्। विधिलिङ् में दोनों सकार लुप्त[6] होकर या और ईय् रह जाते हैं, और आत्मनेपद में दोनों स् कायम रहते हैं। इस प्रकार विधिलिङ् और आशीर्लिङ् के बीच एक अन्तर यह है कि आशीर्लिङ् में स् की ध्वनि रहेगी, विधिलिङ् में नहीं रहेगी। एक दूसरा इससे भी स्थूल अन्तर यह है कि विधिलिङ् में गणविकरण भी लेता है, आशीर्लिङ् नहीं लेता। विधिलिङ को और लकारों से यह विचित्रता इसी अन्तर के लिए रखनी पड़ती है; दूसरा कोई भी लकार गणविकरण और लकार-विकरण दोनों नहीं लेता। विधिलिङ् को आशीर्लिङ् से अन्तर रखने के लिए यह करना पड़ता है। इसीलिए विधिलिङ् सार्वधातुक स्थल है, आशीर्लिङ् आर्धधातुक[7]। जैसे चि का परस्मैपदी रूप चि + यास् + त्—चीयात्[8], चीयास्ताम्; चीयासुः आदि होंगे। त, आताम्, थाः, आथाम्—इन चारों में त् थ् के पहले भी स् जुड़ता है। अतः आत्मनेपद में 'चि' के रूप होंगे चि + सीय् + स् + त—चेषीष्ट, चेषीयास्ताम्, चेषीरन् आदि। यह आशीर्वाद में प्रयुक्त होता है।

(९) **लुङ्**—यह सामान्य[9] भूत में प्रयुक्त होता है। सभी तिङ् विभक्तियाँ बिलकुल वे ही हैं, जो लङ् में रहती हैं, केवल अन् की जगह यह लिङ् की तरह उः[10] लेता है। लङ् ही की तरह यह भी धातु के पहले अ और आ लगाता है। अतः लङ् से रूप का अन्तर स्पष्ट रखने के लिए यह गणविकरण नहीं लेता, लकारविकरण लेता है। इसलिए यह आर्धधातुक स्थल है। पीछे बता आये हैं कि लकारविकरण में लुङ् सबसे धनी है। यह

१. ६।४।७१—७२।
२. ३।२।१११।
३. ३।४।१०२—१०८।
४. ३।३।१५७—१६४।
५. ३।४।१०७।
६. ७।२।७९।
७. ३।४।११६।
८. ७।४।२५।
९. ३।२।११०।
१०. ३।४।१०९।

धातुभेद से सिच् (स्), क्स (स), चिण् (इ), चङ् (अ तथा धातु द्वित्व) तथा अङ् (केवल अ) पाँच विकरण[1] लेता है। जैसे चि का परस्मैपदी रूप होगा अचैषीत्[2] अचैष्टाम् अचैषुः, और आत्मनेपदी अचेष्ट, अचेषाताम्, अचेषत आदि।

(१०) लृङ् लकार लृट् और लङ् का मिश्रण है। जो साम्य लट् के साथ लङ् का है, ठीक वही साम्य लृङ् का लृट् के साथ है। अर्थात् लृङ् लङ् के ही सभी तिङ् प्रत्यय और धातु के पहले अ तथा आ का आगम भी हू-ब-हू ले लेता है, किन्तु लङ् से अन्तर रखने के लिए गणविकरण नहीं लेकर लृट् का लकार-विकरण स्य लेता है। नी का परस्मैपदी रूप अनेष्यत् अनेष्यताम् अनेष्यन् और आत्मनेपदी रूप अनेष्यत अनेष्येताम् अनेष्यन्त होगा। यह भी लृट् की ही भाँति आर्धधातुक स्थल है। लृङ् का विषय है क्रिया की असिद्धि की सम्भावना, चाहे वह अतीत हो वा अनागत।

(११) लेट्—इसका रूप बड़ा समृद्ध[3] है। यह लिङ् के अर्थ में केवल वेदों में प्रयुक्त है। लट् में प्रयुक्त ही सभी तिङ् प्रत्यय इसमें भी आते हैं, पर ति, सि, मि के इ का और वस्, मस् के स का वैकल्पिक लोप भी होता है। ऐच्छिक रूप से कभी यह गण-विकरण लेता है, कभी लकार-विकरण। इसका लकार-विकरण स् (सिप्) है। तिङ् प्रत्यय के पहले भी कभी अ जुटता है, कभी आ। लकार-विकरण स् वैकल्पिक रूप से णित् होकर पूर्ववर्त्ती धातु में वृद्धि भी करता है। इस प्रकार भू धातु के लेट् के प्रथमपुरुष एकवचन में सिप्, शप्, अट्, आट् तथा णित्व की वैकल्पिकता से इतने रूप होंगे—भाविषति, भाविषाति, भविषति, भविषाति, भवति, भवाति, भाविषत्, भाविषात्, भविषत् भविषात्, भवत् भवात्—१२। इस प्रकार इ् लोप तथा स् लोप से ति अन्ति सि, मि वस् मस् के यहाँ १२-१२ और शेष तिङ् प्रत्ययों में ६-६ रूप होंगे। आत्मनेपद में आताम् आथाम् के आ का सर्वत्र ऐ हो जाता है, और अन्तिम ए का वैकल्पिक ऐ (आते, आथे को छोड़कर)। ऐते ऐथे (आताम् आथाम्) तथा ए (इट्) के पहले अट् करें वा आट् करें, दोनों स्थितियों में वृद्धिरेचि से वृद्धि ही होगी, अतः कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। ऐते ऐथे में अन्तिम ए का ऐ भी वर्जित है। पर ए (उत्तम-पुरुष एकवचन) का ऐ विकल्प से हो जायगा। इस प्रकार आत्मनेपद में भी धातुवृद्धि-स्थल में (जैसे खन्) त, अन्त, थास, ध्वम्, वहि, महि में १२-१२; इ में ६ तथा आताम्-आथाम् में ३-३ रूप होंगे। जहाँ सिप् के णित् होने से भी वृद्धि का अवसर नहीं, वहाँ १२ की जगह ८ ही रूप होंगे और ६ की जगह ४, ३ की जगह २, जैसे नन्द् एध् आदि धातु के।

यदि ११ लकारों के रूप भू धातु के जोड़े जायँ तो उनकी संख्या १०×९+९०= १८० होगी। अर्थात् १० लकारों में प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष, उत्तमपुरुष के एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में (१०×३×३) ९० तथा लेट् में ति, सि, मि, अन्ति, वस्, मस् में १२-१२ और शेष वचनों में ६-६ (१२×६+६×३) ९०। आत्मनेपदी धातु में धातुवृद्धि-स्थल में भी लेट् में त अन्त, थास् ध्वम्, वहि, महि में १२-१२; इ में ६ तथा आतम्, आथाम् में ३-३ रूप होंगे, अर्थात् १२×६+६+३×२=८४, परस्मैपदी से ६ ही कम।

१. ३।१।४४—६१।
२. ७।२।१।
३. ३।३।१३९—४०।
४. ३।४।९४—९८।
५. ३।४।७, ८।

इसलिए आत्मनेपदी धातु में एक के रूप अधिकतम १७४ होंगे। सुबन्त रूप २१ (वस्तुतः १७ ही) की जगह तिङन्त रूप १८० (१७४) कितना अधिक है? और जब णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त तथा यङलुगन्त यौगिक धातु क्रमशः भावि, बुभूष, बोभूय और बोभू आदि प्रत्येक से ये १८० रूप बनाये जायेंगे, तो भू धातु के रूपों की कैसी भरमार होगी? और ये रूप तो केवल कर्त्ता में हुए। इनमें सकर्मक के कर्म तथा कर्मकर्त्ता में और अकर्मक के भाव में फिर इतने ही रूप अलग से होंगे; क्योंकि इन तीनों स्थितियों में सर्वत्र आत्मनेपद होता है, और कोई गणविकरण नहीं, गणविकरण की जगह सर्वत्र यक् (य) होता है। फिर सन्नन्त से यङ्, यङन्त से सन् आदि प्रत्ययमाला भी तो है! यह तिङन्त रूप-सागर वस्तुतः अपार है। इसीलिए संस्कृत में क्रिया-रूप कठिन माना जाता है। विद्वानों की परीक्षा इसी में होती थी "अजर्घा यो न जानाति यो न जानाति वर्वरीः। नाचीकमत जानाति तस्मै कन्या न दीयते" में इस क्रिया-रूप पर ही बल दिया गया है।

इन तिङ् प्रत्ययों के पूर्व धातुओं में क्या-क्या विकार होते हैं, इसका वर्णन पीछे विस्तार से किया जा चुका है, अतः उनकी यहाँ पुनरुक्ति निरर्थक है। इन सब बातों से संस्कृत-व्याकरण की जटिलता समझी जा सकती है।

पर विद्वानों की इस जटिल भाषा को अशिक्षित जनता कैसे सीख सकती थी? फलतः उसने प्रातिपदिक रूपों तथा धातुरूपों को सरल करना शुरू किया। प्रातिपदिक रूपों में नपुंसक तथा द्विवचन को तो हटाया ही, सब व्यंजनान्तों को भी अकारान्त मानकर 'बालक' शब्द की तरह रूप चलाना शुरू कर दिया और क्रमशः सम्प्रदान की जगह भी सम्बन्ध षष्ठी ही आने लगी। अतः प्रातिपदिक रूप का आधे से भी अधिक बोझ उतर आया।[1]

सरलीकरण की यही रीति तिङन्त रूप पर भी लागू की गई। सबसे पहले आत्मनेपद-रूपों को दूर[2] किया गया। सबके लिए परस्मैपद प्रत्ययों की स्वीकृति मिल गई—वर्त्तते वट्टइ (बाटे) बन गया। दूसरा कार्य यह हुआ कि जैसे अधिकांश व्यंजनान्त शब्दों को स्वरान्त बना लिया गया, वैसे ही अधिकांश धातुओं को भौवादिक मान लिया गया, सूते—सवइ, रोदिति—रुवइ, बिभेति—बीहइ, चिनोति—चिणइ, शृणोति—सुणइ, छिनत्ति—छिन्दइ, प्राप्नोति—पावइ, भनक्ति—भञ्जइ, रुणद्धि—रुन्धइ, जानाति—जाणइ, करोति—करइ[3] आदि। इन रूपों को देखने से पता चलता है कि इनके सरलीकरण में दो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं—एक तो उस धातु का सविकरण सार्वधातुक रूप लिया जाता था, दूसरे उसका प्रथमपुरुष बहुवचन रूप ही आधार बनाया जाता था। बहुवचन में सभी विकरण लोप या गुण आदि के कारण अ की तरह हो जाते हैं—रोदिति—रुदन्ति, बिभेति—बिभ्यति, सूते—सुवते, चिनोति—चिन्वन्ति, शृणोति—शृण्वन्ति, छिनत्ति—छिन्दन्ति, भनक्ति—भञ्जन्ति, रुणद्धि—रुन्धन्ति, जानाति—जानन्ति, करोति—कुर्वन्ति आदि। कुछ जगहों में यह स्थिति प्रातिपदिकों में भी थी; कर्त्ता का कर्त्तारं, जम्बु का जामुन, नौका—नाव आदि। बहुत सम्भव है, हिन्दी के आकारान्त पुंलिंग शब्दों का यही स्रोत हो, नकुलाः—नेवला, कर्कटाः—केंकड़ा, पञ्जराः—पिंजड़ा, शल्काः—छिलका, बधिराः—बहरा, अन्धाः—

---

१. पिशेल का 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण', अनुच्छेद ३५५—६३।

२. वही, अनु० ४५२। ३: वही, अनु० ४६४—५१४।

अन्धा आदि। अँगरेजी, फारसी आदि ने अधिकांश प्रातिपदिकों के बहुवचन रूप-ही को आधार बनाया; माता, पिता, भ्राता, स्वसा, दुहिता, नेता = मदर, फादर, ब्रदर, सिस्टर, डौटर, लीडर; मादर, पेदर, बिरादर आदि, तथा बुद्धिमान्, धनवान् की जगह अक्लमन्द, दौलत-मन्द; इज्जतदार, तहसीलदार (तृ-तार-दार) आदि।

क्रियारूपों को सरल बनाने के लिए एक और उपाय किया गया। जिस प्रकार संस्कृत ने लिट् में मूल धातु से भावार्थक आ प्रत्यय कर बाद में कृ, भू, अस् के लिट् का प्रयोग कर, तथा लुट् में मूल धातु से कर्त्ता में तृच् कर अस् या आस् के लट् का प्रयोग कर सभी गणों की धातुओं में एकरूपता ला दी थी, उसी का अनुसरण कर लोकभाषा ने सभी धातुओं से वर्त्तमानार्थक शतृ शानच् तथा भूतार्थक क्त क्तवतु कर अस् धातु के विभिन्न कालीन प्रयोगों से तिङन्त रूपों को अति सरल बनाना शुरू कर दिया; जैसे 'तुमं....गदा असि, किलिन्तो आसी, गयो आसी, उववसिदा आसी, गदा आसि' आदि[1]। ये दो प्रवृत्तियाँ अर्थात् धातु का सविकरण रूप अकारान्त बनाकर एक ही (भ्वादि) गण में सबको रखना तथा धातु के वर्त्तमानकालिक और भूतकालिक कृदन्त के साथ क्रियासामान्यवाची अस, भू आदि का अनुप्रयोग कर विभिन्न कालों की रचना कर लेना, हिन्दी ने प्राकृत और अपभ्रंश से ही उत्तराधिकार में लिया है (पढ़ता है, पढ़ा है, पढ़ता था, पढ़ा था आदि)। इसका एक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-क्रियाओं में लिंग-भेद हो गया; क्योंकि इन सबका उद्‌गम शतृ शानच् प्रत्ययान्त शब्द विशेषण-रूप क्रिया थे। सः या सा दोनों में पठति होगा, पर सः पठन् अस्ति और सा पठन्ती अस्ति। अन्यथा अँगरेजी, संस्कृत कहीं क्रिया में लिंगभेद नहीं है, हिन्दी में क्यों होता?

प्रत्ययों का नग्न रूप :

यदि पूर्वोक्त सभी मध्यप्रत्ययों तथा अन्तप्रत्ययों से अनुबन्ध हटा दें तो उनके नग्न रूप निम्नलिखित ही रह जायेंगे—

(१) ०। शून्य भी एक प्रत्यय है। पाणिनि ने इससे खूब काम लिया है। साधारणतः नियम तो यही है कि प्रकृति प्रत्यय के साथ, अर्थात् स्त्रीशक्ति पुरुषशक्ति के साथ मिलकर ही नई सृष्टि करती है, पर सर्गकाल में अमैथुनी सृष्टि की भी बात सुनी जाती है। पाणिनि ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। नामधातु-प्रत्ययों में क्विप्[2], कृत[3] प्रत्ययों में क्विन्, क्विप्, ण्वि, त्रिच्, विट् और तद्धित-प्रत्ययों में च्वि[4] आदि शून्य प्रत्यय ही हैं। दिश् से विना किसी प्रत्यय-योग के ही दिक्—यह नया शब्द नये अर्थ में तैयार हो जाता है।

(२) अ तथा अ से आरम्भ होनेवाले प्रत्यय—बहुत-से प्रत्ययों का शुद्ध रूप केवल अ ही है। अच्, अप्, अण्, ण, घञ्, घ, क, खच्, खश्, ड, ट, टच्, टक्, अ, श, कञ्

१. पिशेल का 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण', अनु० ५१५—१६।

२. आचार क्विप्।

३. ३।२।५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६७, ६८, ६९, ७०, ७२, ७३, ७६।

४. ५।४।५०।

आदि कृत्[1] प्रत्यय तथा अण्, अञ्, अच्, अन्, ण, ञ, ड, अत् आदि तद्धित[2] प्रत्ययों का नग्न रूप केवल अ है। अ से आरम्भ होनेवाले ये प्रत्यय हैं—अक[3] (ण्वुल्, ष्वुन्, वुन् आदि), अन[4] (ल्यु ल्युट्, युच्, क्युन् आदि), अत् (शतृ), अथु, अनि, अम् (णमुल्) आदि कृत् प्रत्यय तथा अस् (वचस्); अत[5] (भरत), अद् (शरद्), अट् (सरट्), अज् (पृथक्), अन् (राजन्), अल (तरल), अस (चमस), अर (भ्रमर), अन्त (वसन्त) आदि उणादि प्रत्यय। तिङ् प्रत्ययों में आत्मनेपद उत्तमपुरुष इ विधिलिङ् में अ[6] बन जाता है। तथा परस्मैपद में अन्ति अकारादि मौलिक प्रत्यय है, और मि का अम्[7] रूप लङ् आदि में हो जाता है। सुप् प्रत्ययों में अम् और अस् (चार स्थानों में) अकारादि ही हैं। ङसि का भी अत् हो जाता है। तद्धित प्रत्ययों में अक, अड, अन्[8] (अनिच्), अठ (कर्मठ), अस् (पुरस्), अधुना (अधुना), अतर, अतम (कतर-कतम), अति (कति), अय (त्रय), अतस् (दक्षिणतः) आदि अकारादि हैं। अ आगम (अपठत), अ आदेश (बभूव) भी खूब प्रचलित हैं। अर् गुण, कर्त्ता आदि में है तथा अय्, अव् सन्धि नयन, पवन आदि में।

(३) आ—सुप् प्रत्यय में तृतीया का एकवचन आ ही है। स्त्रीप्रत्यय में टाप्, डाप्, चाप् तीनों का अवशेष आ ही है। तद्धित में ये प्रत्यय आकारादि हैं। आ (दक्षिण से दक्षिणा, पटपटा आदि), आत् (दक्षिणात्), आहि (दक्षिणाहि)। कृत् प्रत्ययों में आ कोई प्रत्यय नहीं, भाव में अ होकर टाप् से आ बनता है—इच्छा, पिपासा आदि। आ से आरम्भ होनेवाले—कृत्—आक (वराक), आलु (दयालु), आन (वर्त्तमानः), आरु (शरारु) आदि। सनादि प्रत्यय आय् (गोपायति)। तद्धित—आत् (पश्चात्), आहि (दक्षिणाहि), आलु (हृदयालु), आयन (वात्स्यायन), आयनि (तैकायनि), आमह (मातामह), आर (गोधार), आल (वाचाल), आट (वाचाट), आम् (पचतितराम्), आमिन् (स्वामिन्), आकिन् (एकाकी), आरक (वृन्दारक) आदि। आ आगम (स्वपानि) तथा आदेश (द्वादश) भी खूब मिलता है। आय् आव् सन्धि में नायक, पावक आदि में प्राप्त हैं।

(४) इ—सुप् प्रत्यय सप्तमी एकवचन इ है, तिङ् में भी आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन इ ही है। चुरादि का विकरण तो इ (णिच्) है ही, यह नामधातु-प्रत्यय भी है। इ (चिण्) लुङ् का भी एक विकरण है। कृत् में यह उणादि में मिलता है (यति, कृषि, रुचि आदि) और तद्धित में अपत्यादि अर्थ में (इ दाशरथि)। इ से आरम्भ होनेवाले

---

१. ३।२।१—२२, २८—५५; ३।१।१३४—४४; ३।३।१६—८७, १००, १०२, १२६।
२. ४।१।८३—८६, ४।२।५८, ४।४।६२, १२६; ५।२।४५, १२७; ५।३।१२, ४८।
३. ३।१।१३३, १४५, १४६।
४. ३।१।१३४, ३।३।११५, १२८; ३।२।५६।
५. ३।२।१२४, ३।३।८६, ११२; ३।४।२६।
६. ३।४।१०६।
७. ३।४।१०१।
८. ४।२।८०, ४।३।६८, ५।४।१२४, ५।२।३५, ५।३।२८, ३६, ७१, ८०, ६२, ६३; ५।२।४१, ४३।

कृत्—इन् (णिनि—ब्रह्मचारी, ग्राही), इत्र (लवित्र), इत्नु, (स्तनयित्नु), इष्णु (भविष्णु); उणादि—इत् (सरित्), इक (मूषिक), इन (द्रविण), इर (मदिर), इष (महिष) आदि; तथा तद्धित—इक (लौकिक), इल (तुन्दिल), इथ (नावतिथ), इयत्, (कियत्), इत (तारकित), इन (मलिन), इय (यज्ञिय, इन्द्रिय), इमन् (लघिमा), इम (अग्रिम), इष्ठ (लघिष्ठ), इनेय (कौलटिनेय) आदि हैं। इदम् शब्द से इयत् प्रत्यय करने पर इदम् ई बनकर भ लोप से सर्वथा समाप्त हो जाता है। अतः यहाँ शुद्ध प्रत्यय-रूप इयत् बच जाता है। वाक्, दिक् आदि में जैसे अकेली प्रकृति सृष्टि करती है, वैसे ही यहाँ अकेला प्रत्यय सृष्टि करता है। पर ऐसा उदाहरण विरल है। जैसे अधुना भी केवल प्रत्यय ही है, यहाँ भी प्रकृति-अंश का लोप[1] हो जाता है।

इ के आगम और आदेश भी बहुत हैं (पठित और पिपठिष)। इय् का भी आगम होता है (सुधियौ)।

(५) ई—स्त्रीप्रत्यय ङीप्, ङीष्, ङीन् का अवशेष शुद्ध ई है। और कहीं एकाकी ई प्रत्यय प्रायः नहीं मिलता। ई से आरम्भ होनेवाले सनादि प्रत्यय (ईय—ऋतीय), और कृत् (उणादि ईक—चचरीक) भी अत्यल्प हैं। हाँ, उणादि ने ईर (शरीर), ईष (शिरीष) आदि प्रत्यय रखे हैं।

तद्धित—ईर (काण्डीर), ईमस (मलीमस), ईन (अधीन), ईक (शाक्तीक), ईयस् (लघीयस्) आदि हैं। ई का आगम तथा आदेश भी मिलता है, अग्रहीत्, ज्ञीप्सति आदि।

(६) उ—एकाकी उ केवल गणविकरण (तनादि से उ—तनोति) और कृत् मिलता है, (भिक्षु), उणादि (साधु)। उ से आरम्भ होनेवाला कोई तिङ् या सुप् भी नहीं; हाँ, प्रथमपुरुष बहुवचन का लिङ्, लुङ् आदि में उस् हो जाता है पठेयुः आदि। उ से आरम्भ होनेवाला कृत्—उक (भावुक), उणादि—उन (मिथुन), उर (असुर), उस् (जनुष), उत् (गरुत्), उल (तपुंल), उन (वरुण) आदि और तद्धित—उक (कामुंक), उर (दन्तुर), उप (कुतुप) आदि हैं। कृ धातु से उणादि उल प्रत्यय कर ही कर्षुंल बना होगा, जिसका तद्भव करछुल खूब चलता है। पता नहीं, संस्कृत में कहीं कपुंल प्रयुक्त भी है या नहीं, सभी दर्वि का ही प्रयोग करते हैं। यदि लोक-प्रचलित ऐसे सभी शब्दों का मूल ढूँढ़ा जाय तो कृत् और उणादि प्रत्ययों का मूल्य दिखाई पड़ेगा। उ आदेश मिलता है (चंचूर्यंते, दातुः आदि), उव् का आगम प्रसिद्ध है (भुवौ)।

(७) ऊ—यह विरल प्रत्यय है। स्त्रीप्रत्यय—पंगूः, कृत् (उणादि), तनूः आदि। ऊ से आरम्भ होनेवाला कृत्—जागरूक, यायजूक (ऊक) और तद्धित ऊल (वातूल)।

(८) ऋ—यह केवल उणादि में मिलता है—दिव् से देवृ आदि।

(९) ए—यह सुप् प्रत्यय, चतुर्थी का एकवचन है। तिङ् आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन इ का भी ए रूप हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह कहीं नहीं मिलता। ए से आरम्भ होनेवाला तद्धित—एय (राधेय), एर (गोधेर), एमक (कौलेयक, ग्रैवेयक), एधा (द्वेधा), एयिन् (छागलेयिन्), एत्य (दूरेत्य), एण्य (प्रावषेण्य), एन्य (सामिधेन्य),

1. सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ; महाभाष्य १।२।३।

एनु (हिमनु) आदि । कृत्—एलिम—पचेलिम, उणादि—एण्य—वरेण्य, भी प्राप्त है । हाँ, आदेश में यह खूब व्यवहृत है—देवेषु, देय आदि । गुण तो यह प्रसिद्ध ही है, जेय आदि ।

(१०) ऐ—तङ् इ का लोट् में तथा सुप् ए का नदी-संज्ञक शब्दों में ऐ रूप हो जाता है, एधै, नद्यै आदि । उणादि में 'रा' से ऐ कर रै शब्द तथा उत्+चि से ऐस् (डैसि) कर उच्चैः बनाया गया है । तद्धित में एक ऐर से चाटकैर बनाया जाता है । मनु से मनायी आदि स्थलों में इसका आदेश भी मिलता है, और वृद्धिरूप में तो यह प्रसिद्ध ही है, नीति से नैतिक, देह से दैहिक । वैयाकरण आदि प्रयोगों में यह आगम भी मिलता है ।

(११) ओ—उणादि ने गम् से ओ कर गो, ओस् कर दोस् बनाये हैं । वैसे 'ओत' कर कपोत तथा 'ओर' कर कठोर भी बनाये हैं । किन्तु, इनका प्रत्ययत्व सन्दिग्ध है । हाँ, सुप् में षष्ठी सप्तमी द्विवचन ओस् स्पष्ट है, बालकयोः । यह प्रसिद्ध गुण है—स्तोता, शोक । आगम नहीं मिलता ।

(१२) औ—उणादि ने ग्लौ, नौ आदि के लिए एक औ प्रत्यय माना है, पर इनका निर्वचन सन्दिग्ध है । सुप् का प्रथमा, द्वितीया द्विवचन औ है, बालकौ; तथा सप्तमी एकवचन का कहीं-कहीं औ हो जाता है सख्यौ । यह आदेश-रूप में वृद्धि बनकर आता है, बुद्धि से बौद्धिक, लोक से लौकिक; दौवारिक आदि प्रयोगों में औ आगम भी मिलता है ।

(१३) क—उणादि ने पाक में क और चिक्कण में कण प्रत्यय माना है, यह ठीक नहीं जँचता, पर शल्कः में क प्रत्यय ठीक लगता है । वस्तुतः कृत् में कादि प्रत्यय विरल ही है । काम्य यह एक नामधातु-प्रत्यय प्राप्त है । तद्धित क (युवक, पञ्चक, एक, अधिक), कल्प (पुत्रकल्प), कृत्वस् (बहुकृत्वः), कुण (पीलुकुणः), कट (संकट) आदि । चवर्ग और ह् का कवर्ग होना पाया जाता है—पाक, घात आदि । ग् से आरम्भ होनेवाला एक तद्धित प्रत्यय ग्मिन् (वाग्मी) प्राप्त है, पर वस्तुतः वहाँ मिन् ही प्रत्यय मानना चाहिए । यहाँ केवल वाच् के ग् का ङत्व रोकने के लिए ही प्रत्यय को गकारादि बनाया गया है । शंख आदि में उणादि ख प्रत्यय भी प्राप्त है ।

(१४) त—सुप् में यह प्रत्यय नहीं है । पर तिङ् में तो 'ति', 'तस्', 'त'—ये तीन प्रत्यय मिलते हैं; लोट् में ति का 'तु' और 'तात्' तथा थस् का तम् और थ का 'त' भी होता है, लुट् का विकरण तास् तकारादि ही है । त् से आरम्भ होनेवाले प्रत्यय—कृत्—त (क्त—गतः), तवत् (गतवान्), ति (क्तिन्—गतिः), तृ (दाता), तुम् (गन्तुम्), त्वा (गत्वा), त्र (दात्र), त्रिम (कृत्रिम), तवै, तवे, तोस्, त्वाय आदि (वैदिक); उणादि में तु (जन्तु), त्रि (रात्रि), तन (वेतन), त्नु (कृत्नु), त्यु (मृत्यु), त (हस्त) आदि; तथा तद्धित में त (पर्वत), ति (कान्ति, पक्षति, युवति), तिथ (बहुतिथ), तय (द्वितय), तस् (आदितः), त्व (शठत्वम्), त (तल्—ता—शठता), ताति (शिवताति), त्र (तत्र), त्र (त्रा—गोत्रा), त्रा (देवत्रा), त्य (तत्रत्य), तन (अद्यतन), तीय (द्वितीय), तम (लघुतम, विंशतितम), तर(लघुतर) आदि हैं । यह कह आये हैं कि तर, तम प्रकृति-रूप से भी प्रयुक्त होते हैं—तारतम्य ।

यदि इन्हें प्रकृति नहीं, प्रत्यय ही मानें तो यह सिद्धान्त मानना पड़ेगा कि प्रत्यय से प्रत्यय भी जुड़ सकता है। त के आगम (आगत्य) और आदेश (हन् से घात) भी मिलते हैं।

(१५) थ—तिङ् प्रत्ययों में तीन थकारादि मिलते हैं—थस्, थ, थास् और लिट् में सिप् का भी थ हो जाता है। कृत् कोई थकारादि नहीं मिलता। हाँ, उणादि ने एक थ प्रत्यय मानकर वच् से उक्थ, भृ से अवभृथ, यु से यूथ आदि बनाये हैं, यह अवश्य ग्राह्य है। थि (सक्थि, अस्थि) भी माना जा सकता है। तद्धित—थ (चतुर्थ), थम् (कथम्), था (यथा) आदि।

(१६) द—दकारादि केवल तद्धित-सुलभ हैं—दा (यदा, तदा), देश्य और देशीय (पटुदेश्य, पटुदेशीय), दानीम् (इदानीम्) आदि।

(१७) ध—धकारादि तिङ् प्रत्यय है ध्वम्, शेष केवल तद्धित हैं :—धा (कतिधा), धम् (धमुञ्—द्वैधम्), ध्यम् (ऐकध्यम्) आदि। वास्तव में यह 'धा' प्रत्यय नहीं लगता। यह धा धातु का विच् प्रत्ययान्त या अङ् प्रत्ययान्त रूप है, जैसा विध प्रत्यय में बताया गया है। कति से धा का समास होकर कतिधा बना (कितना धारण करनेवाला)। इसी धा के साथ द्विधा का समास कर स्वार्थिक अण् से द्वैध और ष्यञ् से एकधा का ऐकध्य बना।

(१८) न—नकारादि तीन गणविकरण हैं—न (श्नम्—भिनत्ति), ना (श्ना—जानाति), नु (श्नु—चिनोति)। कुछ कृत् हैं—न (प्रश्न, स्वप्न), नि (हानि), नज् (स्वप्नक्), उणादि नु (भानु), न (जिन), नि (वह्नि) आदि; और कुछ तद्धित हैं ना (विना), न (स्त्रैण), ना (अङ्गना) आदि। न आगम के लिए प्रसिद्ध हैं—बालकानाम्, वनानि आदि। और निष्ठा त का तो इतनी जगह न आदेश हुआ है कि वह स्वतन्त्र प्रत्यय ही लगता है (छिन्न)।

(१९) प से केवल पाश—यह तद्धित-प्रत्यय प्राप्त है (वैद्यपाश), पर यह वस्तुतः स्वतन्त्र शब्द है। प्रेरणा-अर्थ में यह आगम बनकर आता है—स्थापयति।

(२०) ब और (२१) भी एक-एक तद्धित-प्रत्यय बनाते हैं—ब (कम्बः), भ (कम्भः तथा तुन्दिभः)। हाँ, भ् से सुप् विभक्तियाँ कई प्राप्त हैं, तीन भ्याम्, दो भ्यस् और एक भिस्। उणादि भ (गर्भः) आदि भी ग्राह्य हैं।

(२२) म—तिङ्—मि, मस् और महि। कृत्—मर (घस्मर), उणादि म (धर्मः, होमः), मन् (कर्मन्, धामन्), मि (नेमिः, कृमि, भूमिः) आदि; और तद्धित म (मध्यम, पञ्चम, द्रुम), मत् (बुद्धिमत्), मिन् (गोमिन्, वाग्मी भी ?) आदि। म् का आगम प्रसिद्ध है—मितंगम, पर बहुत सम्भव है, यह द्वितीया का अलुक्-मात्र हो।

(२३) यः—सुप् में ए का य होता है—रामाय। तिङ् में यकारादि कोई नहीं है। दिवादि (य—श्यन्) तथा कण्ड्वादि (य—यक्) का विकरण य है। साथ ही नामधातु-प्रकरण में यह क्यच्, क्यङ् तथा क्यष् के रूप में और सनादि में यङ् के रूप में भी प्रयुक्त है। कृत् में यह क्यप् (भृत्य), ण्यत् (पाठ्य), यत् (जेय), ल्यप् (आगम्य); उणादि—यु (मन्यु, दस्यु) आदि में प्राप्त है; और तद्धित में यञ् (गार्ग्य), य (पाश्या), यत् (दन्त्य, तुल्य), ष्यङ् (आवट्या), ष्यञ् (शाठ्य), तथा यु (अहंयुः) आदि में। य आदेश (यद्यपि) तथा य् आगम (भूयान्, ज्यायान्) भी प्रसिद्ध हैं।

(२४) **र**—र् से आरम्भ होनेवाले प्रत्ययों में कृत् में र (नम्र आदि), रु (भीरु, भीरुक, दारुः), उणादि रि (सूरिः आदि), र (शुक्र, छिद्र); तथा तद्धित में र (मुखर), रूप (पटुरूपः), रूप्य (समरूप्यः), र्हि (कर्हि) तथा रि (उपरि) आदि कम ही उदाहरण हैं। हाँ, आगम में (चर्कर्ति, शेरते, एधेरन् आदि) तथा अदेश में (स् का र्—आविर्भाव, न् का र्—अहर्गण, शर्वरी आदि) यह प्रसिद्ध है। यण् में भी एक र् है (दातृ + आ = दात्रा)।

(२५) **ल**—लकारादि प्रत्यय उणादि ल (मूल आदि), कृत् लुक (भीलुक) तथा तद्धित ल (वत्सल), ष्लञ् (शाभीली) आदि विरल हैं। प्रेरणा अर्थ में ल् का आगम (विलालयति, पालयति) तथा त् का आदेश ल् प्रसिद्ध है (उल्लास); यण् भी है (लाकृतिः)।

(२६) **व**—तिङ् में वस् और वहि दो वकारादि प्रत्यय हैं। कृत् में वस् (जग्मिवान्), वन् (यज्वा, राजयुध्वा), वर (स्थावर), उणादि वन् (पर्वन्, अध्वन्), व (विश्व, अश्व); तथा तद्धित में व (केशव), विन् (मायावी), व्य (भ्रातृव्य), वय (द्रुवय), वल (दन्तावल), वति (मातृवत्), वतुप् (तावत्) आदि वकारादि प्रत्यय हैं। व् यण् में से एक आदेश है (स्वागत); म् का (धनवत्) तथा य् का (स्फावयति) भी व् हो जाता है। आगम में भी (बभूवतुः) इसका उपयोग है।

(२७) **श**—केवल दो तद्धित श (लोमश) और शस् (एकैकशः) शकारादि है। स् का श् आदेश होता है (निश्चित)। उणादि में शु और श्व हैं (विशु और पार्श्व) तद्धित शाल और शङ्कट (विशालोंवशङ्कट) का वर्णन पहले आ चुका है।

(२८) **ष**—प्रत्यय एक भी नहीं प्राप्त है। आदेश में पाणिनि का लम्बा षत्व-प्रकरण प्रसिद्ध है। आगम भी विरल ही है (भीषयति)।

(२९) **स**—सुप् में स् तथा सु, अर्थात् आदि और अन्त सकारादि ही हैं। तिङ् में 'सि' है, तथा थास् का भी लट् आदि में 'से' हो जाता है। धातु-प्रत्यय सकारादि इन रूपों में प्राप्त है; सन् स्वार्थिक (चिकित्सति) तथा इच्छार्थक (पिपठिषति), लृट् का विकरण स्य, लुङ् का विकरण क्स (अधुक्षत्), सिच् (अचैषित्) आदि। तद्धितों में भी कुछ सकारादि हैं—स् (द्विः), स (मृत्सा); स्न (मृत्स्ना, पौंस्नम्), सात् (भस्मसात्), स्तात् (उपरिष्टात्) आदि। स् का आगम तिङन्त रूपों में (एधिषीष्ट आदि) मिल चुका है। उणादि ने स प्रत्यय कर हन् से हंस आदि सि से कुक्षि आदि, सु से इक्षु आदि, सर से अक्षर आदि तथा स से वत्स आदि बनाये हैं।

(३०) **ह**—इसका एकमात्र उदाहरण है इह, जो तद्धित है। कुछ प्रत्यय पाणिनि ने (३१) चकारादि जैसे चण (विद्याचणः), चुञ्चु (विद्याचुञ्चुः), चर (आढ्यचर) और कुछ (३२) जकारादि, जैसे जातीय (पटुजातीय), जाह (कर्णजाह) आदि भी माने हैं, पर इनका प्रत्ययत्व सन्दिग्ध लगता है।

उणादि ने तो ढ प्रत्यय कर शण्ढः, षण्ढः; ठ कर कण्ठः, ड कर दण्डः, ग कर पूगः, च कर सूची, द कर शादः, ल कर अम्लः, ख कर मूर्खः, प कर पापम्, फ कर कुल्फः, ट कर जटा, क कर पाकः, ग कर नगः आदि भी बनाये हैं। टवर्ग से प्रत्यय का काम कम लिया गया है, पर अनुबन्ध में ये खूब प्रयुक्त हैं—टक्, ठञ्, डट्, ढक् आदि। ण् आदेश का भी एक लम्बा प्रकरण अष्टाध्यायी में है (णत्वविधान)।

इस परिगणन में भी बहुत-से प्रत्यय छूट गये हैं, इसे मार्ग-प्रदर्शन-मात्र समझना चाहिए। सब प्रत्ययों का परिगणन अनावश्यक लम्बा हो जायगा।

पाणिनि-विहित प्रत्ययों का विश्लेषण करने से स्पष्ट दीखता है कि प्रत्ययों में सर्वाधिक उपयोग स्वरों का है। स्वरों में भी सर्वाधिक अ वर्ण का, फिर इ वर्ण का, तब उ वर्ण का। इसके बाद अन्तःस्थों का उपयोग है। ऊष्मों में स का तथा अनुनासिक व्यंजनों में न और म का प्रयोग अधिक किया गया है। स्पर्शों में त ही एक अपवाद है, जिसका खूब उपयोग हुआ है। अन्यथा इनकी तथा ऊष्मों की उपेक्षा ही हुई है। वर्णों में स्वर और अन्तस्थ ही प्रधान हैं, और शब्दों में प्रत्यय।

प्रकृति-प्रत्यय का एकार्थी भाव :

इस प्रकार एक पद के भीतर कई प्रत्यय जुड़े रह सकते हैं। पर सब मिलकर एक अखण्ड अर्थ का बोध कराते हैं। जैसे शरीर में विश्लेषण करने के लिए हाथ, पाँव, सिर, आँख, नाक, कान, छाती, पेट, पीठ आदि बहुत-से अंग तथा इनके भी कोहनी, अंगुली, नाखून आदि बहुत-से उपांग हैं, फिर भी ये अंग तथा उपांग मिलकर एक शरीर तैयार करते हैं, जिसमें इन सबकी अर्थवत्ता मिलकर एक हो जाती है, और वह शरीर ही लम्बा, मोटा, गोरा, सुन्दर आदि शब्दों से समझा जाता है, प्रत्येक अंग नहीं; ठीक उसी भाँति शब्दों में भी प्रकृति तथा प्रत्यय (की परम्परा) सब एक में मिलकर एकीभूत होकर एकार्थी भाव कर लेते हैं। यह एकार्थीभाव केवल समास, तद्धित आदि पंच वृत्तियों में ही नहीं, जहाँ कहीं दो खण्ड परस्पर जुटते हैं, सर्वत्र हैं। अमेरिका में, रूस में, इंगलैंड में, विभिन्न राज्यों ने मिलकर एकार्थीभाव कर लिया है, भारत भी वही कर रहा है। विना एकार्थीभाव के व्यवहार नहीं चल सकता। शब्दों की और वाक्यों की भी वही स्थिति है। बुध् धातु का अर्थ है समझना, ति का अर्थ है क्रिया। इन दोनों प्रकृति-प्रत्ययों ने मिलकर एकार्थीभाव कर लिया, अर्थ हुआ समझने की क्रिया, प्रक्रिया, शक्ति आदि। फिर बुद्धि से मत् प्रत्यय हुआ, जिसका अर्थ है वाला और प्राशस्त्य आदि। पुनः इन दोनों प्रकृति-प्रत्ययों ने एकार्थी-भाव किया, अर्थ हुआ प्रशस्त बुद्धिवाला। फिर बुद्धिमत् शब्द से सप्तमी एकवचन इ आया, फिर एकार्थी भाव हुआ। अर्थ हुआ प्रशस्त बुद्धिवाले में। इस प्रकार धातु या प्रातिपदिक रूप प्रकृति तथा कृत्, सन्नादि, तद्धित, सुप् या तिङ् रूप प्रत्ययों की परम्परा आगे बढ़ती जाती है, और एकार्थी भाव होता जाता है। अब 'बुद्धिमति' एकार्थीभाव से एक शब्द बन जाता है, इसका वाक्य से सम्बन्ध एकरूप से होगा; शब्दान्तर से सम्पर्क के लिए, विदेश से सम्बन्ध रखने में, सब मिलकर एक हो गये हैं। इसी प्रकार पठ् + णिच् + सन् + तिङ् एकार्थीभाव से एक शब्द बन गये, पिपाठयिषति — पढ़ाना चाहता है, पठ् + णिच् + सन् + अ + आ + ङि — पिपाठयिषायाम् — पढ़ाने की चाह में, पू + त + क्यच् + अ(भावार्थ)। आ (टाप) + आ (टा) — पुत्रीयया — पुत्र पाने की चाह से आदि। इनमें उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व खण्ड एकार्थी भाव कर किस प्रकार अखण्ड बन जाते हैं, यह बड़ा रोचक है। वाक्य में भी सभी शब्द मिलकर एक अर्थ प्रकट करने के लिए एकार्थी भाव कर लेते हैं।

सप्तम अध्याय

वाक्य-विज्ञान

निरुक्त ने तो निरुक्ति-विज्ञान (Etymology) से आगे बढ़कर पद-विज्ञान (Morphology) या रूपरचना-विज्ञान के क्षेत्र में भी पैर नहीं बढ़ाया, वाक्य-विज्ञान की चर्चा वह क्या करता ? शिक्षा का विषय तो खैर ध्वनिविज्ञान से आगे का था ही नहीं। इस प्रकार शिक्षा और निरुक्त-वाङ्मय के बाद एक तीसरे वेदाङ्ग, व्याकरण का प्रणयन आवश्यक हो गया। व्याकरण ने अपनी पृष्ठभूमि के लिए वर्णसमाम्नाय और सन्धिसूत्र देकर ध्वनिविज्ञान को तथा कृत्, तद्धित आदि प्रत्यय देकर निरुक्ति-विज्ञान को भी अपना अंग बनाया, किन्तु उसने अपना स्वतन्त्र विषय रखा—पद विज्ञान और वाक्य-विज्ञान। पाणिनि के पद-विज्ञान के प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि वस्तुत: पद-विज्ञान वाक्य-विज्ञान से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है; क्योंकि पद कहते ही उसे हैं, जो वाक्य में चल सके, प्रयोग के योग्य हो, अर्थात् सुबन्त या तिङन्त हो। ये सुप् या तिङ् प्रत्यय स्वतन्त्र रूप से कभी नहीं होते, इनका सदा वाक्य में उद्देश्य-विधेय-रूप से सम्बन्ध रहता है। राम: गच्छति में राम: में प्रथमा इसीलिए हुई है कि इसका कर्तृत्व ति प्रत्यय से उक्त है, अन्यथा तृतीया हो जाती। इसी प्रकार गच्छति में ति इसलिए आया है कि कर्त्ता राम अन्यपुरुष का है और एकवचन है। इस तरह स्पष्ट है कि पदविज्ञान अपने पीछे जैसे अर्थविज्ञान का सहारा लेता है, वैसे ही आगे वाक्य-विज्ञान का। वाक्य का विश्लेषण किये विना हम पद का विश्लेषण नहीं कर सकते। 'नदी वहति' और 'भृत्य: वहति' में वाक्य ही वहति का अर्थ बता रहा है। 'भवत:' तिङन्त भी है, सुबन्त भी; सुबन्त में भी द्वितीया बहुवचन तथा पंचमी और षष्ठी का एकवचन, तीन-तीन जगह यही रूप होता है। वाक्य से ही इस वर्णानुपूर्वी का सही विश्लेषण हो सकेगा।

वृत्ति :

बल्कि यह वाक्य-विज्ञान निरुक्ति-विज्ञान तक पहुँच गया है, वहाँ भी प्राय: एक शब्द दूसरे से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है। इसीलिए कृत्, तद्धित, समास, एक शेष, सनाद्यन्त धातु पाँचों को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति की व्याख्या की गई है 'परार्थाभिधानं वृत्ति:', अर्थात् दूसरे (शब्द) के अर्थ को भी प्रकट करना, जहाँ भी एक शब्द दूसरे शब्द के भी अर्थ को अंशत: या पूर्णत: प्रकट कर रहा है, अथवा दूसरे शब्द के अर्थ से सम्बद्ध अर्थ ही प्रकट कर रहा है, वहाँ अनेक-पद-सम्बन्ध-रूप वाक्य के गुण आ ही जायेंगे। समास का तो अर्थ ही है, अनेक पदों का एक पद में परिणत होना, अत: वह तो निरुक्ति-विज्ञान और पद-विज्ञान के क्षेत्र से फैलकर वाक्य-विज्ञान के क्षेत्र तक पहुँचेगा ही, परन्तु नामधातु प्रत्यय, कृत् प्रत्यय तथा तद्धित-प्रत्यय भी प्राय: ऐसे ही हैं। पुत्रायते में तीन शब्द छिपे हुए हैं—पुत्र: इव आचरति अर्थात् कर्त्ता, क्रिया और उपमावाचक शब्द। पुत्रीयति में चार शब्दों के अर्थ का समाहार है

आत्मन: पुत्रम् इव आचरति अर्थात् सम्बन्धषष्ठी, कर्म, क्रिया और सादृश्यवाचक। पुत्रकाम्यति की भी यही स्थिति है। भृशायति (अभृश: भृश: भवति) में कर्त्ता, क्रिया तथा अभूत-तद्भाव। कष्टायते, तपस्यति, वाष्पायते आदि में भी कष्टं करोति, तप: चरति, वाष्पं वमति—इस प्रकार दो शब्दों के अर्थ समाहृत हैं; कवि: इव आचरति—कवयति में तथा अश्वेन अतिक्रामति अश्वयति आदि में भी यही रीति है। पिपठिषति, मुमूर्षति, पापठ्यते, पाठयति प्रभृति सनाद्यन्तों में भी पठन और इच्छा, मरण और इच्छा, पठन और अतिशय, पठन और प्रेरणा आदि एकाधिक अर्थ समाविष्ट हैं। प्रत्ययमाला में तो पुपुत्रीयिषति आत्मन: पुत्रम् इव आचर्तुम् इच्छति, शिशब्दाययिषति—शब्दं कर्त्तुम् प्रेरयितुम् इच्छति आदि में और भी अधिक परार्थ मिले हुए हैं।

अष्टाध्यायी के अनुसार कृत् प्रत्ययों में ३।२।१ से १०१, ३।३।१२६ से १३० तथा ३।४।२४ से ६४ तक के सूत्र सदा किसी समीपवर्त्ती पद से सम्बन्ध रहने पर ही किसी धातु से प्रत्यय का विधान करते हैं। अत: ये सब उपपदसमास[1] के भी क्षेत्र हैं; जैसे दुष्कर:, कुम्भकार:, उदरपूरम् आदि। यहाँ समास और कृत् प्रत्यय रूप दो वृत्तियों का अविभाज्य मिश्रण हो जाता है। इनके अतिरिक्त भी क्रियार्थक क्रिया में तुमुन् और ण्वुल्, भाववाचक घञ्, क्तिन् आदि प्रत्यय और अण् भी विहित[2] हैं। यहाँ तो दो क्रियाओं के परस्पर सम्बन्ध विना प्रत्यय ही नहीं होगा; जैसे—दातुं याति, दानाय याति। कम्बलदायो याति तो कर्म के उपपद रहने पर ही होगा। समानकर्त्तृकता में ही विहित[3] क्त्वा और णमुल् में भी इसी प्रकार दो क्रियाओं का अनिवार्य योग चाहिए, स्मृत्वा नमति या स्मारं स्मारं तथा स्मृत्वा स्मृत्वा नमति में स्मरण और नमन अविभाज्य रूप से सम्बद्ध हैं। बल्कि, तुमुन् भी समानकर्त्तृकता में ही होता है, पाणिनि ने इसकी चर्चा क्यों नहीं की, यह आश्चर्य है। राम: हनिष्यति अत: श्याम: याति—यहाँ हन्तुं याति नहीं होगा। कुछ धातुओं के योग में कुछ शब्दों की कुछ विशेष अर्थों में गतिसंज्ञा की गई है।[4] इन गतिसंज्ञक शब्दों के योग में उन धातुओं से क्त्वा प्रत्यय करने पर गति समास होता है, और उस त्वा का य बन जाता है, जैसे पुरस्कृत्य। इनमें सर्वत्र गतिसमास के साथ कृत् प्रत्ययों का अविभाज्य सम्बन्ध होगा। इन स्थलों में क्त्वा की जगह और भी कोई कृत् प्रत्यय हो सकता है। जहाँ भी इन धातुओं से इन शब्दों का योग होगा, ये शब्द गति हो जायेंगे और यदि उन धातुओं से कोई भी कृत् प्रत्यय किया जायगा तो यहाँ गतिसमास हो जायगा। जैसे क्त करने पर सत्कृत, घञ् करने पर साक्षात्कार, कि करने पर अन्तर्धि आदि। बल्कि अंगीकृत्य, पटपटाकृत्य आदि शब्दों में तीनों वृत्तियों—कृत्, तद्धित और समास का अविभाज्य समन्वय है। यहाँ कृत् क्त्वा, तद्धित च्वि या डाच् तथा गतिसमास तीनों का योग है।

३।४।१ से ५ तक का विधान भी वाक्य की ही अपेक्षा रखता है। क्रिया-समभिहार या क्रिया-समुच्चय तथा उसके साथ सम्बद्ध धातु का अनुप्रयोग वाक्य में ही सम्भव है, धातु-सम्बन्ध में प्रत्यय वाक्य में ही सम्भव हैं। और भी जितने कृत् किसी उपसर्ग के साथ ही

---

१. २।१।१९—२२। २. ३।३।१०—१२। ३. ३।४।२१-२२। ४. १।४।६०—७९।

विहित हैं, उनमें भी पदान्तर की अपेक्षा तो हो ही गई। उन सब स्थलों में प्रादि समास है; जैसे प्रभु: अलंकरिष्णु:, सम्पर्की, समज्या, नीवारा:, प्रस्ताव: आदि। और जिनमें किसी भी दूसरे पद, उपसर्ग, गति आदि की अपेक्षा नहीं है, वे भी क्रिया के साथ कर्त्ता, कर्म आदि विभिन्न कारक या भाव, वर्त्तमान आदि कोई भी एक काल तथा अर्ह, शक्ति, ताच्छील्य, ताद्धर्म्य आदि कुछ अधिक अर्थ भी प्रकट करते हैं।

इसी भाँति बहुत-से तद्धितों में भी पदान्तर का अर्थ समाहृत होता है, 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' से प्रशस्ता बुद्धि: अस्ति अस्य वा अस्मिन्, इस अर्थ में बुद्धि शब्द से मतुप् प्रत्यय विहित है, अत: 'बुद्धिमान्' शब्द स्पष्ट ही 'प्रशस्तबुद्धि' इस बहुव्रीहि पद का पर्याय है। इसी भाँति निम्नलिखित सभी स्थलों में किसी-न-किसी समासार्थ में ही किसी तद्धित-प्रत्यय का विधान है, अत: तद्धित-प्रत्यय अनेक पदों का अर्थ प्रकट कर रहा है।

(१) पौषी पौर्णमासी अस्मिन् (पौषपौर्णमासीक:)—पौष: मास: (सास्मिन् पौर्णमासीति) ४।२।२१।

(२) शिव: देवता अस्य (शिवदेवत:)—शैव: जन:—सास्य देवता ४।२।२४।

(३) पङ्क्ति: आदि: अस्य (पङ्क्त्यादि:)—पाङ्क्त: प्रगाथ:—सोस्यादिरितिच्छन्दस: प्रगाथेषु, ४।२।५५।

(४) सुभद्रा प्रयोजनमस्य (सुभद्राप्रयोजन:) —सौभद्र: संग्राम:। } संग्रामे प्रयोजन योद्धृभ्य: ४।२।५६।

(५) भरता: योद्धारोऽस्य (भरतयोद्धृक:)—भारत: संग्राम:। } संग्रामे प्रयोजन योद्धृभ्य: ४।२।५६।

(६) दण्ड: प्रहरणमस्याम् (दण्डप्रहरणा)—दाण्डा क्रीडा-तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां ण: ४।२।५७।

(७) श्येनस्य पात: अस्यां (श्येनपाता)—श्यैनंपाता क्रिया—घञ: सास्यां क्रियेतिञ: ४।२।५८।

(८) उदुम्बरा: सन्ति अस्मिन्—औदुम्बरो देश:—तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४।२।६७।

(९) मथुरा निवास: अस्य (मथुरानिवास:)—माथुर:—सोस्यनिवास: ४।३।८९।

(१०) अस्ति इति मति: यस्य (अस्तिमति:)—आस्तिक:—अस्ति नास्ति दिष्टं मति: ४।४।६०।

(११) अपूप: (अपूपभक्षणं) शीलमस्य (अपूपशील:)—आपूपिक:—शीलम् ४।४।६१

(१२) एकं कर्मान्यिद् वृत्तं यस्य (एकान्य:)—ऐकान्यिक:—कर्माध्ययने वृत्तम् ४।४।६३।

(१३) अग्रभोजनं नियतं दीयते अस्मै (नियताग्रभोजन:)—आग्रभोजनिक:—तदस्मै दीयते नियुक्तम् ४।४।६६।

(१४) पदं दृश्यम् अस्मिन् (दृश्यपद:)—पद्य: कर्दम:—पदमस्मिन् दृश्यम् ४।४।८७।

(१५) वर्चस्वान् उपधानो मन्त्र आसाम् (वर्चस्वदुपधाना:)—वर्चस्या: इष्टका:—तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक्० ४।४।१२५।

(१६) प्राकार आसाम् आसु वा स्यात्—प्राकारीया इष्टकाः—तदस्य तदस्मिन्० ५।१।१६।

(१७) तारकाः संजाता अस्य—(संजाततारकम्) तारकितं नभः—तदस्य संजातम्० ५।२।३६।

(१८) ऊरू प्रमाणमस्य (ऊरुप्रमाणः)—ऊरुमात्रम्—प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।२।३७।

(१९) पञ्च अवयवा यस्य (पञ्चावयवः)—पञ्चतयम् दारु—संख्याया अवयवे० ५।२।४२।

(२०) एकादश अधिकम् अस्मिन् (एकादशाधिकम्)—एकादशं शतम्—तदस्मिन्नधिक० ५।२।४५।

(२१) देवदत्तः ग्रामणीः एषाम् (देवदत्तग्रामणीकाः)—देवदत्तकाः—स एषां ग्रमणीः ५।२।७८।

(२२) समयः प्राप्तः अस्य (प्राप्तसमयः)—सामयिकः—समयस्तदस्य प्राप्तम् ५।१।१०४।

(२३) इन्द्रमहः प्रयोजनम् अस्य (इन्द्रमहप्रयोजनः)—ऐन्द्रमहिकः प्रयोजनम् ५।१।१०९।

(२४) शृङ्खलम् बन्धनम् अस्य (शृंङ्खलबन्धनः)—शृङ्खलकः करभः ५।२।७९ शृङ्खलमस्य० ५।२।७७।

(२५) उद्गतं मनः यस्य (उन्मनाः)—उत्कः—उत्क उन्मनाः ५।२।८०।

(२६) गुडापूपाः प्रायेण अन्नम् अस्याम्—(गुडापूपिकान्ना)—गुडापूपिका पौर्णमासा ५।२।८२।

(२७) पञ्च भृतिः अस्य (पञ्चभृतिकः)—पञ्चकः—सोऽस्यांशवस्नभृतयः ५।१।५६ आदि।

उपर्युक्त सभी स्थलों में अप्रथमार्थ में तद्धित-प्रत्यय किये गये हैं, ये सब बहुव्रीहि के विषय हैं।

इसी प्रकार दशरथस्य अपत्यम्—दाशरथिः[1] (दशरथापत्यम्), शिवीनां निवासः—शैवः[2] (शिविनिवासः), मृत्तिकाया विकारः[3]—मार्त्तिकः (मृत्तिकाविकारः), दूतस्य कर्म (दूतकर्म) दूत्यम्[4] आदि में षष्ठी तत्पुरुष; स्रुघ्ने भवः[5] (स्रुघ्नभवः)—स्रौघ्नः, मथुरायां जातः[6] (मथुराजातः) माथुरः, मासे[7] देयम् (मासदेयम्) मासिकम्, ऋणम् आदि में सप्तमी तत्पुरुष; वशंगतः[8] (वशगतः) वश्यः, संशयम् आपन्नः[9] (संशयापन्नः) सांशयिकः, मासं भावी[10] (मासभावी)—मासिकः, अंशं हारी[11] (अंशहारी)—अंशकः आदि में द्वितीया तत्पुरुष;

---

१. ४।१।९२, ९५।
२. ४।१।६९।
३. ४।३।१३४।
४. ४।४।१२०।
५. ४।३।५३।
६. ४।३।२५।
७. ४।३।४७।
८. ४।४।८६।
९. ५।१।७३।
१०. ५—१८०।
११. ५।२।६९।

मासेन[१] निर्वृत्तम् (मासनिर्वृत्तम्)— मासिकम्, शतेन[२] क्रीतम् (शतक्रीतम्)— शत्यम्, वसिष्ठेन दृष्टम्[३] (वसिष्ठदृष्टम्)—वासिष्ठम्, कषायेण रक्तम्[४] (कषायरक्तम्)—काषायम्, वररुचिना[५] कृत: (वररुचिकृत:)—वाररुचो ग्रन्थ: आदि में तृतीया तत्पुरुष; वत्सेभ्य:[६] हित: (वत्सहित:) —वत्सीय: में चतुर्थी तत्पुरुष; स्रुघ्नात्[७] आगत: (स्रुघ्नागत:)—स्रौघ्न:, तन्त्रात् अचिरापहृत:[८] (तन्त्राचिरापहृत:)—तन्त्रक: पट:, हिमवत: अदूरभवम्[९] (हिमवददूरभवम्)—हैमवतम् नगरम् आदि में पञ्चमीतत्पुरुष; धर्मं चरति[१०] (धर्मचारी या धर्मचार:)—धार्मिक:., व्याकरणमधीते[११] (व्याकरणाध्यायी या व्याकरणाध्याय:)—वैयाकरण:, शब्दं करोति[१२] (शब्दकार:) —शाब्दिक:, श्वेतच्छत्रम् अर्हति (श्वेतच्छत्रार्ह:) श्वैतच्छत्रिक:[१३], वेतनेन जीवति[१४] (वेतनजीवी)—वैतनिक:, हस्तिना चरति[१५] (हस्तिचारी)—हास्तिक:, स्थण्डिलेशेते[१६] (स्थण्डिलशायी)—स्थाण्डिलो भिक्षु: आदि में उपपदतत्पुरुष:; अङ्गारेभ्य: एतानि (अङ्गारार्थानि)—अङ्गारीयाणि काष्ठानि आदि में मयूरव्यंसकादितत्पुरुष का ही क्षेत्र है, जिसके अर्थ में तद्धित हो गया है। यथामुखं[१७] दर्शन:—यथामुखीन:, आप्रपदं[१८] प्राप्नोति—आप्रपदीन:, अनुपदं बद्ध:[१९] अनुपदीन:, आगवीन:[२०], अनुगवीन:[२१], अभ्यमित्रीय:[२२] प्रतिजनं साधु:—प्रतिजनीन:[२३] आदि में अव्ययीभाव; साप्तपदीनम्[२४], सख्यम् आदि में द्विगु; समांसमां विजायते[२५]—समांसमीना गौ:, हैयङ्गवीनम्[२६], अद्यश्वीना[२७], काकतालीयो बध:[२८], अलंकर्मीण:[२९] आदि में मयूरव्यंसकादितत्पुरुष; सर्वाङ्गं व्याप्नोति[३०]—सर्वाङ्गीण:, महाकुलस्य अपत्यम्[३१]—महाकुल:, वामदेबेन[३२] दृष्टं साम—वामदेव्यम्, पाण्डुकम्बलेन परिवृतो[३३] रथ:] पाण्डुकम्बली[३४], विश्वजनाय हितं—विश्वजनीनम्, सर्वभूमेरीश्वर:[३५]—सार्वभौम: में कर्मधारय तत्पुरुष ; गोपुच्छेन[३६] क्रीतम—गौपुच्छिकम् वत्सशालायां जात:—वात्सशाल:[३७], पितृष्वसु: अपत्यम्—पैतृष्वस्रीय:[३८], जिह्वामूले

---

१. ५।१।७९।
२. ५।१।२१।
३. ४।२।७।
४. ४।२।१।
५. ४।३।११६।
६. ५।१।५।
७. ४।३।७४।
८. ५।२।७०।
९. ४।२।७०।
१०. ४।४।५८।
११. ४।२।५९।
१२. ४।४।३४।
१३. ५।१।६३।
१४. ४।४।१२।
१५. ४।४।८।
१६. ४।२।१५।
१७. ५।२।६।
१८. ५।२।८।
१९. ५।२।९।
२०. ५।२।१४।
२१. ५।२।१५।
२२. ५।२।१७।
२३. ४।४।९९।
२४. ५।२।२२।
२५. ५।२।१२।
२६. ५।२।२३।
२७. ५।२।१३।
२८. ५।३।१०६।
२९. ५।४।७।
३०. ५।२।७।
३१. ४।१।१४१।
३२. ४।२।९।
३३. ४।२।११।
३४. ५।१।९।
३५. ५।१।४२।
३६. ५।१।३९।
३७. ४।३।३६।
३८. ४।१।१३२।

भवः—जिह्वामूलीयः[1], मद्वर्गे भवाः—मद्वर्ग्याः[2], प्रजापतेः[3] अयम—प्राजापत्यः आदि में षष्ठी तत्पुरुष; दुष्कुलस्य अपत्यम्[4]—दौष्कुलेयः, प्राचि भवम्—प्राच्यम्[5], सुवास्तोरदूरभवम्[6]—सौवास्तवम् आदि में प्रादितत्पुरुष; पूर्वाह्णे जातः[7]—पूर्वाह्णकः, अपराह्णे भवः[8]—आपराह्णिकः आदि में एकदेशितत्पुरुष, ईश्वराधीनः[9] में सप्तमी तत्पुरुष; चातुर्वर्ण्यं,[10] षाड्गुण्य आदि में द्विगुतत्पुरुष; छन्दोगानां[11] धर्मं आम्नायो वा छान्दोग्यम् आदि में उपपदतत्पुरुष; पराँश्च परतराँश्च अनुभवति—परम्परीणः, पुत्रपौत्रमनुभवति—पुत्रपौत्रीणः, अवारपारंगामी-अवारपारीण, द्यावापृथिवीयम्[12] आदि में द्वन्द्व[13]; कृतपूर्वी-कटम्[14] आदि में बहुव्रीहि किये विना तद्धित होगा ही कैसे ? पूर्वस्यां शालायां भवः—पौर्वशालः, षण्णां मातृणामपत्यम्[15]—षाण्मातुरः आदि में तो तद्धित-प्रत्यय ही समास का निमित्त भी है। कुछ स्थलों में स्पष्ट ही समास का उल्लेख कर उससे तद्धित-प्रत्यय बताया गया है; जैसे—परिमुखं भवम्—पारिमुख्यम्, अन्तर्वेश्मं भवम्—आन्तर्वेश्मिकम्, अध्यात्मं भवम—आध्यात्मिकम् आदि में अव्ययीभाव[16]; पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः–पञ्चकपालः, द्विनैष्किकम्[17], द्वयाढकीना[18], द्विमास्यः आदि में द्विगु; अपतित्वम्[19] आदि में नञ् तत्पुरुष; किरातार्जुनीयं, काकोलूकिका, शैष्योपाध्यायिका आदि में द्वन्द्व[20] उल्लेख कर ही प्रत्यय बताये गये हैं।

इस प्रकार पूरे तद्धित-प्रकरण में समास का जाल फैला हुआ है। पाँचवें अध्याय के चौथे पाद में सूत्र-संख्या ६८ से लेकर अध्याय की समाप्ति १६० तक केवल समासान्त प्रत्यय ही हैं, जो समास के बाद प्रायः करने ही पड़ते हैं। इनमें अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व सबके लिए प्रत्यय विहित हैं; जैसे उपनदम्, अध्यात्मम्, प्रतिसामम्, पूर्वरात्रः, पूर्वाह्णः, पुण्याहम्, देवराजः, कृष्णसखः, पञ्चगवम्, आकर्षश्वः, द्विनावम्, सुरभिगन्धिः, केशाकेशि, व्यूढोरस्कः. छत्रोपानहम्, नक्तंदिवम्, अहोरात्रम् आदि समासान्त[21] प्रत्ययों से ही सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार स्त्रीप्रत्यय, समास और तद्धित भी परस्पर मिश्रित रहते हैं। द्विपदी में ङीप्; बहुयज्वा में डाप्; कुण्डोध्नी, द्विहायनी, बहुराज्ञी, सपत्नी, चन्द्रमुखी में ङीप्, करभोरूः में ऊङ्; बहुव्रीहि[22] समास से ही विहित है; तथा[23] कुरुचरी में ङीप् उपपदतत्पुरुष से, वस्त्र-क्रीती में ङीप् तृतीया तत्पुरुष से, गृहपत्नी में षष्ठी तत्पुरुष से, त्रिलोकी, द्विपुरुषी आदि में ङीप् द्विगुतत्पुरुष से। कौमुदगन्ध्या में तो एक ही साथ बहुव्रीहि समास, ष्यङ् तद्धित तथा चाप्

१. ४।३।६२। ८. ४।३।२४। १५. ४।२।१०७।
२. ४।३।६४। ९. ५।४।७। १६. ४।१।११५।
३. ४।१।८५। १०. ५।१।१२४ पर वार्त्तिक। १७. ४।३।५९-६० तथा उस पर वार्त्तिक।
४. ४।१।१४२। ११. ४।३।१२९।
५. ४।२।१०१। १२. ४।२।३२। १८. ४।१।८८, ५।१।३०, ५।१।५४, ८२।
६. ४।२।७७। १३. ५।२।१०।११। १९. ५।१।१२१।
७. ४।३।२८। १४. ५।२।८७। २०. ४।३।८८,१२५; ५।१।१३३।
२१. ५।४।११०,१०८,७५,७७,८७,८८,९१,९२, ९७,९९,१०६,१२७,१३५,१५१।
२२. ४,१,८,१३,२५,२७,२८,३५,५४,६९। २३. ४।१।१५,५०,३४,२१,२४।

स्त्रीप्रत्यय तीनों[1] का मिश्रण है। कुण्डोघ्नी[2] में बहुव्रीहि समास तद्धित अनङ् और स्त्री-प्रत्यय ङीष् का, तथा कुरुचरी[3] में उपपदतत्पुरुष, कृत् प्रत्यय ट और स्त्रीप्रत्यय ङीप् का।

कहीं केवल कृत् और तद्धित का ही अविभाज्य सम्मिश्रण हो जाता है, जैसे कृत्रिमम्, सांराविणम्, व्यावक्रोशी आदि।[4] कभी दो तद्धितों का ही सम्मिश्रण अनिवार्य हो जाता है, जैसे पठतितमाम्।[5]

कहीं सनाद्यन्त धातुप्रत्ययों और कृत् प्रत्यय का ही अनिवार्य योग होता है—जिज्ञासु, अघायु, पिपासा, पुत्रीया, कण्डूया, भावना, ताडना, चङ्क्रमणः, यायजूकः, यायावरः आदि।[6]

इस प्रकार कृत् तद्धित समास और सनाद्यन्त धातु भी परस्पर संकीर्ण हो जाते हैं।

कृत् सनाद्यन्त और तद्धित प्रत्यय असमस्त एक शब्द से भी हो सकते हैं, परन्तु समास के लिए तो अनेक पदों का होना अनिवार्य है। जब अनेक पद परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण मिलकर एक ही शब्द में समाविष्ट हो जाते हैं तो उसे समास कहते हैं। अष्टाध्यायी में दूसरे अध्याय के प्रथम द्वितीय पाद समास का ही वर्णन करते हैं। चूँकि समास अनेक पदों का सम्बन्ध बताता है, इसलिए यह वाक्य-विज्ञान का विषय है, और चूँकि समास हो जाने के बाद वह एक पद बन जाता है, इसलिए पदविज्ञान का। इस प्रकार समास पद-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान का सन्धिस्थल है। अतः वाक्य-विज्ञान में पहले समासों का ही वर्णन किया जाता है।

समास :

समास मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व। २।१।५ से २१ तक अव्ययीभाव समास का वर्णन है।

अव्ययीभाव :

मुख्य लक्षण ये हैं—(१) यह समास[7] अव्यय बन जाता है, जो कि इसके अन्वर्थ नाम से ही प्रकट हो रहा है। फलतः यह क्रियाविशेषण-सा हो जाता है। (२) इसमें प्रायः पूर्वपदार्थ की प्रधानता होती है। (३) पहला पद प्रायः अव्यय ही रहता है। अव्ययीभाव समास कई परिस्थितियों में विहित है :—

१. कुछ विशेष[8] अर्थों में; जैसे—विभक्ति-अर्थ में हरौ इति अधिहरि, गृहे इति अधि-गृहम्; समीप अर्थ में कृष्णस्य समीपम—उपकृष्णम्; अभाव अर्थ में मक्षिकाणाम् अभावः—निर्मक्षिकम्; पश्चात् अर्थ में विष्णोः पश्चात—अनुविष्णु; योग्यता में रूपस्य योग्यम—अनु-

---

१. ४।१।७८ तथा ७४।
२. ५।४।१३१ तथा ४।१।२५।
३. ३।२।१६ तथा ४।१।१५।
४. ३।३।८८ तथा ४।४।२०; ३।३।४४ तथा ५।४।१५; ३।३।४३ तथा ५।४।१४।
५. ५।३।५६ तथा ५।४।११।
६. ३।२।१६८,१७०; ३।३।१०२, १०७; ३।२।१५०, १६६, १७६।
७. १।१।४१। ८. २।१।६।

रूपम्, वीप्सा में, अर्थम् अर्थम् प्रति इति प्रत्यर्थम्; अनतिक्रमण में, जैसे शक्तिम् अनतिक्रम्य—यथाशक्ति आदि।

२. कुछ परिस्थितियों में यह समास पूर्वपद में अव्यय के विना भी होता है; जैसे यावन्तः श्लोकाः—यावच्छलोकम्[१], शाकस्य लेशः[२]:—शाकप्रति, अक्षेण विपरीतं वृत्तम्[३]—अक्षपरि।

यह नित्य समास है, अतः यहाँ अपने पदों से विग्रह नहीं दिखाया जा सका है।

नीचे वैकल्पिक अव्ययीभाव के उदाहरण हैं—

३. कुछ स्थलों[४] में प्रादि कर्मप्रवचनीयों का वैकल्पिक अव्ययीभाव समास विहित है। जैसे—बहिर्वनम्—बहिर्वनात्, आमुक्ति—आमुक्तेः, अभ्यग्नि—अग्निमभि, अनुवनम्—वनमनु, अनुगङ्गम्—गङ्गाया अनु।

४. षष्ठी तत्पुरुष के विषय में—गङ्गायाः पारम्—पारेगङ्गम् या गङ्गापारम्, गङ्गाया मध्यम्, मध्येगङ्गम् या गङ्गामध्यम्। यहाँ पार और मध्य का एदन्तत्व निपातन किया गया है। पर वस्तुस्थिति यह है कि गङ्गायाः पारे और मध्ये विग्रह में सप्तमी का अलुक् हुआ है।

५. द्विगु के विषय में—द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ—द्विमुनि व्याकरणम्, पञ्चानां नदीनां समाहारः—पञ्चनदम्।

६. बहुव्रीहि के विषय में—उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे, स उन्मत्तगङ्गं नाम देशः।

उपर्युक्त तीनों स्थितियों में न तो पूर्व पदार्थ की प्रधानता है, न पहला पद अव्यय है। वस्तुतः इनमें अव्ययीभाव का अतिदेश ही समझना चाहिए।

तत्पुरुष :

तत्पुरुष में उत्तर पदार्थ प्रधान होता है, और पर शब्द के अनुरूप[६] ही पूरे समस्त शब्द का लिंग होता है। यह समास सबसे विस्तृत है। इसके कई भेद-प्रभेद हैं—

१) विभक्तितत्पुरुष या व्यधिकरण तत्पुरुष :

(क) द्वितीयातत्पुरुष[७]—ग्रामंगतः—ग्रामगत :; अवकाशं प्राप्तः—अवकाशप्राप्तः; शरणम् आपन्नः—शरणापन्नः; नरकं पतितः—नरकपतितः।

(ख) तृतीया[८]—मासेन पूर्वः—मासपूर्वः; पित्रा समः—पितृसमः; देवेन दत्तः—देवदःत्त; काकैः पेया—काकपेया नदी; दध्ना ओदनः—दध्योदनः।

(ग) चतुर्थी [९]—यूपाय दारु—यूपदारु; जनायहितम—जनहितम; द्विजाय अयं द्विजार्थः आदि।

(घ) पञ्चमी[१०]—चोरात् भयम्—चोरभयम्, स्वर्गात् पतितः....स्वर्गपतितः

१. २।१।८।
२. २।१।९।
३. २।१।१०।
४. २।१।११—१६।
५. २।१।१८, १९, २०, २१।
६. २।४।२६।
७. २।१।२४—२९।
८. २।१।३०—३५।
९. २।१।३६।
१०. २।१।३७—३९।

(ङ) षष्ठी[1]—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः ।

(च) सप्तमी[2]—ईश्वरे अधि—ईश्वराधीनः, मासे देयम्—मासदेयम्, पूर्वाह्णे कृतम्—पूर्वाह्णकृतम् ।

(२) कर्मधारय या समानाधिकरण तत्पुरुष :

(क) विशेषणोभयपद[3]—पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नातानुलिप्तः कृष्णसारङ्गः कृताकृतम् ।

(ख) दिक्पूर्वपदक[4]—तद्धितार्थ में—पूर्वस्यां शालायां भवः—पौर्वशालः ।

उत्तरपद में—पूर्वा शाला प्रिया यस्य—पूर्वशालाप्रियः ; यहाँ तत्पुरुष समास का बहुव्रीहि समास से ही परस्पर सांकर्य हो जाता है ।

(ग) संख्यापूर्वपदक[5]—इसे ही द्विगु कहते हैं। इस प्रकार तत्पुरुष का भेद कर्मधारय है, और कर्मधारय का भेद द्विगु है ।

तद्धितार्थ में—षण्णां मातॄणाम् अपत्यम्—षाण्मातुरः । उत्तरपद के पूर्व, पञ्च गावो धनं यस्य—पञ्चगवधनः ; यहाँ भी कर्मधारय का बहुव्रीहि के साथ सांकर्य है। समाहार में त्रयाणां भुवनानां समाहारः—त्रिभुवनम्, अष्टानाम् अध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी ।

(घ) विशेष्यपूर्वपदक[6]—वैयाकरणखसूचिः, गोगृष्टिः ।

(ङ) उपमानपूर्वपदक[7]—घनश्यामः ।

(च) उपमित पूर्वपदक[8]—पुरुषव्याघ्रः ।

(छ) विशेषण[9] पूर्वपदक—नीलोत्पलम्, मध्यमपुरुषः, महापुरुषः ।

(ज) मयूरव्यंसकादि[10]—निश्चितं च प्रचितं च—निश्चप्रचम्, नास्ति किञ्चन यस्य सः अकिञ्चनः, अकुतोभयः, देशान्तरम्, चिदेव आदि ।

(३) एकदेशि समास[11]—यह भी व्यधिकरण का ही एक भेद है। अह्नः पूर्वः—पूर्वाह्णः, मध्यः—मध्याह्नः, अपरः—अपराह्णः । रात्रेः पूर्वः, मध्यः, अपरः—पूर्वरात्रः, मध्यरात्रः, अपररात्रः आदि ।

(४) नञ् तत्पुरुष[12]—यह कर्मधारय का ही एक भेद है। अब्राह्मणः, अनुचितम् । ईषत् समास—ईषत्पिङ्गलः ।

(५) प्रादि[13]—प्राचार्यः, अतिमालः, सुपुरुषः, कुपुरुषः, कापुरुषः ।

(६) गति समास[14]—साक्षात्कारः, अंगीकारः, तिरोभावः, सत्कारः ।

(७) उपपद[15]—कुम्भकारः, द्विपः, मध्यस्थः आदि ।

गति और उपपद समास नित्य होते हैं ।

---

१. २।२।८ ।
२. २।१।४०—४८ ।
३. २।१।४९,६०,६९ ।
४. २।१।५१ ।
५. वही ।
६. २।१।५३,६५,६६,६७,७१ ।
७. २।१।५५ ।
८. २।१।५६ ।
९. २।१।५७, ५८,६१ आदि ।
१०. २।१।७२ ।
११. २।२।१,२ ।
१२. २।२।६७ ।
१३. २।२।१८ ।
१४. वही ।
१५. २।२।१९ ।

बहुव्रीहि :

जिसमें अन्य पदार्थ प्रधान हो, उसे बहुव्रीहि[1] कहते हैं, यह विशेषण होकर सर्वलिंग हो जाता है।

(१) द्वितीयार्थ में—प्राप्तम् उदकं यं सः—प्राप्तोदकः ग्रामः।

(२) तृतीयार्थ में—दत्तं चित्तं येन—दत्तचित्तः पुरुषः।

(३) चतुर्थ्यर्थ में—उपहृतः पशुः यस्मै—उपहृतपशुः रुद्रः।

(४) पञ्चम्यर्थ—उद्धृतम् ओदनं यस्मात्—उद्धृतौदनं पात्रम्।

(५) षष्ठ्यर्थ—वीराः पुरुषा यस्य—वीरपुरुषकः ग्रामः। अविद्यः पुरुषः।

(६) सप्तम्यर्थ—सप्त पर्णानि यस्मिन्—सप्तपर्णं पुष्पम्।

(७) संख्यार्थ बहुव्रीहि[2]—द्वौ वा त्रयो वा—द्वित्राः।

(८) दिगर्थ बहुव्रीहि—दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्चान्तरालं या दिक् सा दक्षिणपूर्वा।

(९) सहार्थ बहुव्रीहि—पुत्रेण सह सपुत्रः। सकुशलः, सपरिवारः।

(१०) सरूप बहुव्रीहि—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तम् इति केशाकेशि।

(११) व्यधिकरण बहुव्रीहि—नाभेः जन्म यस्य—नाभिजन्मा, चन्द्रः शेखरे यस्य—चन्द्रशेखरः।

द्वन्द्व[3] :

जिसमें सभी पदार्थ प्रधान हों, उसे द्वन्द्व कहते हैं। और समास प्रायः दो ही पदों में होते हैं, पर यह दस-बीस पदों के साथ, अन्तपदों के साथ भी हो सकता है। इसके मुख्य दो भेद हैं ('च' के अर्थ तो ४ हैं, पर समुच्चय "ईश्वरं गुरुं च भजस्व" में तथा अन्वाचय "भिक्षा-मट गां चानय" में समास नहीं होगा; क्योंकि वहाँ परस्पर अन्वय नहीं रहता)। इतरेतरयोग—रामः च, लक्ष्मणः च, भरतः च, शत्रुघ्नः च—रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः। इसके उदाहरण

---

१. २।२।२३,२४,२५,२६,२७,२८।

२. यहाँ 'द्वित्र' का अर्थ है—दो अथवा तीन। यहाँ न दो की प्रधानता है, न तीन की। इसी के आधार पर 'मैं उनकी ईमानदारी-बेईमानी नहीं जानता' आदि में ईमानदारी या बेईमानी अर्थ कर विकल्प-अर्थ में भी द्वन्द्व माना जा रहा है। "बुद्धि थोड़ी-बहुत सबमें होती है', 'उनकी सुन्दरता-कुरूपता से मुझे क्या मतलब' आदि वाक्यों में दोनों पद 'च' या 'और' से नहीं जुटते; 'वा', 'अथवा' से जुटते हैं। अतः इसे बहुव्रीहि में रखें या द्वन्द्व में, इसके अन्तर्भाव के लिए एक नया नियम बनाना चाहिए। विकासशील भाषा में व्याकरण का परिवर्धन होना चाहिए।

३. चार्थे द्वन्द्वः—२।२।२९।

अष्टाध्यायी में भरे-पड़े हैं—२।४।२५ में ५ शब्दों का, २।४।१२ में १० शब्दों का, ५।४।७७ में २५ शब्दों का द्वन्द्व मिलता है। इसमें अन्तिम शब्द के अनुसार लिंग होता है तथा संख्या के अनुसार रामलक्ष्मणौ आदि में द्विवचन और तीन या अधिक के द्वन्द्व में बहुवचन।

समाहार—इसमें अनेक वस्तुओं के समुदाय की विवक्षा होती है, अतः यह सदा एकवचन और नपुंसक होता है। जैसे, पाणी च पादौ च—पाणिपादम्, गौश्च व्याघ्रश्च—गोव्याघ्रम्, यूका च लिक्षा च यूकालिक्षम् आदि।

समास के लिंग-वचन

द्वितीयाध्याय के चतुर्थपाद के प्रथम सूत्र से इकतीसवें सूत्र तक विभिन्न समासों के लिंग, वचन की ही व्यवस्था है। इनमें पहला सूत्र बताता है कि द्विगु समास एकवचन होता है। सूत्र २ से १६ तक बताया गया है कि इन स्थलों में समाहार द्वन्द्व होगा। १७ ने बताया है कि समाहार द्विगु और समाहार द्वन्द्व नपुंसक होते हैं। १८ ने अव्ययीभाव को भी नपुंसक बताया है। १९ से २५ तक तत्पुरुष के वे स्थल गिनाये गये हैं, जहाँ समास नपुंसक हो जायगा; जैसे—गोशाला और गोशालम्, पाठशाला और पाठशालम् दोनों रूप सही हैं। २६ सामान्य सूत्र है। इसके अनुसार शेष द्वन्द्व और तत्पुरुष में परपद के अनुसार लिंग-व्यवस्था होती है। २७ से ३१ तक फिर कुछ अपवाद हैं।

समासकृत विकार :

पीछे कह आये हैं कि ५।४।६८ से १६० तक समासान्त प्रत्यय[1] ही हैं। २।२।३० से ३८ तक यह नियम बनाया गया है कि समास करने पर अमुक शब्द पूर्व में आयगा ; जैसे दन्तानां राजा—राजदन्तः होगा, दन्तराजः नहीं; हरश्च हरिश्च हरहरी नहीं, हरिहरौ होगा आदि। वैसे तो समास होने पर विभक्तियों का लुक् हो जाता है, किन्तु कहीं-कहीं लुक् नहीं भी होता। ६।३।१ से २५ तक इसी के नियम बताये गये हैं। इन्हें अलुक् समास कहते हैं। जैसे—आत्मना पञ्चमः में तृतीया का आत्मनेपदम् में चतुर्थी का, स्तोकान्मुक्तः में पञ्चमी का, वाचोयुक्तिः में षष्ठी[2] का, युधिष्ठिरः में सप्तमी का लुक् नहीं हुआ। यह अलुक् उपपद तत्पुरुष सरसिजम्, स्तम्बेरमः आदि में तथा बहुव्रीहि कण्ठेकालः आदि में भी होता है। इस पाद की समाप्ति तक समासाश्रित की विविध प्रक्रियाएँ बताई गई हैं; जैसे पुंवद्भाव—कृष्णचतुर्दशी, ह्रस्वत्व—विदुषितरा, दीर्घत्व—अष्टावक्रः, आत्व—महादेवः, मुमागम—वाचंयमः, नुडागम—अनश्वः, आनङागम—मातापितरौ, पदादेश—द्यावापृथिव्यौ, हृद्रोगः, पदातिः, उदधिः सपुत्रः, सरूपः, सदृशः, सम्यक्, तिर्यक्, कदन्नम्, कापुरुषः आदि। इस बीच कहीं और चर्चा भी आ गई है, पर मुख्यता समासाश्रय-विधियों की है। ६।१।१४३ से ५७ तक भी समास के बीच सुडागम के बीच सुडागम के ही स्थल गिनाये हैं। ऐसे फुटकल णत्व, षत्व आदि प्रकरणों में भी समासाश्रय-विधियाँ मिल जायेंगी।

---

१. किन्तु कभी समासान्त प्रत्यय नहीं भी किये जाते हैं, अङ्गराजम् की जगह अङ्गराजानम् का प्रयोग मिलता है (वनपर्व, अध्याय २४७)।

२. निर्ममस्य आदि में (आश्वमेधिक, २८।२४) षष्ठी का अलुक् ही मानना चाहिए।

वस्तुत: अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व—इन चार भागों में ही सारे समास-स्थलों का विभाजन, तथा पूर्व और उत्तर पद के अर्थ की प्रधानता से इन चारों का निर्णय करना भी ऐकदेशिक है, व्यापक नहीं। सह सुपा से किया गया समास इन चारों के बहिर्भूत है; जसे भूतपूर्व:, परोक्ष: आदि। कहते हैं, अव्ययीभाव में पूर्व पदार्थ प्रधान होता है, तत्पुरुष में उत्तर पदार्थ, बहुव्रीहि में अन्य पदार्थ और द्वन्द्व में उभय पदार्थ। किन्तु, 'सूपप्रति' इस अव्ययीभाव में उत्तर पदार्थ की, उन्मत्तगङ्गम् में अन्य पदार्थ की, अतिमाल:, पूर्वाङ्ग: आदि तत्पुरुष में पूर्वपदार्थ की और त्रयाणां भुक्तानां समाहार: आदि तत्पुरुष में अन्य पदार्थ की, द्वित्रा: आदि बहुव्रीहि में उभय पदार्थ की, दन्तानाम् ओष्ठयो: च समाहार: दन्तोष्ठम् आदि द्वन्द्व में अन्य पदार्थ की प्रधानता है। अत: समास के निम्नलिखित विभाग करने चाहिए—

१. सुबन्त का सुबन्त से—राजपुरुष:।

२. सुबन्त का तिङन्त से—पर्यनुभूषत्, यहाँ सह सुपा से समास है।

३. सुबन्त का प्रातिपदिक से—कुम्भकार: (यहाँ कुम्भ + ङस् + कार इसी अवस्था में उपपद समास होता है, गतिकारकोपपदानां कृद्भि: सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्ते:)।

४. सुबन्त का धातु से—कटप्रू:, अजस्रम्—ये समास निपातन[1] से ही होते हैं।

५. तिङन्त का तिङन्त से—पिबतखादता।

६. तिङन्त का सुबन्त से—कृन्तविचक्षणा।

अन्तिम दोनों स्थलों में मयूरव्यंसकादि समास है। इस तरह समास छह प्रकार[2] के होते हैं। पाणिनि ने दाधर्त्तिदर्धर्त्ति[3] सूत्र में अट्ठारह तिङन्तों का एक द्वन्द्व किया है।

मयूरव्यंसकादि की तालिका तो अनन्त है, यह आकृतिगण है। कांदिग्भूत:, यत्रसायंगृह:, यत्किंचनकारक:[4] आदि[5] में कितना सौन्दर्य है। भोजपुरी में एक शब्द ग्राम्य बोलियों में चलता है, तोंचाहाँची, यह त्वंचाहंची का ही तद्भव है, जो अब कहीं प्राप्त नहीं, अनुमान-गम्य मात्र है। उच्च (उत् + च), नीच (नि + च) आदि भी मयूरव्यंसकादि-निष्पन्न निपात-समूह ही हैं। (ऊर्ध्वमौहूर्त्तिक ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद्भव:) आदि का प्रयोग[6] कर पाणिनि ने इसका

---

१. क्विब् वचि प्रच्छि० इस वार्त्तिक में तथा नमिकम्पिस्म्यजस० इस सूत्र में। क्रमश: ३।२।१७८ तथा १६७।

२. सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङांतिङा,
सुबन्तेनेति विज्ञेय: समास: षड्विधो बुधै:।

३. ७।४।६५।		४. शान्तिपर्व ११८।२०।

५. ये सब प्रयोग महाभारत में मिलते हैं। 'मध्यंदिनगते सूर्ये' भी (भीष्म० ७७।५७)।

६. ३।३।९।

विस्तार दिखा दिया है। 'वृद्धबाल' मथो सर्वं मार्जाराय न्यवेदयन्[1] में बूढ़े से लेकर बच्चे तक, यह अर्थ है। कथंकथा का प्रयोग द्रोणपर्व १९६।५ में आया है। इसका अर्थ है—कथम् कथम् इति यस्यां वार्त्तायाम् सा। किमिच्छक[2], किसी की क्या इच्छा है, यह जानकर तदनुकूल देना[3]।

संस्कृत की भाँति अँगरेजी में भी समास :

अँगरेजी में भी ये सब समास पाये जाते हैं। नीचे संक्षेप में उदाहरण दिये जा रहे हैं—

१. **अव्ययीभाव**—Inside—अभ्यन्तरम् (आभिमुख्य), underwood—अन्तर्वणम् (विभक्त्यर्थ), life-l ng—आजीवनम्, मर्यादावचन, world-wide—यावद्विश्वम् (अवधारण), after-life—पारेजीवनम् (पारे मध्ये षष्ठ्यावा) आदि। अँगरेजी में ऐसे समास को (unrelated) असम्बद्ध समास कहते हैं।

२. तत्पुरुष :

(क) षष्ठी तत्पुरुष—ear-ring—कर्णभूषण; rail-way—यानमार्ग।

(ख) चतुर्थी तत्पुरुष—cooking-stove, looking-glass, store-house.

(ग) सप्तमी तत्पुरुष—bed-ridden

(घ) पञ्चमी तत्पुरुष—heaven-born

(ङ) तृतीया तत्पुरुष—God-given, horse-driven

(च) द्वितीया तत्पुरुष—heart-rending,

(छ) उपपद तत्पुरुष—wood-cutter, man-eater, motor-builder, shoe-maker, heart-rending.

(ज) कर्मधारय—grandfather, black-board, washerman, lady doctor, man-servant, crystal-clear, snow-white, navy-blue.

(झ) एकदेशितत्पुरुष—midnight, forenoon.

(ञ) नञ् समास—non-vegetarian

(ट) प्रादि—income, output, well-known.

३. **बहुव्रीहि**—one-eyed, noble-minded, red-coloured, north-east.

४. **द्वन्द्व**—bread-and-butter, cury-and-rice.

५. **मयूरव्यंसकादि**—touch-me-not.

६. **अलुक्**—commander-in-chief, father-in-law.

समासमाला :

संस्कृत में सब प्रकार के समास या समासमाला के प्रयोग से इतने लम्बे वाक्य हो जाते हैं कि पाँच मिनट तक या कई पृष्ठों तक उनका उच्चारण या लेखन चल सकता है। कादम्बरी, दशकुमारचरित आदि में इनके पर्याप्त उदाहरण हैं : "शश्वदगण्यपण्य विस्तारित

---

१. उद्योग, १६०।३०। २. शान्ति, ३८।१८। ३. अनुशासन, १४५।३ भी।

मणिगणादि वस्तुजात व्याख्यातरत्नाकर माहात्म्या", "वीरभटपटलोत्तरङ्गतुरङ्गकुञ्जर मकरभीषण सकलरिपुगणकटकजलनिधिमथनमन्दरायमाणसमुद्दण्ड भुजदण्डमण्डलः" आदि। यह पीछे कह आये हैं कि समास से वाक्य का संक्षेपण होता है, समास एक शैली का नाम है। समास का अर्थ है संक्षेप, व्यास का विस्तार। सम्भवतः वेदादिप्रतिपाद्य अर्थ सूक्ष्म और समास-शैली में थे, उनका विस्तृत व्यास-शैली में प्रतिपादन करने से ही उन्हें व्यास उपनाम दिया गया।

कुछ समासरूढ प्रकृतियाँ :

समास में कुछ ऐसे भी शब्द प्रयुक्त होते हैं, जिनका प्रयोग समास के अभाव में नहीं होता—द्विप् के 'प' का, सतीर्थ्य के 'स' का, सपरिवार के 'स' का अकेला प्रयोग सम्भव नहीं है। पाणिनि ने तो दत्, नस्, पद्, धर्मन्, धन्वन्, प्रजस्, मेधस् का भी प्रयोग[1] समास में ही स्थिर कर दिया है। कभी शब्द वही रहता है, पर समासान्त प्रत्यय होने से उसमें ऐसा विकार हो जाता है कि वह पहचान में ही नहीं आता; जैसे—द्वि + अप = द्वीप, चतुर् + पथिन् = चतुष्पथ, उपगिरि, विडालाक्ष आदि।

समस्त पद से अनुक्त पद का भी अर्थाभिधान :

समास में कई अनुक्त पदों का भी अर्थ सम्मिलित रहता है, जैसे उत्तरपूर्वादिक् में दोनों का अन्तराल, द्वित्र में दोनों की निकटवर्त्ती संख्या, केशाकेशि में जिस युद्ध में लोग बाल पकड़कर लड़ते हैं, वह युद्ध; सिंहस्कन्ध में सिंह के कन्धे के समान, शाकपार्थिव में प्रिय रूप अर्थ, घनश्याम में सादृश्य आदि। समास से अर्थसंकोच भी होता है—पीताम्बर, कृष्णसर्पः, तिष्ठद्गु, पञ्चनद आदि।

समास का परस्पर सन्देह भी होता है, वहाँ प्रकरण से ही निश्चय किया जाता है। अनुत्तम का नञ् तत्पुरुष से अर्थ होगा—जो उत्तम नहीं है, और बहुव्रीहि से—जिससे बढ़कर दूसरा कोई उत्तम नहीं है। कितना अन्तर हो गया दोनों में? यही स्थिति 'इन्द्रशत्रु' शब्द में हो गई थी। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' में यह शब्द तत्पुरुष रखा गया था। इन्द्रशत्रु का अर्थ हुआ—इन्द्र का शत्रु अर्थात् नाश करनेवाला, पर तत्पुरुष स्वर अन्तोदात्त नहीं कहकर जपकर्त्ता ने बहुव्रीहि स्वर आद्युदात्त उच्चारण कर दिया, जिसका अर्थ हो गया—'इन्द्र है नाश करनेवाला जिसका'। और, फल यह हुआ कि बिचारा वृत्र स्वर के अपराध से मारा गया। सब समास-स्थल के स्वरों का वर्णन अष्टाध्यायी में षष्ठाध्याय के पूरे द्वितीयपाद के १९९ सूत्रों में वर्णित है। ऋक्प्रातिशाख्य[2] के 'पदप्रकृतिः संहिता' का अर्थ आजतक विवादास्पद ही रह गया, पद की प्रकृति संहिता (वाक्य) है, या संहिता की प्रकृति पद है (पदानां प्रकृतिः या पदानि प्रकृतिः यस्याः)

---

१. पर ये सब स्वतन्त्र शब्द हैं, 'प्रजास्पति' का भी प्रयोग प्रजापति की ही भाँति होता है (वनपर्व, अध्याय २३६)

२. २।१।

एकशेष :

पञ्चवृत्तियों में एक स्थान एकशेष को भी प्राप्त है। यही अन्तिम और लघुतम वृत्ति है। कुछ लोग इसे समास का ही एक भेद समझते हैं। पर यह ठीक नहीं। भाष्य में यह स्पष्ट है कि यह द्वन्द्व समास का अपवाद है। एकशेष के लिए प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में ६४ से लेकर ७३ तक १० सूत्र हैं। समास-प्रकरण से इतना दूर रखकर पाणिनि ने स्पष्ट कर दिया है कि यह समास नहीं, भिन्न जातीय प्रक्रिया है। अन्यथा त्वचौ आदि में द्वन्द्व-लक्षण समासान्त प्रत्यय होने लगेगा। प्रथम सूत्र ने बताया है कि जहाँ एक ही आकृति (आनुपूर्वी) और एक ही अर्थ के अनेक शब्द हों वहाँ एक ही अवशिष्ट रहता है, शेष का लोप हो जाता है। जैसे दो बालकों को कहने के लिए दो बार बालक-बालक कहना पड़ेगा, तीन बालकों को कहने के लिए तीन बार बालक-बालक-बालक कहना पड़ेगा; क्योंकि भिन्न-भिन्न अर्थ (वस्तु) के लिए पृथक्-पृथक् शब्द कहने[1] पड़ेंगे। इस प्रकार बालकौ में एक बालक शब्द का, बालकाः में अनेक बालक शब्दों का लोप और एक 'बालक' शब्द का शेष करना पड़ा है।

शेष सूत्र अनेक आकृति के शब्दों के साथ आने पर एक के शेष के नियम के लिए बने हैं; जैसे भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ, माता च पिता च पितरौ, पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ, श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ, कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ, स च देवदत्तश्च तौ। अँगरेजी में भी पितरौ की तरह पेरेण्ट्स (Parents) और भ्रातरौ की तरह कज्न्स (Cousins) का प्रयोग चलता है।

यहाँ एक शंका होती है। जैसे दो बालकों को कहने के लिए दो बार, जितने बालकों का बोध करना होगा उतनी बार 'बालक' शब्द का प्रयोग करना पड़ेगा; वैसे ही, जितनी क्रियाओं का बोध कराना होगा उतने ही क्रिया-शब्द बोलने होंगे; बालक बालक बालकाः पठ् पठ् पठन्ति कहना होगा। अतः एकशेष की आवश्यकता केवल सुबन्तों में नहीं, तिङन्तों में भी है। अन्ति की विवक्षा में तीन पठ् आयेंगे, उनमें एक का शेष हो, दो का लोप हो जाय, ऐसा उपाय तो करना पड़ेगा। महाभाष्य में इसका उत्तर दिया गया है कि तिङन्त रूपों में एकशेषशास्त्र की आवश्यकता[2] नहीं है; क्योंकि क्रिया में संख्या होती ही नहीं। कैसे इसपर यह शंका की गई है कि फिर क्रियावाचक शब्दों से द्विवचन बहुवचन आते कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि वे क्रिया की एकता अनेकता नहीं, द्रव्य की एकता-अनेकता प्रकट करने के लिए आते हैं। जैसे 'बालकाः पठन्ति' में अन्ति पठन क्रिया की अनेकता नहीं, बालकों की ही अनेकता

---

१. प्रत्यर्थं शब्दाभिनिवेशान्नैकेनानेकस्याभिधानम्, तत्रानेकार्थाभिधानेनेक शब्दत्वम्—'सरूपाणामकशेष एकविभक्तौ'—महाभाष्य, १।२।६४।

२. सिद्धान्तमुक्तावली के प्रत्यक्ष खण्ड में श्लोक ७ की व्याख्या में दिनकरी ने कर्म-विभाजक भ्रमणत्व आदि उपाधियाँ मानी हैं, उत्क्षेपणत्व आदि जातियाँ तो मुक्तावली ने भी स्वीकार की हैं।

प्रकट कर रहा है। पर यह समाधान ठीक नहीं लगता। पठन क्रिया स्वतः भले ही एक हो, परन्तु सम्बन्धिभेद से वह भिन्न होगी ही। सब बालकों का पठन या कोई चेष्टा एक कैसे होगी ? हर बालक का पठन-प्रकार, पठनचेष्टा परस्पर भिन्न होगी। द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में जाति मानी गई है। यदि यह कहें कि तीन बालकों की पठन-क्रिया में एक ही पठनत्व[1] है, तो तीन बालकों में एक ही बालकत्व जाति भी मानी जा सकती है, फिर एकशेष-शास्त्र का आरम्भ अनावश्यक है। और, यदि यह शास्त्र जातिपक्ष के लिए नहीं, व्यक्ति-पक्ष के लिए है, प्रत्येक बालक व्यक्ति को कहने के लिए उतनी ही बार उतने ही 'बालक' शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा, तो यह बात तुल्यन्याय से पठनादि क्रिया के साथ भी लागू होनी चाहिए, अन्यथा 'गौराः बालकाः खेलन्ति' में यदि खेलन क्रिया में संख्या नहीं मानते तो गौरता में भी संख्या क्यों होगी ? इस दृष्टि से संख्या न क्रिया में होगी, न विशेषण में। अतः यह उचित नहीं। यहाँ जैसे बालकाः में एकशेष की आवश्यकता है, वैसे ही गौराः में और खेलन्ति में भी। भला सब बालकों की खेलन क्रिया उपक्रम से उपसंहार तक एक हो ही कैसे सकती है ? अतः एकशेषशस्त्र की आवश्यकता व्यक्तिपक्ष में यदि संज्ञा-शब्दों तथा विशेषण-शब्दों में है तो वह क्रिया-शब्दों में भी आवश्यक है, यदि जातिपक्ष में क्रिया-शब्दों में उसकी आवश्यकता नहीं है तो विशेषणों और संज्ञाओं में भी नहीं है। इसीलिए पाणिनि ने इस सूत्र में एकसुपि न कहकर एकविभक्तौ कहा। विभक्ति से सुप् और तिङ् दोनों का संग्रह हुआ। तिङ् विभक्तियों के पूर्व धातुओं के एकशेष की आवश्यकता नहीं होती, तो विभक्ति कहने का गौरव नहीं कर 'एकसुपि' कह देते।

द्विरुक्ति :

एकशेष से ठीक विपरीत प्रक्रिया है द्विरुक्ति या पुनरुक्ति। अनेक शब्दों की जगह एक शब्द का प्रयोग एकशेष है, और एक शब्द की जगह अनेक शब्दों का प्रयोग द्वित्व। पाणिनि ने यह प्रकरण ८।१।१ से १५ तक रखा है। जैसे—वृक्षं वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्, देव देव वन्द्योऽसि आदि। द्विरुक्ति तिङन्त में भी होती है, पठति पठति। एकशेष द्वन्द्व के क्षेत्र में होता है, और द्विरुक्ति में कहीं बहुव्रीहिवद्भाव होता है, जैसे एकैकमक्षरम्, गतगतः आदि, और कहीं कर्मधारयवद्भाव, जैसे पटु पटुः, प्रियप्रियेण, यथायथम्, द्वन्द्वम् आदि।

कारक और विभक्ति

वाक्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्रिया। 'पठसि' ? प्रश्न तथा 'पठामि' उत्तर आदि स्थलों में एक क्रियापद से भी वाक्य पूरा हो जाता है। किसी भी वाक्य के सभी पदों का साक्षात् या परम्परया क्रिया से ही अन्वय होता है। इसीलिए संस्कृत-वैयाकरण किसी भी वाक्य में क्रिया (व्यापार) को ही मुख्य विशेष्य मानते हैं। विधेय तो क्रिया ही रहती है, और सब उद्देश्य या अनुवाद या पूरक होते हैं। कारकों में क्रिया को ही आधार माना जाता है। जो मुख्य क्रिया को करने में स्वतन्त्र है वह कर्त्ता, जो क्रिया के फल का आश्रय है वह कर्म, जो क्रिया की सिद्धि में सर्वाधिक साधक है वह करण तथा जो क्रिया का आधार है वह

१. न तिङन्तान्येकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति—सरूपसूत्र भाष्य, १।२।३।

अधिकरण कहलाता है। विना क्रिया के वाक्य की कल्पना नहीं हो सकती। 'तीव्रोऽयं छात्रः' में 'अस्ति' क्रिया स्वयं आ जाती है। पीछे कह आये हैं कि संस्कृत में 'अस्ति' क्रिया को सदा गम्य ही छोड़ देते हैं, उसका प्रयोग नहीं करते, उसी में सौन्दर्य माना जाता है। पाणिनि ने भी 'वृद्धिरादैच्[1] अस्ति, अदेङ्[2] गुणः अस्ति, सरूपाणामेक[3] शेषो भवति, भूवादयो[4] धातवः भवन्ति आदि प्रयोग नहीं किये हैं; क्योंकि अस्ति, भवति स्वतः अध्याहृत हो जाते हैं। बल्कि सत्तारूप क्रिया का अन्वय प्रत्येक पदार्थ के साथ सर्वदा लगा रहता है, "न हि पदार्थः सत्तां व्यभिचरति'। क्रिया की यह केवलान्वयिता देखकर ही बौद्धों ने "अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्' का सिद्धान्त बनाया था। यहाँ तक कि सम्बोधन-मात्र 'मोहन !' उच्चारण करने पर भी उसका अर्थ हो जाता है—यहाँ आओ। कोई भी कारक क्रियापद की अपेक्षा रखता है; क्योंकि कारक का अर्थ ही है क्रिया करनेवाला। बालकः पठति, मोदकं खादति, कन्दुकेन खेलति, मित्राय यच्छति, गृहात् गच्छति, विद्यालये क्रन्दति आदि में कर्त्तृत्व आदि निरपेक्ष नहीं हैं। किसी क्रिया की दृष्टि से ही किसी में कर्त्तृत्व, कर्मत्व आदि कहे-समझे जाते हैं। एक ही ब्राह्मण पद ब्राह्मणः अर्चति, ब्राह्मणं नमति, ब्राह्मणेन यजते, ब्राह्मणाय यच्छति, ब्राह्मणात् त्रस्यति तथा ब्राह्मणे विश्वसिति आदि में क्रिया-सम्बन्ध-भेद से भिन्न-भिन्न कारकबन जाते हैं। अतः संस्कृत में कारक छह माने जाते हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण। इनमें सर्वाधिक मुख्य कारक कर्त्ता ही है; क्योंकि वही किसी भी क्रिया को करने में सर्वापेक्षया अधिक स्वतन्त्र है, 'स्वतन्त्रः कर्त्ता[5]'। 'रामः भोजनगृहे लवित्रेण फलं खादति' में राम ही भोजन क्रिया में सर्वाधिक स्वतन्त्र है। इसीलिए इसका नाम कारक का पूरा पर्याय ही रखा गया है, कर्त्ता, यद्यपि क्रियाजनकत्व सबमें थोड़ा-बहुत रहता है। कर्त्ता के बाद शेष कारकों में कर्म सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। क्रिया के दो अर्थ होते हैं—व्यापार और फल। इनमें व्यापार का आश्रय कर्त्ता होता है, किन्तु फल का आश्रय कर्म ही है। अतः क्रिया के साथ इसका भी साक्षात् ही सम्बन्ध है। कर्म की विद्यमानता-अविद्यमानता के आधार पर ही क्रिया के दो भेद माने जाते हैं—सकर्मक तथा अकर्मक। जब क्रिया के फल का आश्रय भी वही होता है, जो क्रिया के व्यापार का आश्रय है, तब उस क्रिया को अकर्मक कहते हैं, और यदि फल तथा व्यापार दोनों के आश्रय दो भिन्न व्यक्ति (अथवा पदार्थ) हैं, तब क्रिया सकर्मक कहलाती है; जैसे—'रामः फलं खादति' में खादन क्रिया का व्यापार रामः में है, और उसका फल 'गलेके भीतर जाना' (गलविलाधःसंयोग) फल में, अतः खाद् धातु सकर्मक है। परन्तु 'रामः शेते' में शयन की चेष्टा तथा उसका फल—आँखें बन्द हो जाना, शरीर निश्चेष्ट हो जाना, दोनों राम में ही है, अतः शी धातु अकर्मक है। वाक्य में कारक तो छह रह सकते हैं, परन्तु प्रधानता कर्त्ता या कर्म की ही रहती है। वाक्य के नेता ये ही दो हो सकते हैं—कर्त्ता या कर्म। जहाँ क्रिया कर्त्ता का अनुगमन करती है, उस वाक्य को कर्त्तृवाच्य कहते हैं; जिसमें कर्म का अनुगमन करती है, उसे कर्मवाच्य; जैसे बालकः फलानि

१. १।१।१। २. १।१।२। ३. १।२।६४। ४. १।३।१। ५. १।४।५४

खादति या खादितवान्, तथा बालकेन फलानि खाद्यन्ते या खादितानि। जिस वाक्य में कर्त्ता या कर्म नेतृत्व नहीं कर पाते, उसमें क्रिया किसी और कारक को नेतृत्व नहीं सौंपती, किसी और का अनुगमन नहीं करती, स्वयं ही प्रधान बन बैठती है। जिस वाक्य में क्रिया स्वयं ही प्रधान रहती है, उसे भाववाच्य कहते हैं; जैसे—'तेन गृहे न स्थीयते, तूष्णीम् न उपविश्यते' आदि। कर्त्ता और कर्म इतने प्रबल होते हैं कि वाक्य में किसी भी कारक को जब चाहें कर्त्ता या कर्म बना सकते हैं। इन दोनों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है।

कर्त्ता और कर्म के बाद प्रबलतम कारक अधिकरण है; क्योंकि वही कर्त्ता या कर्म के द्वारा क्रिया का आधार होता है। इसके बाद करण का स्थान है। यह कर्त्ता और कर्म की भाँति क्रिया का आश्रय नहीं, अधिकरण की भाँति कर्त्ता या कर्म का भी आश्रय नहीं, पर शेष कारकों में क्रिया का प्रकृष्टतम साधक है। अत: करण अर्थात् करने का साधन कहलाता है। अधिकरण साक्षात् नहीं, पर कर्त्ता या कर्म के द्वारा क्रिया का ही आधार हो जाता है। अत: वह क्रिया का अधिकरण, अधिक साधक समझा जाता है, बिना अधिकरण के कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। यह नाम अन्वर्थ है। "श्यामः 'महानसे' इन्धनेन स्थाल्याम् ओदनं पचति" में पाक-क्रिया का फूत्करणादि व्यापार श्याम में है, विक्लित्तिरूपी फल ओदन में, विक्लित्ति की साधकता इन्धन में, तथा कर्त्ता की आधारता महानस और ओदन की आधारतास्थली में है, जिसमें पाक-क्रिया हो रही है। कर्त्ता, कर्म, करण तथा अधिकरण—ये चार नाम कृ धातु से बनते हैं, जिससे क्रिया शब्द बनता है। क्रिया का पर्याय ही कर्म है और कारक का पर्याय कर्त्ता। तथा करण शब्द ही अधिकरण में प्रविष्ट होकर बता रहा है कि यह भी करण की ही एक शाखा है। आधार भी क्रिया-सिद्धि में साधक ही है, पर करण साधकतम है। इन चारों के बाद सम्प्रदान में, तथा सबसे कम अपादान में कारकता है। इसीलिए इन दोनों नामों में कृ धातु नहीं, दा धातु का प्रयोग है। परन्तु हैं ये भी कारक ही। भिक्षुक न होता तो दान किसे दिया जाता, भिक्षुक के अभाव में दान क्रिया नहीं हो सकती है। सम्प्रदान कर्म से एक सीढ़ी नीचे की वस्तु है। कर्त्ता-क्रिया के द्वारा जिसे चाहे वह कर्म होता है, और कर्म के द्वारा जिसे चाहे वह सम्प्रदान। 'विप्राय नृपः गां ददाति' में नृप दान क्रिया से गाय को चाहता है, और गाय द्वारा वह विप्र को चाहता है। इसी भाँति अपादान में भी गौण कारकता है, वृक्षात् पत्रं पतति, अश्वात् पान्थः पतति आदि में पतन क्रिया का साधक ही है वृक्ष या अश्व-रूपी अपादान। वृक्ष या अश्वरूपी अपादान के अभाव में पतन क्रिया नहीं हो सकती है। जहाँ से विश्लेष हो, उसे अपादान कहते हैं, विश्लेष-स्थल के अभाव में विश्लेष की सत्ता कैसे होगी ?

सम्बन्ध और सम्बोधन कारक नहीं होते। 'कृषकस्य पुत्रः पठति' वाक्य में पठन क्रिया में कृषक की क्या उपकारकता है ? कृषक की मृत्यु के बाद भी, कृषक के अभाव में भी उसका पुत्र पढ़ सकता है। क्रिया के क्षण में सम्बन्ध पदार्थ की विद्यमानता भी आवश्यक नहीं है। वह तो कर्त्ता के सम्बन्ध-मात्र को प्रकट करता है। और कर्त्ता के ही क्यों ? सम्बन्ध का योग किसी भी कारक से हो सकता है—इतिहासस्य या मोहनस्य पुस्तकम् पठति,

लौहस्य या मोहनस्य असिना छिनत्ति, विप्रस्य पुत्राय ददाति, इष्टकायाः या मोहनस्य गृहे वसति आदि में सब कारकों के साथ सम्बन्ध का सम्बन्ध स्पष्ट है। इसी भाँति 'भो श्याम, मोहनः कुत्र गच्छति' में गमन क्रिया से श्याम का क्या सम्बन्ध है? इसलिए संस्कृत में कारक छह[1] ही माने जाते हैं।

जैसा कि अभी कहा गया है, सम्प्रदान का कर्म से तथा अपादान का करण से बहुत सादृश्य है। हिन्दी में 'को' चिह्न सम्प्रदान और कर्म दोनों में लगता है और 'से' चिह्न अपादान तथा करण दोनों में। अँगरेजी में कर्म को क्रिया का 'डाइरेक्ट ऑब्जेक्ट' कहते हैं, और सम्प्रदान को "इनडाइरेक्ट ऑब्जेक्ट"। I will give you a book में 'गिभ' (give) क्रिया के दो कर्म हैं—बुक और यू। जब 'यू गिभ' क्रिया से अव्यवहित उत्तर आता है तब वह सच्चे कर्म की तरह हो जाता है और 'टु' यह प्रीपोजिशन नहीं लेता। किन्तु जब 'गिभ' क्रिया के बाद 'बुक' आ जाता है, जो वास्तविक कर्म है, और उसके बाद 'यू' आता है तो 'यू' गिभ क्रिया का कर्म नहीं रह जाता। वह 'टु' प्रीपोजिशन लेकर उसी का ऑब्जेक्ट बन पाता है—"आइ विल गिभ ए बुक टु यू"। ऐसा बन्धन वास्तविक कर्म 'बुक' के साथ नहीं है। वह कहीं भी रहे, गिभ क्रिया का ही कर्म कहलायगा, और 'टु' इस प्रीपोजिशन का अवलम्बन कदापि नहीं करेगा, यह ऊपर के दोनों वाक्यों से स्पष्ट है। डाइरेक्ट और इण्डाइरेक्ट ऑब्जेक्ट का यही अन्तर है। हिन्दी ने यह नियम बना लिया है कि चेतन कर्म में को लगता है और अचेतन कर्म में को प्रायः लुप्त रहता है, अतः यह झगड़ा उठता ही नहीं। 'मैं तुमको एक पुस्तक दूँगा' या 'मैं एक पुस्तक तुमको दूँगा' कहें।

इसी भाँति हिन्दी में करण तथा अपादान के लिए एक ही चिह्न 'से' आता है। वह घर से आता है, पेड़ से गिरता है, बाघ से डरता है में 'से' अपादान बताता है, तथा लाठी से पीटता है, बायें हाथ से खाता है आदि में 'से' करण प्रकट करता है। अँगरेजी ने अपादान के लिए फ्रौम तथा करण के लिए विद प्रायः सुरक्षित कर दिया है। हिन्दी में ही नहीं, संस्कृत में भी करण और अपादान का अभेदसादृश्य स्वीकृत है—"ते वनेन वनं गत्वा"[2] 'वृद्धोपि'[3] युवभिर्वरः आदि प्रयोग यही संकेत कर रहे हैं। (अस्माकं च तथा सैन्यम् अल्पीयः सुतरां परैः[4])

अष्टाध्यायी में कारकों का वर्णन प्रथमाध्याय के चतुर्थपाद के तेईसवें सूत्र से आरम्भ हुआ है। अपादान कारक का २४ से ३१ तक, सम्प्रदान का ३२ से ४१ तक, करण का ४२ से ४४ तक, अधिकरण का ४५ से ४८ तक, कर्म का ४९ से ५३ तक तथा कर्त्ता का ५४-५५ में विश्लेषण है। अर्थात् पाणिनि ने 'विप्रतिषेधे[5] परं कार्यम्' के अनुसार 'गरीयो यद् यदुत्तरम' का क्रम रखा है। ऊपर कारकों का महत्त्व ह्रास-क्रम से बताया गया है,

१. पर अँगरेजी में सम्बोधन और सम्बन्ध भी कारक माने गये हैं तथा करण, अपादान और अधिकरण को स्थान नहीं मिला है। There are five cases in English, the Nominative, the Vocative, the Genitive, the Accusative and the Dative.

—नेसफील्ड व्याकरण, अनुच्छेद ५८।

२. आदिपर्व, १५५।१। ३. उद्योगपर्व, १६७।१२। ४. भीष्मपर्व, १९।५। ५. १।४।१।

पाणिनि ने विकास-क्रम रखा है। किन्तु पाणिनि ने जिस वैज्ञानिकता से सभी कारकों का क्रम स्थिर किया है, वह आज भी प्रशंसनीय है।

साधारणतः अनुक्त कर्म में द्वितीया होती है, कर्त्ता तथा करण में तृतीया, सम्प्रदान में चतुर्थी, अपादान में पञ्चमी और अधिकरण में सप्तमी। इन कारकों के उक्त रहने पर अथवा प्रातिपादिकार्थ मात्र में तथा सम्बोधन में प्रथमा। शेष सम्बन्धों की विवक्षा में, शेष स्थलों में षष्ठी विभक्ति होती है। विभक्तियों का वर्णन दूसरे अध्ययन के तीसरे पाद के प्रथम सूत्र से पाद की समाप्ति, तिहत्तरवें सूत्र तक है। पहले कर्म में द्वितीया, फिर सम्प्रदान में चतुर्थी, फिर कर्त्ता और करण में तृतीया, फिर अपादान में पञ्चमी, फिर अधिकरण में सप्तमी[1], और तब प्रातिपदिकार्थ और सम्बोधन में प्रथमा[2] का वर्णन है। अन्त में शेष स्थलों[3] में षष्ठी विभक्ति का।

आरम्भिक हिन्दी वैयाकरणों ने कारक और विभक्ति का अन्तर समझा ही नहीं। उन्होंने समझा कि कर्म में द्वितीया ही होती है और द्वितीया कर्म में ही होती है। फलतः कर्त्ता और प्रथमा, कर्म और द्वितीया, करण और तृतीया, सम्प्रदान और चतुर्थी, अपादान और पञ्चमी तथा अधिकरण और सप्तमी को अभिन्न मान लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि षष्ठी विभक्ति के साथ सम्बन्ध भी कारकों की पाँत में आ बैठा। यहाँ तक तो फिर भी गनीमत थी। यह अविवेक इतना बढ़ा कि अब सम्बोधन को भी कारक मानकर हिन्दी में आठ कारक मानने लगे हैं। यह तो हद हो गई, सम्बोधन कारक क्या होगा, पृथक् विभक्ति भी नहीं लेता। विभक्तियाँ संस्कृत में सात ही हैं। सम्बोधन में प्रथमा ही विभक्ति होती है, आठवीं कोई विभक्ति है ही नहीं। हिन्दी में आठवीं विभक्ति में हे, अरे की गणना है। यह भी कोई विभक्ति है ? और यह विभक्ति शब्द से आगे नहीं, पीछे जुटती है ? क्या ऐसी कोई भी जगह है, जहाँ सम्बोधन की विभक्ति हे आदि में से कोई भी जोड़ना अनिवार्य हो ? वस्तुतः हे आदि विभक्ति नहीं, सम्बोधन-द्योतक स्वतन्त्र शब्द हैं, इनका अकेला प्रयोग भी खूब होता है। अरे, इधर सुनो; अजी, इधर आइए आदि। और जब कामताप्रसाद गुरु ने इसका विश्लेषण सिर्फ इस कारण[4] छोड़ दिया कि हिन्दी-व्याकरण के लिए यह असुविधाजनक है, तो अब तो इसकी उपेक्षा ही परम्परा बन गई है। वैसे इसका कारण केवल असुविधा ही नहीं, अज्ञान भी है। संस्कृत व्याकरण में भी कारक का विश्लेषण बहुत कठिन माना जाता है : "कारक कठिन कण्ठ नहीं आवे"। व्याकरण एक विज्ञान है, असुविधा के नाम पर उसमें तथ्य की तोड़-मरोड़ नहीं होनी चाहिए। कारक शक्ति का नाम है, विभक्ति केवल उसका द्योतक ध्वनिमात्र है।

संस्कृत में भी यह तो स्पष्ट है कि द्वितीया कर्म में, चतुर्थी सम्प्रदान में, पञ्चमी अपादान में तथा सप्तमी अधिकरण में विहित है, किन्तु एक कारक का दूसरे कारकों से तथा दूसरी विभक्तियों से इतना साङ्कर्य है कि कोई भी विभक्ति किसी भी कारक के लिए

१. क्रम से २।३।२,१३,१८,२८,३६। २. २।३।५०।
३. २।३।४६।४७। ४. दे०—कामताप्रसाद गुरु का व्याकरण, 'तीसरा अध्याय, कारक'।

स्थिर नहीं मानी जा सकती। हर कारक के उक्त होने पर उसमें प्रथमा हो सकती है, तथा कारकत्व की अविवक्षा में सम्बन्धसामान्य में षष्ठी हो सकती है। कर्म और कर्त्ता में तो कारकत्व रहते भी तीन-तीन विभक्तियाँ खूब व्यवहृत हैं। कर्म में प्रथमा, द्वितीया तथा षष्ठी; जैसे घटः क्रियते, घटं करोति, घटस्य कृतिः; कर्त्ता में प्रथमा, तृतीया तथा षष्ठी; जैसे श्यामः पठति, श्यामेन पठ्यते, श्यामस्य पठनम्। साथ ही विना कर्मत्व के द्वितीया हो सकती है और विना कर्त्तृत्व करणत्व के भी तृतीया; जैसे ग्रामस्य दूरं दूरेण वा विद्यालयः आदि में।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्त्ता की मुख्य विभक्ति तृतीया ही है। जैसे कर्म में द्वितीया और सम्प्रदान में चतुर्थी आदि विहित हैं, वैसे कर्त्ता में तृतीया ही विहित[1] है। तिङ् से उक्त रहने पर जैसे किसी भी कारक में प्रथमा ही होती है, वैसे ही कर्त्ता में भी। किन्तु अनुक्त कर्त्ता की अपनी विभक्ति तृतीया ही है। इस मामले में करण अधिकरण की तुलना में कर्त्ता के निकट अधिक है। अनुक्त अधिकरण की अपनी विभक्ति सप्तमी है, पर अनुक्त करण में ठीक कर्त्ता की भाँति तृतीया ही होती है। अर्थात् विभक्ति के मामले में करण बिलकुल कर्त्ता ही बन बैठता है। ठीक ही तो है, करण ही तो साधकतम है, और कर्त्ता कारकतम। साधकतम और कारकतम का सर्वाधिक सहयोग स्वाभाविक है। किन्तु, किसी जगह अधिकरण भी करण की तुलना में कर्त्ता के निकटतर पहुँच जाता है। क्त प्रत्यय कर्त्ता, कर्म और भाव के बाद अधिकरण[2] से ही विहित हैं, करण से नहीं।

कारक-साङ्कर्य

वैसे कई कारकों का परस्पर साङ्कर्य है। सम्प्रदान शब्द की अन्वर्थता से प्रायः लोग समझते हैं कि जिसे कोई वस्तु दी जाय उसे ही सम्प्रदान कहते हैं, पर सम्प्रदानता के और भी कई स्थल हैं। देवदत्ताय रोचते स्वदते वा अपूपः, देवदत्ताय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते, धारयति, क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति, राध्यति, ईक्षते, प्रतिश्रृणोति, आश्रृणोति तथा अनुगृणाति; प्रतिगृणाति इन स्थलों में दान का भाव नहीं रहने पर भी सम्प्रदान संज्ञा[3] हुई है। पाणिनि ने तो यही कहा है कि कर्त्ता कर्म के द्वारा जिसे चाहे वह सम्प्रदान होता है, दान की बात ही नहीं कही है। अथवा उपर्युक्त स्थलों में अतिदिष्ट सम्प्रदानत्व मानना चाहिए। सम्प्रदान का कर्म के साथ साङ्कर्य है। क्रुध् और द्रुह् धातुओं के योग में सम्प्रदान संज्ञा होती है, पर यदि इन धातुओं के साथ उपसर्ग का योग हो जाय तो कर्म[4] संज्ञा होती है, क्रूरम् अभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति। स्पृह् के योग में ईप्सित वस्तु में सम्प्रदान संज्ञा होती है; जैसे पुष्पेभ्यः[5] स्पृह्यति, पर वही यदि ईप्सिततम हो जाय तो उसकी कर्म-संज्ञा हो जायगी—पुष्पाणि स्पृहयति। वस्तुतः देवदत्तं श्लाघते, शपते, द्रुह्यति ईर्ष्यति, असूयति, ईक्षते आदि प्रयोग भी कर्मसंज्ञा से बनाने चाहिए थे। अधिकरण का भी कर्म से साङ्कर्य

१. २।३।१८। २. ३।४।७६। ३. १।४।३२ से ४१ तक।
४. १।४।३८। ५. १।४।३६।

है। सामान्यतः सब आधार अधिकरण होते हैं, परन्तु अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते, उपवसति, अधिवसति, आवसति वैकुण्ठम् होगा, अभिनिविशते सन्मार्गम् होगा[१]। यहाँ आधार कर्म बन गया है। करण का कर्म तथा सम्प्रदान से साङ्कर्य माना गया है। साधारणतः साधकतम करण कारक हो जाता है, पर दिव् धातु का साधकतम कर्म भी बन जाता है और करण भी, जैसे अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति। इसी भाँति परि उपसर्गपूर्वक क्री धातु का साधकतम कभी करण, कभी सम्प्रदान बनता है, जैसे शताय शतेन वा परिक्रीतः[२]। धातु से प्रेरणार्थक बनाने पर कुछ मूल धातुओं का कर्त्ता कर्म बनकर द्वितीया विभक्ति लेता है, कुछ का कर्त्ता ही बना रहकर तृतीया लेता है[३]; जैसे है ; जैसे गमयति ग्रामं देवदत्तं यज्ञदत्तः, तथा वाहयति भारं देवदत्तेन यज्ञदत्तः आदि।

विभक्ति-साङ्कर्य :

जैसे ऊपर एक कारक की जगह दूसरे कारक का विधान बताया गया, वैसे ही विभक्ति-प्रकरण में एक कारक में दूसरे कारक की विभक्ति का, या दो विभक्तियों का साङ्कर्य है। जैसे गमन के कर्म में द्वितीया के साथ चतुर्थी[४] भी स्वीकृत है—स ग्रामम् अथवा ग्रामाय गच्छति। हु धातु के कर्म में द्वितीया के साथ तृतीया भी विहित है, जैसे यवागूम् अग्निहोत्रं जुहोति अथवा यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति।[५] सम् उपसर्गपूर्वक ज्ञा धातु के कर्म में भी वैकल्पिक रूप से द्वितीया के साथ तृतीया की भी अनुमति है, जैसे पित्रा पितरं वा संजानीते।[६] कात्यायन[७] ने भी यज् धातु के कर्म में करण संज्ञा तथा सम्प्रदान की कर्मसंज्ञा की है, जैसे 'पशुं रुद्राय यजते' की जगह पशुना रुद्रं यजते, और इन् प्रत्ययान्त क्त के कर्म में सप्तमी विभक्ति की स्वीकृति दी है, जैसे—अधीती व्याकरणे[८] आदि। मन्य के कर्म में वैकल्पिक चतुर्थी[९] भी स्वीकृत है, न त्वां तृणं तृणाय वा मन्ये और स्तोक आदि शब्दों में करण में पञ्चमी[१०] भी, स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः आदि। तथ्य यह है कि सभी कारक तथा विभक्तियाँ विवक्षावश होती हैं। कहाँ क्या कारक या विभक्ति होगी, यह इसपर निर्भर करता है कि हम किसी बात को किस ढंग से प्रकट करना चाहते हैं। इन्धनेन पचति की जगह इन्धनं पचति भी होता है और स्थाल्यां पचति की जगह स्थाली पचति भी। पर श्यामः पचति के 'पचति' से इन दोनों का तात्पर्य-भेद है। जब कोई कहता है—मेरा खाना हीटर पकाता है तो उसका यह अर्थ होता है कि हीटर इतना अच्छा है कि मुझे कुछ करना नहीं पड़ता है। यहाँ ऐसा कहना ठीक नहीं है कि करण की कर्त्ता-संज्ञा या अधिकरण की कर्त्ता-संज्ञा हो गई। वस्तुतः यहाँ करणत्व या अधिकरणत्व की जगह कर्तृत्व की ही विवक्षा की गई

---

१. १।४।४५ से ४८ तक।
२. १।४।४२ से ४४ तक।
३. १।४।५२ तथा ५३।
४. २।३।१२।
५. २।३।३।
६. २।३।२२।
७. ८।१।३२ पर वार्तिक।
८. २।३।३६ पर वार्तिक।
९. २।३।१७।
१०. २।३।३३।

है। बात यह है कि किसी भी धातु का अर्थ विभिन्न दिशाओं में प्रसृत या संकुचित होता रहता है। एक धातु के अर्थ में अनेक छायाएँ (shades) रहती हैं। किसी क्षेत्र या समय में किसी एक छाया पर बल दिया जाता है, दूसरे में दूसरी पर। क्रिया के अर्थ में परिवर्त्तन के कारण उसके कारकों तथा सम्बद्ध विभक्तियों में भी अन्तर पड़ता रहता है। हिन्दी में हम कहते हैं: 'वह गेंद खेलता है।' 'वह गेंद से खेलता है' कोई नहीं कहता। यद्यपि यहाँ गेंद स्पष्ट ही खेल का करण कारक है, किन्तु पूर्ववाक्य में गेंद इस करण पर नहीं, गेंद के खेल पर बल है, अर्थात् वहाँ गेंद का अर्थ है गेंद का खेल—जैसे वह क्रिकेट खेलता है, हॉकी खेलता है, पोलो खेलता है, कबड्डी खेलता है आदि। यदि हम कहते हैं कि वह गेंद से खेलता है तो उसका अर्थ होता है—वह गेंद का कोई खेल नहीं खेलता, उसे छू-छाकर मन बहलाता है। ऐसा प्रयोग अक्सर हम छोटे बालकों के लिए करते हैं। संस्कृत में 'कन्दुकेन क्रीडति' का प्रयोग अधिक प्रचलित है—'कन्दुकेन क्रीडन्तीत एवागच्छति'[1] आदि। परन्तु उपर्युक्त प्रकार से 'कन्दुकं क्रीडति' प्रयोग भी सही है। पाणिनि ने 'दिव: कर्म च'[2] से दिव् के साधकतम को कर्म और करण दोनों कहा। यह ठीक विश्लेषण नहीं हुआ। वस्तुस्थिति यह है कि कन्दुकं तथा कन्दुकेन क्रीडति की भाँति अक्षै: अक्षान् वा दीव्यति दोनों प्रयोग अर्थ के छाया-भेद से सही हैं। हिन्दी में भी 'गोटी खेलना' बोला जाता है। जब अक्ष या कन्दुक में साधकतमत्व की विवक्षा होगी, तब उनमें करणत्व और तृतीया होगी; जब उनका अर्थ लक्षणा द्वारा क्रीडाविशेष हो जायगा तब क्रीड् का ईप्सिततम होने से कर्मत्व और द्वितीया होगी। इसी भाँति शतेन शताय वा वत्सं परिक्रीणाति में सम्प्रदानत्व[3] की कहानी भी होगी। हिन्दी में कहा जाता है, "उसने सौ रुपये में बाछा बेच दिया या खरीद लिया" (He bought or sold the calf for one hundred rupees.)। कारण यह है कि हिन्दी ने रुपये को बाछे की खरीद-बिक्री का आधार-मात्र माना है, उद्देश्य नहीं। अंगरेजी में अर्थ-प्रधानता के कारण रुपया क्रेता-विक्रेता का वत्स आदि के द्वारा अभिप्रेत माना गया। अत: वह सम्प्रदान हुआ। हिन्दी में किसी की विवशता या लोभ दिखाने के लिए जब रुपया अभिप्रेत माना जाता है, तब उसने सौ रुपये के लिए बाछा बेंच दिया, प्रयोग किया जाता है। इसमें विक्रेता कर्त्ता है, उसी का अभिप्रेत है रुपया। परन्तु जहाँ विक्रेता अपादान है और क्रेता कर्त्ता है, वहाँ भी विक्रेता की रुपये पर लुब्ध दृष्टि का प्रभाव वाक्य-रचना पर पड़ने लगा, और "उसने सौ रुपये के लिए बाछा खरीदा" ऐसे प्रयोग अँगरेजी आदि में चलने लगे। "शताय परिक्रीत:" प्रयोग उसी का एक अवशेष है, जो शिष्टों का समर्थन पाकर परिनिष्ठित संस्कृत में भी प्रविष्ट हो गया। अत: कहना यह चाहिए था कि क्रयसाधन विवक्षवशात् कहीं सम्प्रदान भी बन जाता है, और क्रीडा-साधन कर्म भी। इसी भाँति 'पशुं रुद्राय यजते' तथा 'पशुना रुद्रं यजते' समानार्थक नहीं हैं, पहले का अर्थ है पशु को रुद्र के लिए उपहृत करता है, दूसरे का पशु के द्वारा रुद्र को पूजता है। यज् धातु का अर्थ दान भी है, और पूजा भी—'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु[4]।' इसी प्रकार व्याकरणम् अधीत: का अर्थ है

---

१. स्वप्नवासवदत्तम्—अंक २, प्रथम अनुच्छेद।
२. १।४।४३।
३. १।४।४४।
४. भ्वादि।

व्याकरण पढ़ा हुआ, व्याकरणे अधीती का, व्याकरण में अध्ययनवाला। इन स्थलों में अर्थभेद का उल्लेख उचित था। रुच् के योग में सम्प्रदान कारक विहित है, पर 'अहिंसास्मासु रोचते'[१] में अधिकरण का प्रयोग है; क्योंकि 'हमलोगों को अहिंसा रुचती है' का यहाँ अर्थ है हमलोगों में अहिंसा आदृत है। 'श्रेयसि केन तृप्यते', 'नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्' में तृप् के योग में सप्तमी और षष्ठी मिलती है, परन्तु हिन्दी में व्यवहार 'से' का चलता है, कल्याण से कौन तृप्त होता है आदि। खट्वायां शेते तथा खट्वाम् अधिशेते में भी समानार्थता नहीं है। शी अकर्मक है, अतः उसका आधार खट्वा अधिकरण बनता है, किन्तु अधि उपसर्ग के योग से शी धातु सकर्मक बन जाती है। 'यदा मानवः सुखे भवति' और 'यदा मानवः सुखमनुभवति' में तात्पर्यभेद स्पष्ट है। न त्वामभिभविष्यन्ति[२] में अभिभव का अर्थ अपमान हो गया। अँगरेजी में He sits on a cot और He occupies a cot में अर्थभेद साफ दीखता है, He came over the trouble तथा He overcame the trouble में अन्तर पड़ गया न। अतः केवल यह कह देना कि खट्वाम् अधिशेते में आधार की कर्मसंज्ञा हो गई, ठीक नहीं। कहना यह चाहिए कि अधि के योग से शी के सकर्मक होने पर आधार में ईप्सिततमत्व की विवक्षा से परत्वात् कर्मत्व हो गया और द्वितीया हुई। 'वृक्षात् पत्रं भूमौ पतति' का प्रयोग विरल है, 'वृक्षात् पत्रं भूमिं पतति' का अधिक; क्योंकि भूमि आधार होने पर भी ईप्सिततम होने से कर्म बन जाती है। किन्तु हिन्दी में 'पेड़ से पत्ता जमीन पर गिरता है' यही अधिक चलता है, 'जमीन को' प्रयोग अतिविरल है। संस्कृत ने ईप्सिततमत्व पर बल दिया, हिन्दी ने आधारता पर। अँगरेजी ने दोनों का समन्वय कर दिया : The leaf falls from the tree on to the ground। संस्कृत में कहते हैं 'स वृक्षम् आरोहति'; अँगरेजी में भी कहते हैं 'He climbs the tree', किन्तु हिन्दी में कहते हैं, 'वह पेड़ पर चढ़ता है।' हिन्दी ने पेड़ में आधारता की विवक्षा रखी। संस्कृत में स कक्षां या कक्षायां प्रविष्टः—दोनों चलते हैं। हिन्दी में 'वह कक्षा में प्रविष्ट होता है', किन्तु अँगेरेजी में 'He goes into the class' में दोनों का समन्वय हो गया। 'इन' से आधारता सूचित हुई और 'टु' से ईप्सिततमता। पर He enters the class—यहाँ आधारता की विवक्षा लुप्त हो गई। संस्कृत में 'स मोहनेन कथयति' नहीं होगा, मोहनं कथयति; अँगरेजी में भी He asks Mohan होगा। किन्तु, हिन्दी में 'वह मोहन से कहता है', यहाँ कथन क्रिया का मोहन साधकतम हो गया। 'गुरुः फाल्गुनेन[३] अब्रवीत्' जैसा प्रयोग संस्कृत में विरल है, अँगरेजी में असम्भव।

इस तरह जहाँ कहीं भी एक कारक की जगह दूसरा कारक, या एक बिभक्ति की जगह दूसरी विभक्ति विहित है, वहाँ यह समझना चाहिए कि उस स्थल में दोनों का अवकाश है, जहाँ जैसी विवक्षा की गई, वहाँ वैसा प्रयोग हुआ। जैसे वह स्टोव से खाना पकाता है, या स्टोव पर। He came in a car अथवा He came by a car आदि।

---

१. आश्वमेधिक-पर्व २८।१८।
२. अनुशासन-पर्व, १२०।२७।
३. आदिपर्व, १६७।१२।

विभक्ति के स्रोत :

किसी भी शब्द में किसी विशेष विभक्ति के लगने के निम्नांकित कारण हो सकते हैं—

(१) उसमें कोई विशेष कारक-शक्ति है। जैसे 'पुस्तकम् पठति' में द्वितीया है; क्योंकि पुस्तक में कर्मत्व है। किसी भी शब्द में कोई विशेष कारक-शक्ति है, तब भी उसमें अनेक विभक्तियाँ हो सकती हैं; जैसे—(क) तिङ्योग में अनुक्त कर्त्ता में तृतीया, बालकेन ओदनः खाद्यते; अनुक्त कर्म में द्वितीया, बालकः ओदनं खादति। (ख) किन्तु कृद्[1] योग में षष्ठी, कृष्णस्य कृतिः जगतः कृतिः आदि। (ग) उक्त रहने पर प्रथमा, जैसे बालकः खादति, ओदनः खाद्यते आदि। (घ) कभी एक कारकत्व रहने पर भी उसकी विवक्षा न कर दूसरी कारक-शक्ति की विवक्षा कर उसकी विभक्ति जोड़ी जाती है, जैसे शतेन शताय वा परिक्रीतः में शत से कभी करण मानकर तृतीया, कभी सम्प्रदान मानकर चतुर्थी। (ङ) कभी सभी कारक-शक्तियों की विवक्षा छोड़कर सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी, जैसे "यो न उज्जेष्यति स प्रथमः सोमस्य पास्यति[2]", कभी (च) किसी क्रिया का प्रयोग नहीं रहने पर भी, उसे गम्यमान समझकर कारकत्व प्राप्त करना और विभक्ति लेना, जैसे 'कुतो भवान्' में आगतः की प्रतीति से कुतः में अपादानत्व और पञ्चमी (कस्माद् भवान्), वैसे ही 'पाटलिपुत्रात्' में भी।

(२) कभी किसी क्रियाविशेष के योग में भी कारक संज्ञा होकर उस कारक की विभक्ति होती है, जैसे रुच्यर्थक धातु के योग में सम्प्रदान संज्ञा, हरये रोचते भक्तिः[3]; धारि धातु के योग में उत्तमर्ण में सम्प्रदान संज्ञा, देवदत्ताय शतं धारयति[4], भयार्थक त्राणार्थक के योग में अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी, व्याघ्रात् विभेति, त्रायते[5] आदि।

(३) कभी ऐसा होता है कि उस शब्द में (वर्त्तमान क्रिया के प्रति) कोई कारकत्व नहीं है, पर किसी विशेष अर्थ के कारण किसी खास विभक्ति का विधान किया जाता है, जैसे मासं पठति में द्वितीया अत्यन्तसंयोग[6] अर्थ में है, यागाय याति में चतुर्थी भावार्थ[7] में, मासेन पठितम् में तृतीया फलप्राप्ति-अर्थ में तथा अक्ष्णा काणः में तृतीया अङ्ग-विकार[8] अर्थ में, धूमात् अग्निमान् में पञ्चमी हेतु[9] अर्थ में, और 'छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः' में षष्ठी तथा सप्तमी[10] निर्धारण-अर्थ में।

कारक और उपपद विभक्तियाँ :

(४) कभी किसी क्रियाभिन्न निकटवर्त्ती पद के योग-मात्र से विभिन्न विभक्तियाँ की जाती हैं। कारकत्व के कारण की गई विभक्ति को कारक-विभक्ति कहते हैं और पदान्तर-समभिव्याहार से की गई विभक्ति को उपपद विभक्ति। दोनों में कारक-विभक्ति को ही प्राथम्य दिया जाता है—तस्मै नमस्करोति[11] नहीं, तं नमस्करोति सही माना जाता है। उपपद-विभक्ति में भी कई श्रेणियाँ हैं—

१. २।३।६५।
२. ऐत० आर०, अ० ९, खण्ड १।
३. १।४।३३।
४. १।४।३५।
५. १।४।२५।
६. २।३।५।
७. २।३।१५।
८. २।३।२०।
९. २।३।२५।
१०. २।३।४१।
११. किन्तु कादम्बरी में "न प्रणमन्ति देवताभ्यः" ऐसे प्रयोग मिलते हैं। महाभारत में 'ब्राह्मणेभ्यश्च प्रणमामि'—अनुशासन १५७।२४।

(क) कर्मप्रवचनीय के योग में—१।४।८३ से ९८ तक विशेष अर्थ में प्रादि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है और उनके योग में द्वितीया, सप्तमी तथा पञ्चमी का विधान है। जैसे 'जपम् अनु प्रावर्षत्'—यहाँ अनु की लक्षण अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई और कर्मवचनीय के योग में जप में द्वितीया[1] हुई। इसी भाँति 'अधि रामे भू:' में अधि की ईश्वरता-अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई और उसके योग में राम में सप्तमी विभक्ति हुई[2], तथा आ की मर्यादा में कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई और उसके योग में पञ्चमी[3] होकर 'आ मुक्तेः संसारः' आदि बने। पाणिनि ने कर्मप्रवचनीय इतनी बड़ी संज्ञा से काम कुछ सोचकर लिया हैं, अन्यथा वे एक-एक मात्रा का भी लाघव करते देखे जाते हैं। इस अन्वर्थ संज्ञा का अर्थ है—'जिससे कर्म कहा जाता है'। जिन प्रादि निपातों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है, उनके योग में पाणिनि ने सामान्यतः सर्वत्र द्वितीया विभक्ति ही बताई है—'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'; सप्तमी और पञ्चमी अपवाद-रूप में और न्यूनतर क्षेत्र में विहित हैं।

इन कर्मप्रवचनीयों का अँगरेजी में खूब विकास हुआ है। अँगरेजी में सभी कारकों का क्षेत्र इन्होंने घेर रखा है। अँगरेजी में सम्प्रदान (Dative) को तो कर्म ही मान लिया गया है; जैसे "स तस्मै गां ददाति"—He gives him a cow में 'हिम' (him) कर्म बन गया, इनडाइरेक्ट ही सही; पर 'इदं मह्यम् अतीव स्वदते'— It tastes me much में जहाँ एक ही कर्म है, इसे डाइरेक्ट ऑब्जेक्ट होने का भी अवसर मिल गया। परन्तु करण (Instrumental), अपादान (Ablative) तथा अधिकरण कारक (Locative) सर्वथा लुप्त हैं। इन तीनों पर कर्मप्रवचनीयों, अर्थात् Prepositions का ही राज्य है। फलतः तृतीया, पञ्चमी, चतुर्थी, सप्तमी चारों विभक्तियाँ वहाँ लुप्त हैं। स छुरिकया खादति—He eats with a knife; विद्यालयात् आगच्छति—comes from the school; गृहे पठति—reads in the room; मित्राय गायति—sings for his friend आदि में सर्वत्र प्रीपोजिशन लगाकर उसके योग में द्वितीया विभक्ति कर दी गई है। यह बात सर्वनाम के प्रयोग में और भी स्पष्ट की जा सकती है : तेन—with him, तस्मै—for him, तस्मात्—from him और तस्मिन्—at, on, in him। कर्त्ता (Nominative) और कर्म (Accusative), कर्मप्रवचनीय के आक्रमण से बच गये—He tells him। इसका कारण यह है कि ये इतने प्रबल कारक हैं कि इनकी सत्ता नहीं मिटाई जा सकी। इन्हें स्वीकृति देनी ही पड़ी। हिन्दी में भी साधारणतः कर्त्ता और कर्म का विना किसी विभक्ति के योग के ही प्रयोग होता है–वह आम खाता है आदि। अर्थात् विना किसी विभक्ति के योग के भी इनका वाक्य में स्थान के कारण कर्त्तृत्व-कर्मत्व प्रकट हो जाता है। शेष कारकों में वही अँगरेजीवाला ही नियम प्राय: लागू है। अर्थात् द्वितीया का जो रूप है, उसमें ही तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी की विभक्तियाँ जोड़ दी जाती हैं। उन विभक्तियों में मूल शब्द में कोई नया परिवर्त्तन-परिवर्द्धन नहीं होता।

---

१. १।४।८४ और २।३।८।

२. १।४।९७ तथा २।३।९।

३. १।४।८९ तथा २।३।१०।

जैसे कर्त्ता या प्रथमा का एक रूप हुआ, वह—वे। दिवतीया का उस (को)—उन (को)। अब यही दि्वतीया का रूप सप्तमी तक जारी रहेगा, केवल विभक्तियाँ या प्रीपोजिशन या कर्मप्रवचनीय—से, लिए, का, में, पर आदि जुटेंगे—उससे—उनसे ; उसके लिए—उनके लिए; उससे—उनसे; उसका—उनका; उसमें, पर—उनमें, पर। अँगरेजी में भी प्रथमा में he—they, दि्वतीया में him—them, तृतीया से with him-with them, for him—for them, from him—from them, of him-of them, at, on, in him-at, on, in them आदि समानान्तर उदाहरण हैं। सम्बन्ध षष्ठी (Possessive) चूँकि कारक-विभक्ति नहीं थी, इसलिए उसके रूप यत्र-तत्र बच गये his—their, my— our आदि। हिन्दी में भी मेरा-तेरा, हमारा—तुम्हारा आदि सम्बन्ध षष्ठी के ही अवशेष हैं। अँगरेजी में ऑब्जेक्ट दो तरह के होते हैं—एक क्रिया का, जैसे He eats a mango। यहाँ 'मैंगो' 'ईट' क्रिया का ऑब्जेक्ट है; दूसरा प्रीपोजिशन का—जैसे to him, with him, for him, from him, at him—इनमें सर्वत्र हिम ऑब्जेक्ट है। इस दृष्टि से संस्कृत-व्याकरण द्वारा प्रादि को दिया गया यह कर्म-प्रवचनीय नाम कितना सार्थक लग रहा है? संस्कृत में भी क्रिया के कर्म में द्वितीया स फलं खादति, तथा कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया "अति देवान् कृष्णः" में सुलभ है। संस्कृत ने प्रादि को कर्मप्रवचनीय नाम देकर केवल एक स्मृति बनी रहने दी, यद्यपि उनके योग में पञ्चमी और सप्तमी विभक्तियाँ भी बताईं, अँगरेजी ने इनकी अन्वर्थता चरितार्थ कर दी, सर्वत्र कर्म का ही साम्राज्य फैला दिया। हिन्दी ने भी इस दिशा में संस्कृत से आगे पाँव बढ़ाये।

किन्तु संस्कृत में विभक्तियों को प्रकट करने के और भी कई साधन हैं—तस्मिन् काले—तदा, कस्मिन् काले—कर्हि, अस्मिन् काले—इदानीम्, तस्मिन् स्थाने—तत्र, तस्मात् स्थानात—ततः। तस् और शस् का प्रयोग अनेक विभक्तियों में होता है। आदौ—आदितः (फूल जे फूटि छे गिरे छे धरनि ते—टैगोर गान), ग्रामात्—ग्रामतः, वृत्तेन—वृत्ततः, अर्जुनतः (अर्जुनस्य पक्षे)—अर्जुनतः, पुनर्यद्युम्तो न करिष्यते वचस्त्वत्तो वज्रं संप्रहर्त्तास्मि तस्मै, बहूनि—बहुशः, बहवः—बहुशः, बहुषु—बहुशः आदि[२]। सम्भवतः से विभक्ति का पूर्वरूप यह तः ही है।

(ख) प्रादिभिन्न अव्ययों के योग में—जैसे 'अन्तरात्वां मां च हरिः', यहाँ अन्तरा के योग[३] में द्वितीया, 'पुत्रेण[४] सह आगतः पिता' यहाँ सहयोग में तृतीया, विना रामेण, रामं, रामाद् वा यहाँ विना[५] योग में द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, हरये नमः, प्रजाभ्यः स्वस्ति, दैत्येभ्यः प्रभुः अलम् आदि[६] में चतुर्थी आदि।

(ग) किसी संज्ञा शब्द[७] के योग में—जैसे 'हेतु' शब्द के प्रयोग में—केन हेतुना वससि,

१. अश्व० ९।२४।
२. अष्टा० ५।४।४२ से ४९ तथा ५।३।१ से २१ तक।
३. २।३।४।
४. २।३।१९।
५. २।३।३२।
६. २।३।१६।
७. २।३।२६, २७ तथा २।३।३९, ४०।

अन्नस्य हेतोः' आदि में तृतीया और षष्ठी, गवां गोषु वा स्वामी, ईश्वरः, अधिपतिः, दायादः, साक्षी, प्रतिभूः, प्रसूतः, आयुक्तः, कुशलः आदि में स्वामी आदि के योग से षष्ठी तथा सप्तमी।

(घ) कभी किसी धातु[1] के योग में —जैसे सर्विषो नाथते, चौरस्योज्जासयति आदि।

(ङ) कभी किसी संज्ञा के अर्थ के वाचक किसी भी शब्द के प्रयोग[2] में, जैसे दूरार्थक और अन्तिकार्थक के प्रयोग में पञ्चमी और षष्ठी; दूरं, विप्रकृष्टम्, अन्तिकम्, अभ्याशं वा ग्रामस्य ग्रामाद्वाः, हेत्वर्थ प्रयोग में तृतीया आदि अन्नेन हेतुना, अन्नाय हेतवे, अन्तस्य निमित्तस्य, अन्ने निमित्ते, अन्नेन कारणेन आदि।

(च) कभी किसी धातु के अर्थ के वाचक[3] किसी भी धातु के योग में, जैसे स्मरणार्थक के योग में षष्ठी मातुः स्मरति आदि।

(५) किसी शब्द में स्वार्थ में कुछ विभक्तियाँ आ जाती[4] हैं; जैसे दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्दों में द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी, ग्रामस्य दूरं, दूरेण दूरात्, अन्तिकम्, अन्तिकेन, अन्तिकात् आदि।

देशवाचक तथा कालवाचक शब्दों में साधारणतः द्वितीया विभक्ति का विधान है। इनकी कर्मसंज्ञा[5] होकर उनमें द्वितीया होती है। किन्तु अकर्मक धातुओं के योग में ही ऐसा होता है। जैसे—मासम् आस्ते, क्रोशम् आस्ते, कुरून् स्वपिति आदि। "यथा प्रभातां रजनीं कल्पितः स्याद् रथो मम[6]"। पर क्रमशः लोक में सकर्मक धातुओं के योग में भी देशकाल-वाचक शब्दों में कर्मत्व आने लगा, "ततः प्रभातां रजनीं फाल्गुनस्याग्रतः प्रभुः, जघान सैन्यं शूलेन प्रत्यक्षं सव्यसाचिनः" आदि[7]। हिन्दी में "शाम को मैं नहीं पढ़ता हूँ", "हमलोग दस कोस चले", आदि में यह कर्मत्व देखा जाता है। अँगरेजी में भी He walked all day, he walked ten miles आदि में नेसफील्ड ने ऐडवर्बियल ऐक्यूजेटिव कहा है।

जैसे सह या हेतु के प्रयोग में ही नहीं, गम्यमानता में भी तत्सहचरित विभक्तियाँ होती हैं, मोहनः श्यामेन खेलति, पुण्येन गौरः, अध्ययनेन वसति, वैसे ही कर्मप्रवचनीय की गम्यमानता में भी विभक्तियाँ मिलती हैं—"भक्तोऽस्मान् भक्तिमाँश्चाहं तमप्यरिनिषूदनम्[8]" आदि। इसी प्रकार अनु कर्मप्रवचनीय के योग में केवल द्वितीया विहित है, पर पञ्चमी का भी प्रयोग मिलता है—अनु शान्तनवादिह।[9]

---

१. २।३।५५, ५६।

२. २।३।३४, २।३।२७ पर वार्त्तिक।

३. २।३।५२।

४. २।३।३५।

५. अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्", १।४।५१ पर वार्त्तिक।

६. द्रोणपर्व ७६।२७।

७. अश्वमेधपर्व—६३ अ० में अधिपाठ।

८. भीष्मपर्व ७७।३०।

९. द्रोण—५११।

षष्ठी की व्यापकता

महाभारत में षष्ठी विभक्ति तो हर विभक्ति की जगह मिल जाती है ; जैसे—

(१) द्वितीया की जगह—उद्धरिष्यामि ते सद्यः सामात्यसुतवान्धवम्[1]—यहाँ तो और भी विचित्रता है कि विशेषण द्वितीयान्त तथा विशेष्य षष्ठ्यन्त है। क्या पहले त्वा (त्वाम्) की जगह भी ते का प्रयोग चलता था ? 'यो महतोऽपभाषते[2]'। 'श्रद्धत्स्व वदतो मम[3]'।

(२) तृतीया की जगह—अवज्ञाय तु यत् तेऽहं भोजनाद् व्यपरोपितः[4], (ते—त्वया); स वः किं न[5] निवारितः (वः—युष्माभिः) आदि।

(३) चतुर्थी की जगह—"लोकानां वरदा भव" (लोकेभ्यः)। और कारकों की तुलना में चतुर्थी की जगह षष्ठी का प्रयोग बहुत अधिक है।

(४) पञ्चमी की जगह—'नास्य शक्यं पलायितुम्[6]' (अस्य—अस्मात्), 'पलायेथा स्त्वमेव[7] मे" (मे—मत्) आदि।

(५) सप्तमी की जगह—प्रणतानां प्रसीद त्वम् (प्रणतेषु)।

महाभारत में षष्ठी की जगह चतुर्थी का प्रयोग भी बहुत मिलता है—

(१) विकर्णस्तु सुतः[8] तुभ्यम् (तुभ्यम्—तव), अब्रवीत् तनयः[9] तुभ्यम् (तव)। ऐसे प्रयोग रामायण में भी प्राप्त हैं, 'श्रुत्वैव स वचो[10] मह्यं क्षिप्रमेष्पतिराघवः' (मह्यम्—मम या मत्)। इसीलिए प्राकृत-काल में चतुर्थी विभक्ति लुप्त ही हो गई और उसका स्थान षष्ठी ने ले लिया। हिन्दी में 'के लिए' का 'के' षष्ठी का ही तो चिह्न है।

जहाँ एक क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित होती है, वहाँ अष्टाध्यायी में सप्तमी विभक्ति[11] बताई गई है, जैसे सूर्ये उदिते स प्रस्थितः, अथवा सूर्ये उद्गच्छति स प्रस्थितः। इसे भावे सप्तमी या भावलक्षण सप्तमी कहते हैं। यदि ऐसी स्थिति में अनादर का भी बोध हो रहा हो, तो सप्तमी के साथ षष्ठी[12] की भी अनुमति है, जैसे रुदति शिशौ, या रुदतः शिशोः माता जगाम (रुदन्तं पुत्रमनादृत्य) आदि। किन्तु विना अनादर के भी ऐसी स्थिति में षष्ठी मिलती है, "धनञ्जयं च संप्रेक्ष्य धर्मराजस्यशृण्वतः, व्यासो वाक्यमुवाचेदं हर्षयन्निव भारत[13]", 'एवं चिन्तयतस्तस्य शशको मन्दं मन्दं गत्वा प्रणम्य तस्याग्रे स्थितः' आदि।

---

१. उद्योगपर्व १९२।२२।
२. कुमारसम्भव ५।८३।
३. सुन्दरकाण्ड, ३४।४१।
४. उद्योग०, १०५।१५।
५. उद्योग०।१०२।६
६. उद्योग०, ५१।५८।
७. शान्ति० २२४।२०।
८. भीष्म०, ४५।४८।
९. भीष्म० ५८।४१।
१०. सुन्दरकाण्ड ३६।३४।
११. २।३।३७।
१२. २।३।३८
१३. अश्वमेधपर्व, ६२।१२।

कर्मप्रवचनीय तथा कर्म :

यह अभी बता आये हैं कि बिना कारक के भी विभक्तियाँ हो सकती हैं। प्रथमा तो खैर प्रातिपदिकार्थ मात्र में होती है, उसे कारकत्व की अपेक्षा है ही नहीं, जैसे 'अमरा निर्जरा देवास् त्रिदशा विबुधा: सुरा:, आदि में। पर श्रमं विना, श्रमेण विना, श्रमाद् विना, अधि रामे आदि स्थलों में बिना कारक के भी अव्यय के योग में विभिन्न विभक्तियाँ आ रही हैं। अँगरेजी में भी He is going to Patna तथा He is kind to him—इन दोनों प्रयोगों में टु का अन्तर स्पष्ट है। हिन्दी में भी 'वह लाठी से चलता है' और 'पैर से लँगडा है' में दोनों 'से' एक ही नहीं, यह स्पष्ट है। एक विभक्ति कारक सूचित करती है, दूसरी नहीं। अनुहरिम्, परिहरे:, अधि हरौ आदि में सर्वत्र प्रादि को कर्मप्रवचनीय ही कहते हैं; अपादान-प्रवचनीय, अधिकरण-प्रवचनीय नहीं; इसका यह अर्थ प्रतीत होता है कि पहले उन सबको कर्म ही कहते थे। अँगरेजी में अब भी with Ram, for Ram, from Ram, of Ram तथा at Ram सर्वत्र राम को कर्म ही कहते हैं। संस्कृत में कर्मप्रवचनीय नाम देकर भी इन विभक्तियों को पंचमी, सप्तमी आदि ही कहा गया। किन्तु, एक दूसरे क्षेत्र में सचमुच कर्म ने शेष सभी कारकों को उखाड़ फेंका, और करण, अपादान, सम्प्रदान तथा अधिकरण की जगह कर्म का ही साम्राज्य स्थापित किया। इसे अकथित[१] कर्म कहते हैं। अर्थात् कर्म जहाँ चाहे, अपादान आदि को हटाकर स्वयं रह सकता है। अँगरेजी में सम्प्रदान आदि स्थल में सम्प्रदान आदि को भी कर्म ही कहते हैं, और कर्म से अन्तर करने के लिए इसे Indirect object तथा वास्तविक कर्म को Direct object कहते हैं; जैसे Ram gives him a cow। यहाँ cow डाइरेक्ट ऑब्जेक्ट है और him इनडाइरेक्ट ऑब्जेक्ट। ऐसे ही Ram asked him a question—राम: तम् एकं प्रश्नमपृच्छत्। उसी तरह संस्कृत में जहाँ सम्प्रदान आदि को भी कर्म बनाया जाता है, वहाँ दो कर्म हो जाते हैं, तब वास्तविक कर्म को मुख्य कर्म कहते हैं और सम्प्रदानादि की अविवक्षा से उत्पन्न कर्म को गौण कर्म। पतञ्जलि ने इसके लिए कुछ क्षेत्र निर्धारित कर दिया है कि यहीं अकथित कर्म हो सकते हैं। जैसे गां दोग्धि पय: (गाम्—गो:), यहाँ गौ में अपादानत्व की विवक्षा नहीं की गई, और उसे कर्म बना लिया गया। ऐसे ही 'राम: तस्मात् एकं प्रश्नम् अपृच्छत्' की जगह तम् हो जायगा। इसी भाँति 'सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति' (सुधाम्—सुधायै) आदि में सम्प्रदानत्व आदि की अविवक्षा समझनी चाहिए। ऐसे उदाहरण प्राय: अपादान सम्प्रदान और अधिकरण के ही मिलते हैं, करण के नहीं। 'तण्डुलान् ओदनं पचति' में तण्डुलै: के स्थान में तण्डुलान् हुआ, यह कहना ठीक नहीं है, तण्डुल पाक में साधक नहीं, स्वयं पाक का विषय है। पतञ्जलि ने ठीक ही कहा है कि पच् के दो कर्म ही हैं, "तण्डुल को विक्लिन्न कर ओदन बना रहा है।" हिन्दी में ऐसे स्थलों में दो कर्म नहीं रहते, पर बारी-बारी से दोनों कर्म बन सकते हैं; जैसे—वह गाय दूह रहा है; वह दूध दूह रहा है; गाय को दूध दूह रहा है नहीं। इसी भाँति वह दही मथ रहा है, या वह घी मथ रहा है, चावल पका रहा है या भात पका रहा है आदि। हाँ, 'राम: श्यामम् एतां वार्त्ताम् अवदत्' आदि

१. १।४।५१।

स्थलों में कहना अर्थवाली धातुओं के योग में जहाँ सम्प्रदान भी कर्म बनता है, वहाँ हिन्दी तथा अँगरेजी दोनों में दोनों कर्म की तरह संयुक्त होते हैं; जैसे राम ने श्याम को यह बात कही, Ram told Shyam this matter, आदि। हिन्दी में ऐसे स्थल विरल हैं। अजां ग्रामं नयति आदि स्थलों में भी ग्राम में अधिकरणत्व की अविवक्षा की आवश्यकता नहीं, नी धातु में दो कर्म होते ही हैं; क्योंकि नयति का अर्थ है गमयति। हिन्दी में 'बकरे को गाँव ले जाता है, श्याम को दिल्ली ले जाता है' तथा अँगरेजी में Ram brings, leads, sends Shyam to Delhi में प्रायः यही स्थिति है! फ़र्क यह है कि संस्कृत ने दोनों को कर्म बनाकर एक पंक्ति में बिठा दिया, हिन्दी ने भी दोनों को तुल्य कर्म बनाया, किन्तु अँगरेजी ने एक को कर्मकारक में रखकर गौण कर्म के साथ 'टु' प्रीपोजिशन[1] जोड़ा। नृपः गर्गान् शतम् अदण्डयत्—राजा ने गर्गों को सौ रुपये जुर्माना किया, The king fined Gargas one hundred rupees, ऐसे उदाहरण विरल हैं। 'व्रजम् अवरुणाद्धि गाम्' [व्रजम्—व्रजे] आदि में अधिकरणत्व की अविवक्षा है। वस्तुतः इन सब स्थलों में विभिन्न कारक-शक्तियों की विवक्षा का ही प्रश्न है। पाणिनि ने 'कृष्णाय क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति' यहाँ सर्वत्र सम्प्रदान का प्रयोग किया है, और उपसर्ग के योग में क्रुध् तथा द्रुह् के साथ कर्म का, जैसे कृष्णम् अभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति। परन्तु हिन्दी में कृष्ण पर क्रोध करता है, 'के लिए' नहीं, कृष्ण से द्रोह करता है, ईर्ष्या करता है, 'के लिए' तथा कृष्ण को कोसता है आदि प्रयोग होते हैं। अँगरेजी में He enmies Krishna आदि में कर्म का प्रयोग होता है। संस्कृत में 'स व्याघ्राद् बिभेति' होता है, अँगरेजी में He fears the tiger। कहीं व्याघ्र अपादान बना, कहीं कर्म।

बाद की भाषाओं में विभक्ति-चिह्नों की वृद्धि :

संस्कृत ने जहाँ छहों कारक कायम रखे हैं, वहाँ हिन्दी-अँगरेजी ने केवल कर्त्ता और कर्म सुरक्षित रखे हैं, शेष में विभिन्न विभक्तियाँ जोड़कर वे उन कारकों का बोध करा रही हैं। किन्तु हिन्दी-अँगरेजी में एक समृद्धि बढ़ी है। संस्कृत में सम्प्रदान में 'नृपः विप्राय गां ददाति' तथा तादर्थ्य में 'इदंदारु यूपाय अस्ति' दोनों जगह एक ही विभक्ति है। हिन्दी ने दोनों के लिए विभक्ति पृथक्-पृथक् स्थिर की है, राजा ब्राह्मण को गाय देता है, यह लकड़ी खूँटे के लिए है। हिन्दी में सम्प्रदान चतुर्थी के लिए 'के लिए' शब्द दुर्लभ है, वहाँ सर्वत्र को ही चलता है। शेष चतुर्थियों के लिए 'के लिए' चलता है। अँगरेजी में भी सम्प्रदान चतुर्थी के लिए टु प्रीपोजिशन है और शेष चतुर्थियों के लिए for; Ram gave his book to Shyam, परन्तु This book is for Ram। इसी तरह संस्कृत ने कर्त्ता में, करण में, सहार्थ में, हेतु में, प्रकृत्यादि में तृतीया का एक ही रूप रखा है। किन्तु हिन्दी ने सबके लिए पृथक्-पृथक् चिह्न रखे हैं—रामेण बाणेन रावणः हतः, राम के द्वारा बाण से रावण मारा गया; तेन सह—उसके साथ, शीतेन—शीत के

१. बिना टु प्रीपोजिशन लगाये दो-दो कर्म लेनेवाली बहुत-सी क्रियाएँ नेसफील्ड के व्याकरण में अनुच्छेद १४८ में दी गई हैं।

कारण, जात्या नापितः—जाति का नाई आदि। यद्यपि 'से' चिह्न इन सब जगहों में लगाया जा सकता है—राम से, उससे, शीत से, जाति से आदि। अँगरेजी ने चतुर्थी की तरह तृतीया में भी पृथक्-पृथक् प्रीपोजिशन रखे हैं—by Ram, with an arrow, with him, due to cold, by caste आदि। सप्तमी में भी संस्कृत में एक ही चिह्न है, पर अँगरेजी हिन्दी के पास कई चिह्न हैं; जैसे वृक्षे—पेड़ पर—on the tree; विद्यालये—विद्यालय में—in school, पाटलिपुत्रे—पटना में—at Patna आदि। हिन्दी में पेटी पर और पेटी में, अँगरेजी में on the box तथा in the box का स्पष्ट ही अन्तर है। संस्कृत में मंजूषायाम् से दोनों अर्थ प्रकट होंगे। अर्थ स्पष्टतर करने के लिए विभक्ति छोड़ अव्ययों की सहायता लेनी पड़ेगी—मंजूषोपरि, मंजूषान्तः (बक्से के ऊपर, बक्से के भीतर आदि)।

कर्त्ता तथा कर्म की व्यापकता :

संस्कृत में भी कर्त्ता और कर्म प्रबलतम कारक हैं, यह तो कहा ही जा चुका है। ये दोनों शेष कारकों का क्षेत्र भी जब चाहते हैं, हथिया लेते हैं, यह भी दिखा आये हैं। हाँ, पच्यते ओदनः, परशुः छिनत्ति, स्थाली पचति की तरह सुविधा से सम्प्रदान और अपादान कर्त्ता नहीं बन सकते, 'ब्राह्मणाय गां ददाति' को 'ब्राह्मणः गां ददाति', 'वृक्षात् पत्रं पतति' को 'वृक्षः पतति' कर दें तो अर्थ सर्वथा बदल जाय; उसी भाँति कर्म को भी करण तथा सम्प्रदान में कम ही अवसर मिलता है। किन्तु कर्त्ता कर्म को जिस भाँति कर्त्ता बना लेता है, पच्यते ओदनः, उसी भाँति कर्म भी कर्त्ता को कर्म बना लेता है, देवदत्तः यज्ञदत्तं पाठयति आदि में।

इसके लिए भी कुछ प्रयोग सुरक्षित हैं, जिनमें प्रेरणाहीन धातु का कर्त्ता प्रेरणावान् रूप बनाने पर कर्म होकर द्वितीया विभक्ति ग्रहण करता है, शेष स्थलों में अनुक्त रहने से तृतीया विभक्ति लेता है। जैसे बालकः ग्रामं गच्छति, वेदं पठति, दुग्धं पिबति, शेते आदि को प्रेरणार्थक बनाने पर सर्वत्र बालक कर्म बन जायगा, श्यामः बालकं ग्रामं गमयति, वेदं पाठयति, दुग्धं पाययति, शाययति आदि। हिन्दी में भी श्याम बालक को गाँव भेजता है, वेद पढ़ाता है, दूध पिलाता है, सुलाता है आदि होगा। अँगरेजी में जहाँ प्रेरणार्थ बनने पर धातु बदल जाती है, वहाँ तो यही प्रक्रिया है; जैसे Shyam sends Ram to the village, teaches him the Vedas आदि। किन्तु, अधिकतः प्रेरणा का अनुवाद दो क्रियाओं से किया जाता है, जैसे Shyam makes the boy drink milk, makes him sleep आदि। शेष स्थलों में संस्कृत में अनुक्त कर्त्ता में तृतीया होती है—भृत्यः भारं वहति, श्यामः भृत्येन भारं वाहयति। हिन्दी में भी ठीक इसका ही अनुसरण है—श्याम नौकर से भार ढुलवाता है। पर हिन्दी में सर्वत्र संस्कृत का ही अनुसरण नहीं है, कहीं द्वितीया की जगह तृतीया का, कहीं तृतीया की जगह द्वितीया का प्रयोग है; जैसे—आदयति खादयति वान्नं बटुना—बालक को अन्न खिलाता है, कारयति भृत्यं कटम्—नौकर से चटाई बुनवाता है आदि। किन्तु, अष्टाध्यायी परिगणित स्थलों के अलावा भी प्रेरणाहीन

धातु का कर्त्ता प्रेरणा में कर्म बना लिया जाता है, जैसे 'पितरः भृगुनन्दनं[1] शस्त्रं न्यासयांचक्रिरे' (पितरों ने भृगुनन्दन से शस्त्र रखवा दिये)। प्रेरणार्थक धातु के प्रसंग में कह आये हैं कि संस्कृत में प्रेरणार्थक रूप सभी धातुओं से बनाने की व्यवस्था है। इनमें अकर्मक धातुओं से जब भी प्रेरणार्थक बनाया जायगा तब मूल धातु का कर्त्ता कर्म बन जायगा। यह नियम संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में अपवाद-रहित है—बालकं शाययति, उपवेशयति, नर्त्तयति, हासयति, क्रन्दयति—बालक को सुलाता है, बैठाता है, नचाता है, हँसाता है, सुलाता है आदि। सकर्मक से प्रेरणा बनाने में संस्कृत में गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, भोजनार्थक तथा शब्दकर्मक धातुओं का मूल कर्त्ता कर्म बनता है, शेष का नहीं। पर इनमें भी कई अपवाद हैं, भोजनार्थक होने पर भी 'बटुम् अन्नं खादयति' नहीं होकर 'बटुना अन्नं खादयति' होगा। इसी भाँति हिन्दी में भी इस क्षेत्र में स्पष्ट नियम नहीं है। इससे भिन्न स्थल में भी राम ने श्याम को वह युद्ध जिताया, अथवा वह दाँव हराया आदि प्रयोग होते हैं। अँगरेजी में प्रेरणार्थक क्रिया होती ही नहीं, सर्वत्र मेक (make) आदि लगाकर प्रेरणा का बोध कराया जाता है। अतः वहाँ 'मेक' क्रिया का ऑब्जेक्ट होने से सभी मूल कर्त्ता कर्म बन जायँगे—He makes him speak, learn, know, win, lose this आदि। पर अँगरेजी ने प्रेरणा के लिए बहुत-सी स्वतन्त्र कियाएँ ही बना ली हैं—गत्यर्थक send, बुद्ध्यर्थक teach, भोजनार्थक feed, अकर्मक seat, kill आदि। इनमें feed सदा एक ही कर्म रखता है—He eats sweets, Ram feeds him with sweets····आदि। पर teach दो कर्म लेता है, he reads Gita, Ram teaches him Gita आदि। हिन्दी ने भी भेजना आदि कुछ मूल धातुएँ बना ली हैं। संस्कृत में भी प्रेष् गम् का प्रेरणार्थक ही है, तथा हन् मृ का। नी, वह भी गम् के भिन्नार्थक प्रेरणार्थक रूप ही हैं। हिन्दी की एक विशेषता है कि वह दो प्रेरणाएँ लेकर भी यौगिक धातु बनाती है। ऐसी स्थितियों में पहली प्रेरणा का कर्त्ता सदा तृतीया विभक्ति लेगा। यही स्थिति संस्कृत में भी है—रामः श्यामेन देवदत्तं पाठयति—राम श्याम से देवदत्त को पढ़वाता है। अँगरेजी में भी सदा यहाँ थ्रू का ही प्रयोग होगा, अर्थात् तृतीया ही रहेगी—Ram makes Devadutta learn through Shyam. जो पहले किसी दूसरे कारक से बाद में कर्म बनता है, उसे गौण कर्म कहते हैं, और जो आरम्भ से ही कर्म रहता है, उसे मुख्य कर्म।

इस प्रकार एक अर्थतत्त्व का दूसरे अर्थतत्त्व से सम्बन्ध बताने के लिए संस्कृत में तीन मार्ग हैं—(क) विभक्तियों का प्रयोग वशं गतः पाणिनिनाकृतः, गवेहितम्, हिमवतः प्रभूता, दशरथस्य अपत्यम्, मासे देयम् आदि ; (ख) समास का प्रयोग वशगतः, पाणिनिकृत, गोहितम्, हिमवत्प्रभूता, दशरथापत्यम्, मासदेयम्, तथा (ग) प्रत्यय का प्रयोग—वश्यः, पाणिनीयः, गव्यम्, हैमवती, दाशरथिः, मासिकम्। तिङन्त स्थल में भी यही क्रम है : व्याकरणम् वेद—व्याकरणवित्—वैयाकरणः, साधु खनति—खननकृत्—खनित्रम्, जयति—जयशीलः—जिष्णुः। स्थण्डिले शेते—स्थण्डिलशायी, स्थाण्डिलः आदि।

---

१. उद्योगपर्व, १८५वाँ अध्याय।

वाच्य-परिवर्त्तन :

कारकों के वर्णन के प्रसंग में यह बात कही जा चुकी है कि वाक्य में कभी कर्त्ता प्रधान होता है, कभी कर्म और जब धातु अकर्मक धातु रहती है तब कर्त्ता की प्रधानता नहीं रहने पर क्रिया स्वयं ही प्रधान बन बैठती[१] है। बालकाः मातुः अंके चमसेन दुग्धं पिबन्ति—यहाँ सकर्मक धातु 'पा' का कर्त्ता है बालक, कर्म है दुग्ध। और, यह वाक्य कर्त्तृवाच्य का है; क्योंकि इसमें क्रिया कर्त्ता के अनुसार बहुवचन है। इसमें जब कर्त्ता की जगह कर्म की प्रधानता होगी तब कर्त्ता अनुक्त होने से तृतीया विभक्ति धारण करेगा और कर्म उक्त होने से प्रथमा लेगा। पूर्ववाक्य में कर्म ने अनुक्त होने से द्वितीया विभक्ति ली थी, कर्त्ता ने उक्त होने से प्रथमा। अब स्थिति उलट गई। यहाँ कर्म के मुख्य होने से क्रिया कर्म का अनुसरण करेगी, 'बालकैः मातुः अङ्के चमसेन दुग्धं पीयते।' इसे ही कर्मवाच्य कहते हैं। जिसमें कर्त्ता वाच्य या उक्त अर्थात् प्रधान हो, वह कर्मवाच्य। तिङ् की भाँति ये उदाहरण कृत् में भी हैं, स इतिहासग्रन्थान् पठेत्—तेन इतिहासग्रन्थाः पठितव्याः, सा फलानि न प्राप्तवती—तया फलानि न प्राप्तानि। युवाम् अस्मान् पीडयथः—युवाभ्याम् वयं पीड्यामहे। उपर्युक्त उदाहरणों में स्पष्ट है कि कर्त्तृवाच्य में क्रिया कर्त्ता का पुरुष, लिंग, वचन लेती है, और कर्मवाच्य में कर्म का, अर्थात् क्रिया को अपना कोई पुरुष, वचन, लिंग नहीं हैं, वाक्य में जो भी प्रधान होता है, उसी का अनुसरण वह करती है। यों साधारणतः क्रिया में स्वतन्त्र होने से कर्त्ता ही प्रधान बनता है, पर जब वह विश्राम लेना चाहता है, तब जिम्मेवारी कर्म को सौंपता है। ते अत्र न दृश्यन्ते, इदानीम् सा न श्रूयते, इदं कृतम्, त्वम् उच्यसे (वे आजकल दिखाई नहीं पड़ते—They are not being seen here, वह नहीं सुनी जा रही है—She is not being heard now-a-days, यह कर दिया गया—This has been done, तुम कहे जा रहे हो—You are being addressed या told) आदि में कर्त्ता रंगमंच पर नहीं है। कभी वह रंगमंच पर रहकर भी कर्म को ही सभापति बना देता है; जैसे रामेण रावणः हतः—राम से रावण मारा गया, Rawan was killed by Ram। ऐसे स्थलों में यह दिखाना अभिप्रेत होता है कि कर्त्ता का मुख्य हाथ इस क्रिया में नहीं था। ये दोनों वाच्य प्रायः सभी भाषाओं में होते हैं। अकर्मक धातु के योग में जब कर्त्ता प्रधान नहीं रहना चाहता तब क्रिया स्वयं प्रधान हो जाती है। ऐसे स्थल में क्रिया सदा एकवचन, अन्यपुरुष, नपुंसक रहती है; क्योंकि ये सबके लिए सामान्य हैं। जैसे—मया स्थितम् या स्थीयते, तेन तया ताभ्याम्, तैः ताभिः त्वया, मया उपविश्यते, उपविष्टम् आदि। इसे भाववाच्य कहते हैं, भाव क्रिया का ही पर्याय है। हिन्दी में भाववाच्य का दो ही जगह प्रयोग होता है : (क) प्रार्थना में—जैसे आया जाय, सोया जाय, बैठा जाय आदि, पर यहाँ तुम्हारे द्वारा या तुमसे, आपसे आदि कर्त्ता का प्रयोग कभी नहीं किया जाता; (ख) निषेध में—जैसे बैठा नहीं जाता, सोया नहीं जाता, चला नहीं जाता, बैठा नहीं गया, सोया नहीं जा रहा था। इनमें कहीं भी कोई भी कर्त्ता जुट सकता है—उससे उनसे, तुमसे, तुमलोगों से, मुझसे, हमलोगों से आदि, पर क्रिया के रूप में अन्तर नहीं पड़ेगा; क्योंकि क्रिया यहाँ कर्त्ता का अनुसरण नहीं करती, वह

१. अष्टाध्यायी, ३।४।६७ से ७२ तक।

स्वतन्त्र है। वाच्य में शेष कारकों का कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य या भाववाच्य में क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अँगरेजी में भाववाच्य बिलकुल नहीं होता।

कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य बनाने में कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है :

१. जो धातुएँ बिना किसी उपसर्ग के योग के सकर्मक हैं, उनसे कर्मवाच्य का वाक्य बनता है; जैसे श्यामः गीतां पठति। यह हिन्दी तथा अँगरेजी में भी लागू है।

२. जब अकर्मक धातु उपसर्ग के योग से सकर्मक बन जाती है तब वह भी कर्मवाच्य के वाक्य बना सकती है; जैसे, स पीडाम् अनुभवति—तेन पीडा अनुभूयते। यह नियम भी अँगरेजी तथा हिन्दी में लागू है—The difficulty was overcome, the trial was undergone, the point was overlooked.

३. कभी कुछ सकर्मक धातुओं में उपसर्ग का योग होने से उनका अर्थ बदल जाता है, फिर भी वे सकर्मक बनी रहती हैं और उनसे कर्म में प्रत्यय होता है, कर्मवाच्य के वाक्य बनते हैं; जैसे श्यामः आतपं परिहरति—श्यामेन आतपः परिह्रियते। यह नियम भी अँगरेजी में ज्यों-का-त्यों है : The report was seen through, The subject was touched upon, The boy was searched for आदि।

४. किन्तु अँगरेजी में कई ऐसी धातुएँ हैं, जिन्हें नियमतः सकर्मक नहीं कह सकते; क्योंकि उनके और ऑब्जेक्ट के बीच प्रीपोजिशन लगाये बिना कभी भी उनका प्रयोग नहीं होता, फिर भी उनसे कर्मवाच्य के वाक्य बनते हैं, इन्हें Pseudo transitive ही कहना चाहिए; जैसे The request was acceded to, the plan was adhered to, Shyam was prevailed over, the event was passed over, a guitar was played upon, the meeting was presided over, the patient was operated upon, the poor are jeered at, the secretary was interfered with, the order was complied with, the matter was commented upon, the proposal was agreed to and acted upon आदि।

इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि प्रीपोजिशन लेने के बाद ये सब सकर्मक की भाँति ही हो गये हैं। कुछ कर्मवाच्य के प्रयोग तो इनसे भी विलक्षण होते हैं; जैसे— I did not take notice of the fact; यहाँ वस्तुतः क्रिया है टेक और उसका कर्म है नोटिस, पर कर्मवाच्य होगा—The fact was not taken notice of, यद्यपि होना चाहिए था The notice of the fact was not taken. इसी तरह They lost sight of the track का कर्मवाच्य The sight of the track was lost की जगह, the track was lost sight of—इन सबको Prepositional verb[1] कहते हैं।

कठिनाई यह है कि संस्कृत में उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय में अन्तर है। उपसर्ग और गति संज्ञा केवल क्रिया के योग में होती है, और कर्मप्रवचनीय संज्ञा संज्ञा के योग में। अधिशेते वैकुण्ठं हरिः के अधि और अधि रामे भूः में महान् अन्तर है। किन्तु अँगरेजी में

१. नेसफील्ड ग्रामर, अनुच्छेद १५८।

He comes of a respectable family के ओफ (of) और He takes note of the fact के ओफ (of) में कोई अन्तर नहीं, a boy of a village का of भी वही है। सबका एक नाम है—प्रीपोजिशन। अतः संस्कृत 'वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्' में वि उपसर्गपूर्वक द्युत् को सकर्मक नहीं माना जा सकता। संस्कृत में कर्म और द्वितीया में भी भेद है। यहाँ वृक्षम् केवल द्वितीयान्त है, कर्म नहीं। जहाँ कर्मकारक है, वहीं कर्मवाच्य सम्भव है, केवल द्वितीयान्त से नहीं। यह विश्लेषण अँगरेजी को नहीं प्राप्त है।

५. जहाँ दो कर्म होते हैं, वहाँ के लिए संस्कृत में तीन नियम हैं—(क) दुह् आदि धातुओं के प्रयोग में गौण कर्म में प्रत्यय होगा, अर्थात् कर्मवाच्य के वाक्य में उसी की मुख्यता होगी, जैसे—माणवकं पन्थानं पृच्छति—माणवकः पन्थानं पृच्छ्यते ; राजानं गां याचते—राजा गां याच्यते; (ख) नी, हृ आदि धातुओं के योग में प्रधान कर्म में ही प्रत्यय होता है; जैसे—अजा ग्रामं नीयते, ह्रियते आदि; बुद्ध्यर्थक आदि धातुओं के योग में कभी मुख्य कर्म की मुख्यता रहती है, कभी गौण कर्म की ; जैसे—माणवकं धर्मः बोद्ध्यते, या माणवकः धर्मं बोद्ध्यते। अँगरेजी में सभी द्विकर्मक स्थलों में दोनों में से किसी भी कर्म को कर्मवाच्य में मुख्य बनाया जा सकता है, परन्तु जब प्रधान कर्म को मुख्य बनाया जाता है तब गौण कर्म प्रायः प्रीपोजिशन[1] ले लेता है, और जब गौण कर्म को मुख्य बनाया जाता हैं तब भी प्रधान कर्म प्रीपोजिशन नहीं लेता, वह कर्म ही बना रहता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जो कर्म धातु के पास रहता है उसी में प्रत्यय किया जाता है, दूरस्थ में नहीं; जैसे—Ram gives him a cow—He is given a cow by Ram; Ram gives a cow to him—A cow is given to him by Ram; Ram asked him a question—He was asked a question by Ram; Ram asked a question from him—A question was asked from him by Ram; Ram teaches him grammar—He is taught grammar by Ram; Ram teaches grammar to him—Grammar is taught to him by Ram आदि।

जहाँ मेक (make) लगाकर प्रेरणार्थक बनाया जाता है, वहाँ कर्तृवाच्य में मुख्य क्रिया के पहले टु नहीं लगता, छिपा रहता है, पर मुख्य क्रिया मानी जाती है इन्फिनिटिव मूड में ही, पर जब कर्म में प्रत्यय किया जाता है तब यह टु प्रकट हो जाता है : He made him speak the truth—He was made to speak the truth। अतः यहाँ द्विकर्मकता नहीं रहने से कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हिन्दी में एक साथ दो कर्मों का प्रयोग प्रायः नहीं ही होता, जब जो भी कर्म रहता है, उसी में प्रत्यय होता है—वह गौण हो या प्रधान। वह पढ़ाया जाता है, वेद पढ़ाया जाता है। जब दोनों एक साथ रखेंगे तब वह वेद पढ़ाया जाता है, यहाँ गौण कर्म

१. The fault was forgiven him by us; Two rupees were allowed him by me—ऐसे प्रयोग कम किये जाते हैं। He was forgiven the fault, allowed two rupees आदि अधिक प्रचलित हैं।
—नेसफील्ड ग्रामर, अनुच्छेद १६४।

में ही प्रत्यय होता है। किन्तु अधिक प्रचलित प्रयोग है—उसको वेद पढ़ाया गया। ऐसे ही गाय दूही गई, दूध दूहा गया और गाय से दूध दूहा गया। उसे भात खिलाया गया, बकरी गाँव को ले जाई गई, आदि। इन प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि जहाँ दो कर्म रखकर कर्मवाच्य बनाना चाहते हैं, वहाँ यदि गौण कर्म में प्रत्यय करते हैं तो प्रधान कर्म की कर्मता बनी रहती है, पर प्रानध कर्म में प्रत्यय करने पर गौण कर्म विभक्ति ले लेता है। बल्कि गौण कर्म में प्रत्यय विरल है : उसे रोटियाँ खिलाई गईं, कविताएँ पढ़ाई गईं, बातें समझाई गईं, कही गईं आदि ही होंगे ; वह रोटियाँ खिलाया गया, कविताएँ पढ़ाया गया, बातें समझाया गया, कहा गया आदि होंगे ही नहीं।

६. संस्कृत में एक और भी वाच्य होता है, जिसे कर्मकर्त्तृवाच्य कहते हैं। यह प्रेरणार्थक के ठीक विपरीत है। प्रेरणार्थक में दो-दो कर्म हो जाते हैं, यहाँ एक भी कर्म नहीं रहता। जब कर्म में रहनेवाली क्रिया को ही मुख्य मानकर उसे कर्त्ता बनाते हैं तब उसे कर्मकर्त्ता कहते हैं, और ऐसे वाक्य को कर्मकर्त्तृवाच्य कहेंगे। जैसे—पच्यते ओदनः, छिद्यते वृक्षः स्वयमेव आदि। जहाँ कर्म में कुछ क्रिया स्पष्ट है, वहाँ कर्म को कर्त्ता बनाने पर क्रिया का रूप ठीक कर्मवाच्य की भाँति होगा; जैसे—ऊपर के उदाहरणों में, भात खुद पकता है, पेड़ खुद कटता है आदि। जहाँ कर्म में कोई क्रिया स्पष्ट नहीं दीखती, वहाँ उसका रूप कर्त्तृवाच्य की भाँति ही रह जायगा; जैसे अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्वयमेव—शास्त्रार्थ स्वयं समझ में आता है। इस प्रकार कर्मकर्त्तृवाच्य का यह नियम हुआ कि यहाँ कर्म ही कर्त्ता बनकर प्रथमा विभक्ति लेता है, अतः कर्त्ता निरर्थक होकर हट जाता है, उसका व्यापारांश भी क्रिया से हट जाता है। क्रिया उसी कर्म-कर्त्ता को कहती है। यदि यह कर्म ऐसा है कि उसमें कुछ क्रिया सचमुच दीखती है, तब तो वह क्रिया कर्मवाच्य की तरह रूप धारण करती है, अन्यथा पूर्ववत् बनी रहती है। इनके रूप अँगरेजी तथा हिन्दी में भी मिलते हैं—जैसे काटना—कटना, बाँधना—बँधना, सीना—सिलना, पीसना—पिसना, लूटना—लुटना, पीटना—पिटना आदि। हिन्दी में कर्मवाच्य के रूप में मूल धातु को भूतकालिक कृदन्त में रखकर जाना क्रिया का अनुप्रयोग किया जाता है; जैसे—काटता है—काटा जाता है, पीटता है—पीटा जाता है, पर इनका कर्म कर्त्तृवाच्य बनाने में केवल मूलधातु में कुछ विकृति (आदिस्वर की ह्रस्वता आदि) कर देते हैं, और कोई परिवर्त्तन नहीं करते ; जैसे—काटता है—कटता है। किन्तु भोजपुरी में कर्मवाच्य और कर्मकर्त्तृवाच्य दोनों के लिए एक रूप है, जैसा कि संस्कृत में है, सरकार पेड़ों को काटती है। सरकार द्वारा पेड़ काटे जाते हैं, ये पेड़ जल्द नहीं कटते, और सरकार गाछन के काटऽता, सरकार का ओर से गाछ स कटाता, ई गाछ स जल्दी नँखे कटात आदि। भोजपुरी में कर्मवाच्य तथा कर्मकर्त्तृवाच्य दोनों की सिद्धि के लिए एक ही विधि है—मूल धातु के आदि स्वर को ह्रस्व कर अन्त में 'आ' जोड़ देना।

अँगरेजी में भी कर्मकर्तृवाच्य[1] होते हैं, verbs active in form but passive in sense। इनके निर्माण का तरीका ठीक हिन्दी-सा है। अँगरेजी में कर्मवाच्य बनाने के

[1] नेसफील्ड ग्रामर, अनुच्छेद १६६।

लिए धातु को पास्टपार्टिसिपल में ले जाकर 'टु बी' सहायक क्रिया जोड़ते हैं; जैसे He gives a book का A book is given by him। पर कर्मकर्त्तृवाच्य बनाने में धातु को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया जाता है, केवल कर्म को कर्त्ता कर दिया जाता है; जैसे—The stone feels rough, Honey tastes sweet आदि। जहाँ कर्म में कोई क्रिया नहीं दीखती, वहाँ भी इस प्रयोग की छूट है, जैसे—Your composition reads well आदि।

हिन्दी की इस दिशा में समृद्धि :

हिन्दी में वाक्य के दो और रूप होते हैं, जो इसकी अपनी विशेषता है।

७. **कर्त्तृवाच्य का कर्मणि प्रयोग**—इस प्रयोग में वाक्य रहता तो है कर्त्तृवाच्य में ही, पर क्रिया कर्म का अनुसरण करती है, अर्थात् यह वाक्य अर्थ में कर्त्तृवाच्य की तरह, पर रूप-रचना में कर्मवाच्य की भाँति हो जाता है। कामता प्रसाद गुरु ने इसे कर्त्तृवाच्य का कर्मणि प्रयोग कहा है। ऐसी स्थिति केवल भूतकाल के कुछ भेदों में कुछ सकर्मक धातुओं के साथ होती है। बल्कि यह कर्त्तृवाच्य और कर्मवाच्य का मध्यवर्त्ती है; क्योंकि इसमें कर्मवाच्य की क्रिया की भाँति जाना क्रिया का अनुप्रयोग नहीं होता। जैसे—सरकार ने मकान बनवाये, रोटियाँ बँटवाईं, कपड़े दिलवाये, हर तरह का प्रबन्ध किया। इसका कर्मवाच्य-रूप होगा—सरकार द्वारा मकान बनवाये गये, रोटियाँ बँटवाई गईं, कपड़े दिलवाये गये, हर तरह का प्रबन्ध किया गया। अपूर्णभूत में कर्त्तृवाच्य होगा—सरकार मकान बनवाती थी, रोटियाँ बँटवाती थी इत्यादि।

जब कर्त्ता में ने चिह्न लगता है और कर्म का चिह्न लुप्त रहता है तभी ऐसा प्रयोग होता है। जहाँ लुप्तविभक्तिक कर्म रहता है, वहाँ क्रिया कर्म के अनुसार चलती है। परन्तु ने प्रयोग कुछ अकर्मक क्रियाओं के साथ भी जुटता है, और कुछ सकर्मक के साथ भी नहीं जुटता।

८. जहाँ कर्त्ता में ने चिह्न जुटता है और कर्म या तो रहता ही नहीं, या रहता भी है तो अपनी विभक्ति के साथ रहता है, वहाँ क्रिया सदा अन्यपुरुष, पुँल्लिग, एकवचन में रहती है; जैसे—नहाया, छींका, खाँसा आदि में कुछ भी कर्त्ता जोड़ें, मैंने, तुमने, उसने, गीता ने, हमलोगों ने आदि सबके साथ क्रिया का यही रूप होगा। मैंने मोहन को देखा, तुमने गीता को देखा, उनलोगों ने बालकों को देखा, रानियों ने मन्त्री को देखा आदि में भी देखा इसी प्रकार स्थिर रहेगा। इसे **कर्त्तृवाच्य का भावे प्रयोग** कहते हैं।

९. इसी प्रकार कर्मवाच्य में भी कर्म के साथ 'को' लगा देने की हिन्दी में विचित्र पद्धति है। ऐसे स्थलों में प्रायः कर्त्ता का प्रयोग छोड़ ही दिया जाता है; जैसे—वे लोग वहाँ पहुँचाये गये—उन लोगों को वहाँ पहुँचाया गया, स्त्रियाँ बहुत सताई गई हैं—स्त्रियों को बहुत सताया गया है, वह डायन पीटकर निकाल दी गई—उस डायन को पीटकर निकाल दिया गया। ऐसे प्रयोगों को **कर्मवाच्य का भावे प्रयोग** कहते हैं। यहाँ भी क्रिया सदा अन्य-पुरुष, पुँल्लिग, एकवचन में रहती है। हिन्दी में आजकल 'देश की प्रतिरक्षा को पुनर्संघटित किया जाना चाहिए' जैसे प्रयोग बहुत बढ़ रहे हैं—'उत्तरी सीमा को तीन कमानों

में विभक्त किया जाना चाहिए' आदि । ये प्रयोग भद्दे हैं । या तो यहाँ 'करना चाहिए' प्रयोग ठीक है, या कर्म के बाद को 'चिह्न हटा देना'; देश की प्रतिरक्षा पुनस्संघटित की जानी चाहिए, या प्रतिरक्षा को पुनस्संघटित करना चाहिए ।

ये अन्तिम तीन स्थितियाँ केवल हिन्दी-वाक्यों में मिलती हैं, संस्कृत तथा अँगरेजी में नहीं ।

१०. संस्कृत में एक विशेष स्थिति—वाक्य-परिवर्त्तन का एक और भी भेद है । सकर्मक धातु की प्रेरणा का अंश हटा देने पर वह अकर्मक बन जाती है; जैसे—भात पकता है, पेड़ कटता है, यह अभी कह आये हैं । इसमें यदि पुनः प्रेरणा की विवक्षा की जाय तो णिच् प्रत्यय होगा, और इसका अर्थ मूल धातु के तुल्य एक ही प्रेरणावाला होगा । पाणिनि का एक सूत्र है : **'णेरणौ यत् कर्म[१] णौ चेत् स कर्त्ताऽनाध्याने'** । अर्थात् णि प्रत्यय नहीं करने पर जो मूल धातु का कर्म है, वह णि प्रत्यय करने पर कर्त्ता हो जाय, तथा जो क्रिया का अर्थ है वही णि प्रत्यय करने पर भी बना रहे तो उस णिजन्त धातु से आत्मनेपद होता है । जैसे 'पश्यन्ति भवं भक्ताः' अर्थात् भक्त लोग शंकर को दर्शन-विषय करते हैं । इसमें से प्रेरणांश 'करना' हटा दें तो वाक्य हो जायगा 'पश्यति भवः' अर्थात् शंकर दर्शन-विषय होते हैं । फिर उस परित्यक्त प्रेरणांश की ही विवक्षा में णिच् प्रत्यय करने पर रूप होगा—'दर्शयन्ति भवं भक्ताः' अर्थात् भक्त शिव को दर्शन-विषय बनाते हैं । अब फिर इस प्रेरणांश का त्याग कर दिया जाय तो अर्थ होगा—शंकर दर्शन-विषय होते हैं अर्थात् शंकर दर्शन देते हैं । यहाँ यह सूत्र परस्मैपद की जगह आत्मनेपद का विधान करता है, जिससे रूप होगा 'दर्शयते भवः' । इनमें दूसरी तथा चौथी स्थितियों में सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है; क्योंकि प्रेरणांश का त्याग कर देने से कर्म ही कर्त्ता बन जाता है, यह भी कर्म-कर्तृवाच्य का ही एक रूप है । इस अर्थ में 'दर्शयामास' अर्थात् 'दर्शन दिया' का प्रयोग महाभारत, शान्तिपर्व ३५७।४ में आया है । अँगरेजी-व्याकरण में भी यह स्थिति मिलती है; जैसे—

Ram stops Shyam here.	Shyam stops here.
राम श्याम को यहाँ रोकता है ।	श्माम यहाँ रुकता है ।
He rolls the ball down the hill.	The ball rolls down the hill.
वह गेंद को पहाड़ी से लुढ़काता है ।	गेंद पहाड़ी से लुढ़कती है ।
They bathe the child in a closed room.	The child bathes in a closed room.
वे बच्चे को बन्द कमरे में नहलाते हैं ।	बच्चा बन्द कमरे में नहाता है ।

परिनिष्ठित हिन्दी में यह प्रक्रिया नहीं मिलती । ऊपर के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रेरणांश का त्याग करने पर धातु का रूप बदल जाता है । रोकना—रुकना, पीटना—पिटना, छीनना—छिनना, काटना—कटना, देखना—दिखना, छोड़ना—छूटना, फोड़ना—फूटना, धोना—धुलना, सेंकना—सिकना, सीना—सिलना आदि । ये उदाहरण प्रेरणा के त्याग-मात्र के उदाहरण हैं । कुछ ऐसी भी धातुएँ हैं, जैसे—खाना, पीना आदि जिनसे ऐसी क्रियाएँ नहीं बन पातीं, हिन्दी में इनके प्रेरणांश का त्याग करने पर

१. १।३।६७ ।

खाया जाना, पीया जाना आदि रूप बनेंगे। किन्तु, छोटानागपुर की क्षेत्रीय हिन्दी में ऐसे प्रयोग चलते हैं—अब नहीं खिलाता है, अब नहीं पिलाता है। जैसे—गया का पेड़ा मुझको अधिक नहीं खिलाता है, अर्थात् खाया जाता है। यह प्रयोग संस्कृत के 'दर्शयते भवः' का ही समानान्तर है, जिसमें णिच् प्रत्यय भी है और प्रेरणांश का सर्वथा त्याग भी। इसे पूर्व कर्म-कर्तृवाच्य से भिन्न दिखाने के लिए प्रेरणार्थ कर्मकर्तृवाच्य कह सकते हैं। अँगरेजी के पूर्वोक्त सभी उदाहरण पहली प्रेरणा के त्याग के ही हैं, ये सउ उदाहरण दूसरी प्रेरणा के त्याग हैं।

पद-व्यवस्था

संस्कृत में भी वाक्य के इस प्रकार के तीन भेद क्रियाओं में मिलते हैं, जो अँगरेजी तथा हिन्दी में सर्वथा अप्राप्त हैं। तिङ् प्रत्ययों की व्याख्या में बताया जा चुका है कि तिङ् के दो भेद हैं—१. परस्मैपद, २. आत्मनेपद। ति तः अन्ति (या अति) सि थः थ, मि वः मः को परस्मैपद कहते हैं, तथा त आताम् अन्त (या अत), थाः आथाम् ध्वम्, इ, वहि, महि को आत्मनेपद। अष्टाध्यायी में इसकी व्यवस्था है कि इस प्रकार की स्थिति में धातु से परस्मैपद होता है, और इस प्रकार को स्थिति में आत्मनेपद। नीचे संक्षेप में इसका वर्णन है—

१. इस महासंज्ञा की अन्वर्थता से ऐसा प्रतीत होता है कि पहले जब कोई क्रिया अपने लिए की जाती थी, तब आत्मनेपद होता था, अन्यथा परस्मैपद। अर्थात् क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद, और परगामी होने पर परस्मैपद का प्रचार था। परन्तु धीरे-धीरे यह विवेक कुछ ही धातुओं के साथ रह गया। पाणिनि ने ऐसी धातुओं की पहचान के लिए दो चिह्न बनाये—(क) धातु में ञ् जोड़ देना, या (ख) उसके अन्तिम स्वर को स्वरित कर देना; जैसे क्रमशः डुक्रीञ् तथा डुपचष्। रूप-रचना के समय इनके रूप क्रमशः क्री तथा पच् बच जायेंगे। इनसे जब आत्मनेपद के त आताम् आदि प्रत्यय आयेंगे, जैसे क्रीणोते, क्रीणाते, क्रीणते; पचते, पचेते, पचन्ते तब इनका अर्थ होगा कि कर्त्ता अपने लिए कुछ खरीदता है या पकाता है, और जब परस्मैपद के ति तः आदि होंगे तो अर्थ होगा कि कर्त्ता किसी दूसरे (मित्र या स्वामी आदि) के लिए कुछ खरीदता या पकाता है। ऐसे ही वहते—वहति, खनते—खनति, दत्ते—ददाति। णिच् प्रत्ययान्त धातुओं में भी यही विचार था। मण्डयते—अपने लिए कुछ सजाता है; मण्डयति—दूसरे के लिए कुछ सजाता है; पाठयते—अपने लिए पढ़ाता है, पाठयति—दूसरे के लिए पढ़ाता है। ज्ञा धातु के साथ भी यही व्यवस्था थी—जानीते—अपने लिए, जानाति—दूसरे के लिए। इन स्थलों में यदि दूसरे पद का, स्वतन्त्र शब्द का, प्रयोग कर क्रियाफल का आत्मगामित्व प्रकट कर दिया जाता था तब उस धातु से क्रियाफल के आत्मगामी होने पर भी आत्मनेपद-परस्मैपद दोनों का प्रयोग चलता था; जैसे स्वं यज्ञं यजते यजति वा, स्वं कटं कुरुते करोति वा[१]।

१. १।३।७२—७७।

तिङ् के अलावा वर्त्तमानकालिक कृत् शतृ प्रत्यय परस्मैपद में तथा शानच् प्रत्यय आत्मनेपद[1] में होते थे। जैसे पचति—पचन्, पचते—पचमानः। इसीलिए जो अपने लिए यज्ञ करते थे उन्हें यजमान कहते थे।

२. कुछ धातुएँ ऐसी हो गईं, जिनमें केवल[2] आत्मनेपद प्रत्यय ही जुड़ सकते थे, चाहे क्रियाफल कर्त्तृगामी हो या परगामी। ऐसी धातुओं में पाणिनि ने चिह्न के लिए अन्त में ङ् या अनुदात्त स्वर लगा दिये। जैसे—क्रमशः डीङ्, और यती। उड्डीयते—उड़ता है, अपने लिए या दूसरे के लिए; यतते—प्रयत्न करता है, अपने लिए या दूसरे के लिए।

३. जिन धातुओं से आत्मनेपद विहित है उनसे, या उनसे भिन्न धातुओं से, सब धातुओं से भाव या कर्म में प्रत्यय करने पर केवल[3] आत्मनेपद ही होता है, परस्मैपद कभी नहीं। जैसे—क्री से क्रीयते, पच् से पच्यते, मण्ड्यते, पठ्यते, ज्ञायते, इज्यते, क्रियते, डीयते, यत्यते आदि, चाहे क्रियाफल कर्त्तृगामी हो या परगामी। भाव या कर्म में प्रत्यय होने पर गणविकरण नहीं आते, सबसे यक् ही आता है, यह कह चुके हैं। कर्मकर्त्तृवाच्य में भी कर्मवाच्य की ही भाँति आत्मनेपद होता है। इसी प्रकार कर्मव्यतिहार अर्थ रहने पर अधिकांश धातुओं से आत्मनेपद होता है, व्यतिलुनीते, व्यतिपुनीते आदि।

४. जो नित्य आत्मनेपदी हैं, उनसे भी उपसर्ग-विशेष के योग में केवल परस्मैपद हो सकता[4] था, जैसे—रमते, किन्तु विरमति, आरमति आदि।

५. इसी प्रकार नित्य परस्मैपदी धातुओं से भी उपसर्ग-विशेष के योग में नित्य आत्मनेपद[5] होता था; जैसे—तिष्ठति, पर प्रतिष्ठते, अवतिष्ठते; क्रीडति; किन्तु संक्रीडते, अनुक्रीडते; हन्ति, किन्तु आहते; गच्छति, किन्तु संगच्छते; जयति, किन्तु विजयते। इन उपसर्गों के योग से प्रायः कुछ अर्थ में भी परिवर्त्तन हो जाता था। इनसे भिन्न उपसर्ग लगाने पर भी धातु का अपना नियमित पद ही होता था, जैसे—रमते—अधिरमते, तिष्ठति—अनुतिष्ठति आदि।

६. कभी उभयपदी धातुओं से भी उपसर्ग-विशेष का योग हो जाने पर केवल आत्मनेपद[6] ही होता था; जैसे—ह्वयति—ह्वयते, किन्तु निह्वयते, संह्वयते; निह्वयति, संह्वयति नहीं। करोति—कुरुते, किन्तु विकुरुते आदि।

७. कभी उभयपदी[7] धातुओं से भी उपसर्ग विशेष के योग में केवल परस्मैपद ही होता था; जैसे—करोति—कुरुते, किन्तु अनुकरोति, वहति—वहते, किन्तु प्रवहति।

८. कभी अर्थविशेष[8] को प्रकट करने में परस्मैपदी से आत्मनेपद ही होता था; जैसे—गोपी कृष्णाय तिष्ठते, शास्त्रे वदते, शब्दं नित्यं संगिरन्ते, भार्याम् उपयच्छते आदि।

---

१. १।४।९९-१००।
२. १।३।१२।
३. १।३।१३।
४. १।३।८३।
५. १।३।१९,२१,२२,२८,२९ आदि।
६. १।३।३०, ३४।
७. १।३।७९, ८१।
८. १।३।२३, ४७, ५२, ५६।

९. कभी अर्थविशेष[1] प्रकट करने में उभयपदी से नित्य आत्मनेपद ही होता था, जैसे—आह्वयते, अधिकुरुते शत्रुम्, माणवकम् उपनयते, उपक्रमते शतं प्रतिजानीते; मुण्डो भीषयते, किन्तु कुञ्चिकया भाययति ।

१०. एक अर्थ में धातु[2] आत्मनेपद प्रत्यय लेती थी, दूसरे में परस्मैपद, जैसे—भुङ्क्ते—खाता है, भुनक्ति—पालन करता है, आदि ।

११. किसी धातु में एक लकार में आत्मनेपद होता था, दूसरे में परस्मैपद, जैसे[3]—मृङ् का म्रियते, किन्तु मरिष्यति; शद् का शीयते, किन्तु शत्स्यति; वृत् का वर्त्तते, किन्तु वर्त्स्यति, क्लृप् का कल्पते; किन्तु कल्पस्यति; द्युत् का द्योतते, किन्तु अद्युतत्—अद्योतिष्ट ।

१२. मध्यवर्त्ती प्रत्यय[4] जुटने पर भी यह पद-व्यवस्था टूट जाती है, जैसे—यङ् करने पर सबसे आत्मनेपद ही होगा, पापठ्यते, देदीयते, पोपूयते आदि । सन् करने पर मूल धातु के तुल्य ही पद-व्यवस्था होगी, जैसे शेते का शिशयिषते, भू का बुभूषति, कृ का चिकीर्षते—चिकीर्षति । किन्तु ज्ञा के उभयपदी होने पर भी श्रु, स्मृ, दृश् के परस्मैपदी होने पर भी सबसे सन् करने पर आत्मनेपद ही होगा, जिज्ञासते, शुश्रूषते, सुस्मूर्षते, दिदृक्षते । वृत् तथा क्लृप् स्वयं नित्य आत्मनेपदी रहने पर भी सन् करने पर उभयपदी होंगे, विवृत्सति—विवर्त्तिषते, चिक्लृप्सति—चिकल्पिषते । यङ्लुक् में सबसे परस्मैपद ही होगा, वर्त्तते का वरीवर्त्ति, करोति—कुरुते का चरीकर्त्ति, भवति का बोभवीति ।

१३. उपसर्ग के अतिरिक्त कारक[5] के योग से भी पद-व्यवस्था बदलती है; जैसे—संचरति, किन्तु रथेन संचरते ।

इस तरह आत्मनेपद और परस्मैपद पहले यौगिक संज्ञा के अनुकूल सब धातुओं से विभिन्न परिस्थितियों में स्वीकृत थे । ये संज्ञाएँ रूढ़ नहीं थीं, तभी धातुपाठ में इनके अर्थ में आत्मनेभाष, परस्मैभाष, उभयतोभाष शब्द आये हैं । किन्तु, धीरे-धीरे इनका प्रयोग धातु-विशेष, अर्थ-विशेष में सीमित हो गया । केवल कुछ ही धातुओं में इनका यौगिक अर्थ प्रचलित रहा, जो पहले बताये जा चुका है । पाणिनि-काल तक कम-से-कम स्वरितेत्, ञित्, णिजन्त आदि में यह व्यवस्था थी कि कर्त्तृगामी क्रियाफल प्रकट करने के लिए आत्मनेपद का तथा शेष स्थिति में परस्मैपद का प्रयोग करते थे । परन्तु बाद में वह भी मिट गई । अब तो उभयपदी धातुओं से कहीं कभी किसी पद का प्रयोग कर देते हैं ।

१४. शेष सब स्थितियों में[6] परस्मैपद होता है, जैसे—भवति, पठति, याति आदि । इनसे आत्मनेपद कभी नहीं होगा ।[7]

---

१. १।३।३१, ३३, ३६, ४२, ४६, ६८ आदि ।
२. १।३।६६ ।
३. १।३।६०, ६१, ९१, ९२, ९३ ।
४. १।३।१२, ६२,५७,९२, ९३ ।
५. १।३।५४ ।
६. १।३।७८ ।

७. पूरी आत्मनेपद-परस्मैपद-व्यवस्था अष्टाध्यायी में १।३।१२ से ९३ तक है । किन्तु, आर्षसाहित्य में सब धातुओं से यथेष्ट आत्मनेपद-परस्मैपद-व्यवस्था मानी गई है, जैसे गच्छध्वं शरणं विप्रान् (अनु० १५७।५), कान् जयामहे (अनु० १५७।६), कथं कपान् विजेष्यथ, वयं कपान् विजेष्यामः (अनु० १५७।१४, १५), न सेवन्ति रजस्वलाम् (वहीं श्लोक १२) आदि ।

क्रिया-रूप में इस प्रकार का भेद विरल है। कुछ छोटानागपुरी भाषाओं में क्रिया का ऐसा रूप मिळता है, जिसमें वक्ता श्रोता को भी सम्मिलित कर रहा है कि नहीं, ऐसा आभास मिल जाता है। बिहारी बोलियों में भी क्रिया का ऐसा रूप प्राप्त होता है। इनका मूल भी संस्कृत में सुरक्षित है। अहं गमिष्यामि—चलिष्यामि, वयं गमिष्यामः—चलिष्यामः आदि में गम् और चल् धातुओं में यही अन्तर है।

लकारार्थ-प्रक्रिया

संस्कृत में तिङन्त रूप जिस प्रकार समृद्ध है उसी प्रकार लकार-विधान भी। तिङन्त रूपों के विश्लेषण के समय यह बता आये हैं कि वर्त्तमान में लट्, सामान्य भूत में लुङ्, अनद्यतन भूत में लङ, परोक्ष अनद्यतन भूत में लिट्, सामान्य भविष्यत् में लृट्, अनद्यतन भविष्यत् में लुट्, विधि आदि अर्थों में लिङ्, लोट् तथा लेट्, आशीर्वाद में आशीर्लिङ्, और क्रिया की अनिष्पत्ति गम्यमान हो तो भूत तथा भविष्यत् में लृङ् लकार होते हैं, परन्तु इनके अपवाद[१] स्थल भी काफी हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिखाये जा रहे हैं—

१. (क) स्मृति[२]-बोधक शब्द उपपद रहने पर अनद्यतन भूत में भी लृट् होता है, जैसे स्मरसि कृष्ण, गोकुले वत्स्यामः, यहाँ अवसाम की जगह वत्स्यामः प्रयोग अनुमत है। (ख) किन्तु यद्[३] शब्द का प्रयोग करने पर लृट् नहीं होगा और (ग) यदि साकांक्ष[४] वाक्य होगा तो यद् का प्रयोग हो या न हो, लृट् वैकल्पिक होगा।

२. यदि ह तथा शश्वत्[५] इन दोनों अव्ययों में से किसी का प्रयोग होगा तो परोक्ष अनद्यतन भूत में भी वैकल्पिक लङ् होगा, जैसे इति हाकरोत् चकार वा, शश्वद करोत् चकार वा। (ख) प्रश्न करने में आसन्न[६] अनद्यतन परोक्ष भूत में भी वैकल्पिक लङ् होगा, जैसे अगच्छत् किम्? या जगाम किम्? (ग) 'स्म' का प्रयोग करने पर परोक्ष और अपरोक्ष अनद्यतन भूत में लट् होता[७] है, जैसे यजति स्म युधिष्ठिरः, एवं स्म पिता ब्रवीति आदि। (घ) किसी भी भूत[८] में प्रश्न के उत्तर देने में 'ननु' शब्द का प्रयोग रहने पर नित्य लट् होता है, तथा 'न' या 'नु' का प्रयोग रहने पर वैकल्पिक रूप से लट् होता है, जैसे अकार्षीः किम्? ननु करोमि भोः; या न करोमि या नाकार्षम्, अहं नु करोमि या अहंन्व कार्षम् आदि।

(ङ) अनद्यतन भूत में पुरा शब्द[९] के योग में यदि स्म का प्रयोग न रहे तो लुङ् भी होता है और लट् भी। वसन्तीह पुरा च्छात्राः, अवात्सुः, अवसन् ऊषुर्वा।

३. (क) भविष्यत्काल में यावत् अथवा पुरा[१०] इनमें से किसी निपात का प्रयोग हो तो लट् होता है, जैसे यावद् भुङ्क्ते, पुरा भुङ्क्ते, अर्थात् निश्चितं भोक्ष्यते।

---

१. यह प्रसंग अष्टाध्यायी में ३।२।११२ से १२२ तक, ३।३।४ से ९ तक तथा ३।३।१३१ से १७६ तक बिखरा हुआ है।

२. ३।२।११२।
३. ३।२।११३
४. ३।२।११४।
५. ३।२।११६।
६. ३।२।११७
७. ३।२।११८,११९।
८. ३।२।१२०,१२१।
९. ३।२।१२२।
१०. ३।३।४।

(ख) कदा या कर्हि के योग[1] में भविष्यत् में वैकल्पिक लट् होगा, जैसे कदा कर्हि वा भुङ्क्ते, भोक्ष्यते, भोक्ता वा ।

(ग) किम् शब्द निष्पन्न[2] शब्दों के योग में लिप्सा गम्य होने पर भी ऐसा ही होता है, जैसे कं कतरं कतमं वा भोजयसि, भोजयिष्यसि, भोजयितासि वा; लिप्सा नहीं रहने पर, कः पाटलिपुत्रं गमिष्यति ?

(ग) लिप्स्यमान से स्वर्गादि की सिद्धि में भी ऐसा[3] ही होता है, जैसे योऽन्नं ददाति, दास्यति, दाता वा, स स्वर्गं याति, यास्यति, याता वा ।

(ङ) जिससे प्रैष आदि[4] लक्षित होता हो उस अर्थ में वर्त्तमान धातु से भविष्यत् में लट् विकल्प से होता है; जैसे कृष्णश्चेद् भुङ्क्ते, भोक्ष्यते, भोक्ता वा त्वं गाश्चारय तथा ऊर्ध्वमौहूर्त्तिक अर्थ में ऐसी स्थिति में लिङ् भी होता है; जैसे मुहूर्त्तादुपरि उपाध्यायश्चेदणच्छेत् आगच्छति, आगमिष्यति आगन्ता वा अथ त्वं छन्दोऽधीष्व ।

(च) भविष्यत्काल में भी आशंसा में भूत तथा वर्त्तमान की तरह प्रत्यय होते हैं; जैसे देवश्चेदवर्षीत्, वर्षति, वर्षिष्यति वा, धान्यमवाप्स्म, वपामः, वप्स्यामः वा ।

(छ) क्षिप्र[5] का पर्याय यदि उपपद हो तो पूर्व विषय में लृट् होता है; जैसे—वृष्टिश्चेत् क्षिप्रम् आशु त्वरितं वा यास्यति, शीघ्रं वप्स्यामः ।

(ज) आशंसावाची[6] शब्द भी यदि उपपद हो तो भूतवत् प्रत्यय नहीं, लिङ् होता है; जैसे—गुरुश्चेदुपेयात् आशंसेऽधीयीय, आशंसे क्षिप्रमधीयीय ।

(झ) यदि क्रिया का सातत्य[7] या सामीप्य गम्य हो तो अनद्यतनवत् लुट् तथा लङ नहीं होते; जैसे—या इयं पौर्णमासी अतिक्रान्ता तस्याम् अग्निम् आधित, सोमेन अयष्ट; या इयम् अमावास्या आगामिनी, तस्याम् अग्नीन् आधास्यते, सोमेन यक्ष्यते ।

(ञ) भविष्यत्[8] में 'देशकृत' मर्यादावचन में अवर प्रविभाग में अनद्यतनवत् प्रत्यय (लुट्) नहीं होता; जैसे—योऽयमध्वा आगन्तव्य आ पाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं कौशाम्ब्याः तत्र सक्तून् पास्यामः ।

(ट) कालविभाग[9] में भी अहोरात्र को छोड़ शेष की चर्चा में यही स्थिति होती है; जैसे—योऽयं वत्सर आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्याः तत्र युक्ता अध्येष्यामहे ।

(ठ) पूर्वोक्त दोनों सूत्रों के लक्ष्य में यदि पर[10] देश या पर काल की चर्चा हो तो उक्त विधि वैकल्पिक होती है,....सक्तून् पातास्मः,....अध्येतास्महे आदि ।

---

१. ३।३।५ ।
२. ३।३।६ ।
३. ३।३।७ ।
४. ३।३।८ तथा ९ ।
५. ३।३।१३३ ।
६. ३।३।१३४ ।
७. ३।३।१३५ ।
८. ३।३।१३६ ।
९. ३।३।१३७ ।
१०. ३।३।१३८ ।

(ड) लिङ्[1] के ही निमित्त में लृङ् होता है यदि क्रिया की अनिष्पत्ति गम्य हो। सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यत् "यददास्यदनुज्ञां वै पूर्वमेव गृहान् प्रति प्रस्थातुं सिन्धुराजस्य नाभविष्यज्जनक्षयः"[2]।

४. भूतकाल[3] में भी क्रिया की अनिष्पत्ति में लिङ् निमित्त (हेतुहेतुमद्भाव) में लृङ् होता है; जैसे उपर्युक्त ही उदाहरण। लृङ् का वर्णन हो चुका है। यहाँ से आगे के सभी स्थलों में लिङ् के निमित्त में भविष्यत् में नित्य तथा भूत में वैकल्पिक लृङ् की अनुवृत्ति चलेगी।

५. (क) गर्हा अर्थ में अपि तथा जातु शब्दों का प्रयोग होने पर तीनों कालों में लट्[4] ही होता है, अपि जायां त्यजसि, जातु गणिकाम् आधत्से गर्हितमेतत्!

(ख) कथम् शब्द का[5] प्रयोग करने पर गर्हा में तीनों काल में लिङ् तथा लट विकल्प से होते हैं; जैसे—कथं धर्मं त्यजेः त्यजसि वा, अत्यक्षः अत्याक्षीः वा?

(ग) किम् से निष्पन्न शब्दों[6] के योग में निन्दा में तीनों काल में लिङ् तथा लृट् होते हैं; जैसे—कः कतरः, कतमो वा हरिं निन्देत्, निन्दिष्यति वा, अनिन्दिष्यत् अनिन्दीत् वा।

(घ) किम्वृत्त शब्द का योग रहने और नहीं रहने पर भी असम्भावना[7] तथा अमर्ष अर्थ में पूर्वोक्त कार्य होंगे; जैसे न सम्भावयामि, न मर्षये वा भवान् हरिं निन्देत्, निन्दिष्यति वा। पूर्ववत्।

(ङ) असम्भावना[8] तथा अमर्ष अर्थ में, किंकिल शब्द तथा अस्त्यर्थक शब्दों का योग रहने पर केवल लृट् ही होता है; जैसे न श्रद्दधे, न मर्षये वा किंकिल त्वं शूद्रान्नं भोक्ष्यसे; अस्ति भवति विद्यते वा शूद्रीं गमिष्यसि।

(च) असम्भावना और अमर्ष अर्थ रहने पर यदि जातु[9] तथा यद् शब्दों का प्रयोग किया जाय तो तीनों कालों में केवल लिङ् ही होता है, लृट् नहीं होता। जैसे जातु यद् वा त्वादृशो हरिं निन्देत् नावकल्पयामि, न मर्षयामि। यहाँ भी क्रियातिपत्ति में भविष्यत् में नित्य तथा भूत में वैकल्पिक लृङ् होता है, हरिम् अनिन्दिष्यत्, अनिन्दीत् वा। कात्यायन ने यहाँ यदा और यदि का भी उपसंख्यान किया है।

(छ) यच्च और यत्र के योग में भी[10] पूर्वोक्त कार्य होते हैं—यच्च यत्र वा त्वमेवं कुर्याः, न श्रद्दधे न मर्षयामि; अकरिष्यः, अकार्षीः वा।

---

१. ३।३।१३९।
२. द्रोणपर्व १५२-१२।
३. ३।३।१४०।
४. ३।३।१४२।
५. ३।३।१४३।
६. ३।३।१४४।
७. ३।३।१४५।
८. ३।३।१४६।
९. ३।३।१४७।
१०. ३।३।१४८।

(ज) गर्हा[1] अर्थ में यच्च और यत्र का योग रहने पर तीनों कालों में केवल लिङ् ही हो, लट् तथा लृट् नहीं हो। जैसे यच्च यत्र वा त्वं शूद्रं याजयेः, अन्याय्यं तत्, यहाँ भी लिङ् निमित्त में शूद्रम् अयाजयिष्यः आदि।

(झ) आश्चर्य[2] प्रकट करने में भी उपर्युक्त स्थिति ही रहती है; जैसे यच्च यत्र वा त्वं शूद्रं याजयेः, आश्चर्यमेतत्। पूर्ववत् लृङ् तथा लुङ् भी होंगे।

(ञ) आश्चर्य[3] अर्थ रहने पर यच्च और यत्र से भिन्न उपपद रहे तो सब कालों में लृट् होता है, यदि 'यदि' उपपद न रहे तब। आश्चर्यम् अन्धो नाम कृष्णं द्रक्ष्यति। यहाँ लृङ् नहीं होता।

(ट) स्वीकारार्थक उत तथा[4] अपि के योग में तीनों कालों में लिङ् होता है; जैसे उत अपि वा हन्यादघं हरिः। क्रिया की असिद्धि गम्य हो तो भविष्यत् तथा भूत दोनों में नित्य लृङ् हो, उत अहनिष्यद् दस्युं राजा ?

(ठ) अपना अभिप्राय प्रकट[5] करना गम्यमान हो तो कच्चित् का प्रयोग नहीं रहने पर तीनों कालों में लिङ् ही होता है ; जैसे—कामो मे भुञ्जीत भवान्।

(ड) सम्भावना अर्थ में लिङ्[6] होता है, तीनों कालों में, यदि अलम् शब्द का प्रयोग किये विना उस अर्थ की प्रतीति हो रही हो। जैसे अपि गिरिं शिरसा भिन्द्यात्। पूर्ववत् अपि गिरिं शिरसा अभेत्स्यत्।

(ढ) यदि सम्भावनार्थक[7] धातु उपपद रहे और यत् शब्द का योग न हो तो पूर्व कार्य विकल्प से होता है। जैसे सम्भावयामि भुञ्जीत, भोक्ष्यते वा भवान्।

(ण) हेतुहेतुमद् भाव[8] में भविष्यत् में लिङ् होता है विकल्प से। कृष्णं नमेत् नंस्यति वा चेत् सुखं यायात् यास्यति वा।

(त) इच्छार्थक[9] धातु के प्रयोग में सब लकारों की जगह लिङ् तथा लोट् होते हैं। इच्छामि, कामये, प्रार्थये भुञ्जीत भुङ्क्तां वा भवान्।

(थ) समानकर्तृता[10] की स्थिति में इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहने पर लिङ् भी होता है (केवल 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' से तुमुन् ही नहीं)। जैसे भुञ्जीय इति इच्छति (और भोक्तुम इच्छति भी)। क्रिया की अनिष्पत्ति व्यक्त होने पर यहाँ भी नित्य लृङ् होगा।

(६) इच्छार्थक धातु से वर्तमान में भी वैकल्पिक लिङ् होता है; जैसे इच्छेत् इच्छति वा, कामयेत कामयते वा।

(७) (क) विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न, प्रार्थना के अतिरिक्त प्रैष, अतिसर्ग तथा प्राप्तकाल में भी लिङ्, लोट् तथा कृत्य प्रत्यय होते हैं। त्वं कटं कुर्याः, कुरु वा, त्वया कटः कार्यः वा। भवता यष्टव्यम्, भवान् यजेत यजताम् वा।

---

१. ३।३।१४९।
२. ३।३।१५०।
३. ३।३।१५१।
४. ३।३।१५२।
५. ३।३।१५३
६. ३।३।१५४।
७. ३।३।१५५।
८. ३।३।१५६।
९. ३।३।१५७।
१०. ३।३।१५९।

(ख) ऊर्ध्वमौहूर्त्तिक[1] (एक क्षण बाद होनेवाला) अर्थ में भी पूर्वस्थितियों में लिङ्, लोट् तथा कृत्य प्रत्यय होते हैं। मुहूर्त्तादूर्ध्वं यजेत, यजताम् यष्टव्यं वा।

(ग) यदि उपर्युक्त स्थिति में स्म[2] का प्रयोग हो तो केवल लोट् ही हो, न लिङ् न कृत्य हो। ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् यजतां स्म।

(घ) स्म[3] उपपद रहने पर अधीष्ट अर्थ में भी केवल लोट् ही हो। त्वं स्म अध्यापय।

(८) यत् शब्द उपपद[4] रहे तो काल, समय, वेला के उपपद रहने पर तुमुन् नहीं हो, लिङ् हो। जैसे कालः समयो वेला वा यद् भुञ्जीत भवान्।

(९) अर्ह अर्थ में लिङ्[5] और कृत्य तथा तृच् भी हो। त्वं कन्यां वहेः वोढा, त्वया कन्या वहनीया वा।

(१०) शक्ति अर्थ[6] में लिङ् तथा कृत्य प्रत्यय दोनों हों। त्वम् भारं वहेः त्वया भारो वोढव्यः।

(११) आशीर्वाद में लिङ्[7] तथा लोट् दोनों होते हैं। चिरं जीव्यात् जीवतात् वा।

(१२) माङ् शब्द[8] के योग में भविष्यत् में भी लुङ् लकार हो जाय। मा भवान् कार्षीत्।

(१३) यदि मा स्म[9] का योग रहे तो लुङ् और लङ् दोनों हों। जैसे मा स्म करोत् कार्षीत् वा।

(१४) धात्वर्थों[10] के सम्बन्ध में जिस काल में जो प्रत्यय उक्त हैं, उनसे भिन्न कालों में भी वे होते हैं। जैसे वसन् ददर्श, यहाँ ददर्श इस मुख्य क्रिया से भूतकाल व्यजमान होने पर भी उसमें वस् धातु से वर्त्तमानकाल विहित (लट्) शतृ हुआ। इसी भाँति सोमयाजी अस्य पुत्रो भविता। यहाँ भविता इस मुख्य क्रिया के सम्बन्ध से भविष्यत् में भी भूतविहित णिनि प्रत्यय हुआ। निवेदयिष्यतो मनो न विव्यथे—यहाँ भूत में भी लृट् हुआ। यह नियम अँगरेजी तथा हिन्दी में भी है : He will be going, He was going, He will have gone में यही स्थिति है, वह जाता था, वह जाता होगा, वह गया होगा आदि में भी। अर्थात् मुख्य क्रिया के काल के अनुकूल गौण क्रिया से भी प्रत्यय हो जाते हैं, इस नियम के नहीं रहने पर विभिन्न कालों में इतने रूप नहीं बन पाते। यह आगे स्पष्ट किया जायगा।

(१५) क्रियासमभिहार[11] (किसी क्रिया का बार-बार होना या अधिक होना) अर्थ में धातु से लोट् लकार होता है, लोट् में भी सब पुरुष और वचन की जगह परस्मैपदी में हि तथा आत्मनेपद में स्व (अर्थात् मध्यमपुरुष एकवचन) हो जाता है; मध्यमपुरुष बहुवचन परस्मैपद

१. ३।३।१६४।
२. ३।३।१६५।
३. ३।३।१६६।
४. ३।३।१६८।
५. ३।३।१६९।
६. ३।३।१७२।
७. ३।३।१७३।
८. ३।३।१७५।
९. ३।३।१७६।
१०. ३।४।१।
११. ३।४।२।

'त' और आत्मनेपद ध्वम् का भी वैकल्पिक प्रयोग अनुमत है। और जहाँ-जहाँ यह विधि होती है, वहाँ-वहाँ धातु का अनुप्रयोग[१] भी होता है। जैसे याहि-याहि इति याति, यातः, यान्ति, ययौ, याता, यास्यति, अयासीत् इत्यादि। याहि-याहि इति यात-यात इति वा यूयं याथ। अधीष्व-अधीष्व इति अधीते, अधीयाते, अधीयते इत्यादि। अधीष्व अधीष्वेति, अधीध्वम् अधीध्वम् इति यूयमधीध्वे इत्यादि।

क्रिया समुच्चय में पूर्वोक्त विधि विकल्प[२] से होती है। जैसे सक्तून् पिब, धानाः खाद इति अभ्यवहरति। अन्नं भुङ्क्ष्व, दाधिकम् आस्वादयस्व इति अभ्यवहरते। पिबत खादत इति वा अभ्यवहरथ, भूङ्ध्वम् आस्वादयध्वम् इति वा अभ्यवहरध्वे। एक पक्ष में सक्तून् पिबति, धानाः खादति आदि। यहाँ क्रिया समुच्चय में सर्वनिष्ठ सामान्य[३] क्रिया का अनुप्रयोग होता है, जो ऊपर दिखा दिया गया है। पा, खाद्, भुज्, आस्वादि चारों की साधारण क्रिया है अभ्यवहृ, जिसका सबके बाद अनुप्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त प्रयोग संस्कृत भाषा की अपनी विलक्षणता है। अब इसका उपयोग प्रायः नहीं होता।

(१६) वर्त्तमान के समीपवर्त्ती भूत[४] तथा भविष्यत् में भी वर्त्तमान की ही तरह प्रत्यय होते हैं। जैसे कदा गतः ? अयमेव गच्छति। कदा गमिष्यति—अयमेव गच्छति। इसका शायद सब भाषाओं में प्रयोग है। कब जाओगे ? जा ही रहा हूँ। कब आये ? आ ही रहा हूँ। बल्कि हिन्दी में तो भविष्यत् में भूतसामान्य भी दिखाते हैं; जैसे—'सामान कब हटाओगे ?'—अभी हटाया, यह आशंसा भूत की तरह है, आदि। अँगरेजी में When did you come ? I am just coming. When will you go ? I am just going आदि होते ही हैं।

भूतकाल में वर्त्तमान का प्रयोग उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त भी खूब मिलता है। "ततो यदृच्छया समुत्थिते भर्त्तरि सा झटिति शिशुं जग्राह। तं च परमधर्ममालोक्य विस्मयाविष्टो नृपतिराह"। तत्र गृहान्तरे गृह प्रवेशात् पूर्वमेकः कश्चिद् ब्रह्मराक्षसः प्रविष्टः। स च रात्रौ तत्र ये वसन्ति तान् भक्षयति। ततो मान्त्रिकान् समाहूय तदुच्चाटनाय राजा यतते स्म। सचागच्छन्नेव मान्त्रिकानेव भक्षयति[५]। "अहंच तदन्नमुत्प्लुत्य प्रतिदिनं भक्षयामि", "अथ ते तथैव प्रतिज्ञाय............वने निर्भयाः पर्यटन्ति, एकश्च क्रमेण प्रतिदिनं याति" आदि। इसे लोग ऐतिहासिक वर्त्तमान कह रहे हैं। हिन्दी में भी कहानियों में ऐसा प्रयोग मिलता है, विशेषतः लोकभाषा में। जैसे किसी कथा में अतीत काल की सारी घटनाएँ सुनाकर "तब राजा उससे कहता है".....................आदि।

इसी प्रकार भविष्यत् में भी लट् का प्रयोग बहुशः उपलब्ध है। जैसे "यावन्न कश्चिद् वेत्ति, तावत् शीघ्रं गम्यताम्", "यावत् कूपोपरि याति, तावत् कूपमध्ये आत्मनः प्रतिबिम्बं

---

१. ३।४।४। २. ३।४।३। ३. ३।३।१३२।

४. सब वाक्य 'भोज-प्रबन्ध' से लिये गये हैं (पतिव्रता माहात्म्य तथा कालिदासचातुर्य शीर्षक कथाओं से)।

५. हिरण्यक की आत्मकथा और सिंह-शशक-कथा से पञ्चतन्त्र से गृहीत।

ददर्श'' आदि। पाणिनि ने यावत् के योग में लट् का विधान किया है, पर वह यावत् शब्द निपात है और निश्चयार्थक है। किन्तु हिन्दी तथा अँगरेजी में भी इस काल-परिमाणवाचक शब्द के योग में भविष्यत् में वर्त्तमान का प्रयोग देखा जाता है। जबतक वह नहीं जाता, तुम मत आओ, So long as he does not go, you do not come, जैसे ही वह जाता है, वैसे ही तुम आ जाओ, As soon as he goes, you come here आदि। ऐसी स्थिति में भी आशंसावचन में ही वर्त्तमान का प्रयोग सिद्ध करना चाहिए। इसी प्रकार यदि के प्रयोग में भी भविष्यत् में वर्त्तमान का प्रयोग मिलता है। जैसे ''यदि ममाप्युपविष्टस्य अत्र नैकः श्वापदः समागच्छति, तन्नूनं सर्वानपि भक्षयिष्यामि'', ''तत् यदि मया सह रक्तपानं करोषि तत् तिष्ठ'' आदि। कभी यदि का प्रयोग होने पर उत्तरवर्त्ती वाक्य में भी वर्त्तमान काल का ही प्रयोग होने लगता है। जैसे ''यदि त्वम् प्रसादं करोषि तदस्य नृपतेः शरीरे यन्मिष्टं रक्तं संजातं तदास्वादनेन सौख्यं सम्पादयामि[1] जिह्वाया इति''; ''यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिधरं[2] सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि तदाहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि'' आदि। हिन्दी-अँगरेजी में यदि या if जुटने पर शर्त्त प्रकट करनेवाले वाक्य में तो वर्त्तमान काल का प्रयोग देखा जाता है, परन्तु उत्तर-वाक्य में यथाप्राप्त काल का प्रयोग ही होता है। बल्कि हिन्दी में यदि के प्रयोग में प्रायः लिङ् ही चलता है, यदि वह कहे, आये आदि। पाणिनि ने जातु और यद् के प्रयोग में तथा कात्यायन ने उसके पूरक रूप में यदा और यदि के प्रयोग में लिङ् ही बताया है। बल्कि यदि शब्द नहीं रहने पर भी सम्भावना में लट् का प्रयोग देखा जाता है। ''गजस्य[3] कर्णे वीणारवसंदृशं शब्दं कुरु, येन श्रवण-सुखनिमीलितनयनोऽन्धीभूतस्तृषार्त्तो मम शब्दं श्रुत्वा जलाशयं मत्वाऽभ्येति''। ''किं करोमि क्व गच्छामि पतितोदुःखसागरे'' में किं करवाणि क्व गच्छानि की जगह वर्त्तमान का प्रयोग हो गया। ''पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे[4]'' आदि भी ऐसे ही हैं।

आर्ष साहित्य में लकार-व्यवस्था और भी नियन्त्रणहीन है। ''यदि हि त्वं पुरा[5] द्यूतात् कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् निवर्त्तयेथाः पुत्रांश्च, न त्वां व्यसनमाव्रजेत्'' में हेतुहेतुमद्भाव में भूत में भी ''जातुयदोर्लिङ्'' के अनुसार लिङ् हुआ (कात्यायन के द्वारा यदा और यदि का भी यहाँ अन्तर्भाव करने से), पर ''अन्धं तम इवेदं स्यात् न प्राज्ञायत[6] किंचन'' में भविष्यत् सम्भावना में भी उत्तर-वाक्य में लङ् हो गया। ''श्वः समेष्यामः''[7] में अनद्यतन में लृट् है। सोऊँगा के अर्थ में 'शिश्ये'[8] यह लिट् का प्रयोग है, गिरा देता था के अर्थ में 'पातयेयम्'[9]

१. ''न ह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातव्यः परिश्रयः'' की कथा पञ्चतन्त्र में।
२. ''शूरः स्यादविकत्थनः'' की कथा।
३. चटकदम्पती कथा।
४. शकुन्तला नाटक।
५. द्रोणपर्व ८६।४।
६. शान्ति १५।३२।
७. शान्ति ५२।२९।
८. भीष्म ११९।५१।
९. उद्योग का १८०वाँ अध्याय।

यह लिङ् का प्रयोग है। ' "न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम्"[1] यहाँ अपरोक्ष भूत में लिट् है। "यद्यहं पुरा[2] शत्रुभिः क्षयं गमितः अभविष्यम्, त्वाम् एवम् सायकार्दितं न अद्राक्षम्" में अद्राक्षम् भूतकाल में वैकल्पिक लृङ् दिखा रहा है। हिन्दी में भी भविष्यत् में लृङ् का प्रयोग नित्य है, पर भूत में वैकल्पिक है, जैसे यदि वृष्टि होती तो सुभिक्ष होता, और यदि वृष्टि हुई होती तो सुभिक्ष हुआ होता आदि।

हिन्दी-अँगरेजी की काल-व्यवस्था से तुलना :

संस्कृत की काल-व्यवस्था से हिन्दी तथा अँगरेजी की काल-व्यवस्था बहुत मिलती है।

वर्त्तमानकालिक कृदन्त क्रिया :

तीन काल तो हिन्दी-अँगरेजी में भी संस्कृत की ही भाँति हैं। वैसे ही तीन पुरुष भी हैं। हाँ, द्विवचन चूँकि प्राकृत-काल में समाप्त हो गया, इसलिए हिन्दी-अँगरेजी में द्विवचन कहीं नहीं है। परन्तु हिन्दी ने वर्त्तमानकालिक कृदन्त विशेषण 'ता' और भूतकालिक कृदन्त विशेषण 'आ' जोड़कर सब धातुओं से तीनों कालों में बहुत-से क्रिया-रूप बनाये हैं। ठीक इसी भाँति अँगरेजी ने भी वर्त्तमानकालिक ing प्रत्यय तथा भूतकालिक t, d या n आदि जोड़कर अपना क्रिया-रूप समृद्ध किया है। इन्हें क्रमशः प्रेजेण्ट पार्टिसिपुल तथा पास्ट पार्टिसिपुल कहते हैं। संस्कृत में वर्त्तमान काल में शतृ और शानच् तथा भूतकाल में क्त क्तवतु का विधान है। वस्तुतः अँगरेजी के दोनों पार्टिसिपुल तथा हिन्दी के दोनों कृदन्तीय विशेषण इन्हीं संस्कृत-प्रत्ययों के अपभ्रष्ट और विस्तृत रूप-मात्र हैं, यह पीछे कह आये हैं। जैसे संस्कृत में 'सः गच्छति' की तरह 'स गच्छन्' का प्रयोग वर्जित है, वैसे ही अँगरेजी में भी He goes की जगह केवल He going नहीं कह सकते और न हिन्दी में 'वह जाता है' की जगह 'वह जाता'। शतृ और शानच् के तीन विषय हैं—(१) अप्रथमासमानाधिकरण, जैसे पाठशालां गच्छन्तं चैत्रं पश्य, पाठशालां गच्छता चैत्रेण दृष्टः, पाठशालां गच्छते चैत्राय देहि आदि। (२) प्रथमा समानाधिकरण में भी दूसरी समानाधिकरण-क्रिया के साथ; जैसे ग्रामं गच्छन् स तृणं स्पृशति, शयाना भुञ्जते यवनाः आदि। (३) प्रथमा समानाधिकरण में भी कहीं अकेला ही, जैसे सन् ब्राह्मणः। तीनों स्थितियों में शतृ का शानच् प्रत्ययान्त शब्द विशेषण ही है, क्रिया नहीं। स ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति, या सन् ब्राह्मणः में प्रथमा समानाधिकरण की भाँति स गच्छन् अस्ति भी सुलभ प्रयोग है। यहाँ गच्छन् विशेषण तथा अस्ति क्रिया है, ठीक जैसे स चतुरः अस्ति। अँगरेजी में भी इसे पार्टिसिपुल या भर्बल ऐडजेक्टिभ ही कहते हैं। वस्तुतः शतृ का ही अन्त्-इन्त्-इंग् बना है, जैसे शल्क का छिल्का, अस् का इस् (is) और पद का पग, हृद का हृग आदि बनते हैं। अँगरेजी में He is going में गोइंग को तथा हिन्दी में 'वह जा रहा है' में जा (जाना) को मुख्य क्रिया तथा is और है को सहायक क्रिया कहते हैं। इसे go या जा का अपूर्ण वर्त्तमान काल कहते हैं। किन्तु, संस्कृत में इसका दूसरा विश्लेषण होगा। सः गच्छन् अस्ति बिलकुल सः चतुरः अस्ति के तुल्य है। यहाँ गच्छन् क्रिया नहीं, विशेषण-पद है। इसीलिए इसमें विभिन्न पुरुष नहीं होते, केवल वचन होते हैं। पुरुष-व्यवस्था

१. उद्योगपर्व, अध्याय १६० तथा १६७ के बीच कहीं।

२. अनुशासन, १।१२।

केवल क्रिया तथा सर्वनाम पदों में होती है; स गच्छन् (या चतुरः) अस्ति, त्वं गच्छन (या चतुरः) असि, अहम् गच्छन (या चतुरः) अस्मि आदि। अँगरेजी में भी He is coming और He is cunning में कोई अन्तर नहीं है। come जब क्रिया रहता है तब उसमें पुरुष-परिवर्त्तन के अनुसार रूप-परिवर्त्तन होता है, जैसे He comes, thou comest, I come; किन्तु जब come से ing जोड़कर विशेषण शब्द बना लिया जाता है, तब उसमें पुरुषभेद से परिवर्त्तन नहीं होता; क्योंकि विशेषण में पुरुषभेद से परिवर्त्तन नहीं है—He (is) going, You (are) going, I (am) going आदि। हिन्दी में वर्त्तमान या भूतकाल का 'पढ़ता' पढ़ धातु का मौलिक रूप नहीं, शतृप्रत्ययान्त विशेषण-रूप है, इसीलिए 'पढ़ता' पुरुष-भेद से नहीं परिवर्त्तित होता; वह पढ़ता है, तू पढ़ता है, मैं पढ़ता हूँ आदि। भविष्यत् का रूप तथा आज्ञा का रूप मौलिक है, अतः वे पुरुषभेद से बदलते हैं : पढ़ेगा—पढ़ोगे —पढ़ूँगा; पढ़े, पढ़ूँ आदि। संस्कृत में शतृप्रत्ययान्त विशेषण होने से वचन-परिवर्त्तन होने पर बदलता है : स गच्छन् अस्ति—ते गच्छन्तः सन्ति। ठीक इसी प्रकार हिन्दी में भी चूँकि तद्भव आकारान्त विशेषण प्रथमा विभक्ति में भी बदलते हैं (शेष तद्भव विशेषण केवल दूसरी विभक्तियों में ही बदलते हैं), जैसे लड़का—लड़के, वैसे ही यह पढ़ता और पढ़ रहा विशेषण शब्द वचन-भेद से बदलेंगे, एकवचन में आकारान्त तथा बहुवचन में एकारान्त। जैसे पढ़ता, पढ़ रहा है, पढ़ते, पढ़ रहे हैं; पढ़ता, पढ़ रहा है—पढ़ते, पढ़ रहे हो ; पढ़ता रहा हूँ—पढ़ते, पढ़ रहे हैं आदि। किन्तु अँगरेजी में विशेषण वचन भी नहीं बदलता, सदा एकवचन-सा रहता है। अतः अँगरेजी में going, reading बिलकुल अव्यय-सा हो जाता है। वास्तव में संस्कृत में जैसे रामः छागस्य नेता या नायकः अस्ति प्रयोग है, वैसे ही रामः छागं नयन् या नयमानः अस्ति भी। फर्क यही है कि शतृशानच् के प्रयोग में कर्म षष्ठी निषिद्ध है, पर कर्म में षष्ठी की जगह द्वितीया प्रयोगवाला शतृशानच् अकेला कृत् प्रत्यय नहीं है, उ, उक, निष्ठा, खलर्थ प्रत्यय, अव्ययसाधक प्रत्यय तुम् आदि तथा तृन् भी हैं। जैसे Ram is, has been, was, had been, shall be, shall have been wise, या cunning या coming, वैसे ही रामः चतुरः या गच्छन् अस्ति, आसीत्, स्यात्, भविष्यति, अभविष्यत् आदि भी होंगे।

भूतकालिक कृदन्त क्रिया :

इसी प्रकार भूतकाल में क्त तथा क्तवतु प्रत्यय होते हैं, जिनसे गतः गतवान् आदि बनते हैं। इनके योग में भी कर्म में षष्ठी नहीं, द्वितीया होती है। इनमें प्रथमा समानाधिकरण में भी उतनी ही सरलता से प्रयोग उपलब्ध है, जितनी अप्रथमा समानाधिकरण में। अतः उनसे भी अस् या भू का अनुप्रयोग कर रामः ग्रामं गतः अस्ति, आसीत्, स्यात्, भविष्यति, अभविष्यत् आदि प्रयोग होंगे। बल्कि संस्कृत में विना अस्, भू के अनुप्रयोग के भी रामः गतः प्रयोग स्वाभाविक है, हिन्दी में भी राम गया रूप प्रचलित है, किन्तु अँगरेजी में Ram gone नहीं कह सकते, Ram has gone कहना पड़ेगा। अर्थात् प्रेजेण्ट पार्टिसिपुल

की भाँति पास्ट पार्टिसिपुल में भी विना to be या to have क्रिया लगाये प्रयोग नहीं होगा। सकर्मक के कर्मवाच्य में पास्ट पार्टिसिपुल में to be क्रिया जुड़ेगी Ram is thrown और कर्त्तृवाच्य में सर्वत्र to have क्रिया, Ram has thrown, Ram has risen आदि। इससे स्पष्ट है कि going और gone दोनों विशेषण-मात्र हैं, इसलिए विना किसी क्रिया के जुड़े वाक्य पूरा नहीं होता। अँगरेजी में Ram wise वाक्य नहीं हुआ, Ram is wise वाक्य हुआ; Ram gone वाक्य नहीं हुआ, Ram has gone वाक्य हुआ। किन्तु संस्कृत में रामः चतुरः भी वाक्य हो गया, अस्ति को अध्याहृत मात्र मान सकते हैं।

अँगरेजी ने क्यों प्रेजेण्ट पार्टिसिपुल के साथ to be को, किन्तु पास्ट पार्टिसिपुल के साथ to have को जोड़ा, इसमें भी एक कारण है। शतृ और शानच् प्रत्यय सभी धातुओं से कर्त्ता में ही विहित हैं, और उसी शतृ का रूप ing है, यह बताया जा चुका है। प्राकृत-काल में सब धातुएँ आत्मनेपद छोड़कर परस्मैपदी हो गईं, यहाँ तक कि कर्म या भाव में प्रत्यय करने पर भी आत्मनेपद का प्रयोग समाप्त हो गया, तभी 'वध्यतः[1] तव सैन्यस्य' (हन्यमानस्य की जगह) आदि प्रयोग चलने लगे। अतः शानच् सर्वत्र के लिए लुप्त हो गया, केवल शतृ रह गया। इसीलिए अँगरेजी ने निर्द्वन्द्व सब धातुओं के लिए शतृ का विकार एक ing प्रत्यय अपना लिया। चूँकि यह प्रत्यय कर्त्ता में ही विहित है, इसलिए धातु सकर्मक हो या अकर्मक, किसी से ing प्रत्यय कर is (अस्) जोड़ देने से क्रिया में वर्त्तमानता का बोध हो जाता है। चाहे Ram is sleeping कहें या Ram is reading कहें, दोनों में राम में ही कर्त्तृत्व की प्रतीति रहती है। क्त प्रत्यय में एक झमेला है। यह सकर्मक धातुओं से कर्म तथा अकर्मक धातुओं से भाव में विहित है। कर्त्ता में कुछ ही धातुओं से विहित है, प्रायः गत्यर्थक और अकर्मक धातुओं से। हाँ, आदि कर्म में (क्रिया का आरम्भ दिखाने में) सब धातुओं से उसका प्रयोग स्वीकृत है। किन्तु क्त प्रत्यय कर्म और भाव में होता है, इसे कौन रोकेगा? रामः पठितः कहेंगे तब यह अर्थ भी हो सकता है कि राम पढ़ा गया। क्तवतु प्रत्यय वस्तुतः बाद की कल्पना है—यह क्त प्रत्ययान्त का ही मतुबन्त रूप है, यह पहले कह आये हैं। अतः 'रामः पठितवान्' का प्रयोग अँगरेजी ने नहीं ग्रहण किया। सर्वत्र शतृ की तरह सर्वत्र क्त प्रत्यय रखने से प्रक्रिया में सरलता और लाघव भी था। इसलिए उस दोष को दूर करने के लिए अँगरेजी ने एक उपाय किया। क्त प्रत्यय के दो रूप हैं। भाव में नपुंसक में एक क्त प्रत्यय होता है, जिससे भाववाचक संज्ञा बन जाती है, जैसे पठितम्—पठनम्, हसितम्—हसनम् आदि। अकर्मक से भाव में जो क्त किया जाता है, रामेण शयितम्, हसितम् आदि, यहाँ का क्त भूतकाल-बोधक है; किन्तु अकर्मक-सकर्मक सभी धातुओं से भाव में विहित क्त काल-विशेष की अपेक्षा नहीं रखता। पर रामेण शयितम् की जगह रामस्य शयितम् भी हो सकता है। अँगरेजी ने कर्त्तृवाच्य के लिए इसी भाव क्त को पकड़ा और कर्मवाच्य के लिए कर्म में विहित क्त को। इस प्रकार भाव क्त भाववाचक संज्ञा है, रामः

१. भीष्मपर्व, ७७।३५।

पठितम् अस्ति कैसे कहेंगे ? रामः पठितं (पठनम्) रक्षति, धारयति, स्वीकरोति कहना पड़ेगा। यहाँ पठितम् का अर्थ होगा (भूतकालिक) पठन। अतः Ram has slept, Ram has written a letter का has ठीक Ram has a pen की भाँति ही है, राम भूतकालिक शयन रखता है, (शयन का आश्रय है) पत्र-कर्मक लेखन रखता है या कलम रखता है, एक ही प्रकार की रचना हुई। अतः विभिन्न क्रियाएँ बनाने में जहाँ-जहाँ भी अँगरेजी में Have धातु का व्यवहार है वहाँ-वहाँ उत्तरवर्ती धातुज रूप (पास्ट पार्टिसिपुल) वस्तुतः धातुज भाव-वाचक संज्ञा है, जिसके साथ राम आदि कर्त्ता का समानाधिकरण असम्भव है। इसलिए इनके साथ have जोड़ना पड़ेगा। हाँ, जहाँ कर्म में क्त हुआ है, वहाँ वह धातुज विशेषण है। जैसे ing प्रत्ययान्त कर्त्ता का समानाधिकरण धातुज विशेषण है, वैसे कर्म क्त प्रत्ययान्त कर्म का समानाधिकरण धातुज विशेषण है। जैसे Ram is written—इस वाक्य में Ram is going तथा Ram is nice की भाँति written राम का विशेषण है, अतः यहाँ राम ने is क्रिया ली। यदि अँगरेजी ने कर्त्ता में क्त प्रत्यय लिया होता तो कर्मवाच्य का रूप बनाने में उसे बड़ी दिक्कत होती। इसीलिए कर्त्ता का क्त नहीं लेकर भाव का क्त लेना पड़ा। कर्त्ता का क्त लेने पर Ram is writing का अर्थ जैसे 'राम लिख रहा है' होता है, वैसे ही Ram is written का अर्थ 'राम ने लिखा है' होने लगता। फिर भी जहाँ अकर्मक क्रियाएँ हैं, वहाँ अँगरेजी ने कर्त्ता का क्त सुरक्षित रखा है, Ram is gone, Ram is slept, Ram is come होता ही है। पर सकर्मक क्रियाओं में संशय से दूर रहने के लिए अँगरेजी ने यह व्यवस्था रखी है कि वहाँ भाव में क्त कर संज्ञा की तरह बनाकर प्रयोग किया जाय। तुमुन् और क्तवा सकर्मक धातुओं से भी प्रयुक्त होकर कर्म के साथ अपना सम्बन्ध रखते हैं और कर्म में द्वितीया ही होती है; जैसे 'रामः गीतां पठितुम् या पठित्वा याति', वैसे ही यह सकर्मक धातु से विहित क्त प्रत्यय भी है। जैसे सः गीतां पठितुम् अस्ति, वैसे ही सः गीताम् पठिताम् रक्षति के ढर्रे का यह He has read Gita।

पूर्ण क्रिया के रूप :

अँगरेजी के सभी कालों के सभी रूपों का संस्कृत तथा हिन्दी में अनुवाद सरल है।

साधारण अवस्था

कर्तृ वाच्य

रूप	वर्त्तमानकाल	भूतकाल	भविष्यत्काल	भूत में भविष्यत्
१. अनिश्चित	Present	Past	Future	Future in the past.
Indefinite	He sees	He saw	He will see	He should see.
	वह देखता है	उसने देखा	वह देखेगा	उसे देखना चाहिए।

रूप	वर्त्तमानकाल	भूतकाल	भविष्यत्काल	भूत में भविष्यत्
	सह: पश्यति	सः अपश्यत् या दृष्टवान्	सः द्रक्ष्यति	सः पश्येत्, तेन द्रष्टव्यम् ।
२. निरन्तर Continuative	He is seeing	He was seeing	He will be seeing	He should be seeing.
	वह देख रहा है	वह देखरहा था	वह देखता होगा	उसे देखते रहना चाहिए ।
	स पश्यन् अस्ति	सः पश्यन् आसीत्	स पश्यन् भविष्यति	स पश्यन् भवेत् ।
३. पूर्ण Perfect	He has seen.	He had seen.	He will have seen.	He should have been seen.
	उसने देखा है (देख चुका है)	उसने देखा था	उसने देखा होगा या देख लिया होगा (वह देख चुका होगा)	उसे देख लेना चाहिए । उसने देख लिया होगा ।
	स् दृष्टवान् अस्ति	स दृष्टवान् आसीत्	स दृष्टवान् भविष्यति	स दृष्टवान् भवेत् तेन द्रष्टव्यम आसीत्
४. पूर्ण निरन्तर Perfect Cont.	He has been seeing.	He had been seeing.	He will have been seeing.	He should have been seeing.
	वह देखता आ रहा है, रहता है ।	वह देखता आ रहा था, रहता था ।	वह देखता आ रहा होगा ।	उसे देखते रहना चाहिए ।
	स पश्यन् आगच्छति (वर्त्तते) तिष्ठति; या दरीदृश्यते ।	स पश्यन् आगच्छत् या अवर्त्तत, या अतिष्ठत्, अदरीदृश्यत ।	स पश्यन् वर्त्तिष्यते स्थास्यति या पश्यन् आगच्छन् भविष्यति, या स दरीदर्शिष्यते	स पश्यन् वर्त्तेत; तिष्ठेत दृष्टवान् वर्त्तेत, तिष्ठेत

कर्मवाच्य

रूप	वर्त्तमान	भूत	भविष्यत्	भूत में भविष्यत्
अनिश्चित	He is seen. स दृश्यते	He was seen. स अदृश्यत या दृष्टः	He will be seen. स द्रक्ष्यते	He should be seen. स दृश्येत, दर्शनीयः
२. निरन्तर	He is being seen. स दृश्यमानः अस्ति	He was being seen. स दृश्यमान आसीत्	— स दृश्यमानः भविष्यति	— स दृश्यमानः भवेत
३. पूर्ण	He has been seen. स दृष्टः अस्ति	He had been seen. स दृष्ट आसीत्	He will have been seen. स दृष्टः भविष्यति	He should have been seen. स दृष्टः भवेत्
४. पूर्ण निरन्तर	स दृश्यमानः वर्त्तते आगच्छति तिष्ठति वा	स दृश्यमानः आगच्छत्, अतिष्ठत्	स दृश्यमानः आगमिष्यति स्थास्यति	स दृश्यमानः आगच्छेत् तिष्ठेत्

इस प्रकार जहाँ अँगरेजी में कोई रूप नहीं बन पाता, वहाँ भी संस्कृत निर्बाध गति से रूप बना लेती है। यह समृद्धि है संस्कृत की।

भविष्यत्कालिक कृदन्त क्रिया तथा भविष्यत्काल का विस्तृत क्षेत्र :

संस्कृत में एक भविष्यत्कालिक कृदन्त विशेषण भी होता है; जैसे वर्त्तमान में गच्छन् वैसे ही भविष्यत् में गमिष्यन्[1]। इस प्रकार जितने रूप गच्छन् से बनते हैं, उतने ही गमिष्यन् से भी बनेंगे; जैसे रामः ओदनं खादिष्यन् अस्ति, आसीत्, भविष्यति, भवेत् आदि। अँगरेजी को यहाँ अपना काम Infinitive mood (निमित्तवाचक क्रिया) से चलाना पड़ता है—Ram is to eat, will be to eat, should be to eat आदि। हिन्दी में जैसे 'राम जा रहा है' प्रयोग होता है, वैसे ही 'राम जानेवाला है' भी। गाड़ी छूट ही रही है और छूटने ही वाली है, मैं पूछ ही रहा था और पूछने ही वाला था का अन्तर स्पष्ट है। अहं ताडयिष्यन् एवासम् तावत् सः अवदत्—'मैं पीटने ही वाला (जा रहा) था कि वह बोला' का अँगरेजी-अनुवाद करेंगे—I was just to beat, when he spoke. इस प्रकार अँगरेजी तथा हिन्दी के पास यह क्रिया नहीं है। सूर्ये अस्तं गते, गच्छति, गमिष्यति वा स निवृत्तः का परस्पर अन्तर अँगरेजी-अनुवाद में स्पष्ट नहीं होता। हाँ, दो वाक्य बनावें When the

१. लृटः सद् वा ३।३।१४

sun set, was setting, was going to be set, he returned. तब स्पष्ट हो सकेगा। "ध्रियमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर", "एवं हृतायां वैदेह्याम्" आदि वाक्य संस्कृत में खूब मिलते हैं। लिङ् तथा लोट् के अर्थ में प्रायः सर्वत्र कृत्य प्रत्यय विहित हैं। सः गच्छतु, या गच्छेत् की जगह तेन गन्तव्यम् का भी प्रयोग होता है। इसे भी भविष्यत् का ही रूप मानना चाहिए, किन्तु इसका अनुवाद He should go उसे जाना चाहिए, भविष्यत् का रूप नहीं माना जाता, यहाँ should के बाद to लुप्त है, अतः यहाँ go इन्फिनिटिभ मूड में है। लोट् तथा लिङ् को अँगरेजी में इम्परेटिभ मूड में रखते हैं, जहाँ वे काल-व्यवस्था मानते ही नहीं। साथ ही मध्यमपुरुष तो वे केवल मुख्य धातु से बनाते हैं; जैसे go, पर अन्यपुरुष तथा उत्तमपुरुष में लेट (let) क्रिया की सहायता लेते हैं : Let him go, let me go आदि, जहाँ इन्फिनिटिभ मूड के टु का लोप है (Let him to go)। नेसफील्ड ने अपने व्याकरण में अनुच्छेद १७९ में इस मूड का वर्णन करते हुए स्वीकार किया है कि "The Imperative mood is used only in the present tense and only in the second person." यह तो आश्चर्य है, इम्परेटिभ मूड की क्रिया भला प्रेजेण्ट टेन्स में कैसे रहेगी, उसे तो भविष्यत् काल में ही होना है ! संस्कृत का विश्लेषण इतना पुराना होते हुए भी कितना सही है कि लोट् विधिलिङ् की क्रियाएँ भले ही विधि, प्रैष आदि अतिरिक्त अर्थ प्रकट करती हैं, पर ये भविष्यत्काल में होती हैं, वर्त्तमान में नहीं। वर्त्तमान में केवल लट् ही लकार हो सकता है। तभी तो हिन्दी में जरा इधर आओ, पानी पिलाओ की जगह इधर आओगे, पानी पिलाओगे आदि सामान्य भविष्यत्कालिक रूप आज्ञा में भी चलते हैं। आशीर्लिङ का तो रूप अँगरेजी में है ही नहीं। सामान्य भविष्यत् के रूप भी विल (will) और शैल (shall) सहायक क्रियाएँ लगाकर बनाते हैं, तथा इनके बाद Imperative mood के टु का लोप मानते हैं। फिर He shall go या will go को जब सामान्य भविष्यत् मान लेते हैं तो He should go को आज्ञा भविष्यत् या इम्परेटिभ मूड क्यों नहीं मानते ? इसी प्रकार विधि-लिङ् का प्रयोग आज्ञा[1] की भाँति योग्यता[2], तथा शक्ति[3] बताने के लिए भी माना गया है, अतः He should go भविष्यत् में आज्ञा आदि, He may go योग्यता, अनुमति आदि तथा He can go शक्ति प्रकट करने के रूप में हैं। ये सब भविष्यत् के ही रूप हैं। किन्तु इन्हें इम्परेटिभ मूड से भी पृथक् कर दिया गया है। सः गीतां पठेत् के संस्कृत में कई अर्थ प्रकरणवश हो सकते हैं, स गीतां पठतु इति मम आज्ञा अस्ति, स गीताम् पठितुम् अर्हति, स गीताम् पठितुम् शक्नोति। इसके अँगरेजी-अनुवाद होंगे—He should read Gita, He may read Gita तथा He can read Gita. He will read Gita से इनकी आकृति, रचना तथा अर्थ में विशेष अन्तर नहीं, अतः ये सब भविष्यत् के ही रूप माने जाने चाहिए और इम्परेटिभ को अलग मूड नहीं समझना चाहिए ; त्यजेदेकं कुलस्यार्थे—त्यजेत् = छोड़ देना चाहिए। दहेयं त्वा चक्षुषा दारुणेन[4], दहेयम् = जला सकता हूँ आदि।

---

१. ३।३।१६१, १६२, १६३।
२. ३।३।१६९।
३. ३।३।१७२।
४. अश्वमेध—९।२६।

अँगरेजी में भविष्यत् के लिए कोई स्वतन्त्र रूप नहीं। भूत के लिए स्वतन्त्र रूप है; जैसे—write, यह वर्त्तमान हुआ और wrote तथा written यह भूत। संस्कृत में भी सामान्य भविष्यत् का रूप वर्त्तमान के रूप में बीच में स्य जोड़कर बनाया जाता है, याति—या स्यति तपति—तप्स्यति आदि। हिन्दी में भी धातु का अपना रूप वर्त्तमान में है पढ़ता आदि, भूत में भी है पढ़ा आदि, पर सामान्य भविष्यत् का अपना कोई रूप नहीं, विधि के रूपों में एकवचन में गा तथा बहुवचन में गे लगाकर सामान्य भविष्यत् बनाया जाता है—पढ़ेगा, पढ़ूँगा, पढ़ेंगे, पढ़ोगे आदि। इसी प्रकार अँगरेजी में भी सामान्य भविष्यत् वर्त्तमान के रूप में will या shall जोड़कर बनाया जाता है। फर्क यही है कि संस्कृत तथा हिन्दी ने क्रमशः वर्त्तमान तथा विधि के रूप पर आधारित कुछ परिवर्त्तन कर भविष्यत् के रूप तैयार किये, अँगरेजी ने इसके लिए दूसरी धातुओं को जोड़कर यौगिक धातु तैयार की। क्या अँगरेजी संस्कृति में भविष्यत् की उपेक्षा अधिक है ?

आशीर्वाद के लिए He may live को May he live ऐसा उलट देते हैं, अतः यह भी विधि का ही एक भेद है। He must go आदि के लिए संस्कृत में कृत्य प्रत्यय विहित हैं, स अवश्यं पठतु या पठेत् के लिए एक शब्द है तेन पाठ्यम् या पठनीयम्।

शतृ-प्रत्ययान्त तथा क्त-क्तवतु-प्रत्ययान्त के साथ अस् आदि धातु का योग कर पहले भी काफी प्रयोग हो चुका है, अँगरेजी और हिन्दी के प्रयोग देखकर मैं कोई नये प्रयोग नहीं बता रहा हूँ। जैसे—

१. सुकवे महदाश्चर्यं मया पूर्वेद्यू रात्रौ दृष्टमस्ति—मैंने एक महान् आश्चर्य देखा है—I have seen ('कालिदास चातुर्यम्' : भोजप्रबन्ध से)

२. वयं सर्वे उक्तवन्तः स्मः—We have all said—हम सबने कहा[1] है।

३. निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः[2]—यहाँ शतृ प्रत्ययान्त का प्रयोग प्रथमा समानाधिकरण में अस् धातु के साथ है, विकसन्तः सन्ति—are blooming—खिल रहे हैं।

४. सा च तस्य महीपते रक्तमास्वादयन्ती तिष्ठति[3]—आस्वादयन्ती तिष्ठति—has been tasting—चखती रहती है या चखती आ रही है।

५. वत्सभूमौ लावाणकं नाम ग्रामः तत्र उषितवानस्मि[4]—उषितवान् अस्मि—रह चुका हूँ या रहा हूँ—I have lived.

६. भवन्निकटमानीतवानस्मि[5]—I have brought—मैं लाया हूँ।

जिस प्रकार शतृ प्रत्ययान्त का विशेषणवत् प्रयोग होता है, उसी प्रकार क्त-क्तवतु-प्रत्ययान्त का भी।

७. प्रयत्नं कृतवन्तोऽपि दृश्यन्ते ह्यफला नराः[6]।

---

१. द्रोणपर्व ७३—५।
२. नीतिशतक।
३. पञ्चतन्त्र में 'नह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातव्यः परिश्रयः' की कथा में।
४. स्वप्नवासवदत्तम्।
५. दशकुमारचरित।
६. अनुशासन १६३—५।

८. अस्ति खलु मयोत्थितेनोपस्पृष्टं गच्छता[1], मया उपस्पृष्टम् अस्ति—मैंने धोया (आचमन किया है)—I have washed.

९. स्थातव्यं ते भविष्यति[2]—You will have to stay, you must stay. लोट् के अर्थ में कृत्य का प्रयोग भी खूब प्राप्त है।

विषये मे न वस्तव्यमिति शिष्ट्यर्थमब्रवीत्[3]—न वस्तव्यम्—न वस—You should not live—don't live। आर्य चारुदत्तस्य त्वयोपनेतव्य[4] इति—You should bring it—bring it to Charudatta.

लृङ्:

संस्कृत लृङ लकार का अनुवाद अँगरेजी में सबजंक्टिभ मूड से किया जाता है। अँगरेजी का Subjunctive Mood भी विचित्र ही है। नेसफील्ड ने अपने व्याकरण में अनुच्छेद १६९ में लिखा है—"In the Subjunctive mood we suppose an action, as, if he come or should come"; अनुच्छेद १८५ में दिया है कि "The Subjunctive mood is so called because the clause containing the verb in this mood is generally subjoined to someother clause, and seldom stands alone"; अनुच्छेद १८७ में जो इसके रूप दिये हैं, उनमें अन्यपुरुष एकवचन में s नहीं जुड़ता, if he love, फिर भी इसे वर्त्तमान का रूप माना है, यह प्रेजेण्ट इण्डिफिनिट है। If he loved का रूप तो है पास्ट इण्डिफिनिट का, पर इसका प्रयोग माना है प्रेजेण्ट फ्यूचर कण्टिजेन्सी में, पास्ट में नहीं। If he should love है तो भूत में भविष्य (Future in the past) का रूप, किन्तु इसका प्रयोग सबजंक्टिभ के लिए होता है। इसी तरह If he be वर्त्तमान के लिए, If he were वर्त्तमान तथा भविष्यत् के लिए और If he should be या would be भविष्यत् के लिए व्यवहृत होता है। इस प्रकार डेफिनिट में दो ही रूप हैं, पर कण्टिन्यूअस और परफेक्ट में तीनों काल के रूप मिलते हैं:

	निरन्तर (Cont.)	पूर्ण (Perfect)
वर्त्तमान	If he be loving	If he have loved
भूत	If he were loving	If he had loved
भविष्यत्	If he should be loving	If he should have loved.

इस उक्ति तथा रूपावली में कई विचित्रताएँ हैं।

क्या अँगरेजी में सामान्य भूतकाल में सबजंक्टिभ के व्यवहार की आवश्यकता नहीं होती? यदि कहना हो, "यदि राम सीता को प्यार करते तो उसे निर्वासित नहीं करते" तो अँगरेजी में क्या कहेंगे? If Ram loved नहीं, had loved? If Ram had loved या Had Ram loved Sita, he would not have exiled her? इण्डिफिनिट में कर्त्तृवाच्य का भविष्यत् का रूप नहीं दिया, पर कर्मवाच्य का दिया If he should be loved, साथ ही कर्मवाच्य में कण्टिन्यूअस का रूप नहीं दिखाया। पूर्ण निरन्तर

---

१. आदिपर्व, पोष्य पर्व ३—१०८।
२. वनपर्व ३०६—१७।
३. आश्वमेधिक ३२—२।
४. स्वप्नवासवदत्तम्।

(Perfect continuous) काल का तो सबजंक्टिभ में सर्वथा त्याग ही हो गया। किन्तु प्रश्न यह है कि वर्त्तमान, भूत, भविष्यत् के सभी भेदों में, बारहो कालों में, इफ (if) लगाकर सबजंक्टिभ क्यों नहीं प्रकट किया जा सकता, जबकि सबजंक्टिभ के लिए धातु का अपना कोई खास रूप नहीं होता ? जैसे—If Mohan consults him, he commits a mistake, If he is consulting him, he is committing a mistake. If he has consulted him, he has committed a mistake आदि। ये सब प्रयोग तो कण्डिशन तथा उसके परिणाम (कन्सीक्वेन्स) को प्रकट कर रहे हैं। पर सच पूछा जाय तो ये सब प्रयोग सबजंक्टिभ मूड के हैं ही नहीं। इसी भाँति भूत के भविष्य रूप (future in the past forms) should love आदि भी सबजंक्टिभ मूड के अनिवार्य अंग नहीं। I should, would या might go यह वाक्य सबजंक्टिभ का है ही नहीं। अनुच्छेद १९०—३ के अनुसार If he meet, met, should meet, were to meet, should he meet or were he to meet me, he will or would know me at once. ये सभी प्रयोग वर्त्तमान तथा भविष्यत् के लिए समान हैं। इन दोनों कालों के लिए इस मूड के पृथक्-पृथक् रूप नहीं, अतः सदा भ्रम लगा ही रहेगा। हाँ, भूतकाल के लिए भिन्न रूप है If he had met या were meeting me, had he met या were he meeting me, he would have known, he would be knowing me आदि। यह कथन भी ठीक नहीं कि सबजंक्टिभ मूड उद्देश्य, इच्छा, शर्त्त और सन्देह (Purpose, wish, condition, doubt) ही प्रकाशित करता है। नेसफील्ड के अनुसार I give या 'I shall give you a prize, that you may work well again,' यहाँ दूसरा वाक्य वर्त्तमान या भविष्यत् का सबजंक्टिभ है (पहला तो इण्डिकेटिभ ही है)। यह तो विचित्र है।" "अहं तुभ्यम् पारितोषिकं प्रयच्छामि या प्रदास्यामि येन त्वं पुनः साधु कार्यं कुर्याः" में उत्तरार्द्ध सम्भावना लिङ का विषय है, लृङ का नहीं। हिन्दी में इसे यों कहेंगे—मैं तुम्हें इसलिए पारितोषिक दे रहा हूँ कि (दूँगा कि) तुम फिर अच्छी तरह काम कर सको या करो। हिन्दी में भी उत्तरार्द्ध आज्ञा या सम्भावना का रूप है। अँगरेजी में भी रूप की दृष्टि से उत्तरार्द्ध वर्त्तमान का साधारण रूप ही प्रतीत होता है। अँगरेजी में आज्ञा को भी वर्त्तमान ही मानते हैं, यह अभी कह आये हैं, हालाँकि यह वदतोव्याघात है। जब क्रिया वर्त्तमान ही है तो फिर आज्ञा किसके लिए ? इसी भाँति "I gave you a prize that you might work well again" को हिन्दी में कहेंगे कि "मैंने तुम्हें इसलिए पारितोषिक दिया कि तुम फिर अच्छा काम कर सको"। ध्यातव्य है कि पूर्वार्द्ध में तीनों में से कोई काल रहने पर भी हिन्दी या संस्कृत में उत्तर-वाक्य में सदा लिङ ही रहता है। पूर्वार्द्ध में भूतकाल रहने पर भी उत्तरार्द्ध में भविष्यत् का सम्भावना-लिङ 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' के नियम से है, जैसे वसन् ददर्श। जैसे अँगरेजी में भी भूतकाल में इंग का प्रयोग करते हैं, Seeing him, he wept आदि। इसे अँगरेजी में Present in the past कह सकते हैं, और भूतकाल में भविष्यत् सम्भावना लिङ को future in the past। यह लृङ का विषय कदापि नहीं है।

इसी भाँति Thy kingdom come—May thy kingdom come, God save the king, Long live the king, My sentence is that the prisoner be

hanged। इनमें दूसरा वाक्य प्रार्थना में लिङ् लकार है, पहला आशीर्वाद में लिङ् या लोट् है, तीसरा प्रार्थना या आशीर्वाद में लिङ् है तथा चौथा इच्छा या प्रैष में लिङ् या लोट् है। हिन्दी-व्याकरण की दृष्टि से सब सम्भाव्य भविष्यत् के उदाहरण हैं, तुम्हारा राज्य आवे, ईश्वर राजा की रक्षा करे, राजा बहुत दिन जिये तथा मेरा दण्ड है कि यह कैदी फाँसी पर चढ़ाया जाय। यदि भविष्यत् काल में काम करने या होने की केवल इच्छा-मात्र समझी जाय, चाहे वह हो या न हो, तो उसे सम्भाव्य भविष्यत् काल[1] कहते हैं।

इसी प्रकार If I met, meet, should meet, were to meet, should I meet him, I shall, should know him at once का प्रयोग वर्त्तमान और भविष्यत् दोनों में बताया गया है और पहला वाक्य सबजंक्टिभ मूड का माना गया है। हिन्दी में यदि मैं उनसे मिलूँगा तो तत्क्षण उन्हें जान जाऊँगा, यह सम्भाव्य भविष्यत् भी नहीं, सामान्य भविष्यत् है। 'यदि मैं उनसे मिला' प्रयोग में भविष्यत् में आशंसा अर्थ में भूतवत् प्रत्यय हुआ है (आशंसायां भूतवच्च); जैसे देवश्चेदवर्षीत् धान्यं वप्स्यामः, यदि मेह बरसा तो धान बोयेंगे आदि, और 'यदि मैं उनसे मिलने को हुआ' यह प्रयोग तो 'मिल' धातु का निमित्तवाचक रूप हो गया—Provided he confess his fault, I will pardon him, यदि स स्वापराधं स्वीकुर्यात्, अहं क्षमिष्ये तम्, If he but speak, I will shoot him, यदि सं वदेत् अहं तं व्यत्स्यामि (हनिष्यामि); Murder, though it have no tongue, will speak—यद्यपि नायं वाणीं धारयति, (तथापि) मृत्युर्वदिष्यति, Whether he allow me or not, I will go to him—स माम् अनुमन्येत न वा अहं, तस्य समीपे गमिष्यामिः, Unless he consent, we can do nothing............यावत् स नाभ्युपगच्छति, वयं किमपि न कर्त्तुं शक्नुमः आदि स्थलों में सम्भावना में लिङ्, लोट् आदि ही हैं, लृङ् नहीं।

संस्कृत में लृङ् लकार भविष्यत् या भूत में ही विहित है, और दोनों में अनिवार्य शर्त्त यह है कि वाक्य से यह अर्थ निकालना चाहिए कि यह काम सम्भवतः सिद्ध नहीं होगा। 'क्रिया की अनिष्पत्ति' लृङ् का अनिवार्य अर्थ है, जिस पर अँगरेजी-व्याकरण ने बल नहीं दिया; यह रहस्य उसे ज्ञात ही नहीं हो सका। 'सुवृष्टिश्चेदभविष्यत् सुभिक्षमभविष्यत्' यही एकमात्र लृङ् का रूप है, जो भविष्यत् तथा भूत दोनों में समान भाव से प्रयुक्त है। इसमें लिङ् का निमित्त अर्थात् हेतुहेतुमद्भाव आदि अवश्य ही रहना चाहिए। ऐसी स्थिति में भविष्यत् में लृङ् नित्य होता है, भूत में वैकल्पिक। अर्थात् सुवृष्टिश्चेदभूत् सुभिक्षमभूत् प्रयोग भी सही है उसी अर्थ में। इसीलिए हिन्दी में भविष्यत् में "यदि सुवृष्टि होती, तो सुभिक्ष होता" यह एक ही रूप, तथा भूत में यह रूप और साथ ही "यदि सुवृष्टि हुई होती, तो सुभिक्ष हुआ होता" यह रूप—दोनों चलते हैं। अँगरेजी के सभी उदाहरण हेतुहेतुमद्भाव[2] में लिङ् के, तथा आशंसा-अर्थ में भविष्यत् में भूतप्रयोग[3] के उदाहरण हैं। I wish that he were as clever as his sister शुद्ध आशंसावचन में लिङ् का उदाहरण है, आशंसार्थक धातु के प्रयोग में भूतकालिक प्रयोग भी निषिद्ध[4] है। यहाँ क्रिया की अनिष्पत्ति है, पर हेतुहेतुमद्भाव नहीं है।

---

१. शिवपूजन सहाय।
२. ३।३।१५६।
३. ३।३।१३२।
४. ३।३।१३४।

हिन्दी-व्याकरणवालों ने अँगरेजी की देखादेखी क्रिया के विभिन्न प्रकार (मूड) मान लिये हैं। शिवपूजन सहाय अपने व्याकरण में लिखते हैं, "जिस क्रिया से सम्भव अर्थात् अनिश्चय, इच्छा या संशय सूचित हो उसे सम्भावना-क्रिया कहते हैं; जैसे कदाचित् पानी बरसे (अनुमान), तुम्हारी जय हो (इच्छा), धन रहता तो वह अवश्य पढ़ता (इच्छा), मैंने खाया होगा तो केवल भात ही (संशय); हेतुहेतुमद्भूत, सन्दिग्धभूत, सन्दिग्ध वर्त्तमान तथा सम्भाव्य भविष्यत् की क्रियाएँ इसी श्रेणी की हैं।" रामलोचन शरण कहते हैं, "जिस क्रिया से सम्भव अर्थात् अनिश्चय, इच्छा या संशय पाया जाय, उसे सम्भाव्य क्रिया कहते हैं; जैसे यदि हम खाते थे तो आप क्यों नहीं ठहर गये, धन रहता तो वह अवश्य पढ़ता, मैंने खाया होगा तो केवल भात ही, मैं वहाँ जाऊँ तो क्या मिलेगा। नोट—हेतुहेतुमद्भूत, सम्भाव्य भविष्यत् और सन्दिग्ध क्रियाएं इसी श्रेणी की हैं। **'यदि' और इसी अर्थ के अन्य शब्दों के साथ शेष क्रियाएं भी सम्भाव्य हो जाती हैं।**" स्पष्ट है कि अँगरेजी की लीपापोती हिन्दी में भी घुस आई है। आचार्य शरण का अन्तिम वाक्य वही स्वीकार कर रहा है, जिसे मैंने आरम्भ में भी कह दिया है, कि अँगरेजी में 'इफ' और हिन्दी में 'यदि' के अर्थ का शब्द जोड़-कर बारहो कालों को सम्भाव्य बनाया जा सकता है, इसके लिए पृथक् प्रकार (Mood) की कल्पना व्यर्थ है। उपर्युक्त दोनों आचार्यों के उदाहरणों में, अन्धानुसरण ही अधिक है, केवल एक वाक्य ही लृङ लकार या सबजंक्टिभ का सच्चा उदाहरण है—'यदि धन रहता तो वह अवश्य पढ़ता'। ऊपर कह आये हैं कि भविष्यत् में यह रूप नित्य है, भूत में एक और भी रूप होगा 'यदि धन रहा होता, तो उसने अवश्य पढ़ा होता'। इनमें पूर्ववाक्य भविष्यत् और भूत दोनों में चलेगा। लृङ लकार की विशेषता ही यही है उसने 'लृट्' का 'लृ' लिया है और 'लङ' का 'ङ' (लृ + ङ)। लृट् का 'स्य' विकरण लिया और लङ का 'अ', पठिष्यति + अपठत् = अपठिष्यत्। 'यदि वह देखता, तो जरूर कहता'—भूत-भविष्यत् दोनों में चलेगा। इसके आगे-पीछे के वाक्य से ही पता चलेगा कि यह भूत के लिए है या भविष्य के लिए। यदि इस वाक्य के बाद कहें, 'किन्तु उसने देखा ही नहीं', पता चल तो जायगा कि यह भूत के लिए है, और यदि कहें कि 'पर वह देखेगा कैसे?' तो स्पष्ट हो जायगा कि वह वाक्य भविष्यत् के लिए है। हाँ, यदि यही कह दें, 'यदि उसने देखा होता, तो अवश्य कहा होता' तो विना किसी पूर्व-पर वाक्य के ही निश्चित हो जायगा कि यह उक्ति भूतकाल के लिए ही है। दोनों के लिए संस्कृत-वाक्य होंगे "यदि स अद्रक्ष्यत् तदा अवश्यमेव अवदिष्यत्' तथा 'यदि सः दृष्टवान् अभविष्यत् तदा अवश्यमेव उक्तवान् अभविष्यत्', पर संस्कृत में चलता है भूतकाल ही 'यदि स अद्राक्षीत्, तदा अवश्यमेव अवादीत्'। मुख्य धातु के भूतकालिक कृदन्त के साथ सहायक धातु 'हो' के वर्त्तमानकालिक कृदन्तविशेषण का प्रयोग न शिवपूजन जी ने लिखा है, न रामलोचन जी ने, बल्कि 'आया[१] हो', 'पढ़ा हो' ('आगतः भवेत्', 'पठितवान् भवेत्') आदि का भी संग्रह इन दोनों ने नहीं किया है। कामताप्रसाद गुरु ने 'यदि वह चलता' को सामान्य, 'यदि वह चला होता' को पूर्ण तथा 'यदि वह चलता होता' को अपूर्ण संकेतार्थ कहा है। यह सामान्य संकेतार्थ ही भूत-भविष्यत् साधारण लृङ लकार है और

१. 'त्वया वा पुण्डरीकाक्ष वाक्यमुक्तमिदं भवेत्'—अश्वमेध ६८।१४ तथा १५।

पूर्ण संकेतार्थ लृङ के अर्थ में लुङ का रूप, तथा अपूर्ण संकेतार्थ लृङ के अर्थ में लिङ का रूप है। अपूर्ण संकेतार्थ का 'यदि स चलन् अभविष्यत्' भी संस्कृत-अनुवाद कर सकते हैं।

इसी भाँति If he had been reading a little more he would have passed the examination क्यों नहीं होगा ? यदि वह पढ़ता रहा या आया है, रहा या आया होगा, रहा या आया के प्रयोग हो सकते हैं तो पढ़ता रहा या आया होता तथा हो प्रयोग क्यों नहीं सम्भव है ? 'यदि वह पढ़ता रहा (या आया) होता तो अवश्य उत्तीर्ण हुआ होता'—यह प्रयोग केवल पूर्ण हेतुहेतुमद्भूत-कालीन सम्भावना में ही होगा। इसी प्रकार 'यदि स पठन् अभविष्यत् तदा अवश्यमेव उत्तीर्णः अभविष्यत्', 'यदि वह पढ़ता होता तो अवश्य उत्तीर्ण होता' यह अपूर्ण में होगा। तथ्य तो यह है कि वह आता है, आया है आदि स्थलों में क्रिया तो केवल 'है' है, 'आता' यह वर्त्तमानकालिक कृदन्त और 'आया' यह भूतकालिक कृदन्त विशेषण मात्र हैं, जैसे 'यदि वह चतुर है, होता, हो, होगा' आदि। 'पढ़ा-लिखा आदमी, या खाता-पीता' आदमी ऐसा विशेषण-प्रयोग दोनों का बहुत उपलब्ध है, 'प्रयत्नं कृतवन्तोपि दृश्यन्ते ह्यफला नराः'[१] यह स्पष्ट किया जा चुका है, अतः सबजंक्टिभ का प्रयोग केवल यही है, 'यदि वह पढ़ता तो उत्तीर्ण होता', अँगरेजी में लृङ वस्तुतः विरल है, आशंसा में भूत या हेतुहेतुमद्भाव में लिङ अधिक मिलता है।

सम्भाव्य हेतुहेतुमद् क्रिया केवल भविष्यत् तथा भूत में ही हो सकती है, वर्त्तमान में नहीं। आशंसा में भविष्यत् में भी भूत की भाँति प्रयोग होता है; जैसे—यदि मैं पटना गया तो तुम्हारी चीज लाऊँगा, If I went to Patna, I shall bring your thing—यद्यहं पाटलिपुत्रम् अगमम्, तव वस्तु आनेतास्मि। अँगरेजी में भी सबजंक्टिभ के जितने भी उदाहरण हैं, सब भविष्यंत्काल के ही बोधक हैं, उन्हें वर्त्तमान में भी मानना भ्रम है। आशंसा तो भविष्यत् में ही होगी। भूत की सम्भावना उत्तमपुरुष में विस्मरण से भी हो सकती है, पर वर्त्तमान की सम्भावना तो केवल मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष में हो सकती है। I wish that he were as clever as his sister का संस्कृत-अनुवाद होगा, 'कामो मे स स्वभगिनीव चतुरः स्यात्'। यह भी लिङ का ही विषय है। लृङ के लिए हेतुहेतुमद्भाव आवश्यक है, और लृङ लकार हेतु वाक्य तथा हेतुमान् वाक्य दोनों में समान भाव से होता है। अँगरेजी में सर्वत्र एक ही वाक्य में सबजंक्टिभ मूड दिखाया जाता है, दूसरा साधारण वाक्य ही रहता है। अतः वस्तुतः सबजंक्टिभ मूड पृथक् मानना ही व्यर्थ है, और संस्कृत के लृङ का ठीक अनुवाद अँगरेजी में नहीं है।

इसके अतिरिक्त अँगरेजी के इन्फिनिटिभ मूड, पार्टिसिपुल तथा जेरंड की तीन ही प्रक्रियाओं की जगह संस्कृत् में कृत्-प्रकरण में बहुत-से प्रत्यय हैं, जो बड़ी सूक्ष्मता से धातुज विशेषणों, संज्ञाओं के अनेक अर्थच्छायाओं (shades of meaning) को प्रकट करते हैं। भूति-भाव-भव-भवन; शम-शमन-शान्ति आदि में भाववाचक विभिन्न प्रत्ययों के योग से कैसा अर्थभेद है! अँगरेजी में ing से संज्ञा तथा विशेषण दोनों का काम लेते हैं, अन केवल संज्ञा के लिए तथा

१. अनुशासन १६३-५।

अर (er) केवल विशेषण के लिए है; dividing—division, fighting—fighter । संस्कृत में विशेषण बनाने के लिए भी बहुत-से प्रत्यय हैं—अनुभविता—अनुभावक—भावुक—भविष्णु—अनुभवन्—भावी आदि । 'उस घटना को याद कर वह हँसा' के अँगरेजी में दो ही अनुवाद होंगे—Having recollected the event, he laughed या He laughed to recollect the event, किन्तु संस्कृत में तां घटनां स्मृत्वा, स्मारं स्मारं, अथवा स्मृतवान् सन् स अहसत् । He goes to see the leader के संस्कृत में दो अनुवाद होंगे, स नेतारं द्रष्टुं वा दर्शको याति, He should read के सः पठेत्, पठतु, तेन पठनीयम्, पठितव्यम्, पाठ्यम् । अनद्यनता तथा परोक्षता के कारण जो भविष्यत् तथा भूतकाल में अनेक रूप होते हैं, वे अँगरेजी में दुर्लभ हैं । आत्मनेपद परस्मैपद की तो कथा ही दूर की बात है । विना सहायक क्रियाओं की सहायता के अँगरेजी में दो ही रूप सम्भव हैं—एक वर्त्तमान में, एक भूत में । किन्तु संस्कृत में ११ लकार (रूप) किसी भी धातु से बिना किसी सहायक क्रिया की सहायता के ही बनते हैं ।

साथ ही संस्कृत जहाँ एक पठ् धातु से ११ लकारों के अतिरिक्त यौगिक धातु बनाकर स पिपठिषति, स पापठ्यते, स पाठयति के भी ११-११ रूप बना रही है, वहाँ अँगरेजी में इन अर्थों को अनेक शब्दों से प्रकट किया जा रहा है, He wished to read, He reads much अथवा again and again, He makes him read आदि । इससे संस्कृत के धातु-रूप तिङन्त की समृद्धि स्पष्ट है । नामधातुओं की शक्ति भी तिङन्त रूप को अतिसमृद्ध कर देती है । पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति, पुत्रीयति शिष्यम्, वृषस्यति, शब्दायते, संचीवरयते, कवयति आदि अनन्त प्रयोगों की तरह अँगरेजी विभिन्न अर्थों में नामधातु बनाकर तिङन्त-रूप उतना समृद्ध क्या खाकर करेगी ? एक en को आगे जोड़कर Length से Lengthen बनावें या पीछे जोड़कर danger से endanger ।

अँगरेजी में भाववाच्य की क्रिया होती ही नहीं, जबकि यह संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में है ।

अपूर्ण क्रियाएँ

अँगरेजी का निमित्तवाचक (Infinitive Mood) तो और भी विचित्र है । इसमें भी दो काल होते हैं—वर्त्तमान तथा भविष्यत् । संस्कृत तथा हिन्दी में केवल भविष्यत् में ही यह प्रत्यय होता है । जैसे स पठितुम् गच्छति, गमिष्यति वा अगच्छत्—वह पढ़ने जाता है, जायगा, या जाता था आदि । किन्तु अँगरेजी में इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	कर्तृवाच्य	कर्मवाच्य
वर्त्तमान अनिश्चित	To send	To be sent
वर्त्तमान अपूर्ण अनिश्चित	To be sending	×
पूर्णभूत	To have sent	To have been sent
पूर्णभूत निरन्तर	To have been sending.	×

इस प्रकार निमित्तवाचक के छह रूप अँगरेजी में उपलब्ध हैं :

They want him to punish, to be punishing, to have punished, to have been punishing, to be punished, to have been punished में अर्थभेद स्पष्ट है।

संस्कृत-हिन्दी में यह केवल भविष्यत् में होता है और भाव में, अतः इसका केवल एक ही रूप उपलब्ध है, जो ऊपर बताया गया है। आश्चर्य है कि नेसफील्ड ने अपने व्याकरण में Have sent तथा have been sending को क्रमशः पूर्ण वर्त्तमान तथा पूर्ण निरन्तर वर्त्तमान (Present perfect, Present perfect continuous) कहा है; यहाँ 'टु' जोड़ने पर उन्हें पूर्णभूत कैसे कह रहे हैं ? और यह तो महान् आश्चर्य ही है कि नेसफील्ड ने 'टु' का कोई रूप भविष्यत् में नहीं रखा। To send वस्तुतः भविष्यत् ही है, वर्त्तमान नहीं। I want him to send में भेजना (send) क्रिया वर्त्तमान में नहीं हो रही है, भविष्यत् में होनेवाली है; अतः will send की भाँति to send को भी भविष्यत् ही मानना चाहिए था। भविष्यत् के लिए To be about to send, to be on the point of sending, to be going to send रूप माने गये हैं।

अँगरेजी-व्याकरण के अनुसार इसके दो और भेद हैं—संज्ञा तथा विशेषण (Noun or Simple Infinitive; Gerundial or Qualifying Infinitive); जैसे क्रमशः इनके उदाहरण हैं—To err is human तथा Your condition is to be pitied आदि। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि अँगरेजी में तुम् का प्रयोग जहाँ विशेषण के लिए हुआ है, वहाँ संस्कृत में तव्य आदि कर्मप्रत्ययों का प्रयोग होता है, और जहाँ संज्ञा के लिए हुआ है वहाँ ति आदि भावप्रत्ययों का। उपर्युक्त वाक्यों का संस्कृत-अनुवाद होगा—भ्रान्तिः मानवीया अस्ति, प्रमादः मानवीयः, स्खलनं मानवीयम्; तथा तव दशा दयितव्या, दयनीया आदि। इसी प्रकार A house to let दातव्यं गृहम्; A chair to sit on—उपवेष्टव्या मञ्चिका, Quick to hear, slow to speak—श्रवणे तीव्रः, वचने मन्दः (अथवा श्रोतुं तीव्रः, वक्तुं मन्दः) आदि भी हैं। वस्तुतः इन्फिनिटिभ मूड का मुख्य उद्देश्य है क्रिया का उद्देश्य बताना। इसमें वह क्रिया का विशेषण भी हो सकता है, जैसे स पठितुम् आगतः (He came to read) और कर्म भी, जैसे स पठितुम् इच्छति (He wants to read); क्योंकि क्रियाविशेषण भी एक प्रकार का कर्म ही माना जाता है। कर्मवाच्य-स्थल में जहाँ अँगरेजी ने इन्फिनिटिभ से काम लिया है, वहाँ संस्कृत ने तव्य, अनीय आदि कर्मप्रत्ययों से। 'यद्यहम् अनुकम्पनीयः' का अँगरेजी-अनुवाद होगा—If I am to be pitied।

इन उदाहरणों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) अँगरेजी का इन्फिनिटिभ मूड संस्कृत का तुमुन् प्रत्यय ही है। अँगरेजी के 'तु' की तरह संस्कृत में भी वस्तुतः प्रत्यय 'तु' ही है। अँगरेजी 'तु' को पहले लगाती है large से enlarge की भाँति, संस्कृत बाद में। स पठितुम् इच्छति आदि में 'पठितुम्, इच्छति का कर्म है, अतः यहाँ द्वितीया विभक्ति है, जैसे जन्तुम् धातुम् वैसे ही। यहाँ तु प्रत्यय का अर्थ है भाव।

अतः स पठितुम् इच्छति का अर्थ है, स पठनम् इच्छति । इसीलिए तुम् की जगह कोई भी भाव[1] प्रत्यय हो सकता है । अष्टाध्यायी ने ऐसी जगह चतुर्थी[2] का विधान किया है, पठितुम् याति—पाठाय याति—पठनाय याति; पठितुम् इच्छति—पठनम् इच्छति, पाठम् इच्छति । हाँ, एक बात है कि तुमुन् के योग में कर्म[3] में द्वितीया होगी तथा अन्य भाववाचक प्रत्ययों के योग में षष्ठी; जैसे पुस्तकं पठितुम् इच्छति—पुस्तकस्य पठनम् इच्छति । हिन्दी में भी दोनों प्रयोग चलते हैं—पढ़ने (को) जाता है या पढ़ने के लिए जाता है ।

(२) He wept to see that sight आदि जगहों में जहाँ नेसफील्ड ने तु का अर्थ कारण माना है, भ्रम हो सकता है । क्रियाविशेषण तु प्रत्ययान्त के तीन अर्थ उन्होंने माने हैं—उद्देश्य, परिणाम तथा कारण । इनमें उद्देश्य तथा परिणाम उत्तरकालिक अर्थात् भविष्यत्-कालीन तथा कारण पूर्वकालिक या भूतकालीन हैं । अतः कहीं भी इसका प्रयोग करने पर यह भ्रम हो सकता है कि यहाँ कारण दिखाना है या परिणाम । जैसे उपर्युक्त वाक्य में ही यह सन्देह हो सकता है कि वह दृश्य देखने के कारण (लिए) रोया, या दृश्य देखकर परिणामस्वरूप रोया । संस्कृत ने इसके लिए एक उपाय निकाला, कारण दिखाने के लिए उसमें हेतु तृतीया कर दी—स तद् दृश्यम् ईक्षित्वा अक्रन्दत्, और उद्देश्य दिखाने के लिए उसे कर्म द्वितीया में रखा, स तद दृश्यम् ईक्षितुम् अक्रन्दत् । जैसे धेनु से धेन्वा, वैसे ही ईक्षितु (ईक्ष्+तु) से ईक्षित्वा । इसे ही अष्टाध्यायी में पूर्वकाल प्रकट[4] करनेवाला त्वा कहा गया है ।

(३) संस्कृत में तुम् केवल भाव में होता है और संज्ञा-तुल्य है, पर अँगरेजी में यह कर्म में भी किया जाता है, तथा तु प्रत्ययान्त को विशेषण बना लिया जाता है; जैसे A house to give, water to drink । संस्कृत ने इसके लिए यह उपाय किया कि तु प्रत्ययान्त से फिर हित[5] अर्थ में य प्रत्यय कर लिया । जैसे शङ्कवे हितं शङ्कव्यं वैसे ही दातवे हितम् दातव्यं गृहम्, पातवे हितम् पातव्यं जलम् । इसे ही अष्टाध्यायी में तव्य[6] प्रत्यय कहा है । ऐसे ही तु का समानार्थक पूर्ववर्णित अन प्रत्ययान्त से भी ईय[7] प्रत्यय कर दानाय हितम्—दानी-यम् गृहम्, पानाय हितम्—पानीयं जलम् भी बना लिया; जैसे वत्साय हितम्—वत्सीयम् । इसे ही तव्य के साथ अनीय प्रत्यय घोषित किया गया । इस प्रकार तव्य और अनीय में दो प्रत्ययों का योग है, यह पहले कृत्-प्रकरण में भी कह आये हैं । यह कोई नई बात नहीं है । पाणिनि को ऐसा कई जगह करना पड़ा है । कृ से कृत् न्त्रि प्रत्यय कर तद्धित म प्रत्यय कर लिया है और कृत्रिम शब्द निष्पन्न[8] हो गया है, सम्+रु से इन् संराविन् बनाया, फिर अण् कर सांरा विण[9] बनाया, नि से तर करके फिर आम् कर नितराम् बनाया ।[10] हाँ, एक अन्तर है कि इन स्थलों में पाणिनि ने दोनों प्रत्ययों की पृथक्-पृथक् चर्चा की है, पर तु की पृथक् चर्चा नहीं कर तुम्,

---

१. भाववचनाश्च—३।३।११ ।
२. तुमर्थाच्च भाववचनात्—२।३।१५ ।
३. २।३।६९।
४. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले—३।४।२१ ।
५. ५।१।२, ५ ।
६ ३।१।९६ ।
७. ५।१।१ ।
८. ३।४।४४ तथा ५।४।१५ ।
९. ३।३।८८ तथा ४।४।२० ।
१०. ५।३।५७ तथा ५।४।११ ।

त्वा, तव्य आदि प्रत्ययद्वय का साथ उल्लेख किया। कहीं तवे का भी प्रयोग होता था, पाणिनि ने उसे वैदिक भाषा में ही सीमित कर दिया। जैसे गमन से गमनाय, वैसे गन्तु से गन्तवे प्रयोग चलता था। इसलिए स्नानाय हितम्—स्नानीयं चूर्णम्, दानाय हितः—दानीयः विप्रः प्रयोग होता है, अन्यथा अनीय प्रत्यय कर्म के अलावा करण, सम्प्रदान आदि में भी मानना पड़ेगा।

(४) इसीलिए अँगरेजी में तु की तरह भाव में किये गये ing प्रत्ययान्त से for आदि लगाकर सभी इन्फिनिटिभ का अनुवाद हो जाता है; जैसे to err is human = erring is human, He came to see the sport = He came for seeing the sport, He wept to see the sight = He wept by seeing that sight, quick to hear = quick for hearing आदि। संस्कृत में तुम् केवल भाव में है, अँगरेजी में भाव और कर्म दोनों में, जिससे वह संज्ञा भी बन जाता है, विशेषण भी। संस्कृत का तुम् केवल संज्ञावत् है, अतः विशेषण बनाने के लिए उसमें दूसरे प्रत्यय जोड़ने पड़े, पर कई जगह भ्रम की गुंजाइश मिटी। इसके विपरीत संस्कृत में शतृ केवल कर्त्ता में है, अतः वह केवल विशेषण है। अँगरेजी में शतृ कर्त्ता में भी होता है और भाव में भी। जहाँ कर्त्ता में होता है, वहाँ वह विशेषण है, जहाँ भाव में है, वहाँ संज्ञा। इसीलिए भाववाची तुम् को कहने के लिए भाववाची शतृ (ing) का भी उपयोग हो सकता है। पर संस्कृत ने शतृ को भाव में नहीं रखकर एक स्वतंत्र प्रत्यय ही बना लिया—अन। Water to drink—पातुं जलम् (पातवे जलम्), पातव्यं जलम्; water for drinking—पानाय जलम्, पानीयं जलम्।

(५) जिस प्रकार अँगरेजी में He can read, He may read आदि में भी कैन में आदि के बाद इन्फिनिटिभ ही रूप माना जाता है, वहाँ टु छिपा समझा जाता है, वैसे ही इन धातुओं के योग में अष्टाध्यायी में भी तुमुन् विहित है। नीचे के उदाहरण ध्यातव्य हैं—

I will read = I will to read = अहं पठितुम् इच्छामि
I can read = I can to read = अहं पठितुम् शक्नोमि
I may read = I may to read = अहं पठितुम् अर्हामि आदि।

(६) Quick to hear आदि में to के प्रयोग की तरह ही संस्कृत में पठितुं समर्थः (पठने समर्थः, पठनाय वा समर्थः), भोक्तुं कुशलः, भोक्तुं पटुः, 'अवसरोऽयमात्मानं[१] प्रकाशयितुम्[२]' आदि[३] प्रयोग हैं। 'आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि[४]' में एक ही वाक्य में तुम् और अन दोनों का प्रयोग दिखा दिया गया है आर्त्तान् त्रातुं—आर्त्तत्राणाय, अनागसि प्रहरणाय, अनागसि प्रहर्त्तुम्।

(७) अँगरेजी में कई जगह to या तुम् के प्रयोग के स्थान पर संस्कृत ने सुविधानुसार तव्य, अनीय, शतृ, शानच्, क्त आदि से भी काम लिया है; जैसे—

१. ३।३।१५८ तथा ३।४।६५।
२. शाकुन्तल नाटक।
३. ३।४।६६।
४. शाकुन्तल नाटक।

(क) य इच्छसि जगत् सर्वं **नश्यमानं** नृशंसवत्[१]—You, who want like a cruel man the whole of the world to be disappearing. यहाँ स्पष्ट ही इन्फिनिटिभ का कर्मवाच्य अपूर्ण निरन्तर वर्त्तमान है (Present Imperfect Continuous)।

(ख) न हि शुश्रुम वातेन **मेरुमुन्मथितं** गिरिम्[२]—I have not heard the Meru mountain to have been shaken by a storm. यहाँ कर्मवाच्य के पूर्णभूत के इन्फिनिटिभ की जगह संस्कृत ने कर्म में क्त प्रत्यय कर काम निकाला।

(ग) 'बिभेम्यहं वासव तत्र गन्तुम्[३]' में तुमुन् प्रत्यय कारण भी प्रकट कर रहा है।

सुखमर्थो भवेद् दातुम्[४] (Wealth is easy to be given)—यहाँ तुम् का प्रयोग कर्मवाच्य अनिश्चित वर्त्तमान की भाँति ही है। अयुक्तमिदानीं विचारयितुम्[५] (to argue is improper now) आदि में तुम् का प्रयोग कितना सुन्दर है? बहुव्रीहि समास कर द्वितीया विभक्ति का लोप करने से ही प्रष्टुमनाः[६], निवर्त्तयितुकामः[७], दग्धुकामम्[८], वक्तुकामम्[९] आदि प्रयोग बने हैं, यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। प्रष्टुं मनः अथवा कामः यस्य सः आदि विग्रह हैं।

अपूर्ण क्रियाओं में इन्फिनिटिभ मूड के अलावा दो और नेसफील्ड-व्याकरण ने गिनाये हैं—प्रेजेण्ट पार्टिसिपुल तथा पास्ट पार्टिसिपुल। जो शब्द क्रिया का भी काम करे तथा विशेषण का भी, उसे अँगरेजी में पार्टिसिपुल कहते हैं। इसके निम्नलिखित भेद हैं—

सकर्मक

	कर्त्तृवाच्य	कर्मवाच्य
वर्त्तमान या निरन्तर Present or cont.	Loving	Being loved.
भूत (Past)	×	loved
पूर्ण (Perfect)	Having loved	Having been loved

अकर्मक

Present or continuous (वर्त्तमान या निरन्तर)	fading
भूत (Past)	Faded
तथा पूर्ण (Perfect)	Having faded.

१. उद्योग १६०।१२।
२. उद्योगपर्व।
३. अश्वमेध ९।२५।
४. स्वप्नवासवदत्तम्।
५. वहीं।
६. कुमारसम्भव ५।४०।
७. अयोध्याकाण्ड ११०२।
८. अरण्यकाण्ड ६५।२।
९. अश्वमेधपर्व १०।४।

पीछे दिखा आये हैं कि इन दोनों की सहायता से ही कर्त्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य की तीनों कालों की क्रियाओं की कितनी ही शाखाएँ बनती हैं। यहाँ इनके केवल विशेषण-रूप दिखाये जायेंगे; जैसे—

(क) Being tired of work the men went home (कर्मणा श्रान्त: स नर: गृहं गतवान् अथवा गत:)—यहाँ पार्टिसिपुल tired या श्रान्त मनुष्य (Men) का विशेषण है।

(ख) The man was picked up in an almost dying state. [स नर: प्रायम्रियमाण (अथवा म्रियमाणप्राय) दशायां प्राप्त:] यहाँ पार्टिसिपुल dying एक ओर तो state या दशा का विशेषण है, दूसरी ओर almost या प्राय से विशेषित भी हो रहा है।

(ग) This flower is more faded than that. [इदं पुष्पं तदपेक्षया (अथवा तस्मात्) म्लानतरम्]—यहाँ पार्टिसिपुल faded या म्लान विशेषण की भाँति तुलना भी प्राप्त कर रहा है (more शब्द या तर प्रत्यय से)।

(घ) We cannot undo the past (वयम् अतीतं न निवारयितुं शक्नुम:)—यहाँ पार्टिसिपुल past या अतीत संज्ञा की तरह भी प्रयुक्त हो रहा है।

(ङ) Having shot the tiger he returned home (व्याघ्रं विद्ध्वा स गृहं निवृत्त: या न्यवर्त्तत)—यहाँ पार्टिसिपुल having shot या विद्ध्वा एक प्रधान कर्म tiger या व्याघ्र भी ले रहा है।

(च) He is here, teaching his sons Sanskrit (स्वपुत्रान् संस्कृतं पाठयन् स: अत्र अस्ति)—यहाँ teaching या पाठयन् दोनों कर्म ले रहे हैं, प्रधान कर्म संस्कृत तथा गौण कर्म his या स्वपुत्रान्।

(छ) Having been taught Sanskrit, he was a good scholar. (संस्कृतं पाठित: स महान् पण्डित: अभवत्)—यहाँ द्विकर्मक धातु या पाठि का एक ही कर्म बचा है संस्कृत। Being taught Sanskrit, he is behaving more politely (संस्कृतं पाठ्यमान: स नम्रतरं व्यवहरति) में भी वही स्थिति है।

सकर्मक क्रिया में भूतकालिक कृदन्त-विशेषण सदा कर्मवाच्य में ही व्यवहृत होता है; जैसे Gold is metal, dug out of the earth (स्वर्णं भूमे: खनितमेकं द्रव्यमस्ति)। अकर्मक में यह कम व्यवहृत होता है, और व्यवहार करने पर यह सदा अपनी संज्ञा से पूर्व प्रयुक्त रहता है; जैसे The faded rose (म्लानं पुष्पम्), a returned soldier (निवृत्त: योद्धा) आदि।

संज्ञा में भी यह भूतकालिक कृदन्त-विशेषण लगाकर बहुत-से विशेषण बनाये जाते हैं, जैसे An evil-hearted man, A long-tailed ass, आदि।

संज्ञा (Gerund)

'ing' प्रत्ययान्त जितने भी शब्द ऊपर विशेषण गिनाये गये हैं, वे सब संज्ञा (Gerund) भी बन सकते हैं। जो अपूर्ण क्रिया और विशेषण दोनों का काम करे वह पार्टिसिपुल है तथा जो क्रिया और संज्ञा दोनों का काम करे वह जेरण्ड। इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	कर्त्तृवाच्य	कर्मवाच्य
वर्त्तमान या निरन्तर	loving	being loved
	Having loved	Having been loved

क्रिया-निर्माण में इसका उपयोग पीछे दिखा आये हैं। अब इनका संज्ञा-रूप दिखाया जायगा—

(क) कर्त्ता के रूप में—Sleeping is necessary to life.
(शयनं जीवनाय आवश्यकम्)।

(ख) क्रिया का कर्म—He enjoyed sleeping in the air.
(स पवने शेयनम् आस्वादितवान्।)

(ग) क्रियापूरक—His almost constant habit was sleeping.
(तस्य प्रायेण निरन्तरोऽभ्यास: शयनम् आसीत्।)

(घ) विभक्ति का योग—He was fond of sleeping.
(स शयनस्य लिप्सुः आसीत्।)

चूँकि यह संज्ञा होते हुए क्रिया भी है, इसलिए यह कर्म भी ले सकता है; जैसे He is clever at teaching Sanskrit (स संस्कृत पाठने दक्षः) आदि और सम्बन्ध-विभक्ति के बाद भी आ सकता है; जैसे I was pleased at his coming tod-ay (अहं तस्य आगमनेन अद्य प्रसन्नोऽभवम्)। यह स्वयं भी षष्ठी विभक्ति ले सकता है; जैसे I am engaged in the reading of a book (अहम् एकस्य पुस्तकस्य सावधान पठने संलग्नः अस्मि।)

इनके विश्लेषण से निम्नलिखित बातें सामने आती हैं—

(१) वर्त्तमानकालिक अपूर्ण क्रिया, जिसमें ing लगा रहता है, विशेषण की तरह भी प्रयुक्त होती है तथा संज्ञा की तरह भी। जहाँ ing प्रत्यय से निष्पन्न क्रिया वर्त्तमान काल में विशेषण के समान प्रयुक्त होती है, वहाँ संस्कृत में उसका अनुवाद शतृ या शानच् से होता है। शतृ तथा शानच् कर्त्ता या कर्म में ही होते हैं, अतः वे सदा विशेषण रहते हैं। वर्त्तमानकालिक कर्त्तृवाच्य के पार्टिसिपुल के लिए शतृ (परस्मैपदी में शतृ, आत्मनेपदी में शानच्) तथा कर्मवाच्य के पार्टिसिपुल के लिए शानच् प्रत्यय हैं। इसी भाँति पूर्ण भूतकालिक कर्त्तृवाच्य के पार्टिसिपुल के लिए संस्कृत में क्त्वा प्रत्यय तथा कर्मवाच्य के लिए क्त प्रत्यय हैं। शतृ और क्त्वा केवल कर्त्ता में होते हैं, पर शानच् और क्त कर्म में भी होते हैं। अतः शतृ और क्त्वा का प्रयोग कर्त्तृवाच्य में और शानच् तथा क्त का प्रयोग कर्मवाच्य में होता है। इनमें शतृ, शानच्, क्त तीनों से निष्पन्न शब्द विशेषण बनते हैं, पर क्त्वा से सिद्ध शब्द

अव्यय हो जाते हैं। हाँ, क्त्वा की जगह कर्त्ता में क्तवतु कर लिया जाय तो वह विशेषण भी बन सकता है। वास्तव में अँगरेजी के Having read Sanskrit, he became a scholar का अनुवाद संस्कृतं पठितवान् (सन्) स विद्वान् अभवत् ही होगा, संस्कृतं पठित्वा स विद्वान् अभवत् तो संस्कृत का अपना निजी प्रयोग है। कारण यह है कि हर पूर्णभूतकालिक पार्टिसिपुल में एक भूतकालिक पार्टिसिपुल का अंश जुड़ा रहता है। "प्रयत्नं कृतवन्तोऽपि दृश्यन्ते ह्यफला[1] नराः," "दीक्षाँ पारितवान् किमिच्छति" आदि ऐसे ही प्रयोग हैं।

(२) वर्त्तमानकालिक या पूर्णभूत (अथवा पूर्ण वर्त्तमान) कालिक जेरण्ड के कर्त्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य दोनों रूपों का (अर्थात् जेरण्ड के चारों रूपों का) अनुवाद संस्कृत में अन आदि-भाव प्रत्ययों से ही होगा; क्योंकि जेरण्ड संज्ञा होता है और शतृ, शानच् तथा क्त, क्तवतु प्रत्ययान्त सदा विशेषण होते हैं। वैसे भाव में भी एक क्त प्रत्यय संस्कृत में सुलभ है। वस्तुतः नेसफील्ड ने स्पष्ट कर दिया है कि विशेषणतया प्रयुक्त ing तथा संज्ञा-रूप में प्रयुक्त ing का मूल एक नहीं, दो हैं। वास्तव में ये दो प्रत्यय हैं ही। पहले विशेषण Reading की जगह readende तथा संज्ञा Reading की जगह reading व्यवहृत होता था। अर्थात् जैसे संस्कृत में शतृ लगाकर विशेषण तथा अन लगाकर संज्ञा बनाते हैं, वैसे ही पहले अँगरेजी में भी ende (अन्त) लगाकर विशेषण तथा ung (अनक) लगाकर संज्ञा बनाते थे। इसीलिए जेरण्ड की जगह भाववाचक संज्ञा तथा इन्फिनिटिभ का भी प्रयोग चलता है—

१. *Sleeping, sleep* or *to sleep* is necessary to health.

२. *The description* या *to describe* the scene is too difficult.

(३) जो पास्ट पार्टिसिपुल का रूप है वह सदा पार्टिसिपुल ही रहता है, कभी जेरण्ड नहीं होता। अँगरेजी में उसका एक ही रूप है उसी में to be क्रिया जोड़कर कर्मवाच्य तथा छोड़कर कर्त्तृवाच्य बनाते हैं। पर संस्कृत में कर्त्तृवाच्य के लिए क्तवतु और कर्मवाच्य के लिए क्त दो प्रत्यय रखे हैं। यद्यपि कर्त्तृवाच्य में भी क्तवतु की जगह क्त्वा का ही प्रयोग अधिक होता है, यह ऊपर दिखा आये हैं : Having taught Gita—गीतां पाठितवान् (सन्) या गीतां पाठयित्वा, तथा Having been taught Gita—गीतां पठितः (सन्)।

वस्तुतः जैसे संस्कृत के विशेषणवाचक शतृ तथा संज्ञावाचक अन का अँगरेजी में एकीकरण प्रेजेण्ट पार्टिसिपुल ing प्रत्यय है, वैसे ही संस्कृत के विशेषणवाचक कर्मविहित क्त, संज्ञावाचक भावविहित क्त तथा प्रातिपदिक-विहित विशेषणवाचक 'इत' तीनों का एकीकरण अँगरेजी का पास्ट पार्टिसिपुल है। पहले कह आये हैं कि अँगरेजी में भूतकाल के दो रूपों में से पहला लुङ लकार का पूर्णभूत का रूप है, जैसे जि से अजैषीत्, वैसे drink से drank जैसे सू से असोष्ट वैसे swear से swore आदि हैं, और दूसरा जिसे पास्ट पार्टिसिपुल कहते हैं, वह भूतकालीन निष्ठा क्त का ही रूप है—कहीं यह t, कहीं d और कहीं n रूप में मिलता है—weep से wept, hang से hanged और show से shown आदि। नेसफील्ड ने संज्ञा से विशेषण करने के लिए जो ed प्रत्यय लगता है, उसे भी पास्ट पार्टिसिपुल ही कहा

है, यह उनका भ्रम है। पास्ट तथा प्रेजेण्ट पार्टिसिपुल के प्रत्यय कृत् हैं, धातुविहित हैं, और यह ed प्रातिपदिक-विहित होने से तद्धित है। वस्तुत: यह पाणिनि से उल्लिखित तारकादि-विहित इत प्रत्यय है, जैसे तारक से तारकित, कुसुम से कुसुमित, पुलक से पुलकित वैसे ही land से landed, hood से hooded आदि। बल्कि नेसफील्ड ने एक और ed गिनाया है, वह बहुव्रीहि समास-विहित क प्रत्यय का स्थानापन्न है, जैसे long-tailed—लम्बपुच्छक, red-coloured रक्तवर्णक, long-armed—लम्बबाहुक आदि। संस्कृत में यह वैकल्पिक है, अँगरेजी में समास होने पर यह प्रत्यय निश्चित है। इस प्रकार नेसफील्ड ने भूतकाल-विहित क्त, भावविहित क्त, तद्धित इत तथा समासान्त क को एक ही मानकर विश्लेषण में अपनी अकुशलता ही प्रकट की है।

यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि पास्ट पार्टिसिपुल केवल विशेषण ही नहीं, प्रेजेण्ट पार्टिसिपुल की भाँति संज्ञा भी होता है। He is seen का seen विशेषण है, अत: यहाँ is जुटता है, यह कर्मविहित क्त है, पर he has seen का seen संज्ञा है, इसीलिए यह has का कर्म होकर आ रहा है, जैसे He has to go, यह seen भावविहित क्त है। इसका भी नेसफील्ड ने ठीक विश्लेषण नहीं किया है। इसी प्रकार अँगरेजी में कर्त्ता में विहित क्त भी है। संस्कृत में भी अकर्मक धातुओं से कर्त्ता में क्त किया जाता है, अँगरेजी में भी। A faded rose, A returned officer आदि के पास्ट पार्टिसिपुल कर्त्ता में विहित क्त के ही उदाहरण हैं। क्त प्रत्ययान्त यद्यपि he has walked आदि में संज्ञावाचक ही है, पर अँगरेजी में His walking is graceful की तरह His walk is graceful का प्रयोग नहीं होता, किन्तु संस्कृत में तस्य चलनम् सुन्दरम् या चलितं सुन्दरम् दोनों प्रयोग चलते हैं।

संस्कृत में being loved की तरह अनुगम्यमानः, अनुस्त्रियमाण आदि प्रयोग खूब चलते हैं, और Having been loved की भाँति "अकथितोपि[1] ज्ञायत एव", "पुनर्भू-पालेन[2] पृष्टः सन् आह" आदि (Being followed तथा Having been asked आदि)।

नेसफील्ड ने ing प्रत्ययान्त का प्रयोग Absolute Participle में भी दिखाया है, जैसे "off we started, he remaining behind"[3] तथा The[4] sun having set, they all went home" इनका संस्कृत में अनुवाद प्रायः भावे सप्तमी से होता है अर्थात् शतृ या क्त करके उस वाक्यखण्ड को सप्तमी में डाल देते हैं, जैसे तस्मिन् पश्चात् तिष्ठति वयं प्रस्थिताः, सूर्ये अस्तं गते, सर्वे गृहं गताः आदि। पर क्त्वा का प्रयोग भी असमान कर्तृकता में कुछ इससे मिलता-जुलता प्राप्त होता है; जैसे "सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् दृष्ट्वोपायैर्वशीकृतान। राजेति कियती मात्रा धीमतामप्रमादिनाम्", "भवतो हि मतं श्रुत्वा प्रतिभाति मतिर्मम[5]", सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते[6] आदि।

---

१. शकुन्तला नाटक, प्रथम अंक।
२. वीरवरकथा—पञ्चतन्त्र।
३. अनुच्छेद २८५।
४. अनुच्छेद ३०।
५. आश्वमेधिक २८।२५।
६. मृच्छकटिक।

क्रिया का समानाधिकरण

अष्टाध्यायी में इसका भी विचार आया है कि क्रिया किसका अनुगमन करे। यह तो ऊपर कह ही आये हैं कि क्रिया कर्त्तृवाच्य में कर्त्ता का और कर्मवाच्य में कर्म का अनुसरण करती है तथा भाववाच्य में दोनों के अभाव में स्वयं प्रधान बन बैठती है। यह भी कहा जा चुका है कि जहाँ दो कर्म रहते हैं वहाँ कर्मवाच्य में क्रिया किसी एक कर्म का (प्रधान या गौण) अनुगमन करती है। परन्तु प्रश्न यह है कि जहाँ भिन्न-भिन्न पुरुष के अनेक कर्त्ता हों या प्रधान कर्म या गौणाकर्म हों, वहाँ क्रिया किस पुरुष में रहे। जब एक ही पुरुष के अनेक कर्त्ता होंगे तब तो केवल वचन-परिवर्त्तन से क्रिया सबका समावेश कर लेगी; जैसे 'राम· श्यामश्च पठत:', पर जहाँ 'राम: त्वं च' है, वहाँ क्या होगा ?

क्रिया में कहाँ कौन-सा पुरुष होगा, इस प्रसंग पर पाणिनि ने तीन वाक्य कहे हैं—(क) "युष्मद्युपपदे[1] स्थानिन्यपि मध्यम:" अर्थात् युष्मद् शब्द से समानाधिकरण रहने पर युष्मद् का प्रयोग हो या न हो, मध्यमपुरुष होता है; (ख) 'अस्मद्युत्तम:'[2], अर्थात् अस्मद् से समानाधिकरण रहने पर उत्तमपुरुष होता है, और (ग) शेषे प्रथम:[3] अर्थात् शेष अवस्था में प्रथमपुरुष रहता है अर्थात् सबसे प्रबल उत्तमपुरुष, तब मध्यमपुरुष तब प्रथम या अन्यपुरुष है। संस्कृत-रूपावली में उत्तरोत्तर बलीयस्त्व के क्रम से ही पहले प्रथम पुरुष, फिर मध्यमपुरुष और अन्त में उत्तम पुरुष रखा जाना है—"तिङस्त्रीणित्रीणि प्रथम मध्यमोत्तमा:"[4] जहाँ कर्त्ता होंगे 'वह और तुम' वहाँ क्रिया होगी 'जाते हो', जहाँ कर्त्ता होंगे 'तुम और मैं' "वहाँ क्रिया होगी 'जाते हैं'। इन नियमों के साथ पाणिनि का एक शेष प्रकरण भी जोड़ना होगा। "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्"[5] अर्थात् किसी भी अन्य के साथ सहविवक्षा में त्यदादि का ही एक शेष होगा, जैसे—देवदत्त: च स च—तौ; श्यामश्च त्वं च—युवाम्; चैत्रश्च अहं च—आवाम् आदि। पर यदि कहें—स च त्वं च तब क्या होगा ? ये तो दोनों ही त्यदादि हैं। इसमें पाणिनि के सूत्र "विप्रतिषेधे[6] परं कार्यम्" की सहायता ली जायगी। अर्थात् जहाँ विरोध हो वहाँ परवर्त्ती कार्य हो। इसी का अनुवादक एक वार्त्तिक कात्यायन ने बना दिया है "त्यदादीनां मिथ:[7] सहोक्तौ यत् परं तत शिष्यते" अर्थात् त्यदादिपठित शब्दों में ही यदि परस्पर सहविवक्षा (अनेक को एक साथ कहने की इच्छा) हो जाय तो परवर्त्ती शब्द ही अवशिष्ट रहेगा। त्यदादिगण में पहले तद्, यद्, एतद्, इदम् आदि अन्यपुरुष के सर्वनामों का पाठ है, फिर युष्मद् का और तब अस्मद् का। अत: एक शेष प्रकरण के साथ पुरुष-नियामक सूत्रों की एकवाक्यता कर लेने पर यह फलितार्थ होगा—

---

१. १।४।१०५।
२. १।४।१०७।
३. १।४।१०८।
४. १।४।१०१।
५. १।२।७२।
६. १।४।२।
७. १।२।७२ पर वार्त्तिक।

देवदत्तश्च स च—तौ पठतः ; देवदत्तश्च त्वं च— युवाम् पठथः ; देवदत्तश्च अहं च—आवां पठावः ; देवदत्तश्च, यज्ञदत्तश्च त्वं च—यूयम् पठथ ; त्वं च अहम् च—आवां पठावः, देवदत्तश्च, त्वं च, अहं च—वयम् पठामः ।

अँगरेजी तथा हिन्दी-व्याकरणों का भी यही नियम है ।

संस्कृत तथा अँगरेजी में तो क्रिया में लिंग नहीं होता, अतः केवल पुरुष और वचन का विचार है, पर हिन्दी में क्रिया अपने कर्त्ता के लिंग को भी व्यक्त करती है । अतः यह प्रश्न हो सकता है कि जहाँ अनेक लिंग के कर्त्ता हों वहाँ क्रिया किस लिंग को व्यक्त करेगी ? इस विषय में भी हिन्दी संस्कृत का ही अनुसरण करती है। संस्कृत में क्रिया में लिंग-व्यवस्था नहीं, पर विशेषणों में है । पाणिनि के अनुसार पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग के एक साथ आने पर पुंल्लिंग[1] का एक शेष होता है, जैसे शोभना च शोभनश्च—शोभनौ । और नपुंसक के साथ अनपुंसक के आने पर नपुंसक[2] ही शेष रहता है, जैसे शोभनश्च शोभनं च शोभने; शोभना च, शोभनश्च, शोभनं च शोभनानि । हिन्दी में नपुंसक तो होता नहीं और विशेषण में लिंग-परिवर्त्तन की प्रवृत्ति प्रायः समाप्त होती जा रही है । किन्तु क्रिया में लिंग-परिवर्त्तन है । अतः जहाँ पुंल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों कर्त्ता हों, वहाँ क्रिया पुंल्लिंग में रहेगी, पर वचन दोनों का कहेगी । जैसे राजा और रानी आते हैं । राजा च राज्ञी च आगच्छन्तौ स्तः अथवा आगच्छतः । सेवकश्च, प्रिया च, मित्रं च आगच्छन्तः सन्ति अथवा आगच्छन्ति । हिन्दी में मित्र शब्द भी पुंल्लिंग ही है, अतः सेवक, प्रिया और मित्र आते हैं । इसी प्रकार कर्मवाच्य में भी राजा और रानी बुलाये जाते हैं, राजा च राज्ञी च आहूयमानौ स्तः । सेवकश्च, प्रिया च, मित्रं च आहूयमानानि, अथवा आहूतानि सन्ति, किन्तु हिन्दी में सेवक, प्रिया और मित्र बुलाये जा रहे हैं या गये हैं ; क्योंकि यहाँ नपुंसक के अभाव में पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग में पुंल्लिग के अनुसार क्रिया होगी । हिन्दी-व्याकरण में यह नियम केवल प्राणिवाचकों की सहविवक्षा में चलाया जा रहा है, अप्राणिवाचक शब्द रहने पर क्रिया निकटवर्त्ती लिंग का अनुसरण करती है, जैसे "महाराज और समूची सभा उसके दोषों को भलीभाँति जानती है", "ईसा की जीवनी में उनके हिसाब का खाता तथा डायरी न मिलेगी आदि" ।[3] किन्तु इन वाक्यों में केवल लिंग-नियम का ही नहीं, वचन-व्यवस्था का भी अतिक्रमण है, अनेक कर्त्ता के रहने पर भी क्रिया एकवचन है । ऐसे प्रयोग संस्कृत में भी मिलते हैं, जहाँ अनेक कर्त्ता रहने पर भी क्रिया एकवचन में है : "गोविन्दः सात्यकिश्चैव जगाम[4] भवनं स्वकम्" । पतंजलि ने भी अर्थवत् सूत्र के भाष्य में अप्राणी कर्त्ता के साथ वचन और लिंग-नियम की व्यवस्था तोड़कर कुछ प्रयोग किये हैं ; जैसे "कर्त्तृकर्मणी गुणश्चानिर्दिष्टः" ; "कर्त्तृकर्मणी क्रिया चानिर्दिष्टा" आदि । यहाँ 'अनिर्दिष्टानि' होना चाहिए था ; क्योंकि कर्त्ता में तीन पदार्थ हैं, जिनमें एक नपुंसक है,

---

१. १।२।६७ ।

२. १।२।६९ ।

३. कामताप्रसाद गुरु का व्याकरण : अनुच्छेद ४७०-७१, ७२, ७३ ।

४. आश्वमेधिक ५९।१७ ।

कर्म। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत में भी यह नियम दृढ़ नहीं था। निकटवर्ती कर्त्ता के अनुसार ही लिंग-वचन होते थे। जहाँ एक ही व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न पुरुषवाचक सर्वनाम आते हैं, वहाँ भी पूर्वनियम के अनुसार सबकी प्राप्ति में प्रबलतम उत्तमपुरुष, फिर मध्यम पुरुष और परिशेष में ही प्रथमपुरुष होता है। जैसे "सोऽहमाजन्म शुद्धानाम्०" में "सः अहं रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये" यहाँ वक्ष्ये क्रिया में सः के अनुकूल प्रथम पुरुष नहीं, अहम् के अनुकूल उत्तमपुरुष है। इसी भाँति "समस्ता हि वयं देवास्तस्य देहे वसामहे"[१] में देवाः के अनुसार प्रथमपुरुष नहीं, वयं के अनुसार उत्तमपुरुष हुआ है। "स भवान् मज्जमानानां बन्धूनां त्वं प्लवो भव[२]" में सः, भवान्, तथा त्वम् एक ही व्यक्ति को कहनेवाले तीन सर्वनाम हैं। इनमें पहले दोनों प्रथमपुरुष के हैं, पर इनके अनुसार क्रिया में प्रथमपुरुष नहीं हुआ, त्वम् इस मध्यमपुरुष के अनुसार मध्यमपुरुष हुआ। अँगरेजी में भी It is I who am going, It is you who are going की जगह पहले It am I, It are you आदि प्रयोग ही चलते थे, यह नेसफील्ड ने अपने व्याकरण[३] में स्वीकार किया है।

भवत् शब्द भी प्रथमपुरुष का ही सर्वनाम है, "युनक्तु नो भवान् कार्ये"[४] अतः इसके साथ क्रिया सदा प्रथमपुरुष की ही रहती है। "आप कहाँ रहते हैं" यही वाक्य अधिक शुद्ध तथा प्रचलित है। किन्तु उत्तरप्रदेश में इधर "आप कहाँ रहते हो" कहने की परिपाटी बढ़ती जा रही है। भोजपुरी में तीन पुरुषों की जगह कहीं चार पुरुषों की भी व्यवस्था है। बिहारी भोजपुरी में आज्ञा में हम जाईं, तूँ जा, अपने जायल जाव (मैथिली में गेल जाय) हउ जास; सामान्य भविष्यत् में हम जाएब, तूँ जइबऽ, अपने जाएल जाई (मैथिली में गेल जाई), हउ जइहें आदि। अर्थात् उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष के बाद अन्यपुरुष के दो भेद हैं—एक साधारण, दूसरा आदरार्थक। साधारण प्रथमपुरुष के लिए हऊ (वह), हई (यह) आदि तथा आदरार्थक के लिए 'अपने' या 'अपने का' शब्द चलते हैं। बल्कि साधारण प्रथमपुरुष के एक और सर्वनाम 'के' (कौन) के लिए भी प्रायः भिन्न ही क्रिया रहती है; जैसे उपर्युक्त उदाहरणों में के जाओ, के जाई प्रयोग होंगे। यदि इन सबसे वर्त्तमान काल बनायें तो इतने रूप होंगे—

उत्तमपुरुष	मध्यमपुरुष	प्रथम या अन्यपुरुष
हम जा तानी	तूँ जा तारऽ	हऊ, हई जा तारे, जे के जाता, अपने जाएल जाता।

अर्थात् प्रथमपुरुष में आदर की दृष्टि से तीन स्तर हैं—

(क) यदि कर्त्ता जड़ पदार्थ या सामान्य प्राणी और व्यक्ति है तो जाता; जैसे—माटी, चिरई, हाथी, बलचनवाँ, अदमी आदि जाता या जात बा।

(ख) यदि वह आदरणीय है तो, श्यामचन्द, चाचा, भैया जातारे या जात बाड़े।

---

१. अनुशासन, १४७।५३।
२. द्रोणपर्व, १७३।४६।
३. अध्याय २०, खण्ड ६२।
४. अश्वमेध, ७१।२५।

(ग) पर यदि वह अत्यन्त आदरणीय है तो अपने जायल जाता या जात बा। इनके साथ एक और भी सर्वनाम है, जो उत्तमपुरुष की ही क्रिया सदा लेता है, वह है रउवा, रवाँ आदि। जैसे—

(घ) रउवा, रवाँ कहाँ जा तानी या जात बानी। यह रउवा शब्द सदा 'हम' की ही क्रिया लेता है। पूर्वोक्त वाक्यों में भी रउवा जाईं, रउवा जाएब आदि होते हैं। इस प्रकार बिहारी भोजपुरी ने प्रथमपुरुष के चार स्तर बनाकर उनमें से आदरणीयतम स्तर ('अपने') को तो सबसे अलग रखा, पर दूसरे आदरणीय स्तर को उत्तमपुरुष के साथ मिला दिया; अर्थात् सर्वाधिक आदरणीय यदि देवस्वरूप, तो अपेक्षाकृत अधिक आदरणीय आत्मस्वरूप बना। उत्तरप्रदेशी भोजपुरी ने अपने और रउवा को एक ही स्तर पर रखकर रउवा या अपने कहाँ जा तानी, जाईं और जाएब आदि प्रयोग किये। ये सब प्रयोग उत्तमपुरुष के हुए। एक स्तर और बढ़कर उत्तरप्रदेश में अपने की जगह आप का व्यवहार शुरू हुआ, यह शायद खड़ी बोली का भोजपुरी पर प्रभाव था। फलतः रउवा या अपने कहाँ जा तानी की जगह आप कहाँ जातानी प्रयोग भी चला, आप कहाँ जाएब, आप जाईं आदि। यह प्रयोग बिहारी भोजपुरियों को बहुत खटकता है। इस प्रकार उत्तरप्रदेशी भोजपुरी में 'हम' के साथ रउवा, अपने तथा आप भी उत्तमपुरुष में प्रविष्ट हुए। उत्तरप्रदेश की खड़ी बोली ने भी इसके प्रभाव से या किसी अज्ञात कारण से 'आप' शब्द को अन्यपुरुष से ऊपर उठाकर मध्यमपुरुष में डाल दिया। वैसे, यह तो ठीक ही है कि (युष्मद् वा) 'तुम' की तरह 'आप' भी अब हिन्दी में सम्बोध्यमान व्यक्ति को ही कहा जाता है। जिससे बात की जाती है उसी को आप कहते हैं, जिसके बारे में की जाती है, उसे नहीं; अतः आपके साथ मध्यमपुरुष की क्रिया निर्मूल नहीं है। पर संस्कृत ने मध्यमपुरुष के लिए सम्बोध्यमानता-मात्र की छूट नहीं दी थी, केवल युष्मद् शब्द के लिए स्पष्ट कहकर इसका प्रयोग सीमित किया था। अन्यथा आज की भाषा में आप ही क्यों, श्रीमान्, हुजूर, महाराज आदि शब्द भी मध्यमपुरुष की ही क्रिया लेने लगें।

आज भी किसी का परिचय देते समय प्रयोग करते हैं, "आप अमुक युनिवर्सिटी के प्रोफेसर हैं; आपका नाम इस क्षेत्र में सर्वविदित है; आप भारत के गौरव हैं" आदि। वह व्यक्ति सामने ही उपस्थित हो यह आवश्यक नहीं, उसकी चर्चा-मात्र चलने पर भी ऐसा प्रयोग हो रहा है। इसका अर्थ है कि अभी 'आप' शब्द ने प्रथमपुरुष के क्षेत्र से अपनी नागरिकता नहीं त्यागी है।

संस्कृत में भी यत्र-तत्र भवत् शब्द का प्रयोग मध्यमपुरुष में उपलब्ध हो जाता है; जैसे "स भवान् नाद्य शोभ[1] से"। बल्कि "चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वयम् अन्ये च वानराः"[2] आदि स्थलों में 'वयम्' विशेषण होकर क्रिया पर प्रभाव डालने में असमर्थ बन जाता है। 'तं मया सह गत्वाद्य राजति कुरु वर्धनम्'[3] आदि स्थलों में तो वह स्पष्ट ही सह के योग में अप्रधान बना हुआ है।

---

१. द्रोणपर्व, १९७।५।

२. सुन्दरकाण्ड, ३५।५५।

३. अश्वमेध, १५।३२।

एकवचन की जगह बहुवचन :

भोजपुरी में तथा बिहारी सभी बोलियों में उत्तमपुरुष में मैं रूप नहीं मिलता; एकवचन में 'हम' तथा बहुवचन में 'हमनी' चलते हैं। इसका प्रभाव खड़ी बोली पर भी पड़ा है। बिहार में मैं जाता हूँ, खाता हूँ, कम ही लोग बोलते हैं, जिनपर उत्तरप्रदेश का प्रभाव पड़ चुका है। अन्यथा केवल अपने लिए, एकवचन की जगह भी, हम जाते हैं, खाते हैं का प्रयोग ही बढ़ता जा रहा है। पहले उत्तरप्रदेशवाले इससे चिढ़ते थे, अब वे भी इसे अपना रहे हैं; क्योंकि सम्पादकीय भाषा यही है। अष्टाध्यायी में 'अस्मदो द्वयोश्च' ने यही विधान किया है कि अस्मद् के प्रयोग में एकवचन या द्विवचन दोनों की जगह बहुवचन ही होता है, अर्थात् 'अहं वदामि, या आवां वदावः', दोनों की जगह 'वयं वदामः' का प्रयोग कर सकते हैं। पाणिनि ने इस विधि में 'प्राचाम्' नहीं कहा है, इसका अर्थ है कि पाटलिपुत्र में अधिक अवधि तक रह जाने से स्वयं उनकी भाषा भी यही हो गई थी और पाटलिपुत्र ही सबसे पुराना शहर था, अतः इसका प्रभाव पूरे देश की भाषा पर पड़ गया था। नगर का पर्याय है पत्तन और पत्तन का ही अपभ्रंश है पटना, अर्थात् अपने समय का यह एक ही नगर था, प्राचीनतम साम्राज्य की राजधानी था, अतः इसकी भाषा का प्रभाव सर्वत्र पड़ना स्वाभाविक था।

मनमोहन गौतम का "आज हिन्दी में उत्तमपुरुष एकवचन में 'मैं' के साथ ही 'हम' का प्रयोग भी होता है, किन्तु व्याकरण ने इस नवीन प्रयोग को अभी तक ग्रहण नहीं किया, सम्भवतः कुछ वर्ष बाद व्याकरण इस परिवर्त्तन को, जो कि भाषाविज्ञान द्वारा इंगित किया गया है, स्वीकार कर ले" कहना यही प्रमाणित करता है कि उन्हें इसके पीछे आती हजारों वर्ष पुरानी संस्कृत-व्याकरण-परम्परा का ज्ञान नहीं है।

संस्कृत ने जिस प्रकार उत्तमपुरुष में एकवचन की जगह बहुवचन के प्रयोग की अनुमति दी, उसी प्रकार अँगरेजी ने मध्यमपुरुष में एकवचन की जगह बहुवचन की अनुमति दे दी है। बल्कि आधुनिक अँगरेजी ने thou को निष्कासित ही कर दिया है। सम्बोध्यमान एक हो या अनेक, अब केवल यू (you) ही चलता है। दाउ कोई नहीं बोलता-लिखता, वह अतीत की वस्तु हो चुका है। इधर प्रथमपुरुष के क्षेत्र में भी खड़ी बोली ने यही रवैया अख्तियार किया है। जो खड़ी बोली बिहार में मैं की जगह हम के प्रयोग से चिढ़ती है, उसकी क्रान्ति तो और भी विचित्र है। संस्कृत ने उत्तमपुरुष में एकवचन मैं की जगह बहुवचन हम का प्रयोग भी करने की अनुमति दी, अँगरेजी ने मध्यमपुरुष में बहुवचन को ही रखा, एकवचन को सर्वथा निकाल दिया। किन्तु, खड़ी बोली उर्दू के प्रभाव से, प्रथमपुरुष में एकवचन यह, वह का ही प्रयोग अपना रही है—ये, वे का प्रयोग क्रमशः मिटता जा रहा है। यह तो सर्वथा विपरीत क्रान्ति है। यह कहते हैं, वह समझते हैं आदि।

स्त्रीलिंग की जगह पुंल्लिग :

इधर स्त्रियों में 'मैं जा रही हूँ' की जगह 'हम जा रही हैं' भी नहीं, हम जा रहे हैं प्रयोग अधिक बढ़ रहा है। क्या यह इस क्रान्ति का सूचक है कि संस्कृत की भाँति क्रिया के

क्षेत्र से लिंग-विचार हटेगा ? जैसे अँगरेजी के प्रभाव से हिन्दी में विशेषणों से भी लिंग-विचार क्रमशः मिटता जा रहा है। केवल आकारान्त तद्भवों में ही लिंग-विचार है; सम्भव है, यह भी शीघ्र समाप्त हो। विशेषण से वचन-विचार तो प्रायः समाप्त ही है। बल्कि बहुत बार 'उस' और 'इस' का ही प्रयोग 'उन' और 'इन' की जगह भी सुना जा रहा है।

वाक्य में पदों का क्रम :

अँगरेजी में यह नियम है कि वाक्य में पहले कर्त्ता होगा, तब क्रिया और तब कर्म। सामान्यतः यह क्रम कभी टूटता नहीं, कभी कर्म पर बल देने के लिए भले ही कर्म को कर्त्ता के भी पहले स्थान दे लें। हिन्दी में पहले कर्त्ता, फिर कर्म, तब क्रिया आती है, शेष कारक कहीं रह सकते हैं। किन्तु बलाघात के लिए हिन्दी ने इसमें काफी छूट दी है, मैं 'पटना जाऊँगा' को विशेष अर्थ व्यक्त करने के लिए 'पटना मैं जाऊँगा', 'जाऊँगा मैं पटना', 'मैं जाऊँगा पटना' आदि भी बोलते हैं। संस्कृत में तो इसकी बहुत छूट है। वैसे कविता में अँगरेजी और हिन्दी भी उक्त क्रमों का नियन्त्रण शिथिल कर देती है, पर संस्कृत में तो कोई नियन्त्रण है ही नहीं। कोई पद कही रह सकता है। कारण यह है कि हिन्दी तथा अँगरेजी में कर्त्ता और कर्म का कोई चिह्न नहीं है, वाक्य में स्थान से ही उनका कर्त्तृत्व या कर्मत्व निर्धारित होता है, परन्तु संस्कृत में सब कारकों की तरह इनमें भी सदा विभक्ति जुड़ी रहती है। अतः वे कहीं रहें, पहचान लिये जाते हैं। फिर भी कुछ शब्दों के लिए संस्कृत ने यह बन्धन रखा है कि वे वाक्य में कहाँ रह सकते हैं, कहाँ नहीं रह सकते हैं। जैसे—

अन्वादेश : यदि वाक्य में किसी भी पद के बाद युष्मद् की द्वितीया का एकवचन त्वाम् आवे तो उसका त्वा, तथा अस्मद् द्वितीया का एकवचन माम् आवे तो उसका मा होता है, इनकी चतुर्थी तथा षष्ठी एकवचन तुभ्यम् और तव का ते तथा मह्यम् और मम का मे हो जाता है। इन दोनों की द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी के द्विवचन युवाम्, युवाभ्याम्, युवयोः का वाम् तथा आवाम्, आवाभ्याम्, आवयोः का नौ हो जाता[1] है। किन्तु यदि वाक्य का आरम्भ ही त्वाम्, माम् आदि से हो, तब ये आदेश नहीं होते। जैसे त्वाम् अहं पश्यामि, परन्तु अहं त्वा पश्यामि, तव इदं पुस्तकम्, परन्तु इदं ते पुस्तकम्, अस्मान् पाहि, किन्तु पाहि नः आदि। कुछ स्थलों में यह निषिद्ध है और कुछ स्थलों में वैभाषिक। कात्यायन ने भी इसका क्षेत्र यह कहकर संकुचित कर दिया है कि यह नियम एक ही वाक्य[2] के लिए है, अर्थात् जिस वाक्य में युष्मद्, अस्मद् शब्द हों, उसी वाक्य के किसी पद के बाद इन्हें आना चाहिए। साथ ही जिस व्यक्ति की पहले एक बार भी चर्चा हो चुकी है, उसी व्यक्ति को युष्मद् अस्मद्, कह रहे हों तभी (अन्वादेश में) यह आदेश नित्य होगा, अन्यथा विकल्प[3] से ही होगा। इतने नियन्त्रणों

---

१. ८।१।१६ से २६ तक। 'त्वा', 'मा' तथा 'ते', 'मे' का तो अपने मूल शब्दों से कुछ ध्वनि-सादृश्य दीख पड़ता है, पर 'वः' और 'नः' का तो कोई सादृश्य ही नहीं दीखता, इनका मूल भाषाविज्ञानियों को ढूँढ़ना चाहिए।

२. ८।१।१९ पर वार्त्तिक। ३. ८।१।२६ पर वार्त्तिक।

के बाद अब इसका व्यवहार में यही नियम रह गया है कि वाक्य के आदि में इनका व्यवहार नहीं होता, पर अन्वादेश में भी इनका व्यवहार प्रायः वैकल्पिक ही रह गया है।

एक नियम[1] से पाणिनि ने बताया है कि परिहास में किस तरह भाषा विकृत हो जाती है। यदि कहना है, "आओ आओ, तुम सोचते हो कि मिठाई खाऊँगा, खतम हो गई मिठाई", तो "एहि, मन्यसे, मिष्टान्नं भोक्ष्ये, समाप्तं मिष्टान्नम्" की जगह कहेंगे "एहि, मन्ये मिष्टान्नं भोक्ष्यसे, समाप्तं मिष्टान्नम्" अर्थात् "आओ आओ, मैं समझता हूँ कि तुम मिठाई खाओगे, खतम हो चुकी मिठाई"। इस प्रकार का हास-परिहास प्रमाणित कर रहा है कि संस्कृत लोकभाषा थी।

अष्टमाध्याय के प्रथम पाद में सूत्र १६ से अन्तिम सूत्र ७४ तक केवल यही चर्चा है कि वाक्य में किसी भी पद के बाद आने पर किस शब्द में क्या ध्वनि-परिवर्त्तन होता है। इसमें अधिकांश स्वर का ही विचार है। वैसे स्वर का विचार षष्ठाध्याय के प्रथम पाद के सूत्र १५८ से लेकर द्वितीय पाद की समाप्ति तक है, किन्तु यहाँ यह विचार है कि यदि एक पद के उच्चारण के बाद उसी वाक्य में अमुक शब्द आ जाय तो उसमें क्या स्वर-परिवर्त्तन होगा। पहले सामान्य पद के स्वर का विचार था, यह वाक्यस्थ पद के स्वर का विचार है; जैसे 'पचति'[2] में प का अ उदात्त है, किन्तु 'देवदत्तः पचति' में—'पचति' सर्वानुदात्त है (तिङ्ङतिङः)।

जिस प्रकार अन्वादेश में युष्मद्—अस्मद् की विभिन्न विभक्तियों और वचनों में कई आदेश तथा स्वर ऊपर बताये गये हैं, ठीक उसी प्रकार इदम्[3] और एतद् शब्दों के लिए भी विचार है। द्वितीया विभक्ति तथा टा और ओस् विभक्तियों में इदम् और एतद् दोनों के स्थान में एन आदेश हो जाता है, अर्थात्—

{ एतम् एतौ एतान्
{ इमम् इमौ इमान् = एनम्, एनौ, एनान्।

{ एताम् एते एताः
{ इमाम् इमे इमाः = एनाम्, एने, एनाः

{ इदम् इमे इमानि = एनत्, एने, एनानि।
{ एतत् एते एतानि

अनेन, एतेन = एनेन।

अनया, एतया = एनया।

अनयोः एतयोः = एनयोः।

इस रूपावली को देखने से स्पष्ट पता चल जाता है कि अन्वादेश-स्थल में इन विभक्तियों में इदम् का प्रयोग ही नहीं होता, सर्वत्र इसके पर्याय एतद् शब्द का प्रयोग होता है, और दूसरी बात यह कि इनमें एत के त का न हो जाता है। हिल् (प्रत्य०) के पूर्व भी

१. ८।१।२८।
२. ८।१।२८,।
३. २।४।३२ से ३४ तक।

इदम् का प्रयोग होगा ही नहीं, एतद् का प्रयोग होगा इदम् + र्हि—एतर्हि (अर्थात् एतत् + र्हि—एतर्हि)।

प्लुति :

किसी भी वाक्य में कहाँ किस अक्षर (सिलेबल) का प्लुत उच्चारण होगा, इसका विचार ८।२।८२ से पाद की समाप्ति, सूत्र १०८ तक है। वाक्य में किस पद का क्या विवरण और रूप होगा, इसके साथ यह भी जानना आवश्यक है कि उसका उच्चारण किस प्रकार किया जायगा। ऊपर वाक्य के पदों में उदात्तादि स्वर के विषय में कहा गया। उसी भाँति प्लुत का भी महत्त्व है। सम्पूर्ण संस्कृत-व्याकरण में पद में किसी भी अंश के ह्रस्व या दीर्घ, गुण या वृद्धि, यण् या सम्प्रसारण रूप-विकार की ही चर्चा है, पर प्लुत का विचार केवल वाक्य में ही होता है।

जैसे दूर से पुकारने में दे३वदत्त, देवद३त्त, देवदत्त३, हे३राम, राम हे३, ओ३-मग्निमीळे पुरोहितम् आदि।

इस प्रसंग में सूत्र ८३ ने बताया है कि यदि शूद्र को छोड़ किसी और के अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद देना हो तो वाक्य के अन्तिम अक्षर को प्लुत करके बोले; जैसे—अभिवादये 'देवदत्तोऽहम्' यह अभिवादन का वाक्य हुआ, इसके उत्तर में आशीर्वाद हुआ 'आयुष्मानेधि देवदत्त३'। चूँकि शूद्रों के लिए संस्कृत-शिक्षा वर्जित थी, इसलिए वे इस प्लुत को नहीं समझ सकते थे, इसीलिए उनके लिए प्लुति अनावश्यक थी। कात्यायन ने शूद्रों की तरह स्त्रियों के लिए भी प्रत्यभिवादन में प्लुति का निषेध किया है; क्योंकि 'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्' द्वारा संस्कृत का अध्ययन उनके लिए भी निषिद्ध था। पर यह तो अभिवादन-कर्त्ता की बात हुई। जिसे अभिवादन किया जाता था, वह भी पढ़ा-लिखा होता, तभी तो प्लुति का नियम जानता, अतः अशिक्षित लोगों को अभिवादन करने में अपना नाम नहीं कहा जाता था, केवल 'अभिवादये अयमहम्' कहा जाता था, वह अशिक्षित भी प्रत्यभिवादन में 'आयुष्मानेधि' मात्र कह देता था। चूँकि स्त्रियाँ भी संस्कृत नहीं पढ़ती थीं, इसलिए उनके अभिवादन में भी अपना नाम नहीं कहा जाता था। इस प्रकार अविद्वान् स्त्रियों की तुलना में चले जाते हैं। पतंजलि ने पस्पशाह्निक में व्याकरण नहीं पढ़नेवालों का यही मजाक उड़ाया है कि वह समाज में अभिवादन के समय स्त्री की भाँति समझा जाता है। "अविद्वांसः प्रत्यभिवादे, नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः। कामं तेषु तु विप्रोष्य, स्त्रीष्विवायमहं वदेत्" अभिवादे स्त्रीवन्मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्।"

इस प्रकार वाक्य में भी सूक्ष्म विचार होते थे। यह विचार भी इसका प्रमाण है कि पहले संस्कृत भाषा जनता की भाषा, लोकभाषा थी।

भाषा में वार्त्तालापीयता (Colloquialism) :

किसी को पुकारने में एक और भी परिवर्त्तन होता था, नाम प्यार से छोटे कर दिये जाते थे। इसमें कुछ सुविधा भी थी। आज भी नरेन्द्रकुमार को नरेन्द्र, आशुतोष को आशु बाबू,

शिवनारायण को शिवू, राजेन्द्र को राजू, प्रमोद को पम्मो, अनुराग को अनु, सहदेव को देव, व्रजकिशोर नारायण को नारायण, सरस्वती या सरोजिनी को सरो, सुशीला को सिल्लो, चित्रा को चित्तू आदि कहते हैं। वैसे ही अष्टाध्यायी में पाणिनि ने भी सूत्र ५।३।७६ से ८४ तक यही बताया है कि व्यवहार में पुकारने में किस प्रकार बड़े नामों को छोटा विकृत कर दिया जाता था। देवदत्त का देविकः, देवियः, देविलः; उपेन्द्रदत्त का उपडः, उपकः, उपिकः, उपियः, उपिल.; व्याघ्राजिनः का व्याघ्रकः; शेवलदत्तः का शेवलिकः आदि होते थे। अर्थात् कहीं पुकारने के लिए आदि के दो ही अक्षर रख लिये जाते थे, उपेन्द्रदत्त में उप, कहीं उत्तरपद-मात्र का लोप किया जाता था, देवदत्तः में देवः रखा जाता था, कहीं तीन अक्षर आदि में रख लिये जाते थे, शेवलदत्तः में शेवल ही अवशिष्ट रहता था। कात्यायन के समय यह प्रवृत्ति और भी बढ़ गई तथा अनेकविध हो गई थी। देवदत्तः को दत्तः भी कहते थे, सत्यभामा को सत्या या भामा भी कहते थे। यह प्रवृत्ति भी यही प्रमाणित कर रही है कि संस्कृत उस समय अवश्य जनभाषा थी।

अष्टम अध्याय

अर्थ-विज्ञान

यहाँ तक तो वर्ण, पद तथा वाक्य-रूप शब्दों का, ध्वनि का विश्लेषण दिखाया गया, अब भारतीय मनीषियों के अर्थ-विज्ञान पर प्रकाश डाला जायगा। इस अध्याय में निम्नलिखित प्रकार के प्रश्नों पर विचार किया जायगा—

(१) शब्द तथा अर्थ का स्वरूप क्या है ? इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ? यह सम्बन्ध स्वाभाविक है या कृत्रिम ?

(२) शब्द तथा अर्थ के कितने विभाग हैं, श्रेणियाँ हैं, प्रकार हैं ?

(३) शब्द का अर्थ क्या है, जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या, कारक, पाँचों, या चार, या तीन, या दो, या एक ही ?

(४) किसी भी नव शिक्षार्थी को पहली बार किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान कैसे होता है ?

(५) अनेकार्थ शब्दों में अर्थ का निर्धारण किस प्रकार होता है ?

(६) पूरे वाक्य से अर्थज्ञान, शब्दबोध, शाब्द प्रत्यक्ष की प्रक्रिया और आकार क्या हैं ? इत्यादि।

यास्क ने अपने निरुक्त में जहाँ-तहाँ छिटपुट अर्थ-विचार पर कुछ प्रकाश डाला है, जो यथास्थान दिखा दिया गया है। परन्तु मुख्यतः वह निर्वचनशास्त्र है। निर्वचन में अपेक्षित ही अर्थ-विचार वहाँ मिलता है। पाणिनि ने भी निर्वचन के ही प्रसंग में सब प्रत्ययों का, समास आदि का अर्थ बताकर एकार्थी भाव पर बल दिया है। परन्तु सूत्र-वाङ्मय में अर्थ-विज्ञान पर स्वतन्त्र रूप से विचार कठिन था। पाणिनि के बाद व्याडि ने एक लाख श्लोकों में अपना महत्त्वपूर्ण भाषाविज्ञान-ग्रन्थ (संग्रह) लिखा। पर दुर्भाग्य है कि यह पतंजलि के समय से ही अप्राप्त हो गया। पतंजलि ने महाभाष्य में यत्र-तत्र उनके मत का बड़े आदर से उल्लेख किया है। कात्यायन ने भी अपने वार्त्तिक सूत्रबद्ध ही बनाये, अतः वे भी इस क्षेत्र में पाणिनि से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सके। बल्कि यास्क के बाद पतंजलि ने गद्य का समर्थतम साधन लेकर भाषा का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया। महाभाष्य में अर्थविज्ञान-सम्बन्धी काफी चर्चा मिलती है, प्रश्नोत्तर-शैली में अनेक शंकाओं का निराकरण किया गया है। बल्कि महाभाष्य निर्वचन और प्रक्रिया से अधिक अर्थग्रन्थ ही है। पतंजलि के बाद कैयट तथा नागेश ने उसकी व्याख्या कर इस विज्ञान को आगे बढ़ाया है। पर अर्थ-विचार को अर्थ-विज्ञान की कोटि तक पहुँचाने का श्रेय भर्तृहरि के श्लोकबद्ध वाक्यपदीय को तथा उसके व्याख्याता हेलाराज, पुण्यराज, नागेश और कौण्डभट्ट आदि को है। नागेश ने लघुमंजूषा तथा कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर इसे दर्शन और विज्ञान का रूप दिया है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि इन सभी अर्थविज्ञान-विशारदों ने पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि को ही पद-पद में प्रमाण मानकर उद्‌धृत किया है, तथा अपनी सारी आलोचना का उत्स इस त्रिमुनि को ही माना है। वैसे अपने गद्यग्रन्थ महाभाष्य में पतंजलि ने इतनी सूक्ष्म-दर्शिता, विश्लेषण-पटुता तथा स्पष्टता से पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या की है कि 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' के अनुसार बाद के सभी भाषावैज्ञानिकों के लिए वही उपजीव्य हो गये हैं, फिर भी 'सूत्रेष्वेव[1] हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्चवार्त्तिके" और "यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत"[2] यह स्वीकार कर रहे हैं कि इन सबके आदिगुरु, मूल उत्स पाणिनि के सूत्र ही हैं। निर्वचन की भाँति अर्थ-विज्ञान पर भी व्याकरण-ग्रन्थों के अतिरिक्त जहाँ-तहाँ विचार मिलता है। महाभारत में शान्तिपर्व का २२०वाँ अध्याय पूरा शब्दार्थ-सम्बन्ध-विचार ही है। अश्वमेध पर्व के २१वें अध्याय में मन तथा वाणी के विवाद से भी इसपर काफी प्रकाश पड़ता है।

शब्द और अर्थ का अभिधेय, स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध :

आरम्भ में ही कह आये हैं कि वाग् ब्रह्म के दो पार्श्व हैं— शब्द तथा अर्थ, जिन्हें क्रमशः नाम और रूप कहते हैं। शब्द की व्युत्पत्ति है शप्+द— शाप देनेवाला। धातुपाठ में शप् का अर्थ आक्रोश दिया गया है। जिस प्रकार अप्+द—अब्द बना, उसी प्रकार शप् +द = शब्द। इससे पता चलता है कि सर्वप्रथम मनुष्य ने दुःख में पड़कर ही उसे व्यक्त करने के लिए ध्वनि की। वाल्मीकि के प्रथम श्लोक की उत्पत्ति शोक से ही हुई थी "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् अगमः शाश्वतीः समाः, यत् क्रौञ्चमिथुनादेवमवधीः काम मोहितम्"[3]। इस प्रकार 'शब्द' शब्द ही प्रकट करता है कि उसकी, ध्वनि की, उत्पत्ति किसी उद्देश्य से हुई थी। दुःख से, शोक से, जिसके पीछे काम, क्रोध आदि का हाथ था। अधिकांश पशु-पक्षी कामपीड़ा से शोर मचाते हैं। 'अर्थ' की निष्पत्ति गत्यर्थक ऋ धातु से थ प्रत्यय द्वारा हुई है [उषिकुषिगार्त्तिभ्यस्थन्-उणादि— २।४]। इस प्रकार 'अर्थ' हुआ 'गम्य'। शब्द का गम्य अर्थ है। शब्द मार्ग है, अर्थ लक्ष्य। वाक् के ये दोनों पार्श्व व्यवहार में एक हैं, अभिन्न हैं "एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ"[4] पुण्यराज से उद्‌धृत "सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्" इस ऋचा का भी यही अभिप्राय है। कालिदास ने भी "वागर्थाविव संपृक्तौ"[5] कहकर इसी की पुष्टि की है। वाग् ब्रह्म की इन दोनों उपाधियों का व्याकरण ही भाषाविज्ञान का लक्ष्य है : "नाम रूपे व्याकरवाणि"।[6] इन दोनों में भर्त्तृहरि ने अर्थ या रूप को शब्द या नाम पर आश्रित माना है, "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्, विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः"[7]—वक्ता पहले घट के आनयन

१. पस्पशाह्निक में व्याकरणपदार्थ-निरूपण में नागेश की उक्ति।
२. वहीं पतंजलि की स्वीकृति।
३. बालकाण्ड, २।१५।
४. वाक्यपदीय, २।३१।
५. रघुवंश, १।१।
६. छान्दोग्य, ६।३।२।
७. वाक्यपदीय, १।१।

का स्वयं चिन्तन करता है, फिर वह कहता है 'घटमानय', तब श्रोता यह शब्द सुनकर घट के आनयन रूप-अर्थ की प्रतीति करता है, और फिर वह घड़ा ला देता है। वक्ता तथा श्रोता के अन्तःकरण में घट-रूप अर्थ तथा घट शब्द की विभक्ति-प्रतीति नहीं होती। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः[1] शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।" रामचरित-मानस ने ठीक ही कहा है : "देखिअहि रूप नाम आधीना, रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना। रूप विशेष नाम बिनु जाने, करतलगत न परहिं पहचाने।" जो अश्वगन्ध को जानता है, उसके मन में अश्वगन्ध नाम सुनते ही अश्वगन्ध का रूप भी उपस्थित हो जाता है, पर जो इसे नहीं जानता, उसके हाथ में भी अश्वगन्ध रखने पर वह पूछता है, 'यह क्या है' ? अश्वगन्ध ही क्यों, जंगलों में सैकड़ों पेड़-पौधे, जड़ी-बूटियाँ हैं, जिन्हें हम कानों से सुन, नेत्रों से देख, नाक से सूँघ, रसना से चख, हाथ से छूकर भी नहीं जान पाते। हमारे लिए वे एक वृक्षमात्र हैं, वे हर्रे नहीं, आम नहीं, कटहल नहीं। इस प्रकार घट शब्द, घट-अर्थ तथा घट-ज्ञान व्यवहार में एक ही तत्त्व हैं। इनमें घट शब्द आधार है और घट-अर्थ तथा घट-ज्ञान उसपर आश्रित हैं। तभी दण्डी कहते हैं : "इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत[2] भुवन-त्रयम्, यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते"। वाक्यपदीय[3] भी स्वीकार करता है : 'इतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया' तथा 'अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः'। 'शब्दपूर्वको ह्यर्थे संप्रत्ययः' कहकर महाभाष्य[4] ने भी शब्द की महत्ता स्वीकार की है। 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्द-संज्ञा' की व्याख्या में पतंजलि ने शब्द-अर्थ की तुलनात्मक महत्ता पर अच्छा विचार किया है। बल्कि 'अत्यन्तासत्यपि[5] ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः' करोति च, कहकर श्रीहर्ष ने स्पष्ट ही यह संकेत किया है कि अत्यन्त असत् पदार्थ शशशृंग, खपुष्प आदि की भी प्रतीति शब्द करा सकता है, इतनी शक्ति है शब्द में। योगदर्शन ने भी "शब्द-ज्ञानानुपाती[6] वस्तुशून्यो विकल्पः" से इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। महाभारत[7] में श्वेतकेतु तथा सुवर्चला पति-पत्नी में शब्दार्थ-विषयक काफी प्रश्नोत्तर हुए हैं। श्वेतकेतु का कहना है कि शब्द और अर्थ में कोई वास्तविक और स्थायी सम्बन्ध नहीं है : "शब्दार्थयोर्न चैवास्ति सम्बन्धोऽत्यन्त एव हि। पुष्करे च यथा तोयं तथास्तीति च वेत्थ तत्"। इसपर सुवर्चला कहती है, लेकिन 'अर्थे स्थितिर्हि शब्दस्य नान्यथा च स्थितिर्भवेत्', विना अर्थ के शब्द की कोई स्थिति नहीं। अन्त में श्वेतकेतु को मानना पड़ा है कि "निरर्थको न चैवास्ति शब्दो लौकिक उत्तमे, अनन्वयास्तथा शब्दा निरर्था इति लौकिकैः" अतः शब्द की इतनी महिमा होते हुए भी शब्द की तुलना में अर्थ ही प्रधान है, अर्थ ही शब्द का प्रयोजन है (अर्थ का अर्थ ही है प्रयोजन)।[8] "शब्दार्थयोरेकात्मत्वेप्यर्थांशस्यैव प्राधान्य-

---

१. वाक्यपदीय, १।१२४।
२. काव्यादर्श।
३. १।१२१ तथा १।१२७।
४. १।१।६७वाँ सूत्र।
५. खण्डनखण्ड खाद्य।
६. १।९।
७. शान्तिपर्व अध्याय, २२०।
८. २।१३०।

मुपयोगवशात्'' से वाक्यपदीय ने यही प्रकट किया है। पतंजलि ने भी कहा है, "अर्थगत्यर्थः[1] शब्द प्रयोगः अर्थं संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते", "अर्थे शब्दप्रयोगात्"[2] किसी भी शब्द का प्रयोग किसी अर्थ को ही प्रकट करने के लिए होता है[3]—"युक्तंपुनर्यच्छब्दनिमित्तको नामार्थः स्यात्, नार्थनिमित्तकेन नाम शब्देन भवितव्यम्, अर्थनिमित्तक एव शब्दः"। इसपर कैयट ने प्रदीप में कहा है, "अर्थ एव शब्दस्य प्रयोजकः, तत् प्रतिपादनाय शब्दप्रयोगः"। दुर्गाचार्य ने भी स्वीकार किया है कि 'अर्थो हिप्रधानं, तद्गुणभूतः[4] शब्दः'। कुमारिल ने भी तन्त्रवार्त्तिक में यही सिद्धान्त माना है, 'सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रत्यायनार्थ[5] प्रयुज्यते"। बल्कि सभी अर्थों को प्रकट करने की क्षमता भी शब्दों में नहीं होती— "न हि सकलविशेषसहितमर्थं[6] शब्दः प्रत्याययितुमलम्"। देवदत्त की आकृति का शत-प्रतिशत वर्णन, जिसे सुनकर लाखों में से देवदत्त को ढूँढ़कर निकाल लें, पहचान लें, सम्भव नहीं। इसी तरह वनस्पतियों का भी वर्णन है। किन्तु जिस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि विश्व में बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं, जिनके नाम हमें ज्ञात या प्राप्त नहीं हैं, वैसे ही यह भी तो कह सकते हैं कि बहुत-से ऐसे शब्द बन सकते हैं, या हैं, जिनका कोई अर्थ हमें ज्ञात नहीं। इस तरह वस्तुतः ये दोनों अनन्त और असीम हैं, तथा भिन्न-भिन्न अवसरों पर प्रत्येक अधिक महत्त्वपूर्ण बन सकता है, बन जाता है। पाणिनि ने 'वेः शब्दकर्मणः' शब्दवैरकलहाभ्र', न शब्द श्लोक, आदि सूत्रों में शब्दब्रह्म[7] का तथा 'अर्थवदधातु०, प्रधानप्रत्ययार्थ०, न गतिहिंसार्थेभ्यः' आदि सूत्रों में अर्थब्रह्म[8] का समान भाव से स्मरण किया है।

जहाँ तक शब्दप्रतिपाद्य अर्थ के स्वरूप का प्रश्न है, संस्कृत के भाषावैज्ञानिकों का विचार है कि यह बुद्धिस्थ मात्र है। उनका तर्क है कि यदि लौकिक पदार्थ ही शब्द का अर्थ हो और उसी के साथ शब्द का अभेद माना जाय तब तो मधु वस्तु को जीभ पर रखने से जिस प्रकार मिठास का अनुभव होता है, वैसे ही 'मधु' शब्द के भी जीभ पर आने से मिठास का अनुभव होने लगे, 'आग लाओ' उच्चारण-मात्र से जीभ जलने लगे। पर इन वस्तुओं से प्राप्त माधुर्य और दाह के प्रत्यक्ष तथा इन शब्दों से प्राप्त माधुर्य और दाह के प्रत्यक्ष में महान् अन्तर है। "अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोभिमन्यते, अन्यथा दाह शब्देन दाहादयर्थः[9] प्रतीयते"। "पूरण प्रदाह पाटवानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः" कहकर न्यायसूत्र[10] भी लौकिक अर्थों से शब्दों का कोई वास्तविक सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता। परन्तु यह तो विचित्र तर्क है। जिस प्रकार आघ्रात या स्पृष्ट मोदक से क्षुधानिवृत्ति नहीं होती, भुक्त मोदक से ही होती है; दृष्ट अग्नि से नहीं, स्पृष्ट अग्नि से प्रदाह होता है, उसी प्रकार श्रुतप्रतीत वस्तुओं से भी प्रदाहादिकार्य नहीं होते। और जिसने शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के साथ अपनी इच्छा-शक्ति पर भी अच्छा नियन्त्रण कर

१. नवेति विभाषा, १।१।४३।
२. पस्पशाह्निक।
३. सूत्र १।१।४५ पर।
४. निरुक्त २।१।
५. मीमांसासूत्र १।३।८ की टीका।
६. वाक्यपदीय, २।१२५।
७. १।३।३४, ३।१।१७, ३।२।२३
८. १।२।४५; १।२।५६; १।३।१५।
९. वाक्यपदीय, २।४२५।
१०. २।१।५३।

लिया है, उसकी इच्छा-शक्ति इतनी विकसित हो जाती है कि वह 'मोदक' शब्द का उच्चारण करके भी मोदक की मिठास का अनुभव कर लेता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि यदि प्रत्येक शब्द का अर्थ कोई वस्तु ही रखा जाय तो 'खरहे का सींग' जैसा शब्द बोला ही नहीं जाय; क्योंकि यह कोई वस्तु नहीं। जैसे आकाशकुसुम को कोई नहीं सूँघता, वैसे ही इस शब्द को कोई बोले भी नहीं। इसीलिए वाक्यपदीय[1] की टीका में पुण्यराज ने कहा है कि "बुद्ध्युपारूढ एव शब्दस्यार्थो, न बाह्यः"। वस्तुतः व्यवहार में बहुत-से ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो कहीं प्राप्त नहीं; स्वर्ग-नरक, इन्द्र-वरुण आदि। देव, भूत, प्रेत, पिशाच, भक्त, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा, डायन, देवदूत आदि शब्दों का अर्थ तो बिलकुल कल्पना-प्रसूत ही है न। और सरकार आदि शब्द भी तो प्रायः ऐसे ही हैं। क्या समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद, विश्वबन्धुत्व आदि शब्द डपोरशंख-मात्र नहीं हैं?

एक और झमेला है। जिस प्रकार बुद्धिबहिर्भूत लोकप्राप्त वस्तुओं, अर्थों से नहीं, बुद्धिस्थ अर्थों से शब्दों का सम्बन्ध है, उसी प्रकार श्रोत्रगृहीत शब्दों से भी अर्थों का कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थ का आश्रय भी श्रूयमाण ध्वन्यात्मक शब्द नहीं, बुद्धिस्थ शब्द ही है। घड़ा-रूप अर्थ को घट यह ध्वनि नहीं कह सकती, घट-ध्वनि तो घटक, संघटन आदि शब्दों में भी श्रुत है, किन्तु वहाँ घड़ा-रूप अर्थ की प्रतीति कहाँ होती है? और यदि घ् अ ट् अ इस अन्यूनानतिरिक्त आनुपूर्वी में ही घड़ा-रूप अर्थ-बोधन की क्षमता मानी जाय, तो पट, कट, भट, नट आदि में भी अट ध्वनि के तुल्य होने से पाँचों के अर्थ में ७५ प्रतिशत तो समानता रहती, २५ ही प्रतिशत भेद रहता, जैसे एक कपड़े से बने कुर्त्ता, कमीज, बुशशर्ट आदि में? किन्तु इनके अर्थ में कोई समानता नहीं है। यदि ७५ प्रतिशत सोने में २५ प्रतिशत ताँबा मिलाकर एक हार बनायें, चाँदी मिलाकर दूसरा और पीतल मिलाकर तीसरा, तो तीनों में अवश्य ही सादृश्य अधिक होगा, वैसादृश्य कम। साथ ही 'घट' में से 'घ्' मात्र निकाल देने पर भी 'अट' मात्र कहने से घट अर्थ की कुछ भी प्रतीति हो जाती। हार का एक अंश काट देने पर भी वह हार ही रह जाता है, चाहे जितना विकृत हो। फिर यह भी प्रश्न है कि घट-रूप अर्थ की आश्रयता घ् अ ट् अ—इन चारों वर्णों में प्रत्येक वृत्ति या समुदाय-वृत्ति है? प्रत्येक वृत्ति तो असम्भव है। जब 'अट' इन तीन वर्णों से घट की प्रतीति नहीं होती, तो भला 'घ्' आदि एक वर्ण से क्या होगी? यदि प्रत्येक वर्ण में थोड़ी भी अर्थवत्ता रहती तो सिंह, बनारस, नखनऊ, अरमूद आदि में वर्ण-व्यत्यय से, हतः घ्नन्ति आदि में वर्ण के नाश और आदेश से, लविता आदि में वर्ण के आगम से कुछ तो अर्थ में परिवर्त्तन होता। और यदि प्रत्येक वर्ण अनर्थक है, "न कूप सूप[2] यूपानामन्वयोऽर्थस्य विद्यते, अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते" का सिद्धान्त मानें तब भी यह सम्भव नहीं लगता कि अनर्थक व्यष्टियों की समष्टि सार्थक हो जाय, बालू की अपार राशि भी तेल नहीं दे सकती। मदिरा, रथ आदि में जिस प्रकार प्रत्येक अंग में अनर्थकता है, किंतु उनके

---

१. २।१३४।

२. ह य व र ट् सूत्र का भाष्य।

योग में सार्थकता है, यह उदाहरण यहाँ लागू नहीं हो सकता। उनमें से एक अवयव निकालकर उससे भिन्न पर उसके सदृश दूसरा कुछ भी मिला देते हैं तो उनमें कुछ-न-कुछ सार्थकता हो जाती है। बुरी तरह से ही सही मदिरा और रथ का काम तो चला जाता है। पर कूप में से प् हटाकर यदि कोई भी दूसरा वर्ण मिला दें तो कूप का अर्थ कभी नहीं निकल सकता, थोड़ा भी नहीं। और यदि समुदाय में किसी भाँति अर्थवत्ता स्वीकार भी कर लें तो मदन-दमन, साम-मास आदि युग्म को समानार्थक होना चाहिए; क्योंकि दोनों में तुल्य वर्णों का ही समूह है। टघ से भी घट का अर्थ निकलना चाहिए। यदि घ् अ ट् अ—इस क्रम में ही घड़ा-रूप अर्थ की आश्रयता मानें तब भी संघटन, घटक आदि में उसी क्रम से स्थिति के कारण घड़ा-रूप अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। यदि घ् अ ट् अ—इस आनुपूर्वी में, न कम वर्णों, न अधिक वर्णों, न भिन्न क्रमवाले वर्णों के समुदाय में ही घट-रूप अर्थ की बोधनशक्ति मानें तो यह प्रश्न खड़ा होता है कि यह आनुपूर्वी, अनेक वर्णों का एक काल या देश में अस्तित्व, कैसे प्राप्त होगा? रथ और मदिरा में तो एक काल और देश में सभी अवयव प्राप्त हैं, अतः उस समुदाय में सार्थकता मानी जा सकती है। घट में जब घ् के बाद में अ का उच्चारण करते हैं, उस समय घ् की ध्वनि नष्ट हो जाती है; जब ट् का उच्चारण करते हैं, उस समय घ् के साथ अ की भी ध्वनि नष्ट रहती है, और जब फिर चतुर्थ ध्वनि अ का उच्चारण करते हैं उस समय घ्, अ तथा ट् तीनों ध्वनियाँ अविद्यमान रहती हैं। इन चारों ध्वनियों का समुदाय, कभी प्राप्त ही नहीं हो सकता; क्योंकि ध्वनि अनित्य[1] है। यदि यह कहें कि अन्तिम वर्ण की उच्चरित ध्वनि तथा पूर्व वर्णों की स्मृत ध्वनियों के मेल से तैयार हुई समुदाय की आनुपूर्वी में ही अर्थवत्ता मानी जायगी[2], तो कई सन्देह उठते हैं। इनमें से किसी एक वर्ण की स्मृति नहीं भी हो सकती है, किसी पूर्वोच्चरित भिन्न वर्ण की ही स्मृति बीच में टपक पड़ सकती है, स्मृति के समय इन वर्णों का क्रम भी उलट-पलट सकता है, या इनके आगे-पीछे दूसरे वर्णों की स्मृति ही जुड़ सकती है, और आनुपूर्वी नष्ट हो सकती है। इसलिए यह समाधान ठीक नहीं। ऐसी स्थिति में वैयाकरणों का यह कहना ठीक लगता है कि घट-रूप अर्थ का आश्रय 'घट' यह ध्वनि नहीं, किन्तु उससे व्यक्त घट का पदस्फोट है।

स्फोट :

डॉक्टर कपिलदेव द्विवेदी ने अपने 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' में लिखा[3] है—"प्रत्येक वाचक शब्द में दो शब्दों की सत्ता रहती है। पतंजलि के शब्दों में उन्हें स्फोट और ध्वनि कहते हैं। इनमें से ध्वनि प्रकाशक है; क्योंकि ध्वनि के द्वारा पद या वाक्य-

१. स्फोट की सत्ता अस्वीकार करनेवाले नैयायिकों के 'योग्य विभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवृत्तिविशेष गुणनाश्यत्वनियमः" के सिद्धान्त से। "अव्याप्यवृत्ति-क्षणिको विशेष गुण इष्यते" कारिकावली-२७।

२. यह सिद्धान्त नैयायिकों का ही है। दे०—मुक्तावली, शब्दखण्ड।

३. पृ० २२७।

रूप श्रवण-बोधक अर्थ का प्रतिपादन करता है। स्फोट ध्वनि के द्वारा प्रकाश्य है। ध्वनि के सुनने पर स्फोट की अभिव्यक्ति होती है और स्फोट से अर्थज्ञान होता है। इस प्रकार प्रत्येक वाचक शब्द में स्फोट और ध्वनि—ये दो प्रकार के शब्द रहते हैं। ध्वनि स्थूल शब्द है, जो कि विनश्वर है। यह इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होकर सूक्ष्म शब्द स्फोट को व्यक्त करता है। स्फोट नित्य होने के कारण अर्थ को प्रकट करता है।" किन्तु यह उक्ति भ्रान्त और अपूर्ण है। वैखरी नाद-रूप ध्वनि से स्फोट की व्यंजना नहीं होती, अपितु मध्यमा नाद से होती है। बैखरी नाद, अभिनय, संकेत अथवा लिपि आदि वक्ता या श्रोता में पहले मध्यमा नाद (मानस उच्चारण) उत्पन्न करते हैं और मध्यमा नाद से स्फोट अभिव्यक्त होता है, फिर उससे अर्थबोध होता है। नागेश ने स्फोट-विचार में 'परम-लघुमंजूषा, में लिखा है, "अत्रेदं बोध्यम्, केनचिद् घटमानयेति वैखरीनादः प्रयुक्तः, स केनच्छ्रोत्रेन्द्रियेण गृहीतः, स नाद इन्द्रिय द्वारा बुद्धिहृद्गतस्सन् अर्थबोधकं शब्दं स्वनिष्ठ कत्वादिना व्यंजयति तस्मादर्थबोधः। स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्या स्फोटः। उच्चारयितुस्तु युगपदेव मध्यमावैखरीभ्यां नाद उत्पद्यते। तत्र वैखरीनादो वह्नेः फूत्कारादिवन्मध्यमा-नादोत्साहकः, मध्यमानादः स्फोटं व्यंजयति इति शीघ्रमेव ततोऽर्थबोधः, परस्य विलम्बेनानु-भवसिद्धत्वात्।" उससे थोड़ा ही पूर्व नागेश ने एक जगह और कहा है—"युगपदेव मध्यमावैखरीभ्यां नाद उत्पद्यते, तत्र मध्यमानादोऽर्थवाचक स्फोटात्मक शब्दव्यञ्जकः। वैखरीनादो ध्वनिः, सकलजनश्रोत्रमात्रग्राह्यो भेर्यादिनादवन्निरर्थकः। मध्यमानादश्च सूक्ष्मतरः कर्णपिधाने जपादौ च सूक्ष्मतरवायु व्यङ्ग्यः शब्दब्रह्मरूपस्फोट व्यञ्जकश्च", परन्तु यह ठीक नहीं है। 'उत्पल-शतपत्र-भेदन न्याय' से ही मध्यमा तथा वैखरी समुद्भूत नादों में यौगपद्य की प्रतीति होती है। वास्तव में मध्यमा नाद की उत्पत्ति पहले होती है, यह तो सर्वथा स्पष्ट है। नागेश ने स्वयं इन दोनों वक्तव्यों के पूर्व कहा है—"तत्र मूला-धारस्थ पवन संस्कारीभूता मूलाधारस्था शब्दब्रह्मरूपा स्पन्दशून्या विन्दुरूपिणी परा-वागुच्यते। नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता मनोगोचरीभूता पश्यन्ती वागुच्यते। एतद् द्वयं वाग्ब्रह्म योगिनां समाधौ निर्विकल्पक-सविकल्पक ज्ञान-विषय इत्युच्यते। ततो हृदयपर्यन्तभागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता तत्तदर्थवाचक स्फोटरूपा श्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा जपादौ बुद्धि निर्ग्राह्या मध्यमा वागुच्यते। तत आस्यपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनोर्ध्वमाक्रामता च मूर्धानमाहत्य परावृत्य च तत्तत्स्थानेष्वभिव्यक्ता परश्रोत्रेणापि ग्राह्या वैखरी वागुच्यते।" यहाँ स्पष्ट ही नागेश ने स्वीकार किया है कि मूलाधारस्थ पवन से परा की व्यंजना होती है, फिर वह पवन ऊपर की तरफ चलकर नाभि-पर्यन्त आता है, जिससे पश्यन्ती वाक् की अभिव्यक्ति होती है; तब वह पवन हृदय-पर्यन्त आता है, जिससे मध्यमा वाणी की व्यंजना होती है। फिर वह मुख तक आकर सिर से टकरा-कर कण्ठ आदि स्थानों में होकर बाहर निकलती है, जिससे वैखरी नाद की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ एक बार मध्यमा के लिए 'तत', दूसरी बार वैखरी के लिए 'ततः' का प्रयोग कर नागेश स्पष्ट स्वीकार कर रहे हैं कि मध्यमा नाद पूर्वकालिक तथा वैखरी

उत्तरकालिक है। इसलिए बाद में दो स्थानों पर नागेश का उन्हें युगपत् मानना ठीक नहीं। हाँ, उत्पलशतपत्रभेदनन्याय से यौगपद्य की बात कहते हों तो सही है। अर्थात् दोनों नादों में इतने कम समय का अन्तर है कि वह साधारणतः ग्राह्य नहीं है। इस प्रसंग में नागेश ने एक और पूर्वापरविरुद्ध-कथन किया है। वे उपर्युक्त अनुच्छेद में मध्यमा वाणी को स्फोटरूपा कह देते हैं और आगे स्वयं उद्धरण देते हैं—वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः, मध्यमया कृतो नादः स्फोट व्यञ्जक उच्यते'' अर्थात् मध्यमा स्फोट-रूप नहीं, स्फोट का व्यंजक है। नागेश ने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि वक्ता का वैखरी नाद श्रोता का श्रवणगोचर होकर किस प्रकार उसमें (श्रोता में) स्फोट की व्यंजना करता है। अर्थात् श्रोता के अर्थबोध की एक सीढ़ी छूट गई है। मेरी समझ से वक्ता तथा श्रोता दोनों के अर्थबोध का क्रम निम्नलिखित है—यदि वक्ता को कहना है, 'घड़ा लाओ', तो उसकी आत्मा बुद्धि से परामर्श कर मन को यह कहने के लिए प्रेरित करती है। मन प्राणवायु को इस उच्चारण के लिए प्रेरित करता है। इसीलिए वाक्यपदीय ने शब्द का मूल उत्स बुद्धि तथा प्राण दोनों को कहा है, अर्थ-रूप शब्द का स्रोत बुद्धि है और वाक्रूप का प्राण—'तस्य प्राणे च[1] या शक्ति र्याच बुद्धौ व्यवस्थिता'। हरिवृषभ ने इसकी व्याख्या की है: "शब्दः प्राणाधिष्ठानो बुद्ध्यधिष्ठानश्च, द्वाभ्यां प्राणबुद्धिशक्तिभ्यामभिव्यक्तोऽर्थं प्रत्याययति''। मन से प्रेरित पवन. मूलाधारचक्रस्थ पवन, संस्कारक परारूप वाणी 'घटम् आनय' अभिव्यक्त करता है। तब यह पवन कुछ ऊपर उठकर नाभि प्रदेश के पास पश्यन्ती ध्वनि 'घटम् आनय' यह अभिव्यक्त करता है। इन दोनों का अनुभव साधारण वक्ता को भी नहीं होता। कुछ और ऊपर उठे हुए उस पवन से हृदय-प्रदेश के पास मध्यमा नाद अभिव्यक्त होता है—'घटम् आनय'। इस मध्यमा नाद से एक तरफ स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, दूसरी ओर वैखरी नाद की। यह वैखरी वक्ता के लिए अधिक उपयोगी नहीं। वक्ता के हृदय में मध्यमानाद से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, और स्फोट से अर्थ की। यह स्फोट ही अर्थ का आश्रय है। यह स्फोट चूँकि ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए उसमें स्वतः कत्व, खत्व आदि वर्ण-धर्म नहीं हैं। वह एक है, अखण्ड है, नित्य है। वैयाकरणों की भाषा में यही बौद्ध शब्द है। इससे प्रतीत अर्थ भी बौद्ध ही होता है। ऊपर बताया जा चुका है कि शब्द से वास्तविक लौकिक अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता, अन्यथा शर्करा शब्द के उच्चारण से माधुर्य का तथा वह्नि के उच्चारण से दाह का अनुभव होने लगे, जैसे इनका प्रत्यक्ष क्रमशः रसना तथा त्वचा से होता है। साथ ही अप्सरा, देवता, वरुण, इन्द्र, शशशृंग आदि शब्दों का कोई अर्थ ही न हो; क्योंकि ये बाह्य पदार्थ ही नहीं, आन्तर कल्पना-मात्र हैं। स्फोटात्मक बुद्धिस्थ (आन्तर) शब्द ही आन्तर अर्थ (बाह्य नहीं) को ही प्रकट करता है। यह बात नागेश ने मंजूषा में कही है और इन दोनों में अभेद भी माना है 'वस्तुतो बौद्ध एवार्थः शक्यः पदमपि बौद्धम्, तयोरभेदः, न च बौद्धे दाहादि शक्तिमत्वम्''[2]। तथा "शक्यार्थोऽपि बुद्धिसमाविष्ट एव, न तु बाह्यसमाविष्टः''[3]।

---

१. १।११८। २. पृ० ४५। ३. पृ० २३९।

अतः वक्ता के हृदय में घटस्फोट से घट-रूप बौद्ध अर्थ की प्रतीति हो जायगी। तब उस बौद्ध अर्थ से बाह्य अर्थ का अभेदेन प्रत्यक्ष होगा। इधर श्रोता के हृदय में भी वक्ता की वैखरी ध्वनि सुनकर मध्यमा नाद पैदा होगा, उस मध्यमा नाद से स्फोट अभिव्यक्त होगा, उस स्फोट से बुद्धिस्थ अर्थ का प्रत्यक्ष होगा, तथा अन्त में उस बुद्धिस्थ अर्थ से बाह्य अर्थ का अभेदमूलक ग्रहण। इस प्रकार वक्ता की वैखरी, श्रोता का श्रावण प्रत्यक्ष, श्रोता का **मध्यमा नाद,** श्रोता का स्फोट, श्रोता को बुद्धिस्थ अर्थ का ग्रहण, और श्रोता को बाह्य अर्थ का ग्रहण—ये छह सोपान श्रोता के लिए हैं। इसी भाँति मध्यमा नाद—स्फोट—बुद्धिस्थ अर्थ—बाह्य अर्थ, ये चार सोपान वक्ता के अर्थबोध के लिए हैं। ये चार या छह सोपान इतनी शीघ्रता से पार किये जाते हैं कि इनमें क्रम नहीं, यौगपद्य जान पड़ता है। इसका एक और कारण है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी—चार प्रकार के नादात्मक शब्दों; स्फोटात्मक या हृदयस्थ नादहीन शब्द तथा बुद्धिस्थ अर्थ और बाह्य अर्थ—इन पंचविध शब्दों तथा द्विविध अर्थों में अध्यासमूलक अभेद है। अतः ये सभी एक ही हैं। इसीलिए विद्युत् की भाँति इन सबकी अभिव्यक्ति प्रायः समानकालिक ही हो जाती है। डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने अपनी पुस्तक[1] में लिखा है, हरिवृषभ ने एक प्राचीन आचार्य (व्याडि) का वचन उद्धृत किया है कि स्फोट-रूप शब्द अविभक्त है, उसमें विभाग या क्रम नहीं है। जब वह विभाग-युक्त ध्वनियों के द्वारा अभिव्यक्त होता है तब अर्थ का वाचक होता है। बुद्धि में वह स्फोट-रूप शब्द अर्थरूप होकर अभिन्नता को प्राप्त होता है। इसका भाव यह है कि बुद्धि में शब्द और अर्थ तादात्म्यभाव से रहते हैं। बुद्धिगत शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, "अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः, शब्दस्तमार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति"[2]। हरिवृषभ ने व्याडि का एक श्लोक उनके 'संग्रह' ग्रन्थ से उद्धृत किया है कि शब्द और अर्थ में वास्तविक रूप में कोई भेद नहीं है। व्यवहार में उनमें भेद किया जाता है; क्योंकि शब्द और अर्थ में जो तादात्म्य है, वह निश्चित एवं सिद्ध है "शब्दार्थयोरसम्भेदो,[3] व्यवहारे पृथक् क्रिया, यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम्"। भर्तृहरि भी व्याडि के अनुसार ही शब्द और अर्थ को अभिन्न मानते हैं और इन दोनों को एक ही आत्मा के दो रूप बताते हैं, "एकस्यैवात्मनोभेदौ[4] शब्दार्थावपृथक् स्थितौ"। ओटो जेस्पर्सन का कथन[5] है कि 'बालक तथा वयस्क सबकी दृष्टि में दो तत्त्व अर्थात् बाह्य ध्वनि-तत्त्व और आभ्यन्तर अर्थतत्त्व अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध हैं'। आग्डेन रिचर्ड्स ने लिखा है कि "गोम्पेंर्त्स[6] के मत के अनुसार प्रत्येक पूर्णवक्तव्य में हम तीन तत्त्वों का विभाजन कर सकते हैं, ध्वनितत्त्व या शब्द और बोधवस्तु तथा दोनों के बीच सम्बन्ध रूप में विद्यमान अर्थ"।

इस प्रकार व्याडि तथा भर्तृहरि शब्द और अर्थ में वास्तव में अभेद तथा व्यवहार-दृष्टि से भेद मानते हैं। इसके विपरीत नागेश ने शब्द तथा अर्थ में इतरेतराध्यास-मूलक

---

१. पृ० २२७।
२. वाक्य० १।४४।
३. „ १।२६।
४. वाक्य० २।३१।
५. लैंगुएज, पृ० ११३।
६. मीनिंग ऑफ मीनिंग, पृ० २७५।

तादात्म्य माना है, वास्तविक नहीं—'इतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम्[1]।' नागेश ने ही कहा है, तादात्म्यं च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्, अभेदस्याध्यस्तत्वाच्च न तयोर्विरोधः[2]। इस भाँति नागेश का मत भर्तृहरि के ठीक विपरीत है।

वस्तुतः शब्द और अर्थ में भेद ही सही है, शब्द वाचक है, अर्थ वाच्य है। इन दोनों में अभेदग्रह व्यावहारिक है। इन दोनों में ही क्यों, शब्द तथा अर्थ के साथ ज्ञान का भी अभेद व्यवहृत होता है, "अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्, व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्त्तते[3]" तथा "ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते"[4]। जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश को, अपने को तथा पार्श्ववर्त्ती सम्मुखस्थ वस्तुओं को भी प्रत्यक्ष बनाता है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द अपने ज्ञान को, अपने को तथा अपने अर्थ को। अतः ये तीनों भिन्न होते हुए नित्य सहचरित होने से अभेदाध्यवसाय से एक समझे, बोले जाते हैं। जब कहते हैं, 'कहो सीताराम', तब 'सीताराम' शब्द से, जब कहते हैं 'सीताराम को बुलाओ', तब 'सीताराम' नामक किसी व्यक्ति-रूप अर्थ से और जब कहते हैं 'मेरे मन में तो सीताराम था' या 'मैंने समझा सीताराम', तब सीताराम के ज्ञान से तात्पर्य रहता है। लोक-व्यवहार में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का इस प्रकार मिश्रण हो गया है कि अब इनका पृथक्करण भी कठिन हो गया है; जैसे अशिक्षितों के लिए मन, आत्मा, बुद्धि और प्राण एक ही हो जाते हैं। इसीलिए पतंजलि के योगदर्शन में एक सूत्र है, "शब्दार्थ प्रत्ययाना-[5]मितरेतराध्यासात् संकरः, तत् प्रविभाग संयमात् तु सर्वभूतरुतज्ञानम्"। व्यास ने इस-पर लिखा है, "गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानम्, य एषां प्रविभागज्ञः, स सर्ववित्"। बल्कि लिपि से भी शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का अभेद हो जाता है, तभी तो हम कहते हैं, 'लिखो देवदत्त'। परन्तु ये सब अभेदग्रह व्यावहारिक हैं। इन चारों में वास्तव में भेद है। हाँ, जैसे असंप्रज्ञात समाधि में ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय का अभेद माना जाता है, या जैसे अद्वैतवादी विश्व में एक ही तत्त्व मानते हैं, उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से स्फोटद्वैतवादी भी एकमात्र वाग्ब्रह्मरूप स्फोट को ही चरम तत्त्व मानें तब तो शब्द, अर्थ, ज्ञान, लिपि क्या, और भी सभी वस्तुओं का परस्पर अभेद ही सिद्ध होगा। पर वह भाषा-विज्ञान का नहीं, शुद्ध दर्शन का क्षेत्र हो जायगा। शब्द तथा अर्थ का अभेद पाणिनि के वृद्धिरादैच्[6] आदि संज्ञासूत्रों में संज्ञा-संज्ञी में सामानाधिकरण्य से स्पष्ट हो जाता है।

यह शब्द-ब्रह्म-रूपी स्फोट चूँकि एक है, इसलिए परमार्थतः वैयाकरणों का सिद्धान्त है, सति तात्पर्ये सर्वे सवार्थ वाचकाः। कैयट ने कहा[7] है, सर्वार्थ प्रत्यायन

---

१. मञ्जूषा, पृ० २६। अन्यस्मिन् अन्यधर्मावभासः अध्यासः, तन्मूलकं तादात्म्यम्, न वास्तविकम् इत्यर्थः—कुञ्चिका।

२. मञ्जूषा, पृ० ३८।

३. वाक्य०, १।११३।

४. वाक्य०, ३।९६।

५. ३।१७।

६. १।१।१।

७. महाभाष्य में सूत्र १।१।६७ की व्याख्या में, प्रदीप-टीका में।

शक्तियुक्तो हि शब्दः, सर्वशब्दप्रत्याय्यशक्तियुक्तश्चार्थः इति, व्यवहाराय नियमः क्रियते। पुण्यराज ने भी स्वीकार किया है कि 'नास्ति कश्चिन्नियत[1] एकः शब्दस्यार्थः', इस प्रकार किसी शब्द का कोई नियत अर्थ नहीं है, और तात्पर्य रहने पर सब शब्दों के सब अर्थ हैं। व्यवहार में हम सचमुच देखते हैं कि वक्ता का तात्पर्य देखकर कलम-दावात की जगह फाउण्टेनपेन या पेन्सिल और चाय की जगह काफी ही नहीं, नमक की जगह चीनी तक ला देते हैं। प्रायः निम्नलिखित स्थितियों में ऐसा होता है—

(१) वक्ता जिस व्यक्ति या वस्तु को चाह रहा है, वह घर में या सामने नहीं है। यह वक्ता को भी मालूम है, पर अभ्यासवश वह वैसा बोल रहा है। जैसे घर में रामू नहीं, श्यामू है, फिर भी पिताजी पुकारे जा रहे हैं—'रामू-रामू'! रामू तो दो ही दिन पहले दिल्ली चला गया है। यह सुनते ही श्यामू समझ जाता है, पिताजी मुझे पुकार रहे हैं।

(२) कभी ऐसा होता है कि वक्ता जो कार्य चाहता है, उसके लिए कई वस्तुएँ उपयुक्त हो सकती हैं। उनमें वह जिस वस्तु की माँग कर रहा है, उससे अच्छी चीज घर में है। ऐसी हालत में श्रोता वह भी लाकर दे सकता है। जैसे नाखून काटने के लिए छुरी या ब्लेड की माँग सुनकर नेल-कटर; पेन्सिल या कलम-दावात की माँग सुनकर फाउण्टेनपेन लाकर दे देते हैं।

(३) कभी माँगी हुई वस्तु नहीं रहने पर उसका स्थानापन्न कुछ दे देते हैं; जैसे सलाई माँगने पर आग, लाठी माँगने पर कोई लकड़ी आदि।

ऐसी और भी कई परिस्थितियाँ और दृष्टान्त ढूँढ़े जा सकते हैं, जब वक्ता के एक शब्द कहने पर श्रोता परिस्थिति-विशेषवश उसका दूसरा तात्पर्य समझकर दूसरी वस्तु ला देता है; क्योंकि दाढ़ी बनाने के लिए ब्लेड माँगने पर कोई नेल-कटर नहीं लायगा, ब्लेड न होने पर छुरा लायगा या हजाम को बुला देगा। इस प्रकरण, आदि को देखकर किसी भी शब्द का कोई भी अर्थ समझ लिया जाता है, यह प्रतिदिन के व्यवहार में पाया जाता है। तथा देश-काल-भेद से एक ही ध्वनि के अनेक अर्थ होते हैं, अतः एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं—कम, काम, किस आदि शब्दों के अर्थ हिन्दी में कुछ और, अँगरेजी में कुछ और हैं; शरीर, दीन, कलम आदि शब्दों के अर्थ हिन्दी में कुछ और उर्दू में कुछ और हैं।

प्रतिभा :

एक और बात है। सभी शब्दों के सभी अर्थ तो होते ही हैं, साथ ही किसी भी शब्द का अर्थ सबकी दृष्टि में एक ही नहीं है। एक हिन्दू की दृष्टि में 'शिवाजी' का अर्थ है—'गो ब्राह्मण प्रतिपालक, राष्ट्ररक्षक, वीरशिरोमणि'; गाय का अर्थ है—'पवित्र, पूजनीय, मातृवत् पालनीय, देवपशु'; गंगा का अर्थ है—"प्रातःस्मरणीय, पतितपावनी, देवनदी'; पीपल का अर्थ है—'पवित्र देववृक्ष' आदि। परन्तु मुसलमानों-ईसाइयों की

१. वाक्य०, २।१३६।

दृष्टि में ? जिन लोगों ने टेलीविजन, टेलीप्रिण्टर आदि का कभी उपयोग नहीं किया है, न्यूयार्क, लन्दन, टोकियो, कलकत्ता, बम्बई जैसा शहर कभी नहीं देखा है, वे इन शब्दों का पूरा महत्त्व कभी नहीं समझ सकते। छोटे बच्चे तसवीर में किसी भी युवती को देखकर 'माँ' कहते हैं, पर युवक जन ? ईश्वर, धर्म आदि का अर्थ हर आदमी अलग ही समझता है, "यं शैवाः समुपासते शिव इति, ब्रह्मेति वेदान्तिनः" की कहावत है। यहाँ तक कि प्रत्येक शब्द का अर्थ भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि के अनुकूल पृथक्-पृथक् ही समझता है। इसी अनन्तविध समझ का नाम भाषाविदों ने प्रतिभा रखा है। वाक्यपदीय में इसी के विषय में कहा है, "वक्त्रान्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु, स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते।"[१] पुण्यराज ने इसी का समर्थन करते हुए कहा है, "प्रतिनियतवासनावशेनैव प्रतिनियताकारोऽर्थः, तत्त्वतस्तु कश्चिदपि नियतो नाभिधीयते"। कालभेद से भी अर्थ-भेद होता है। बचपन में बहुत-से शब्दों का हम जो अर्थ समझते थे, वह आज नहीं समझ रहे हैं, आज हम अवतार, स्वर्ग-नरक, देव-दानव, पूजा, धर्म, पाप-पुण्य का कुछ दूसरा ही अर्थ लगाते हैं। युगभेद का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। आज से १० वर्ष पहले चीन का हमारे लिए जो अर्थ था, वह आज नहीं रह गया है। काँगरेस, नेता आदि शब्दों का अर्थ भी बहुत बदल गया है। युद्ध का अर्थ आदिकाल में था—घूसे, नाखून, पैर, दाँत और पेड़ की शाखाओं से लड़ना, और आज वातानुकूलित प्रकोष्ठ में बैठकर स्वचालित अणुबम का वायुयान भेज देना। व्यक्तिभेद से एक ही समय एक ही वस्तु के भी अनेक अर्थ हो सकते हैं। एक जूही फूल का अर्थ प्रकृतिप्रेमी एक समझता है, साहित्यिक दूसरा, वैज्ञानिक तीसरा[२]। हिमालय भारतीयों के लिए चीनी आक्रमण में सहायक है, चीनियों के लिए प्रतिबन्धक। वाक्यपदीय ने ठीक ही कहा[३] है, 'एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक्, कालान्तरेण वैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः। जिस प्रकार एक लाल रंग के ही छायाभेद से तथा और वर्णों के ईषत् मिश्रण से शतशः रंग बन जाते हैं, फिर भी हम स्थूल दृष्टि से अथवा व्यवहार की सुविधा से एक 'लाल' नाम से ही काम लेते हैं, उसी भाँति घट-रूप या वस्तु के स्वतः वर्ण, आकृति, परिमाण आदि के भिन्न होने पर भी हम सब उसे घट ही कहकर पुकारते हैं। जिस प्रकार बुद्धिस्थ शब्द के लिए भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने 'स्फोट' की कल्पना की, उसी प्रकार बुद्धिस्थ अर्थ के लिए 'प्रतिभा' की। जैसे शब्द-विषयक सारी शंकाओं का समाधान स्फोट के अंगीकार से किया गया है, उसी प्रकार अर्थ-विषयक अनुपपत्तियों का समाधान प्रतिभा के स्वीकार से। किन्तु वाक् तथा अर्थ के चरम सत्य स्फोट

---

१. २।१३७।

२. वाक्य०, २।१३६ की व्याख्या में।

३. अपने अत्यन्त प्रिय व्यक्ति के दिवंगत होने पर यह सारा संसार कैसा दीखता है, तथा चिराभिलषित प्रेयसी की प्राप्ति पर कैसा, यह सहृदय-संवेद्य है।

४. २।१३८।

तथा प्रतिभा, ये दोनों विभिन्न व्याख्याताओं के हाथ में पड़कर ब्रह्म की तरह ही अव्याख्येय, विरोधाभासपूर्ण और रहस्यात्मक बन गये हैं। इनका नये सिरे से वैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए।

ध्वनितत्त्व या ध्वनि-जाति :

ऊपर जिस प्रकार बताया गया है कि एक ही अर्थ या वस्तु ग्रहीता तथा देशकाल आदि के भेद से भिन्न रूप, आकृति आदिवाली प्रतीत होती है, उसी भाँति एक ही शब्द उच्चारण-कर्त्ताओं तथा श्रोताओं और देशकाल, परिस्थिति आदि के भेद से भिन्न ध्वनि-वाला सुनाई पड़ता है। जैसे एक ही मुख विभिन्न आकृतिवाले दर्पणों के कारण विभिन्न आकृतिवाला, एक ही जल विभिन्न वर्ण के काँच के बरतनों में रखा जाकर विभिन्न रंग-वाला बन जाता है, उसी भाँति एक ही 'क' विभिन्न ध्वन्युत्पादक अवयवों वाले मनुष्यों से उच्चरित होकर, विभिन्न ध्वनिग्राहक अवयवों वाले मनुष्यों से श्रुत होकर, नाद की सूक्ष्म अनेकविधता (shades) को धारण करता है। भारतीयों ने उस शत-सहस्रविध 'क' को ग्रहण करने के लिए एक कत्व जाति की कल्पना की है। जिस प्रकार विभिन्न मनुष्यों, गौओं, चींटियों, आमों आदि में वैयक्तिक विभिन्नता रहने पर भी एक मनुष्यत्व, गोत्व, आम्रत्व आदि जातियों की कल्पना से व्यवहार चलता है, उसी भाँति विभिन्न 'क' ध्वनियों में परस्पर अन्तर होने पर भी हम उन सबको 'क' ही कहकर पुकारते हैं। पाश्चात्त्य भाषाशास्त्री उसे 'फ़ोनीम' (phoneme) कहते हैं। श्रीभोलानाथ तिवारी अपने 'भाषाविज्ञान'[1] में लिखते हैं—"कमलाकर कान्त की कहानियाँ सुन्दर हैं" वाक्य में 'क' भाषाध्वनि ५ बार आई है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो उस वाक्य को कहनेवाला इन पाँचों 'क' का उच्चारण भिन्न-भिन्न ढंग से करेगा। इतना ही नहीं, वह केवल 'कान्त' शब्द ही ५ बार कहे तो पाँचों बार 'क' का उच्चारण ५ प्रकार से होगा। इस तरह शास्त्रीय दृष्टि से 'क' के ये भिन्न-भिन्न रूप अलग-अलग भाषाध्वनियाँ हैं, किन्तु व्यवहार की दृष्टि से इनको एक माना जाता है, और इन सबके लिए एक ही लिपि-चिह्न 'क' का प्रयोग होता है। ये 'क' भाषाध्वनियाँ 'क' ध्वनि-श्रेणी, ध्वनितत्त्व (phoneme) या ध्वनिग्राम कहलाती हैं; क्योंकि इसके अन्तर्गत 'क' के उपर्युक्त अनेकों रूप आ जाते हैं। ध्वनितत्त्व (phoneme) मिलती-जुलती अनेक भाषा-ध्वनियों (जैसे ऊपर की अनेक भाषा-ध्वनियाँ) की प्रतीक एक वह ध्वनि है, जिसका खण्ड न हो सके। मेरी समझ से पाश्चात्त्य भाषाविदों को फ़ोनीम की तरह एक स्क्रिप्टीम भी मानना चाहिए; क्योंकि जिस प्रकार विभिन्न व्यक्ति-कृत अथवा एक ही व्यक्ति द्वारा विभिन्न कालकृत 'क' ध्वनि में वैसादृश्य होने से एक 'क' फ़ोनीम की कल्पना आवश्यक है, उसी प्रकार विभिन्न देश, काल, लेखक आदि लिखित 'क' लिपि में भी वैसादृश्य होने से एक क 'स्क्रिप्टीम' मानने की आवश्यकता है। कोई 'क' छोटा होगा, कोई बड़ा, कोई गोला, कोई लम्बा आदि। भारतीयों ने तो कत्व, खत्व आदि जातियाँ मान ली हैं, इससे

१. द्वितीय संस्करण, पृ० १९० ।

काम चला जाता है। पाणिनि ने भी वर्णों में जाति मानकर 'अ' से सर्वविध 'अ' का ग्रहण कराया है। 'अणुदित् सवर्णस्य[1] चाप्रत्ययः' के भाष्य में पतंजलि के "सवर्णेऽण् ग्रहणमपरिभाष्यम्। कुतः ? आकृतिग्रहणात्। अवर्णाकृतिरुपदिष्टा, सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति", पर कैयट ने प्रदीप में कहा है—"प्रत्याहारे अनुवृत्तिनिर्देशे च सर्वत्र जातिरुपदिश्यते, नान्तरीयकं व्यक्त्युच्चारणम्। अत्वं च ह्रस्व दीर्घ प्लुतेषु विद्यते, यथा गोत्वं कृशे गोपिण्डे, स्थूले, कृष्णे, शुक्ले चेति भावः"। स्वरों में तो जातिपक्ष नहीं मानें तो 'अणुदित्०' को विधिसूत्र मानकर काम चल जायगा, किन्तु वस् धातु के लुङ् लकार अन्यपुरुष द्विवचन में अवस्+स्+ताम्— अवास्+स्+ताम् में 'सस्यार्धधातुके'[2] से धातुस्थ स् के त् होने पर अवात्+स्+ताम्—यहाँ स् (सिच्) का 'झलो[3] झलि' से लोप कैसे होगा ? झल् प्रत्याहार में तो कोई एक ही त् व्यक्ति होगा, स् से पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती। फिर झल् के बाद आये सिच् के सकार का झल् के परे रहने पर ही लोप-विधान करनेवाला सूत्र यहाँ कैसे प्रवृत्त होगा ? अतः व्यक्तिपक्ष मानने पर अवात्ताम, अवात्तम्, अवात्त आदि रूप नहीं बनेंगे। यह उसी सूत्र के भाष्य में दिखाया गया है। इसलिए सब जगह वर्णों में जातिग्रहण ही संस्कृत-वैयाकरणों को अभिप्रेत है। जिस प्रकार गोत्व-पशुत्व-प्राणित्व आदि अवान्तर जातियाँ क्रमशः व्यापकतर होती हुई अन्त में परसामान्य या परम जाति में लीन हो जाती हैं "सकल जात्यपेक्षया सत्ताया[4] अधिकदेशवृत्तित्वात् परत्वं, तदपेक्षया चान्यासां जातीनामपरत्वम्", उसी प्रकार वर्ण व्यक्ति, वर्ण जाति आदि सभी अन्त में स्फोट में लीन हो जाते हैं। इसी भाँति स्थूल, कृशादि गो-रूप विभिन्न अर्थ अन्त में प्रतिभा में लीन होते हैं। चरम सत्य शब्द की ओर स्फोट तथा अर्थ की ओर प्रतिभा ही है। केवल ध्वनितत्त्व मानने से काम नहीं चल सकता।

ध्वनि का संवहन :

वक्ता की ध्वनि श्रोता के पास पहुँचती कैसे है, इसपर भी भारत में यथासम्भव विचार हुआ है। पतंजलि ने तो महाभाष्य के दूसरे आह्निक में 'अइउण्' की व्याख्या के अवसर पर इतना ही कहा है: "श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः"। किन्तु इतने से ही यह स्पष्ट है कि सार्थक या निरर्थक कोई भी ध्वनि आकाश में ही होती है, और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही गृहीत होती है। पर मुक्तावली, तर्कसंग्रह आदि ग्रन्थों में यह भी विवेचना की गई है कि ध्वनि उत्पत्ति-स्थल से ग्रहण-स्थल तक पहुँचती कैसे है। वैसे तो यह भौतिक शास्त्र का विषय है, परन्तु शब्द पर विचार करनेवाले भारतीय मनीषियों ने इस प्रसंग पर भी विचार किया है, यद्यपि उन्हें आधुनिक वैज्ञानिक साधन उपलब्ध नहीं थे। मुक्तावली में गुणनिरूपण प्रकरण[5] में कहा गया है "सर्वः शब्दो नभोवृत्तिः, श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते; वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्त कीर्त्तिता। कदम्ब-गोलक

१. १।१।६८।
२. ७।४।४९।
३. ८।२।२६।
४. मुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड, कारिका ८।
५. कारिका १६५-६६

न्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन् मते"। अर्थात् जहाँ पहली सार्थक या निरर्थक ध्वनि उत्पन्न होती है, वहाँ से उस मूल ध्वनि से उत्तरोत्तर ध्वनितरंग पैदा होती चारों दिशाओं में बढ़ती जाती है, और आकर फिर श्रोत्रेन्द्रिय में टकराने से उसका ग्रहण होता है।

पतंजलि का अर्थविचार :

पतंजलि ने शब्द के स्वरूप पर तीन दृष्टियों से विचार किया है—(१) सर्वप्रथम पस्पशाह्निक के आरम्भ 'अथ शब्दानुशासनम्' की व्याख्या में यह प्रश्न उठाया है कि "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः, किं यत् तत् सास्ना लाङ्गूल ककुद खुर विषाण्यर्थरूपं स शब्दः ? नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्। यर्त्तहि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः ? नेत्याह। क्रिया नाम सा। यर्त्तहि तच्छुक्लो नीलः, कपिलः, कपोतः इति स शब्दः ? नेत्याह। गुणो नाम सः। यर्त्तहि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः ? नेत्याह। आकृतिर्नाम सा। कस्तर्हि शब्दः ? येनोच्चारितेन सास्ना लाङ्गूल कुकुद खुर विषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थको ध्वनिः शब्द इत्युच्यते, तद्यथा शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते, तस्माद् ध्वनिः शब्दः"। यहाँ स्पष्ट ही पतंजलि ने शब्द का अर्थ द्रव्य, क्रिया, गुण अथवा जाति-रूप पदार्थ नहीं मानकर ध्वनि माना है। शब्द के साथ कृ धातु का प्रयोग होता है, शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकारी अयं माणवकः, और यह करण (करना) किसी पदार्थ के लिए नहीं, ध्वनि के लिए ही व्यवहृत होता है। पाणिनि ने भी "शब्द वैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे" से शब्दं करोति अर्थ में शब्दायते की निष्पत्ति बताकर यही अभिप्राय प्रकट किया है, जिसका पतंजलि ने पल्लवन कर दिया।

डॉ० सुभद्र झा का कहना है कि 'अथवा प्रतीतपदार्थको ध्वनिःशब्दः' इस पतंजलि-वाक्य में अथवा + प्रतीत ऐसा नहीं, अथवा + अप्रतीत ऐसा पदच्छेद है, अतः दोनों शब्दों को हटाकर अथवा प्रतीतपदार्थ को ध्वनिः ऐसा लिखना मुद्रणाशुद्धि है, सटाकर लिखना चाहिए, बल्कि भ्रम दूर करने के लिए बीच में खण्डाकार दे देना चाहिए (अथवाऽप्रतीत० ऐसा)। झा जी के अनुसार पतंजलि ने इस वाक्य से यह बताया है कि शब्द का अर्थ होता है निरर्थक ध्वनि शब्द (हल्ला) मत करो, यह लड़का बहुत (शब्द) शोर करता है आदि प्रयोग निरर्थक ध्वनि के लिए ही होते हैं, सार्थक के लिए नहीं, अन्यथा अथवा शब्द का यहाँ दूसरा क्या स्वारस्य होगा ? परन्तु मुझे यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। पतंजलि इस वाक्य से केवल यह बता रहे हैं कि लोक में शब्द का अर्थ सुप्रतीत है, लोग शब्द का अर्थ खूब समझते हैं, इसकी परिभाषा देने की आवश्यकता नहीं। शब्द का लोकप्रसिद्ध अर्थ है ध्वनि। जहाँ किसी प्रकार की ध्वनि होती है, वहाँ उसके लिए जनता में 'शब्द' शब्द का व्यवहार होता है। पतंजलि ने यहाँ शब्द के वाच्य-रूप ध्वनि की सार्थकता-निरर्थकता का पहलू लिया ही नहीं है। अथवा शब्द से पतंजलि केवल यह प्रकट करना चाहते हैं कि शब्द के अर्थ के लिए, परिभाषा या लक्षण के लिए, इतना भटकना और चिन्ता क्यों ? लोक में सभी इसका अर्थ समझते हैं। अन्यथा यदि निरर्थक ध्वनि को ही शब्द कहें तो "स्वं रूपं शब्दस्या शब्दसंज्ञा", "वेः शब्द कर्मणः" आदि में अर्थबोध कैसे होगा और स्वयं

पतंजलि 'अथ शब्दानुशासनमिदानीं कर्त्तव्यम्' कहकर सार्थक ध्वनियों के अर्थ में 'शब्द' शब्द का प्रयोग कैसे करेंगे ? वस्तुतः शब्द से उपर्युक्त सूत्रों में सार्थक ध्वनि का तथा 'शब्दवैरकलहाभ्रमकण्वमेघेभ्यः करणे' आदि में निरर्थक ध्वनि का भी ग्रहण होता है। पतंजलि के इस वाक्य में उपक्रम तथा उपसंहार को देखते हुए स्पष्ट ही सार्थक या निरर्थक ध्वनि नहीं, अर्थ-व्यावर्त्य प्रतीत होता है, पतंजलि का आशय है कि शब्द का अर्थ जाति, गुण, क्रिया या द्रव-रूप पदार्थ नहीं, ध्वनि-मात्र है (चाहे वह सार्थक हो या निरर्थक, इसका यहाँ पतंजलि प्रसंग ही नहीं उठाते हैं)। 'तस्माद् ध्वनिः शब्दः', सार्थक ध्वनिः या निरर्थक ध्वनिः नहीं। अर्थात् यहाँ पतंजलि ने नादरूप अनित्य वस्तु को ही शब्द माना है।

(२) फिर थोड़ा ही आगे 'शब्दानुशासनमिदानीं कर्त्तव्यम्'' की व्याख्या में यह प्रश्न उठाया गया है कि 'किं पुनर्नित्यः शब्दः आहोस्वित् कार्यः' ? और इसका उत्तर दिया गया है कि "संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्, नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः, यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यम्, इति''। अर्थात् शब्द नित्य हैं या कार्य, इस विषय पर यहाँ विस्तार से विचार अनावश्यक है। व्याडि ने अपने ग्रन्थ 'संग्रह' में इसपर विस्तार से विचार किया है और वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि शब्द चाहे कार्य हों या नित्य, दोनों ही स्थितियों में शब्दशास्त्र की उपयोगिता है। इस उक्ति से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि व्याडि ने भाषाशास्त्र पर एक विशाल लक्ष श्लोकात्मक ग्रन्थ बनाया था, जो पाणिनि आदि पूर्ववर्त्ती भाषावैज्ञानिकों के सभी मतों का प्रामाणिक संग्रह होने के कारण 'संग्रह' नाम से प्रसिद्ध था, उसमें शब्द की नित्यता आदि भाषावैज्ञानिक सामान्य सिद्धान्तों का भी विस्तार से विवेचन किया गया था। इसे पतंजलि भी प्रामाणिक समझते-मानते थे। दूसरा यह कि भाषा-वैज्ञानिकों के लिए यह प्रश्न उतना उपादेय नहीं कि शब्द नित्य है या अनित्य। यह दर्शन का विषय हो जाता है। भाषाविज्ञान केवल भाषा के प्राप्त आकार-प्रकार का विश्लेषण करता है। अतः पतंजलि भी इसपर अधिक विश्लेषण करना नहीं चाहते।

इसके अनुसार आगे ही यह प्रश्न उठाया गया है कि भगवान् पाणिनि ने शब्द को क्या मानकर अपना व्याकरण बनाया, इसका उत्तर दिया गया है 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'। अर्थात् केवल शब्द ही नहीं, शब्द तथा अर्थ और उन दोनों का सम्बन्ध पहले से सिद्ध मानकर ही पाणिनि ने अपना शब्दशास्त्र बनाया है। यहाँ काफी प्रश्नोत्तर के बाद 'सिद्ध' शब्द का अर्थ नित्य किया गया है; क्योंकि 'संग्रह' में सिद्ध शब्द का प्रयोग कार्य के प्रतिद्वन्द्वी रूप में किया गया है। और लोक में भी देखते हैं कि कोई शब्द का प्रयोग करने के लिए वैयाकरण के पास जाकर शब्द गढ़वाता नहीं, शब्द पहले से ही गढ़े रहते हैं, वैयाकरण केवल यह बताता है कि यह सुशब्द है, यह अपशब्द; यह मूल है, यह उसका विकृत तद्भव आदि। यहाँ सिद्ध का जो नित्य अर्थ किया गया है, वह आपेक्षिक है। नित्य का अर्थ यहाँ अनश्वर नहीं, पूर्वसिद्ध-मात्र है। अर्थात् भाषावैज्ञानिक नये शब्द गढ़कर समाज को नहीं देता, समाजप्रयुक्त पूर्वसिद्ध शब्दों का ही विश्लेषण, परीक्षण-

विवेचन-मात्र करता है।

(३) पर नवाह्निक के अन्त में 'तपरस्तत्कालस्य'[1] की व्याख्या में पतंजलि को स्पष्ट निर्णय देना पड़ा है कि "एवं तर्हि, स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः। कथम् भेर्याघातवत् तद्यथा भेर्याघातः भेरी माहत्य कश्चिद् विंशतिपदानि गच्छति, कश्चित्, त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत्। स्फोटस्तावानेव भवति, ध्वनिकृता वृद्धिः"। यहाँ पर पतंजलि ने स्वीकार किया है कि शब्द का वास्तविक स्वरूप स्फोट ही है, ध्वनि तो शब्द का गुण-मात्र है। पुण्यराज ने इसे ही दुहराया है—स्फोटः शब्दो, ध्वनिः शब्दगुणः[2]।

पाणिनि और स्फोट :

पाणिनि ने 'अवङ् स्फोटायनस्य[3]' सूत्र द्वारा स्फोट-सिद्धान्त के आविष्कर्त्ता मुनि के मत का सम्मान करते हुए संकेत-रूप से इस स्फोटवाद की मान्यता स्वीकार की है। इस सूत्र की व्याख्या में हरदत्त ने काशिका की टीका पदमंजरी में कहा है, "स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः"। नागेश ने भी अपने 'स्फोटवाद' ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है, "वैयाकरण नागेशः स्फोटायन ऋषेर्मतम्, परिष्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयतां जगदीश्वरः"। कपिल द्विवेदी ने इस सूत्र की प्रतीकात्मक व्याख्या कर दी है।

स्फोट और शब्द का स्वरूप :

यद्यपि घट, पट आदि समस्त शब्दों का स्फोट एक ही है, जिसमें अपना कोई वर्णधर्म नहीं, फिर भी घट, पट आदि उपाधियों या व्यंजकों के कत्व, खत्व आदि वर्णधर्म, पृथक्-पृथक् और आनुपूर्वी रूप में समुदित भी उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। अतः विभिन्न स्फोट विभिन्न अर्थों के वाचक बनते हैं। अर्थात् उपाधिभेद से एक स्फोट में भी अनन्तता व्यवहृत होती है; जैसे लाल ग्लास का पानी लाल, पीले का पीला, नीले का नीला आदि कहा जाता है और प्रतीत होता है।

किन्तु, इसमें एक आपत्ति दीख पड़ती है। यदि ध्वनि स्फोट-रूप शब्द का गुण है, तो स्फोट-रूप शब्द गुणाश्रय होने से द्रव्य हुआ। किन्तु यह स्फोट-रूप शब्द पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन से भिन्न क्या दसवाँ द्रव्य है? यह तो उचित नहीं जान पड़ता। अथवा यहाँ गुण का अर्थ धर्म-मात्र है? स्फोट-रूप शब्द धर्मी है, और उसका धर्म है ध्वनि? जैसे रूप में शुक्लत्व, पीतत्व आदि हैं, उसी भाँति शब्द में दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, मधुरत्व, रूक्षत्व आदि तथा कत्व, खत्व आदि हैं? वाक्यपदीय में बताया गया है कि शब्द को कोई वायु, कोई अणु, कोई ज्ञानरूप बताता है—"वायोरणूना ज्ञानस्य[4] शब्दत्वापत्तिरिष्यते"। शिक्षाकार तथा प्रातिशाख्यकार[5] शब्द को वायु का ही परिणाम बताते हैं।

---

१. १।१।७०।
२. ६।१।१२३
३. ६।१।१२३।
४. १।१०७।
५. दे०—शिक्षा और प्रतिशाख्य प्रकरण। शुक्लयजुः प्रातिशाख्य—'वायुः खात्' तथा 'शब्दास्तत्'—१-६ और ७।

भर्तृ हरि ने शिक्षाकारों के मत के अतिरिक्त जैनों और वैयाकरणों के मतानुसार क्रमशः अणु (पुद्गल) और ज्ञान को शब्द बताया है। कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक में और भी कई[1] मत दिये हैं। सांख्यक इसे त्रिगुणात्म शब्दन्तमात्रा कहते हैं, जो प्रायः परमाणु-रूप ही है। नैयायिक-वैशेषिक इसे आकाश का एक गुण-मात्र मानते हैं। मीमांसकों की मान्यता है कि शब्द दो प्रकार के होते हैं—ध्वनिरूप तथा वर्णरूप। दोनों आकाश के ही गुण हैं, पर ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य और वर्णात्मक नित्य होते हैं। दयानन्द ने अपनी पाणिनीय शिक्षा में एक श्लोक दिया है—'आकाश वायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः, स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः', अर्थात् आकाश तथा वायु दोनों से उत्पन्न नाद शरीर से ऊपर उठता हुआ मुख-पर्यन्त आता है। वही विभिन्न स्थानों में पूर्णतः विभक्त होकर जब वर्णत्व प्राप्त करता है तो उसे शब्द कहते हैं। सारांश यह कि सब प्रकार का नाद या ध्वनि आकाश तथा वायु के संयोग से उत्पन्न होती है। वही ध्वनि जब वर्णभावापन्न होती है, तब शब्द कही जाती है। ऋग्वेदीय पाणिनि शिक्षा भी कहती है—"मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। वाक्यपदीय भी 'लब्धक्रियः[2] प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्त्तिना, स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते, व्यजनाद् वायुरिव स स्वनिमित्तात् प्रतीयते' कहकर अपना मत वायु को ही शब्द माननेवालों के पक्ष में प्रकट कर रहा है। इसकी टीका में लिखा है "सूक्ष्मो वायुरिव सर्वमूर्त्तीनामन्तर्बहिश्च ध्वनिरवस्थितः, स एव कैश्चिदाकाश इति पठ्यते। तत्र यथा सूक्ष्मस्य वायोर्व्यजनादभिव्यक्तिः, तथा सूक्ष्मो ध्वनिः स्वनिमित्तैरभिव्यक्त प्रचितविक्रियारूपः श्रोत्रदेशं प्राप्त उपलभ्यत इत्यर्थः", "वक्तुरिच्छेत्यनेन एकस्यैव वायोरनेकरूप शब्दत्वोपपत्तिः"। जब इन लक्षणों के साथ मिलाकर वाक्यपदीय के 'अजस्रवृत्तिर्यः' वाले वक्तव्य को देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ध्वन्यात्मक शब्द को भी नित्य ही मान रहे हैं, यह उपमा से स्पष्ट है। इस श्लोक में स्फोटरूप शब्द का नहीं, ध्वनिरूप शब्द का ही विवेचन है। जिस प्रकार सूक्ष्म वायु सदा अवस्थित रहती है, फिर भी पंखा करने पर उसका रूप स्थूल हो जाने से वह प्रत्यक्ष हो जाती है, अन्यथा कहते हैं, हवा बिलकुल नहीं है। पंखा से हवा पैदा नहीं होती, वह तो केवल उसका घनत्व बढ़ा देता है, जिससे उसके स्पर्श का अनुभव होने लगता है। उसी प्रकार वायु तथा आकाश में सूक्ष्म शब्द भी सदा अवस्थित रहता है, पर शरीर वायु के वक्त्र आदि स्थानों में प्रविभक्त होने से, अथवा घण्टा और लकड़ी का संयोग होने से वह स्थूल श्रव्य रूप धारण करता है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वन्यात्मक शब्द में भी आत्यन्तिक तो नहीं, किन्तु आपेक्षिक नित्यता मानी गई है। पिछले पृष्ठों में यह दिखाया जा चुका है कि पतंजलि ने भी 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' की व्याख्या में ध्वन्यात्मक शब्द की ही आपेक्षिक नित्यता का प्रतिपादन किया है। यास्क ने भी निरुक्त के आरम्भ[3] में शब्द को अनित्य माननेवाले

१. ३१९—२०।
२. १।१०९ तथा ११७।
३. १।१ "इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः''''व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च"०

आचार्य औदुम्बरायण के मत का खण्डन करके अपना मत स्थापित किया है कि शब्द नित्य, व्यापक तथा अणु से भी सूक्ष्म है।

इसके विपरीत कुछ लोग ध्वनि को ही नहीं, स्फोट को भी अनित्य मानते हैं, और स्फोट की परिभाषा ही दूसरी देते हैं। वाक्यपदीय ने इनके मत का उल्लेख करते हुए कहा है: "यः संयोग विभागाभ्यां करणैरुपजन्यते, स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः", अर्थात् कण्ठ, तालु, मूर्धा आदि स्थान और जिह्वा आदि करण के संयोग और विभाग से जो प्रथम नाद उत्पन्न होता है, उसे स्फोट कहते हैं; बाद के जितने शब्दज शब्द हैं, उन्हें ही ध्वनि कहते हैं। 'अन्यैरुदाहृताः' कहकर भर्तृहरि ने स्पष्ट ही इस मत से अपनी असहमति प्रकट कर दी है। यह तो वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त की अच्छी खिल्ली उड़ाई है लोगों ने; उसे ध्वनि से भी अल्पतर कालवृत्ति बना दिया है। वस्तुतः इस सिद्धान्तवाले जिसे स्फोट कहते हैं, वह प्राकृत ध्वनि है, और जिसे शब्दज शब्द कहते हैं, वह वैकृत ध्वनि। इस प्रकार ये दोनों ध्वनि के ही दो भेद हैं; स्फोट कुछ और वस्तु है।

लगता है, कपिलदेव द्विवेदी भी आधुनिक विस्फोट शब्द से इस स्फोट का सादृश्य समझ उपर्युक्त मतवालों के जाल में पड़ गये हैं। वे लिखते हैं कि हमारी सृष्टि के उत्पादक सूर्य में प्रतिक्षण विस्फोट होता रहता है। यह विस्फोट ध्वन्यात्मक है। जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि के परमाणुओं में भी उनके गुण सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान रहते हैं, पर हमारी इन्द्रियाँ उनका ग्रहण नहीं कर पातीं; क्योंकि वे अति सूक्ष्म हैं, उसी प्रकार सूर्य में तथा सूर्य से उत्पन्न इस सृष्टि के कण-कण में, बल्कि सभी ज्योतिष्पिण्डों और उनके ग्रहों-उपग्रहों के कणों में भी प्रतिक्षण ध्वनि होती रहती है। जैसे उनमें रूप है, रस है, गन्ध है, स्पर्श है वैसे शब्द भी है। इस रूप में यह ध्वन्यात्मक शब्द नित्य है। इस सूक्ष्म ध्वनि को हम विशेष यन्त्रों के उपकरणों से सुन भी सकते हैं।, द्विवेदीजी का इस विस्फोट को ही समझना या कहना संगत नहीं लगता। यह सूर्य या किसी भी भौतिक कण का विस्फोट नहीं है, जो किसी पटाखे में होता है। लोक में भी इसी अर्थ में विस्फोट का प्रयोग होता है। वैज्ञानिक भी विस्फोट शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करते हैं। इसका अर्थ है—फूटने का शब्द या ध्वनि। ऐसा शब्द संयोगज नहीं, सदा वियोगज होता है। शब्द या ध्वनि के दो भेद हैं—संयोगज, जो वाद्यों से अथवा वर्णों के उच्चारण से होता है, और वियोगज, जो बाँस आदि के फूटने से होता है। जब कोई भौतिक पदार्थ एक से अनेक टुकड़ों में सहसा परिणत होता है तो ऐसी ही ध्वनि होती है। यदि भौतिक पदार्थ का घनत्व या संश्लिष्टता अत्यधिक है, तो वह पदार्थ टूटते-फूटते समय अधिक जोर का विस्फोट करेगा। यही विस्फोट सूर्य या ऐटम-बम आदि में होता है। इसे ही वैयाकरण-प्रतिपादित स्फोट का महान् रूप कहना हास्यास्पद है। साधारण ध्वनियाँ हमलोगों की चेष्टा से, अर्थात् वस्त्वन्तर के हस्तक्षेप से संयोगज या विभागज होती हैं, पर यह विस्फोट-ध्वनि विना किसी बाह्य चेष्टा या हस्तक्षेप के, विना किसी आघात के, स्वयं भी होती रहती है; क्योंकि भौतिक अणुओं की नित्यगतिशीलतावश सदा उनमें नये-नये वियोग-संयोग होते

रहते हैं। कुछ लोग इस विश्वव्याप्त नित्य ध्वनि को कान मूँदकर सुनते हैं और समझते हैं कि वे अनाहत नाद सुन रहे हैं। वस्तुस्थिति यह है कि शरीर भी किसी कारखाने की भाँति प्रतिक्षण क्रियाशील होकर खट-खट करता रहता है। त्वचा के ध्वनि-रोधक संवरण से हम उस ध्वनि को नहीं सुन पाते, बाहर की ध्वनियाँ भी कुछ प्रतिरोधक हो जाती हैं। कान मूँदने पर वही खटखट आवाज सुन पड़ती है। विस्फोट के कारण प्रतिक्षण गतिशील-ध्वनिशील सूर्य का अंश होने के कारण विश्व का कण-कण सदा गतिशील तथा ध्वनिशील है। इसी अर्थ में ध्वनि को नित्य माना गया है, अर्थात् यह ध्वनि स्वरूप-नित्य नहीं, प्रवाह-नित्य है। सम्भवतः "विन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद् खोऽव्यक्तात्मको भवत्, स एवश्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मे ति गीयते" इस तान्त्रिक मत में इसी स्फोट का निरूपण करते हैं। नागेश भी परावाणी को बिन्दु-रूप मानकर इसे स्वीकार करते हुए-से जान पड़ते हैं।

वैयाकरण-सम्मत स्फोट तो ध्वन्यात्मक है ही नहीं, वह ज्ञानात्मक है—यह वाक्यपदीय के "अथेदमान्तरं ज्ञानं·····················शब्दत्वेन विवर्त्तते" से स्पष्ट है। कपिल द्विवेदी भी कहते हैं : "वैयाकरण शब्द को ज्ञान का परिणाम मानते[1] हैं।" वास्तव में बुद्धिस्थ शब्द का ही दूसरा नाम स्फोट है। इसीलिए एक जगह नागेश ने भी स्फोट को मध्यमानाद-रूप माना है, जो श्रव्य नहीं बोध्य है, किन्तु वर्णात्मक है। मीमांसक भी ध्वनि से व्यङ्ग्य वर्णात्मक नित्य शब्द मानते हैं; यह मध्यमा-सी ही कोई वस्तु है, स्फोट नहीं।

वर्ण, पद तथा वाक्य की तात्त्विकता :

वस्तुतः अर्थ के आश्रय स्फोट की व्याख्या मे बहुत अधिक परस्पर विरुद्धता है, यह पहले कह चुके हैं। किन्तु स्फोट-रूपी शब्द की बात छोड़ भी दें, तो शब्द के विषय में दो परस्पर-विरुद्ध मत रह ही जाते हैं। एक पक्ष, जिसमें मीमांसक, नैयायिक आदि अधिकांश दार्शनिक सम्मिलित हैं, का कहना है कि "तद् वर्ण व्यतिरेकेण पदमन्यन्न विद्यते, वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किञ्चन", अर्थात् वर्ण से भिन्न स्वतन्त्र पद की कोई सत्ता नहीं, पद वर्णसमुदाय-मात्र है, इसी भाँति वाक्य की भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, यह वर्ण-समूहात्मक पदों का समूह-मात्र है। दूसरे पक्ष, जिसमें प्रधान वैयाकरण हैं, की घोषणा है कि "पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव, वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन", अर्थात् न वाक्य में पदों की, न पद में वर्णों की कल्पना तात्त्विक है। जैसे वर्ण में कोई अवयव नहीं होता, वैसे ही पद में कोई वर्ण नहीं, वाक्य में कोई पद नहीं होते। वाक्य ही परम सत्य है। उसके खण्डों की कल्पना पारमार्थिक नहीं, व्यावहारिक है। वस्तुतः यह बिलकुल व्यष्टिवाद और समष्टिवाद का-सा झगड़ा है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए एक उदाहरण ले लें। मान लीजिए, वर्ण हाथ, पैर, आँख, नाक, कान आदि की भाँति हैं। इनका समुदाय पद-शरीर की भाँति और पदों का समुदाय वाक्य एक परिवार की भाँति, तथा वाक्यों का समुदाय महावाक्य

१. पृष्ठ ७४।

एक गाँव की भाँति । जो वर्णवादी हैं, उनका कहना है, जिस प्रकार रथ, खाट, हल, प्राणवान् शरीर आदि के विभिन्न अवयवों के यथास्थान सन्निवेश के अतिरिक्त, इन अवयवों के समुदाय से भिन्न रथ, खाट आदि की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वैसे ही वर्णों के समुदाय से व्यतिरिक्त पद की सत्ता नहीं है । घ् अ ट् अ इन चार वर्णों के इसी क्रम से सन्निवेश के अतिरिक्त घट पद की सत्ता में क्या प्रमाण है ? और 'घटम् आनय त्वम्' इस वाक्य में घटम् आनय त्वम्—इन तीन पदों के समुदाय के अतिरिक्त और वाक्यत्व है क्या ? इस वाक्य में 'घ् अ ट् अ म् आ न् अ य् अ त् व् अ म्' ये आनुपूर्वी सन्निविष्ट वर्ण ही वास्तविक हैं, पद या वाक्य इनका समुदाय-मात्र है । इससे भिन्न पृथक् पद तथा वाक्य की सत्ता काल्पनिक है, व्यवहारोपयोगी है, पारमार्थिक नहीं । हार के दानों से पृथक् हार की सत्ता वास्तव नहीं, व्यावहारिक है, बुद्धिस्थ है ।

दूसरे सिरे पर खड़े वाक्यवादी कहते हैं, वाक्य ही भाषा की वास्तविक इकाई है; क्योंकि कोई भी वक्ता वाक्य से ही अपना कोई आशय प्रकट करता है, बल्कि इसका नाम वाक्य पड़ा ही इसीलिए है । अर्थक्रिया-कारित्व व्यष्टि में नहीं, समष्टि में है; रथांगों में नहीं, रथ में; खट्वाङ्गों में नहीं, खाट में; हस्तपादादि अंगों में नहीं, अंगी शरीर में है । अतः वास्तविक पदार्थ वाक्य है । उसमें पदों की तथा पदों में वर्णों की कल्पना केवल अध्ययन-विश्लेषण के लिए की गई है, परमार्थ नहीं है ।

वास्तव में दोनों के कथन में सचाई है । यदि अंगी न हो तो अकेले अंगों का समुदाय कुछ नहीं कर सकता । यदि सरकार न हो, तो राष्ट्र की जनसंख्या उतनी ही रहने पर भी राष्ट्र का जीवन पंगु हो जाय । किन्तु यदि अंगों में विकलता आ जाय तो अंगी का जीवन विडम्बना-मात्र बन जाय, जैसे कंगालों, रोगियों, और अपाहिजों की सरकार । भारतीय भाषाविज्ञान का आरम्भ तो अवरोह-क्रम से हुआ है । यहाँ सारे अध्ययनों का उत्स वेद है । वेद का पहले संहिता-पाठ था, अर्थात् पहले तो महावाक्य और वाक्य की ही सत्ता थी । फिर महावाक्य का विश्लेषण वाक्यों में, अर्थात् अध्यायों, सूक्तों और मन्त्रों में हुआ और तब अर्थ-ज्ञानादि के लिए उन मन्त्रों का, वाक्यों का विश्लेषण पदपाठ द्वारा पदों में हुआ । तब पदों का विश्लेषण निरुक्त द्वारा प्रकृति-प्रत्यय-रूप दो खण्डों में और अन्त में उनका भी विश्लेषण शिक्षा-प्रातिशाख्यों द्वारा अक्षरों और वर्णों में । दूर से हम एक जंगल देखते हैं, पहाड़ देखते हैं, निकट जाने पर ही हम देखते हैं कि यह पेड़ है, यह लता है, यह आम है, यह कटहल है, यह मूल है, यह शाखा है । अपढ़ लोग वर्ण या पद नहीं समझते, महावाक्य और वाक्य समझते हैं, जिसे वे अपनी भाषा में एक बात कहते हैं । पाश्चात्त्य भाषाविज्ञानी भी भाषा की वास्तविक इकाई वाक्य को ही मानते हैं । आरम्भ में भाषा का जन्म वाक्य-रूप में ही हुआ होगा, भले ही वह अतिलघु, एक पदमात्र का ही हो । छोटा बच्चा जब कहता है, 'भूख' तब उसमें 'लगी है' अवश्य अध्यहार्य रहता है, ऐसे ही उसके 'दूध' उच्चाहरण का अर्थ है—'दूध पिलाओ' आदि ।

किन्तु मानव-शरीर-रूप अंगीभूत समुदाय के वस्तुतः अर्थक्रियाकारित्व रूप अर्थवत्ता रहने पर भी डाक्टर लोग चीर-फाड़ के द्वारा एक-एक अंग का अन्वय व्यतिरेक करके पृथक्-

पृथक् उनकी अर्थवत्ता सिद्ध कर देते हैं, उसी प्रकार वैयाकरण भी पद के अवयव वर्णों की अर्थवत्ता दिखाते हैं। मनुष्य एक आँख फूट जाने पर अन्धा, एक पैर टूट जाने पर लँगड़ा हो जाता है, किन्तु डाक्टर उसे बाहर से लाकर जोड़कर फिर उसे दो आँखोंवाला, दो पैरोंवाला बना देते हैं। इस प्रकार अलग रखी हुई आँख, टाँग और अंगुली भी अंगी से जुटकर सार्थक हो जाती हैं। और जिसके बिना अंगी उसका काम नहीं कर पाता, उसे पृथक् रहने पर भी निरर्थक कैसे कहा जाय? क्या दूकान पर बिकनेवाला मोटर, साइकिल, रिक्शा आदि का पुर्जा निरर्थक है? पर उसके बिना तो ये सारे अंगी ही निरर्थक हो जाते हैं, उसके योग से ही इनमें अर्थक्रियाकारित्व आता है। राजगीर तो एक-एक ईंट जोड़कर ही विशाल भवन तैयार करता है : घड़ी से लेकर वायुयान तक के निर्माण में एक-एक पुर्जा ही तो जोड़ा जाता है।

पाणिनि ने 'सहिवहोरोदवर्णस्य', 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' आदि में वर्ण, 'धातोः', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' आदि से प्रकृति 'प्रत्ययः' आदि से प्रत्यय 'अङ्गस्य' आदि से अंग, 'पदस्य' आदि से पद तथा 'वाक्यस्य टेः प्लुतउदात्तः' आदि से वाक्य की चर्चा कर इन सबकी सत्ता स्वीकार की है। पतंजलि ने वर्णों की अर्थवत्ता का प्रश्न हयवरट् सूत्र में उठाकर दो बातें कही हैं :

(१) एक तो यह कि प्रत्येक सार्थक पद का एक-एक वर्ण भी अर्थवान् है, यह कल्पना गलत है। कूप, सूप, यूप आदि में भी यदि क् स् प् की अर्थवत्ता मानें तो ऊप, इस अंश को निरर्थक मानना पड़ जायगा। यह तर्क गलत है कि जिस प्रकार एक वालुका-कण तैल-रहित है, अतः वालुकाराशि से भी तेल नहीं निकलता, और एक तिल का दाना तैलवान् है, इसीलिए तिलराशि से तेल निकलता है; क्योंकि एक-एक रथांग सवारी के लिए निरर्थक है, किन्तु उनसे बना रथ सवारी के काम आता है—"यथा रथाङ्गानि विहृतानि प्रत्येकं व्रजिक्रियां प्रत्यसमर्थानि भवन्ति, तत् समुदायश्च रथः समर्थः, एवमेषां वर्णानां समुदाया अर्थवन्तः, अवयवा अनर्थका इति"।

(२) दूसरा यह कि जहाँ एक वर्ण में अर्थवत्ता देखी जाती है, वहाँ माननी ही पड़ेगी—"अर्थवन्तो वर्णा धातु प्रातिपदिक प्रत्यय निपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात्"। एक वर्ण की धातुएँ अर्थवती मिलती हैं; जैसे एति, अध्येति, अधीते में 'इ' धातु; प्रातिपदिक अर्थवान् मिलते हैं, जैसे आभ्याम्, एभिः आदि में; प्रत्यय अर्थवान् मिलते हैं, जैसे पाक, दाशरथि आदि में, और निपात अर्थवान् मिलते हैं, जैसे अ अपेहि इ इन्द्रः आदि में। वस्तुतः एक अक्षरवाले बहुत-से सार्थक शब्द एकाक्षरकोष में मिलते हैं, और पाणिनि ने धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय को एकाक्षर होने पर भी अर्थवान् माना है। प्रत्यय तो एकाक्षर भरे-पड़े हैं, यह पहले दिखा आये हैं। पतंजलि ने तो इनकी अर्थवत्ता में तर्कपूर्ण प्रमाण पेश किया है : "सिद्धं त्वन्वय व्यतिरेकाभ्याम्"............"इह वृक्ष इत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते वृक्ष शब्दः अकारान्तः सकारश्च प्रत्ययः। अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते, मूलस्कन्ध फल पलाशवान् एकत्वं च। वृक्षावित्युक्ते कश्चिच्छन्दो हीयते कश्चिदुपजायते, कश्चिदन्वयी। सकारो हीयते, औकार उपजायते, वृक्षशब्दः अकारान्तोऽन्वयी। अर्थोऽपि कश्चिद् हीयते, कश्चिदुपजायते, कश्चि-

दन्वयी। एकत्वं हीयते, द्वित्वमुपजायते, मूलस्कन्धफलपलाशवान् अन्वयी। तेन मन्यामहे
यः शब्दो हीयते तस्यासावर्थो यो हीयते, यः शब्द उपजायते तस्यासावर्थो योऽर्थ उपजायते,
यः शब्दोन्वयी तस्यासावर्थो योऽर्थोऽन्वयीति''—इस प्रकार शक्तिग्राहकशिरोमणि व्यवहार और
अन्वय-व्यतिरेक प्रमाण है कि एक वर्ण में भी अर्थवत्ता रह सकती है, जैसे वृक्षः में स् का
अर्थ एकत्व तथा वृक्षौ में औ का अर्थ द्वित्व है, यह वैयाकरणों की कल्पना-मात्र नहीं,
व्यवहारसिद्ध तथ्य है। अतः "सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम्" आदि
अर्थ-निर्देश वास्तविक हैं, बालकों की उपलालना नहीं। इसी प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से सब
पदों की अर्थवत्ता प्रमाणित हो जाती है। बल्कि वर्ण सभी अर्थवान् नहीं हो सकते, पर
पदों में तो प्रत्येक को अर्थवान् होना ही है; इसीलिए यह अन्वर्थ संज्ञा है।

परन्तु इसी प्रकार अंगों की पृथक् अर्थवत्ता की भाँति अंगी की भी पृथक् अर्थवत्ता
अन्वय-व्यतिरेक से ही प्रमाणित हो जाती है। पीछे कह आये हैं कि कृत्, तद्धित, समास
आदि में अनुक्त पद का भी अर्थ किसी समुदाय से प्रकट हो जाता है। केश का अर्थ तो
केवल केश ही होगा, परन्तु 'केशाकेशि' का अर्थ होगा—वह युद्ध, जिसमें बाल पकड़-पकड़कर
लोग लड़े हों। यह शक्ति तो समुदाय में अलग से माननी हो पड़ेगी, अवयव-शक्ति से
काम नहीं चलेगा। पतंजलि ने अर्थवत्सूत्र-भाष्य में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि
"पदार्थ के अतिरिक्त वाक्यार्थ मानना पड़ेगा—पदार्थादन्यस्यानुपलब्धिरिति चेत्,
पदार्थाभिसम्बन्धस्योपलब्धिः''............''इह देवदत्त इत्युक्ते कर्त्ता निर्दिष्टः कर्म क्रियागुणो
चानिर्दिष्टौ। गामित्युक्ते कर्म निर्दिष्टम् कर्त्ता क्रियागुणौ चानिर्दिष्टौ, अभ्याजेत्युक्ते क्रिया
निर्दिष्टा, कर्त्तृकर्मणी गुणश्चानिर्दिष्टः शुक्लामित्युक्ते गुणो निर्दिष्टः कर्त्तृकर्मणी क्रिया
चानिर्दिष्टा, इहेदानीं देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम् इत्युक्ते सर्वं निर्दिष्टम्, देवदत्त एव कर्त्ता
नान्यः, गामेव कर्म नान्यत्, अभ्याजैव क्रिया नान्या, शुक्लामेव न कृष्णामिति। एषां
पदार्थानां सामान्ये वर्त्तमानानां यद् विशेषेष्ववस्थानं स वाक्यार्थः''—इस प्रकार पतंजलि ने
भी अन्वय-व्यतिरेक दिखाकर पाणिनि की भाँति वाक्य के अतिरिक्त सभी पदों तथा उन
वर्णों में भी अर्थवत्ता मानी है, जो धातु, प्रातिपदिक, निपात, प्रत्यय आदि बनकर पदों में
किसी अर्थ का बोधन कर रहे हैं। पर मुझे तो लगता है, कूप, सूप, यूप आदि में भी,
प्रत्येक पद में प्रत्येक वर्ण की भी अपनी अर्थवत्ता है। वादी ने कितनी अच्छी शंका की
है कि यदि प्रत्येक वर्ण में अर्थवत्ता न हो तो कूप में से एक क् निकाल देने पर भी ऊप इतना
ही अर्थ का बोधन क्यों नहीं कराता? साइकिल, या मोटर, या वायुयान में से किसी भी
एक पुर्जे को निकाल लेने पर यदि वह ठीक से काम नहीं कर सकता, तो उस छोटे पुर्जे को
व्यर्थ कहना विडम्बना नहीं है? बड़े आकार से नहीं, काम से अर्थवत्ता होती है। इन
वर्णों की अर्थवत्ता यही है कि इनके सहयोग से ही अर्थवान् शब्दों का निर्माण होता है।
रथांग का वह तुच्छ अंग भले ही वाहन नहीं बन पाता, पर उसके विना पूरा रथ भी तो
वाहन नहीं बन पाता। सिकता का एक कण तेल नहीं देता, पर सिकताराशि; जो काम
करती है, वह काम तो करता ही है, अतः यह उपमा भी ठीक नहीं।

परन्तु कैयट, नागेश आदि वर्ण तथा पद-रूप शब्द में वास्तविक अर्थवत्ता नहीं मानते,
केवल वाक्य-रूप में मानते हैं। इसी भाष्य की व्याख्या में प्रदीप में कैयट लिखते हैं—
'वाक्यमेव मुख्यः शब्दो, वाक्यार्थ एवं मुख्यः शब्दार्थः। सादृश्यात् त्वन्वयव्यतिरेकौ

कल्पितौ लाघवार्थमाश्रित्य पदपदार्थव्यवस्थापनं क्रियते । प्रतिवाक्यं व्युत्पत्त्यसम्भवाच्छाब्दव्यवहाराभावप्रसंगात्"। यह तो सही ही है कि वर्णार्थ से पदार्थ, तथा पदार्थ से वाक्यार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः वाक्यार्थ ही मुख्य है, पर कैयट का यह कहना ठीक नहीं कि वर्ण तथा पद में अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ की कल्पना केवल लाघव से शास्त्र प्रवृत्ति दिखाने के लिए है, पारमार्थिक नहीं। नागेश ने स्फोटविचार में मंजूषा में पहले तो कहा है कि अष्टविध स्फोटात्मक शब्द अर्थवान् हैं, पर अन्त में उन्होंने भी "वस्तुतस्तु वाक्यस्फोटो वाक्यजातिस्फोट एव वा वृत्याश्रयः" कहकर पारमार्थिक अर्थवत्ता वाक्य स्फोट से भी एक स्तर नीचे घटाकर केवल वाक्यजाति स्फोट में सीमित कर दी है। कौण्डभट्ट ने भी वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, वर्णजाति-स्फोट, पदजाति-स्फोट, वाक्यजाति-स्फोट, अखण्डपद-स्फोट, अखण्डवाक्य-स्फोट—इस प्रकार आठ स्फोट मानकर इनकी उपमा पंचकोष[1] (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोष) से दी है और पंचकोष की भाँति इनमें भी उत्तरोत्तर गरीयस्त्व माना है—'वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः' और इस तरह उनका भी मत है कि अन्त में परमार्थ अखण्ड वाक्य स्फोट ही ठहरता है। यह तो उचित ही है कि अवयव-अर्थ से पृथक् अवयवी का अर्थ मानना पड़ेगा, और वही मुख्य भी है। किन्तु अवयवी के अर्थ को ही तात्त्विक और अवयवार्थ को काल्पनिक-मात्र कहना ठीक नहीं लगता। चिकित्सक तो अन्नमय कोष में ही त्रुटियाँ देखकर उसकी ही चिकित्सा करता है, वह असत्य कैसे है? और वेदान्त का अद्वैत मानने पर तो एकमात्र पूर्ण ब्रह्म ही सत्य है, शेष सारी अवयव-कल्पनाएँ व्यर्थ हैं। तब तो रूप, रस आदि की भाँति शब्द के किसी भी प्रकार की कल्पना असत्य ही होगी।

पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियों की भी यही मान्यता है कि पद-समूह से भिन्न वाक्य की तथा पदार्थ समूह से भिन्न वाक्यार्थ की सत्ता है; क्योंकि व्यवहार में अर्थक्रियाकारित्व वाक्य में ही है। हाँ, एक बात अवश्य है कि कहीं-कहीं एक पद ही वाक्य बन जाता है, जैसे हाँ, नहीं, जाओ, गया, जायगा आदि। परन्तु इन सब स्थलों में और पद भी छिपे रहते हैं। यदि किसी ने पूछा—"मेरे लिए टिकट कटाने कौन गया है?" तो उत्तर मिलेगा—'मोहन'। यहाँ मोहन केवल एक कर्तृपद है, जो पूरे वाक्य का काम कर रहा है, पर उसमें ऊपर के वाक्य से सब पदों की अनुवृत्ति आई है, और उसका पूरा रूप है—'आपके लिए टिकट कटाने मोहन गया है'। छोटा बच्चा, या कोई भी व्यवहार में केवल एक पद कहता है, 'माँ', किन्तु उसका अर्थ होता है, जरा इधर आना। इस तरह वाक्य की स्वतन्त्र सत्ता तथा पूर्ण अर्थवत्ता निर्विवाद है, किन्तु यह कहना कि वाक्य के अतिरिक्त पद में या वर्ण में वास्तविक अर्थवत्ता है ही नहीं, ठीक नहीं लगता। ऊपर बताया जा चुका है कि पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि ने वाक्य, पद तथा वर्ण—तीनों में अर्थवत्ता मानी है, अन्वय-व्यतिरेक का सर्वाधारभूत नियम यही प्रमाणित करता है। "वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन" तो समष्टिवाद का अतिवाद है, जिसके अनुसार समाज ही सार्थक व्यक्ति निरर्थक है। देखा जाता है कि मोटर में जहाँ एक

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मवल्ली।

पहिया बिगड़ता है, वहाँ दूसरा लगा दिया जाता है, पूरी मोटर नहीं बदल दी जाती। जहाँ एक छोटा-सा पुर्जा घिसकर बेकार हुआ, वहाँ वही बदल दिया गया। एक ही मशीन में केवल एक अंश रहने से वह केवल चावल कूटती है, दूसरा अंश लगा देने से वह आटा भी पीसने लगती है, तीसरा अंश जोड़ देने से ईख भी पेर लेती है, और मोटर सबमें एक ही लगती है। मानव-शरीर की भी यही स्थिति है। एक आँख, एक अंगुली बेकार हो जाने पर दूसरा अंग जोड़ दिया जाता है, पूरा शरीर नहीं बदला जाता। भाषा की भी यही स्थिति है। पाणिनि ने देखा 'ब्रू' धातु का भविष्यत् में प्रयोग नहीं होता, अतः ब्रू के स्थान में वच् का प्रयोग किया; 'पा' का वर्त्तमान में प्रयोग नहीं होता, अतः उसका पिब् किया। हिन्दी-व्याकरण भी यही बताता है कि 'जा' धातु का भूत में प्रयोग नहीं होता, 'वह जाया' नहीं, गया होगा; कर के भूत में करा नहीं, 'किया' होगा। अँगरेजी-व्याकरण भी कहता है, 'गो' का भूतकाल में प्रयोग नहीं होता, अतः He went होगा। इसी भाँति पठति की जगह आज्ञा में पठतु का प्रयोग होता है तो पाणिनि ने विश्लेषण किया 'एरुः' अर्थात् लोट् में ति के इ का उ हो जाता है। पठावः, पठामः में विसर्ग का लोप होकर आज्ञा के रूप पठाव, पठाम बने। सम्+कार में स् का आगम होने से संस्कार बनता है, शिव के इ की वृद्धि होने से शैव बनता है, व्यध् में य् का इ होकर विद्ध बनता है। अँगरेजी में भी run में ing जोड़ने पर बीच में एक n का आगम होकर running बनता है, Spend के d का t होने से भूतकाल का बोध होता है। Know में मध्यवर्ण-परिवर्त्तन से knew बन जाता है। Drink में आदि अच् की वृद्धि से Drank बनता है तथा live में d जुटने से lived बन जाता है। हिन्दी में भी काक से द्वितीय क का ग होकर 'काग' बना; सूर्य से बीच में स्वरागम तथा य का ज होकर 'सूरज' बना; पानीय के य के लोप से पानी बना। पढ़ धातु में भूतकाल में आ जुटने से 'पढ़ा' बना। क्या ये सब विश्लेषण अतात्त्विक हैं? "सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः, एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते"[1] के अनुसार तो 'रामः विद्वान् अस्ति' इस पूरे वाक्य के ही स्थान में भविष्यत् में 'रामः विद्वान् भविष्यति' आदेश होना चाहिए; क्योंकि पद में वर्ण-कल्पना ही नहीं, वाक्य में पदकल्पना भी अतात्त्विक है। Live में भूतकाल का चिह्न d जुट गया—कहना असंगत है, कहना चाहिए कि Live के स्थान में भूतकाल में lived आदेश हो गया। यह तो सही दृष्टिकोण नहीं हुआ। भाषाविज्ञान तो वर्णविकार को ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देता है, निरर्थकता की तो बात ही दूर रही। व्यक्ति का मूल्य समाज से भले ही बहुत कम हो, पर उसे निरर्थक कहना तर्क से बहुत दूर है। क्या कोषों में भी पूर्व-पूर्व कोष निरर्थक हैं? क्या अन्नमय कोष ही शेष चारों का आधार और पोषक नहीं? फिर उसे अतात्त्विक कहना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? "उपायाः शिक्षमाणानां[2] बालानामुपलालनाः, असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" से हम इतना ही समझ सकते हैं कि पाणिनि ने अनुबन्धों, स्थानियों, प्रत्याहारों की कल्पना केवल सुविधा के लिए की है, वे सत्य नहीं। 'उपेय प्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः'—पठ् से घञ् करके पाठ बनावें या अ करके,

१. महाभाष्य, ७।१।२७।
२. वाक्यपदीय, २।२।४०।

वेद से इक करें या ठक्, वात्स्य से आयन करें या फक्, शुष् से त करके उसका क करें, या सीधे क प्रत्यय ही करें, यह व्याख्याता की सुविधा पर है। पर प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना को ही, पद की सत्ता को ही, अस्वीकार कर दें, तब तो तुल्य न्याय से वाक्य का भी अपलाप कर सकते हैं। 'सर्वे सर्वपदादेशाः'[1] ही नहीं, 'सर्वे सर्ववाक्यादेशाः' कहना भी कम ही पड़ेगा; क्योंकि वाक्य से भी बड़ी इकाई महावाक्य ही है। उसे ही चरम सत्य मानना चाहिए, अखण्डवाक्य-स्फोट के आगे अखण्डमहावाक्य-स्फोट की सत्ता स्वीकार कर उसे ही परमार्थ, शेष सबको काल्पनिक मात्र घोषित करना चाहिए, 'वाक्योच्चयो महावाक्यम्' के अनुसार अर्थ की परिणति, प्रकरण आदि की पर्यालोचना, अलंकार, रस आदि की व्यंजना तो महावाक्य में ही सम्भव है। यह तो शंकराचार्य का मायावाद तथा माध्यमिक बौद्धों का विज्ञानवाद हो गया, जिसके अनुसार सारा स्थूल जगत् जो दीख रहा है, जिसका हम बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष कर रहे हैं, ही असत् है, और आन्तर जगत् या ब्रह्म, जिसका हम कभी ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं करते, परमार्थ सत् है। यह भाषाविज्ञान का नहीं, आत्मदर्शन का क्षेत्र हो गया।

वस्तुस्थिति यह है कि ध्वनि की दृष्टि से लघुतम इकाई वर्ण ही है। नाद और बिन्दु या ध्वनि और लिपि या उच्चारण और लेखन दोनों ही क्रम से एक-एक वर्ण के ही होते हैं। इनकी अपेक्षा-बुद्धि से पद तैयार होते हैं, और पदों की अपेक्षा-बुद्धि से वाक्य, ठीक जैसे बूँद-बूँद से ही तालाब और नदी होती है और एक-एक से ही हजार और लाख। दृश्यमान स्थूल पदार्थों का निरूपण-विश्लेषण करते-करते भारतीय दार्शनिक इस परिणाम पर पहुँचे कि ५ ही महाभूत हैं, जिनके संयोग से विश्व के अनन्त दृश्य पदार्थ बनते हैं। आधुनिक विज्ञान ने मूल तत्त्वों की संख्या प्रायः १०० बताई है। इन्हीं के विभिन्न अनुपातों में संयोग से संसार के सारे पदार्थ निर्मित होते हैं। उसी भाँति वाक् के भी मूल तत्त्व ये वर्ण ही हैं, जिनके परस्पर संयोग से तरह-तरह के संज्ञा, क्रिया आदि पद तथा स्वीकारात्मक, निषेधात्मक आदि वाक्य बनते हैं। वर्णों का समूह ही पद है, तथा पदों का समूह ही वाक्य। पद से भिन्न वाक्य की तथा वर्ण से भिन्न पद की स्वतन्त्र सत्ता ही विचिकित्सा का विषय हो सकती है। नाद और बिन्दु दोनों दृष्टियों से चरम सत्यता वर्णों में ही माननी पड़ेगी। इस अंश में नैयायिकों का कहना ही अधिक तर्कसंगत है।

किन्तु अर्थ की दृष्टि से वर्ण को यह महत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता। प्रत्येक वर्ण एक स्वतन्त्र तथा पूर्ण व्यक्त ध्वनि है, परन्तु प्रत्येक वर्ण एक स्वतन्त्र तथा पूर्ण अर्थ नहीं है। प्रत्येक वर्ण में अर्थवत्ता नहीं है। घट, इस पद में घ् अ ट् अ ये चारों ध्वनियाँ प्रत्येक अलग-अलग पूर्ण, व्यक्त, स्वतन्त्र नाद हैं; उनके वर्णत्व में, ध्वनित्व में कोई न्यूनता नहीं। पर अर्थ की दृष्टि से इनमें प्रत्येक अथवा दो का योग भी सत्य नहीं, घ् या घ में कोई अर्थवत्ता नहीं। न प्रत्येक वर्ण सार्थक (घ, छ), न प्रत्येक वर्ण-समूह (छतस, छदन), न प्रत्येक पद-समूह (दश दाडिमानि, षडपूपाः आदि)। अतः अर्थ की दृष्टि से प्रकृति और प्रत्यय तथा उनसे बने शब्द या पद को ही चरम सत्य समझना चाहिए। रामः रथेन गच्छति में प्रत्येक पद भी सार्थक है और राम,

१. महाभाष्य, ७।१।२७। २. साहित्यदर्पण, २।१।

रथ, गम् रूप प्रकृति तथा स्, एन और ति रूप प्रत्यय भी। ये ही लघुतम सार्थक ध्वनियाँ हैं, अर्थवत्ता के मूल तत्त्व हैं, परमाणु हैं। यह बात और है कि कहीं-कहीं अर्थवत्ता एक ही वर्णरूप शब्द, धातु, या प्रत्यय में भी स्थित है। ऐसी स्थिति में वह एक वर्ण ही अर्थवत्ता का मूल तत्त्व है। सभी तत्त्व या परमाणु एक ही आकृति के नहीं होते, उनमें भी छोटे-बड़े होते हैं। इसीलिए पाणिनि ने धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, पद—ये अन्वर्थ महासंज्ञाएँ की हैं, तथा 'कर्त्तरि कृत्' आदि कहकर एक वर्ण-रूप अ आदि प्रत्ययों में कर्त्ता आदि अर्थ की अभिधायकता मानी है (बुध् से बुध आदि)। पाणिनि ने वाक्य-संज्ञा स्वयं नहीं की है, न वर्ण-संज्ञा।

यदि हम सत्य की खोज में सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर, लघुता से महानता की ओर बढ़ने लगें तो ये परमाणु नहीं, विश्व ही चरम सत्य माना जायगा, और भाषा में भी वाक्य ही तक नहीं, क्रमशः अनुच्छेद, अध्याय, पुस्तक, विषय आदि की ओर बढ़ते हुए हम किसी भाषा के समस्त वाङ्मय तथा विश्व के समस्त वाङ्मय तक पहुँच जायेंगे। पर हमें तो लघुतम अर्थवत्ता की खोज करनी है, और वह हमें प्रकृति-प्रत्यय में मिल जाती है। प्रत्येक वर्ण ध्वनि है, नाद है, विन्दु है, वाक् है; किन्तु प्रत्येक वर्ण स्वतंत्र रूप से अर्थवान् नहीं, किसी प्रकृति-प्रत्यय या पद को सार्थक बनाना ही उसकी अर्थवत्ता है। परन्तु प्रकृति और प्रत्यय सभी अर्थवान् हैं, चाहे वे एक वर्ण के हों या अनेक वर्ण के। पाठक में पठ् भी अर्थवान् है, अक भी; Reader में Read भी अर्थवान् है, er भी, दौलतमन्द में दौलत भी अर्थवान् है मन्द भी, "धातुप्रत्ययप्रातिपदिकनिपाता एकवर्णा अर्थवन्तः, अतोऽये अनर्थकाः"—पतंजलि की यह उक्ति सिद्धान्त है। किन्तु प्रकृति-प्रत्यय के अतिरिक्त शब्द और पद में भी अलग से अर्थवत्ता माननी पड़ेगी; क्योंकि अपठत् आदि में पठ्+ति के अलावा अ का पूर्वागम तथा मध्यविकरण भी है (अ+पठ्+अ+त्) और अन्त के इ का लोप भी। अतः पठ्+ति के अर्थों के आधार पर अपठत् का एक समुदित अर्थ भी मानना पड़ेगा। साथ ही बहुत-से ऐसे शब्द भी मिलते हैं, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय का ठीक पता नहीं है, पाणिनि ने भी ऐसे शब्दों की सत्ता स्वीकार की है। कोश और व्यवहार भी उन समुदायों का ही अर्थ बता पाते हैं, उनके खण्डों का नहीं। अतः प्रकृतिप्रत्ययार्थ के अतिरिक्त शब्दार्थ या पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता माननी ही पड़ेगी। इसी भाँति पदार्थ के अतिरिक्त उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध-रूप वाक्यार्थ भी पृथक् मानना पड़ेगा। जैसे शराब के सब पदार्थों के पृथक्-पृथक् गुण के अतिरिक्त उनके योग में अलग से एक वस्तु नशा भी आ जाता है, वैसे ही पदार्थों के योग के अतिरिक्त वाक्य में उनका सम्बन्ध भी मिलकर एक नया अखण्ड-सा अर्थ उपज जाता है, "पदार्थादन्यस्यानुपलब्धिरितिचेत्[1] पदार्थाभिसम्बन्धस्योपलब्धिः"। अर्थवान् पदों का योग होने पर भी जहाँ उनमें परस्पर सम्बन्ध है, वहीं सार्थकता है, "दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनं, पललपिण्डः, अधरोरुकमेतत् कुमार्याः स्फयकृतस्य पिता प्रतिशीनः" यहाँ इतना लम्बा पद-संयोग होने पर भी, प्रत्येक पद के अर्थवान् होने पर भी समुदाय

१. अर्थवत् सूत्रभाष्य।

अनर्थक ही है; जैसे मोटर में कोई ऊपर पहिये, बगल में इन्जन आदि लगा दे। अतः यह कहना कि वाक्य में अवयव-रूप पृथक् पद या वर्ण नहीं है, उत्सूत्र है, पाणिनिविरुद्ध है, भाषाविज्ञान विरुद्ध है, 'सूत्रत[1] एव हि शब्दान् प्रतिपद्यन्ते'।

"स्फोटवाद पर मीमांसकों और नैयायिकों द्वारा किये गये आक्षेपों का समाधान" शीर्षक के अन्तर्गत कपिलदेव द्विवेदी जी का यह कहना[2] कि साहित्यिकों में 'आनन्दवर्धन' ने ध्वनि की सिद्धि के लिए ध्वनि नामक कारिकाएँ लिखी हैं तथा 'आलोक' नामक टीका स्वयं की है—'व्यक्तिविवेक' कार 'महिमभट्ट' ने अपनी पुस्तक[3] में ध्वनि का अनुमान में अर्थात् लक्षणा में समावेश सिद्ध करने के लिए बहुत बल दिया है, आदि अस्थान-तर्क-सा लगता है। जहाँ स्फोट के साथ शब्दरूप ध्वनि की, नाद की, तुलना चल रही है, वहाँ अर्थरूप, शब्द-शक्तिरूप ध्वनि के झगड़े की बात उठाना तो यही न सिद्ध कर रहा है कि द्विवेदीजी ने दोनों को एक में मिला दिया। पर इतनी बड़ी भूल द्विवेदीजी से हो कैसे सकती है? ध्वनिरूप शब्द तथा ध्वनिरूप अर्थ में धतूरे तथा सोने के वाचक कनक की तरह नाम-साम्य के अलावा और कौन-सा साम्य है?

ओटो जेस्पर्सन[4] ने 'फिलासफी ऑव ग्रामर[5]', आग्डेन रिचार्ड्स ने 'मीनिङ् ऑव् मीनिङ्[6]', हर्मन् पाडल् ने 'प्रिंसिपल्स् ऑव् द हिस्ट्री ऑव् लैंग्वेज[7]' तथा गार्डिनर ने 'थ्योरी ऑफ स्पीच ऐण्ड लैंग्वेज[8]' में बहुत विस्तार से इस बात पर विचार किया है और यह निर्णय किया है कि वाक्य ही सार्थक है। वाक्य एक अखण्ड अवयवी है। वाक्य की पद से पृथक् सत्ता है। पदों का कोई अर्थ नहीं होता है। परन्तु इस विषय पर पुनर्विचार होना चाहिए।

पदार्थ, प्रातिपदिकार्थ, धात्वर्थ तथा प्रत्ययार्थ :

ये सार्थक पद या शब्द जाति, गुण, क्रिया अथवा द्रव्य (व्यक्ति)—इन चारों में से ही किसी एक को प्रकट करते हैं, ऐसा पस्पशाह्निक के आरम्भ में ही पतंजलि की उक्ति से सिद्ध होता है। जैसे गो शब्द से जाति, सूर्य शब्द या श्याम आदि से व्यक्ति, शुक्ल, पीत आदि से गुण तथा पठति, पठन आदि से क्रिया प्रकट होती है। फिर 'ऋलृक्' सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने कहा है—'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः'। इनमें यदृच्छा शब्द के उदाहरण हैं निरर्थक, एक व्यक्तिसूचक, लौकिक या शास्त्रीय संज्ञाएँ; जैसे डित्थ, डवित्थ, टि, घु, भ आदि। पर फिर उन्होंने ही आगे यदृच्छाशब्द का खण्डन करते हुए घोषणा कर दी है, "त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः इति। न सन्ति यदृच्छा शब्दाः"। कैयट तथा नागेश के मत के अनुसार यदृच्छा-शब्द का अर्थ है अव्युत्पन्न, रूढ़, व्यक्तिवाचक, द्रव्यवाचक शब्द। पतंजलि ऐसे शब्दों को नहीं

१. १।१।१ व्याकरण-पदार्थ-निरूपण।
२. पृ० ३८१।
३. पृ० २६१।
४. अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, पृ० ३८०-८१।
५. पृ० ३०७।
६. पृ० १०, १९३।
७. पृ० १११।
८. अध्याय २ से ५।

मानते। किन्तु यह दृष्टि ठीक नहीं। यदृच्छाशब्दों की सत्ता असन्दिग्ध है। बहुत-से ऐसे शब्द प्रयोग में आ जाते हैं, जिनकी कोई व्युत्पत्ति नहीं, ऐसे ही स्वेच्छा से गढ़ लिये गये। पतंजलि ने इन्हें असाधु मानकर छोड़ दिया, परन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि से कोई भी शब्द असाधु नहीं। पाणिनि का 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र बनाना तथा टि, घु, भ आदि संज्ञाएँ रखना प्रमाणित कर रहा है कि पाणिनि यदृच्छाशब्दों की सत्ता स्वीकार करते थे। कैयट की "अर्थवत्सूत्रारम्भाच्चाव्युत्पन्ना यदृच्छाशब्दाः सन्तीत्यवगम्यते" तथा नागेश की 'टि घु भादीनां तच्छक्यानामानन्त्यात् तत्पदमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्' आदि उक्तियों से यह स्पष्ट है। साहित्यदर्पणकार[1] ने भी इन चारों को मान्यता दी है, "संकेतो गृह्यते जातौ गुण द्रव्य क्रियासु च", "द्रव्यशब्दाः एकव्यक्तिवाचिनो हरिहरडित्थडवित्थादयः"। सच तो यह है कि किसी भी शब्द के द्वारा किसी भी वस्तु के बोधन में थोड़ी-बहुत यदृच्छा की भी मात्रा रहती ही है। तर्क से कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का अन्यूनानतिरिक्त रूप से बोधन नहीं कर सकता। यास्क ने ठीक ही शंका की है, "यः कश्चाध्वानमश्नुवीताश्वः[2] स वचनीयः स्यात्, यत् किंचित् तृन्द्यात् तृणं तत्"।

वैयाकरणों में कोई जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या तथा कारक पाँचों को प्रातिपदिक का अर्थ मानता है, कोई चार को, कोई तीन को, कोई दो को, कोई एक को ही। तत्त्व-बोधिनीकार ने "प्रातिपदिकार्थ०"[3] सूत्र में बताया है कि भाष्यकार दधि, मधु आदि में विना किसी विभक्ति के ही स्वार्थ, द्रव्य, लिंग, संख्या तथा कारक की प्रतीति होने से पाँचों को ही प्रातिपदिकार्थ मानते हैं। यद्यपि वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः, वृक्षं वृक्षेण आदि में अन्वय-व्यतिरेक से संख्या और कारक विभक्त्यर्थ ही लगते हैं, पर विभक्ति को दधि, मधु आदि स्थलों के अनुरोध से द्योतक ही मानना चाहिए। कैयट का विचार है कि आरम्भ के चार ही प्राति-पदिकार्थ हैं; क्योंकि 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्'[4] सूत्र में कहा गया है, "चतुष्कपक्षे पंचकपक्षे वा कारकं प्रातिपदिकार्थः"। वृत्तिकार का विचार है कि पूर्वदर्शित अन्वय-व्यतिरेक के अनुसार कारक और संख्या को विभक्त्यर्थ ही मानना चाहिए, प्रातिपदिकार्थ केवल प्रथम तीन ही हैं। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक यही दिखाता है। दधि मधु में विना विभक्ति के भी कारक और संख्या की प्रतीति हो रही है, इससे क्या ? वृक्षौ, वृक्षाः, वृक्षं, वृक्षेण आदि में विभक्ति से ही इन अर्थों का अन्वय-व्यतिरेक है। अन्यथा गर्गाः में विना यञ् के अपत्य अर्थ की, अविभः में विना तिङ् के कर्त्ता अर्थ की प्रतीति होने से अपत्य भी प्रातिपदिकार्थ तथा कर्त्ता भी धात्वर्थ होने लगे ? इन जगहों में स्मृत प्रत्ययों से ही (अनुमित) इन अर्थों की प्रतीति समझनी चाहिए। कुछ का विचार है कि इसी प्रकार लिंग भी प्रत्ययार्थ ही है, स्त्रीत्व आदि टाप् आदि प्रत्ययों का अर्थ है। इस प्रकार केवल स्वार्थ और द्रव्य, जाति और व्यक्ति ये दो ही प्रातिपदिकार्थ हैं, जिनमें स्वार्थ विशेषण है और द्रव्य विशेष्य।

वैयाकरणभूषणसार ने "एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पंचकं तथा। नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः" कहकर सब पक्षों को स्वीकार किया है। यदि जाति,

१. २।४।
२. १।४।
३. २।३।४६।
४. ३।१।९२।

व्यक्ति, लिंग, संख्या, कारक पाँच अर्थ प्रातिपदिक के मानें तो कई शक्यतावच्छेदक मानने पड़ेंगे। अतः केवल जाति में ही शक्ति माननी[1] चाहिए, व्यक्ति का बोध लक्षणा से हो जायगा। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि यदि एक में ही शक्ति माननी है तो व्यक्ति में ही माननी चाहिए; क्योंकि पाणिनि के 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' और 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र यही व्यक्त करते हैं; व्यवहार से भी व्यक्ति में ही शक्तिग्रह होता है। जाति का बोध नान्तरीयकतया हो जाता है। वस्तुतस्तु जाति-विशिष्ट व्यक्ति को वाच्यार्थ मानना चाहिए, यह कुछ आचार्यों की मान्यता है। कुछ का कहना है कि लिंगानुशासन प्रकृति के लिए ही है, अतः लिंग भी प्रकृति का ही अर्थ है। वाक्यपदीय ने "द्योतिका वाचिका वा स्यु लिंगादीनां विभक्तयः" कहकर यह मत प्रकट किया है कि जाति और व्यक्ति—ये दो अवश्य ही प्रातिपदिकार्थ हैं; लिंग, संख्या, कारक प्रत्ययों के वाच्य हैं या व्यंग्य ये दोनों पक्ष शास्त्र में चलते हैं। भूषण का मत है कि इन पाँचों के अतिरिक्त यदि अनुकार्य और अनुकरण में भेदविवक्षा रहती है तब शब्द भी प्रातिपदिकार्थ हो जाता है। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" भी इसका समर्थन कर रहा है। नागेश ने इन छहों को नामार्थ माना है।

इसी प्रकार निपातों के अर्थ का निर्णय है। नैयायिक 'प्रादि' को द्योतक तथा 'चादि' को वाचक मानते हैं, वैयाकरण दोनों को द्योतक ही मानते हैं। आगच्छति में आ द्योतक-मात्र है, गम् का ही आना भी अर्थ है और जाना भी, ऐसे ही प्रतिष्ठते में प्रद्योतक-मात्र है, स्था के ही दोनों अर्थ हैं—ठहरना भी और चलना भी, "तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह तिष्ठति-रेव व्रजिक्रियानिवृत्तिम्"। धातुपाठ में यु का अर्थ दोनों दिया है, "यु मिश्रणे च अमिश्रणे च' यद्यपि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। हिन्दी में तद्भवरूप जुड़ना और जुलना (मिलना-जुलना) और जुला (मिला-जुला) मिश्रण अर्थ में तथा जुदा अमिश्रण अर्थ में प्राप्त है। इसी प्रकार गम् का आना अर्थ में अँगरेजी में कम (Come) तद्भव हुआ और जाना अर्थ में गो (go)। हरिहरौ आदि में 'च' के विना भी और अर्थभासित होने से चादि को भी द्योतक ही मानना चाहिए। बल्कि निपातों में भी द्योतकता और वाचकता दोनों पक्ष चलते हैं। नञ् का अर्थ है अभाव।

धातु सामान्य के अर्थ दो हैं—फल और व्यापार, तथा लकार-सामान्य का अर्थ है आश्रय "फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः"। लट् आदि के विशेष अर्थ तो यथास्थान कहे जा चुके हैं। सुप् प्रत्ययों में द्वितीया, तृतीया तथा सप्तमी के अर्थ हैं आश्रय पंचमी का अर्थ है अवधि, चतुर्थी का उद्देश्य, कारक षष्ठी का शक्ति तथा शेष-षष्ठी का सम्बन्ध। इसी भाँति कृत् तथा तद्धित प्रत्ययों के भी अर्थ 'भूषण' में दिये हैं। कारक और समास की शक्ति का भी विस्तृत विचार 'भूषण' तथा 'मंजूषा' दोनों में मिलता है। शब्दों से जाति, व्यक्ति आदि रूप अर्थों की प्रतीति किस प्रकार किस सम्बन्ध से होती है, इसपर भी भाषावैज्ञानिकों में काफी मतभेद है। स्फोट-प्रकरण में कह आये हैं कि शब्द का बोध्य अर्थ बाह्य नहीं आन्तर है, अतः वैयाकरण

१. पतंजलि ने 'सरूपाणमेकशेष एकविभक्तौ (१।२।६४)' की व्याख्या में बताया है कि वाजप्यायन आचार्य जातिवादी थे, तथा व्याडि द्रव्यवादी।

बौद्ध शब्द-स्फोट के साथ बौद्ध अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक (माध्यमिक) तो बाह्य किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं मानते, उनके अनुसार सारे पदार्थ ज्ञानस्वरूप, बुद्धिस्थ हैं। बाहर उनका प्रतिबिम्बन-मात्र है। अतः शब्द के साथ अर्थ की सम्बन्ध-चर्चा ही अनर्गल है। शब्द के साथ बाह्य वस्तुरूप अर्थ के संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध की कल्पना भी असम्भव है। बौद्ध अर्थ के साथ भी शब्द का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं। पतंजलि के अनुसार यदि शब्द का बौद्ध अर्थ के साथ भी वाच्य-वाचक-भाव आदि नित्य सम्बन्ध मानें तो कठिनाई होती है। पिता-पुत्रादि सम्बन्ध सारे विश्व में एक-से हैं, शब्द और अर्थ में वह सार्वभौमता नहीं है। उर्दू में दस्त कहते हैं हाथ को, हिन्दी में पाखाने को; अँगरेजी में लभ् का अर्थ है प्यार करना, संस्कृत में पाना। अतः नित्य का अर्थ यहाँ आपेक्षिक है, आत्यन्तिक नहीं। कैयट ने इस नित्यत्व का अर्थ किया है, "व्यवहार-परम्परया अनादित्व सम्बन्धस्यापि[1] व्यवहारपरम्परयाऽनादित्वान्नित्यता"। इस सम्बन्ध का ज्ञान भी लोक से अर्थात् वृद्धव्यवहार से होता है, यह पतंजलि तथा कैयट दोनों का अभिप्रेत है। मीमांसक भी शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध मानते हैं।

इस प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में मुख्यतः दो वाद हैं :

(१) शब्द और अर्थ के बीच कोई वास्तविक, स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं, "शब्दार्थयोर्नास्ति कश्चिद् वास्तवः समन्वय इति[2] बोद्धव्यम्" व्यवहार-साधन के लिए इनमें कृत्रिम सम्बन्ध जोड़ दिया गया है—"सामयिकः शब्दार्थप्रत्ययः[3]" तथा "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः[4]"।

(२) शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध है ; "नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभि[5] सम्बन्धः", तथा शब्देनार्थस्याभिधाने[6] सम्बन्धो हेतुः, अन्यथा सर्वं सर्वेण प्रत्याययेत, "सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः", "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः[7]" आदि इस सिद्धान्त के ही पोषक हैं।

शब्द के उच्चारण से अर्थ की उपस्थिति कैसे होती है :

वस्तुतः विषयभेद से दोनों सिद्धान्त सही हैं। अग्नि शब्द तथा बाह्य अग्नि पदार्थ में संयोग, समवायादि प्रकार का कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं कि आग की उपस्थिति से धुएँ की तरह अग्नि शब्द के उच्चारण-मात्र से अग्नि-पदार्थ सामने आ जाय और दाहादि प्रारम्भ कर दे। किन्तु एक बात है। सभी शब्दों में अर्थप्रत्यायकता नित्य है; क्योंकि शब्द की उत्पत्ति ही अर्थप्रत्यायनार्थ होती है, यह पहले बताया जा चुका है। यह अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध है

---

१. महाभाष्य, आह्निक २।
२. पुण्यराज, वाक्य० २।४२५।
३. वैशेषिक दर्शन, ७।२।२०।
४. मीमांसा० १।१।५।
५. महाभाष्य, अ० १।
६. हेलाराज : वाक्यपदीय ३, पृ० ९६।
७. वाक्य० १।२६ तथा १।२३।

कि वक्ता किसी भी वर्णात्मक शब्द का उच्चारण किसी अर्थ की प्रतीति कराने के लिए ही करता है। यह देश-काल की सीमा लांघकर सार्वदेशिक सार्वकालिक नियम बन गया है। इस अर्थ में शब्द-जाति और अर्थ-जाति का सम्बन्ध नित्य है। अतः तर्कसंगत यही लगता है कि शब्द का बाह्य वस्तु से साक्षात् नहीं तो पारम्परिक सम्बन्ध अवश्य है; क्योंकि 'आग लाओ' कहने से बाह्य अग्नि पदार्थ का ही आनयन होता है, पानी आदि का नहीं। शब्द का सम्बन्ध है मानस वस्तु या अर्थ से और मानस वस्तु का सम्बन्ध है बाह्य वस्तु से। यह बाह्य अर्थ स्थूल, प्रत्यक्ष विषय घटपटादि हो सकते हैं, या अनुमान-विषय सूक्ष्म वायु, आकाश आदि, या आप्तवाक्यस्वीकृत अलौकिक स्वर्ग, नरकादि, या कल्पनासृष्ट आकाशकुसुमादि। शब्द का मानस-वस्तु से भी जो सम्बन्ध है, वह नित्य नहीं, कृतक है। उसमें नित्यता केवल प्रवाह-परम्परा से है और आपेक्षिक है, वह नित्यवत् प्रतीत मात्र होता है।

शब्द का मानस या बाह्य वस्तु के साथ जो सम्बन्ध है, वह वाच्य-वाचक-भाव-रूप है। यह संकेत या समय (शर्त्त) से स्थिर किया गया है। नैयायिक-वैशेषिक तो मानते हैं कि "अस्मात् पदादयमर्थो[1] बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा शक्तिः' अर्थात् इस शब्द का यह अर्थ है यह ईश्वरेच्छा ही शक्ति अर्थात् शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध है, "सामयिकत्वाच्छब्दार्थ-संप्रत्ययस्य"[2], "सामयिकः[3] शब्दार्थसंप्रत्ययः", "शब्दार्थयोः समयापरनामा वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः" आदि। किन्तु संकेत, समय या शक्ति का नियामक ईश्वरेच्छा सीधे कैसे होगी? यह ईश्वरेच्छा लोगों को कैसे प्रतीत हुई? और सबसे बड़ी बात यह है कि ईश्वरेच्छा तो एक ही होगी, पर एक शब्द का एक ही अर्थ विभिन्न देशों और कालों में नहीं मिलता। यह प्रत्यक्ष है कि एक ही शब्द भिन्न देश तथा भिन्न काल में भिन्न अर्थ का वाचक बन जाता है। साथ ही शब्द की आकृति, आनुपूर्वी में भी सदा अन्तर पड़ता रहता है, अर्थ की दिशा भी बदलती रहती है। पर क्या ईश्वरेच्छा भी बदलती रहती है? वह तो एक और नित्य है। पुस्तक-अर्थ में ईश्वरेच्छा से संकेत[4] किसका-किसका होगा, पुस्तक, किताब, बुक आदि अनेक भाषा में अनेक शब्द हैं, तथा अग्नि, आग, आगुन, आगी आदि अनेक क्षेत्र में भी अनेक शब्द चलते हैं। अतः ईश्वरेच्छा को इस संकेत का नियामक मानना ठीक नहीं, अन्यथा इस संकेत को सार्वभौम तथा सार्वदेशिक-सार्वकालिक होना पड़ेगा। हाँ, यह तो कह ही सकते हैं कि ईश्वरीय इच्छा से ही प्रेरित हो मानव ऐसे संकेत बनाता है।

यद्यपि यह संकेत राजनीतिक-आर्थिक संकेतों की तरह समाज से नहीं, व्यक्ति से ही आरम्भ किया जाता है, पर धीरे-धीरे इसकी स्वीकृति समाज दे देता है तब यह शिष्ट-गृहीत बन जाता है। इसीलिए महान् लेखकगण अवश्य ही कुछ नये शब्दों की सृष्टि करते पाये जाते हैं।

---

१. मुक्तावली, शब्दखण्ड। २. न्यायसूत्र, २।१।५५।

३. वैशेषिक, ७।२।२०। न्यायमंजरी, पृ० १४२।

४. वैयाकरण संकेत का मूल शब्द और अर्थ का इतरेतराध्यास मानते हैं, "एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ" —वाक्य०, २।३१।

शब्द से भिन्न अर्थग्राहक संकेत :

पहले ग्रीस आदि देशों में यह विश्वास[१] था कि ध्वनि के साथ अर्थ का जरूर कुछ स्वाभाविक सम्बन्ध है, किन्तु भारत में यह भ्रम कभी नहीं रहा। शब्द तो अर्थों के लिए प्रतीकमात्र हैं, जैसे अभिनय, लिपि, झण्डा आदि। लड़ाई में झण्डा दिखाकर बात की जाती है, राष्ट्र के झण्डे का भी कुछ प्रतीकार्थ है, जैसे राष्ट्रगान, वैसे राष्ट्रध्वज। रेलगाड़ी के लिए लाल तथा हरे झण्डे का अर्थ है "रास्ता बन्द है रोको" या "साफ है आओ"। युद्ध में भी सफेद झण्डा फहराकर युद्धविराम की घोषणा की जाती है। पाठशालाओं में घण्टी बजाकर समय, अवकाश, मध्यविराम आदि की विभिन्न सूचनाएँ दी जाती हैं। एक पुस्तक शब्द भारत की बीस लिपियों में बीस प्रकार से लिखा जा सकता है, पर सबका एक ही अर्थ है पुस्तक। टेलीग्राम में क ख ग घ नहीं, केबल टकु और ट्रा—इन दो ध्वनियों से ही पूरे वाक्य बन जाते हैं। अन्धों के लिए ब्रेल-लिपि प्रख्यात है, जो स्पर्शग्राह्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु या भाव को प्रकट करने के लिए अनन्त संकेत हैं, जो विभिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य तथा विभिन्न साधनों से उत्पाद्य हैं। भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने इनका काफी संकेत कर दिया है, "अन्तरेण[२] खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यन्ते, अक्षिनिकोचैः, पाणिविहारैश्च", "आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च, नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः" आदि। परन्तु यास्क ने ठीक ही कहा है कि "व्यप्ति[३]मत्त्वात्तु शब्दस्य अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके"। यद्यपि व्याप्तिमान् संकेत और भी अनेक हैं, जैसा कि दुर्गाचार्य ने निरुक्त के उपर्युक्त उद्धरण की व्याख्या में कहा है, "अभिनया अपि व्याप्तिमन्तः पाणिविहाराक्षिनिकोचादयः"। बल्कि विदेश में अपनी भाषा से बिल्कुल काम नहीं निकलता, वहाँ विविध संकेत ही काम आते हैं। परन्तु भाषा में सर्वाधिक लाघव है। जितने कम शब्दों में जितने अर्थों का जितनी सरलता से स्पष्ट कथन हो सकता है, वैसा अन्य संकेतों से सम्भव नहीं। फिर लिपि द्वारा यह शब्द या ध्वनि-संकेत विभिन्न देशकाल में भी उतनी ही स्पष्टता से बोधक हो जाता है, इसीलिए यास्क ने दूसरा हेतु दिया अणीयस्त्वाच्य, अर्थात् भाषा-प्रयोग अणुतर, लघुतर है।

चूँकि शब्द-रूप प्रतीकों द्वारा अर्थ का बोधन अधिक व्यापक, अधिक लाघवप्रद, अधिक सुनिश्चित है, इसलिए उसे सारे संसार में प्राथम्य मिला। चाहे जिस भाँति भी हो,

---

१. "But to the speculative minds of Greek thinkers the problem that proved most attractive was the general and abstract one. Are words natural and necessary expressions of the notions underlying them or are they merely arbitrary and conventional signs for notions that might have been equally well-expressed by any other sounds? Endless discussions were carried on about this question as we see particularly from Plato's Kratyalos............"—Language, अनुच्छेद १।३।१।

२. महाभाष्य, २।१।१। ३. निरुक्त, १।२।

शब्द और अर्थ में प्रतीक या संकेत-रूप सम्बन्ध-स्थापन लोक द्वारा ही होता है, जनता द्वारा होता है। शास्त्र उसका विश्लेषण-मात्र, तथा एक समाज में प्रचलित रूपकों, संकेतों का जन-समाज में, शिक्षार्थियों में, प्रकाशन-मात्र करता है। यह प्रतिपद शब्द-अर्थ की सम्बन्ध-व्यवस्था न प्राकृतिक है, न साक्षात् ईश्वरकृत। यह शत-प्रतिशत समाजकृत तथा समाज की ही भाँति सदा परिवर्त्तनशील है। पाणिनि ने "अर्थसामान्यप्रमाणत्वात्"[1] कहकर यह सुस्पष्ट घोषणा की है।

इस प्रकार घट शब्द से पहले घट-रूप बौद्ध अर्थ का बोध होता है, फिर उस बौद्ध अर्थ से लौकिक घड़ा-रूप वस्तु का, शब्द-अर्थ-वस्तु यही क्रम है। जिस प्रकार शब्द से वस्तु के बोध में अर्थ का (बुद्धिस्थ वस्तु का) व्यवधान है, उसी भाँति ध्वनि (नाद) और अर्थ के बीच शब्द (बौद्ध शब्द-स्फोट आदि) का। अर्थबोधन के जितने भी साधन हैं, उनमें और अर्थ में थोड़ा-बहुत व्यवधान अवश्य रहता है। लिपि में शब्द-श्रेणी में एक व्यवधान बढ़ जाता है। पहले घट-लिपि का दर्शन, तब घट-उच्चारण आदि। ब्रेल-लिपि में पहले घट-लिपि का स्पर्शन, फिर उच्चारण; टेलीग्राम की लिपि में पहले टकु-ट्रा ध्वनि का वर्णात्मक ध्वनि में परिवर्त्तन, तब उच्चारण, 'ओ आ ठोवै' आदि में पहले सांकेतिक उच्चारण, फिर मानक शब्द 'आओ बैठो' तब अर्थबोध आदि। बालक जब 'दूध' को 'तूद' या 'दू' या 'रात' को 'लात' कहता है तब उससे पहले 'दूध' तथा 'रात' शब्दों की अनुमिति और स्मृति होती है, फिर उससे अर्थबोध; यही अनुभव-सिद्ध है। अनुकृत और अनुकारी शब्दों (अनुकार्य-अनुकरण) का साम्य यदि बोधगम्य रहता है तो स्मृति शीघ्र होती है। अन्यथा विलम्ब होता है, प्रकरण आदि की सहायता लेनी पड़ती है। बालकों, अशिक्षितों तथा विदेशियों के ये अनुकरण-मूलक तद्भव शब्द अभ्यासवश क्रमशः विना मूल शब्द की स्मृति के भी साक्षात् अर्थोपस्थापक होते हैं, व्यवहार से उनमें नया पृथक् संकेतग्रह हो जाता है। गो से गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश इसी प्रकार बने हैं। इसलिए नागेश आदि वैयाकरणों का "सा च शक्ति-स्साधुष्विवापभ्रंशेऽपि, शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात्" कहना ठीक ही है। परन्तु तार्किकों का कथन 'असाधुशब्देन साधुस्मरणद्वाराऽर्थबोधः' भी उतना ही सही है। जो बालक के 'घोड़ा' की जगह 'गोआ' और विदेशी के 'भात' की जगह 'बाट' जैसे नवनिर्मित शब्द सुनकर प्रसंगवश अर्थप्रतीति करता है, वह अवश्य ही साधु शब्द घोड़ा और भात के स्मरण द्वारा, इसमें स्वानुभव प्रमाण है। किन्तु, इसी भाँति उच्चारणांगों की असमर्थता, अशिक्षा, विद्वत्संगति के अभाव आदि के कारण जब अग्नि का आग, पानीय का पानी, दुग्ध का दूध, दधि का दही आदि विकृत शब्द बन जाते हैं और समाज-प्रचलित हो जाते हैं, तब क्रमशः उन्हीं में अर्थबोधन-शक्ति आ जाती है; क्योंकि उन शब्दों का व्यवहार करनेवाले साधु शब्दों को जान ही नहीं पाते। छाम कहने पर शाम की स्मृति से ही अर्थबोध होगा, पर छिलका कहने पर शल्क की स्मृति की आवश्यकता नहीं पड़ती। बाद में साधु शब्द जाननेवाले भी विकृत शब्दों का उच्चारण सुनते-सुनते सीधे उनसे ही अर्थग्रहण करने लग जाते हैं। और स्वयं भी वैसा उच्चारण करना शुरू कर देते हैं। किसी निलहे साहब की कोठी जिसने अविकृत रूप में देखी है, वह उसका भग्नावशेष देखकर भी उस अविकृत कोठी

१. १।२।५६।

की ही याद कर उसे 'साहब की कोठी' कहेगा, पर जिसने अविकृत कोठी नहीं देखी है, उसके लिए वह टूटी कोठी ही 'साहब की कोठी' है। जिसने पालि या प्राकृत नहीं पढ़ी-सुनी, वह भी संस्कृत-शब्दों के साम्य से पालि-प्राकृत शब्दों का अर्थ प्रायः लगा लेता है। विदेशी भाषा समझने-बोलने में भी यही स्थिति है। आरम्भ में काफी दिनों तक I go now कहते या सुनते ही मन में 'मैं जाता हूँ अब' का उच्चारण हो ही जाता है, तब अर्थबोध होता है। किन्तु धीरे-धीरे अभ्यास हो जाता है और इस मातृभाषा-रूपी दुभाषिये के बिना भी काम चल जाता है। कभी-कभी तो सपने में भी हम विदेशी भाषा बोलने लग जाते हैं। परन्तु बहुतों को आजीवन मातृभाषा का माध्यम लेना पड़ता है।

अर्थ-श्रेणी में भी शब्दार्थ-सम्बन्ध के व्यवधायक कई स्रोत हैं। जहाँ कहना है १९६५वें वर्ष में, वहाँ कविगण कहेंगे, "भूतर्तु रत्नचन्द्रेब्दे" और पहले भूत, ऋतु, रत्न और चन्द्र शब्दों से क्रमशः पंचभूत, वसन्तादि ऋतु, स्वर्ण आदि रत्न और चन्द्रमा का बोध होगा, फिर इनसे प्रसंगवश क्रमशः ५, ६, ९, १ संख्याओं का, तब 'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम से १९६५ इस सन् का बोध होगा। इसी भाँति "एक शून्य रथ तनय कँह सौ हजार मन सत्थ, उलटे तासी तासुपति भजसि न मन समरत्थ" आदि दृष्टकूट पदों में व्यवधान से ही अर्थबोध होता है। एक शून्य रथ = १ + ० + रथ = १० + रथ = दशरथ; सौ हजार मन = लक्ष + मन या लक्षमन, उलटे तासी — सीता, तासुपति सीतापति आदि। किन्तु जिस प्रकार क्रमशः अभ्यासवश मध्यमवर्त्ती मूल शब्द का व्यवधान मिट जाता है और विकृत शब्द से ही सीधे अर्थ-प्रतित होती है, उसी भाँति क्रमशः मध्यवर्त्ती मूल अर्थ का भी व्यवधान मिट जाता है और सीधे द्वितीय अर्थ ही उपस्थित हो जाता है। शब्द का अर्थ है मेघ, शरद् का अर्थ है मेघ फाड़नेवाली शरद् ऋतु, वर्ष का अर्थ है वृष्टि। किन्तु ये साल में एक ही बार आते हैं, अतः साल को भी इन्हीं नामों से पुकारा जाने लगा। अभ्यासवश मौलिक अर्थ का व्यवधान छूट जाने तथा सीधे अभिलषितव्य अर्थ का बोध होने से ही क्रमशः लक्ष्य अर्थ भी शक्य बन जाता है, जैसे गवेषणा, मृगया, कुशल, प्रवीण आदि शब्दों तथा जुगुप्स, चिकित्स आदि यौगिक धातुओं में। इस प्रकार सब शब्दों के वर्त्तमान अर्थ तक पहुँचने का मात्र विवरण बड़ा रोचक है, 'अन्यद्धि शब्दानां प्रवृत्ति निमित्तम् अन्यच्च प्रवृत्ति[1] निमित्तम' कहकर उसकी उपेक्षा कर देना ठीक नहीं। लड़का क्यों रोता है, यह जानने की चिन्ता और चेष्टा न कर "वह यूँ ही रोता रहता है" कह देना अवैज्ञानिक है।

संकेत-ग्रह के स्रोत :

किसी भी शब्द के उच्चारण करने पर जो किसी-न-किसी अर्थ की प्रतीति होती है, वह इसलिए कि शब्द और अर्थ के बीच नित्य-सम्बन्ध है। एक सम्बन्धी का स्मरण दूसरे सम्बन्धी का भी स्मरण अवश्य करा देता है। जब कहेंगे, 'पिता ने आज्ञा दी' तब पुत्र का आक्षेप अवश्य हो जायगा। 'मामा आये' कहने पर भगिने की भी सह-प्रतीति अवश्य होगी। शब्द और अर्थ के बीच स्थित इस प्रकार के सम्बन्ध को कोई 'वृत्ति' कहता है, कोई 'शक्ति'। शब्द की वृत्ति या शक्ति किसी अर्थ में अवश्य रहेगी। पर सर्वप्रथम इस शक्ति का ज्ञान और

१. साहित्यदर्पण, २।५।

ग्रहण कैसे होता है, इसके क्या साधन हैं ? शास्त्रों में इसके निम्नलिखित साधन बताये गये हैं—"शक्तिग्रहं'[१] व्याकरणोपमान कोशाप्त वाक्याद् व्यवहारतश्च, वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्ध पदस्य वृद्धाः"। अर्थात्—

(१) व्याकरण—व्याकरण बताता है कि पठ् का अर्थ पढ़ना तथा अक का अर्थ कर्त्ता है, अतः पाठक का अर्थ पढ़नेवाला है।

(२) उपमान—किसी ने सियार नहीं देखा है, पर उसने आप्त जन से सुना है कि सियार प्रायः कुत्ते की तरह का एक जानवर है, जो जंगल-झाड़ियों में रहता है। वह जंगल से निकलते किसी सियार को देखकर सोचता है, यह कुत्ते के आकार-प्रकार का है, अतः सियार है।

(३) कोश—पावक का व्याकरण से अर्थ हुआ पवित्र करनेवाला, पर कोश से मालूम हुआ कि यह शब्द अग्नि-अर्थ में रूढ़ है।

(४) आप्तवाक्य—शिक्षक ने बताया कि इस पक्षी का नाम है कोयल, और बालक को शक्तिग्रह हो गया, या कहा कि पिक कहते हैं कोयल को, और शक्तिग्रह हुआ।

(५) वाक्यशेष—जैसे एक वाक्य बोला गया "मि० जौन्सन तो प्रायः एक सप्ताह पहले यूरोप के दौरे पर जाने ही वाले थे।" इस वाक्य से श्रोता को यह नहीं मालूम हो सका कि ये मि० जौन्सन हैं कौन। तबतक वाक्यशेष कहा गया "पर अमेरिकी राष्ट्रपति के स्वागतार्थ यूरोप में आवश्यक उत्साह का अभाव पाया गया।" इस वाक्यशेष से पता चल गया कि मि० जौन्सन अमेरिका के वर्त्तमान राष्ट्रपति का नाम है।

(६) विवृति या व्याख्या—जैसे शिशुपाल-वध में मल्लिनाथ की व्याख्या से द्वितीय सर्ग, श्लोक ११ में सात्वतीसूनु का अर्थ "सात्वती नाम हरेः पितृष्वसा तस्याः सूनुश्चैद्यः"—शिशुपाल।

(७) सिद्ध (निश्चितार्थ) पद का सान्निध्य—"जेविस्को, गामा के साथ कुश्ती में मारा गया"—यहाँ निश्चितार्थक गामा के सान्निध्य से जेविस्को का अर्थ हुआ एक महान् पहलवान् व्यक्ति।

(८) व्यवहार—व्यवहार को देखकर अन्वय-व्यतिरेक से पता चलता है कि अमुक पद का अमुक अर्थ है। सभी छोटे बालकों को इसी स्रोत से संकेतग्रह होता है। विदेशों में जाकर अशिक्षित व्यक्ति भी व्यवहार देखकर ही वहाँ की भाषा का ज्ञान कर लेते हैं। छोटा बच्चा सुनता है कि पिताजी ने भैया से कहा—"गाम् आनय" और उस के बाद देखता है कि यह सुनकर भैया गाय ले आये। फिर पिता जी कहते हैं "महिषीम् आनय" और भैया यह सुनकर भैंस ले आते हैं। तब पिताजी ने कहा—'गां बधान'; यह सुनकर भैया ने गाय बाँध दी। यह देख-सुनकर उसके मन में अन्वय-व्यतिरेक की प्रक्रिया होती है। वह सोचता है, जब 'गाम् आनय' कहा गया तब गाय लाई गई, जब 'महिषीम् आनय' कहा गया तब भैंस लाई गई। दोनों वाक्यों में 'आनय' पद आया है, और दोनों

१. शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक २०।

बार आनयन क्रिया हुई है, अतः 'आनय' का अर्थ हुआ 'ले आओ'। फिर 'गाम् आनय' से गाय लाई गई, 'गां बधान' सुनकर गाय बाँधी गई, अतः दोनों वाक्यों में 'गाम्' पद आने और दोनों बार गाय को पकड़ना देखकर वह अनुमान कर लेता है, 'गाम्' का अर्थ है 'गाय को' तथा परिशेषात् 'महिषीम्' का अर्थ है 'भैंस को' इत्यादि। वस्तुतः शक्ति-ग्राहक शिरोमणि व्यवहार ही है। अन्वय-व्यतिरेक को आवाप-उध्वाप भी कहते हैं। तथा आज्ञा देनेवाले को प्रयोजक वृद्ध या उत्तम वृद्ध और उसका अनुसरण करनेवाले को प्रयोज्य वृद्ध या मध्यम वृद्ध। वस्तुतः ऊपर संकेतग्रह के जितने भी स्रोत बताये गये हैं, सबका मूल व्यवहार ही है। पतंजलि ने भी इसकी चर्चा की है, यह अभी कहा गया है।

शब्दशक्ति तथा शब्द और अर्थ के विभिन्न प्रकार :

व्यवहार आदि से शब्द का जो मूल अर्थ निर्धारित किया जाता है उसे **अभिधेय,** वाच्य या शक्य कहते हैं तथा शब्द और अर्थ के बीच वर्त्तमान उस सम्बन्ध (वृत्ति) को, जिसके कारण शब्द का उच्चारण करते ही अभिधेय अर्थ की उपस्थिति (स्मरण) हो जाती है, अभिधा या शक्ति या वाच्य-वाचक भाव कहते हैं। अभिधेय अर्थ को प्रकट करनेवाला शब्द अभिधायक या वाचक या शक्त कहा जाता है। इस प्रकार शब्द-अर्थ तथा सम्बन्ध के इन रूपों को अभिधायक-अभिधेय-अभिधा, वाचक-वाच्य-वाच्यवाचक भाव, या शक्त-शक्य-शक्ति की त्रयी कहते हैं। ये वाचक पद भी चार प्रकार के हो सकते हैं :

१. **यौगिक**—जो शब्द अपने अवयवों, प्रकृति और प्रत्यय से प्राप्त अर्थ-मात्र को कहे, न अधिक न कम, उसे यौगिक कहते हैं; जैसे दा-देना, ता-तृ-कर्त्ता, दाता-देनेवाला।

२. **रूढ़**—जो अवयवार्थ से निरपेक्ष रहकर अपना अर्थ प्रकट करता है, उसे रूढ़ कहते हैं। इसके उदाहरण सिद्धान्त-मुक्तावली ने दिये हैं—गो, मण्डल आदि; नागेश ने परमलघुमंजूषा में दिये हैं—मणि, नूपुर आदि। वस्तुतः प्रायः सब शब्दों का कोई-न-कोई योग होता है, किन्तु क्रमशः उसका मूल योगार्थ भूल जाता है और दूसरा लक्ष्य अर्थ ही अवशिष्ट रह जाता है, यह पीछे बता आये हैं। ऐसी स्थिति में मूल शब्द भी घिसकर ऐसी आकृति धारण कर लेता है कि उसके योगार्थ की पहचान करना कठिन हो जाता है। अथवा योगार्थ से अभिप्रेत अर्थ का सम्बन्ध (बीच की कड़ी) ही भूल जाता है और इसीलिए योगार्थ के ज्ञान के बिना ही सीधे अभिप्रेत अर्थ का ही बोध होने लगता है। गो, मण्डल, मणि, नूपुर, गवाक्ष आदि शब्दों में योगार्थ ढूँढ़ा जा सकता है, भले ही शब्द और अभिप्रेतार्थ के बीच यौगिक अर्थ की झलक भी नहीं मिलती हो। पर सम्प्रति, प्रत्युत, निश्चप्रच आदि शब्दों का योगार्थ तो ढ़ूँढ़ने पर भी नहीं मिलता, यद्यपि योग स्पष्ट है। मेरी समझ से रूढ़ केवल यदृच्छाशब्दों को ही मानना चाहिए, आजकल बच्चों का नाम लोग रख देते हैं—टुनटुन, बूटुन, मांटू आदि, जिसका कोई अर्थ यौगिक नहीं होता।

३. **योगरूढ़**—जो शब्द अपने योगार्थ को स्पष्ट प्रतीत कराकर भी, किसी विशेष वस्तु में उस अर्थ को सीमित कर दे, जैसे पंकज, द्विप, स्तम्बेरम, पीताम्बर, गांधी, नेहरू आदि।

४. **यौगिक रूढ़**—जो कभी कहीं यौगिक अर्थ को ही प्रकट करे और कभी कहीं

रूढ़ अर्थ को भी। जैसे अश्वगन्धा शब्द रूढ़ि से एक औषध-विशेष को तथा योगशक्ति से अश्वशाला को प्रकट करता है। मण्डप रूढ़ि से लतामण्डप, विवाह-मण्डप आदि को प्रकट करता है और योग से माँड़ पीनेवाले को। वस्तुतः मण्डप शब्द दो प्रकार से बना है, मण्ड्+अप—जो सजा दिया गया हो, मण्ड+प—जो माँड़ पीनेवाला हो। अतः इन दोनों अर्थों में इसे यौगिक ही मानना चाहिए। नागेश ने मण्डप शब्द से माँड़ पीनेवाले का बोध अभिधा से नहीं, लक्षणा से माना है। उनकी दृष्टि से रूढ़ अर्थ का परित्याग कर दूसरे अर्थ को प्रकट करना, चाहे वह यौगिक ही क्यों न हो, लक्षणा से ही हो सकता है। पर यह तर्क ठीक नहीं लगता। आश्चर्य है कि नागेश ने सप्तपर्ण, शुश्रूषा आदि शब्दों में भी अवयवार्थानुभव का अभाव माना है। इन स्थलों में तो अवयवार्थ की प्रतीति का प्रमाण सहृदय हृदय ही है। सप्तपर्ण वृक्ष के प्रायः सब गुच्छे सप्तपर्ण (सात पत्तोंवाले) होते हैं, और सच्चा सेवक सदा अपने सेव्य की आज्ञा सुनने तथा तदनुसार करने को उत्सुक रहता है।

मूलतः सभी शब्द व्यवहार के अन्वय-व्यतिरेक से अधिगतार्थ तथा योग से ही निष्पन्न होते हैं, बाद में भले ही उनकी अर्थजनकता का मूल भुला दिया जाय, या जानकर भी अर्थविस्तार, अर्थसंकोच आदि के कारण छोड़ दिया जाय। अतः साहित्यदर्पणकार का "अन्यद्धि शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्ति निमित्तम्" कहना (अश्वगन्धा आदि के लिए) तथा वाक्यपदीय और शब्दशक्ति-प्रकाशिका[1] का संकेत के आजानिक और आधुनिक दो भागों में बाँटना ठीक नहीं। आजानिक न अनादि है न ईश्वरकृत। विस्मृतयोगार्थ में प्राचीनतर संकेत के ही ये विविध नाम हैं। पहले सर्वत्र केवल व्यवहारमूलक योगमूलक ही अर्थ की प्रतित होती है, फिर कहीं उसकी सर्वथा उपेक्षा कर केवल रूढ़ि रखी जाती है, कहीं योग के साथ रूढ़ि मिला दी जाती है, कहीं दोनों को पृथक्-पृथक् भी रखते हैं। इस प्रकार एक ही शब्द की अर्थजनकता के ये चार स्तर भी हो सकते हैं। व्यवहार से कहीं पहले रूढ़ि का ग्रहण होता है कहीं योग का, पर यौगिक-रूढ़-योगरूढ़-यौगिकरूढ़ के विभिन्न स्तरों, सोपानों में शब्दों का स्थान-परिवर्तन (Transfer) चलता रहता है। रूढ़ शब्दों का योग ढूँढ़ा जाता है, और यौगिक शब्द रूढ़ हो जाते हैं, ये दोनों दो सीमाएँ हैं, बीच में योगरूढ़ तथा यौगिकरूढ़ दो स्टेशन हैं।

अर्थोपस्थिति का नियमन :

अक्सर एक ही शब्द योग अथवा रूढ़ि से अनेक अर्थों का बोधक होता है। ऐसे स्थलों में, अर्थात् जहाँ एक शब्द अनेक अर्थों में शक्त है वहाँ, कैसे किसी एक शक्य अर्थ की प्रतीति होगी इसका भी विचार वैयाकरणों, साहित्यिकों तथा दार्शनिकों ने किया है। नानार्थ शब्दों में एकार्थनियामक हेतु[2] ये हैं—

१. श्लोक २३।

२. "संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः। सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः"।

१. संयोग —हरि के वाच्य अर्थ विष्णु, इन्द्र आदि अनेक हैं। पर 'सशङ्खचक्रो हरिः' कहने पर शङ्खचक्र के संयोग से हरि का अर्थ यहाँ विष्णु ही होगा।

२. वियोग—इसी प्रकार 'अशङ्खचक्रो हरिः' कहने पर भी शङ्खचक्र के वियोग से विष्णु का ही बोध होगा; क्योंकि सम्भावना रहने पर ही निषेध किया जाता है।

३. साहचर्य—प्राणियों का संयोग ही साहचर्य कहा जाता है। भीमार्जुनौ कहने से भीम के साहचर्य से पाण्डव अर्जुन का ग्रहण होगा, सहस्रार्जुन का नहीं; पर रामार्जुनौ कहने पर राम अर्थात् परशुराम के साहचर्य से अर्जुन शब्द से सहस्रार्जुन का तथा अर्जुन के साहचर्य से राम शब्द से परशुराम का, दशरथापत्य का नहीं।

४. विरोधिता—'कर्णार्जुनौ' कहने पर भी कर्ण की विरोधिता से पाण्डव अर्जुन का ही यहाँ ग्रहण होगा, सहस्रार्जुन का नहीं।

इन चारों का संग्रह केवल सहभाव और असहभाव शब्दों से हो सकता है।

५. अर्थः —जैसे 'स्थाणुं वन्दे' में स्थाणु का अर्थ शिव होगा, ठूँठ पेड़ नहीं; क्योंकि उसे प्रणाम करने का कोई अर्थ नहीं है। दोनों पदों में अन्वय ही नहीं होगा।

६. प्रकरण—'सर्वं जानाति देवः' कहने पर प्रकरण से देव का अर्थ राजा आदि कोई देवतुल्य मनुष्य है, देवता नहीं।

७. लिंग—'कुपितो मकरध्वजः' कहने पर मकरध्वज का अर्थ कामदेव ही होगा, समुद्र नहीं; क्योंकि कोप-रूप धर्म की उस अचेतन में सम्भावना नहीं। यह काम का ही लिंग है।

८. अन्य शब्द-सान्निध्य—'देवस्य पुरारातेः'—यहाँ पुराराति शब्द के सान्निध्य से देव का अर्थ केवल महादेव है, दूसरे देव नहीं।

९. सामर्थ्य—'मधुना मत्तः कोकिलः' में मधु का अर्थ मदिरा नहीं, वसन्त ही होगा; क्योंकि कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य वसन्त में ही है।

१०. औचिती—'पातु वो दयितामुखम्'—यहाँ मुख का अर्थ सान्निध्य, औचित्य से ही निर्णीत हुआ; क्योंकि रक्षण में सान्निध्य का ही औचित्य या उपयोगिता है। मुझे तो प्रतीत होता है, यहाँ कवि नायिका के मुख पर ही फिदा है। यहाँ मुख ही वर्ण्य है, सान्निध्य नहीं।

११. देशः—'भात्यत्र परमेश्वरः' यहाँ 'अत्र' इस स्थाननिर्देश से परमेश्वर का अर्थ महान् राजा है, भगवान् नहीं।

१२. काल—'चित्रभानुर्विभाति' यदि रात में कहा जाय तो उसका अर्थ आग ही होगा, सूर्य नहीं; क्योंकि सूर्य रात में नहीं चमकता।

१३. स्वर—'इन्द्रशत्रु' शब्द का अन्तोदात्त रहने पर षष्ठी तत्पुरुष से इन्द्र का विनाश करनेवाला और द्वितीय स्वर के उदात्त रहने पर बहुव्रीहि से इन्द्र द्वारा नष्ट होनेवाला अर्थ होगा। अँगरेजी में भी बलाघात (accent) से अर्थ बदलने के बहुत उदाहरण मिलते हैं।

इनके अतिरिक्त भी 'एतावन्मात्रस्तनिका' आदि स्थलों में अभिनयादि से शब्दों का प्रकृत वाच्यार्थ नियन्त्रित होता है। वस्तुतः ऊपर तेरह कारण गिनाना अनावश्यक विस्तार है। इनमें से अधिकांश 'अन्य शब्दसान्निध्य' तथा 'प्रकरण' रूप दो कारणों से ही गतार्थ है।

यही शब्द का मूल अर्थ है, जिसके साथ शब्द का इतरेतराध्यास-मूलक तादात्म्य सम्बन्ध या ईश्वरेच्छा-रूप शक्ति-सम्बन्ध माना जाता है। यही मुख्य वृत्ति कहलाती है। किन्तु, कभी-कभी शब्द अपने बाच्य मुख्य अर्थ से आगे बढ़कर कुछ और अधिक अर्थ की प्रतीति करा देता है। जब हम किसी की अल्पबुद्धिता का क्रोध के साथ वर्णन करते हैं तो कहते हैं—'श्यामू एकदम गदहा है'। भला मनुष्य श्यामू का गदहे से समानाधिकरण कैसे हो सकता है? अतः गदहा शब्द यहाँ पशुविशेष गर्दभ-रूप मुख्य अर्थ को प्रकट कर गर्दभ-सादृश्य रूप अतिरिक्त अर्थ को भी कहता है। अर्थात् श्यामू गदहे के समान अल्पबुद्धि है। इसी भाँति जब हम किसी साथी से कहते हैं, 'घण्टी बज गई' तो यहाँ केवल मुख्य अभिधेय ही नहीं प्रकट होता, घण्टी बजना तो साथी भी सुन ही रहा है, यह कहने से क्या लाभ? मुख्य अर्थ के अतिरिक्त इसका अभिप्राय हो जाता है, 'पढ़ाई खतम हुई, घर चलो'। ये मुख्यार्थ के बादवाले अर्थ कैसे निकलते हैं? इसपर भाषावैज्ञानिकों ने विचार कर अभिधा के अलावा दो और वृत्तियाँ शब्दों में मानी हैं, जिनके द्वारा शब्द मूल मुख्य अर्थ के अतिरिक्त और अर्थों का भी देश-कालवश बोधन करता है। जैसे एक ही देवदत्त किसी का पिता, किसी का मामा, किसी का चचा कहा जाकर अपने सम्बन्धी-शब्द पुत्र, भगिना तथा भतीजे का स्मरण कराता है वैसे ही एक ही शब्द अभिधायक लक्षक और व्यंजक-रूप सम्बन्धी बनकर अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-रूप त्रिविध सम्बन्ध से अभिधेय, लक्ष्य, व्यंग्य-रूप त्रिविध सम्बन्धी स्वरूप अर्थों की प्रतीति कराता है। ऊपर शब्द की अभिधा-शक्ति-रूप सम्बन्ध से अभिधायकता तथा अर्थ की अभिधेयता के स्थल-विस्तार से दिखाये जा चुके हैं। अब लक्षणा तथा व्यंजना-शक्तियों का निरूपण किया जा रहा है।

लक्षणा :

विश्वनाथ कविराज का कहना है कि मुख्य[१] अर्थ की बाधा रहने पर जिसके द्वारा रूढ़ि अथवा प्रयोजनवश मुख्य अर्थ से सम्बद्ध दूसरे अर्थों का बोधन होता है, उसे लक्षणा-वृत्ति कहते हैं। मम्मट (काव्यप्रकाश) की भी प्रायः यही परिभाषा[२] है। विश्वनाथ न्याय-पंचानन[3] (मुक्तावली-कारिकावली) लक्षणा की परिभाषा देते हुए कहते हैं—तात्पर्य की अनुपपत्ति के कारण जो शक्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोधन करावे उसे लक्षणा कहते हैं। वस्तुतः लक्षणा की यही परिभाषा ठीक है। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यहाँ अन्वय की नहीं, तात्पर्य की अनुपपत्ति है। केवल कौओं से भी दही बचाया जा सकता है, पर यहाँ तात्पर्य है काक-सदृश सभी दही को बरबाद करनेवालों से। इसी भाँति 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं

१. साहित्यदर्पण, २।५।

२. काव्यदर्पण, २।९।

३. कारिकावली, ८१।

विसृजेत्' —यहाँ भी अन्वय की बाधा नहीं है, बादल लगने पर भी किसी-न-किसी दिन तो बादल फटेंगे और रात में नक्षत्र-दर्शन होगा ही। किन्तु, यहाँ तात्पर्य केवल सूर्यास्त के बाद अँधेरा हो जाने के काल से है। नक्षत्र की लक्षणा (स्पष्ट) रात्रि में है। साहित्य-दर्पण ने इसे अर्पिता शक्ति तथा काव्य-प्रकाश ने आरोपिता शक्ति (क्रिया) कहा है, अर्थात् यह मुख्य शक्ति या वृत्ति नहीं है।

इसके निम्नलिखित भेद हैं—

(क) तात्स्थ्यात् तथैव ताद्धर्म्यात् तत्सामीप्यात् तथैव च, तत्साहचर्यात् तादर्थ्यात् ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः। इस प्रकार पाँच सम्बन्धों से लक्षणा हो सकती है—

(अ) तात्स्थ्य से—जैसे मंचा हसन्ति, ग्रामः पलायितः आदि में तात्स्थ्य सम्बन्ध से लक्ष्य अर्थ हुए मंचस्था हसन्ति, ग्रामस्थाः पलायिताः आदि ;

(आ) तत्सामीप्य से—गङ्गायां घोषः का लक्ष्य अर्थ हुआ गङ्गासमीपे घोषः ;

(इ) तत्साहचर्य से—यष्टीः प्रवेशय, कुन्ताः प्रविशन्ति के अर्थ हुए यष्टिमतः प्रवेशय, कुन्तवन्तः प्रविशन्ति;

(ई) तादर्थ्य से—इन्द्रः का अर्थ हुआ इन्द्रार्था स्थूणा।

(उ) ताद्धर्म्य से—सिंहो माणवकः, गौर्वाहीकः आदि में सिंहसदृशः माणवकः, गोसदृशः वाहीकः आदि लक्ष्यार्थ हुए।

इनमें तत्सामीप्य से ही तात्स्थ्य और तत्साहचर्य—इन दोनों का भी संग्रह हो सकता है, तथा इनसे अतिरिक्त सम्बन्धों[1] में भी लक्षणा के उदाहरण मिल सकते हैं। अँगरेजी में Transferred Epithet के जितने उदाहरण मिलते हैं, जैसे थका दिन, उदास सन्ध्या, रोती रात, थका रास्ता आदि, सबमें किसी-न-किसी सम्बन्ध से लक्षणा ही रहती है।

(ख) पूर्वोक्त उदाहरणों में ताद्धर्म्य (अर्थात् सादृश्य) सम्बन्ध से जो लक्षणा की जाती है, उसे गौणी लक्षणा कहते हैं, शेष सभी सम्बन्धों से की गई लक्षणा को शुद्धा।

(ग) एक और दृष्टि से लक्षणा के तीन भेद होते हैं—(अ) जहत्स्वार्था, जिसमें लक्ष्य अर्थ शक्य अर्थ को सर्वथा छोड़कर दूसरे निकटस्थ सम्बन्धी से अन्वित हो; जैसे ग्रामः पलायितः, मंचाः हसन्ति आदि में शक्य अर्थ ग्राम का पलायन क्रिया तथा मंच का हसन क्रिया से अन्वय नहीं होता, केवल लक्ष्य अर्थ का ही इन क्रियाओं से अन्वय होता है। गङ्गायां घोषः, कलिंगः साहसिकः आदि में भी यही लक्षणा है। इसे ही लक्षणलक्षणा भी कहते हैं।

(आ) अजहत्स्वार्था—जिस लक्षणा में लक्ष्य अर्थ शक्य अर्थ के साथ ही अपने सम्बन्धी पद से अन्वित हो, अर्थात् लक्ष्यार्थ के अन्वयी के साथ शक्यार्थ का भी अन्वय हो,

---

१. 'एकशतं षष्ठ्यर्थाः'। जैसे अवयवावयविभाव से अग्रमात्र अवयव में अयं हस्तः, स्वस्वामिभाव से राजकीय पुरुष को राजा अयम्, तात्कर्म्य से अतक्षा को भी तक्षा अयम् आदि कहें।

जसे यष्टीः प्रवेशय, कुन्ताः प्रविशन्ति आदि में प्रवेश क्रिया में यष्टि और कुन्त का भी अन्वय है, काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् आदि में काक का भी रक्षण क्रिया से। इसे ही उपादान लक्षणा भी कहते हैं।

(इ) जहदजहत् स्वार्था—जिसमें विशिष्टार्थ-बोधक शब्द की पदार्थैकदेश में लक्षणा हो, अर्थात् जहाँ अपने शक्य अर्थ के एक खण्ड या कुछ अंश का परित्याग हो और कुछ अंश का ग्रहण। जैसे (गाँव के) एक अंश के जलने पर भी ग्रामः दग्धः, पटः दग्धः, हस्तः दग्धः आदि। 'तत् त्वमसि' प्रयोग में यही लक्षणा है, तत् के सर्वज्ञत्व तथा त्वम् के अल्पज्ञत्व रूप-वैशिष्ट्य अंश का परित्याग कर दोनों के शुद्ध चैतन्य रूप शुद्ध अर्थों में अभेद-अन्वय हुआ। इसे लक्षणोपादान लक्षणा भी कह सकते हैं।

(घ) एक और दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किये जाते हैं—

(अ) जिसमें लक्षणा किसी प्रयोजन से की जाय, अर्थात् जिस लक्षणा से लक्ष्य अर्थ में कुछ वैशिष्ट्य की प्रतीति हो, उसे प्रयोजनमूला कहते हैं। जैसे गङ्गायां घोषः—यहाँ गङ्गा की गङ्गातट में लक्षणा करने का प्रयोजन यह है कि गङ्गागत शीतत्व, पावनत्व आदि के अतिशय का गङ्गातट में भी बोध हो। यह बोध व्यंजना से होता है। अतः प्रयोजनमूला लक्षणा सदा व्यंजना का मूल भी बन जाती है।

(आ) रूढ़िमूला व्यंजना—जहाँ लक्षणा का कोई प्रयोजन नहीं हो, यों ही प्रसिद्धिवश लक्षणा की जाती हो। जैसे कलिङ्गः साहसिकः। यहाँ कलिङ्ग शब्द की कलिङ्ग देशवासी में लक्षणा है, पर इस कारण व्यवहार परम्परा-मात्र है, कोई विशेष प्रयोजन नहीं। वस्तुतः यह निरूढ़ा लक्षणा-शक्ति का ही भेद है। अधिकांश शक्ति-स्थल में यह निरूढ़ लक्षणा ही काम करती रहती है, यह विश्लेषण से देखा जा सकता है। प्रायः प्रयोजन छिप जाने से ही लक्षणा रूढ़ हो जाती है। यहाँ कलिंग का अर्थ है सभी कलिंगवासी, एक-दो नहीं।

(ङ) एक और दृष्टि से लक्षणा के दो भेद होते हैं—

(अ) जो विषयी के द्वारा अनिगीर्ण विषय का विषयी के साथ तादात्म्य की प्रतीति करावे वह सारोपा है, अथवा जहाँ आरोप्यमाण या उपमान गाय आदि तथा आरोप-विषय या उपमेय वाहीक दोनों शब्दतः गृहीत होकर सामानाधिकरण्येन कहे जायँ, जैसे गौर्वाहीकः, आयुर्घृतम् आदि।

(आ) जहाँ आरोप्यमाण का ही शब्दतः कथन हो, आरोप-विषय अनिर्दिष्ट या निगीर्ण हो वह साध्यवसाना लक्षणा है। जैसे कुन्ताः प्रविशन्ति, गौर्जल्पति आदि, या गौरयम्, आयुरिदम् आदि।

इस प्रकार शुद्धा, गौणी २ × उपादान, लक्षण २ × प्रयोजन, रूढ़ि २ × सारोपा, साध्यवसाना २ = १६ प्रकार की लक्षणाएँ हुईं, अर्थात् शुद्धा के ८ भेद तथा गौणी के ८ भेद। इनमें प्रयोजनवती लक्षणा के आठ भेदों में प्रयोजन के कहीं गूढ़ व्यंग्य कहीं अगूढ़ व्यंग्य रहने से पुनः २-२ भेद होंगे। जैसे 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' में व्यंग्य गूढ़ है, पर

"उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि" में उपदिशति के लक्ष्य आविष्करोति रूप अर्थ में आविष्कारातिशय रूप व्यंग्य अर्थ प्रकट है। फिर इस गूढ़ तथा अगूढ़ प्रयोजन के धर्मिगत और धर्मगत होने से यह षोडशविध प्रयोजनवती लक्षणा बत्तीस प्रकार की हो जाती है। जैसे 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' में लक्ष्य अर्थ अत्यन्त दुःखसहिष्णु राम-रूप धर्मी में उसी का अतिशय फल है, तथा गङ्गायां घोषः आदि में शीतत्व, पावनत्व आदि धर्म का अतिशय (वस्तुतः धर्मी का अतिशय क्या होगा ? कहीं भी धर्म का ही अतिशय होता है। यहाँ भी राम-रूप धर्मी में अत्यन्तदुःखसहिष्णुत्व-रूप धर्म का ही अतिशय है)। इस प्रकार लक्षणा के ४० भेद हुए, अर्थात् प्रयोजनवती में ३२ तथा रूढ़ा में ८। फिर इनके पदगत तथा वाक्यगत होने से कुल ८० भेद हुए[1]। पदगत पहले कई कहे जा चुके हैं, जैसे गौर्वाहीकः, और वाक्यगत "उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते" आदि स्थलों में मिलते हैं, जहाँ किसी लम्बे वाक्य में कई पदों में लक्षणा होती है।

पतंजलि ने पाणिनि-सूत्र "पुंयोगादाख्यायाम्"[2] में लक्षणा का वर्णन करते हुए बताया है—चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् स इत्येतद् भवति, तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति। गौतम[3] ने तो और भी कई सम्बन्ध गिनाये हैं, जैसे तत्परिमाण सम्बन्ध से प्रस्थः सक्तुः, तद्योग सम्बन्ध से कृष्णः शकटः, तत्साधनत्व सम्बन्ध से अन्नं प्राणाः, तदाधिपत्य सम्बन्ध से अयं कुलस्य राजा आदि में लक्षणा हुई है। वैपरीत्य सम्बन्ध से 'उपकृतं बहु०' में उपकृत की अपकृत में लक्षणा, तत्कर्तृत्व सम्बन्ध से 'गीता कथयति' में गीता की गीताकार में लक्षणा आदि और भी बहुत-से सम्बन्ध हैं।

कुछ लोग 'स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा' की जगह 'स्वबोध्यसम्बन्धो लक्षणा' यह परिभाषा करना चाहते हैं। 'गभीरायां नद्यां घोषः' में यदि नदी की नदीतीर में लक्षणा करें तो गभीर का नदीतीर में अन्वय नहीं होगा, इसी भाँति गभीर की भी गभीरतीर में लक्षणा नहीं हो सकती; क्योंकि गभीरतीर का नदी के साथ अन्वय कैसे होगा ? यदि दोनों पदों में लक्षणा कर गभीरतीर नदीतीर अर्थ करें, तब भी विवक्षित गभीर का अन्वय नदी में नहीं प्राप्त हो सकता। पर गभीरायां नद्यां इस समुदाय से बोध्य गभीरत्वविशिष्ट नदी की यदि नदीतट में लक्षणा कर दें तो 'गभीरत्वविशिष्ट नदी का तट' यह लक्ष्यार्थ प्राप्त हो सकता है। द्विरेफ पद में पहले द्विरेफ की लक्षणा भ्रमर शब्द में होगी, फिर भ्रमर शब्द से उसके वाच्य अर्थ की प्रतीति हुई। यहाँ द्विरेफ शब्द की स्वलक्ष्यवाच्य में लक्षणा हुई। इसे लोग लक्षितलक्षणा कहते हैं। यह लक्षण-लक्षणा से भिन्न वस्तु है। स्वबोध्यसम्बन्ध मानने से यहाँ भी काम चल जायगा। 'ऋतुरामांक चन्द्रेऽब्दे' आदि स्थलों में ऋतु स वसन्तादि तथा उससे छह की संख्या का बोध भी ऐसे ही परम्परित शक्ति से होता है।

---

१. यह विषय साहित्य-दर्पण तथा काव्यप्रकाश में खब विस्तार से दिया गया है, वहीं से समझना चाहिए।

२. ४।१।४८।

३. न्यायसूत्र, २।२।५९।

व्यंजना :

(क) ऊपर लक्षणा के जो दो भेद बताये गये—रूढ़िमूला और प्रयोजनमूला, इनमें रूढ़िमूला सदा अव्यंग्या तथा प्रयोजनमूला सदा सव्यंग्या रहती है। अर्थात् सभी प्रयोजनवती लक्षणाओं में प्रयोजन सदा व्यंजना-वृत्ति से ही गम्य रहता है। जैसे गङ्गायां घोषः वाक्य में गङ्गा की लक्षणा गङ्गातट में हुई। पर इस लक्षणा का क्या प्रयोजन हुआ ? 'गङ्गातटे घोषः' ही क्यों न सीधे कह दिया कि 'गङ्गायां घोषः' कहकर पहले गङ्गा से अभिधेय अर्थ-प्रवाह की प्रतीति कराई, फिर तत्सामीप्य सम्बन्ध से गङ्गातट-रूपी लक्ष्य अर्थ का बोध कराया ? यहाँ यह प्रयोजन है कि 'गङ्गायां घोषः' कहने से गङ्गाप्रवाहगत जो शीतत्व, पावनत्व आदि का अतिशय रूप धर्म है, वह तट में और परम्परया घोष में भी उपचरित हो जाता है तो अर्थ होता है कि यह घोष गङ्गा के इतने पास है कि उसमें गङ्गा-सी शीतलता तथा पवित्रता का अनुभव होता है। यह अर्थ न 'गङ्गा' पद की शक्ति से आ सकता है न लक्षणा से; क्योंकि शक्ति से प्रवाह-रूप अर्थ और लक्षणा से तट-रूप अर्थ का बोध हो जाने पर ये दोनों वृत्तियाँ विरत हो जायँगी। शीतत्व पावनत्व आदि की प्रतीति कराने के लिए व्यंजना नाम की एक तीसरी वृत्ति माननी ही पड़ेगी; क्योंकि एक सम्बन्ध से अनेक अर्थों का बोध नहीं हो सकता। अन्यथा व्यंग्य अर्थ का भी बोध यदि लक्षणा ही करा दे तो लक्ष्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का बोधन अकेली अभिधा ही क्यों न करा देगी। "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः" की उपमा देकर राम के एक बाण से ही सात तालों के भेदन के समान एक शक्ति से दो अर्थों का या तीन अर्थों का बोधन नहीं हो सकता; क्योंकि 'शब्द बुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापारो भावः' नियम से वाचक या लक्षक शब्द अभिधा या लक्षणा से एक बार शक्य या लक्ष्य अर्थ-बोधन करा देने पर दुबारा उसी सम्बन्ध से दूसरे अर्थ का बोधन नहीं करा सकता। अतः इस प्रयोजन को प्रकट करने के लिए तीसरी वृत्ति व्यंजना माननी ही पड़ेगी। चूँकि इसका मूल लक्षणा है, इसलिए इसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं।

(ख) अभिधा या शक्ति की व्याख्या के अवसर पर कह आये हैं कि हरि आदि बहुत-से शब्दों की शक्ति या अभिधा अनेक अर्थों में होती है। इन्हें अनेकार्थक शब्द कहते हैं। परन्तु संयोग-वियोग आदि पूर्वोक्त कारणों से एक जगह एक शब्द से एक ही अर्थ का अभिधान होता है। ऐसी जगहों में प्रायः एक अर्थ के वाच्य होने पर भी दूसरा अर्थ व्यंजना वृत्ति से उपस्थित होकर झाँक जाता है। जहाँ भी अनेकार्थक शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ दो स्थितियाँ हो सकती है : (अ) प्रकरणादिवश वहाँ अनेक अर्थ प्रस्तुत हो सकते हैं, अथवा प्रकरणादि के अभाव से अनेक अर्थों का समकोटिक संशय हो सकता है। यह विषय श्लेष का है। (आ) वहीं प्रकरणादि से एक ही वाच्यार्थ निर्धारित हो जाता है, किन्तु सामग्री के कारण दूसरे अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है। यह व्यंजना का विषय है, अर्थात् ऐसे स्थल में दूसरे अर्थ का आभास व्यंजना-वृत्ति ही कराती है। रसगंगाधर ने ठीक ही कहा है, "श्लेषे द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्वम्, एककालत्वं च; इह त्वेकस्य वाच्यत्वम् अपरस्य च व्यङ्ग्यत्वम् भिन्न-कालत्वं च इति"। इसे ही अभिधामूला व्यंजना कहते हैं; क्योंकि इसका मूल अभिधा है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि मूल वृत्ति अभिधा ही है। कहीं भी किसी भी शब्द का प्रयोग किया जाय, वहाँ अभिधा-वृत्ति का आश्रयण अवश्य करना पड़ता है। शब्द से पहले वाच्य अर्थ की प्रतीति अवश्य ही होती है। इसके बाद कई सोपान हो सकते हैं—कभी केवल अभिधेय अर्थ की ही प्रतीति होगी, कभी व्यंग्य अर्थ की भी। जहाँ लक्षणा होगी, वहाँ कभी वहीं तक अर्थ-प्रतीति का सोपान समाप्त हो जायगा, कभी उसके बाद फिर प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए व्यंजना भी होगी। इसी भाँति जहाँ व्यंजना होगी, वहाँ उसी सोपान पर अर्थ प्रतीति समाप्त हो जायगी या (ग) व्यंजनामूला एक और व्यंजना होगी। इसकी तालिका इस प्रकार बन सकती है—

- वृत्ति
  - अभिधा (शक्ति)
    - (विश्रान्ति)
    - लक्षणा
      - (विश्रान्ति)
      - व्यंजना
    - व्यंजना
      - (विश्रान्ति)
      - व्यंजना

ऊपर अभिधामूला तथा लक्षणामूला व्यंजना के उदाहरण दिये जा चुके हैं। चूँकि ये शब्दाश्रित हैं, इसलिए इसे शाब्दी व्यंजना कहते हैं।

व्यंजना-वृत्ति में एक यह विशेषता है कि यह केवल शब्द में ही नहीं, अर्थ में भी रहती है, जिसे आर्थी व्यंजना कहते हैं। इसके बहुत-से भेद हैं—(१) वक्ता या (२) बोद्धव्य, (३) या वाक्य, (४) या अन्य सन्निधि, (५) या वाच्य, (६) या प्रकरण, (७) या देश, (८) या काल, (९) या काकु, (१०) या चेष्टा आदि के वैशिष्ट्य से जो अन्य अर्थ को व्यक्त करे, वह आर्थी व्यंजना कहलाती है।

जिस प्रकार अभिधाबोध्य को अभिधेय और लक्षणाबोध्य को लक्ष्य कहते हैं, वैसे ही व्यंजना-बोध्य को व्यंग्य कहते हैं। व्यंग्य अर्थ की स्थिति दो प्रकार से रह सकती है—वह वाच्य अर्थ से अधिक चमत्कारी हो सकता है, या कम। जहाँ वह वाच्य से अधिक चमत्कारक रहता है उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं, और जहाँ कम या तुल्य चमत्कारक, उसे गुणीभूत व्यंग्य। इस प्रकार काव्य के उत्कर्ष-अपकर्ष का साधक व्यंजना-वृत्ति और व्यंग्य-अर्थ की कसौटी ही है।

इस ध्वनि के बहुत भेद-प्रभेद है। शाब्दी व्यंजना में लक्षणामूला को अविवक्षित वाच्य तथा अभिधामूला को विवक्षितान्य परवाच्य कहते हैं। इनमें लक्षणामूल या अविवक्षित वाच्य ध्वनि के प्रथमतः दो भेद हैं—(१) जहत्स्वार्थामूलक या अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य; जैसे—"निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते", यहाँ अन्ध का लक्ष्य अर्थ है अप्रकाश, तथा अप्रकाशातिशय व्यंग्य है। (२) अजहत्स्वार्थामूलक या अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य, जैसे

'कदली कदली०', यहाँ द्वितीय कदली का लक्ष्यार्थ है जाड्यादिगुण-विशिष्ट कदली और व्यंग्य है जाड्याद्यतिशय। विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूलक ध्वनि के भी प्रथमत: दो ही भेद हैं : (क) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य। यह रस, भाव आदि की अनन्तविधता से अगण्य हो जाता है, अत: इसमें एक ही भेद मानते हैं। यहाँ व्यंग्य की प्रतीति में क्रम रहता अवश्य है, पर उत्पलपत्रशतभेदन न्याय से विभाव, अनुभाव आदि सबकी प्रतीति मिली ही होती है, क्रम लक्षित नहीं होता। सभी रसों, भावों, रसाभासों आदि के उदाहरण इसी ध्वनि के उदाहरण हैं, यही वस्तुत: काव्य की आत्मा है। (ख) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य—इसमें व्यंग्य-प्रतीति का क्रम लक्ष्य रहता है। इसके तीन प्रभेद हैं—(अ) शब्दशक्त्युत्थ, (आ) अर्थशक्त्युत्थ तथा (इ) शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ। इनमें भी शब्दशक्त्युत्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) वस्तु-ध्वनि, तथा (२) अलंकार-ध्वनि। अर्थशक्त्युत्थ के बारह प्रभेद हैं—(१) स्वत:सम्भवी वस्तु से वस्तु-ध्वनि, (२) स्वत: सम्भावी वस्तु से अलंकार-ध्वनि, (३) स्वत:सम्भावी अलंकार से वस्तु-ध्वनि, (४) स्वत:सम्भवी अलंकार से अलंकार-ध्वनि (५) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि, (६) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकार-ध्वनि, (७) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु-ध्वनि, (८) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार-ध्वनि, (९) कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु-ध्वनि, (१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकार-ध्वनि, (११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु-ध्वनि, तथा (१२) कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार-ध्वनि।

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ ध्वनि में एक ही भेद मिलता है, वस्तुना अलंकार-ध्वनि।

इस प्रकार ध्वनि के १८ भेद हुए। इनमें उभयशक्त्युत्थ तो केवल वाक्य में ही सम्भव है, पर शेष १७ में पदगत तथा वाक्यगत होने से दो-दो भेद हो जाते हैं। इस प्रकार कुल ३५ भेद हुए। इनमें अर्थशक्त्युद्भव रूप द्वादशविध ध्वनि-प्रबन्धगत भी होते हैं। अत: इन्हें मिलाकर ४७ भेद हुए। फिर असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के पदगत वाक्यगत के अलावा वर्ण-गत, पदांशगत, रचनागत तथा प्रबन्धगत भी होने से ५१ भेद हुए। इन ५१ भेदों के परस्पर एकाश्रयानुप्रवेश, अङ्गाङ्गिभाव तथा सन्देह-रूप त्रिविध संकर तथा परस्पर निरपेक्ष स्थिति-रूप एकविध संसृष्टि से १०४०४ भेद हुए। इनमें यदि शुद्ध ५१ भेदों को मिला दें तो १०४५५ भेद हुए। (५१ × ५१ × ४ + ५१ = १०४५५)।

जहाँ व्यंग्य वाच्य के तुल्य या उससे हीन स्वर का होता है, उसे गुणीभूत व्यंग्य-काव्य कहते हैं। इसके आठ भेद होते हैं—(१) इतरांग, (२) काक्वाक्षिप्त, (३) वाच्यसिद्ध यंग, (४) सन्दिग्ध प्राधान्य, (५) तुल्यप्राधान्य, (६) अस्फुट, (७) अगूढ़ तथा (८) असुन्दर।

इस प्रकार व्यंजना का विस्तार अनन्त है। अभी कुछ और छोड़ ही दिये गये हैं। जैसे अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में वाच्यार्थ-शक्त्युद्भव, लक्ष्यार्थ-शक्त्युद्भव तथा व्यंग्यार्थ-शक्त्युद्भव के भेद से और भी बहुत संख्या बढ़ जायगी, जिसका विचार छोड़ दिया गया है। साथ ही कुछ स्थलों में एक व्यंग्य-अर्थ से दूसरा, उससे तीसरा व्यंग्य निकलता है। जैसे "उअ

णिच्चल[1] णिप्फन्दा०" में बलाका की निःस्पन्दता से उनकी विश्वस्तता ध्वनित है, विश्वस्तता से इस स्थल की विजनता ध्वनित है और विजनता से इसकी संकेतस्थानता ध्वनित, फिर इससे स्थाननिर्जनत्व-रूप व्यंग्यार्थवैशिष्ट्य-रूप प्रयोजन।

इस प्रकार काव्य की आत्मभूत व्यंजना-रूप शब्दशक्ति का सूक्ष्म विश्लेषण काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि काव्य-ग्रन्थों में देखना चाहिए। जहाँ शब्द किसी अर्थ की व्यंजना करता है वहाँ वह अभिधेय, लक्ष्य, व्यंग्य अर्थों में से किसी को आधार बनाता है और जहाँ अर्थ ही किसी अर्थ की व्यंजना करता है, वहाँ वह भी स्वयं किसी शब्द से बोध्य होने के कारण शब्द की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार शाब्दी व्यंजना से अर्थ की तथा आर्थी व्यंजना में शब्द की भी अपेक्षा रहती है। शब्द और अर्थ सदा परस्पर सापेक्ष रहेंगे ही।

इन सबके उदाहरण, व्याख्या आदि काव्य-ग्रन्थों[1] में देखना चाहिए।

तात्पर्य :

साहित्यदर्पणकार ने कहा है, "तात्पर्याख्यां[2] वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने, तात्पर्याख्यं तदर्थं च वाक्यं तद्‌बोधकं परे। अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरमाद् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नामवृत्तिः, तदर्थश्च तात्पर्यार्थः, तद्‌बोधकं च वाक्यम् इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्"। इसके टीकाकार रामचरण तर्कवागीश लिखते हैं कि जब वाक्यस्थ एक-एक शब्द से अभिधा, लक्षणा द्वारा पदार्थों की उपस्थिति हो जाती है तो पूरे वाक्य से उनमें परस्पर सम्बन्ध की प्रतीति के लिए वाक्य में तात्पर्य नाम की एक चौथी वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है, यह प्राचीन नैयायिकों का मत है। आधुनिक नैयायिक इसे ही संसर्ग-मर्यादा से वाक्यार्थमान कहते हैं। इन लोगों को अभिहितान्वयवादी कहते हैं; क्योंकि इन लोगों का सिद्धान्त है कि अभिधेय या लक्ष्य अर्थ पहले शुद्ध निरन्वय रहते हैं, तात्पर्य-वृत्ति से ही वाक्य उनमें परस्पर यथायोग्य अन्वय कराता है। इस प्रकार अभिहितों का बाद में अन्वय होता है। कुमारिलभट्ट के अनुयायी मीमांसक भी अभिहितान्वयवादी ही हैं। पर प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक अन्विताभिधानवादी हैं। उनका कहना है कि क्रिया कारक से तथा कारक क्रिया से सदा अन्वित रूप में ही रहता है, अतः अन्वित अर्थ ही शक्य या लक्ष्य होता है। पदविशेष के समभिहार से केवल अन्वय-विशेष की स्मृति हो जाती है। इसलिए अलग से वाक्य में तात्पर्य नाम की वृत्ति की कल्पना निरर्थक है।

काव्यप्रकाश[3] भी कहता है—तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्—आकाङ्क्षा सन्निधि योग्यता वशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां परस्परसमन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि

१. साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद में अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य में आर्थी व्यंजना का उदाहरण।

२. परिच्छेद २, कारिका २०।

३. उल्लास २, कारिका ६।

वाक्यार्थः समुल्लसति इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ; वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधान-वादिनः" । इसकी टीका में प्रदीप का कहना है कि अभिहितान्वयवादियों की मान्यता के अनुसार लाघव से पदों की पदार्थ-मात्र में शक्ति रहती है, अन्वय-अंश में नहीं; क्योंकि इसमें गौरव भी है और अन्वय-रूप अर्थ अन्यलभ्य भी है। अन्वयांश को ही तात्पर्यार्थ कहते हैं, यह वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य से भिन्न है तथा आकांक्षा, योग्यता-सन्निधि के कारण अपदार्थ रहकर भी प्रतीत होता है। जो पदार्थ नहीं है उसकी भी प्रतीति मानने से अतिव्याप्ति की शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि आकांक्षादि से उसी अपदार्थ की प्रतीति मानी जायेगी, जो पदार्थ से अन्वित होगा। इधर अन्विताविधानवादियों का यह कहना है कि पदों की शक्ति पदार्थ की ही भाँति वाक्यार्थ-रूप अन्वय में भी है; क्योंकि शक्तिग्राहक शिरोमणि व्यवहार में हम सदा अन्वित पदार्थ की ही उपस्थिति पाते हैं, अतः अन्वित पदार्थ में ही पदों की शक्तिकल्पना उचित है। यदि अन्वय-भाग को हम शक्य नहीं मानें तो वह अनुभव-विषय कैसे होगा? विना शक्य (या लक्ष्य) हुए किसी अर्थ का अनुभव नहीं हो सकता। यदि अशक्य का भी अनुभव में प्रवेश हो जाय तब तो शाब्दबोध में किसी भी बाह्य पदार्थ की प्रतीति होने लगे। नागेश ने अन्विताभिधानवादियों के पक्ष में भी ठीक ही आपत्ति दी है कि अन्वितत्वेन शक्ति रहने पर भी अन्वय-विशेष के भान के लिए आकांक्षा आदि को अवश्य ही कारण मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार अन्विताभिधानवादियों को भी विशेष-रूपेण अशक्य की ही प्रतीति माननी पड़ेगी। यही बात मम्मट[1] ने भी कही है कि अभि-हितान्वय में अनन्वित अर्थ का तथा अन्विताभिधान में पदार्थान्तर-मात्र से अन्वित अर्थ का ही अभिधान होता है, अन्वित-विशेष तो अवाच्य ही रहता है। इस प्रकार दोनों मतों में वाक्यार्थ अपदार्थ ही रह जाता है।

नागेश ने परमलघुमंजूषा में न्यायभाष्यकार की उक्ति 'समयज्ञानार्थं चेदं पद-लक्षणाया वाचोऽन्वाख्यान व्याकरणं वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थलक्षणम्' उद्धृत कर पद-शक्ति से भिन्न एक वाक्यशक्ति की आवश्यकता स्वीकार की है। अतः यह नाममात्र का ही विवाद है। चाहे पद में शक्ति और वाक्य में तात्पर्य नामक भिन्न वृत्तियाँ मानें, या शक्ति के ही दो भेद कर एक को पदनिष्ठ, दूसरे को वाक्यनिष्ठ मानें। बल्कि वैयाकरण लक्षणा को भी पृथक् वृत्ति नहीं मानते, उसे अप्रसिद्धा शक्ति कहते हैं। अर्थात् गंगादि पद की प्रवाह में प्रसिद्धा शक्ति है, जो आमन्दबुद्धिवेद्या है, और तीरादि में अप्रसिद्धा शक्ति है, जो सहृदय हृदय-मात्रवेद्या है। इस प्रकार शक्ति के पहले दो रूप हुए—प्रसिद्धा, फिर अप्रसिद्धा, फिर प्रसिद्धा में दो भेद पदनिष्ठ और वाक्यनिष्ठ। अप्रसिद्धा प्रायः पदनिष्ठा ही होती है, पर 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' आदि के लिए उसे वाक्यनिष्ठ भी मान सकते हैं। इस भाँति शक्ति के ही चार प्रभेद हो जाते हैं। पर व्यंजना-शक्ति अलग माननी ही पड़ेगी; क्योंकि वह शब्द-निष्ठ ही नहीं, अर्थनिष्ठ, वर्णनिष्ठ और चेष्टादिनिष्ठ भी होती है।

---

१. उल्लास ५, कारिका ४७ के बाद।

वाक्यार्थ और व्यपेक्षा :

इस प्रकार तात्पर्य नामक सम्बन्ध के विषय में बड़ा मतभेद है। मूल प्रश्न यह है कि 'रामः ग्रामं गच्छति' इस पूरे एक वाक्य का कोई एक अर्थ है या नहीं। और यह विचार भी स्वयं इसपर आधारित है कि यहाँ पदत्रयसमूह से भिन्न क्या एक वाक्य की सत्ता है? 'रामः ग्रामं गच्छति' इस शब्द-समूह में क्या किसी भी दृष्टि से एकत्व भी है? यदि यह स्वीकार किया जाय कि पदसमूह के अतिरिक्त एक वाक्य की पृथक् सत्ता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि पदार्थ-समूह से भिन्न एक वाक्यार्थ की भी सत्ता है। पाणिनि ने "वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः", "वाक्यादेरामन्त्रितस्यं" आदि स्थलों से शब्दतः तथा "वचोऽशब्दसंज्ञायाम्" से अर्थतः एक पृथक् वाक्य-संज्ञा की सत्ता स्वीकार की है। पाणिनि के अनुसार वच् धातु से कर्म में ण्यत् प्रत्यय करने पर वाक्य शब्दनिष्पन्न होगा, जिसका अर्थ होगा बोलने योग्य। इस प्रकार वाक्य शब्द की अन्वर्थता यह प्रमाणित कर रही है कि बोलने योग्य वाक्य ही होता है, बोलचाल में वाक्य ही काम आता है। पद आदि तो अध्ययनार्थ विश्लेषण-मात्र हैं। अर्थक्रियाकारित्व वाक्य में ही है, शरीर वाक्य ही है, पद, पदांश, वर्ण आदि अंगमात्र हैं। जिस प्रकार अंग-समूह से भिन्न एक अंगी शरीर की सत्ता है, उसी प्रकार पद आदि के समूह से भिन्न एक वाक्य की भी सत्ता है। शक्तिग्राहक शिरोमणि व्यवहार से सर्वप्रथम वाक्य में ही संकेतग्रह होता है। शक्तिग्राहक शिरोमणि व्यवहार से सर्वप्रथम वाक्य में ही संकेतग्रह होता है, फिर अन्वय-व्यतिरेक सें ही वाक्य के अंग विभिन्न पदों में, फिर अन्वय-व्यतिरेक से ही पद के अंग विभिन्न प्रकृतियों[1] तथा प्रत्ययों में।

व्याकरण-विद्या का आरम्भ भी वाक्य से ही हुआ है। पहले वेद संहिता रूप में ही थे, फिर शाकल्य आदि ने इनका पदपाठ किया और यास्क आदि ने इनमें प्रकृति-प्रत्यय विभाग किया, तब अन्त में शिक्षा-प्रातिशाख्य ने इनमें वर्ण-विभाग किया। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों की भी यही मान्यता है कि "आरम्भिक भाषा का चरमावयव वाक्य ही था। बच्चा किस प्रकार भाषा सीखता है, इस प्रक्रिया का विश्लेषण करने से यह सिद्ध होता है कि बालक को भाषा का ज्ञान वाक्यों[2] में ही होता है।" "शब्द अथवा पद वाक्य के अवयव हैं, किंतु स्वतन्त्र रूप से शब्द अथवा पद निरर्थक ही होते हैं। उदाहरणार्थ गाय अथवा घोड़ा—इन शब्दों का पृथक् अस्तित्व तो है, किन्तु अभिप्राय की दृष्टि से ये निरर्थक ही हैं। जबतक इन स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग वाक्यों में नहीं होता, तबतक ये पूर्ण अर्थ नहीं देते।" 'समर्थः पदविधिः[3]' के भाष्य से प्रकट होता है कि पतंजलि के अनुसार (क) वाक्य में व्यपेक्षा-सामर्थ्य होता है—"परस्पर व्यपेक्षां सामर्थ्यमेके।" यह परस्पर भेद तथा संसर्ग (सम्बन्ध) प्रकट करता है। इसमें सभी पद परस्पर सापेक्ष तथा पृथगर्थ होते हैं, "राज्ञः

१. पाणिनि ने पद का मुख्य अंग प्रकृति को ही माना है (१।४।१३), प्रत्यय को नहीं। इसीलिए यास्क ने अपने निर्वचन में प्रकृतिमात्र की चर्चा की है। प्रत्यय कुछ भी ढूँढ़ लिया जा सकता है, प्रकृति ठीक रहनी चाहिए। प्रकृति नाम भी यही बता रहा है।

२. ओटो जेस्पर्सन : लैंगुएज। ३. २।१।१।

पुरुष इत्युक्ते राजा पुरुषमपेक्षते ममायमिति, पुरुषोऽपि राजानमपेक्षते अहमस्येति, तयोरभिसम्बन्धस्य षष्ठी वाचिका भवति। तद्यथा कष्टं श्रित इति क्रियाकारकयोरभिसम्बन्धस्य द्वितीया वाचिका भवति''। (ख) तथा वृत्ति (समास आदि) में एकार्थी भाव-सामर्थ्य होता है, ''पृथगर्थानामेकार्थीभावः सामर्थ्यम्।'' स्वयं यह शब्द एकार्थी भाव भी यही प्रकट करता है कि पहले जो अनेक अर्थवाले थे, वे अब परस्पर मिलकर एक अर्थवाले बन गये, ''यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः अविभागेन वर्त्तन्ते।'' व्यपेक्षा अर्थ में प्रयुक्त समर्थ शब्द का अर्थ होगा सम्बद्धार्थ, ''यदा व्यपेक्षा सामर्थ्यम् तदैवं विग्रहः करिष्यते, सम्बद्धार्थः समर्थः, कः पुनरिह सम्बधनात्यर्थानऽव्यतिषङ्गः।'' और एकार्थी भाव-अर्थ में समर्थ का अर्थ होगा ''सङ्गतार्थः समर्थः, संसृष्टार्थः समर्थः, तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते, संसृष्टोऽग्निः इत्युच्यते एकीभूत इति गम्यते।'' पाणिनि ने भी एकार्थीभाव-अर्थ में ''समर्थः पदविधिः'', ''समर्थानां प्रथमाद् वा'' आदि स्थलों में तथा व्यपेक्षा-अर्थ में ''इसुसोः सामर्थ्ये'' आदि स्थलों में समर्थ शब्द का प्रयोग किया है। इससे तो यही प्रतीत होता है कि मुनित्रय-वाक्य में व्यपेक्षा को मान्यता देते हैं, अर्थात् वाक्य में सभी पद परस्पर भिन्न तथा सम्बद्ध अर्थवाले होते हैं, इस सिद्धान्त को मानते हैं। अनेक पदों के अर्थों का औषधरसवत् मिलकर मधु की भाँति एकार्थ में परिणत होना वाक्य का नहीं, समास, कृत्, तद्धित आदि वृत्तियों का विषय मानते हैं। लोक-व्यवहार में भी यही देखा जाता है कि प्रत्येक पद का अर्थ भिन्न तथा परस्पर सम्बद्ध कहा और समझा जाता है। तभी तो अपढ़ भी ''घर में पढ़ता है'' सुनकर 'कौन', राम पढ़ता है सुनकर 'कहाँ', 'राम ने मारा' सुनकर 'किसको' आदि प्रश्न-उत्तर करते देखे जाते हैं? अतः वैयाकरणों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं लगता कि ''वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।'' यद्यपि ''पदे न वर्णा विद्यन्ते'' और ''प्रविवेको न कश्चन'' में भाषा का भेद है, पद में ये वर्णों की पृथक् सत्ता मानते ही नहीं, पर वाक्य में पदों का प्रविवेक-मात्र नहीं मानते। विवेक तो मानते हैं। इनके अनुसार एकमात्र अखण्डवाक्य-स्फोट ही सत्य है, पदस्फोट आदि भी असत्य ही हैं (भर्तृहरि ने वाक्य की अखण्डता प्रमाणित करने के लिए[1] दो उदाहरण दिये हैं ''यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृति प्रत्ययादयः, अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते'' तथा ''ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले, देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः'', पर दोनों में हेत्वसिद्धि-दोष है। पद में प्रकृति-प्रत्यय विभाग असत्य है, यही नहीं प्रमाणित किया जा सकता। पाणिनि ने सभी प्रत्ययों का अन्वर्थ महासंज्ञा-रूप नाम-प्रत्यय रखा, टि घु आदि की तरह अनर्थक शब्द नहीं, तथा ''अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'' से धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय सबको स्पष्ट ही अर्थवान् माना है। पाणिनि का यह कथन भी तात्त्विक नहीं, व्यावहरिक-मात्र है; इसमें कोई प्रमाण नहीं है। शास्त्र ही नहीं, शक्तिग्राहक शिरोमणि व्यवहार भी इसकी स्वीकृति देता है। लोक-व्यवहार में भी अन्वय-व्यतिरेक से स्पष्ट ही प्रकृति अर्थात् अर्थतत्त्व और प्रत्यय अर्थात् सम्बन्ध-तत्त्व का पृथक्-पृथक् अर्थज्ञान होता है। एक बार

---

१. २।१० तथा १४।

बालक सुनता है, "अश्वम् आनय" और अश्व का आनयन देखता है, फिर "अश्वाय तृणं देहि" सुनकर अश्व के लिए चारा दिया जाना देखता है, इससे वह अम् का अर्थ कर्मत्व, आय का अर्थ सम्प्रदानत्व, अश्व का अर्थ घोड़ा आदि आवाप-उद्वाप से समझ लेता है, फिर छागम् आनय, छागाय तृणं देहि, वत्सं बधान, वत्साय सक्तून् देहि आदि से इसकी पुष्टि कर लेता है। पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों ने भी अर्थतत्त्व तथा सम्बन्ध-तत्त्व की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। कुछ भाषाओं में ये दोनों तत्त्व संपृक्त हो जाते हैं, पर कुछ में ये पृथक् भी बने रहते हैं। बल्कि कुछ भाषाओं में क्रम-मात्र से एक ही पद अर्थ या सम्बन्ध-तत्त्व का बोधन करता है, कुछ में सम्बन्धबोधक पृथक् पद की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, अर्थतत्त्व सदा सम्बन्ध-तत्त्व लिये ही रहता है (अन्विताभिधान-सा)। स्वयं संस्कृत में वैयाकरणः, पपाठ आदि शब्दों में अर्थ और सम्बन्ध-तत्त्व परस्पर असंपृक्त रूप में मिल गये हैं, मुनिभिः, याति आदि में दोनों पृथक्-पृथक् देखे जा सकते हैं; दधि मधु गृह्णाति और मधु दधि गृह्णाति आदि में दधि मधु आदि में कोई सम्बन्ध-तत्त्व नहीं जुड़ा है, केवल क्रम से ही कर्त्तृत्व या कर्मत्व का बोध हो रहा है। इसी भाँति मल्लग्राम तथा ग्राम-मल्ल आदि में क्रममात्र से ही अर्थ-भेद हो रहा है, कोई सम्बन्धसूचक विभक्ति नहीं जुड़ी है। 'वृक्षोपरि खगाः सन्ति' में उपरि सम्बन्ध-तत्त्व का तथा उपरितः, उपरितनः आदि में अर्थतत्त्व का बोधन कर रहा है। कभी अकेली प्रकृति का भी प्रयोग देखा जा रहा है; जैसे राजा, नदी, दण्डी, सुहृद्, अहन्, अबिभः आदि कभी केवल प्रत्यय का ही, जैसे अधुना, इयान् आदि। कभी स्वतन्त्र अर्थतत्त्व-बोधक भी प्रत्यय बन जाते हैं, जैसे पणिनि ने मात्र, शाल, दघ्न आदि को प्रत्यय बना लिया और कात्यायन ने तैल, गोयुग आदि को भी। कभी सम्बन्ध-तत्त्वबोधक ही अर्थतत्त्वबोधक बन जाता है, जैसे तारतम्य, अँगरेजी का इज्म (I dislike any ism) आदि।

एकार्थी भाव तथा अजहत् स्वार्था वृत्ति का क्षेत्र क्रमशः महत्तर :

इसी प्रकार यह कहना भी कि 'ब्राह्मणकम्बल' शब्द में ब्राह्मण शब्द का कुछ अर्थ नहीं, असिद्ध ही है। पतंजलि ने भी कहा है कि यदि अजहत् स्वार्था वृत्ति मानें तब राज-पुरुष शब्द में राजन् तथा पुरुष का पृथक्-पृथक् अपना पदार्थ है ही, साथ ही दोनों मिलकर एक एकार्थीभूत समासार्थ को भी कहेंगे, "एवं हि दृश्यते लोके, भिक्षुकोऽयं द्वितीयां भिक्षां समासाद्य पूर्वां न जहाति, संचयायैव प्रवर्त्तते"। आज के युग में इससे अच्छा उदाहरण यह होगा कि राम श्याम के साथ मिलकर एक संयुक्त व्यवसाय खोलने के कारण अपना पहले से आता निजी व्यवसाय बन्द नहीं कर देता। समास-स्थल में चूँकि संघात का भी एक पृथक् अर्थ है, अतः समुदाय से सुबुत्पत्ति होती है। जहाँ जहत्स्वार्था वृत्ति मानते हैं वहाँ भी राजन् तथा पुरुष सर्वथा निरर्थक नहीं होते। "जहदप्यसौ स्वार्थं नात्यन्ताय जहाति, यः परार्थविरोधी स्वार्थस्तं जहाति, तद्यथा राजकर्मणि प्रवर्त्तमानः स्वं तक्षकर्म जहाति, न तु हिक्कित श्वसित कण्डूयितानि, न चायमर्थः परार्थ विशेषणं नाम"। अर्थात् राजपुरुषः में राजन् की विशेषणता बनी रहती है, "इहेदानीं राजपुरुषमानयेत्युक्ते राजा पुरुषं निवर्त्तय-त्यन्येभ्यः स्वामिभ्यः, पुरुषोऽपि राजानमन्येभ्यः स्वेभ्यः"। कितना स्पष्ट उदाहरण है यह।

अत: जब वाक्यपदीयोक्त उदाहरण-स्थलों में ही निरर्थकता असिद्ध हो गई, तब वाक्यस्थ एक पद में निरर्थकता का साधन असंगत है।

बल्कि जिस रीति से वाक्यस्थ पदों को अनर्थक बताया जा रहा है, उस रीति से महावाक्यस्थ वाक्य भी अनर्थक होंगे। अन्तिम अर्थवत्ता सबने महावाक्य में ही मानी है "तथा[1] च खण्डवाक्यार्थबोधानन्तरं तथैव पदार्थस्मृत्या महावाक्यार्थ बोध इत्याहु:"। साहित्यदर्पणकार ने भी कहा है—"प्रबन्धेऽपि मतो[2] धीरै रर्थशक्त्युद्भवो ध्वनि:, प्रबन्धे महावाक्ये" तथा "स्वार्थबोधे समाप्तानामंगांगित्व व्यपेक्षया, वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुन: संहत्य जायते इति, तत्र वाक्यं यथा शून्यं वासगृहम् इत्यादि। महावाक्यं यथा रामायण महाभारत-रघुवंशादि"। भर्तृहरि को भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ा है कि 'सापेक्षा[3] ये तु वाक्यार्था: पदार्थैरेव ते समा:"। मनमोहन गौतम ने ठीक ही कहा है, "भाव के पूर्ण होने की दृष्टि से वाक्य भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। प्राय: लिखित भाषा में एक पैराग्राफ में एक आशय होता है, उसमें अनेक वाक्य होते हैं। इस प्रकार सारे प्रबन्ध के समाप्त हुए विना कोई वाक्य पूर्ण नहीं कहा जा सकता। वर्णन या कथा में इसी प्रकार बात बहुत देर तक पूर्ण नहीं होती। इतना ही नहीं, मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही बँधा है। विचारधारा आदि से अन्त तक संलग्न है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि निद्रा के पूर्व मनुष्य जिस बात को छोड़ता है, निद्रा के अन्त में उसे पकड़ लेता है, और फिर सारे दिन उसी में पड़ा रहता है............इस प्रकार विचार या भाव तो कभी पूर्ण हो ही नहीं सकता, फिर वाक्य की स्थिति ही क्या है? वाक्य अपूर्ण ही होता है, अत: उसको अन्य वाक्यों के लगाव में देखना पड़ता है"। इस शंका से चिढ़कर वाक्य-स्फोटवादियों की ओर से कपिलदेव द्विवेदी ने कहा—"यदि पदों में अर्थ नहीं है, वाक्यों में पद नहीं है तो महावाक्यों में अवान्तर वाक्य नहीं होना चाहिए, इस कथन से क्या लाभ? प्रकरण आदि की अपेक्षा महावाक्य भी तात्त्विक नहीं होंगे इससे क्या लाभ? शास्त्र की अपेक्षा प्रकरण भी नहीं होंगे, इस कथन से भी क्या लाभ? अन्त में एक ही यह शास्त्रतत्त्व शब्दतत्त्व अविभाग अद्वितीय स्फोट-रूप में शेष रहता है। हाँ, यदि सत्य पूछना चाहते हो और सत्य-तत्त्व को जानते हो तो शब्दब्रह्म ही यह अद्वितीय अनादि है............।"

और फिर वाक्य का भी लक्षण अस्पष्ट है। कात्यायन के 'एक तिङ्[4] वाक्यम्' आदि लक्षण सर्वसम्मत नहीं। स्वयं पाणिनि का वचन 'तिङ्ङतिङ:' यही प्रमाणित करता है। इसीलिए भर्तृहरि भी स्वीकार करते हैं, "बहुष्वपि तिङन्तेषु साकाङ्क्षेष्वेव वाक्यता[5]"; क्योंकि स्पष्ट ही है कि "स्नात्वा भुक्त्वा शयित्वा च व्रजति तथा पूर्वं स्नाति; भुङ्क्ते तथा शेते तत: व्रजति"—इन दोनों में अन्तर ही क्या है कि पहला एक वाक्य समझा जाय, दूसरा अनेक? साथ ही, दूसरी ओर एक पद में भी वाक्यत्व दिखाई पड़ता है। पाणिनि ने तो धनम् अस्य अस्ति की जगह धनी, श्राद्धमनेन भुक्तम् की जगह श्राद्धी और

१. मुक्तावली, शब्दखण्ड २. ४।१० तथा २।१। ३. वाक्य० २।३२६।
४. समर्थ: पदविधि: २।१।१ की व्याख्या में महाभाष्य में। ५. वाक्य० २।४५०।

व्याकरणम् अधीते की जगह वैयाकरणः आदि बताया ही है, पतंजलि ने भी 'प्रविश', पिण्डीम्' आदि को वाक्य माना है। योगसूत्र ३-१७ "शब्दार्थ प्रत्ययानाम्" की व्याख्या में व्यास ने कहा है, "सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः, वृक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते, न हि सत्तां पदार्थो व्यभिचरति"। वाक्यपदीय को भी स्वीकार करना पड़ा है। 'वाक्यं तदपि मन्यन्ते, यत्पदं चरितक्रियम्' जिसपर पुण्यराज ने कहा है, "पदमात्रस्यैवात्र वाक्यत्वम्"।

अतः पद की सत्ता का ही अपलाप कर वाक्य मानना ठीक नहीं। हाँ, यह ठीक है कि जिस प्रकार प्रकृति तथा प्रत्यय की शक्ति से शब्द का, पद का पूरा काम नहीं चलता, पद में भी पृथक् एक शक्ति माननी पड़ती है, उसी भाँति केवल पदों की शक्ति से ही वाक्य का काम नहीं चल सकता, उसमें अलग एक शक्ति माननी पड़ेगी। उसी का नाम है तात्पर्य-शक्ति या वृत्ति। जहाँतक चरम सत्यता का प्रश्न है, वाक्य से वर्णों का ही दावा अधिक तर्कसंगत है। नैयायिकों ने सर्वत्र लघुतम को ही नित्य माना है, सब द्रव्यों के परमाणु ही चरम सत्य हैं। आज के वैज्ञानिक भी स्थूल भूत की अपेक्षा अणुओं परमाणुओं को ही अधिक सत्य समझते हैं। तुल्यन्याय से स्थूलवाक्य की अपेक्षा लघुतम इकाई वर्णों को ही चरम सत्य मानना भाषावैज्ञानिकों के लिए न्यायसगत लगता है। किन्तु मानव की भाँति मध्यमसत्ता, पद को ही व्याकरण ने आधार बनाया और वाक्य को मानव-समाज, देश आदि की भाँति तज्जन्य रखा है। मध्यममार्ग ही सुविधाप्रद है। मध्यम सत्ता मानव, न महत्तम सत्ता ब्रह्म को देख-समझ पाता है, न लघुतम सत्ता परमाणुओं को; उसके लिए सर्वत्र मध्यम सत्ता ही सार्थक है। इसलिए वाक्यार्थ-रूप पदार्थान्वय की बोधिका तात्पर्य नाम की वृत्ति है, उसका अर्थ तात्पर्यार्थ है, और तद्बोधक को ही वाक्य कहते हैं। जैसे लक्षणा का ग्राहक तात्पर्यानुपपत्ति है, उसी भाँति वाक्य के तात्पर्यार्थ के ग्राहक हैं—आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति। मुक्तावली आदि के तात्पर्यज्ञान को भी शाब्दबोध में इन्हीं तीनों के (आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति) ज्ञान का समकक्ष कारण मानना ठीक नहीं। इन तीनों का ज्ञान तात्पर्य-वृत्ति का उत्थापक-मात्र है, जैसे तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का, इसीलिए "वस्तुतस्त्वाकाङ्क्षा योग्यता सन्निधि वशादेक वाक्यतां गतं वाक्यं बोद्धव्यम्" आदि पुण्य-राज प्रभृति की उक्तियों में तीन को ही वाक्यत्व का साधक माना है, तात्पर्य तो साक्षात् वाक्य तथा वाक्यार्थ का सम्बन्ध है। साहित्यदर्पणकार ने भी कहा है—"वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः", तात्पर्य का नाम नहीं लिया। इस तात्पर्य-सम्बन्ध से ही वाक्य अपने तात्पर्यार्थ को कहता है, तात्पर्य से ही पदों के परस्पर-सम्बन्ध का बोध होता है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार चार तरह के शब्द होते हैं—वाचक, लक्षक, व्यंजक तथा तात्पर्यबोधक। चार प्रकार के अर्थ भी हैं—वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य और तात्पर्य। ये पद में ही नहीं, पदांश में भी होते हैं। पाणिनि ने इ धातु, इ प्रत्यय पठ् धातु अक प्रत्यय आदि में भी अभिधा मानी है और त्रिभुवन, दत्तचित्त, अकिंचन आदि सामासिक एकपदीभूत शब्दों में भी। हाँ, जहाँ अवयवों की शक्ति के योग से ही समुदाय अर्थबोध करा दे, अतिरिक्त अर्थ के अभाव से

अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता न पड़े, वहाँ यौगिक शक्ति प्रकृति-प्रत्यय शक्ति का अनुवादक-मात्र होगी, जैसे पाठक, दाता आदि में; जहाँ अवयवार्थ से ही सम्पूर्ण अभिलषित अर्थ नहीं निकलता, वहाँ विधायक होगी, जैसे दत्तचित्त, निर्जन आदि और जहाँ इन खण्ड शक्तियों का भी संकोचन करना पड़ता है वहाँ निरूढ़ हो जायगी; जैसे पंकज, कृष्णसर्प, असूर्यंपश्य आदि। अर्थ-विस्तार-स्थलों में, जैसे कुशल, प्रवीण आदि में भी, योगशक्ति विधायक ही है। वैसे बहुत लोग इन स्थलों में निरूढ़ लक्षणा मानते हैं। नैयायिक तो सर्वत्र समास-स्थलों में शक्ति नहीं लक्षणा ही मानते हैं, क्योंकि प्रत्येक अवयव में शक्ति मानने के बाद फिर समुदाय में भी शक्ति मानने से गौरव है, अतः वे समास-स्थल में लक्षणा से ही काम चलाते हैं, राज-पुरुष आदि में पुरुष आदि की, राजपुरुष आदि में लक्षणा है, राज आदि खण्ड तात्पर्यग्राहक हैं। लक्षणा भी शक्ति की भाँति पदांशनिष्ठ हो सकती है। गां दोग्धि पयः आदि स्थलों में गौणकर्मत्व का अर्थ है कि यहाँ अम् विभक्ति गौण वृत्ति अर्थात् लक्षणा से अपादानत्व आदि को कह रही है, जो कर्म नहीं कर्मसदृश है। इसी भाँति गंगायां घोषः में गंगारूप प्रकृति में ही लक्षणा है, सप्तमी विभक्ति तो शक्य अर्थ को ही कह रही है। कुशलः, राजपुरुषः आदि में भी गभीरायां नद्यां घोषः आदि की भाँति अनेक शब्दों में लक्षणा माननी चाहिए, 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' आदि स्थलों में तो स्पष्ट ही अनेक पदवृत्तिता के कारण वाक्यस्थ लक्षणा है। पाणिनि ने 'पुंयोगादाख्यायाम्' से ब्राह्मणस्य पत्नी ब्राह्मणी, 'इन्द्रवरुण०' से यवस्य स्त्री 'यवानी' सिद्ध किया है। यहाँ ब्राह्मण की स्त्री यदि शूद्र-जातीय है तो उसे 'ब्राह्मण' शब्द से कैसे पुकारेंगे ? अतः यहाँ भी तत्साहचर्य आदि सम्बन्ध से लक्षणा ही माननी चाहिए। इसी प्रकार यव की स्त्री क्या होगी ? कात्यायन ने "हिमारण्ययोर्महत्त्वे" कहकर लक्षणा के इस सौन्दर्य को ही नष्ट कर दिया। इन दोनों स्थलों में "हिमस्य स्त्री हिमानी, अरण्यस्य स्त्री अरण्यानी" में समूह में स्त्रीत्व का आरोप है, यह लक्षणा का स्थल है। "तदस्य बन्धनं करभे" से बने शृङ्खलकः, रामस्य प्रतिकृतिः रामः, पितरौ-मातापितरौ आदि भी लक्षणा के ही उदाहरण हैं, इनमें रूढ़िमूला लक्षणा है।

किन्तु नागेश आदि वैयाकरण लक्षणा को अलग शक्ति या वृत्ति नहीं मानते। इसे एक अप्रसिद्धा शक्तिमात्र कहते हैं। 'सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इस भाष्य से यही प्रतीत होता है कि गंगा आदि पदों से गंगातीर आदि का भी बोधन शक्ति से ही हो जाता है। इसी प्रकार वे तात्पर्य को भी पृथक् वृत्ति नहीं मानकर समुदाय (वाक्य)-निष्ठ शक्ति-विशेष ही कहते हैं। तात्पर्य आकाङ्क्षा आदि की भाँति शब्दबोध का सहकारी कारण मात्र है। इसी भाँति नैयायिक-मीमांसक व्यंजना को भी नहीं मानते, कोई अभिधा के ही दीर्घ और दीर्घतर दो व्यापार मानकर इसका संग्रह करते हैं, कोई अनुमान से इसे गतार्थ बताते हैं। ऐसी स्थिति में तो यही ठीक लगता है कि शब्द और अर्थ के बीच एक ही सम्बन्ध मानें तात्पर्य और 'यत्परः सः शब्दार्थः' इस मीमांसक न्याय से सभी शब्दों का अर्थ उनका वाच्य ही माना जाय; शक्तिभेद की कल्पना ही छोड़ दी जाय और नागेश आदि की प्रसिद्धा-अप्रसिद्धा शक्तियों तथा भट्ट, लोल्लट आदि के दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापारों से ही उपर्युक्त चारो वृत्तियों को गतार्थ कर लें। इस प्रकार अभिधा का ह्रस्व व्यापार शक्ति, दीर्घ व्यापार

लक्षणा, दीर्घतर व्यापार तात्पर्य तथा दीर्घतम व्यापार व्यंजना को मान लें और सभी अर्थ, वाच्य, तथा सभी शब्द वाचक कहे जायँ।

पर इस दृष्टिकोण में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि व्यंग्य अर्थ की प्रतीति शाब्द-बोध में अंगीकृत नहीं होती। शाब्दबोध में केवल शक्य और लक्ष्य-रूप तथा अन्वय-रूप वाक्यार्थ ही भासित होते हैं। इसलिए व्यंजना को अभिधा-लक्षणा के स्तर की वृत्ति मानना सचमुच तर्कसंगत नहीं लगता। व्यंग्य अर्थ का तो अनुरणन-मात्र होता है। बात यह है कि व्यंग्य अर्थ रूप में अकथनीय तथा संख्या में अगण्य-से लगते हैं, शाब्दबोध में किसको किस प्रकार स्थान दिया जाय? रसादि की तो प्रतीति भी नहीं हो सकती है, आस्वादनमात्र हो सकता है, शाब्दबोध क्या होगा? इसीलिए नैयायिक व्यंग्य अर्थ को अनुमेय मानते हैं, 'गङ्गायां घोषः' का शाब्दबोध 'गङ्गातटाधिकरणिका घोषकर्तृका सत्ता' इतना ही होगा। गंगातट पर घोष होने से घोष में बड़ी शीतलता तथा पावनता है; या घोषस्थ लोगों को बड़ी सुविधा से सवारी के लिए नावें, खाने के लिए मछलियाँ मिल जाती हैं, या सिंचाई में सुविधा है, या मुर्दाघाट का दृश्य देखना पड़ जाता है आदि अनेक व्यंग्य अर्थ प्रकरणादिवश हो सकते हैं। इसलिए इनका शाब्दबोध में अन्तर्भाव सम्भव भी नहीं। शाब्द-बोध के बाद ही इनका आभास मिलता है, ध्वनि के बाद प्रतिध्वनि की तरह। और इनकी परम्परा भी बँध जाती है। साथ ही शब्द ही नहीं, अर्थ भी व्यंजक हो जाते हैं, अभिधेय और लक्ष्य ही नहीं, व्यंग्य अर्थ भी व्यंजक, इस प्रकार कई सोपान हो जाते हैं। रसादि तो अनु-मेय भी नहीं, मानस-प्रत्यक्ष-से लगते हैं। ध्वनि भी **स्फोट** का व्यंजक उसी प्रकार है, जिस प्रकार विभिन्न दृश्य, स्पृश्य, घ्रेय आदि पदार्थ विभिन्न अर्थों की सत्ता की प्रतीति करा देते हैं।

वस्तुतः यह विषय भी यहाँ आकर दर्शन की भाँति अतिसूक्ष्म हो जाता है। इसका अभी गम्भीर अध्ययन-मनन होना चाहिए, किसी वाद के आग्रह से नहीं, सत्य के अनुसन्धान के लिए।

शाब्दबोध :

किसी भी वाक्य को सुनकर पद-पदार्थ के ज्ञान के बाद जो वाक्य का अर्थ एका-कार समन्वित रूप में होता है, उसे ही शाब्दबोध कहते हैं। इस विषय पर साहित्यिकों ने कोई विशेष विचार नहीं किया है। वैयाकरणों और मीमांसकों में इसपर खूब विवाद है। व्याकरण तो पदविज्ञान ही है, पर पूर्वमीमांसा पूरा वाक्य-विज्ञान है। उसमें केवल वाक्यार्थ का ही विचार है। वेदों में किस वाक्य का किस नियम से क्या अर्थबोध होगा, इसी विचार में एक पूरा दर्शन ही निर्मित हो गया। वाक्यार्थ के ये नियम वैदिक भाषा में ही नहीं, कहीं भी लागू हो सकते हैं। इसीलिए सभी वैयाकरण व्याकरण-ज्ञान की पूर्णता के लिए मीमांसा-दर्शन अवश्य पढ़ते हैं। मीमांसा-दर्शन की टक्करन्याय-वैशेषिक दर्शनों से होती है; क्योंकि इन दोनों ने शब्द-खण्ड में खूब विस्तार से शाब्दबोध पर विचार किया है। अर्थविज्ञान पर व्याकरण के भूषण, मंजूषा, संग्रह, शब्दकौस्तुभ, वाक्यपदीय आदि अर्थ या

सिद्धान्त-ग्रन्थ, तथा न्याय-वैशेषिक के शब्दखण्ड पर लिखे अनेक ग्रन्थ और पूर्व-मीमांसा दर्शन का समस्त वाङ्मय अभी पाश्चात्त्य भाषावैज्ञानिकों से उपेक्षित ही पड़ा हुआ है। उनका समुद्र अनन्त रत्नों से भरा है, जिनका दिग्दर्शन भी एक शोध-निबन्ध में नहीं कराया जा सकता। यहाँ शाब्दबोध की प्रक्रिया-मात्र दिखाई जा रही है।

शाब्दबोध की प्रक्रिया समझने के लिए पहले बोध को ठीक से समझना पड़ेगा। बोध का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान के दो भेद हैं—अनुभव तथा स्मृति। अनुभव के दो भेद हैं—यथार्थ तथा अयथार्थ। इनमें यथार्थ अनुभव के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्द। अर्थात् यथार्थ ज्ञान चार स्रोतों से हो सकते हैं: इन्द्रिय-सन्निकर्ष से, जैसे देख, सुन, छू, सूँघ तथा चखकर आदि; अनुमान से, जैसे धुआँ को देखकर आग का ज्ञान; तथा उपमान से, जैसे गाय की उपमा से नील गाय का ज्ञान। इसी प्रकार किसी विश्वसनीय से यह सुनकर कि इस जंगल में एक बाघ है, शाब्दज्ञान होता है, इसे ही चौथा शाब्दबोध अर्थात् शब्दजन्य ज्ञान कहते हैं। तर्कसंग्रह के अनुसार "वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानं, तत्करणं तु शब्दः" वाक्य के अर्थ का जो ज्ञान है वही शाब्दज्ञान या शाब्दबोध है, इसका साधकतम शब्द है। मुक्तावली ने इसे ही कुछ विस्तार से कहा है—"पद ज्ञानं तु करणम्, द्वारं तत्र पदार्थधीः, शाब्दबोधः फलं तत्र, शक्तिधीः सहकारिणी"[1], तथा "आसत्ति योग्यताऽकांक्षा तात्पर्य ज्ञानभिष्यते"[2]। अर्थात् पहले पदों का (सुबन्त-तिङन्त अव्यय शब्दों का) ज्ञान होता है, फिर पदों से शक्ति (शब्दनिष्ठ अभिधा-लक्षणा-रूप वृत्ति) ज्ञान की सहायता से पदार्थों की (शक्य लक्ष्य-अर्थों की) उपस्थिति होती है और तब आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य के ज्ञान की सहायता से शाब्दबोध फलित होता है।

आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति :

इनमें आकांक्षा का अर्थ है अन्वयी पदों की उपस्थिति तथा अनन्वयी की अनुपस्थिति; जैसे "बालः चन्द्रं पश्यति गावौ" इस पद-समूह में 'गावौ' इस अनन्वयी पद के आ जाने से, तथा 'बालः गृहे' में अन्वयी 'खेलति' के नहीं आने से शाब्दबोध नहीं होगा; क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान के लिए आकांक्षित सभी पदों को रहना चाहिए तथा अनाकांक्षित एक पद को भी नहीं रहना चाहिए। इसी तरह 'घटः कर्मत्वम्', 'आनयनं, कृतिः' इस पद-समूह से शाब्दबोध नहीं होगा; क्योंकि ये परस्पर साकांक्ष नहीं हैं, अन्वित नहीं हैं। योग्यता का अर्थ है परस्पर अन्वय की क्षमता, जैसे 'जलेन सिंचति' में योग्यता है, 'वह्निना सिंचति' में नहीं। आसत्ति का अर्थ है दोनों अन्वयी पदों में देशकृत तथा कालकृत अव्यवधान, जैसे "गिरिर्भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन" इस पद-समूह में 'गिरिः' अपने अन्वयी 'अग्निमान्' से अव्यवहित नहीं, 'भुक्तम्' से व्यवहित हो गया है; इसी प्रकार 'भुक्तम्' अपने अन्वयी 'देवदत्तेन' से अव्यवहित नहीं, अग्निमान्' से व्यवहित हो गया है। तात्पर्य का अर्थ है—"इस पद से लोग यह अर्थ समझें ऐसी वक्ता की इच्छा"; जैसे 'सैन्धवम् आनय' में वक्ता का तात्पर्य भोजन के समय सिन्धुदेशोद्भव घोड़े से नहीं, सेंधा नमक से है। तात्पर्य का ग्रहण या नियमन प्रकरण आदि से होता है।

---

१. शाब्दखण्ड, कारिका ८१। २. शाब्दखण्ड, कारिका ८२।

इनमें योग्यता के बिना भी शाब्दबोध होता है, तभी तो 'वह्निना सिंचति' सुनकर लोग टोक देते हैं, 'असत्यं ब्रवीषि'। अयोग्यता-ज्ञान से बाद में शाब्दबोध का अपवादन-मात्र होता है, शाब्दबोध में कोई रुकावट नहीं होती। आसत्ति के अभाव में भी शाब्दबोध में कुछ विलम्ब-मात्र होता है। कविताओं में प्रायः आसत्ति नहीं रहती, अतः अर्थ में देर लग जाती है। यह भी बोद्धा की तीक्ष्णबुद्धि या मन्दबुद्धि पर निर्भर करता है। हाँ, अनासत्ति की अति से कहीं-कहीं शाब्दबोध बहुत देर के लिए रुक जा सकता है या संशयपूर्ण हो सकता है। बल्कि आकांक्षा के अभाव में भी खण्ड-बोध हो ही जाता है, 'रामः गृहे' कहने पर इतने ही का अर्थबोध हो जाता है। वस्तुतः आकांक्षा का अभाव शाब्दबोध का प्रतिबन्धक नहीं, वाक्यत्वनिष्पत्ति का ही प्रतिबन्धक है—'घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः' यह तो वाक्य ही नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य-ज्ञान की अपेक्षा केवल अनेकार्थक शब्दों में पड़ती है और वहाँ संयोग-वियोग-प्रकरण आदि से शक्ति का नियमन हो जाता है, यह पहले बता आये हैं। अतः तात्पर्य-ज्ञान भी शाब्दबोध का कारण नहीं। वाक्यनिष्ठ तात्पर्यरूप वृत्ति का ज्ञान तो साक्षात् ही शाब्दबोध का कारण है, उसे कोई सहकारी कैसे मानेगा ? उसके बिना तो वाक्यार्थ-बोध ही नहीं होगा।

शाब्दबोध का आकार :

वस्तुतः शाब्दबोध का असली झगड़ा यह है कि इसका रूप क्या होगा, अर्थात् इतने पदार्थों में कौन किसका विशेषण तथा विशेष्य बनेगा। यह मतभेद भी प्रायः वैयाकरणों, नैयायिकों तथा मीमांसकों में ही है। मीमांसकों में कहीं-कहीं कुमारिल तथा प्रभाकर के अनुयायियों में परस्पर भी मतभेद है। इसी भाँति प्राच्य तथा नव्य वैयाकरणों और प्राच्य तथा नव्य नैयायिकों में भी आपस में ही कहीं-कहीं मतभेद हो जाता है। पर इन सबके के लिए यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि आदि प्राचीन भाषावैज्ञानिक तुल्य रूप से आदरणीय हैं। इनकी उक्तियों को कोई भी अस्वीकार नहीं करता, केवल उनकी व्याख्या अपने सिद्धान्त के अनुकूल कर लेता है। यास्क ने निरुक्त में कहा है—"भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि"। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कहा है : "लः कर्मणि च भावे[1] चाकर्मकेभ्यः", "प्रधान[2]प्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्"; पाणिनिसूत्र 'भूवादयो धातवः' की व्याख्या में पतंजलि ने कहा है, "क्रियावचनो धातुः", "भाववचनो धातुः"; 'समर्थ पदविधिः" में कात्यायन और पतंजलि ने कहा है, "आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाच्यम्, सक्रियाविशेषणञ्च। अपर आह आख्यातं सविशेषणम्, सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि"। इन सब उक्तियों के आधार पर वैयाकरण आख्यात से क्रियाविशेष्यक शाब्दबोध मानते हैं। इसलिए वैयाकरणों की घोषणा है, "फले प्रधानं व्यापारः, तिङर्थस्तु विशेषणम्। वैयाकरण धातु का अर्थ फल और व्यापार दोनों मानते हैं और तिङ् का अर्थ कर्त्ता आदि"। इनमें कर्तृत्व तथा फल दोनों व्यापार के विशेषण होते हैं। मीमांसक धातु का अर्थ लाघवात् केवल फल मानते हैं, तथा तिङ् का व्यापार या भावना-रूप क्रिया।

---

१. ३।४।६९। २. १।२।५६। ३. १।३।१

व्यापार से भावना में थोड़ा अन्तर है, यद्यपि दोनों पर्याय हैं। भावना में भू की प्रेरणा छिपी है, अर्थात् मीमांसकों के अनुसार हर वाक्य में एक प्रेरणा छिपी है; क्योंकि ये वैदिक वाक्य हैं न ? उनके अनुसार "तद्भूतार्थानां क्रियार्थेन समाम्नायः", "भावनैव हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया", अतः सर्वत्र भावनामुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होगा। "लः कर्मणि च०" सूत्र में वे कर्त्तृकर्मपदों में भावनिर्देश मानते हैं, अर्थात् तिङ् का अर्थ कर्त्तृत्व, कर्मत्व है, कर्त्ता, कर्म नहीं। इसलिए "चैत्रः तण्डुलं पचति" से वैयाकरणों के मत में शाब्द-बोध होगा "चैत्रकर्त्तृकः तण्डुलकर्मकः पाकः", और मीमांसकों के मत में "चैत्रीय पाककरणिका तण्डुलकर्मिका भावना"। वैयाकरणों में भी प्राचीनों के मत से चाहे कर्त्ता में प्रत्यय करें या कर्म में, 'भावप्रधानमाख्यातम्' के नियम से व्यापारमुख्यविशेष्यक ही शाब्दबोध होगा; जैसे "चैत्रः ग्रामं गच्छति" का "ग्रामाभिन्नकर्म निष्ठोत्तरदेशसंयोगानुकूलः एकत्वावच्छिन्न चैत्राभिन्नकर्त्तृको वर्त्तमानकालिको व्यापारः" तथा "चैत्रेण ग्रामः गम्यते" का चैत्राभिन्न कर्त्तृजन्यः वर्त्तमानकालिक एकत्वावच्छिन्न ग्रामाभिन्नकर्मनिष्ठो यः संयोगस्तदनुकूलो व्यापारः"। परन्तु नवीन वैयाकरणों के मत में दोनों स्थलों में दो प्रकार के शाब्दबोध होंगे। उनके मत में यास्क के "क्रिया-प्रधानमाख्यातम्" के क्रियापद के दोनों अर्थ हैं "क्रियते अनेन"—इस करण-व्युत्पत्ति से व्यापार तथा "क्रियते या" इस कर्म-व्युत्पत्ति से फल। अर्थात् कर्त्ता में प्रत्यय करने पर व्यापार मुख्यविशेष्यक और कर्म में प्रत्यय करने पर फलमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होगा ; जैसे 'चैत्रेण ग्रामः गम्यते' का शाब्दबोध होगा "चैत्रकर्त्तृक व्यापारजन्यः एकत्वावच्छिन्नग्रामाभिन्न कर्म-निष्ठः वर्त्तमानकालिकः संयोगः"। नैयायिक भी दोनों स्थितियों में भिन्न-भिन्न शाब्दबोध मानते हैं। साथ ही वे मीमांसकों की भाँति "लः कर्मणि०" सूत्र में कर्त्ता और कर्म का अर्थ कर्त्तृत्व तथा कर्मत्व भी मानते हैं। लकारों की लाघवात् यत्नरूप कृति तथा फल में शक्ति है। 'भावप्रधानमाख्यातम्' का अर्थ वैयाकरण तथा मीमांसक करते हैं कि यद्यपि 'पाचकः' आदि आख्यातभिन्न स्थलों में "प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्"—इस सामान्य नियम से प्रत्यय के ही वाच्य-अर्थ में प्रकृति का अर्थ विशेषणतया अन्वित होता है, किन्तु यास्क की यह उक्ति अपवाद है। इसलिए आख्यात अर्थात् तिङन्त में क्रिया की ही, अर्थात् धात्वर्थ व्यापार या फल की ही प्रधानता रहेगी, अर्थात् यहाँ आख्यात क[illegible] तथा 'भावप्रधान' शब्द बहुव्रीहि है, भाव है प्रधान जिसका। किन्तु नैयायिक इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि यास्क का वाक्य भी प्रत्ययार्थ-प्राधान्य का ही समर्थक है। भाव-प्रधान का अर्थ है भाव का प्रधान अर्थात् क्रिया या धात्वर्थ का प्रधान अर्थात् विशेष्य, और आख्यात का अर्थ तिङन्त नहीं, तिङ् है अर्थात् तिङ् का अर्थ धात्वर्थ क्रिया का विशेष्य रहता है। इसलिए नैयायिकों के मत में उपर्युक्त दोनों वाक्यों (चैत्रः ग्रामं गच्छति और चैत्रेण ग्रामः गम्यते) के शाब्दबोध क्रमशः निम्नलिखित होंगे—ग्रामवृत्तिफलजनक गमना-नुकूलकृतिमान् चैत्रः, तथा चैत्रवृत्ति कृतिजन्य गमनजन्य फलशाली ग्रामः। इस तरह नैयायिकों के मत में प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध होगा, वैयाकरणों के मत में धात्वर्थ व्यापार-विशेष्यक या धात्वर्थ फल-विशेष्यक। मीमांसकों के मत में भी भावना-रूप व्यापार मुख्य विशेष्यक ही शाब्दबोध होगा, पर यह व्यापार क्रिया का नहीं, प्रत्यय का ही अर्थ है। नव्य

नैयायिकों ने इस शाब्दबोध का ऐसा जाल पसारा कि शास्त्रार्थ की बहस में बौद्ध आदि इनकी भाषा के जाल में ही बुरी तरह फँसकर रह गये। साहित्यिकों ने तो व्यंग्य रसादि के आस्वादन के लिए वैयाकरणों और नैयायिकों को 'काष्ठकुड्य अश्म सन्निभ' कहकर मजाक उड़ाया; पर नव्य वैयाकरणों तथा नैयायिकों ने मूल वाक्यार्थ को ही इन साहित्यिकों की पहुँच के बाहर कर दिया। उदाहरणार्थ, चैत्रः ग्रामं गच्छति का वे ऐसा शाब्दबोध करेंगे—"समवाय सम्बन्धावच्छिन्नै पुंस्त्वत्वनिष्ठ प्रकारतानिरूपिता अथ च समवायसम्बन्धावच्छिन्नै-कत्त्वत्वावच्छिन्नै कत्वनिष्ठ प्रकारतानिरूपिता या समवाय सम्बन्धावच्छिन्ना चैत्रत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपिता चैत्रनिष्ठा विशेष्यता तादृश विशेष्यता समानाधिकरणा या अभेदसम्बन्धावच्छिन्ना चैत्रत्वावच्छिन्ना चैत्रनिष्ठप्रकारता तादृश प्रकारता निरूपिता या कर्त्तृत्वावच्छिन्ना कर्त्तृनिष्ठा विशेष्यता तादृश विशेष्यता निरूपिता या परिच्छिन्नत्वसम्बन्धावच्छिन्ना वर्त्तमानकालत्वावच्छिन्ना वर्त्तमानकालनिष्ठा प्रकारता तादृश प्रकारता निरूपिता या अभेदसम्बन्धावच्छिन्ना ग्रामत्वावच्छिन्ना ग्रामनिष्ठा प्रकारता तादृश प्रकारता निरूपिता या कर्मत्वावच्छिन्ना कर्मनिष्ठा विशेष्यता तादृशविशेष्यतासमानाधिकरणा या निष्ठत्वसम्बन्धावच्छिन्ना कर्मत्वावच्छिन्ना कर्मनिष्ठा प्रकारता तादृशप्रकारतानिरूपिता या संयोगत्वावच्छिन्ना संयोगनिष्ठा विशेष्यता तादृश विशेष्यता समानाधिकरणा या अनुकूलत्व सम्बन्धावच्छिन्ना संयोगत्वावच्छिन्ना संयोगनिष्ठाप्रकारता उक्त सकलप्रकारता निरूपिता क्रियात्वावच्छिन्ना क्रियानिष्ठा विशेष्यता।" यह अर्थ तो अवश्य ही व्याकरण के त्रिमुनि की भी बुद्धि में कभी नहीं आया होगा।

इस प्रकार विभिन्न धातुओं; प्रातिपदिकों; तिङ्, सुप् विभक्तियों; कृत्, तद्धित आदि प्रत्ययों; विभिन्न अव्ययों तथा समास आदि के अर्थों में और विशेषण-विशेष्यभाव-कल्पना में मतभेद के कारण विभिन्न दार्शनिकों के मत में विभिन्न शाब्दबोध होते हैं। केवल अर्थ-निर्णय तथा शाब्दबोध-निर्णय पर ही इन ग्रन्थों में इतना विचार हुआ है कि वह कई स्थूलकाय ग्रन्थों में आ सकेगा। वैसे हम कुछ भी प्रयोग कर देते हैं और समझनेवाला भी समझ जाता है, पर इनके वाक्यार्थबोध में संगति बैठाना, उनका ठीक-ठीक विश्लेषण करना सचमुच कठिन काम है। इसका अनुभव उन्हें ही होगा, जिन्होंने इस क्षेत्र में कभी अपने पाँव रखे हैं। 'पश्य मृगो धावति', 'चित्रगुः', 'प्राप्तोदको ग्रामः', 'असूर्यं पश्यः', 'घटो न पटः', 'भूतले घटो नास्ति', 'स्वर्णकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में शाब्दबोध में क्या कठिनाई है, क्या [illegible] है, ये बातें आधुनिक भाषावैज्ञानिकों के लिए विचारणीय हैं, पर इस क्षेत्र की ही पश्चिम में सर्वथा उपेक्षा की गई है। वास्तव में अर्थबोध की प्रक्रिया बड़ी जटिल है। उत्पलपत्रशतभेदन न्याय से हमारे मस्तिष्क में समूहालम्बन-रूप से सारा वाक्यार्थ कौंध जाता है, किन्तु इस मानसिक वस्तु का विश्लेषण कठिन है।

हिन्दी या अंगरेजी वाक्यों में भी इस प्रकार के सूक्ष्म भेद हैं। पर हम उनके स्थूलार्थ से ही काम चला लेते हैं, उनकी बारीकियों पर ध्यान नहीं देते। 'श्याम रोटी नहीं खाता है'—इस वाक्य का क्या शाब्दबोध होगा, यह भी विचारणीय है। इसमेंविशेष्य-विशेषण-भाव क्या रहेगा ? वक्ता का मुख्य ध्येय क्या है ? किसपर बल है ? विशेष्य कौन है—खाने

की क्रिया, या उसका निषेध, या कर्त्ता, या कर्म ? और अगर इसका कर्मवाच्य कर द 'श्याम से रोटी नहीं खाई जाती थी' तो शाब्दबोध में कुछ अन्तर पड़ता है ? क्या अन्तर पड़ता है ? क्यों पड़ता है ? अँगरेजी में भी Mohan threw that mango और That mango was thrown by Mohan के शाब्दबोधों में परस्पर अन्तर है। क्या ? सः शोभनम् अध्यापयति और सः शोभनः अध्यापकः, He teaches well और He is a good teacher इन युग्मों के वाक्यार्थ-बोध में कुछ अन्तर है। क्या है ? यह विचारणीय है।

अर्थविज्ञान एक दर्शन ही :

पाणिनीय व्याकरण का अर्थविज्ञान क्रमशः दर्शन में विकसित होकर पाणिनीय दर्शन बन गया है और यह 'सर्वदर्शन-सग्रह' में संगृहीत है। क्या पाणिनि के मन में सचमुच कुछ व्याकरण-दर्शन था ? क्या वाग्ब्रह्म के व्याकरण, विश्लेषण के बहाने उन्होंने परब्रह्म का भी विश्लेषण किया है ? धातुपाठ की पहली धातु कहती है—'भू सत्तायाम्'। सबसे प्राथमिक वस्तु है सत्ता, यही अन्तिम एक तत्त्व भी है। पर सृष्टि इस शुद्ध सत्ता से विकसित होती है, मानव भी शुद्ध सत्ता से प्रसन्न नहीं रहता है। वह 'बहु स्यां, प्रजायेय' की कामना कर अपनी वृद्धि करता है, इसका संकेत है—दूसरी धातु 'एध् वृद्धौ'। पर इस वृद्धि की होड़ में संसार संघर्षों से भर जाता है, 'इसका संकेत है 'स्पर्ध् संघर्षे', यह तीसरी धातु है। गणपाठ में भी पहला गण है 'सर्वादि', सर्वनाम शब्द क्या यह प्रकट कर रहा है कि सभी नाम ईश्वर के ही हैं, 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'। सूत्रों में पहला सूत्र इस वृद्धि का ही संकेत है, 'वृद्धिरादैच्', इसलिए पहले 'आदैच्' यह उद्देश्य नहीं कहा, ऐसा पतंजलि ने भी स्वीकार किया है। फिर गुण की चर्चा 'अदेङ् गुणः'। पर अन्त में 'अ अ' कहकर यह प्रकट किया कि वस्तुतः विवृत रूप विश्व में व्यवहार के लिए है, असलियत संवृत रूप ही है। चिरन्तन रूप संवृत ही है। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' क्या यह प्रकट कर रहा है कि वह ईश्वर ही एकमात्र अर्थवान् है, वह किसी की धातु अर्थात् उपादान कारण नहीं, अप्रत्यय अर्थात् अज्ञेय और विकार शून्य है, किन्तु प्रातिपादिक अर्थात् प्रत्येक अणु में उसीकी सत्ता है। जो हो, पाणिनि का दर्शन प्रायः स्फोटाद्वैत है, जिसका विकास वाक्यपदीय आदि में है।

लिंग-निर्णय के विषय में पाणिनि ने कोई स्थिर नियम नहीं बनाया है। उन्होंने भी स्वीकार किया है कि 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' अर्थात् लिंगों पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता, वह लोक-रुचि का अनुसरण करता है। हिन्दी, अँगरेजी आदि में भी लिंग की यही उच्छृङ्खलता है। परन्तु आरम्भिक आधार के लिए उन्होंने एक लिंगानुशासन भी परिशिष्ट-रूप में बना दिया है, जिसमें १८८ सूत्र हैं।

पाणिनि-सूत्रों के ही आधार पर जो कुछ परिभाषाएँ, नियम निर्धारित हुए हैं, जिनसे भाषा-विषयक बहुत-सी शंकाओं का समाधान होता है, प्रक्रिया में कई विवाद सुलझाये जाते हैं, वे भी अष्टाध्यायी के ही अंग माने जाते हैं, इनकी संख्या १३४ है। शब्दों में

स्वर का निर्देश करने के लिए पाणिनि का संकेत ग्रहण कर शान्तनवाचार्य ने फिट्सूत्र बनाये हैं। ये चार पादों में विभक्त हैं, और कुल ८७ हैं। इसे अष्टाध्यायी का ही भाग मानना चाहिए। इस प्रकार अष्टाध्यायी के परिशिष्ट या खिल रूप में इतनी और वस्तुएँ हैं—उणादि प्रकरण (१), पाणिनीय शिक्षा (२), गणपाठ (३), धातुपाठ (४), लिंगानुशासन (५), फिट् सूत्र (६) और परिभाषा-पाठ (९)।

उपसंहार

आधुनिक पाश्चात्य भाषाविज्ञान का जन्म भले ही अठारहवीं सदी में हुआ हो, भारत में भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण-अध्ययन संहिताकाल में ही आरम्भ हो गया था। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्, वैदिक वाङ्मय के चारों स्तरों में भाषा के विषय में ऊहापोह मिलते हैं, और वेदांगों में से चार, शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण तथा छन्द तो भाषा के ही विवेचन के लिए लिखे गये हैं।

जैसाकि पिछले पृष्ठों में बताया गया है, शिक्षाओं और प्रातिशाख्यों का अपना स्वतन्त्र विस्तृत वाङमय उपलब्ध है और इनमें ध्वनिविज्ञान का आज से तीन हजार वर्ष पूर्व जैसा सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है, वह विस्मयकारी है। मनुष्य की प्राणवायु किस प्रकार सार्थक स्पष्ट ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती है; इसमें आत्मा, बुद्धि और मन का क्या योगदान है; प्राणवायु उरस्-प्रदेश (स्वरयन्त्र) से मुख-विवर में आने में क्या विकार (बाह्य प्रयत्न) प्राप्त करती है; मुखविवर में जीभ तालु के पास जाकर (स्थान) तथा मुख-विवर को संवृत-विवृत कर (आभ्यन्तर प्रयत्न) किस भाँति ध्वनियों में नानाविध गुणों की सृष्टि कर देती है; वर्णों में महाप्राणता-अल्पप्राणता, आनुनासिक्य आननुनासिक्य तथा उदात्तत्व, अनुदात्तत्व किस तरह उत्पन्न होते हैं, आदि विषयों पर पूर्ण तर्क-वितर्क तथा मतभेद के साथ विस्तृत प्रतिपादन इन ग्रन्थों में पाया जाता है। उवट आदि टीकाकारों की भी वैज्ञानिक दृष्टि की प्रशंसा विदेशियों ने की है। पृथक्-पृथक् स्वर, अन्तस्थ, व्यंजन तथा अयोगवाह का वर्गीकरण ही उन ऋषियों की विश्लेषण-शक्ति का परिचय देता है, परन्तु इन ध्वनियों में परस्पर पूर्ववर्त्तिता-परवर्त्तिता से जो अनेकविध विकार, ध्वनि-परिवर्त्तन, आदेश, आगम, लोप आदि होते हैं, उनका भी विशद विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में शाखाभेद अर्थात् स्थानभेद से भी ध्वनियों के उच्चारण-भेद, जैसे य का ज, ष का ख, आदि की चर्चा है।

निरुक्ति-विज्ञान में यद्यपि ध्वनिविज्ञान की भाँति विस्तृत वाङ्मय नहीं प्राप्त है, किन्तु एक यास्क के निरुक्त से ही पता चल जाता है कि वेदाङ्गकाल में भी हमारे देश में आलोचनात्मक विषयों पर, गद्यशैली में लिखने की प्रशस्य क्षमता लोगों ने प्राप्त कर ली थी। यास्क को आज की भाँति भारत-यूरोपीय परिवार की अनेक भाषाओं की परस्पर तुलना का सुअवसर नहीं प्राप्त था, फिर भी निरुक्ति के लिए उन्होंने जो सोपान और प्रकार निर्दिष्ट किये हैं, सैकड़ों मान्य निर्वचन दिये हैं, वे उन्हें निरुक्ति-विज्ञान के प्रवर्त्तकों में मुख्य स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त हैं। ध्वनि-विकारों के स्थल उन्होंने ठीक-ठीक पहचाने हैं। साथ ही पदों का चार श्रेणियों में विभाजन, निरुक्ति-विज्ञान के साधन तथा साध्य के रूप में अर्थ-विज्ञान का अध्ययन, भाषा के परिष्कारक उपमा आदि का विवेचन तथा इस सिद्धान्त का उद्घोष कि सभी शब्द कुछ धातुओं के ही मूल से प्रसूत हैं, यास्क की भाषावैज्ञानिक चतुर्मुख निपुणता के परिचायक हैं।

पाणिनि ने पूर्ववर्ती सभी भाषा वैज्ञानिकों की कृतियों का सार लेकर तथा अपनी दीर्घ साधना द्वारा अष्टाध्यायी लिखी; भारत के विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं और छन्दस् की ध्वनियों का वर्णसमाम्नाय में संकलन कर सन्धिसूत्रों से ध्वनिविकार की समस्त दिशाएँ दिखाईं; प्रकृति-प्रत्यय-विचार से, धातु-प्रत्यय तथा प्रातिपदिक-प्रत्यय की व्याख्या से, निरुक्ति की नई, सरल तथा वैज्ञानिक प्रक्रिया का आविष्कार किया; कारक, समास आदि की व्याख्या कर वाक्य-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान का सूत्रपात किया; स्वर-विचार का लम्बा प्रकरण लिखकर भाषा में बलाघात का महत्त्व बताया। वाक्य के प्राण कारक पर आज तक पाणिनि जैसा स्वतन्त्र विवेचन किसी ने नहीं प्रस्तुत किया है। निःसन्देह पाणिनि भारत-यूरोपीय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के जगमगाते नक्षत्र हैं, जिनके प्रकाश ने ही परवर्त्ती भाषावैज्ञानिकों को भाषावैज्ञानिक दृष्टि दी है।

पाणिनि के बाद व्याडि, कात्यायन, पतंजलि, भर्त्तृहरि, कैयट, नागेश, कौण्डभट्ट, जगदीश आदि ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अपना अनुपम योगदान किया है; इनमें पतंजलि, भर्त्तृहरि तथा नागेश सर्वाधिक मौलिक हैं। इन लोगों की कृतियों ने भारतीय भाषाविज्ञान को इतना समृद्ध कर दिया है कि ये सदा परवर्त्ती शब्दविज्ञान के विशेषज्ञों के लिए उपजीव्य बने रहेंगे। बल्कि पाणिनि की पश्चाद्वर्त्ती सभी कृतियों पर पाणिनि का परोक्ष-प्रत्यक्ष प्रकाश अवश्य पड़ा है।

मेरा विश्वास है कि इन ग्रन्थों में भाषा-विज्ञान का इतना गम्भीर और सर्वतोमुख अध्ययन हुआ है कि भारत-यूरोपीय भाषावैज्ञानिकों के लिए इनका साहाय्य सदा अपेक्षित और लाभप्रद रहेगा। यों सामान्य भाषाविज्ञान के लिए भी इनमें बहुत-सारी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण बातें हैं। भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा प्राचीन ही नहीं, बहुत समृद्ध भी है और पाणिनि न केवल भारत के, अपितु विश्व के भाषावैज्ञानिकों के मूर्धन्य हैं। जैसा हमने दिखाया है, पाणिनि का अध्ययन भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए वस्तुतः बहुत उपादेय है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत

१. ऋग्वेद-संहिता	....	डॉ० लक्ष्मण स्वरूप, मोतीलाल बनारसी दास, तथा जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर
२. यजुर्वेद-संहिता	....	जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर
३. सामवेद संहिता	....	,, ,, ,, ,,
४. अथर्ववेद-संहिता	....	,, ,, ,, ,,
५. ऐतरेय ब्राह्मण	....	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना।
६. तैत्तिरीय ब्राह्मण	....	,, ,, ,, ,,
७. शतपथ ब्राह्मण	....	,, ,, ,, ,,
८. गोपथ ब्राह्मण	....	,, ,, ,, ,,
९. ताण्ड्य महाब्राह्मण	....	चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
१०. ऐतरेय आरण्यक	....	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना।
११. तैत्तिरीय आरण्यक	....	,, ,, ,, ,,
१२. छान्दोग्य उपनिषद्	....	गीता प्रेस, गोरखपुर।
१३. अष्टाविंशत्युत्तरशतोपनिषत्संग्रह	....	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
१४. बृहदारण्यक ,,	....	,, ,,
१५. तैत्तिरीय उपनिषद्	....	,, ,,
१६. पाणिनीय शिक्षा	....	चौखम्बा संस्कृत सिरीज तथा भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, वाराणसी
१७. वर्णोच्चारण-शिक्षा	....	आर्य साहित्य-मण्डल लिमिटेड, अजमेर
१८. याज्ञवल्क्य-शिक्षा	....	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से यजुर्वेद के साथ प्रकाशित।
१९. पाणिन्यादि शिक्षा-संग्रह	....	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
२०. ऋक्प्रातिशाख्य : उवट-भाष्य-सहित	....	इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद
२१. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य : माहिषेय भाष्य	....	चौखम्बा संस्कृत सिरीज

२२. वाजसनेय प्रातिशाख्य	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
२३. ऋक्तन्त्र व्याकरण	” ”
२४. चतुरध्यायी	” ”
२५. अथर्व-प्रातिशाख्य	विश्वबन्धु शास्त्री सम्पादित
२६. निरुक्त—दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
२७. पाणिनीय अष्टाध्यायी	गुरुकुल कांगड़ी
२८. काशिका	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
२९. अष्टाध्यायी : दयानन्द-भाष्य	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
३०. सिद्धान्त-कौमुदी	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
३१. प्रौढ़ मनोरमा	” ”
३२. शब्देन्दुशेखर	” ”
३३. शब्द-कौस्तुभ	” ”
३४. महाभाष्य—संपूर्ण	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
३५. वैयाकरण-भूषण	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
३६. लघुमञ्जूषा	” ”
३७. न्यायदर्शन	” ”
३८. वैशेषिक दर्शन	” ”
३९. योगदर्शन	” ”
४०. मीमांसा-दर्शन	” ”
४१. सर्वदर्शन-संग्रह	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
४२. वाक्यपदीय	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
४३. शब्दशक्ति-प्रकाशिका	” ”
४४. तन्त्रवार्त्तिक	” ”
४५. मनुस्मृति	” ”
४६. रामायण (वाल्मीकीय)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
४७. महाभारत	गीता प्रेस, गोरखपुर
४८. भागवतपुराण	” ”
४९. रघुवंश महाकाव्य	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
५०. काव्यादर्श	” ”
५१. काव्यप्रकाश	” ”
५२. साहित्यदर्पण	” ”
५३. ध्वन्यालोक	” ”
५४. प्राकृत-प्रकाश	” ”

५५. पिङ्गलच्छन्दः सूत्र .... चौखम्बा संस्कृत सिरीज
५६. छन्दोमञ्जरी .... ,, ,,
५७. न्याय मुक्तावली .... ,, ,,
५८. तर्कसंग्रह .... ,, ,,
५९. व्याकरण-दर्शन-भूमिका .... पं० रामाज्ञा पाण्डेय

हिन्दी

६०. सामान्य भाषाविज्ञान .... डॉ० बाबूराम सक्सेना
६१. हिन्दी-भाषा का इतिहास.... डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
६२. तुलनात्मक भाषाशास्त्र .... डॉ० मंगलदेव शास्त्री
६३. भाषाविज्ञान .... डॉ० भोलानाथ तिवारी
६४. सरल भाषाविज्ञान .... डॉ० मनमोहन गौतम
६५. भारतीय भाषाविज्ञान .... पं० किशोरीदास वाजपेयी
६६. हिन्दी-शब्दानुशासन .... ,, ,, ,,
६७. निरुक्तशास्त्र .... पं० भगवद्दत्त शास्त्री
६८. संस्कृत-व्याकरणशास्त्र .... युधिष्ठिर मीमांसक
६९. अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन .... डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
७०. वैदिक साहित्य .... पं० रामगोविन्द त्रिवेदी
७१. वैदिक साहित्य-परिशीलन .... रजनीकान्त शास्त्री
७२. भारतीय व्यवहार-कोश .... विश्वनाथ दिनकर नरवणे
७३. रामचरितमानस .... गीता प्रेस, गोरखपुर
७४. पिशल का 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' .... बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

अँगरेजी

७५. चैम्बर्स डिक्शनरी
७६. इन्साइक्लोपेडिया ब्रिटानिका
७७. लैंग्वेज : इट्स डेवलपमेण्ट, नेचर ऐण्ड ओरिजिन—ओटो जेस्पर्सन
७८. ऐन आउटलाइन ऑफ इंगलिश फोनेटिक्स—डेनियल जोन्स
७९. आउटलाइन ऑफ लिंग्विस्टिक एनालिसिस—बर्नार्ड ब्लॉख
८०. द मेकेनिज्म ऑफ द लेरिंक्स—वी० इ० नेगस
८१. द आर्ट ऐण्ड सायन्स ऑफ भ्वायस ट्रेनिंग—एफ० सी० फील्ड-हाइड
८२. फोनेटिक्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया—डब्लू० एस० एलेन
८३. क्रिटिकल स्टडीज इन द फोनेटिक ऑब्जर्वेशन्स ऑफ इण्डियन ग्रामेरियन्स—सिद्धेश्वर वर्मा

८४. लिंग्विस्टिक स्पेक्युलेशन्स ऑफ द हिन्दूज—प्रबोधचन्द्र चक्रवर्त्ती
८५. टेक्निकल टर्म्स एण्ड टेक्नीक ऑफ संस्कृत ग्रामर—क्षितीशचन्द्र चटर्जी
८६. द फिलोसोफी ऑफ संस्कृत ग्रामर—प्रबोधचन्द्र चक्रवर्त्ती
८७. इटिमोलोजीज ऑफ यास्काज निरुक्त—डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा
८८. पाणिनि : हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर—गोल्ड स्टूकर
८९. लिंग्विस्टिक इण्ट्रोडक्शन ऑफ संस्कृत—बटेकृष्ण घोष
९०. एलिमेण्टस् ऑफ द साइन्स ऑफ लैंग्वेज—आइ० जे० एस० तारापोरवाला

●